स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में

स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित

एवं

उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, तथा अँग्रेजी, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रथम संस्करण : १९८७

मूल्य : १२०/-

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

•

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

१८ इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३

मुद्रक : प्रमोद प्रिंटर्स, अशोकनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००९३

•

दी टाइम्स रिसर्च फाउण्डेशन, बम्बई के सहयोग से प्रकाशित

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० • विक्रम सं० २००० • १८ फरवरी, १९४४

संमर्पण

जो गम्भीर अध्येता, संशोधक, साहित्यसाधना में अविश्रान्त निरत, अपभ्रंश भाषा के उद्धारकों में प्रमुख और कुशल सम्पादक रहे हैं तथा जो जसहरचरिउ, करकंडचरिउ, णायकुमारचरिउ, सावयधम्मदोहा व पाहुडदोहा जैसे अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित ग्रन्थों को आधुनिक पद्धति से सम्पादित कर उस (अपभ्रंश) भाषा को प्रकाश में लाये हैं; जिन्होंने अपनी योग्यता व व्यवस्थाकुशलता से दान में प्राप्त स्वल्पद्रव्य के बल पर षट्खण्डागम परमागम के सम्पादन-प्रकाशन के स्तुत्य कार्य को सम्पन्न कराया है, और लम्बे समय तक सम्पर्क में रहते हुए जिनका मुझे सौहार्दपूर्ण स्नेह मिला है व सीखा भी जिनसे मैंने बहुत कुछ है उन स्व० डॉ० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट्० के लिए मैं उनकी उस सदिच्छा की, जिसे वे बीच में ही कालकवलित हो जाने से पूर्ण नहीं कर सके, आंशिक पूर्तिस्वरूप इस कृति को उन्हीं की कृति मान कर सादर समर्पित करता हूँ।

—बालचन्द्र शास्त्री

प्रधान सम्पादकीय

आचार्य पुष्पदन्त और भूतवली कृत पट्खण्डागम सूत्र और उसकी आचार्य वीरसेन कृत धवला टीका की ताड़पत्रीय प्रतियाँ एक मात्र स्थान मूडविद्री के जैन भण्डार में सुरक्षित थीं, और वे प्रतियाँ अध्ययन की नहीं, किन्तु दर्शन-पूजन की वस्तु वन गयी थीं। इसकी प्रतिलिपियाँ किस प्रकार उक्त भण्डार से वाहर निकलीं यह भी एक रोचक घटना है। जव सन् १६३८ में विदिशा निवासी श्रीमन्त सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्दजी के दान के निमित्त से इस परमागम के अध्ययन व संशोधन कार्य में हाथ लगाया गया तव समाज में इसकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। नयी पीढ़ी के समझदार विद्वानों ने इसका हार्दिक स्वागत किया और कुछ पुराने पण्डितों और शास्त्रियों ने, जैसे स्व० पं० देवकीनन्दन जी शास्त्री, पं० हीरालाल जी शास्त्री, पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री और पं० वालचन्द्र जी शास्त्री का क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु विद्वानों के एक वर्ग ने इसका वड़ा विरोध किया। कुछ का अभिमत था कि पट्खण्डागम जैसे परमागम का मुद्रण कराना श्रुत की अविनय है। यह मत भी व्यक्त किया गया कि ऐसे सिद्धान्त-ग्रन्थों को पढ़ने का भी अधिकार गृहस्थों को नहीं है। यह केवल त्यागी-मुनियों के ही अधिकार की वात है। किन्तु जव इस विरोध के होते हुए भी हमारे सहयोगी विद्वान ग्रन्थ के संशोधन में दृढ़ता से प्रवृत्त हो गये और एक वर्ष के भीतर ही उसका प्रथम भाग सत्प्ररूपणा प्रकाशित हो गया तव सभी को आश्चर्य हुआ। कुछ काल पश्चात् जैन शास्त्रार्थ संघ मथुरा की ओर से 'कपायप्राभृत' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तथा भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से 'महावन्ध' का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकार जो धवल, जयधवल और महाधवल नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ पूजा की वस्तु वने हुए थे वे समस्त जिज्ञासुओं के स्वाध्याय हेतु सुलभ हो गये। श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द जी द्वारा स्थापित जैन साहित्योद्धारक फण्ड से समस्त षट्खण्डागम और उसकी टीका का अनुवाद आदि सहित संशोधन-प्रकाशन १६ भागों में १६३६ से १६५६ ई० तक वीस वर्षों में पूर्ण हो गया।

समूचा ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से 'संजदासंजद' के आगे 'संजद' पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई। किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोडित हुए और वे 'संजद' पद को वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर वहुत वार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की शृंखलाएँ भी चल पड़ीं जिनका संग्रह कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ है। इसके मौखिक समाधान हेतु जव सम्पादकों ने ताड़पत्रीय प्रतियों के पाठ की सूक्ष्मता से जाँच करायी

तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा सुझाया गया संजद पद विद्यमान है। इसस दो बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ-संशोधन किया है वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है। और दूसरी यह कि मूल प्रतियों में पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है; क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्री से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।

जीवस्थान षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड है। उसका प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणा है। उसमें टीकाकार ने सत्कर्म-प्राभृत और कषाय-प्राभृत के नामोल्लेख तथा उनके विविध अधिकारों के उल्लेख एवं अवतरण आदि दिये हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर कृत 'सन्मतितर्क' का 'सम्मईसुत्त' नाम से उल्लेख किया है तथा उसकी सात गाथाओं को उद्धृत किया है और एक स्थल पर उनके कथन से विरोध बताकर उसका समाधान किया है। उन्होंने अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक का तत्त्वार्थभाष्य नाम से उल्लेख किया है और उसके अनेक अवतरण कहीं शब्दशः और कहीं कुछ परिवर्तन के साथ दिये हैं। इसके सिवाय उन्होंने जो २१६ संस्कृत व प्राकृत पद्य बहुधा 'उक्तं च' कहकर और कहीं-कहीं बिना ऐसी सूचना के उद्धृत किये हैं। उनमें से हमें कुछेक आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'प्रवचनसार', 'पंचास्तिकाय' व उसकी जयसेन कृत टीका में, 'तिलोयपण्णत्ती' में, वट्टकेर कृत मूलाचार में, अकलंकदेव कृत लघीयस्त्रय में, मूलाराधना में, वसुनन्दि-श्रावकाचार में, प्रभाचन्द्र कृत शाकटायनन्यास में, देवसेन कृत नयचक्र में तथा आचार्य विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा में मिले हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड की जीवप्रबोधिनी टीका में इसकी ११० गाथाएँ भी पायी जाती हैं जो स्पष्टतः वहाँ पर यहीं से ली गयी हैं। कई जगह तिलोयपण्णत्ती की गाथाओं के विषय का उन्हीं शब्दों में संस्कृत पद्य अथवा गद्य द्वारा वर्णन किया गया है। पं० बालचन्द्र शास्त्री ने अपनी इस पुस्तक में इन सभी बातों की विस्तार एवं विशद रूप से समीक्षा की है।

षट्खण्डागम के छह खण्डों में प्रथम खण्ड का नाम जीवट्ठाण है। उसके अन्तर्गत सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व—ये आठ अनुयोगद्वार तथा प्रकृति-समुत्कीर्तन, स्थान-समुत्कीर्तन, तीन महादण्डक, जघन्य स्थिति, उत्कृष्ठ-स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति ये नौ चूलिकाएँ हैं। इस खण्ड का परिमाण धवलाकार में अठारह हजार पद कहा है। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओं में गुणस्थान और मार्गणाओं का आश्रय लेकर विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें जो शंका-समाधान हैं उन्हें हम यहाँ उद्धृत कर देना उपयुक्त समझते हैं—

शंका—पुण्य के फल क्या हैं?

समाधान—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

शंका—पाप के फल क्या हैं?

समाधान—नरक, तिर्यंच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की उत्पत्ति पाप के फल हैं।

शंका—अयोगी गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता इसलिए उनकी द्रव्य-प्रमाणानुगम में द्रव्य-संख्या कैसे कही जायेगी?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि भूतपूर्व न्याय का आश्रय लेकर अयोगी गुणस्थान की द्रव्य-संख्या का कथन सम्भव है। अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में प्रकृतिस्थानों के बन्धक थे वे ही अयोगी हैं। इस प्रकार अयोगी गुणस्थान की द्रव्यसंख्या का प्रतिपादन किया जा सकता है।

शंका—मार्गणा किसे कहते हैं?

समाधान—सत् संख्या आदि अनुयोगद्वारों से युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते है उसे मार्गणा कहते हैं।

शंका—मार्गणाएँ कितनी हैं?

समाधान—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार—ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनमें जीव खोजे जाते हैं।

शंका—जीवसमास किसे कहते हैं?

समाधान—जिसमें जीव भली प्रकार से रहते हैं।

शंका—जीव कहाँ रहते हैं?

समाधान—जीव गुणों में रहते हैं।

शंका—वे गुण कौन-से हैं?

समाधान—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक—ये पाँच प्रकार के गुण अर्थात् भाव हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है—जो कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है उसे औदायिक भाव कहते हैं। जो कर्मो के उपशम से होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं। जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। जो वर्तमान समय में सर्वधाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और अनागत काल में उदय में आने वाले सर्वघाती के स्पर्धकों के सदवस्था रूप उपशम से उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जो कर्मों के ऐसे उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा के बिना जीव के स्वभावमात्र से उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इन गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुण संज्ञा को प्राप्त होता है।

शंका—सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है। समीचीन रुचि का अभाव होने से सम्यदृष्टि भी नहीं है। तथा इन दोनों को विषय करने वाली सम्यग्मिथ्यात्व रूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्या-दृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि नहीं है। अर्थात् सासादन नाम का कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थान में विपरीत अभिप्राय रहता है इसलिए उसे असद्-दृष्टि ही जानना।

शंका—यदि ऐसा है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचरित्र का प्रतिबन्ध करने वाले अनन्तानुबन्धि-कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीत अभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीत अभि-

निवेश वहाँ नहीं है इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते, अपितु सासादन सम्यदृष्टि ही कहते हैं।

शंका—एक जीव में एक साथ सम्यक् और मिथ्यादृष्टि सम्भव नहीं हैं इसलिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि नाम का तीसरा गुणस्थान नहीं बनता?

समाधान—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, ऐसा मानते हैं और ऐसा मानने में विरोध नहीं आता।

शंका—पाँच प्रकार के भावों में से तीसरे गुणस्थान में कौन-सा भाव है?

समाधान—तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यङ्.मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीव के क्षायोपशमिक भाव कैसे सम्भव है?

समाधान—वह इस प्रकार है कि वर्तमान समय में मिथ्यात्व-कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से सत्ता में रहने वाले उसी मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव-लक्षण उपशम होने से और सम्यङ्.मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से सम्यङ्.मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक है।

शंका—औदयिक आदि पांच भावों में से किस भाव के आश्रय से संयमासंयम भाव पैदा होता है?

समाधान—संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमानकालीन सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने योग्य उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से संयमासंयम रूप अप्रत्याख्यान-चारित्र उत्पन्न होता है।

शंका—संयमासंयम रूप देशचारित्र के आधार से सम्बन्ध रखने वाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं।

समाधान—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। इनमें से कोई एक—सम्यग्दर्शन—विकल्प से होता है क्योंकि उनमें से किसी एक के विना अप्रत्याख्यान-चारित्र का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

शंका—सम्यग्दर्शन के बिना भी देशसंयमी देखने में आते हैं।

समाधान—नहीं। जो जीव मोक्ष की आकांक्षा से रहित है और जिसकी विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है उसके अप्रत्याख्यान-संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शंका—यदि छठे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो वे संयत नहीं हो सकते।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों से विरतिभाव को संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से रक्षित है।

शंका—पाँच प्रकार के भावों में से किस भाव से क्षीणकषाय गुणस्थान की उत्पत्ति होती है?

समाधान—मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय। इस गुणस्थान के

पहले दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाता है। अतएव इस गुणस्थान की उत्पत्ति क्षायिक गुण से है।

शंका—उपशम किसे कहते हैं ?

समाधान—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण-अपकर्षण, परप्रकृति-संक्रमण, स्थितिकाण्डक-घात और अनुभाग-काण्डक-घात के विना ही कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं।

शंका—क्षपक का अलग गुणस्थान और उपशम का अलग गुणस्थान क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशमक और क्षपक इन दोनों में अनिवृत्तिरूप परिणामों की अपेक्षा समानता है।

शंका—क्षय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियों के भेद से प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकार के हो जाते हैं ऐसे आठ कर्मों का जीव से जो अत्यन्त विनाश हो जाता है उसे क्षय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नाश करता है।

शंका—इन सात प्रकृतियों का युगपत् नाश करता है या क्रम से ?

समाधान—तीन करण करके अनिवृत्तिकरण के चरम समय के पहले अनन्तानुबन्धि चार का एक साथ क्षय करता है। पश्चात्, फिर से तीनों ही करण करके, उनमें से अधः-करण और अपूर्वकरण इन दोनों को उल्लंघन करके, अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का क्षय करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर सम्यङ्मिथ्यात्व का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर सम्यक् प्रकृति का क्षय करता है।

शंका—हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होता।

समाधान—उपर्युक्त दोष के ही कारण उनमें सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—इसी आर्षवचन से।

शंका—तो इसी आर्षवचन से द्रव्य-स्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध होगा ?

समाधान—नहीं। क्योंकि वस्त्र सहित होने से उनके संयमासंयम गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं होती।

शंका—वस्त्ररहित होते हुए भी उन द्रव्य-स्त्रियों के भावसंयम होने में कोई विरोध नहीं है ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं हैं। अन्यथा, अर्थात् भावसंयम के होने पर उनके भाव-असंयम के अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण नहीं बन सकता।

शंका—तो फिर स्त्रियों के चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान—भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने पर कोई विरोध नहीं आता।

शंका—बादरकषाय गुणस्थान के ऊपर भाववेद पाया जाता है इसलिए भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ पर अर्थात् गतिमार्गणा में वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती।

शंका - यद्यपि मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से विशेषणयुक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्य गति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव होने में विरोध नहीं।

शंका—यह बात किस प्रमाण से जानी जाये कि नौवें गुणस्थान तक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान—असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर संयमासंयम गुणस्थान तक तिर्यंच तीनों वेद वाले होते हैं और मिथ्यदृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक मनुष्य तीनों वेद से युक्त होते हैं—इस आगम-वचन से यह बात मानी जाती है।

इस प्रकार प्रथम खण्ड जीवट्ठाण में गुणस्थान और मार्गणाओं का आश्रय लेकर विस्तार से वर्णन किया गया है।

दूसरा खण्ड खुद्दाबन्ध है। इसके ग्यारह अधिकार हैं—(१) स्वामित्व, (२) काल, (३) अन्तर, (४) भंगविचय, (५) द्रव्यप्रमाणानुगम, (६) क्षेत्रानुगम, (७) स्पर्शानुगम, (८) नाना-जीव काल, (९) नानाजीव अन्तर, (१०) भागाभागानुगम और (११) अल्पबहुत्वानुगम। इस खण्ड में इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबन्ध करने वाले जीव का कर्मबन्ध के भेदों सहित वर्णन किया गया है।

तीसरे खण्ड का नाम बन्धस्वामित्व-विचय है। कितनी प्रकृतियों का किस जीव के कहाँ तक बन्ध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियों की किस गुणस्थान में व्युच्छित्ति होती है, स्वोदयबन्ध रूप प्रकृतियाँ कितनी हैं और परोदयबन्ध रूप कितनी हैं इत्यादि कर्म-बन्ध सम्बन्धी विषयों का बन्धक जीव की अपेक्षा से इस खण्ड में वर्णन है।

चौथे, वेदना खण्ड में कृति और वेदना अनुयोगद्वार हैं। कृति में औदारिक आदि पाँच शरीरों की संघातन और परिशातन रूप कृति का तथा भव के प्रथम और अप्रथम समय में स्थित जीवों के कृति, नो-कृति और अवक्तव्यरूप संख्याओं का वर्णन है। वेदना में सोलह अधिकारों द्वारा वेदना का वर्णन है।

पाँचवें खण्ड का नाम वर्गणा है। इसी खण्ड में बन्धनीय के अन्तर्गत वर्गणाअधिकार के अतिरिक्त स्पर्श, कर्मप्रकृति और बन्धन का पहला भेद बन्ध—इन अनुयोगद्वारों का भी अन्तर्भाव कर लिया गया है। इसमें गुणस्थानों का अन्तरकाल कहा गया है।

शंका—ओघ से मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तरकाल कितना है ?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है, निरन्तर है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त है। एक मिथ्यादृष्टि जीव सम्यङ्मिथ्यात्व, अविरत-सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम से बहुत बार परिवर्तित होता हुआ परिणामों के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और वहाँ पर सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्व के

साथ रह कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से सर्वजघन्य-अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण-मिथ्यात्व गुणस्थान का अन्तर प्राप्त हो गया।

शंका—सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यङ्मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तर कितने काल होता है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय होता है। उक्त दोनों गुणस्थानों का अन्तरकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग है।

शंका—पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर सासादन गुणस्थान क्यों नहीं प्राप्त हो जाता?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशमसम्यक्त्व के बिना सासादन गुणस्थान के ग्रहण करने का अभाव है।

शंका—वही जीव उपशमसम्यक्त्व को भी अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् क्यों नहीं प्राप्त होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशमसम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व को प्राप्त होकर सम्यक्त्व-प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व की उद्वेलना करता हुआ उनकी अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति का घात करके सागरोपम से अथवा सागरोपम पृथक्त्व से जब तक नीचे नहीं करता है तब तक उपशमसम्यक्त्व ग्रहण करना ही सम्भव नहीं है।

शंका—असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवों का अन्तर कितने काल होता है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है, निरन्तर है। क्योंकि सर्वकाल ही उक्त गुणस्थानवर्ती जीव पाये जाते हैं।

शंका—उपशमश्रेणी के चारों उपशमकों का अन्तर कितना है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय अन्तर है।

शंका—चारों क्षपक और अयोगकेवली का अन्तरकाल कितना है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय होता है।

शंका—सयोगकेवलियों का अन्तर काल कितना है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं होता, निरन्तर है।

शंका—चारों उपशमकों का अन्तरकाल कितना है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय अन्तर है। चारों उपशमकों का उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व अन्तर है।

शंका—चारों क्षपक और अयोगकेवलियों का अन्तर कितना है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय है।

षट्खण्डागम : पुस्तक-६

शंका—आप्त, आगम और पदार्थों में सन्देह किस कर्म के उदय से होता है?

समाधान—सम्यग्दर्शन का घात नहीं करनेवाला सन्देह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होता है किन्तु सर्वसन्देह अर्थात् सम्यग्दर्शन का पूर्णरूप से घात करनेवाला सन्देह और मूढ़ता मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न होता है।

शंका—दर्शनमोहनीय कर्म सत्त्व की अपेक्षा तीन प्रकार का है; यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—आगम और अनुमान से जाना जाता है कि दर्शनमोहनीय कर्म सत्त्व की अपेक्षा तीन प्रकार का है। विपरीत अभिनिवेश मूढ़ता और सन्देह ये मिथ्यात्व के चिह्न हैं। आगम और अनागमों में समभाव होना सम्यङ्मिथ्यात्व का चिह्न है। आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता और श्रद्धा की हीनता होना सम्यक्त्व प्रकृति का चिह्न है।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की है, इस विषय में क्या युक्ति है?

समाधान—सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का घात करनेवाले अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक दर्शनमोहनीय स्वरूप नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व के द्वारा ही आवरण किये जानेवाले सम्यग्दर्शन के आवरण करने में फल का अभाव है।

शंका—पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को नहीं ग्रहण करके स्थित जीव का इच्छित गति में गमन किस कर्म से होता है?

समाधान—आनुपूर्वी नाम कर्म से इच्छित गति में गमन होता है।

शंका—विहायोगति नाम कर्म से इच्छित गति में गमन क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि विहायोगति नाम कर्म का औदारिक आदि तीनों शरीरों के उदय के विना उदय नहीं होता है।

शंका—आकार विशेष को बनाये रखने में व्यापार करनेवाली आनुपूर्वी इच्छित गति में गमन का कारण कैसे होती है?

समाधान—क्योंकि आनुपूर्वी का दोनों ही कार्यों के व्यापार में विरोध का अभाव है अर्थात् विग्रहगति में आकार विशेष को बनाये रखने में और इच्छितगति में गमन कराना ये दोनों ही नामकर्म के कार्य हैं।

शंका—अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वाभाविक गुण है उसे यहाँ कर्मप्रकृतियों में क्यों गिनाया?

समाधान—क्योंकि संसार अवस्था में कर्मपरतन्त्र जीव में उस स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण का अभाव है।

शंका—अगुरुलघुत्व नाम का गुण सब जीवों के पारिणामिक है, क्योंकि सब कर्मों से रहित सिद्धों में भी उसका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए अगुरुलघुत्व नामकर्म का कोई फल न होने से उसका अभाव मानना चाहिए।

समाधान—उपर्युक्त दोष प्राप्त होता यदि अगुरुलघुत्व नामकर्म जीवविपाकी होता। किन्तु यह कर्म पुद्गलविपाकी है। क्योंकि गुरुस्पर्शवाली अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा आरब्ध शरीर के अगुरुलघुत्व की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाये तो गुरुभारवाले शरीर से संयुक्त यह जीव उठने के लिए भी नहीं समर्थ होता, जबकि ऐसा नहीं है।

शंका—संक्लेश नाम किसका है?

समाधान—असाता के बन्धयोग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं।

शंका—विशुद्धि नाम किसका है?

समाधान—साता के बन्धयोग्य परिणाम को विशुद्धि कहते हैं।

शंका—परिणामों की करण संज्ञा कैसे हुई ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। साधकतम भाव की विवक्षा से, परिणामों में करणपना पाया जाता है।

शंका—मिथ्यादृष्टि आदि जीवों के परिणामों की अधःप्रवृत्त संज्ञा क्यों नहीं की ?

समाधान—क्योंकि यह बात इष्ट है अर्थात् मिथ्यादृष्टि आदि के अधस्तन और उपरितन समयवर्ती परिणामों की पायी जानेवाली समानता में अधःप्रवृत्तकरण का व्यवहार स्वीकार किया जाता है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि अधःप्रवृत्त नाम अन्तदीपक है इसलिए प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने के पूर्व तक मिथ्यादृष्टि आदि के पूर्वोत्तरसमयवर्ती परिणामों में जो समानता पायी जाती है वह उसकी अधःप्रवृत्तसंज्ञा का सूचक है।

शंका—प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव किसका अन्तर करता है ?

समाधान—मिथ्यात्व कर्म का अन्तर करता है, क्योंकि यहाँ पर अनादि मिथ्यादृष्टि जीव का अधिकार है। अन्यथा पुनः जो तीन भेदरूप दर्शनमोहनीय कर्म है उस सबका अन्तर करता है।

शंका—वहाँ पर किस करण के काल में अन्तर करता है ?

समाधान—अनिवृत्तिकरण के काल में संख्यात भाग जाकर अन्तर करता है।

षट्खण्डागम : पुस्तक-१०

शंका—बन्ध के कारण कौन-से हैं ?

समाधान—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग—ये चार बन्ध के कारण हैं और सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय और अयोग मोक्ष के कारण हैं।

शंका—जीव ही उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप कर्मों के आस्रव अन्यत्र नहीं पाये जाते; इसीलिए जो जीव—इस प्रकार जीव को विशेष रूप किया है और आगे कहे जानेवाले सब इसके विशेषण हैं।

शंका—नारकी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नरक से निकलकर किन-किन गतियों में जाते हैं ?

समाधान—तिर्यंच गति में भी और मनुष्य गति में भी।

शंका—सम्यग्दृष्टि नारकी नरक से निकलकर किन-किन गतियों में जाते हैं ?

समाधान—एक मात्र मनुष्य गति में ही जाते हैं।

शंका—नीचे सातवीं पृथ्वी के नारकी जीव किन गतियों में जाते हैं ?

समाधान—केवल एक, तिर्यंच गति, में ही जाते हैं। उनके शेष तीन आयुओं के बन्ध का अभाव है।

शंका—संख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य व मनुष्यपर्याप्तकों में सम्यक्त्व सहित प्रवेश करनेवाले देव और नारकी जीवों का वहाँ से सासादन-सम्यक्त्व के साथ कैसे निकलना होता है ?

समाधान—देव और नारकी सम्यग्दृष्टि जीवों का मनुष्यों में उत्पन्न होकर उपशम श्रेणी पर आरोहण करके और फिर नीचे उतरकर सासादन गुणस्थान में जाकर मरने पर सासादन गुणस्थान सहित निकलना होता है।

पं० वालचन्द्र शास्त्री के षट्खण्डागम-परिशीलन में हमें जो कमी प्रतीत हुई उसे हमने पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। इसे पढ़कर पाठक वहुत कुछ जान सकेंगे। पं० वालचन्द्र जी शास्त्री का यह कृतित्व महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इसमें अपने अनुभव का पूरा उपयोग किया है, और इस प्रकार यह एक विद्वत्तापूर्ण रचना वन गयी है।

— कैलाशचन्द्र शास्त्री

General Editorial

Jainism, being one of the oldest, very comprehensive and culturally rich religious systems of civilized humanity, is emphatically a positive religion which seeks to bring true happiness to its votaries by elevating them morally and enabling them to attain the highest spiritual perfection they are capable of. The ultimate aim is the attainment of liberation (*moksha* or *nirvana*) from the unceasing cycle of birth and death, which characterises the soul's mundane existence and is full of misery, pain and suffering. The main cause of this *samsari* state or mundane existence is the *karmic* bondage in which the soul is being held. Hence, the doctrine of *karma*, a unique feature and peculiarity of the Jaina system of thought, is the keystone of its metaphysics, ontology, epistemology, ethics and philosophy. The entire sacred literature of the Jains is imbued with the interplay of the *karma* which is of two kinds, subjective and objective. The former represents the aberrations and perversions in the qualities natural of the pure soul, perversions such as delusion, attachment, aversion, hatred, anger, conceit, deceit, greed, lust, etc. The objective *karma* is a form of extremely subtle matter which is attracted by or flows into the soul and holds it in bondage when that soul happens to be afflicted by the said aberrations or perversions. Every such bondage has its own duration with a certain intensity. On fruition the *karma* drops out. These material *karmas* are divided into eight principal kinds and one hundred and forty-eight subkinds. The restless mundane soul goes on indulging incessantly in mental, vocal and bodily activities that are actuated by one or more of those spiritual aberrations and perversions, and consequently it goes on binding itself with fresh *karma* every moment. The process goes on *ad infinitum*. It is only when a soul wakes up, becomes conscious of the divinity inherent in itself, and makes effort to free itself from the enthraldom of the *karma* that it launches upon the path of spiritual regeneration. Gradually by taking steps to stop the influx of fresh *karmas* and to annihilate the already bound ones, it finally becomes free of bondage and attains liberation or *moksha*, the state of purest and highest spiritual

perfection and unmixed eternal bliss, whence there is no return to *samsara* or the mundane existence.

In the current cycle of time, this truth was realised, practised and preached, one after the other, by twenty-four Jinas or Shramana Nirgrantha Tirthankaras, from Adinatha Rishabhadeva of the hoary antiquity down to Vardhamana Mahavira (599-527 B.C.), the last of them. Born in B.C. 599, he renounced worldly life at the age of 30, and practised the most austere ascetic discipline to purify his spiritual self for the next 12 years, consequently attaining *kevala-jnana* (enlightenment) in B.C. 557, when he started delivering His sermons for the good of all the living beings. His chief disciple or Ganadhara, Indrabhuti Gautama, listened to and grasped the import of His divine sermons, which he compiled and codified in substance, in the form of the *Dvadashanga-shruta* (twelve-limbed canon). The twelfth Anga, *Drishti-pravada*, and more especially its *Purvagata* section comprising fourteen *Purvas*, dealt in detail with the doctrinal aspects of the Jina's Teachings, including the Doctrine of *karma*.

After Mahavira's Nirvana, in B.C. 527, this original canonical knowledge started flowing, by word of mouth, through a succession of authoritative and competent gurus. But, it could remain intact only upto B.C. 365, when with the demise of the last Shruta-kevalin, Bhadrabahu I, it began to dwindle gradually in volume as well as substance. Notwithstanding a continuous and alarming decline in the canonical knowledge, Jaina gurus being possessionless forest recluses, conservative in their attitude and averse to writing, continued to resist, for the next three centuries or so, all attempts at redaction of the surviving *shrutagama*. About B.C. 150, Kharavela, the celebrated Jaina monarch of Kalinga (Orissa), convened at the Kumari Parvat a big religious conference which was attended by Jaina monks from all over India. The question of canonical redaction was naturally posed at this holy gathering. Although, this attempt bore no immediate fruit, the monks from Mathura, on their return from Kalinga, started the Sarasvati Movement in order to prepare the ground for the redaction, and, by the latter half of the first century B.C., the Jaina saints of the Dakshinapatha (southern India) came forward to take up the challenge. Bhadrabahu II (B.C. 37-14), Lohacharya (B.C.14—A.D.38), Kundakunda (B.C.8—A.D.44), Vattakera and several others did not wait for the redaction proper and started writing treatises on more relevant topics, based on the extant surviving portions of the *shruta-agama*. In this genial atmosphere Gunadhara, Dharasena, probably Vattakera also, agreed readily to redact or get redacted the more important portions of the original canon, of which they happened to be the authentic repositories at the time.

Dharasenacharya (*circa* 40—75 A.D.), who practised austerities residing in the Chandra-guha (Moon-cave) of Girinagar (Mt. Urjayant) in Saurashtra, had inherited frangmentary knowledge of the *Angas* and *Purvas*, including the full text of the *Maha-kamma-payadi-pahuda* (*Mahakarmaprakriti-prabhrata*) contained mainly in the fourth *Prabhrata* of the fifth *Vastu* of the *Agrayini Purva* of the *Drishtipravada Anga*, supplemented by relevant portions of other Purvas and Angas. He sent word to Arhadbali, the presiding Acharya of the congregation being held at the time at Mahimanagari on the banks of the river Venya, to send to him two capable scholarly saints. Consequently, Pushpadanta and Bhutabali presented themselves to Dharasenacharya who imported to them in full the canonical text mentioned above and bade them to redact it in the form of *Sutras*. The result was the redacted text of the aforesaid MKP, known as the *Shata-khandagama* since it was divided into six *khandas* or parts. The very high place, value and importance of this text in the sacred literature of the Jains cannot be exaggerated, simply because it is directly related to and derived or extracted from the original Jaina canon, the *Dvadashanga-shruta*, as compiled by Gautama the Ganadhara in the life-time and presence of the Tirthankara Mahavira Himself and incorporated the latter's own teachings.

The main theme of this *Agama* is, apart from many other connected topics, the very detailed and complete exposition of Mahavira's doctrine of *karma*, the first three parts dealing mainly with the soul which is the subject and agent of *karmic* bondage, and the last three with the objective or material *karma*, its nature, kinds and classes and its operation, interaction or interplay with respect to a particular or individual soul.

About half a dozen commentaries of this text were written by different authors at different times. Of these the latest, most exhaustive and the only available one is the *Dhavala*, written in mixed Prakrit and Sanskrit, running into 72000 Shloka-size, and completed, in Vikrama Samvat 838 (A.D. 780), at Vatagrama (near Nasik in Maharashtra), during the reign of the Rashtrakuta monarch Dhruva Dharavarsha Nirupama 'Vallabharaya' (779-793 A.D.), by Swami Virasena of the Panchastupa-nikaya, who was one of the most learned saints and greatest authors of Jaina literary history. The only extant manuscripts of this voluminous commentary were on palm-leaves and transcribed in the Kannada script, which were preserved in the Siddhanta Basadi at Moodbidre in South Canara (Karnataka). No light has yet been shed on the number, date, place, donor, scribe, etc., of these Mss. There is reason to believe that there are more than one set complete or incomplete, and that the earliest of them is the one prepared, about 1400 A.D., at the instance of Devamati, a princess probably of the Alupa family of the Tuluva region

in which Moodbidre lay, as also that the Guru-basadi, in which this set was installed, thereafter came to be known as the Siddhanta-basadi. The story how a complete paper-copy of the *Dhavala*, transcribed in the Nagari script, was, in the twenties of the present century, secretly smuggled out of the Siddhanta Basadi of Moodbidre and reached northern India, is quite interesting. From this copy, several other copies were soon made. It was with the help of these copies that the late Prof. Hiralal Jain of Amraoti prepared a standard edition of the *Shatakhanda-agama* alongwith its *Dhavala* commentray, with critical notes, Hindi translation, learned introductions, useful appendices, etc., which was published in sixteen volumes, between 1938 and 1959 A.D., by the Jain Sahityoddharaka Fund endowed by Seth Lakshmi Chand of Vidisha (M.P.).

This momentous publication aroused keen interest in many a Jaina and non-Jaina scholar who, as soon as the volumes began to apear one after the other, started delving into this ocean of Agamic knowledge. In fact, for a proper understanding of the Jaina doctrines prevailing prior to the schism of 79 A.D. which divided Mahavira's Order into the Digambara and Shvetambara sections, study of the *Shatakhandagama* is indispensable. It is equally valuable for a study of the early forms of the Prakrit language. Moreover, whereas the Shvetambara section claims to have preserved surviving portions and versions of the first eleven Angas as redacted by Devarddhi Gani in 466 A.D. and declares that the *Twelfth Anga* had already been entirely lost long before that time, the Digambaras disown the Shvetambara version of the *Eleven Angas* and claim to have scrupulously preserved specific portions of the Twelfth Anga, the *Shatakhandagama* being one of such portions that had been saved from oblivion. Thus, in a way, the two traditions would seem to complement each other. This fact also accounts for the agreement between the two sections on docrinal fundamentals and for the presence, in their respective canonical literatures, of many common *gathas*, which had been prevailing as common heritage before the schismatic division.

In the foregoing several decades much useful light has been thrown on various aspects of this *Agama* and its *Dhavala* commentary, in the learned introductions to the published editions and in the critical discussions of reputed scholars like Pt. Nathuram Premi, Pt. Jugal Kishore Mukhtar, Prof. Hiralal Jain, Dr. A. N. Upadhye, Prof. S.M. Katre, Pt. Kailash Chandra Shastri, Pt. Phool Chandra Shastri, Pt. S.C. Divakar, Dr. J. P. Jain, and several others. Yet, the need of a more comprehensive and exhaustive study in one volume was being felt, which has happily been fulfilled by Pandit Balchandraji Shastri.

Shastriji, having been closely associated with Dr. Hiralal Jain in the stupendous task of editing, translating and publishing this voluminous

work, naturally got an opportunity to study deeply the *Shatakhandagama Sutras* and their *Dhavala* commentary. Even after the last volume had been published, his interest, study and researches in the subject continued and ultimately fructified in the form of the present '*Shatakhandagama Parishilana*'. It is, no doubt, a detailed and critical study, touching the different aspects of this esteemed canonical work. The discussion is divided into eleven chapters, of which the first two deal with the name of the work, its author, source, authenticity, language, style, method of exposition, classification of topics and certain other allied things; Ch. III describes in detail the subject matter of each of the six parts (or Khandas); Ch. IV provides a comparative study of *Shatkhandagama* with more than a dozen other works on the same subject; Ch. V deals with the known exegetical literature relating to this text is general, and its *Dhavala* commentary in particular; Ch. VI gives information about *Santa-kamma-panjiya* (*Satkarma-panjika*), a short commentary of unknown authorship, on a portion of the text; Chs. VII to IX discuss works and authors quoted or alluded to, directly or indirectly in the Dhavala; Ch. X discusses the style and method of exposition employed in Virasena's *Dhawala* ; and Ch. XI contains an index of the numerous quotations which Virasena had gleaned from different earlier works and used in the *Dhavala*. The study also contains useful appendices at the end, and the author's elaborate introduction as well as Pt. Kailash Chandra Shastri's General Editorial in Hindi at the beginning, all of which go to enhance the usefulness of this publication. It would not be out of place to point out that on certain points, such as the date and place of the completion of the *Dhavala* and the tentative dates, etc., of early authors including the redactors of this canonical text, the undersigned begs to differ, on good grounds, from the views of Pt. Balchandraji as well as Dr. Hiralalji whom the former seems to have naturally followed in such cases. There is, however, no doubt that Pt. Balchandraji has devoted much time and energy in writing out this comprehensive critical study of one of the surviving original Jaina Agamas, for which the authorities of the Bharatiya Jnanpith and myself, are grateful to him.

Shri Sahu Shriyans Prasadji, President and Sahu Ashoka Kumarji Managing Trustee, and staff of the Bharatiya Jnanpith deserve thanks for bringing out Shastriji's this learned and specialised canonical study. It is hoped that its publication will inspire readers to study for themselves the original work, and that this 'Parishilana' will also be found useful to serious students and research workers in the field of Jaina metaphysics and ontology, particularly the Jaina Doctrine of *karma*.

—Jyoti Prasad Jain

Jyoti Nikunj,
Charbagh, Lucknow – 19
15th Oct., 1986

प्रस्तावना

आगम का महत्त्व

मनुष्य पर्याय की प्राप्ति का प्रमुख प्रयोजन संयम को प्राप्त कर कर्मबन्धन से मुक्ति पाना होना चाहिए। इसके लिए जीवादि पदार्थों के विषय में यथार्थ श्रद्धापूर्वक उनका ज्ञान और तदनुरूप आचरण आवश्यक है। पदार्थविषयक वह ज्ञान आगमाभ्यास के विना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने आगमविषयक अध्ययन पर विशेष जोर दिया है। वे कहते हैं कि आगमपरिशीलन के विना पदार्थों के विषय में निश्चय नहीं होता है और जब तक निश्चय नहीं होता तब तक श्रमण एकाग्रचित्त नहीं हो सकता है। एकाग्रचित्त वह तब ही हो सकता है जब उसे आत्म-पर का विवेक हो जाय। कारण यह कि भेदविज्ञान के विना कर्मों का क्षय करना शक्य नहीं है। इस प्रकार यह सब उस आगमज्ञान पर ही निर्भर है। इसीलिए साधु को आगमचक्षु कहा गया है, जो सर्वथा उचित है। कारण यह है कि चर्मचक्षु से तो प्राणी सीमित स्थूल पदार्थों को ही देख सकता है, सूक्ष्म व देश-कालान्तरित असीमित पदार्थों के देखने में वह असमर्थ ही रहता है। किन्तु आगम के द्वारा परोक्ष रूप में उन सभी पदार्थों का ज्ञान सम्भव है जिन्हें केवलज्ञानी प्रत्यक्ष रूप में जानते देखते हैं। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिसकी दृष्टि आगमपूर्व नहीं है—आगमज्ञान से सुसंस्कृत नहीं होती है—उसके संयम नहीं होता है, यह सूत्रवचन है। और जो संयम से रहित होता है वह श्रमण नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि आगमज्ञान के विना तत्त्व-श्रद्धापूर्वक ज्ञान, उसके विना संयम और उस संयम के विना निर्वाण का प्राप्त करना सम्भव नहीं है।[1]

आगम की यथार्थता

यह अवश्य विचारणीय है कि आगम रूप से प्रसिद्ध विविध ग्रन्थों में वह यथार्थ आगम क्या हो सकता है, जिसके आश्रय से मुमुक्षु भव्य जीव उक्त आत्मप्रयोजन को सिद्ध कर सकें। आचार्य कुन्दकुन्द के वचनानुसार यथार्थ आगम उसे समझना चाहिए जो वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया हो तथा पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित हो।[2]

इसी अभिप्राय को परीक्षाप्रधानी आचार्य समन्तभद्र ने भी अभिव्यक्त किया है कि जो

---

१. प्रवचनसार ३,३२-३७

२. नियमसार ७-८

आप्त—सर्वज्ञ व वीतराग—के द्वारा प्रणीत हो तथा जो प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाण से अविरुद्ध होने के कारण वस्तुस्वरूप का यथार्थ प्ररूपक हो उसे ही यथार्थ आगम जानना चाहिए। ऐसा आगम ही प्राणियों को कुमार्ग से बचाकर उन सबका हित कर सकता है।[1]

षट्खण्डागम की यथार्थता

ऐसे यथार्थ माने जाने वाले आगमों में प्रस्तुत षट्खण्डागम अन्यतम है। कारण यह कि उसका महावीर-वाणी से सीधा सम्बन्ध रहा है। उसे दिखलाते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार से यह षट्खण्डागम केवलज्ञान के प्रभाव से प्रमाणीभूत आचार्य-परम्परा से अविश्रान्त चला आया है और इसीलिए वह प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाण से अविरुद्ध होने के कारण प्रमाणीभूत है। इस कारण मोक्षाभिलाषी भव्य जनों को उसका अभ्यास करना चाहिए।[2]

सिद्धों के पूर्व अरहन्तों को नमस्कार क्यों ?

धवला में पंचपरमेष्ठिनमस्कारात्मक मंगलगाथा की व्याख्या के प्रसंग में यह एक शंका उठायी गई है कि समस्त कर्मलेप से रहित सिद्धों के रहने पर सलेप—चार अघातिया कर्मों के लेप से सहित—अरहन्तों को प्रथमतः नमस्कार क्यों किया जाता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि सिद्ध, जो गुणों से अधिक हैं, उनकी उस गुणाधिकता विषयक श्रद्धा के कारण वे अरहन्त ही तो हैं, इसीलिए उन्हें सिद्धों के पूर्व नमस्कार किया जा रहा है। अथवा यदि अरहन्त न होते तो हम जैसे छद्मस्थ जनों को आप्त, आगम और पदार्थों का बोध ही नहीं हो सकता था। यह महान् उपकार उन अरहन्तों का ही तो है। इसीलिए उन्हें आदि में नमस्कार किया जाता है।[3]

इससे निश्चित है कि अरहन्त (आप्त) व उनके द्वारा प्ररूपित आगम ही एक ऐसा साधन है जिससे प्राप्त तत्त्वज्ञान के बल पर जीव सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

आगम को महत्त्व देते हुए आ० गुणभद्र ने भी 'आत्मानुशासन' में यही अभिप्राय प्रकट किया है कि सभी प्राणी जिस समीचीन सुख को चाहते हैं, वह यथार्थ सुख कर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत होता है। यह कर्मक्षय व्रत-संयम से सम्भव है जो सम्यग्ज्ञान पर निर्भर है। उस सम्यग्ज्ञान का कारण वह आगम है जो वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया हो। इस प्रकार यथार्थ (निर्बाध) सुख का साधन वह आप्त और उसके द्वारा प्रणीत आगम ही है। अतः युक्ति से विचार कर मुमुक्षु भव्य को उसी का आश्रय लेना चाहिए।[4]

इसी 'आत्मानुशासन' में आगे मन को उपद्रवी चपल बन्दर के समान बतलाते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि जिस प्रकार बन्दर फल-पुष्पादि से व्याप्त किसी हरे-भरे वृक्ष

१. रत्नकरण्डक ९
२. धवला पु० ९, पृ० १३३-३४
३. धवला पु० १, पृ० ५३-५४
४. आत्मानुशासन ९ (विपरीत क्रम से इसी अभिप्राय का प्ररूपक एक पद्य 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में भी उद्धृत किया गया है।)

को पाकर उपद्रव छोड़ देता है और उस पर रम जाता है उसी प्रकार स्वच्छन्दता से इन्द्रिय-विषयों की ओर दौड़ने वाले चंचल मन को अनेकान्तात्मक पदार्थों के प्ररूपक, अनेक नयरूप शाखाओं से सुशोभित श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष पर रमाना चाहिए—उसके अभ्यास में संलग्न करना चाहिए, जिसके आश्रय से वह कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त हो सके।[1]

अधिक क्या कहा जाय, त्रिलोकपूज्य उस तीर्थंकर पद की प्राप्ति का कारण भी अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगयुक्तता[2] या अभीक्ष्णज्ञानोपयोग[3] ही है।

षट्खण्डागम की महत्ता

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, प्रस्तुत षट्खण्डागम एक प्रमाणभूत परमागमग्रन्थ है। आचार्य अकलंकदेव के द्वारा स्थान स्थान पर जिस ढंग से उसके महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया गया है उससे भी उसकी परमागमरूपता व उपादेयता सिद्ध होती है। उन्होंने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में यथाप्रसंग उसके अन्तर्गत खण्ड व अनुयोगद्वार आदि का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) कुतः ? आगमे प्रसिद्धे। आगमे हि जीवस्थानादिसदादिष्वनुयोगद्वारेणाऽऽदेशवचने···। —त०वा० १,२१,६ तथा प०ख० सूत्र १,१,२४ व २५,२८ आदि।

(२) एवं ह्यार्षे उक्तं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति को भावः ? पारिणामिको भाव इति।

—त०वा० २,७,११ व ष०ख० सूत्र १,७,३

(३) एवं हि समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे त्रसानां द्वीन्द्रियादारभ्य आ-अयोगिकेवलिन[4] इति।—त० वा० २,१२,५ और प०ख० सूत्र १,१,४४

(४) आह चोदकः—जीवस्थाने योगभंगे······? न विरोधः, आभिप्रायकत्वाज्जीवस्थाने सर्वदेव-नारकाणां······।—त०वा० २,४६,८ व प०ख० सूत्र १,१,५७

(५) एवं ह्युक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्ध-निर्देशः प्रोक्तः।—त०वा० ५,३६,४ और प०ख० सूत्र ५,६,३३-३४

आचार्य पूज्यपाद ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के अन्तर्गत सूत्र १-८ की व्याख्या में षट्खण्डागम परमागम के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के प्रायः सभी सूत्रों को छायानुवाद के रूप में आत्मसात् किया है। आ० पूज्यपाद भट्टाकलंकदेव के पूर्ववर्ती हैं। उनके तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) गत वाक्यों को अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में समाविष्ट कर उन्हें विशद किया है। आ० पूज्यपाद ने षट्खण्डागम जैसे परमागम को प्रमाण मानकर यह भी कहा है—

"स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च।"—स०सि० ५-७

इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद और भट्टाकलंकदेव ने प्रकृत षट्खण्डागम को विशेष महत्त्व

---

१. आत्मानुशासन १७०

२. ष०ख० सूत्र ४१ (पु० ८)

३. तत्त्वार्थसूत्र ६-२४

४. षट्खण्डागम के इस सूत्र (१,१,४४) का संकेत सर्वार्थसिद्धि (२-१२) में भी 'आगम' के नाम से ही किया गया है।

देकर उसकी उपादेयता और अभ्यसनीयता को प्रकट किया है।

धवलाकार आ० वीरसेन ने प्रसंगप्राप्त सत्कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत की असूत्ररूपता का निराकरण करते हुए उन्हें सूत्र सिद्ध किया है व द्वादशांगश्रुत जैसा महत्त्व दिया है (पु० १, पृ० २१७-२२)।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र

जैसा कि ऊपर 'आगम का महत्त्व' शीर्षक में स्पष्ट किया जा चुका है, परमागमरूपता को प्राप्त प्रस्तुत षट्खण्डागम मुमुक्षु भव्य जनों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त कराने का एक अपूर्व साधन है। कारण यह कि मोक्षमार्ग रत्नत्रय के रूप में प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदयात्मक है। इनमें सम्यग्दर्शन को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। वह सम्यग्दर्शन अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को कब और किस प्रकार से प्राप्त होता है, इसे स्पष्ट करने के लिए षट्खण्डागम के प्रथम खण्डस्वरूप जीवस्थान में सर्वप्रथम मोक्ष-महल के सोपानभूत चौदह गुणस्थानों का विचार किया गया है। इन गुणस्थानों में वर्तमान जीव उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होते हुए किस प्रकार से उस रत्नत्रय को वृद्धिगत करते हैं, यह दिखलाया गया है। आगे वहाँ गत्यादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से विभिन्न जीवों की विशेषता को भी प्रकट किया गया है।

इस जीवस्थान खण्ड से सम्बद्ध जो नौ चूलिकाएँ हैं उनमें आठवीं 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका है। उसमें प्रथमतः छठी और सातवीं इन पूर्व की दो चूलिकाओं की संगति को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि इन दो चूलिकाओं में यथाक्रम से निर्दिष्ट कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के रहते हुए जीव उक्त सम्यग्दर्शन को नहीं प्राप्त करता है। किन्तु जब वह उन कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति को बाँधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने योग्य होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार और मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय को उपशमाकर उस प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इसलिए यहाँ प्रथमतः दर्शनमोहनीय की उपशामन विधि का विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में वहाँ कौन जीव उसके उपशमाने के योग्य होता है तथा वह किन अवस्थाओं में उसे उपशमाता है, इत्यादि का जो मूल ग्रन्थ में सूत्र रूप से विचार किया गया है इसका स्पष्टीकरण धवलाकार ने विशेष रूप से कर दिया है। यह उपशमसम्यक्त्व चिरस्थायी नहीं है, अन्तर्मुहूर्त में वह विनष्ट होने वाला है।[1]

आगे वहाँ मुक्ति के साक्षात् साधनभूत क्षायिकसम्यक्त्व का विचार करते हुए उसके रोधक दर्शनमोहनीय का क्षय कहाँ, कब और किसके पादमूल में किया जाता है, का विचार किया गया है। धवलाकार ने इसका विशदीकरण भी विशेष रूप से किया है।[2]

इस प्रकार सम्यक्त्व की प्ररूपणा करके, तत्पश्चात् इसी 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका में जीव सम्यक्त्वपूर्वक चारित्र और सम्पूर्ण चारित्र को किस प्रकार से प्राप्त करता है, इसका मूल ग्रन्थकार द्वारा संक्षेप में दिशावबोध कराया गया है। उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने

---

१. सूत्र १,९-८,१-१० (पु० ६, पृ० २०३-४३)
२. सूत्र १,९-८,११-१३ (पु० ६, पृ० २४३-६६)

उस प्रसंग में संयमासंयम तथा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक—सकलचारित्र के इन तीन भेदों के निर्देशपूर्वक उनमें से प्रत्येक की प्राप्ति के विधान की पृथक्-पृथक् विस्तार से प्ररूपणा की है।[1]

इसी प्रसंग में उन्होंने जीव किस क्रम से उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि पर आरूढ होता है तथा वहाँ किस क्रम से वह विविध कर्मप्रकृतियों को उपशमाता व क्षय करता है, इसका विचार भी बहुत विस्तार से किया है। इसी सिलसिले में वहाँ उपशमश्रेणि पर आरूढ हुआ संयत कालक्षय अथवा भवक्षय से उस उपशमश्रेणि से पतित होकर किस क्रम से नीचे आता है, इसका भी विस्तार से विवेचन किया गया है।

वही संयत मुक्ति की अनन्य साधनभूत दूसरी क्षपकश्रेणि पर आरूढ होकर जीव के सम्यग्दर्शनादि गुणों के विघातक कर्मों का किस क्रम से क्षय करता हुआ क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होता है और फिर सयोगकेवली होकर वहाँ जीवन्मुक्त अवस्था में जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण रहता हुआ अयोगकेवली हो जाता है और अन्त में शेष अघातिया कर्मों को भी निर्मूल करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है—इस सबका विशद विवेचन धवलाकार ने किया है।[2]

यह जो सम्यक्त्व व चारित्र की प्ररूपणा प्रथमतः षट्खण्डागम के जीवस्थान खण्डगत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार[3] में तथा विशेषकर इस चूलिका में की गयी है वह आत्महितैषी जनों के लिए मननीय है। उनके विषय में जिस प्रकार का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है वह अन्यत्र द्रव्यानुयोगप्रधान ग्रन्थों में प्रायः दुर्लभ रहेगा।

सम्यग्ज्ञान

इस प्रकार सम्यक्त्व व चारित्र की प्ररूपणा कर देने पर पूर्वोल्लिखित रत्नत्रय में सम्यग्ज्ञान शेष रह जाता है, जिसकी प्ररूपणा भी यथाप्रसंग प्रकृत षट्खण्डागम में विस्तार से की गयी है। यह ध्यातव्य है कि सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भूत हो जाने पर उसका ज्ञान, पूर्व में जो मिथ्या था, उसी समय सम्यग्रूपता को प्राप्त कर लेता है।[4] वह यदि अल्प मात्रा में भी हो तो भी वह केवलज्ञानपूर्वक प्राप्त होनेवाली मुक्ति की प्राप्ति में बाधक नहीं होता—जैसे तुषमास के घोषक शिवभूति का ज्ञान।[5]

इसके विपरीत भव्यसेन मुनि बारह अंग और चौदह पूर्वस्वरूप समस्त श्रुत का पारंगत होकर भी भावश्रमणरूपता को प्राप्त नहीं हुआ—मोक्षमार्ग से बहिर्भूत द्रव्यलिंगी मुनि ही रहा।[6]

---

१. सूत्र १,९-८,१३-१४ (पु० ६, पृ० २६६-३४२)
२. सूत्र १,९-८,१५-१६ (पु० ६, पृ० ३४२-४१८)
३. धवला पु० १, पृ० २१०-१४ (उपशामनविधि) तथा पृ० २१५-२५ (क्षपणविधि)
४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३२-३४
५. तुस-मासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।—भावप्राभृत ५३
६. अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुदणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसमणत्तणं पत्तो॥—भावप्राभृत ५२

प्रकृत सम्यग्ज्ञान की प्ररूपणा प्रथमतः जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत 'सत्प्ररूपणा' अनुयोगद्वार में ज्ञानमार्गणा के प्रसंग में की जा चुकी है (सूत्र १,१,११५-२२; पु० १ पृ० ३५३-६८)।

तत्पश्चात् 'वर्गणा' खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में नोआगमकर्मद्रव्यप्रकृति के प्रसंग में उसकी विस्तार से प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकृतिअनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृतियों के भेद-प्रभेदों को प्रकट किया गया है। सर्वप्रथम वहाँ ज्ञानावरणीय के पाँच भेदों का निर्देश करते हुए उनमें आभिनिवोधिकज्ञानावरणीय के ४,२४,२८,३२,४८,१४४,१६८, १९२,२८८,३३६ और ३८४ भेदों का निर्देश किया गया है (सूत्र ५,५,१५-३५)।

इस प्रसंग में धवलाकार ने ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के द्वारा आवृत किये जानेवाले आभिनिवोधिकज्ञान के सभी भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा की है। तत्पश्चात् वहाँ इसी पद्धति से श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन ज्ञानभेदों की भी प्ररूपणा की गई है।[1]

अन्त में क्रमप्राप्त केवलज्ञान व उसके विषय के सम्बन्ध में विशदतापूर्वक विचार किया गया है।[2]

इसके पूर्व 'वेदना' खण्ड के अन्तर्गत 'कृति' अनुयोगद्वार को प्रारम्भ करते हुए जो वहाँ विस्तृत मंगल किया गया है (सूत्र १-४४) उसमें अनेक विशिष्ट ऋद्धिधरों को नमस्कार किया है। उस प्रसंग में धवलाकार द्वारा अवधिज्ञान, परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय की प्ररूपणा की गयी है।[3]

इस प्रकार मोक्ष के मार्गभूत उक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय में विशद प्रकाश डालनेवाले प्रस्तुत षट्खण्डागम को मोक्षशास्त्र ही समझना चाहिए।[4]

अन्य प्रासंगिक विषय

१. मोक्ष का अर्थ कर्म के बन्धन से छूटना है। इसके लिए कर्म की बन्धव्यवस्था को भी समझ लेना आवश्यक हो जाता है। इसे हृदयंगम करते हुए इसके तीसरे खण्डस्वरूप बन्धस्वामित्वविचय में ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृतियों में कौन प्रकृति किस गुणस्थान से लेकर आगे किस गुणस्थान तक बँधती है, इसका मूल ग्रन्थ में ही विशद विचार किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण धवला में भी यथावसर विशेष रूप से किया गया है (पु० ८)।

इसके पूर्व दूसरे क्षुद्रकबन्ध खण्ड के प्रारम्भ में बन्धक-सत्प्ररूपणा में भी मूल ग्रन्थकार द्वारा बन्धक-अबन्धक जीवों का विवेचन किया गया है (पु० ७)।

इसी खण्ड के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में जो प्रथम 'एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व' अनुयोगद्वार है उसमें गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से जीवों को नर-नारक आदि

---

१. धवला पु० १३, पृ० २१६-४४ आभिनिवोधिकज्ञान; पृ० २४५-८९ श्रुतज्ञान; पृ० २८९-३२८ अवधिज्ञान; पृ० ३२८-४४ मनःपर्ययज्ञान।

२. सूत्र ७९-८२; धवला पु० १३, पृ० ३४५-५३

३. यथा—अवधिज्ञान पु० ९, पृ० १२-४१, परमावधि पृ० ४१-४७, सर्वावधि पृ० ४७-५१ व ऋजु-विपुलमतिमनःपर्यय पृ० ६२-६९

४. धवलाकार ने मंगल, निमित्त व हेतु आदि छह की प्ररूपणा करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का हेतु मोक्ष ही निर्दिष्ट किया है—हेतुर्मोक्षः।—धवला पु० १, पृ० ६०

अवस्थाएँ किस कर्म के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम से प्राप्त होती हैं; इसका विशद विवेचन किया गया है (पु० ७)।

पूर्वोक्त तीसरे खण्ड में प्रसंग पाकर धवलाकार ने कर्म के बन्धक मिथ्यात्व, असंयम (अविरति), कषाय और योग इन चार मूल प्रत्ययों व उनके सत्तावन (५+१२+२५+१५) उत्तरभेदों की प्ररूपणा विस्तार से की है (पु० ८, पृ० १३-३०)।

मूल ग्रन्थकर्ता ने भी कर्मबन्धक प्रत्ययों का विचार दूसरे 'वेदना' खण्ड के अन्तर्गत आठवें वेयणपच्चयविहाण अनुयोगद्वार में नयविवक्षा के अनुसार कुछ विशेषता से किया है (पु० १२)।

२. 'वर्गणा' खण्ड के अन्तर्गत जो 'कर्म' अनुयोगद्वार है उसमें दस प्रकार के कर्म का निरूपण किया गया है। उनमें छठा अधःकर्म है। अधःकर्म का अर्थ है जीव को अधोगति स्वरूप नरकादि दुर्गति में ले जाने वाला घृणित आचरण। जैसे—प्राणियों के अंगों का छेदन करना, उनके प्राणों का वियोग करना, विविध उपद्रव द्वारा उन्हें सन्तप्त करना एवं असत्य-भाषण आदि। इस प्रकार आत्मघातक अधःकर्म का निर्देश करके ठीक उसके आगे ईर्यापथ, तपःकर्म और क्रियाकर्म—रत्नत्रय के संवर्धक इन प्रशस्त कर्मों (क्रियाओं) को भी प्रकट किया गया है। इनमें ईर्यापथ कर्म के स्वरूप को धवलाकार ने प्राचीन तीन गाथाओं को उद्धृत कर उनके आश्रय से अनेक विशेषताओं के साथ स्पष्ट किया है। इसी प्रकार तपःकर्म के प्रसंग में छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अभ्यन्तर तप के स्वरूप आदि को स्पष्ट किया गया है। यहीं पर इस अभ्यन्तर तप के अन्तर्गत ध्यान का विवेचन ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानफल इन चार अधिकारों में विस्तार से किया गया है। यहाँ धर्म और शुक्ल इन दो प्रशस्त ध्यानों को ही प्रमुखता दी गयी है। इनमें अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल योगनिरोधकपूर्वक शेष रहे चार अघातिया कर्मों को भी निर्मूल करके शाश्वतिक निर्बाध सुख को प्राप्त कराना रहा है। इस प्रकार ध्यान मुक्ति का साक्षात् साधनभूत है। यह सब मुमुक्षुजनों के लिए मननीय है (पु० १३)।

३. दूसरे 'वेदना' खण्ड के अन्तर्गत वेदना नामक दूसरे अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि वेदनाओं की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व स्वामित्व आदि अनेक अवान्तर अनुयोगद्वारों में की गयी है। यह सब संवेग और निर्वेद का कारण है (पु० १०-१२)।

४. पूर्वनिर्दिष्ट 'वर्गणा' खण्ड में जो 'बन्धन' नाम का अनुयोगद्वार है उसमें बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चार अधिकारों का निर्देश करके बन्ध-बन्धक आदि का विवेचन पूर्व खण्डों में कर दिये जाने के कारण उनकी पुनः प्ररूपणा नहीं की गयी है। वहाँ प्रमुखता से बन्धनीय—बन्ध के योग्य तेईस प्रकार की पुद्गलवर्गणाओं—का विचार किया गया है। उनमें शरीर-रचना की कारणभूत आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कर्मरूपता को प्राप्त होनेवाली कार्मणवर्गणा एवं बादर-सूक्ष्मनिगोदवर्गणा आदि का स्वरूप जानने योग्य है (पु० १४)।

५. कौन जीव किस गति से किस गति में आते-जाते हैं और वहाँ वे ज्ञान एवं सम्यक्त्व आदि किन गुणों को प्राप्त कर सकते हैं व किन को नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इसका विशद विवेचन जीवस्थान खण्ड से सम्बन्धित नौ चूलिकाओं में से अन्तिम 'गति-आगति' चूलिका में किया गया है (पु० ६)।

ये सब विषय ऐसे हैं जिनके मनन-चिन्तन से तत्त्वज्ञान तो वृद्धिगत होता ही है, साथ ही

वस्तुस्थिति का बोध होने से संवेग और निर्वेद भी उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त चित्त की एकाग्रता से अशुभ उपयोग से बचकर जीव की शुभ उपयोग में प्रवृत्ति होती है जो शुद्धोपयोग की भी साधक हो सकती है।

इस प्रकार प्रस्तुत षट्खण्डागम में चर्चित इन कुछ अध्यात्ममार्ग में प्रवृत करानेवाले विषयों का यहाँ परिचय कराया गया है। उनका और उनसे सम्बन्धित अन्य अनेक विषयों का कुछ परिचय प्रकृत 'षट्खण्डागम-परिशीलन' से भी प्राप्त किया जा सकता है। सर्वाधिक जानकारी तो ग्रन्थ के अध्ययन से ही प्राप्त होनेवाली है।

उपयोग की स्थिरता

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, उपर्युक्त विषयों के अध्ययन व मनन-चिन्तन से तत्त्वज्ञान की वृद्धि के साथ संवेग और निर्वेद भी उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त उनमें उपयुक्त रहने से उपयोग की स्थिरता से मन भी एकाग्रता को प्राप्त होता है। वह उपयोग शुद्ध, शुभ और अशुभ के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें सब प्रकार के आस्रव से रहित होने के कारण मोक्ष-सुख का अनन्य साधनभूत शुद्ध उपयोग ही सर्वथा उपादेय है। अरहन्त आदि तथा प्रवचन में अभियुक्त अन्य ऋषि-महर्षि आदि के विषय में जो गुणानुरागात्मक भक्ति होती है व उन्हें देखकर खड़े होते हुए जो उनकी वन्दना एवं नमस्कार आदि किया जाता है; यह सब शुभ उपयोग का लक्षण है, जिसे सरागचर्या या सरागचारित्र कहा जाता है। इसकी श्रमणधर्म में निन्दा नहीं की गयी है—वह शुद्धोपयोग के अभाव में गृहस्थ की तो बात क्या, मुनियों को भी ग्राह्य है। ऐसे शुभ उपयोग से युक्त मुनिजन दर्शन-ज्ञान के उपदेश के साथ शिष्यों का ग्रहण एवं संयम आदि से उनका पोषण भी कर सकते हैं। यहाँ तक कि वे जिनेन्द्र-पूजा आदि का उपदेश भी कर सकते हैं। उसके कारण उनका सरागचारित्ररूप श्रमणधर्म कलुषित नहीं होता। कारण यह कि मुनियों के शुद्ध और शुभ दोनों उपयोग कहे गये हैं। ऐसे मुनिजन अन्य ग्लान, गुरु, बाल व वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्ति के लिए लौकिक जनों के साथ सम्भाषण करके उन्हें प्रेरित भी कर सकते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति मुनियों और गृहस्थों दोनों के लिए प्रशस्त व उत्तम कही गयी है (५४)। उससे सुख की प्राप्ति भी होती है। जो षट्काय जीवों की विराधना से रहित चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ का उपकार करता है वह भी सराग-चारित्र से युक्त साधु है—उसे भी शुभ उपयोग से युक्त श्रमण ही समझना चाहिए (४६)। यह अध्यात्मप्रधानी आचार्य कुन्दकुन्द के कथन का अभिप्राय है, जिसे उन्होंने अपने 'प्रवचनसार' में अभिव्यक्त किया है।[1]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्महितैषी जीव को, यदि वह शुद्ध उपयोग से परिणित नहीं हो सकता है तो उसे, हजारों दुःखों से व्याप्त कुमानुष, तिर्यंच और नारक आदि दुर्गति के कारणभूत अशुभ उपयोग से दूर रहकर स्वर्गसुख के कारणभूत शुभ उपयोग में तत्पर रहना उचित है।[2]

आचार्य पूज्यपाद ने इस अभिप्राय को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

---

१. प्रवचनसार ३,४५-६०

२. प्रवचनसार १,११-१२

वरं व्रतैः पदं देवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।।—इष्टोपदेश

आचार्य गुणभद्र ने भी इसी अभिप्राय को प्रकारान्तर से इस प्रकार व्यक्त किया है—

शुभाशुभे पुण्य-पापे सुखदुःखे च षट्त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ।।

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम् ।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ।।

—आत्मानुशासन २३९-४०

सिद्धान्त के मर्मज्ञ पं० टोडरमल ने भी शुद्धोपयोग को उपादेय तथा शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों को हेय बतलाते हुए भी यह अभिप्राय प्रकट किया है कि जहाँ शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है वहाँ अशुभपयोग को छोड़कर शुभोपयोग में प्रवृत्त होना हितकर है। कारण यह कि शुभोपयोग में जहाँ बाह्य व्रत-संयम आदि में प्रवृत्ति होती है वहाँ अशुभोपयोग के रहने पर हिंसादिरूप बाह्य असंयम में प्रवृत्ति होती है जो जीव को मोक्षमार्ग से बहुत दूर ले जाने-वाला है। पहले अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग हो और फिर शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग हो, यही क्रमपरिपाटी है।[1]

इस के पूर्व एक शंका का समाधान करते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि जो व्रत-संयमादि को संसार का कारण मानकर उन्हें छोड़ना चाहता है वह निश्चित ही हिंसादि पापा-चरण में प्रवृत्त होनेवाला है, जो नारकादि दुर्गति का कारण है। इसलिए इसे अविवेक ही कहा जायेगा। इसके अतिरिक्त यदि व्रतादि रूप परिणति से हटकर वीतराग उदासीन भावरूप शुद्धोपयोग होता है तो वह उत्कृष्ट ही रहेगा, किन्तु वह नीचे की दशा में सम्भव नहीं है, इसलिए व्रतादि को छोड़कर स्वेच्छाचारी होना योग्य नहीं है।[2]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो उपर्युक्त वस्तुस्थिति को न समझकर या बुद्धिपुरःसर उसकी उपेक्षा कर यह कहते हैं कि आत्मोत्कर्ष के साधनभूत जो समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थ हैं वे ही पठनीय हैं; इनके अतिरिक्त अन्य कर्मग्रन्थ आदि के अध्ययन से कुछ आत्महित होनेवाला नहीं है, उनका यह कथन आत्महितैषी जनों को दिग्भ्रान्त करनेवाला है। कारण यह कि ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप जो मोक्षमार्ग है उसमें क्रमिक उत्कर्ष प्रायः इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन और मनन-चिन्तन से सम्भव है। जीव का स्वरूप कैसा है, वह कर्म से सम्बद्ध किस प्रकार से हो रहा है, तथा वह कर्मबन्धन से छुटकारा कैसे पा सकता है; इसका परिचय ऐसे ही ग्रन्थों से प्राप्त होनेवाला है। इस प्रकार क्रमिक विकास को प्राप्त होकर आत्महितेच्छुक भव्य जीव प्रयोजनीभूत तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करके जब आत्म-पर-विवेक से विभूषित हो जाता है तब यदि वह उक्त समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन व मनन-चिन्तन करता है तो यह उसके लिए सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित होनेवाला है। विधेय मार्ग तो यही है, इसे कोई भी विवेकी अस्वीकार नहीं कर

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़) पृ० २५५-५६
२. मोक्षमार्गप्रकाशक (दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़) पृ० २५३-५४

सकता है। यह स्मरणीय है कि आत्मोत्कर्ष वाक्पटुता पर निर्भर नहीं है, वह तो अन्तःकरण की प्रेरणा पर निर्भर है। जितने अंश में उसके अन्तःकरण से राग-द्वेष हटते जायेंगे उतने अंश में वह आत्मोत्कर्ष में अग्रसर होता जायेगा। यही शुद्धोपयोग के उन्मुख होने का मार्ग है। व्रत-संयमादिरूप शुभोपयोग तो तब निश्चित ही छूटेगा, वह कभी साक्षात् मुक्ति का साधन नहीं हो सकता है। इस प्रकार से यह निश्चित होता है कि शुद्धोपयोग जहाँ सर्वथा उपादेय और अशुभोपयोग सर्वथा हेय है वहाँ शुभोपयोग कथंचित् उपादेय और कथंचित् हेय है।

अमृतचन्द्र सूरि आ० कुन्दकुन्द के समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों के रहस्य के उद्घाटक हैं। उनकी एक मौलिक कृति 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है, जिसे अपूर्वश्रावकाचार ग्रन्थ कहना चाहिए। इसमें उन्होंने सल्लेखना के साथ श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन करते हुए उस प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो व्रत-संरक्षण के लिए निरन्तर इन समस्त शीलों का पालन करता है उसका मुक्ति-लक्ष्मी पतिवरा के समान उत्सुक होकर स्वयं वरण करती है—उसे मुक्ति प्राप्त होती है।[1]

इसका अभिप्राय यही है कि शुभोपयोगस्वरूप व्रत-संयमादि संसार के ही कारण नहीं हैं, परम्परया वे मोक्ष के भी प्रापक हैं।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता

यह सुविदित है कि जैन सिद्धान्त में अनेकान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यदि उसका अनुसरण किया जाये तो विरोध के लिए कोई स्थान नहीं रहता। जिन अमृतचन्द्र सूरि और उनके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का ऊपर उल्लेख किया गया है उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए मंगलस्वरूप केवलज्ञानरूप परंज्योति के जयकारपूर्वक उस अनेकान्त को नमस्कार किया है जो परमागम का बीज होकर समस्त द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के विलास रूप नित्य-अनित्य व शुद्ध-अशुद्ध आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों के विरोध को इस प्रकार से दूर करता है जिस प्रकार कि कोई निर्दोष आखोंवाला सूझता पुरुष हाथी के कान, सूँड़ व पाँव आदि किसी एक-एक अंग को टटोलकर उसे ही पूरा हाथी माननेवाले किन्हीं जन्मान्धों के पारस्परिक विवाद को दूर कर देता है। यह भी ध्यातव्य है कि अमृतचन्द्र सूरि ने परमागम को तीनों लोकों का अद्वितीय नेत्र घोषित किया है।[2]

इन्हीं अमृतचन्द्र सूरि का जो दूसरा 'तत्त्वार्थसार' ग्रन्थहै उसमें उन्होंने जीवाजीवादि सात तत्त्वों का विवेचन किया है। अन्त में उन्होंने वहाँ उस सब का उपसंहार करते हुए मुमुक्षु भव्यजनों को प्रेरणा दी है कि इस प्रकार से प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देश-स्वामित्व आदि और सत्संख्या आदि के आश्रय से सात तत्त्वों को जानकर उन्हें उस मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए जो निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो प्रकार से स्थित है। उनमें निश्चय मोक्ष-मार्ग साध्य और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है। शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा—राग-द्वेष के परित्यागपूर्वक मध्यस्थता—है; यह सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्ररूप

---

१. इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव समुत्सुका शिवपद-श्रीः ॥१८०॥

२. पु० सि० १-३

निश्चय मोक्षमार्ग है। तया परस्वरूप से जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा है वह उक्त रत्नत्रय-स्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है, इत्यादि। इस प्रकार से उन्होंने एक मात्र निश्चय का आलम्बन लेकर न तो व्यवहार मोक्षमार्ग को अस्वीकार किया है और न उसे हेय ही कहा है, बल्कि उन्होंने उसे निश्चय मोक्षमार्ग का साधक ही निर्दिष्ट किया है।

इससे निश्चित है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ विचार व निर्णय राग-द्वेष को छोड़ मध्यस्थ रहते हुए अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है, जो स्व-पर के लिए हितकर होगा। जो आत्महितैषी व्यवहार और निश्चय को यथार्थ रूप से जानकर दुराग्रह से रहित होता हुआ मध्यस्थ रहता है वही देशना के परिपूर्ण फल को प्राप्त करता है।

—(पु० सि० ८)

अमृतचन्द्र सूरि ने अपने 'समयसार-कलश' में यह भी स्पष्ट किया है कि जिनागम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा शुद्धनय और अशुद्धनय इन दोनों के विरोध को नष्ट करनेवाला है, वह विवक्षाभेद से वस्तुस्वरूप का निरूपण करता है। वहाँ उसका द्योतक चिह्न (हेतु) 'स्यात्' पद है, उसे स्याद्वाद[1] या कथंचिद्वाद कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप उसे शुभोपयोग की उपादेयता और हेयता के रूप में पीछे स्पष्ट भी किया जा चुका है। जो भव्य दर्शनमोहस्वरूप मिथ्यादर्शन से रहित होकर उस जिनागम में रमते हैं—सुरुचिपूर्वक उसका अभ्यास करते हैं—वे ही यथार्थ में नयपक्ष से रहित होते हुए परंज्योतिस्वरूप निर्बाध समयसार को देखते हैं, अर्थात् उसके रहस्य को समझते हैं। आगे व्यवहारनय की कहाँ कितनी उपयोगिता है, इसे भी स्पष्ट करते हुए वहाँ यह कहा गया है कि जो विशेष तत्त्वावबोध से रहित नीचे की अवस्था में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय हाथ का सहारा देता है—वस्तुस्वरूप के समझने में सहायक होता है। किन्तु जो पर के सम्पर्क से रहित शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूप चेतन आत्मा का अभ्यन्तर में अवलोकन करने लगे हैं उनके लिए वह व्यवहार नय निरर्थक हो जाता है।

—(स० कलश ४-५)

इस प्रकार अध्यात्म के मर्मज्ञ होते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने जो अनेकान्त को महत्त्व दिया है और तदनुसार ही प्रसंगप्राप्त तत्त्व का विवेचन किया है—उसमें कहीं किसी प्रकार का कदाग्रह नहीं है—उनका वह आदर्श मुमुक्षुओं के लिए ग्राह्य होना चाहिए। आत्मा का हित वीतरागपूर्ण दृष्टि में है, किसी प्रकार की प्रतिष्ठा व प्रलोभन में वह सम्भव नहीं है।

कुन्दकुन्द को व्यवहार का प्रतिषेधक नहीं कहा जा सकता

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि आ० कुन्दकुन्द अध्यात्म प्रधान होकर भी व्यवहार के विरोधी नहीं रहे हैं। यह उनके समयसार के साथ अन्य ग्रन्थों—जैसे पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, द्वादशानुप्रेक्षा आदि—के अध्ययन

---

१. स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने स्याद्वाद के महत्त्व को इस प्रकार से प्रतिष्ठापित किया है—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ —पंचास्तिकाय, १४

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि दव्वं।
पज्जएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ —प्र०सा० २-२३

से सुस्पष्ट है। वे जिन व जिनागम के भक्त रहते हुए पुण्यवर्धक क्रियाओं के विरोधी नहीं रहे हैं। यदि वे पुण्यवर्धक क्रियाओं के विरोधी होते तो प्राय: अपने सभी ग्रन्थों के आदि व अन्त में गुणानुराग से प्रेरित होकर अरहन्त, सिद्ध और नामनिर्देशपूर्वक, विविध तीर्थंकरों को नमस्कार आदि क्यों करते ? पर उन्होंने उनकी भक्तिपूर्वक वन्दना व नमस्कार आदि किया है। प्रवचनसार को प्रारम्भ करते हुए तो उन्होंने वर्धमान, शेष (२३) तीर्थंकर, अरहंत, सिद्ध, गणधर, अध्यापकवर्य (उपाध्याय) और सर्वसाधुओं को नमस्कार किया है। यह उनकी गुणानुरागपूर्ण भक्ति पुण्यवर्धक ही तो है, जो स्वर्गसुख का कारण मानी जाती है।[1]

उन्होंने राग-द्वेष एवं कर्म-फल से अनिर्लिप्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य पुद्गल आदि द्रव्यों की भी प्ररूपणा की है।[2] उनका पंचास्तिकाय ग्रन्थ तो पूर्णतया द्रव्यों और पदार्थों का ही प्ररूपक है। इसमें उन्होंने उन द्रव्यों और पदार्थों का निरूपण करके अन्त में उस सबका उपसंहार करते हुए यह हार्दिक भावना व्यक्त की है कि मैंने प्रवचन-भक्ति से प्रेरित होकर मार्गप्रभावना के लिए प्रवचन के सारभूत—द्वादशांगस्वरूप परमागम के रहस्य के प्ररूपक—इस पंचास्तिकायसूत्र को कहा है।[3]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष कौन-सा प्रवचन रहा है, जिसका गम्भीर अध्ययन करके उन्होंने मार्गप्रभावना के लिए उसके सारभूत प्रकृत पंचास्तिकाय ग्रन्थ को रचा है। षट्खण्डागम में निर्दिष्ट श्रुतज्ञान के ४१ पर्यायनामों में एक प्रवचन भी है (सूत्र ५,५,५०)। धवलाकार ने इस 'प्रवचन' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित निरवद्य अर्थ के प्रतिपादक प्रकृष्ट शब्द-कलाप को प्रवचन कहा है। आगे उन्होंने यहीं पर वर्ण-पंक्तिस्वरूप द्वादशांग श्रुत को व प्रकारान्तर से द्वादशांग भावश्रुत को भी प्रवचन कहा है। इसके पूर्व प्रसंगप्राप्त उसी का अर्थ उन्होंने द्वादशांग और उसमें होनेवाले देशव्रती, महाव्रती और सम्यग्दृष्टि भी किया है।[4] इससे इतना तो स्पष्ट है कि उनके समक्ष द्रव्य-पदार्थों का प्ररूपक कोई महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ रहा है, जिसके आधार से उन्होंने भव्य जीवों के हितार्थ पंचास्तिकाय परमागम को रचा है। यह भी सम्भव है कि आचार्यपरम्परा से प्राप्त उक्त द्रव्य-पदार्थ विषयक व्याख्यान के आश्रय से ही उन्होंने उसकी रचना की हो। इससे यह तो स्पष्ट है कि वे आगम-ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के विरोधी नहीं रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द लोकहितैषी श्रमण रहे हैं। उनकी संसारपरिभ्रमण से पीड़ित प्राणियों को उस दुख से मुक्त कराने की आन्तरिक भावना प्रबल रही है। इसी से उन्होंने अपने समयसार आदि ग्रन्थों में परिग्रह-पाप का प्रबल विरोध किया है। परिग्रह यद्यपि मूर्च्छा या ममत्व भाव को माना गया है, फिर भी जब तक बाह्य परिग्रह का परित्याग नहीं किया जाता है तब तक 'मम इदं' इस प्रकार की ममत्व बुद्धि का छूटना सम्भव नहीं है।[5] सम्भवतः

---

१. अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥—पंचास्तिकाय १७१

२. जैसे प्रवचनसार २,३५-५२, नियमसार २०-३७ इत्यादि।

३. पंचास्तिकाय १७३ (इसके पूर्व की गाथा १०३ भी देखी जा सकती है)।

४. धवला पु० १३, पृ० २८० व २८३ तथा पु० ८, पृ० ९०

५. प्रवचनसार ३,१९-२०

भगवान् पार्श्व प्रभु के निर्वाण के पश्चात् श्रमणों में भी परिग्रह के प्रति मोह दिखने लगा था। इससे आ० कुन्दकुन्द ने वस्त्रादि वाह्य परिग्रह के परित्याग पर अत्यधिक जोर दिया है। ऐसा उन्होंने किसी प्रकार के राग-द्वेष के वशीभूत होकर अथवा किसी पक्ष या व्यामोह में पढ़कर नहीं किया, बल्कि उस वाह्य परिग्रह को मोक्षमार्ग में वाधक जानकर ही उन्होंने उसका प्रवल विरोध किया है।

'दर्शनप्राभृत' में उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि सम्यक्त्व से ज्ञान (सम्यग्ज्ञान), ज्ञान से पदार्थों की उपलब्धि और उससे सेव्य-असेव्य का परिज्ञान होता है तथा जो सेव्य-असेव्य को जानता है वह दुःशीलता—असेव्य के सेवनरूप दुराचरण को—छोड़कर व्रत-संयमादि के संरक्षणरूप शील से विभूषित हो जाता है, जिस के फल से उसे अभ्युदय—परलोक में स्वर्गादि सुख—और तत्पश्चात् निर्वाण (शाश्वतिक मोक्षसुख) प्राप्त हो जाता है।[1]

आगे उन्होंने यहीं पर यह भी स्पष्ट किया है कि जो छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पाँच अस्तिकायों और सात तत्त्वों के स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। जिनेन्द्रदेव ने जीवादि के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व और आत्मश्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है। इस प्रकार जिनोपदिष्ट सम्यग्दर्शनरूप रत्नत्रय को जो भाव से धारण करता है वह मोक्ष के सोपानस्वरूप उस रत्नत्रय में सारभूत सम्यक्त्वरूप प्रथम सोपान पर आरूढ़ हो जाता है। जो शक्य है उसका आचरण करना चाहिए, पर जो शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए। इस प्रकार से श्रद्धान करने वाले जीव के केवली जिनदेव ने सम्यक्त्व कहा है।[2]

चरित्रप्राभृत में उन्होंने सागार अथवा गृहस्थ के दर्शनिक, व्रतिक आदि ग्यारह स्थानों (प्रतिमाओं) का निर्देश करते हुए वारह भेदस्वरूप संयमाचरण का—श्रावक के व्रतों का निरूपण किया है।[3]

द्वादशानुप्रेक्षा में भी उन्होंने धर्मानुप्रेक्षा के प्रसंग में सागारधर्म और अनगारधर्म दोनों का प्रतिपादन किया है।[4]

इस सारी स्थिति को देखते हुए क्या यह कल्पना की जा सकती है कि आ. कुन्दकुन्द व्यवहार मार्ग के विरोधी रहे हैं? कदापि नहीं। उन्होंने समयसार में जो व्यवहार मार्ग का विरोध किया है वहाँ परिग्रह में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्राणियों की आसक्ति को देखकर ही वैसा विवेचन किया है, अन्यथा वे अपने अन्य ग्रन्थों में व्यवहार सम्यक्त्व-चारित्र आदि की चर्चा नहीं कर सकते थे। वे अरहन्त आदि के स्वयं भी कितने भक्त रहे हैं, यह भी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन वस्तुस्थिति का परिचायक है। उसे समझकर जो महानुभाव यथार्थ में

१. दर्शनप्राभृत १५-१६.
२. दर्शनप्राभृत १९-२२
३. चारित्रप्राभृत २१-३७
४. द्वादशानुप्रेक्षा ६८-८२

स्व-पर कल्याण के इच्छुक हैं उन्हें किसी प्रकार की प्रतिष्ठा या प्रलोभन में न पड़कर एक मात्र समयसार के अध्ययन से आत्मकल्याण होने वाला है, इस कदाग्रह को छोड़कर आ० कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय व प्रवचनसार आदि अन्य ग्रन्थों के भी अध्ययन की प्रेरणा करना चाहिए। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचार, इष्टोपदेश, समाधिशतक और पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करना भी हितकर होगा। समयसार उच्चकोटि का अध्यात्म ग्रन्थ है, इसका कोई भी बुद्धिमान् विरोध नहीं कर सकता है। पर उसमें किस दृष्टि से तत्त्व का विवेचन किया गया है, इसे समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा दिग्भ्रम हो सकता है। इसके लिए यथायोग्य अन्य ग्रन्थों का स्वाध्याय भी अपेक्षित है। जीव का अन्तिम लक्ष्य कर्म बन्धन से मुक्ति पाना ही होना चाहिए। बाह्य व्रत-संयमादि का विधान उसी की पूर्ति के लिए किया गया है।

अन्तिम निवेदन

जिस षट्खण्डागम से सम्बद्ध यह परिशीलन लिखा गया है उसका सम्पादन-प्रकाशन कार्य स्व० डॉ० हीरालाल जी के तत्त्वावधान में सन् १९३८ में प्रारम्भ होकर १९५८ तक लगभग बीस वर्ष चला। उसके अन्तिम अर्थात् छठे खण्ड महाबन्ध को छोड़ पूर्व के पाँच खण्ड धवला टीका और हिन्दी अनुवाद के साथ 'सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय' से प्रकाशित हुए हैं। उनमें प्रारम्भ के तीन भाग पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री और पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री के सहयोग से सम्पादित होकर प्रकाशित हुए हैं। आगे के चौथा और पाँचवाँ ये दो भाग पं० हीरालाल जी शास्त्री के सहयोग से सम्पादित हुए हैं। छठा भाग चल ही रहा था कि पं० हीरालाल जी का सहयोग नहीं रहा। तब डॉ० हीरालाल जी ने उसके आगे के कार्य को चालू रखने के लिए मुझसे अनुरोध किया। उस समय की परिस्थिति को देखकर मैंने उसके सम्बन्ध में अपेक्षित कुछ विशेष ऊहापोह न करते हुए उनके अनुरोध को स्वीकार कर लिया। यह स्मरणीय है कि उस समय मैं अमरावती में रहता हुआ धवला कार्यालय में बैठकर डॉ० हीरालाल जी के तत्त्वावधान में जैन संस्कृति-संरक्षक संघ, सोलापुर की ओर से तिलोयपण्णत्ती का कार्य कर रहा था। इस प्रकार डॉ० सा० के अनुरोध को स्वीकार कर मैं षट्खण्डागम के आगे के कार्य को सम्पन्न कराने में लग गया। तदनुसार मेरा सम्बन्ध षट्खण्डागम के अधूरे छठे भाग से जुड़कर उसके अन्तिम सोलहवें भाग तक बना रहा। बीच में यथासम्भव पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री का भी सहयोग उपलब्ध होता रहा है।

अन्तिम भाग प्रकाशित करते हुए डॉ० हीरालाल जी की तब यह इच्छा रही आयी कि वर्तमान ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रतियों के जो फोटो उपलभ्य हैं उनसे सम्पूर्ण ग्रन्थ का मिलान कर पाठभेदों को अंकित कर दिया जाय। पूर्व के प्रत्येक भाग की प्रस्तावना में जो कुछ विचार किया गया है तथा परिशिष्टों में जो सामग्री दी गई है उस सबको अपेक्षित संशोधन के साथ संकलित कर इस भाग में दे दिया जाय। दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं अन्य बौद्धादि सम्प्रदायगत कर्म से सम्बद्ध साहित्य के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर उसे भी इस भाग में समाविष्ट कर दिया जाय। पर उनका स्वास्थ्य उस समय गिर रहा था व इस प्रकार के कठोर परिश्रम योग्य वह नहीं था। इससे उन्होंने उस अन्तिम भाग को अधिक समय तक रोक रखना उचित

न समक्ष उसे प्रकाशित करा दिया। फिर भी उनकी वह सदिच्छा बनी रही। तब उन्होंने यह भी विचार किया कि उपर्युक्त अपेक्षित सारी सामग्री को यथावकाश तैयार कर उसे एक स्वतन्त्र जिल्द में समाविष्ट करके प्रकाशित करा दिया जाय। अपनी इस मनोगत भावना को उन्होंने अन्तिम भाग के 'सम्पादकीय' में व्यक्त भी किया है।

किन्तु उनके स्वास्थ्य में यथेष्ठ सुधार नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त जिन अन्य कार्यों का उत्तरदायित्व उनके ऊपर रहा उन्हें भी पूरा करना आवश्यक था। ऐसी परिस्थिति में वे अपनी उस मनोगत भावना को चरितार्थ नहीं कर सके। अन्ततः सन् १९७३ में उनका दुखद स्वर्गवास हो गया।

इधर मैं भी हस्तगत कुछ अन्य कार्यों में, विशेषकर 'जैन लक्षणावली' के कार्य में, व्यस्त था। इच्छा रखते हुए भी तब मैं उस कार्य को हाथ में नहीं ले सका। पश्चात् 'जैन लक्षणावली' के कार्य से अवकाश मिलने पर, मैंने सोचा कि अपनी योग्यता के अनुसार यदि मैं स्व० डॉ० सा० की उस सदिच्छा को कुछ अंश में पूर्ण कर सकता हूँ तो क्यों न उसके लिए कुछ प्रयत्न किया जाय। तदनुसार मैंने उसके लिए एक योजना बनाई व स्वास्थ्य की जितनी कुछ अनुकूलता रही, उस कार्य को प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार यथासम्भव उस कार्य को करते हुए उसे इस रूप में सम्पन्न किया है।

स्व० डॉ० सा० की जो एक यह इच्छा रही है कि ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रतियों से मिलान कर पाठभेदों को अंकित कर दिया जाय, उस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर' में रहते हुए मैंने उपलब्ध एक प्रति के फोटो पर से, स्व० चन्द्रराजय्या शास्त्री के साथ, मिलान करके लगभग प्रकाशित दस भागों के पाठ-भेदों को संकलित कर लिया था, जिनका उपयोग अलभ्य भागों की द्वितीय आवृत्ति में हो रहा है। चन्द्रराजय्या शास्त्री पुरानी कानडी लिपि से अच्छे परिचित थे। उनको ग्रन्थ के वाचन में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

ख्यातिप्राप्त विद्वान् स्व० डॉ० हीरालाल जी पाश्चात्य प्रणाली आदि से अधिक परिचित रहे हैं। इससे वे उसे जिस रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे उस रूप में उसे प्रस्तुत करना मेरे लिए शक्य नहीं रहा। कारण स्पष्ट है कि मेरी उस प्रकार की योग्यता नहीं रही है। फिर भी उस ओर मेरी रुचि और लगन रही है तथा ग्रन्थ से भी कुछ परिचित था। इससे मेरा उसके लिए कुछ प्रयत्न रहा है। इस प्रकार डॉ० सा० के द्वारा निर्धारित विषयों में से जिन्हें मैं प्रस्तुत कर सकता था उन्हें इसमें समाविष्ट किया है। इस दुष्कर कार्य में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ तथा वह कुछ उपयोगी भी हो सका है या नहीं, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। मेरी तो ग्रन्थ से कुछ संलग्नता रहने तथा स्व० डॉ० सा० की उपर्युक्त सद्भावना की ओर ध्यान बना रहने से मैंने यथासम्भव उसे सम्पन्न करने का प्रयत्न किया है। मेरा तो सहृदय पाठकों से यही अनुरोध है कि अपने उत्तरोत्तर गिरते हुए स्वास्थ्य और स्मृतिभ्रंश की स्थिति में मुझसे इसमें अनेक भूलें हो सकती हैं तथा उसके लिए अपेक्षित कितने ही ग्रन्थ मुझे यहाँ सुलभ नहीं हुए हैं, इससे विद्वान् पाठक उन्हें सुधार लेने का अनुग्रह करें।

आभार

प्रस्तुत 'षट्खण्डागम-परिशीलन' को प्रारम्भ करते हुए मैंने जो इसकी योजना बनायी

थी उसे सम्मत्यर्थ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के पास भेजी थी। पण्डित जी ने उसे उत्तम बताकर कुछ सुझावों के साथ अपनी सम्मति देते हुए इस कार्य के लिए मुझे प्रोत्साहित किया है। इस ग्रन्थ के लिए उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जी से मैंने इसके विषय में अंग्रेज़ी में अपना वक्तव्य लिख देने का अनुरोध किया था, जिसे स्वीकार कर उन्होंने उसे 'प्रधान सम्पादकीय' के रूप में दे दिया है। इस अनुग्रह के लिए मैं उनका विशेष आभार मानता हूँ। पं० गोपीलाल जी 'अमर' ने ग्रन्थ के सम्पादन प्रकाशन से सम्बन्धित कुछ सुझाव दिये थे। इसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ। मेरी कनिष्ठ पुत्रवधू सौ० अंजना एम०ए० ग्रन्थ की पाण्डुलिपि आदि के करने में सहायता करती रही है इसके लिए मैं उसके भावी उज्ज्वल उत्कर्ष की ही अपेक्षा करता हूँ।

भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष श्रीमान् साहू श्रेयांसप्रसाद जी और मैनेजिंग ट्रस्टी श्रीमान् साहू अशोककुमार जी ने बहुव्ययसाध्य प्रस्तुत ग्रन्थ को ज्ञानपीठ के अन्तर्गत 'मूर्ति-देवी जैन ग्रन्थमाला' के प्रकाशन कार्यक्रम में स्वीकार कर उसे प्रकाशित करा दिया है। इस अनुग्रह के लिए मैं उनका अतिशय कृतज्ञ हूँ। इसमें पूरा सहकार ज्ञानपीठ के भूतपूर्व निदेशक व वर्तमान में सलाहकार बाबू लक्ष्मीचन्द्र जी जैन तथा वर्तमान निदेशक श्री बिशन टंडन जी का रहा है। इसके लिए मैं आप दोनों महानुभावों का हृदय से आभार मानता हूँ।

स्व० साहू शान्ति प्रसाद जी और उनकी सुयोग्य पत्नी धर्मवत्सला स्व० रमारानी द्वारा देश-विदेश में प्रतिष्ठाप्राप्त 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसी जिस लोकोपकारक संस्था को स्थापित किया गया है उसके द्वारा चालू अपूर्व कार्य, विशेषकर साहित्यिक, चिरस्मरणीय रहने वाला है। उत्तम साहित्यस्रजेताओं को तो उससे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है।

डॉ० गुलाबचन्द्र जी ने प्रस्तुत प्रकाशन को सुरुचिपूर्ण एवं सुन्दर बनाने के लिए जो तन्मय होकर उसके मुद्रण आदि का कार्य कराया है वह सराहनीय है। मैं इसके लिए उन्हें अतिशय धन्यवाद देता हूँ।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी महानुभावों की सद्भावना और सहयोग से ही यह गुरुतर कार्य सम्पन्न हुआ है, जिसे सम्पन्न होता हुआ देख मैं अतिशय प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

हैदराबाद
दीपावली—वीरनिर्वाण सं० २५१३
२ नवम्बर १९८६

—बालचन्द्र शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

मूलग्रन्थगत विषय का परिचय

षट्खण्डागम की अन्य ग्रन्थों से तुलना

षट्खण्डागम पर टीकाएँ

धवलागत विषय का परिचय

संतकम्मपंजिया (सत्कर्मपंजिका)

ग्रन्थोल्लेख

षट्खण्डागम के अन्तर्गत खण्ड व अनुयोगद्वार आदि अनिर्दिष्टनाम ग्रन्थ

ग्रन्थकारोल्लेख

वीरसेनाचार्य की व्याख्यान-पद्धति

अवतरण-वाक्य

परिशिष्ट

षट्खण्डागम : पीठिका

ग्रन्थ-नाम और खण्ड-व्यवस्था

आचार्य पुष्पदन्त व भूतवलि विरचित प्रस्तुत परागम का क्या नाम रहा है, इसका संकेत कहीं मूलसूत्रों में दृष्टिगोचर नहीं होता। आचार्य वीरसेन ने अपनी महत्त्वपूर्ण धवला टीका में उसे खण्ड-सिद्धान्त कहकर उसके छह खण्डों में प्रथम खण्ड का उल्लेख 'जीवट्ठाण' (जीवस्थान) के नाम से किया है। पर वे छह खण्ड कौन-से हैं, इसकी सूचना वहाँ उन्होंने कहीं नहीं की है।[1] यहीं पर आगे चलकर पुनः यह कहा गया है कि आचार्य भूतबलि ने धरसेनाचार्य भट्टारक के द्वारा समस्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपसंहार कर श्रुत-नदी प्रवाह के विच्छेद के भय से उसके छह खण्ड किये।[2] वे छह खण्ड कौन हैं, इसका कुछ संकेत उन्होंने यहाँ भी नहीं किया है।

'खण्डसिद्धान्त' कहने का अभिप्राय उनका यह दिखता है कि जीवस्थानादि छह खण्डों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्ण ग्रन्थ तो नहीं है, वह 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के उपसंहार स्वरूप उसका कुछ ही अंश है।[3] इस परिस्थिति में उसे खण्डसिद्धान्त ही कहा जा सकता है। इस 'खण्ड-सिद्धान्त' का उल्लेख उन्होंने तीन स्थानों पर किया है—प्रथम 'जीवस्थान' के प्रसंग में, दूसरा शंका के रूप में 'वेदना'खण्ड में,[4] और तीसरा 'वर्गणा'खण्ड में।[5]

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रस्तुत षट्खण्डागम में उक्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के २४ अनुयोगद्वारों में केवल कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन इन प्रारम्भ के छह अनु-

---

१. णामं जीवट्ठाणमिदि।—धवला, पु० १, पृ० ६०।
इदं पुण 'जीवट्ठाणं' खंडसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीव-ट्ठाणमिदि।—धवला पु० १, पृ० ७४

२. ···तेण वि गिरिणयर-चंदगुहाए भूतवलि-पुप्फदंताणं महाकम्मपयडिपाहुडं सयलं समप्पिदं। तदो भूतवलिभडारएण सुद-णईपवाह-वोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठ महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छखंडाणि कयाणि।—धवला पु० ६, पृ० १३३

३. धवला पु० १, पृ० ६० एवं ७४

४. कदि-पास-कम्म-पयाडिअणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमका-ऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे? ण, तेसिं पहाणाभावादो।—धवला पु० ९, पृ० १०५-६

५. एदं खंडगंथमज्झप्पविसयं पडुच्च कम्मफासेण पयदमिदि भणिदं। महाकम्मपयडिपाहुडे पुण दव्वफासेण सव्वफासेण कम्मफासेण पयदमिदि।—धवला पु० १३, पृ० ३६

योगद्वारों की ही प्ररूपणा की गई है। शेष अठारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा धवला में स्वयं वीरसेनाचार्य ने की है। उन छह अनुयोगद्वारों में भी कृति और वेदना इन दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा 'वेदना' खण्ड में, तथा स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन इन चार अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा 'वर्गणा' खण्ड में की गयी है।[1]

विशेष इतना है कि उक्त छह अनुयोगद्वारों में छठा 'बन्धन' अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान के भेद से चार प्रकार का है। उनमें बन्ध और बन्धनीय (वर्गणा) इन दो की प्ररूपणा पूर्वोक्त स्पर्शादि के साथ वर्गणा खण्ड (पु० १३ व १४) में की गयी है, तथा बन्धक की प्ररूपणा दूसरे खण्ड 'क्षुद्रकबन्ध' (खुद्दाबंध) में की गयी है। अब जो शेष बन्धविधान रह जाता है उसके विषय में धवलाकार ने 'वर्गणा' खण्ड के अन्त में यह संकेत कर दिया है कि बन्धविधान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के भेद से चार प्रकार का है। उन चारों की प्ररूपणा भूतबलि भट्टारक ने 'महाबन्ध' (छठा खण्ड) में विस्तार से की है, इसलिए उसे हम यहाँ नहीं लिखते हैं। इससे समस्त महाबन्ध की यहाँ प्ररूपणा करने पर बन्धविधान समाप्त होता है।[2]

वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में (पु० ९) णमोजिणाणं आदि ४४ सूत्रों के द्वारा जो विस्तृत मंगल किया गया है, उसके विषय में धवला में यह शंका उठाई गयी है कि आगे कहे जाने वाले तीन खण्डों में यह किस खण्ड का मंगल है? इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वह उन तीनों खण्डों का मंगल है। इसका कारण यह है कि आगे वर्गणा और महाबन्ध खण्डों के प्रारम्भ में कोई मंगल नहीं किया गया और मंगल के बिना भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ को प्रारम्भ करते नहीं हैं, क्योंकि वैसा करने से उनके अनाचार्यत्व का प्रसंग प्राप्त होता है।[3]

धवलाकार के इस शंका-समाधान से महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के, जिसका दूसरा नाम वेदना-कृत्स्नप्राभृत भी है,[4] उपसंहार स्वरूप प्रस्तुत परमागम के अन्तर्गत वेदना, वर्गणा और महा-बन्ध इन तीन खण्डों की सूचना मिलती है। फिर भी क्षुद्रकबन्ध और बन्धस्वामित्वविचय इन दो खण्डों का नाम ज्ञातव्य ही रह जाता है। जीवस्थान का नाम सत्प्ररूपणा में पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है—जीवाणं ट्ठाणवण्णणादो जीवट्ठाणमिदि गोण्णपदं (पु० १, पृ० ७६)।

---

१. धवला पु० ९ (कृति), पु० १०-१२ (वेदना), पु० १३ (स्पर्शादि ३) व पु० १४ (बन्ध, बन्धक, बन्धनीय)

२. जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं—पयडिबंधो, ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि (सूत्र ७९७)। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि। धवला पु० १४, पृ० ५६४

३. उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खण्डाणं। कुदो? वग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारंभदि, तस्स अणा इरियत्तप्प संगादो।—धवला पु० ९, पृ १०५

४. वेयणकसिणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि। वेयणा कम्माणमुदयो, तं कसिणं णिरवसेसं वण्णेदि, अदो वेयण कसिणपाहुडमिदि एदमवि गुणणाममेव। धवला पु० १, पृ० १२४-२५; पीछे पृ० ७४ भी द्रष्टव्य है।

जैसा कि आप आगे 'ग्रन्थोल्लेख' के प्रसंग में देखेंगे, यद्यपि उक्त क्षुद्रकवन्ध और वन्ध-स्वामित्वविचय का उल्लेख धवला में अनेक वार किया गया है, पर वह कहीं भी खण्ड के रूप में नहीं किया गया है।

इस प्रकार यद्यपि मूलग्रन्थ और उसकी धवला टीका में स्पष्ट रूप से पूरे छह खण्डों के नामों का उल्लेख नहीं देखा जाता है, फिर भी उसके अन्तर्गत उन छह खण्डों के नाम इन्द्र-नन्दिश्रुतावतार में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—प्रथम जीवस्थान, दूसरा क्षुल्लकवन्ध, तीसरा वन्धस्वामित्व, चौथा वेदना, पाँचवाँ वर्गणाखण्ड[1] और छठा महावन्ध।[2]

इस सबको दृष्टि में रखते हुए 'सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय' से प्रस्तुत परमागम के 'महावन्ध' खण्ड को छोड़कर शेष पाँच खण्डों को १६ भागों में धवला टीका के साथ 'षट्खण्डागम' के नाम से प्रकाशित किया गया है। छठा खण्ड महा-वन्ध ७ भागों में 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित हुआ है।

इसके अतिरिक्त मूल ग्रन्थ भी हिन्दी अनुवाद के साथ 'आ० शा० जि० जीर्णोद्धार संस्था' फलटण से प्रकाशित हो चुका है।

इस प्रकार उन छह खण्डों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ सामान्य से दो भागों में विभक्त रहा दिखता है। कारण इसका यह है कि जिस प्रकार वर्गणा (५) और महावन्ध (६) इन दो खण्डों के प्रारम्भ में किसी प्रकार का मंगल नहीं किया गया है, उसी प्रकार क्षुल्लकवन्ध (२) और वन्धस्वामित्वविचय (३) के प्रारम्भ में भी मूलग्रन्थकार के द्वारा कोई मंगल नहीं किया गया है।[3] और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आचार्य भूतवलि बिना मंगल के ग्रन्थ को प्रारम्भ नहीं करते हैं, इससे यही प्रतीत होता है कि जीवस्थान के प्रारम्भ में भगवान् पुष्पदन्त द्वारा किया गया पंचनमस्कारात्मक मंगल ही क्षुल्लकवन्ध और वन्धस्वामित्वविचय का भी मंगल रहा है। इस प्रकार षट्खण्डागम के अन्तर्गत उन छह भागों में जीवस्थान, क्षुल्लकवन्ध और वन्धस्वामित्वविचय इन तीन खण्डस्वरूप उसका पूर्वभाग तथा वेदना, वर्गणा और महावन्ध इन तीन खण्डस्वरूप उसका उत्तर भाग रहा है।

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि हैं। कर्ता अर्थकर्ता, ग्रन्थकर्ता और उत्तरोत्तर-तन्त्रकर्ता के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें प्रथमतः अर्थकर्ता के प्रसंग में विचार करते हुए धवला में कहा गया है कि महावीर निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति (गौतम),

---

१. त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं विरचयदसौ महात्मा।
तेषां पञ्चानामपि खण्डानां श्रृणुत नामानि॥
आद्यं जीवस्थानं क्षुल्लकवन्धाह्वयं द्वितीयमतः।
वन्धस्वामित्वं भाववेदना-वर्गणाखण्डे॥
—इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार १४०-४१

२. सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसंहितानि।
प्रविरच्य महावन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम्॥
—इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार १३९

३. देखिए पृ० ७ और पृ० ८

लोहार्य (सुधर्म) और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच अविच्छिन्न परम्परा से चौदह पूर्वों के धारक (श्रुतकेवली) हुए। तदनन्तर उसी अविच्छिन्न परम्परा से विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्व आदि दस पूर्वों के धारक हुए। शेष चार पूर्वों के वे एकदेश के धारक थे। अनन्तर नक्षत्राचार्य आदि पाँच आचार्य ग्यारह अंगों के परिपूर्ण और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तत्पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य उसी अविच्छिन्न परम्परा से आचारांग के पूर्ण ज्ञाता तथा शेष अंग-पूर्वों के वे एक देश के धारक हुए। इस प्रकार श्रुत के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर सब अंग-पूर्वों का एकदेश उसी अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।[1]

सौराष्ट्र देश के अन्तर्गत गिरिनगर पट्टन की चन्द्रगुफा में स्थित वे आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे। उन्होंने उक्त क्रम से उत्तरोत्तर क्षीण होने श्रुत के प्रवाह को देखकर जाना कि इस समय उन्हें जो अंग-पूर्वों का एकदेश प्राप्त है वह भी कालान्तर में अस्तंगत हो जानेवाला है। इस भय से उन्होंने प्रवचनवत्सलता के वश महिमा नामक नगरी में (अथवा किसी महत्त्वपूर्ण महोत्सव में) सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा। लेख में स्थित धरसेनाचार्य के वचन का अभिप्राय जानकर उन आचार्यों ने भी आन्ध्र देश में अवस्थित वेण्णा नदी के तट से ऐसे दो साधुओं को भेज दिया जो ग्रहण-धारण में समर्थ, विनीत, शीलमाला के धारक, गुरुजनों के द्वारा भेजे जाने से संतुष्ट, देश-कुल-जाति से शुद्ध और समस्त कलाओं में पारंगत थे। तब धरसेनाचार्य के पास जाते समय उन दोनों ने तीन बार उन आचार्यों से पूछकर वहाँ से प्रस्थान किया। जिस दिन वे वहाँ पहुँचनेवाले थे उस दिन आचार्य धरसेन ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में तीन प्रदक्षिणा देकर अपने पाँवों में गिरते हुए उत्तम लक्षणों से संयुक्त दो धवलवर्ण बैलों को देखा। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर सन्तोष को प्राप्त हुए धरसेनाचार्य के मुख से सहसा 'जयउ सुयदेवदा' यह वाक्य निकला। उसी दिन वे दोनों धरसेनाचार्य के पास जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने धरसेन भगवान् की वन्दना आदि करके दो दिन बिताये। तत्पश्चात् तीसरे दिन विनयपूर्वक धरसेनाचार्य के पास जाकर उन्होंने निवेदन किया—भगवन्! अमुक कार्य से हम दोनों आपके पादमूल को प्राप्त हुए हैं।[2] तब धरसेन भट्टारक ने 'बहुत अच्छा, कल्याण हो' यह कहकर उन्हें आश्वस्त किया। तत्पश्चात् धरसेन ने यथेच्छ प्रवृत्ति करनेवालों को विद्या का दान संसार के भय को बढ़ाने वाला होता है[3] यह सोचकर स्वप्न के देखने से उनके विषय में विश्वस्त होते हुए भी उनकी परीक्षा करना उचित समझा। इसके लिए उन्होंने उनके लिए दो

---

१. धवला पु० १, पृ० ६०-६७; यही प्ररूपणा आगे वेदना खण्ड (पु० ९ पृ० १०७-३३) में पुनः कुछ विस्तृत रूप में की गयी है, वहाँ केवली व श्रुतकेवलियों आदि के समय का भी निर्देश किया गया है।

२. विस्समिदो तद्दिवसं मीमंसित्ता णिवेदयदि गणिणो।
विणएणागमकज्ज विदिए तदिए व दिवसम्मि॥
—मूलाचार ४-४४ (आगे-पीछे की भी कुछ गाथाएँ द्रष्टव्य हैं)

३. ...इदिवयणादो जहा छंदाईणं विज्जादाणं संसारभयवद्धणं।—धवला पु० १, पृ० ७०

विद्याएँ, जिनमें एक अधिक अक्षर वाली और दूसरी हीन अक्षर वाली थी, दीं और कहा कि इन्हें षष्ठोपवास के साथ सिद्ध करो। तदनुसार विद्याओं के सिद्ध करने पर उन्होंने पृथक्-पृथक् दो विद्यादेवताओं को देखा जिनमें एक बड़े दाँतों वाली और दूसरी कानी थी।

इस पर दोनों ने विचार किया कि देवताओं का स्वरूप ऐसा तो नहीं होता। यह विचार करते हुए मंत्र व व्याकरण-शास्त्र में कुशल उन दोनों ने हीन अक्षर वाली विद्या में छूटे हुए अक्षर को जोड़कर तथा अधिक अक्षर वाली विद्या में से अधिक अक्षर को निकालकर उन्हें पुनः जपा। तब उन्होंने अपने स्वाभाविक रूप में उपस्थित विद्याओं को देखा। अन्त में उन्होंने विनयपूर्वक धरसेन भट्टारक के पास जाकर इस घटना के विषय में निवेदन किया। इस पर अतिशय संतोष को प्राप्त हुए धरसेनाचार्य ने सौम्य तिथि, नक्षत्र, और वार में ग्रन्थ को पढ़ाना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार क्रमशः व्याख्यान करने से आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाह्न में ग्रन्थ समाप्त हो गया। विनयपूर्वक ग्रन्थ के समाप्त करने से संतुष्ट हुए भूतों ने उनमें से एक की पुष्प-बलि आदि से महती पूजा की। यह देखकर भट्टारक धरसेन ने उसका नाम भूतबलि रखा। दूसरे की पूजा करते हुए उसके अस्त-व्यस्त दाँतों की पंक्ति को हटाकर समान कर दिया। तब भट्टारक ने उसका नाम पुष्पदन्त किया।[1]

ग्रन्थ के समाप्त हो जाने पर धरसेनाचार्य ने उन्हें उसी दिन वापिस भेज दिया। तब उन दोनों ने गुरु का वचन अनुल्लंघनीय होता है, यह जानकर वहाँ से आते हुए अंकुलेश्वर में वर्षा-काल किया। पश्चात् योग को समाप्त कर पुष्पदन्ताचार्य जिनपालित को देखकर वनवास देश को गये और भूतबलि भट्टारक द्रमिल देश को चले गये।

धरसेनाचार्य ने ग्रन्थ समाप्त होते ही उन्हें वहाँ से क्यों भेज दिया, इस विषय में धवला में कुछ स्पष्ट नहीं किया गया है। पर इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में कहा गया है कि धरसेनाचार्य ने अपनी मृत्यु को निकट जान उससे उन दोनों को क्लेश न हो, इस विचार से उन्हें हितकर वचनों के द्वारा आश्वस्त करते हुए ग्रन्थ-समाप्ति के दूसरे दिन ही वहाँ से भेज दिया। यहीं पर आगे उक्त श्रुतावतार में जिनपालित को आचार्य पुष्पदन्त का भानजा निर्दिष्ट किया गया है।[2]

वनवास देश में जाकर आ० पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर बीस सूत्रों (बीस प्ररूपणाओं से सम्बद्ध सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रों) की रचना की, तथा उन्हें जिनपालित को पढ़ाकर उन सूत्रों के साथ भगवान् भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि भगवान् ने उन सूत्रों को देखकर व जिनपालित से उन्हें अल्पायु जानकर 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का व्युच्छेद हो जाने वाला है' इस विचार से 'द्रव्यप्रमाणानुगम' को आदि करके आगे के ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार इस खण्ड-सिद्धान्त की अपेक्षा उसके कर्ता भूतबलि और पुष्पदन्त कहे जाते हैं।[3]

धवलाकार के इस विवरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में केवल सत्प्ररूपणा नामक प्रथम अनुयोगद्वार की ही रचना की है। यद्यपि धवला में 'वीसदि सुत्ताणि करिय' इतना ही संक्षेप में कहा गया है, पर उससे उनका अभिप्राय

---

१. धवला पु० १, पृ० ६७-७१
२. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार १२६-३४
३. धवला पु० १, पृ० ७१

गुणस्थान व जीवसमास आदि बीस प्ररूपणाओं का रहा है।[1] आगे द्रव्य प्रमाणानुगम से प्रारम्भ करके समस्त जीवस्थान, क्षुल्लकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के रचयिता भगवान् भूतबलि हैं।[2]

श्रुतपंचमी की प्रसिद्धि

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के समाप्त होने पर उसे असद्भाव-स्थापना से पुस्तकों में आरोपित करके ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चातुर्वर्ण्य संघ के साथ उन पुस्तक रूप उपकरणों के आश्रय से विधिपूर्वक पूजा की गयी। तबसे यह तिथि श्रुतपंचमी के रूप में प्रसिद्ध हुई,[3] जो आज भी प्रचार में आ रही है। उस दिन प्रबुद्ध जैन जनता उक्त षट्खण्डागमादि ग्रन्थों को स्थापित कर भक्तिभाव से सरस्वती-पूजा आदि करती है।

आगे उक्त श्रुतावतार में यह भी कहा गया है कि तत्पश्चात् आ० भूतबलि ने पुस्तक के रूप में उन छह खण्डों को जिनपालित के साथ पुष्पदन्त गुरु के पास भेजा। उस समय पुष्पदन्त गुरु ने भी जिनपालित के हाथ में स्थित षट्खण्डागम पुस्तक को देखकर सहर्ष विचार किया कि जिस कार्य को मैंने सोचा था वह पूरा हो गया है। इस प्रकार श्रुतानुराग के वश पुष्प-दन्ताचार्य ने भी विधिपूर्वक चातुर्वर्ण्य संघ के साथ श्रुतपंचमी के दिन गन्धाक्षतादि के द्वारा पूर्ववत् सिद्धान्त-पुस्तक की महती पूजा की।[4]

श्रुतावतार के इस उल्लेख से यह निश्चित होता है कि प्रस्तुत षट्खण्डागम की रचना के समाप्त होने तक आचार्य पुष्पदन्त जीवित थे। आ० पुष्पदन्त विरचित सत्प्ररूपणासूत्रों के साथ जिनपालित के भूतबलि भट्टारक के पास पहुँचने पर उन्हें पुष्पदन्त के अल्पायु होने का बोध

---

(१) इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में इसे स्पष्ट भी किया गया है—

वाच्छन् गुणजीवादिक-विंशतिविधसूत्र-सत्प्ररूपणया।
युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत् सम्यक् ॥१३५॥

२. (क) संपदि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडि-बोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।—द्रव्यप्रमाणानुगम पु० ३, पृ० १

(ख) उवरि उच्चमाणेसु तिसु वि खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? वग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलि-भडारओ गंथस्स पारभदि।—पु० ९, पृ० १०५

(ग) तदो भूदबलिभडारएण सुद-णईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महा-कम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छखंडाणि कयाणि।—पु० ९, पृ० १३३

(घ) धवला पु० १४, पृ० ५६४।

३. ज्येष्ठा-सितपक्ष-पञ्चम्यां चातुर्वर्ण्य-संघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥

४. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार १४५-१४८

हुआ था।[1]

अर्थकर्ता

धवलाकार ने श्रुतधरों की परम्परा का उल्लेख जिस प्रकार सत्प्ररूपणा में किया है, लगभग उसी प्रकार से उन्होंने आगे चलकर वेदनाखण्ड के अन्तर्गत कृति अनुयोगद्वार में भी उक्त श्रुतपम्परा की प्ररूपणा पुनः कुछ विस्तार से की है। इसमें अनेक विशेषताएँ भी देखी जाती हैं। यथा—

सत्प्ररूपणा के समान यहाँ भी कर्ता के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—अर्थकर्ता और ग्रन्थ-कर्ता। इनमें अर्थकर्ता महावीर की यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से प्ररूपणा की गयी है। उनमें द्रव्य की अपेक्षा से भगवान् महावीर के शरीर की विशेषता अनेक महत्त्व-पूर्ण विशेषताओं के आश्रय से प्रकट की गयी है व उनमें प्रत्येक की सार्थकता को प्रकट करते हुए उसे ग्रन्थ की प्रमाणता में उपयोगी कहा गया है।[2] जैसे 'निरायुध' यह विशेषण भगवान् वीर जिनेन्द्र के क्रोध, मान, माया, लोभ, जन्म, जरा, मरण, भय और हिंसा का अभाव का सूचक है, जो ग्रन्थ की प्रमाणता का कारण है।

क्षेत्र की अपेक्षा प्ररूपणा करते हुए कहा गया है, कि पंचशैलपुर (राजगृह) की नैऋत्य दिशा में स्थित विपुलाचल पर्वत पर विराजमान समवसरण-मण्डल में अवस्थित गन्धकुटी रूप प्रासाद में स्थित सिंहासन पर आरूढ वर्धमान भट्टारक ने तीर्थ को उत्पन्न किया।[3]

इस क्षेत्रप्ररूपणा को यहाँ वर्धमान भगवान् की सर्वज्ञता का हेतु कहा गया है। यहाँ शंका उठाई गयी है कि जिन जीवों ने जिनेन्द्र के शरीर की महिमा को देखा है उन्हीं के लिए वह जिन की सर्वज्ञता का हेतु हो सकती है, न कि शेप सबके लिए? इस शंका के समाधान स्वरूप जिन-रूपता के ज्ञापनार्थ यहाँ आगे भाव-प्ररूपणा की गयी है।

इस भावप्ररूपणा में सर्वप्रथम दार्शनिक पद्धति से जीव की जड़स्वभावता का निराकरण करते हुए उसे सचेतन व ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव वाला सिद्ध किया गया है।[4]

तत्पश्चात् कर्मों की नित्यता व निष्कारणता का निराकरण करते हुए उनके मिथ्यात्व, असंयम व कपाय इन कारणों को सिद्ध किया गया है तथा उन मिथ्यात्वादि के प्रतिपक्षभूत सम्यक्त्व, संयम और कपायों के अभाव को उन कर्मों के क्षय का कारण कहा गया है। इस प्रकार से जीव को केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञानी, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शनी, मोहनीय के क्षय से वीतराग और अन्तराय के क्षय से विघ्नविवर्जित अनन्त बल-वाला सिद्ध किया है।[5]

आगे पूर्व प्ररूपित द्रव्य, क्षेत्र और भाव प्ररूपणा के संस्कारार्थ कालप्ररूपणा की आवश्यकता

---

१. भूदवलिभयपदा जिणवालिद पासे दिट्ठ वीसदिसुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगयजिण-वालिदेण···।—धवला पु० १, पृ० ७१
२. धवला पु० ९, पृ० १०७-१०९
३. वही, पृ० १०९-११३
४. वही, पु०९, पृ० ११३-११७
५. वही पृ० ११७-११८

को प्रकट करते हुए कहा गया है कि इस भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल के चौथे दुःषम-सुषम काल में जब तेतीस वर्ष, छह मास और नौ दिन शेष रहे थे तब तीर्थ की उत्पत्ति हुई। इसका अभिप्राय यह है कि बहत्तर वर्ष की आयु वाले भगवान् महावीर जब आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन गर्भ में अवतीर्ण हुए उस समय चौथे काल में पचहत्तर वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे। कारण यह कि ७२ वर्ष की उनकी आयु थी तथा उस चौथे काल में साढ़े तीन वर्ष शेष रह जाने पर उन्होंने मुक्ति प्राप्त कर ली थी।

पूर्व में जो यहाँ तीर्थोत्पत्ति के समय ३३ वर्ष ६ मास और ९ दिन चौथे काल में अवशिष्ट बताये गये हैं, उसका अभिप्राय यह है कि ७२ वर्ष की आयु वाले भगवान् महावीर का केवलि-काल ३० वर्ष रहा है। केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी गणधर के अभाव में ६६ दिन उनकी दिव्यध्वनि नहीं निकली। इससे उक्त ३० वर्ष में ६६ दिन कम कर देने पर २९ वर्ष, ९ मास, २४ दिन शेष रहते हैं। जब वे मुक्त हुए तब उस चौथे काल में ३ वर्ष, ८ मास और १५ दिन शेष थे। इन्हें उक्त २९ वर्ष, ९ मास और २४ दिन में जोड़ देने पर ३३ वर्ष, ६ मास और ९ दिन हो जाते हैं।[1]

अन्य किन्हीं आचार्यों के मतानुसार भगवान् महावीर की आयु ७२ वर्ष में ५ दिन और ८ मास कम (७१ वर्ष, ३ मास, २५ दिन) थी। इस मत के अनुसार उनके गर्भस्थकालादि की भी प्ररूपणा धवला में की गयी है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

	वर्ष	मास	दिन
गर्भस्थकाल	०	९	८
कुमारकाल	२८	७	१२
छद्मस्थकाल	१२	५	१५
केवलिकाल	२९	५	२०
समस्त आयु	७१	३	२५

उनके मुक्त होने पर चौथे काल में जो ३ वर्ष, ८ मास और १५ दिन शेष रहे थे उन्हें उस आयु-प्रमाण में जोड़ देने पर उनके गर्भ में अवतीर्ण होने के समय उस चौथे काल में ७५ वर्ष १० मास शेष रहते हैं।[2]

ग्रन्थकर्ता

इस प्रकार अर्थकर्ता की प्ररूपणा के पश्चात् ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणाको प्रारम्भ करते हुए अर्थकर्ता से ग्रन्थकर्ता को भिन्न स्वीकार न करने वाले की शंका के समाधान में धवलाकार कहते हैं कि अठारह भाषा और सात सौ कुभाषा रूप द्वादशांगात्मक बीजपदों की जो प्ररूपणा करता है उसका नाम अर्थकर्ता है तथा जो उन बीजपदों में विलीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों की रचना करते हैं उन गणधर भट्टारकों को ग्रन्थकर्ता माना जाता है। अभिप्राय यह है कि बजिपदों के व्याख्याता को ग्रन्थकर्ता समझना चाहिए। यह अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता में भेद है। यहाँ बजिपदों के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो शब्दरचना में संक्षिप्त होकर

१. धवला पु० ९, पृ० ११९-१२१
२. वही, पृ० १२१-१२६

अनन्त अर्थ के अवगम के कारणभूत अनेक लिंगों से सहित होता है उनका नाम बीजपद है। इस प्रकार यहाँ गणधर देव को ग्रन्थकर्ता बतलाते हुए उसकी अनेक विशेषताओं को प्रकट किया गया है। यह सामान्य से अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा की गई है।[1]

आगे वर्धमान जिन के तीर्थ में विशेष रूप से ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि सौधर्म इन्द्र जब पाँच-पाँच सौ अन्तेवासियों से वेष्टित ऐसे तीन भाइयों से संयुक्त गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण के पास पहुँचा तब उसने उसके सामने जैन पारिभाषिक शब्दों से निर्मित—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवनिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

इस गाथा को उपस्थित करते हुए उसके आशय के विषय में प्रश्न किया। इसपर सन्देह में पड़कर जब वह उसका उत्तर न दे सका तब उससे उसने अपने गुरु के पास चलने को कहा। यही तो सौधर्म इन्द्र को अभीष्ट था। इस प्रकार जब वह वर्धमान जिनेन्द्र के समवसरण में पहुँचा तब वहाँ स्थित मानस्तम्भ के देखते ही उसका समस्त अभिमान गलित हो गया व उसकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। तब उसने भगवान् जिनेन्द्र की तीन प्रदक्षिणा देकर उनकी वन्दना की व जिनेन्द्र का ध्यान करते हुए संयम को ग्रहण कर लिया। उसी समय विशुद्धि के बल से उसके अन्तर्मुहूर्त में ही समस्त गणधर के लक्षण प्रकट हो गये। इस प्रकार प्रमुख गणधर के पद पर प्रतिष्ठित होकर उस इन्द्रभूति ब्राह्मण ने आचारादि बारह अंगों और सामायिक-चतुर्विंशतिस्तव आदि चौदह अंगबाह्य स्वरूप प्रकीर्णकों की रचना कर दी। उस दिन श्रावण मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा थी, जिसे युग का आदि दिवस माना जाता है। इस प्रकार वर्धमान जिनेन्द्र के तीर्थ में इन्द्रभूति भट्टारक ग्रन्थकर्ता हुए।[2]

उत्तरोत्तर-तन्त्रकर्ता

इस प्रकार यहाँ अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा के पश्चात् उत्तरोत्तरतन्त्रकर्ता की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में महावीर जिन के मुक्त हो जाने पर, केवलज्ञान की सन्तान के धारक गौतम स्वामी हुए। बारह वर्ष केवलिविहार से विहार करके उनके मुक्त हो जाने पर लोहार्य[3] उस केवलज्ञान की सन्तान के धारक हुए। बारह वर्ष केवलिविहार से विहार करके लोहार्य भट्टारक के मुक्त हो

---

१. धवला पु० ९, पृ० १२६-१२८
२. धवला पु० ९, पृ० १२९-१३०
३. 'लोहार्य' यह सुधर्म का दूसरा नाम रहा है। इस नाम का उल्लेख स्वयं धवलाकार ने भी जयधवला (·········) में किया है। हरिवंशपुराण (३-४२) में पाँचवें गणधर का उल्लेख सुधर्म नाम से किया गया है। जंबूदीवपण्णत्ती में स्पष्ट रूप से लोहार्य का दूसरा नाम सुधर्म कहा गया है—

तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधरसुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥
—जं० दी० प० १-१०

जाने पर जम्बू भट्टारक उस केवलज्ञान सन्तान के धारक हुए। अड़तीस वर्ष केवलिविहार से विहार करके जम्बू भट्टारक के मुक्त हो जाने पर भरतक्षेत्र में केवलज्ञान सन्तान का विच्छेद हो गया। इस प्रकार महावीर निर्वाण के पश्चात् बासठ वर्षों में केवलज्ञानरूप सूर्य भरतक्षेत्र में अस्तंगत हो गया।

इसके पूर्व जैसा कि सत्प्ररूपणा में कहा जा चुका है,[1] तदनुसार वेदनाखण्ड के प्रारम्भ (कृति अनुयोगद्वार) में भी आगे पाँच श्रुतकेवलियों, ग्यारह एकादश-अंगों व दस पूर्वों के धारकों, पाँच एकादशांगधरों और चार आचारांगधरों का उल्लेख किया गया है। विशेषता वहाँ यह रही है कि उक्त पाँच श्रुतकेवलियों आदि के समय का भी साथ में उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है—

वर्ष	केवली आदि
६२	३ केवली
१००	५ श्रुतकेवली
१८३	११ ग्यारह अंगों व विद्यानुवादपर्यन्त दृष्टिवाद के धारक
२२०	५ ग्यारह अंगों व दृष्टिवाद के एकदेश के धारक
११८	४ आचारांग के साथ शेष अंग-पूर्वों के एकदेश के धारक
६८३	समस्त काल का प्रमाण

अन्तिम आचारांगधर लोहार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर आचारांग लुप्त हो गया। इस प्रकार भरतक्षेत्र में आचारांग आदि बारह अंगों के अस्तंगत हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्ज-दोस और महाकम्मपयडिपाहुड आदि के धारक रह गये। इस प्रकार प्रमाणीभूत महर्षियों की परम्परा से आकर महाकम्मपयडिपाहुड धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। उन्होंने भी उस समस्त महाकम्मपयडिपाहुड को गिरिनगर की चन्द्रगुफा में भूतबलि और पुष्पदन्त को समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् भूतबलि भट्टारक ने श्रुत-नदी के प्रवाह के विच्छेद से भयभीत होकर भव्यजन के अनुग्रहार्थ उस महाकम्मपयडिपाहुड का उपसंहार कर छह खण्ड किये। इसलिए अनन्त केवलज्ञान के प्रभाव से प्रमाणीभूत आचार्यपरम्परा से चले आने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान के विरोध से रहित यह ग्रन्थ प्रमाण है। इसलिए मुमुक्षु भव्य जीवों को उसका अभ्यास करना चाहिए।[2]

सिद्धान्त का अध्ययन

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि आचार्य वीरसेन ने सामान्यतः सभी मुमुक्षु भव्य जीवों से प्रस्तुत षट्खण्डागम के अध्ययन की प्रेरणा की है, उन्होंने उसके अभ्यास के लिए विशेषरूप से केवल संयतजनों को ही प्रेरित नहीं किया।[3]

---

१. धवला पु० १, पृ० ६४-६७

२. धवला पु० ९, पृ० १३०-१३४

३. तदो भूदवलिभडारएण सुद-णईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छखंडाणि कयाणि। तदो तिकालगोयरासेसपयत्थविसयपच्चक्खाणंतकेवलणाणप्पभावादो पमाणीभूदआइरिय-पणालेणागदत्तादो पमाणमेसो गंथो। तम्हा मोक्खकंखिणा भवियलोएण अब्भसेयव्वो।—पु० ९, पृ० १३३-१३५४

इससे कुछ अर्वाचीन ग्रन्थगत उल्लेखों[1] के आधार से कुछ महानुभावों की जो यह धारणा बन गयी है कि गृहस्थों को सिद्धान्त-ग्रन्थों के रहस्य के अध्ययन का अधिकार नहीं है, वह निर्मूल सिद्ध होती है। श्रावकों के छह आवश्यकों में स्वाध्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। स्वयं षट्खण्डागमकार ने तीर्थंकर-नाम-गोत्र के बन्धक सोलह कारणों में 'अभीक्ष्ण-अभीक्ष्णज्ञानोपयोग युक्तता' को स्थान दिया है।[2]

उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार कहते है कि *'अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण' नाम बहुत बार का है,* 'ज्ञानोपयोग' से भावश्रुत और द्रव्यश्रुत अपेक्षित है, उसके विषय में निरन्तर उद्युक्त रहने से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।[3]

मूलाचार[4] के रचयिता वट्टकेराचार्य विपाकविचय धर्मध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ध्याता विपाकविचय धर्मध्यान में जीवों के द्वारा एक व अनेक भवों में उपार्जित पुण्य-पाप कर्मों के फल का तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्ष इन सबका विचार किया करता है। सिद्धान्त-ग्रन्थों में इन्हीं उदय, उदीरणा और संक्रम का विचार किया गया है।

ऊपर धवलाकार ने मोक्षाभिलापी भव्य जीवों के लिए जो प्रस्तुत षट्खण्डागम के अभ्यास के लिए प्रेरित किया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है, यह विचार करने की बात है। षट्खण्डागम और कषायप्राभृत जैसे महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थों के अभ्यास के बिना क्या मुमुक्षु भव्य जीव द्वारा कर्मबन्ध क्या व कितने प्रकार का है, आत्मा के साथ उन पुण्य-पाप कर्मो का सम्बन्ध किन कारणों से हुआ, वे कौन-से कारण है कि जिनके आश्रय से उन कर्मो का क्षय किया जा सकता है, तथा जीव का स्वभाव क्या है, इत्यादि प्रकार से संसार व मोक्ष के कारणों को जाना जा सकता है? नहीं जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त संसार व मोक्ष के कारणों को जब तक नहीं समझा जायेगा तब तक मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। इसीलिए धवलाकार ने सभी मुमुक्षु जनों से सिद्धान्त-ग्रन्थों के अभ्यास की प्रेरणा की है।

आगे जाकर धवलाकार ने वाचनाशुद्धि के प्रसंग में वक्ता और श्रोता दोनों के लिए द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का विस्तार से विचार किया है। वहाँ भी

---

१. (क) दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियाए।
सिद्धंतरहस्साण वि अज्झयणे देसविरदाणं ॥—वसु० श्राव० ३१२

(ख) श्रावकोवीरचर्याहःप्रतिमातापनादिपु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥—सागारध० ७/५०

(ग) आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ॥—नीतिसार ३२

२. बन्धस्वामित्वविचय, सूत्र ३९-४२, पु० ८

३. अभिक्खणमभिक्खणं णाम बहुवारमिदि भणिदं होदि। णाणोवजोगो त्ति भावसुदं दव्वसुदं वावेक्खदे। तेसु मुहुम्मुहुजुत्तदाए तित्थयरणामकम्मं बज्झइ।—धवला पु० ८, पृ० ९१

४. एयाणेयभवगयं जीवाणं पुण्ण-पावकम्मफलं।
उदओदीरण-संकम-बंधं मोक्खं च विचिणादि ॥—मूला० ५-२०४

उन्होंने उक्त प्रकार से सिद्धान्त के अध्ययन का प्रतिषेध नहीं किया।[1]

संसार व मोक्ष के उन कारणों का ध्यानशतक में संस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसंग में विस्तार से किया गया है।[2] इस प्रसंग से सम्बद्ध उसकी कितनी ही गाथाओं को वीरसेनाचार्य ने अपनी उस धवला टीका में उद्धृत भी किया है।[3]

आचार्य गुणभद्र ने शास्त्रस्वाध्याय को महत्त्व देते हुए चंचल मन को मर्कट मानकर उसे प्रतिदिन श्रुतस्कन्ध के ऊपर रमाने की प्रेरणा की है तथा इस प्रकार से श्रुत के अभ्यास में मन के लगाने वाले को विवेकी कहा है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों में परमागम के अभ्यास के विषय में संयत-असंयतों का कहीं कुछ भेद नहीं किया गया है।

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार की विशेषता

जिस आचार्य परम्परा का उल्लेख धवलाकार ने जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में व वेदनाखण्ड-गत कृति अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में किया है उसका उल्लेख अन्यत्र तिलोयपण्णत्ती,[5] हरिवंश-पुराण,[6] जंबूदीवपण्णत्ती[7] एवं इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार[8] आदि में भी किया गया है। इनमें से इन्द्र-नन्दि-श्रुतावतार में जो विशेषता दृष्टिगोचर होती है उसे यहाँ प्रकट किया जाता है—

यहाँ 'लोहार्य' के स्थान में उनका 'सुधर्म' (श्लोक ७३) नामान्तर पाया जाता है। सम्मिलित सबका काल-प्रमाण ६८३ वर्ष ही है। यहाँ आचार्यों के नामों में जो कुछ थोड़ा-सा भेद देखा जाता है उसका कुछ विशेष महत्त्व नहीं है। प्राकृत शब्दों का संस्कृत में रूपान्तर करने में तथा

---

१. धवला पु० ६, पृ० २५१-५६

२. ध्यानशतक ५४-६०

३. ध्यानशतक की प्रस्तावना पृ० ५६-६२ में 'ध्यानशतक और धवला का ध्यानप्रकरण' शीर्षक

४. अनेकान्तात्मार्थप्रसव-फलभारातिविनते वचःपर्णाकीर्णे विपुलनय-शाखाशतयुत्ते।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमति-मूले प्रतिदिनं श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्॥
—आत्मानुशासन १७०

५. ति० प० ४,१४०४-६२

६. ह० पु० ६६, २२-२५; यहाँ श्लोक २५ में जिन नामों का उल्लेख किया गया है वे इ० श्रुतावतार से कुछ मिलते-जुलते इस प्रकार हैं—
महातपोभृद् विनयंधरश्रुतामृषिश्रुतिं (?) गुप्तपदादिकां दधत्।
मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्तसंज्ञको गुणैः स्वमर्हद्वलिरप्यधात् पदम्॥२५॥

७. जं० दी० प० १, ८-१७

८. इ० श्रुतावतार ६९-८५; धवला से विशेष—
विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।
आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नङ्ग-पूर्वदेशधराः॥८४॥
सर्वांग-पूर्वदेशैकदेशवित् पूर्वदेशमध्यगते।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्वल्याख्यः॥८५॥

लेखक की कुछ असावधानी से ऐसा शब्दभेद होना सम्भव है।

यहाँ एक विशेषता यह देखी जाती है कि लोहार्य के पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त इन चार आरातीय अन्य आचार्यों के नामों का भी निर्देश एक साथ किया गया है। धवला में इनका कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया है। वहाँ इतना मात्र कहा गया है कि लोहार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्जदोस और महाकम्मपयडिपाहुड आदि के धारक रह गये, इस प्रकार महर्षियों की परम्परा से आकर वह महाकम्मपयडिपाहुड धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कितने महर्षियों की परम्परा से आकर वह महाकम्मपयडिपाहुड धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।

ऐसी स्थिति में आ० इन्द्रनन्दी के द्वारा श्रुतावतार में जो उपर्युक्त विनयधर आदि अन्य चार आरातीय आचार्यों का उल्लेख किया गया है वह अपना अलग महत्त्व रखता है।

किन्तु वह महाकम्मपयडिपाहुड धरसेनाचार्य को साक्षात् किस महर्षि से प्राप्त हुआ, इसका उल्लेख न धवलाकार ने कहीं किया है और न इन्द्रनन्दी ने ही। इससे धरसेनाचार्य के गुरु कौन थे, यह जानना कठिन है। इन्द्रनन्दी ने तो गुणधर भट्टारक और धरसेनाचार्य में पूर्वोत्तरकालवर्ती कौन है, इस विषय में भी अपनी अजानकारी प्रकट की है।[1]

इन्द्रनन्दी ने विनयधर आदि उन चार आचार्यों के उल्लेख के पश्चात् अर्हद्बलि का उल्लेख करते हुए कहा है कि पूर्वदेश के मध्यवर्ती पुण्ड्रवर्धन नगर में अर्हद्वलि नामक मुनि हुए जो सब अंग-पूर्वों के देशैकदेश के ज्ञाता थे। संघ के अनुग्रह व निग्रह में समर्थ वे अष्टांग-निमित्त के ज्ञाता होकर पाँच वर्षों के अन्त में सौ योजन के मध्यवर्ती मुनिजन समाज के साथ युगप्रतिक्रमण करते हुए स्थित थे। किसी समय युग के अन्त में प्रतिक्रमण करते हुए उन्होंने समागत मुनिजन समूह से पूछा कि क्या सब यतिजन आ गये हैं। उत्तर में उन सब ने कहा कि भगवन्! हम सब अपने-अपने संघ के साथ आ गये हैं। इस उत्तर को सुनकर उन्होंने विचार किया कि इस कलिकाल में यहाँ से लेकर आगे अब यह जैन-धर्म गण-पक्षपात के भेदों के साथ रहेगा, उदासीनभाव से नहीं रहेगा। ऐसा सोचकर गणी (संघप्रवर्तक) उन अर्हद्वलि ने जो मुनिजन गुफा से आये थे उनमें किन्हीं का 'नन्दी' और किन्हीं का 'वीर' नाम किया। जो अशोकवाट से आये थे उनमें किन्हीं को 'अपराजित' और किन्हीं को 'देव' नाम दिया। जो पंचस्तूप्यनिवास से आये थे उनमें किन्हीं का 'सेन' और किन्हीं का 'भद्र' नाम किया। जो शाल्मली वृक्ष के मूल से आये थे उनमें किन्हीं का 'गुणधर' और किन्हीं का 'गुप्त' नाम किया। जो खण्डकेसर वृक्ष के मूल से आये थे उनमें किन्हीं का 'सिंह' और किन्हीं का 'चन्द्र' नाम किया।[2]

इसकी पुष्टि आगे इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'उक्तं च' के निर्देशपूर्वक एक अन्य पद्य के

---

१. गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्याभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात्॥—इ० श्रुतावतार १५१

२. इ० श्रुतावतार ८५-९५

द्वारा की गयी है।[1]

आगे वहाँ 'अन्य कहते हैं' ऐसी सूचना करते हुए उपर्युक्त संघनामों के विषय में कुछ मत-भेद भी प्रकट किया गया है।[2] ठीक इसके अनन्तर उस श्रुतावतार में कहा गया है कि तत्पश्चात् मुनियों में श्रेष्ठ माघनन्दी नामक मुनि हुए, जो अंगपूर्वों के एकदेश को प्रकाशित कर समाधिपूर्वक स्वर्गस्थहुए।[3]

माघनन्दी मुनि के विषय में जो एक कथानक प्रसिद्ध है तदनुसार वे किसी समय जब चर्या के लिए निकले तब उनका प्रेम एक कुम्हार की लड़की से हो गया। इससे वे संघ में वापस न जाकर वहीं रह गये। तत्पश्चात् किसी समय संघ में किसी सूक्ष्म तत्त्व के विषय में मतभेद उपस्थित हुआ। तब संघाधिपति ने उसका निर्णय करने के लिए साधुओं को माघनन्दी के पास भेजा। उनके पास पहुँचकर जब साधुओं ने विवादग्रस्त उस तत्त्व के विषय में माघनन्दी से निर्णय माँगा तब उन्होंने उनसे पूछा कि संघ क्या मुझे अब भी यह सन्मान देता है। इस पर मुनियों के यह कहने पर कि 'श्रुतज्ञान का सन्मान सदा होने वाला है' वे पुनः विरक्त होकर वहाँ रखे हुए पीछी-कमण्डलु को लेकर संघ में जा पहुँचे व पुनर्दीक्षित हो गये।[4]

उनके विषय में इसी प्रकार का एक भजन भी प्रसिद्ध है।

अन्यत्र माघनन्दी का उल्लेख

एक माघनन्दी का उल्लेख मुनि पद्मनन्दी विरचित 'जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो' में भी किया गया है। वहाँ उन माघनन्दी गुरु को राग-द्वेष-मोह से रहित श्रुतसागर के पारगामी और तप-संयम से सम्पन्न कहा गया है। उनके शिष्य सिद्धान्त रूप महासमुद्र में कलुष को धोने-वाले सकलचन्द्र गुरु और उनके भी शिष्य सम्यग्दर्शन से शुद्ध विख्यात श्रीनन्दी रहे हैं, जिनके निमित्त जम्बूद्वीप की प्रज्ञप्ति लिखी गयी।[5]

उक्त श्रुतावतार में उन माघनन्दी के पश्चात् सुराष्ट्र देश में गिरिनगरपुर के समीपवर्ती ऊर्जयन्त पर्वत के ऊपर चन्द्र गुफा में निवास करनेवाले महा तपस्वी मुनियों में प्रमुख उन धरसेनाचार्य का उल्लेख किया गया है जो अग्रायणीय पूर्व के अन्तर्गत पाँचवें 'वस्तु' अधिकार के बीस प्राभृतों में चौथे प्राभृत के ज्ञाता थे।[6]

धवला के अनुसार धरसेन भट्टारक ने आचार्य-सम्मेलन के लिए जो लेख भेजा था,

---

१. आयतौ नन्दि-वीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्
देवश्चान्योऽपराजित इति यतियौ सेन-भद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात् सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मली वृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंह-चन्द्रौ प्रथितगुण-गणौ केसरात् खण्डपूर्वात्॥—इ० श्रुता० ९६

२. इ० श्रुतावतार ९७-१०१

३. वही, १०२

४. जैन सिद्धान्त-भास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृ० ११५
(धवला पु० १ की प्रस्तावना पृ० १६-१७)

५. जं० दी० प० १३, १५४-५६

६. इ० श्रुतावतार १०३-४

उसमें उन्होंने क्या लिखा था यह वहाँ स्पष्ट नहीं है। किन्तु इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में यह कहा गया है कि उस समय ब्रह्मचारी के हाथ से उस लेख-पत्र को लेकर व बन्धन को छोड़कर उन महात्मा आचार्यों ने उसे इस प्रकार पढ़ा—स्वस्ति श्रीमान् ! ऊर्जयन्त तट के निकटवर्ती चन्द्रगुफावास से धरसेन गणी वेणाक तट पर समुदित यतियों की वन्दना करके इस कार्य को कहता है कि हमारी आयु बहुत थोड़ी शेष रह गयी है, इससे हमारे द्वारा सुने गये (अधीत) शास्त्र की व्युच्छित्ति जिस प्रकार से न हो उस प्रकार से ग्रहण-धारण में समर्थ तीक्ष्णबुद्धि दो यतीश्वरों को आप भेज दें।[1]

प्राकृत पट्टावली

यह पट्टावली 'जैन सिद्धान्त भास्कर' भाग १, कि० ४, सन् १९१३ में छपी है जो अब उपलब्ध नहीं है। इसके प्रारम्भ में ३ संस्कृत श्लोक है, जो स्वयं पट्टावली के कर्ता द्वारा न लिखे जाकर किसी अन्य के द्वारा उसमें योजित किये गये दिखते हैं। इनमें ३ केवलियों, ५ श्रुतकेवलियों, ११ दशपूर्वधरों, ५ एकादशांगधरों तथा ४ दश-नव-आठ अंगधरों के नामों का निर्देश करते हुए उनमें से प्रत्येक के समय का भी उल्लेख पृथक्-पृथक् किया गया है। साथ ही सम्मिलित रूप उनके समुदित काल का भी वहाँ निर्देश किया गया है। यहाँ दशपूर्वधरों व दश-नव-आठ पूर्वधरों के काल का निर्देश करते हुए दोनों में कहीं २-२ वर्ष की भूल हुई है, अन्यथा समुदित रूप में जो उनका काल निर्दिष्ट है वह संगत नहीं रहता।[2] उक्त पट्टावली के अनुसार वह वीरनिर्वाणकाल से पश्चात् की कालगणना इस प्रकार है—

१. गौतम	केवली	१२ वर्ष
२. सुधर्म	,,	१२ ,,
३. जम्बूस्वामी	,,	३८ ,,
		६२ वर्ष
४. विष्णु	श्रुतकेवली	१४ वर्ष
५. नन्दिमित्र	,,	१६ ,,
६. अपराजित	,,	२२ ,,
७. गोवर्धन	,,	१९ ,,
८. भद्रबाहु	,,	२९ ,,
		१०० वर्ष
९. विशाखाचार्य	दशपूर्वधर	१० वर्ष
१०. प्रोष्ठिल	,,	१९ ,,
११. क्षत्रिय	,,	१७ ,,
१२. जयसेन	,,	२१ ,,

१. इ० श्रुतावतार १०८-१०

२. विशेष के लिए देखिये ष० ख० पु० १ की प्रस्तावना, पृ० २४-२९

१३. नागसेन	दशपूर्वधर	१८ वर्ष
१४. सिद्धार्थ	"	१७ "
१५. धृतिषेण	"	१८ "
१६. विजय	"	१३ "
१७. ब्रह्लिंग	"	२० "
१८. देव	"	१४ "
१९. धर्मसेन	"	१४[१६]
		१८१[१८३] वर्ष
२०. नक्षत्र	एकादशांगधर	१८ वर्ष
२१. जयपालक	"	२० "
२२. पाण्डव	"	३९ "
२३. ध्रुवसेन	"	१४ "
२४. कंस	"	३२ "
		१२३ वर्ष
२५. सुभद्र	दश-नव-आठ-अंगधर	६ वर्ष
२६. यशोभद्र	"	१८ "
२७. भद्रबाहु	"	२३ "
२८. लोहाचार्य	"	५२[५०]
		९९[९७] वर्ष
२९. अर्हद्बली	एकअंगधर	२८ वर्ष
३०. माघनन्दी	"	२१ "
३१. धरसेन	"	१९ "
३२. पुष्पदन्त	"	३० "
३३. भूतबलि	"	२० "
		११८ वर्ष

विचारणीय

१. पट्टावली के अन्तर्गत गाथा ९ में जो एकादशांगधरों का पृथक्-पृथक् काल निर्दिष्ट किया गया है उसका जोड़ १८१ आता है। किन्तु इसके पूर्व गाथा ७ में वहाँ वीरनिर्वाण से १६२ वर्ष बीतने पर १८३ वर्षों के भीतर ११ दशपूर्वधरों के उत्पन्न होने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे निश्चत है कि उस गाथा ९ में दशपूर्वधरों के काल का जो पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है उसमें किसी एक के काल के निर्देश में २ वर्ष कम हो गये दिखते हैं। आगे गाथा १० में

भी यह स्पष्ट कहा गया है कि अन्तिम जिन के मुक्त होने पर ३४५ वर्षों के बीतने पर ग्यारह अंगों के धारक मुनिवर हुए। इस प्रकार उपर्युक्त २ वर्ष की भूल रहे बिना यह ३४५ वर्ष भी घटित नहीं होते ६२+१००+१८१=३४३। इस प्रकार कुल ३४५ के स्थान पर ३४३ ही रहते हैं।

२. इसी प्रकार दश-नव-अष्टांगधरों में प्रत्येक के अलग-अलग निर्दिष्ट किये गये काल-प्रमाण में कहीं पर दो वर्ष अधिक हो गये हैं। कारण यह कि इसी पट्टावली की गाथा १२ के उत्तरार्ध में उन चारों का सम्मिलित काल ९७ वर्ष कहा गया है, जो जोड़ में उक्त क्रम से ९९ होता है अर्थात् ६+१८+२३+५२=९९। अतः यहाँ भी २ वर्ष की भूल हो जाना निश्चित है। इसके अतिरिक्त आगे १५वीं गाथा में जो यह कहा गया है कि अन्तिम जिन के मुक्त होने के बाद ५६५ वर्षों के बीतने पर ५ आचार्य एक अंग के धारक हुए, यह भी तदनुसार असंगत हो जाता है, क्योंकि उक्त क्रम से उसका जोड़ ५६७ आता है अर्थात् ६२+१००+१८३+१२३+९९=५६७; जबकि वह होना चाहिए ५६५ वर्ष।

इस पट्टावली के अनुसार धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि—ये तीनों आचार्य वीर-निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष के ही भीतर आ जाते हैं यानी ६२+१००+१८३+१२३+९७+२८+२१+१९+३०+२०=६८३। इस ६८३ वर्ष प्रमाण सम्मिलित काल का भी उल्लेख उन पट्टावली की १७वीं गाथा में अर्हद्वली आदि उन ५ एक अंग के धारकों के समुदित काल को लेकर किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त पट्टावली के अनुसार आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि एक अंग के धारक सिद्ध होते हैं।

इस पट्टावली की विशेपताएँ

१. तिलोयपण्णत्ती, धवला, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में इस श्रुतधरपरम्परा का उल्लेख करते हुए प्रत्येक आचार्य के काल का पृथक्-पृथक् निर्देश नही किया गया है, जबकि इस पट्टावली में उनके काल का पृथक्-पृथक् उल्लेख है तथा समुदित रूप में भी उसका उल्लेख किया गया है।

२. अन्यत्र जहाँ नक्षत्राचार्य आदि ५ एकादशांगधरों का काल-प्रमाण २२० वर्ष कहा गया है वहाँ इस पट्टावली में उनका वह काल-प्रमाण १२३ वर्ष कहा गया है। उक्त ५ आचार्यों का काल २२० वर्ष अपेक्षाकृत अधिक व असम्भव-सा दिखता है।

३. अन्यत्र जहाँ इस आचार्य परम्परा को लोहार्य तक सीमित रखा गया है व समुदित समय वीरनिर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष कहा गया है वहाँ इस पट्टावली में उसे लोहाचय्य (लोहाचार्य) के आगे अर्हद्वली आदि अन्य भी पाँच आचार्यों का उल्लेख करने के पश्चात् समाप्त किया गया है तथा लोहार्य तक का काल ५६५ वर्ष बतलाकर व उसमें अन्यत्र अनिर्दिष्ट इन पाँच अर्हद्वली आदि एक अंग के धारकों के ११८ वर्ष काल को सम्मिलित कर समस्त काल का प्रमाण वही ६८३ (५६५+११८) वर्ष दिखलाया गया है।

४. सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहार्य को अन्यत्र जहाँ एक आचारांग व शेष अंग-पूर्वों के एक देश के धारक कहा गया है। वहाँ इस पट्टावली में उन्हें दस, नौ और आठ अंगों के धारक कहा गया है। इस प्रकार इस पट्टावली के अनुसार सूत्रकृतांग आदि १० अंगों का एक साथ लोप नहीं हुआ है, किन्तु तदनुसार उक्त सुभद्राचार्य आदि चार आचार्य दस, नौ

और आठ अंगों के धारक हुए हैं। पर उन चार आचार्यों में दस, नौ और आठ अंगों के धारक कौन रहे हैं, यह पट्टावली में स्पष्ट नहीं है। इस पट्टावली में इन चारों आचार्यों का समुदित काल ९७ वर्ष कहा गया है, जबकि अन्यत्र उनका वह काल ११८ वर्ष कहा गया है।

५. जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, अन्यत्र यह आचार्य परम्परा लोहार्य पर समाप्त हो गयी है। परन्तु इस पट्टावली में उन लोहाचार्य के आगे अर्हद्वली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन पाँच अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया गया है तथा उनका काल प्रमाण पृथक्-पृथक् क्रम से २८,२१,१९,३० और २० वर्ष व समुदित रूप में ११८ (२८+२१+१९+३०+२०) वर्ष कहा गया है।

महावीर निर्वाण के पश्चात् इस आचार्यपरम्परा का समस्त काल ६८३ वर्ष जैसे धवला आदि में उपलब्ध होता है वैसे ही वह इस पट्टावली में भी पाया जाता है। विशेषता यह है कि अन्यत्र धवला आदि में जहाँ ५ ग्यारह-अंगों के धारकों का काल २२० वर्ष निर्दिष्ट किया गया है वहाँ इस पट्टावली में उनका वह काल १२३ वर्ष कहा गया है। इस प्रकार यहाँ उसमें ९७ (२२०—१२३) वर्ष कम हो गये हैं तथा अन्यत्र जहाँ सुभद्राचार्य आदि चार आचार्यों का समस्त काल ११८ वर्ष बतलाया गया है वहाँ इस पट्टावली में उनका वह काल ९७ वर्ष ही कहा गया है। इस प्रकार २१ (११८—९७) वर्ष यहाँ भी कम हो गये हैं। दोनों का जोड़ ११८ (९७+२१) वर्ष होता है। यही काल इस पट्टावली में उन अर्हद्वली आदि पाँच आचार्यों का है, जिनका उल्लेख अन्यत्र धवला आदि में नहीं किया गया है। इस प्रकार ६८३ वर्षों की गणना उभयत्र समान हो जाती है।

अर्हद्वली का शिष्यत्व

श्रवणवेलगोल के एक शिलालेख में आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को आचार्य अर्हद्वली का शिष्य कहा गया है। वह इस प्रकार है—

> यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
> फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः॥
> अर्हद्वलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
> कालस्वभावादिह जायमानद्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे॥
>
> —शिलालेख क्र० १०५, पद्य २५-२६

यह शिलालेख शक संवत् १३२० का है। लेखक ने पुष्पदन्त और भूतबलि को किस आधार पर अर्हद्वली का शिष्य कहा है, यह ज्ञात नहीं है। यदि यह सम्भव हो सकता है तो समझना चाहिए कि अर्हद्वली उन दोनों के दीक्षागुरु और धरसेन विद्यागुरु रहे हैं। वैसी परिस्थिति में यह भी सम्भव है कि धरसेनाचार्य ने महिमा में सम्मिलित जिन दक्षिणापथ के आचार्यों को लेखपत्र भेजा था उनका वह सम्मेलन सम्भवतः इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार[1] के अनुसार संघ-प्रवर्तक इन्हीं अर्हद्वली के द्वारा पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमण के समय बुलाया गया हो तथा इसी सम्मेलन में से उन अर्हद्वली ने पुष्पदन्त और भूतबलि इन दो अपने सुयोग्य शिष्यों

१. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार, ८५-९५

को आन्ध्र देश की वेण्या नदी के तट से धरसेनाचार्य के पास भेजा हो। उपर्युक्त शिलालेख के आधार पर यह सम्भावना ही की जा सकती है, वस्तु-स्थिति वैसी रही या नहीं रही, यह अन्वेषणीय है।

उपर्युक्त पट्टावली में अर्हद्वली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को एक अंग के धारक कहा गया है।[1]

इस प्रकार पट्टावली के अनुसार अर्हद्बली को एक अंग के ज्ञाता होने पर भी तिलोय-पण्णत्ती आदि ग्रन्थान्तरों में प्ररूपित उस आचार्य-परम्परा में जो स्थान नहीं मिला है उसका कारण सम्भवतः उनके द्वारा प्रवर्तित वह संघभेद ही हो सकता है। मुनिजनों के विविध संघों में विभक्त हो जाने पर जो जिस संघ का था वह अपने ही संघ के मुनिजनों को महत्त्व देकर अन्यों की उपेक्षा कर सकता है। जैसे—हरिवंशपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद), रविषेण, वीरसेन गुरु और पार्श्वाभ्युदय के कर्ता जिनसेनाचार्य आदि कितने ही आचार्यों का स्मरण किया है, किन्तु उन्होंने कुन्दकुन्द जैसे लब्धप्रतिष्ठ आचार्य का वहाँ स्मरण नहीं किया।[2] इसी प्रकार महापुराण के कर्ता जिन-सेनाचार्य ने भी उसके प्रारम्भ में सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रीदत्त, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटाचार्य, देवनन्दी और भट्टाकलंक आदि का स्मरण करके भी उन कुन्दकुन्दाचार्य का स्मरण नहीं किया।[3] आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में ग्रन्थान्तरों से सूत्र व गाथा आदि को उद्धृत करते हुए कहीं-कहीं गुणधर भट्टारक[4] गृद्धपिच्छाचार्य[5] समन्तभद्र[6] स्वामी, यतिवृषभ[7], पूज्य-पाद[8] और प्रभाचन्द्र[9] भट्टारक आदि का उल्लेख किया है, किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य विरचित पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की कुछ गाथाओं को धवला में उद्धृत करते हुए भी आ० कुन्द-कुन्द का कहीं उल्लेख नहीं किया। इसका कारण संघभेद या विचारभेद ही हो सकता है।

धरसेनाचार्य व योनिप्राभृत

षट्खण्डागम के अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वार में केवलज्ञानावरणीय के प्रसंग में कहा गया है कि स्वयं उत्पन्न ज्ञान-दर्शी भगवान् केवली देव, असुर व मानुष लोक की आगति एवं गति आदि, सब जीवों और सब भावों को जानते हैं।[10]

---

१. अहिवल्ली माघणंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अडवीसी इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ।। १६।।
इगसय अठारवासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा। १७ पू०

२. ह० पु० १, २६-४०

३. म० पु० १,

४. धवला पु० १२, पृ० २३२

५. वही, पु० ४, पृ० ३१६

६. वही, पु० ६, पृ० १६७

७. वही, पु० १. पृ० ३०२ व पु० १२, पृ० १३२

८. वही, पु० ६, पृ० १६५-१६७

९. वही, पु० ६, पृ० १६६

१०. सूत्र ५,५,८२ (पु० १३ पृ० ३४९)

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वीरसेन स्वामी ने धवला में प्रसंग-प्राप्त अनुभाग को जीवानुभाग व पुद्गलानुभाग आदि के भेद से छह प्रकार का निर्दिष्ट किया है। उनमें पुद्गलानुभाग के स्वरूप को दिखलाते हुए उन्होंने कहा है कि ज्वर, कोढ़ और क्षय आदि का विनाश करना व उन्हें उत्पन्न करना; इसका नाम पुद्गलानुभाग है। इसके निष्कर्षस्वरूप उन्होंने आगे यह कहा है कि योनिप्राभृत में निर्दिष्ट मंत्र-तंत्र शक्तियों को पुद्गलानुभाग ग्रहण करना चाहिए।[1]

स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस ग्रन्थ का परिचय कराते हुए लिखा है कि ८०० श्लोक-प्रमाण यह ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध है। विषय उसका मंत्र-तंत्रवाद है। वि० संवत् १५५६ में लिखी गयी बृहट्टिप्पणिका नाम की ग्रन्थसूची के अनुसार, यह वीरनिर्वाण से ६०० वर्ष के पश्चात् धरसेन के द्वारा रचा गया है। इस ग्रन्थ की एक प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना में है, जिसे देखकर पं० बेचरदासजी ने जो नोट्स लिये थे उन्हीं के आधार से मुख्तार सा० द्वारा वह परिचय कराया गया है। इस प्रति में ग्रन्थ का नाम तो योनिप्राभृत ही है, पर कर्ता का नाम पण्हसवण मुनि देखा जाता है। उक्त पण्हसवण मुनि ने उसे कुष्माण्डिनी महादेवी से प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त व भूतबलि के लिए लिखा था।[2]

इन दो नामों के निर्देश से उसके धरसेनाचार्य के द्वारा रचे जाने की सम्भावना अधिक है। प्रति में जो कर्ता का नाम पण्हसवण दिखलाया गया है वह वस्तुतः नाम नहीं है। 'पण्हसवण'[3] (प्रज्ञाश्रवण) उन मुनियों को कहा जाता है जो औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की प्रज्ञा के धारक होते हैं। अतः 'पण्हसवण' यह धरसेनाचार्य का बोधक हो सकता है।

पीछे ग्रन्थकर्ता के प्रसंग में यह कहा ही जा चुका है कि जब पुष्पदन्त और भूतबलि धरसेन भट्टारक के पास पहुँचे थे तब उन्होंने परीक्षणार्थ उन दोनों के लिए हीन-अधिक अक्षरों वाली दो विद्याएँ दी थीं व उन्हें विधिपूर्वक सिद्ध करने के लिए कहा था। तदनुसार उन विद्याओं के सिद्ध करने पर जब उनके सामने विकृत रूप में दो देवियाँ उपस्थित हुईं तब उन दोनों ने अपने-अपने अशुद्ध मंत्र को शुद्ध करके पुनः जपा था।

इस घटना से यह स्पष्ट है कि धरसेन भट्टारक तथा पुष्पदन्त और भूतबलि तीनों ही मंत्र-तंत्र के पारंगत थे। और जैसा कि धवला में कहा गया है, वह योनिप्राभृत ग्रंथ मंत्र-तंत्र का ही प्ररूपक रहा है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर सूचित किया गया है, यह ग्रंथ पण्हसवण मुनिको कुष्माण्डिनी देवी से प्राप्त हुआ था और उन्होंने उसे अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा था, ये दोनों धरसेनाचार्य के शिष्य रहे हैं, यह स्पष्ट ही है। अतः पण्हसवण मुनि धरसेनाचार्य ही हो सकते हैं और सम्भवतः उन्हीं के द्वारा वह लिखा गया है।

पूर्वोल्लिखित नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार, आ० धरसेन का काल वीर-निर्वाण से ६२+१००+१८३+१२३+९७+२८+२१=६१४ वर्ष के पश्चात् पड़ता

---

१. धवला पु० १३, पृ० ३४९

२. देखिए अनेकान्त वर्ष २, कि० ९ (१-७-१९३९), पृ० ४८५-९० पर 'प्रकाशित योनिप्राभृत और जगत्सुन्दरी योगमाला' शीर्षक लेख

३. 'पण्हसवण' (प्रज्ञाश्रवण) के स्वरूप के लिए देखिए धवला पु० ९, पृ० ८१-८४।

है। उधर वृहट्टिप्पणिका में वीर निर्वाण से ६०० वर्ष के पश्चात् उस योनिप्राभृत के रचे जाने की सूचना की गई है। इस प्रकार वह धरसेनाचार्य के द्वारा पट्टकाल से १४ वर्ष पूर्व लिखा जा सकता है। इस प्रकार प्रा० पट्टावली और उस वृहट्टिप्पणिका में कुछ विरोध भी नहीं रहता। इससे इन दोनों की प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है।

ग्रन्थ की भाषा

प्रस्तुत षट्खण्डागम की भाषा शौरसेनी है। प्राचीन समय में मथुरा के आस-पास के प्रदेश को शूरसेन कहा जाता था। इस प्रदेश की भाषा होने के कारण उसे शौरसेनी कहा गया है। व्याकरण में उसके जिन लक्षणों का निर्देश किया गया है वे सब प्रस्तुत षट्खण्डागम और प्रवचनसार आदि अन्य दि० ग्रन्थों की भाषा में नहीं पाये जाते, इसी से उसे जैन शौरसेनी कहा गया है। प्रवचनसार व तिलोयपण्णत्ती आदि प्राचीन दि० ग्रन्थों की प्राय: यही भाषा रही है। उसका शुद्ध रूप संस्कृत नाटकों में पात्र विशेष के द्वारा बोली जाने वाली प्राकृत में कहीं-कहीं देखा जाता है।

षट्खण्डागम के मूल सूत्रों की भाषा में जो शौरसेनी के विशेष लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें कुछ सीमा तक यहाँ उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया जाता है—

१. शौरसेनी में सर्वत्र श, ष और स इन तीनों के स्थान में एक स का ही उपयोग हुआ है।

षट्खण्डागम में भी सर्वत्र उन तीनों वर्णों के स्थान में एक मात्र स ही पाया जाता है, श और ष वहाँ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

२. शौरसेनी में प्रथमा विभक्ति के एक वचन के अन्त में 'ओ' होता है, जो षट्खण्डागम में प्राय: सर्वत्र देखा जाता है। जैसे—

जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो णिद्देसो (सूत्र ३-१)[1]। यहाँ जो सो आदि सभी पद प्रथमान्त व एकवचन में उपयुक्त हैं और उनके अन्त में 'ओ' का उपयोग हुआ है।

३. शौरसेनी में शब्द के मध्यगत त के स्थान में द, थ के स्थान में ध (प्रा० शब्दानुशासन ३।२।१) और क्वचित् भ के स्थान में ह होता है। ष० ख० में इनके उदाहरण—

त = द—वीतराग = वीदराग (१,४,१७३)।
संयतासंयत = संजदासंजद (१,१,१३)।
थ = ध—पृथक्त्वेन = पुधत्तेण (२,२,१५)।
ग्रन्थकृति = गंथकदी (४,१,४६)।
भ = ह—वेदनाभिभूत = वेयणाहिभूद (१,६-६,१२)।
आभिनिबोधिक = आहिणिबोहिय (१,६-६,२१६)।

---

१. यहाँ जो अंक दिये जा रहे हैं उनमें प्रथम अंक खण्ड का, दूसरा अंक अनुयोगद्वार का और तीसरा अंक सूत्र का सूचक है। जहाँ चार अंक हैं वहाँ प्रथम अंक खण्ड का, दूसरा अंक अनुयोगद्वार का, तीसरा अंक अवान्तर अनुयोगद्वार का और चौथा अंक सूत्र का सूचक है। ६-१ व ६-२ आदि अंक प्रथम खण्ड की नौ चूलिकाओं में प्रथम-द्वितीयादि चूलिका के सूचक हैं।

प्राभृतः=पाहुडो (४,१,४५ व ६३ तथा ५,५,४६)।
विभंग=विहंग (५,६,१६)।
विभाषा=विहासा (१,६-१,२)।

४. शौरसेनी में पूर्वकालिक क्रिया में क्त्वा के स्थान में त्ता और दूण होता है। (प्रा० श० ३।२।१०)। ष० ख० में इनके उदाहरण हैं—

त्ता—समुत्पादयित्वा=समुप्पादइत्ता (४,२,४,१०६)।
उपशामयित्वा=उपसामइत्ता (४,२,४,१०२)।
अनुपालयित्वा=अणुपालइत्ता (४,२,४,७१ व १०२ तथा ५,६,४६७)।
विहृत्य=विहरित्ता (४,२,४,१०७)।

दूण—कृत्वा=कादूण (४,२,४,७० व १०१ तथा ४,२,५,११)।
भूत्वा=होदूण (१,६-६,२१६, २२०, २२६, २३३, २४० व २४३ आदि)।
संसृत्य=संसरिदूण (४,२,४,७१ व १०२)।

५. शौरसेनी में क्वचित् र के स्थान में ल भी देखा जाता है। उसके उदाहरण—

र=ल—उदार=ओराल (५,६,२३७)।
औदारिक=ओरालिय (५,६,२३७)।
हारिद्र=हालिद्द (१,६-१,३७)।
रूक्ष=लुक्ख (१,६-१,४० व ५,५,३२-३६)।

६. जैन शौरसेनी कही जाने वाली शौरसेनी के कुछ ऐसे लक्षण हैं जो प्रस्तुत षट्खण्डागम में पाये जाते हैं। जैसे—

ऋ=अ—मृदु=मउव (१,६-१,४०) (प्रा० श० १,२,७३)।
अन्तकृत=अंतयड (१,६-६,२१६ व २२०, २२६, २३३, २४३)।
कृत=कद (५,५,६८)
दृष्ट्वा=दट्ठूण (१,६-६,२२,४०)।

ऋ=इ—ऋद्धि=इड्ढि (५,५,६८)। प्रा० १।२।७५
ऋद्धिप्राप्त=इड्ढिपत्त (१,१,५६)।
मिथ्यादृष्टि=मिच्छाइट्ठी (१,१,६ व ११)।
सम्यग्दृष्टि=सम्माइट्ठी (१,१,१० व १२)।
मृग=मिय (५,५,१५७)।

ऋ=उ—पृथिवी=पुढवी (१,१,३६ व ४०)। प्रा० १।२।८०
ऋजुमति=उजुमदि (५,५,७७-७८)।
ऋजुक=उज्जुग (५,५,८६)।
वृद्धिः=वुड्ढी (५,५,६६)।
अतिवृष्टि-अनावृष्टि=अइवुट्ठि-अणावुट्ठि (५,५,७६ व ८८)।

ऋ=ओ—मृषा=मोस (१,१,४६—५३ व ५५)। १।२।८५

ऋ=रि—ऋषेः=रिसिस्स (४,१,४४)। १-२-८६
ऋण=रिण (४,१,६६ धवला)।

७. त्रिविक्रम प्रा० शा० सूत्र १,३,८ के अनुसार क, ग, च, ज, त, द, प, य और व

अक्षर यदि असंयुक्त हों और आदि में नहीं हों तो विकल्प से उनका लोप होता है। ष० ख० में उनके कुछ उदाहरण—

क-लोप—सर्वलोके=सव्वलोए (१,३,७)।
प्रासुक=पासुअ (३-४१)।
एकः=एओ (४,१,६६)।
लोके=लोए (१,१,१ तथा ४,१,४३)।
एकेन्द्रियाः=एइंदिया (१,१,३३)।

ग-लोप—प्रयोगकर्म=पओअकम्म (५,४,४ व १५,१६)।
त्रिभागे=तिभाए, तिभागे (५,६,६,४४)।
प्रयोगबन्धः=पओअवंधो (५,६,२७ व ३८)।

च-लोप—अप्रचुराः=अपउरा (५,६,१२७)।

ज-लोप—मनुजलोके=मणुअलोए (५,५,६४)।

त-लोप—गति=गइ (१,१,२ व २,१,२)।
चतुःस्थानेषु=चउट्ठाणेसु (१,१,२५)।
चतुर्विधम्=चउव्विहं (१,९-१,४१ व ५,५,१३१)।
तिर्यग्गतौ=तिरिक्खगईए १,२,२४)।
मनुष्यगतौ=मणुसगईए (१,२,४०)।
वनस्पति=वणप्फइ (१,१,३९ व ४१)।

द-लोप—मृदुकनाम=मउअणाम (१,९-१,४० व ५,५,१३०)।

प-लोप—विपुल=विउल (४,१,११ तथा ५,५,७७; ८६ व ९४)।

य-लोप—कषायी=कसाई (१,१,१११-१३)।
क्षायिक=खइय (१,१,१४४-४५)।
वायु=वाउ (१,१,३९-४०)।
सामायिक=सामाइय (१,१,१२३ व १२५)।
आयुः=आउअं (१,९-१,९)।
आयुषः=आउगस्स (१,९-१, २५)।
आयुषः=आउअस्स (५,५,११४ व ११५)।
प्रयोगबन्धः=पओअवंधो (५,६,२७ व ३८)।
अनुयोगद्वाराणि=अणिओगद्दाराणि (४,२,५,१ व ५,६,७०)।
समये=समए (४,१,६७)।

८. ऊपर जिन क, ग आदि वर्णों का विकल्प से लोप दिखाया गया है उनका लोप होने पर जो अ-वर्ण शेष रह जाता है वह त्रि० प्रा० शा० सूत्र १,३,१० के अनुसार क्वचित् य श्रुति से युक्त देखा जाता है। ष० ख० में उदाहरण—

क-लोप में—तीर्थंकर=तित्थयर (१,९-१,२८; १,९-९,२१६ व ३-३७,३९,४०,४१)।
साम्परायिक=सांपराइय (१,१,१७ व १८ तथा १,२,१५१)।
पृथिवीकायिक=पुढविकाइय (१,१,३९ व ४०)।
सामायिक=सामाइय (१,१,१२५ तथा १,२,७९)।

अनेकविधा = अणेयविहा (४,१,७१)।

ग-लोप में—नगर = णयर (५,५,७६ व ८७)।

भगवान् = भयवं (५,५,६८)।

वीतरागाणां = वीयरायाणं (५,४,२४)।

च-लोप में—प्रचलाप्रचला = पयलापयला (१,६-१, १६ तथा ५,५,१०१)।

प्रवचन = पवयण (३-४१ व ५,५,५१)।

वाचना = वायणा (४,१,५५ व ५,५,१३ तथा ५,६,१२ व २५)।

आचारधर = आयारधर (५,६,१६)।

ज-लोप में—भाजन = भायण (५,५,१८)।

त-लोप में—वीतराग = वीयराग (१,१,१६ व २०)।

द-लोप में—वेदना = वेयणा (१,६-६,१२ तथा ४,२,१ व ३, व ७-८ आदि)।

व-लोप में—परिवर्तना = परियट्टणा (४,१,५५;५,५१३;५,५,१५६;५,६,१२ व २५)।

लोप के अभाव में

क—भावकलंक = भावकलंक (५,६,१२७)।

एकः = एक्को (१,२,६ व ११)।

ग—सयोग = सजोग (१,१,२१)।

अयोग = अजोग (१,१,२२)।

योगस्थान = जोगट्ठाण (४,२,४,१२ व १६)।

योगेन = जोगेण (४,२,४,१७ व २२)।

योगे = जोगे (४,२,४,३६)।

च—विचयः = विचओ (३-१)।

विचयस्य = विचयस्स (३-२)।

वचनयोगी = वचिजोगी (१,१,४७ व ५२-५५)।

वचनवलिभ्यः = वचिवलीणं (४,१,३६)।

वचनप्रयोगकर्म = वचिपओअकम्मं (५,४,१६)।

जलचरेषु = जलचरेसु (४,२,४,३६ व ३६)।

ज—परिजित = परिजित (४,१,५४; ५,५,१५६ व ५,६,२५)।

विजय-वैजयन्त = विजय-वइजयंत (१,१.१००)।

त—अवितथ = अवितथ (५,५,५१)।

लोकोत्तरीय = लोगुत्तरीय (५,५,५१)।

द—वेदक = वेदग (१,१,१४४ व १४६)।

अदत्तादान = अदत्तादाण (४,२,८,४)।

उदयेन = उदएण (२,१,८१)।

औदयिकेन = ओदइएण (२,१,८५ व ८६)।

सूत्रोदकादीनाम् = सुत्तोदयादीणं (४,१,७१)।

प—द्रव्यप्रमाणेन = दव्वपमाणेण (१,२,२, व ७-६ आदि)।

प—विनयसम्पन्नता=विणयसंपण्णदा (३-४१)।
संवेगसम्पन्नता=संवेगसंपण्णदा (३-४१)।
उपसंपत्सांनिध्ये=उवसंपदसण्णिज्झे (४,१,७१)।
भवप्रत्ययिक—भवपच्चइय (५,५,५४ व ५७)।
य—आयामः=आयामो (१,२,२२)।
नयविधिः=णयविधी (५,५,५१)।
हीयमानकं=हीयमाणयं (५,५,५७)।
व—नयवादः=णयवादो (५,५,५१)।
प्रवरवादः=पवरवादो (५,५,५१)।
दिवसान्तः=दिवसंतो (५,५,६३)।
व—वंधाध्यवसान=वंधज्झवसाण (४,२,७,२७६ आदि)।
भवग्रहणे=भवग्गहणे (४,२,४,२१)।

जैन शौरसेनी के अनुसार षट्खण्डागम की भाषागत कुछ अन्य विशेषताएँ—

क=ग—लोकाः=लोगा (१,२,४)।
क=ख—कुब्ज=खुज्ज (१,६-१,३४ व ५,५,१२४)।
कीलित=खीलिय (१,६-१,३६ व ५,५,१२६)।
ख=ह—सुख=सुह (५,५,७६)।
घ=ह—जघन्या=जहण्णा (४,२,४,२ व ३)।
मेघानाम्=मेहाणं (५,६,३७)।
थ=ह—ईर्यापथ=ईरियावह (५,४,४ व २३-२४)।
यथा=जहा (१,१,३)।
रथानाम् रहाणं (५,६,४१)।
ध=ह—साधुभ्यः=साहूणं (१,१,१ व ३-४१)।
समाधि=समाहि (३-४१)।
अनेकविधा=अणेयविहा (५,५,१७)।
भ=ह—शुभनाम सुहणाम (१,६-१,२८)।
शुभाशुभ=सुहासुह (५,५,११७)।
प्राभृतः=पाहुडो (४,१,४५)।
ठ=ढ—पिठर=पिढर (५,५,१८)।
ट=ड—घट=घड (५,५,१८)।
त=ड—प्रतीच्छना=पडिच्छणा (४,१,५५;५,५,१३ व १५६ तथा ५,६,१२ व २५)।
प्रतिपत्ति=पडिवत्ति (५,५,४६)।
प्रतिपाती=पडिवादी (५,५,७५)।
प्रतिसेवित=पडिसेविद (५,५,६८)।
त=ह—भरते=भरहे (५,५,६४)।
द=र—पञ्चदश=पण्णारस (१,६-६, ७ व ८)।
औदारिक=ओरालिय (१,१,५६)।

थ = ढ—पृथिवीकायिका = पुढविकाइया (१,१,३९-४०)।
थ = ह—नाथधर्म = णाहधम्म (५,६,१९)।
न = ण—मानकषायी = माणकसाई (१,१,१११ व ११२)।
कनकानाम् = कणयाणं (५,६,३७)।
न = ण—नमः = णमो (१,१,१ व ४,१,१-४४)। (शब्द के आदि में)
ज्ञानी = णाणी (१,१,११५)।
नाम = णाम (१,९-१,१०)।
नाम्नः = णामस्स (१,९-१, २७ व ५,५,११६)।
निर्देशः = णिद्देसो (१,१,८ व १,२,१)।
नयः = णओ (४,१,४७ व ४,२,१)।
प = व—उपशमाः = उवसमा (१,१,१६ व १८)।
क्षपकाः = खवा (१,१,१६ व १८)।
उपपादेन = उववादेण (२,६,१ व ६,८,१३ आदि)।
अपगतवेदाः = अवगदवेदा (१,१,१०१ व १०४)।
य = ज—संयताः = संजदा (१,१,१२३ व १२४ आदि)।
संयोगावरणार्थम् = संजोगावरणट्ठं (५,५,४६)।
यशःकीर्ति = जसकित्ति (१,९-१, २८ व ५,५,११७)।
र = ल—हरिद्रा = हालिद्द (१,९-१,३७ व ५,५,१२७)।
श = स—शलाका = सलाग (४,१,७१)।
शिविकानाम् = सिवियाणं (५,६,४१)।
ष = स—कषायी = कसाई (१,१,१११-१४)।
संश्लेष = संसिलेस (५,६,४०)।
विष = विस (५,३,३०)।
ष = छ—षट्षष्ठी = छावट्ठि (१,६,४)।
षण्मासाः = छम्मासं (१,६,१७)।
षट्स्थान = छट्ठाण (४,२,७,१९८)।
अधस् = हेट्ठ—अधःस्थान = हेट्ठट्ठाण (४,२,७,१९८)। प्रा० शब्दानुशासन १।३।९८
अर्थ = अट्ठ—अर्थाधिकाराः = अट्ठहियारा (४,१,५४)। (१।४।१५)
वहिस् = वाहिर—वाह्यं = वाहिरं (५,४,२६)। प्रा० श० १।३।१०१।
स्तोक = थोव—स्तोकाः = थोवा (१,८,२ व १५,२१,२५ आदि)।
प्रा० श० १।३।१०५
कर्कश = कक्खड—कर्कशनाम् = कक्खडणामं (१,९-१, ४० व ५,५,१३०)।
कर्कशस्पर्शः = कक्खडफासो (५,३,२४)।
स्त्यान = थीण—स्त्यानगृद्धिः = थीणगिद्धी (१,९-१,१६ व ५,५,१०१)। १।४।१३
क्ष = ख—क्षायिकः = खइओ (१,७,५)।
क्षायोपशमिकः = खओवसमिओ (१,७,४-५)।

क्ष=ख—क्षण=खण (५,५,६०)।
क्षीण=खीण (१,१,२० व ५,६,१८)।
ष्ट=ठ—दृष्टिः=इट्ठी (१,१,९-१२ व १,२,२)। १।४।१४
अष्ट=अट्ठ (१,४,४ व ६ तथा १,९-९,२७)।
त्य=च—अमात्य=अमच्च (१,१,१ उद्० गा० ३८)। १।४।१७
सत्य=सच्च (१,१,४९-५५)।
प्रत्यय=पच्चय (४,२,८,१-९)।
परित्याग=परिचाग (३-४१)।
त्स=छ—मत्स्यः=मच्छो (४,२,५,८)। १।४।२३
ध्य=झ—उपाध्यायेभ्यः=उवज्झायाणं (१,१,१)।
ध्यान=झाण (१,१,१७ ध० उद्० गा० १२०)। १।४।२६
संध्या=संझा (५,६,३७)।
द्य=ज—उद्योत=उज्जोव (१,९-१,२८ व ५,५,१-१७)। १।४।२४
विद्युतां=विज्जणं (५,६,३७)।
र्य=ज—पर्याप्ताः=पज्जत्ता (१,१,३४ व ३५)। १।४।२४
पर्याप्तयः=पज्जत्तीओ (१,१,७० व ७२,७४)।
मनःपर्यय=मणपज्जव (१,१,११५)।
र्त=ट—उद्वर्तित=उव्वट्टिद (१,९-९,७६ तथा ८७,९३ आदि)। १।४।३०
त्त=ट—पत्तण=पट्टुण (५,५,७९ व ८८)। १।४।३१
र्ध=ढ—अर्धतृतीयेषु=अड्ढाइज्जेसु (१,९-८,११)। १।४।३४
द्ध=ढ—ऋद्धि=इड्ढि (५,५,९८)। १।४।३४
ऋद्धिप्राप्तानां=इड्ढिपत्ताणं (१,१,५९)।
परिवृद्ध्या=परिवड्ढीए (४,२,७,२०४-१४)। १।४।३५
ञ्च=ण—पञ्चदश=पण्णारस (१,९-६,७-८)। १।४।३६
ज्ञ=ण—ज्ञानं=णाणं (१,९-९,२०५ व २०८,२१२ व २१६ आदि)। १।४।३७
संज्ञी=सण्णी (१,१,१७२ व १७३)।
संज्ञा=सण्णा (५,५,४१ व ७९,८८)।
स्त=थ—स्तव=थय (४,१,५५ तथा ५,५,१३ व ५,५, १५६)। १।४।३८
स्तुति=थुदि (४,१,५५ तथा ५,५,१३ व ५,५,१५६)। १।४।४०
ग्म=म—युग्म=जुम्म (४,२,७,१९८ व २०३)। १।४।४७
ह्व=भ—जिह्वेन्द्रिय=जिब्भिंदिय (५,५,२६ व २८,३०,३२,३४ आदि)। १।४।५१
(एक में) क=क्क—एको=एक्को (१,२,९ व ११)। २।१।२०

'भव' के अर्थ में नाम के आगे 'इल्ल' होता है। ष० ख० में उदाहरण—
अधस्तनीनां=हेट्ठिल्लीणं (४,२,४,११ व १८ तथा ५,६,१०१)। २।१।१७
उपरितनीनां=उवरिल्लीणं (४,२,४,११ व १८ तथा ५,६,९९ व १०१)।
वाह्ये=वाहिरिल्लए (४,३,५ व ८)।
मध्यमे=मज्झिल्ले (५,६,६४४)।

त्वा=ऊण—श्रुत्वा=सोऊण (१,९-९,८ व २७,३०,३७ व ३९ आदि)। २।१।२६
कृत्वा=कादूण (४,२,५,११)।
कृत्वा=काऊण (४,२,१४,४५)।
संसृत्य=संसरिदूण (४,२,४,१४ व २१)।

'दक्षिण' शब्द में अ वर्ण दीर्घ और 'क्ष' के स्थान में ह होता है। ष० खं० में—
प्रदक्षिणं=पदाहीणं (५,४,२८)। १।२।६

'आचार्य' शब्द में चकारवर्ती आकार ह्रस्व व इकार भी होता है। ष० खं० में—
आचार्येभ्यः=आइरियाणं (१,१,१)। १।२।३५

'वृष्टि' आदि शब्दों में ऋ के स्थान में इ, उ होते हैं। जैसे ष० खं० में—
वृष्टिः=वुट्ठि (५,५,७६ व ८८)। १।२।८३

'मृषा' शब्द में ऋ के स्थान में उ, ओ और ई होता है। ष० खं० में ओ का उदाहरण—
मृषा=मोस (१,१,४६-५२)। १।२।८५

कुछ अन्य संयुक्त व्यंजनों में—
क्त=त्त—तिक्त=तित्त (१,९-१,३६)।
युक्तं=युत्तं (५,५,६८)।
क्र=क्क—शक्रैशानाः=सक्कीसाणा (५,५,७०)।
चक्र=चक्क (४,१,७१)।
क्ल=क्क—शुक्ल=सुक्क (१,१,१३६)।
ग्र=ग—ग्रन्थ=गंध (४,१,४६; गंथ ४,१,५४ व ६७)।
ग्र=ग्ग—विग्रह=विग्गह (१,१,६० व ४,२,५११)।
त्त्व=च्च—तत्त्वं=तच्चं (५,५,५१)।
त्य=च—त्यक्त=चत्त (४,३,६३)।
त्व=त—त्वक्=तय (५,३,४ व २०)।
त्र=त्त—क्षेत्रे=खेत्ते (१,३,२,व ५,७,६)।
त्र=त्थ—तत्र=तत्थ (१,१,२ तथा ४,२,१,१ व ४,२,४,१)।
थ्य=च्छ—मिथ्यात्वं=मिच्छत्तं (१,९-१,२१ व ५,५,१०६)।
द्य=ज्ज—उद्योत=उज्जोव (१,९-१,२१ व ५,५,११७)।
द्ध=ज्झ—विशुद्धता=विसुज्झदा (३-४१)।
द्वि=दु—द्विपद=दुवय (५,५,१५७)।
ध्ययन=ज्झेण—उपासकाध्ययन=उवासयज्झेण (५,६,१६)।
ध्य=झ—सिद्ध्यन्ति बुध्यन्ते=सिज्झंति बुज्झंति (१,९-९,२१६ व २२०,२२६,२३३)
र्क=क्क—तर्क=तक्कं (५,५,६८)।
र्क=क्ख—कर्कश=कक्खड (१,९-१, ४० व ५,५,१३०)।
र्ग=ग्ग—वग्ग (१,२,५५ व ५६,६३,६८)।
र्घ=ह—दीर्घः=दीहे (४,१,४५)।
र्च=च्च—अर्चनीयाः=अच्चणिज्जा (३-४२)।

र्ज=ज्ज—वर्जयित्वा=वज्ज (१,६-२,१४ व २३,२६,२६,३२,३५ आदि)।
र्ण=ण्ण—वर्ण=वण्ण (१,६-१,२८ व ३७ तथा ५,५,११७ व १२७)।
चूर्ण=चुण्ण (२,१,६५)। प्रा० श० १।२।४० स्वर ह्रस्व
उदीर्णा=उदिण्णा (४,२,१०,४ व ६,११ आदि)।
र्त=ट्ट—परिवर्त=परियट्टं (१,५,४)।
परिवर्तना=परियट्टणा (४,१,५५ तथा ५,५,१३)।
र्त=त्त—परिवर्तमान=परियत्तमाण (४,२,७,३२)।
र्ध=ड्ढ—वर्धमान=वड्ढमाण (४,१,४४)।
र्प=प्प—तर्पणादीनां=तप्पणादीणं (५,५,१८)।
र्भ=ब्भ—गर्भोपक्रान्तिकेषु=गब्भोवक्कंतिएसु (१,६-६,१७ तथा १८ व २५ आदि)।
दर्भेण=दब्भेण (५,६,४१)।
दुर्भिक्षं=दुब्भिक्खं (५,५,७६ व ८८)।
र्म=म्म—कर्म=कम्म (१,६-१,१ व २०-२४)।
धर्म=धम्म (४,१,५५ तथा ५,५,१३ व १५६)।
र्य=ज्ज—पर्याप्ताः=पज्जत्ता (१,१,३४ व ३५)।
र्ल=ल्ल—निर्लेपन=णिल्लेवण (५,६,६५२-५३)।
र्व=व्व—पूर्व-पर्व=पुव्व-पव्व (५,५,६०)।
र्ष=स्स—वर्ष=वस्स (२,२,२)।
व्य=व्व—कर्तव्यः=कादव्वो (१,६-४,१ व १,६-५,१ तथा ५,६,६४३ कायव्वो)
ज्ञातव्यानि=णायादव्वाणि (५,६,६६)।
श्न=ण्ण—प्रश्नव्याकरण=पण्णवागरण (५,६,१६)।
ष्ट=ट्ठ—दृष्टयः=दिट्ठी (१,१,६-१२)।
ष्ण=ण्ह—कृष्ण=किण्ह (१,१,१३६ व १३७ तथा १,२,१६२ व १,३,७२)।
स्क=ख—स्कन्ध=खंध (५,६,६७ व १०४)।
स्त=थ—स्तव-स्तुति=थय-थुदि (४,१,५५ व ५,५,१३)।
स्थ=ठ—स्थान=ठाण (१,६-२,१,५,७,६ आदि)।
स्थापनाकृतिः=ठवणकदी (४,१,४६ व ५२)।
स्न=ण—स्निग्ध=णिद्ध (१,६-१,४० व ५,६,३२-३६)।
स्प=प—स्पर्श=पास (१,६-१,४०)।
स्प=फ—स्पर्श=फास (५,३,१-५ व ६-३३)।
स्प=फो—स्पर्शनानुगमेन=फोसणाणुगमेण (१,४,१)।
स्पृष्टं=फोसिदं (१,४,२ व ३,५,७,६ आदि)।
स्मृ=स—स्मृतिः=सदी (५,५,४१)।
ह्म=म्ह—ब्रह्म=बम्ह (५,५,७०)।
ह्व=ब्भ—जिह्वेन्द्रिय=जिब्भिदिय (५,५,२६ व २७,३०,३२ एवं ३४)।
१. कर्ता कारक (प्रथमा) के एकवचन के अन्त में क्वचित् 'ए' देखा गया है। जैसे—
'इंदिए, काए जोगे' इत्यादि (१,१,१ व २,१,२)।

'वेयणाए पस्से कम्मे' इत्यादि (४,१,४५)।

२. कर्मकारक में कहीं बहुवचन के अन्त में 'ए' तथा स्त्रीलिंग में 'ओ' देखा गया है जैसे—
अत्थे (अर्थान्) जाणदि (५,५,७९ व ८८)।
को णओ के वंधे (कान् बन्धान्) इच्छदि (५,६,३)।
णेगम-ववहार-संगहा सव्वे वंधे (सर्वान् बन्धान्) (५,६,४)।
स्त्रीलिंग में—को णओ काओ कदीओ (का: कृती:) इच्छदि (४,१,४७)।
णेगम-ववहार-संगहा सव्वाओ (सर्वा:) (४,१,४८)।

३. तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'भिस्' के स्थान में 'हि' देखा जाता है। जैसे—
मिथ्यादृष्टिभिः = मिच्छादिट्ठीहि (१,४,२ तथा ११ व २०)।
संयतासंयतैः = संजदासंजदेहि (१,४,७)।
कतिभिः कारणैः = कदिहि कारणेहि (१,९-९,६ व १० आदि)।
त्रिभिः कारणैः = तीहि कारणेहि (१,९-९,७)।
द्विवचन में बहुवचन का ही उपयोग हुआ है जैसे—
समुद्घातोपपादाभ्यां = समुग्घाद-उववादेहि (२,७,१०)।

४. पंचमी विभक्ति में एक वचन के अन्त में 'आ' और 'दो' देखा जाता है। जैसे—
णियमात् = णियमा (१,१, ८३ तथा ८५ व ८८ एवं १,९-९,४३)।
नरकात् = णिरयादो (१,९-९,२०३ व २०६,२०९)।
द्रव्यतः = दव्वदो (४,२,४,२ व ६)।
क्षेत्रतः = खेत्तदो (४,२,५,३ व १२,१५,१९ आदि)।

५. षष्ठी बहुवचन के अन्त में कहीं पर (सर्वनाम पदो में) 'सिं' देखा जाता है। जैसे—
एषाम् = इमेसिं (१,१,२)।
एतेषाम् = एदेसिं (१,१,५; १,९-८,५ तथा २,१,१)।
तेषाम् = तेसिं (५,६,६५)।
परेषां = परेसिं (५,५,८८)।
एतासाम् = एदासिं (१,९-१,५ व ९,१२,१५,१८ आदि)।
अन्यत्र 'णं' या 'ण्हं' भी देखा जाता है। जैसे—
जीवसमासानां = जीवसमासाणं (१,१,५ व ३-४)।
प्रकृतीनां = पयडीणं (१,९-२,६४ व ६६, ६८ आदि)।
कर्मणां = कम्माणं (१,९-८,५)।
द्वयोः = दोण्हं (१,९-२,१८)।
चतुर्णां = चदुण्हं (१,५,१२ व १६)।
पञ्चानां = पंचण्हं (१,६,२-५)।
षण्णां = छण्हं (१,९-२,७ व ११)।
नवानां = नवण्हं (१,९-२,७)।
एक वचन में 'स्य' के स्थान में 'स्स' देखा जाता है। जैसे—
लोकस्य = लोगस्स (१,३,३-५)।

संयतासंयतस्य-संयतस्य = संजदासंजदस्स-संजदस्स (१,९-२,३ तथा ६,१३ व १९ आदि)।
वन्धमानस्य = वंधमाणस्स (१,९-२,५ व ९,१२ आदि)।
कर्मण: = कम्मस्स (१,९-२,४ व ७,१७,२० आदि)।
नाम्न: = नामस्स (१,९-२,४ व ७,२०,५० आदि)।
सर्वनाम स्त्रीलिंग में 'स्या:' के स्थान में 'स्से' देखा जाता है—
एकस्या: = एक्किस्से (१,९-२,१०८)।
एतस्या: = एदिस्से (१,९-२,१०८)।
अन्यत्र भिन्नरूपता—
प्रथमाया: पृथिव्या: = पढमाए पुढवीए (१,९-९,४८)।
द्वितीयाया: = विदियाए (१,९-९,४९)।

६. सप्तमी में एक वचन के अन्त में कहीं 'म्मि' और कहीं 'म्हि' देखा जाता है। जैसे—
एकस्मिन् = एक्कम्मि (१,१,३६ तथा ४३,१२९ व १४८-४९)।
एकस्मिन् = एक्कम्हि (१,१,६३ व १,९-२,५ एवं ९ व १२)।
कस्मिन् = कम्हि (१,९-८,११)।
कस्मिन्, यस्मिन्, तस्मिन् = कम्हि, जम्हि, तम्हि (१,९-८,११)।

७. स्वरों में 'ऐ' के स्थान में 'ए' और कहीं 'अइ' भी देखा जाता है। जैसे—
चैव = चेव (१,१,५)।
नैव = णेव (२,१,३९—वन्धक-अवन्धक; २,१,८६—स्वामित्व)।
नैगम = णेगम (४,१,५६ तथा ४,२,२,१ व ४,२,३,१)।
नैगम = णइगम (४,१,४८)।

८. 'औ' के स्थान में 'ओ' और क्वचित् 'उ' भी—
औदयिक: = ओदइओ (१,७,२)।
औपशमिक: = ओवसमिओ (१,७,८ व १३,१७,२५ आदि)।
आमर्षौषधि = आमोसहि (४,१,३०)।
औपशमिक: = उवसमिओ (१,७,५ व ८४)।
औपशमिकं = उवसमियं (१,७,८३ व ८५)।

९. 'अव' के स्थान में 'ओ' देखा जाता है—
अवग्रह: = ओग्गहे (५,५,३७)।
अवधि = ओहि (१,१,११५ व ११९ तथा ५,५,५२-५४)।
देशावधि: = देसोही (५,५,५७)।

१०. क्रियापदों का उपयोग षट्खण्डागम में कम ही हुआ है। जहाँ उनका उपयोग कुछ हुआ भी है वहाँ प्राय: परस्मैपद देखा जाता है। उनके उदाहरण—

'अस्ति' के स्थान में 'अत्थि' आदेश होता है। उसका प्रयोग एक व बहुवचन दोनों में समान रूप से हुआ है। जैसे—

पज्जत्ताणं अत्थि [विभंगणाणं]। १,१,११८ (एक वचन में)
सन्ति मिथ्यादृष्टय: = अत्थि मिच्छाइट्ठी (१,१,९)। प्रा० श० १।४।१०

नास्ति=णत्थि। इसका भी प्रयोग एक और बहुवचन दोनों में हुआ है। जैसे—

एक वचन में—णत्थि अंतरं (१,६,२ व ६,१६,२८,३५,३६ आदि)।

तित्थयरं णत्थि (३-८७)।

बहुवचन में—अबंधा णत्थि (३-४४ व ५६,७४,१०१,१४१,१४६ आदि)।

कुछ अन्य क्रियापदों के उदाहरण—

भवति=भवदि (१,६-४,१,१,६-५,१ तथा २,१,४ व ६,८,१०,१२,१४,१६, व १८ आदि)।

भवति=हवदि (धवला पु० ३, पृ० २४)।

भवति=होदि (२,२,१०८ तथा २,६,११ व १५,१८,२१,२४,२७,३०,३३,३६,३६ व ४२ तथा ५,६,१२३)।

भवति=हुवेदि (५,६,३६)

भवेत्=भवे (४,२,७,१७४ गा० ७ तथा ५,६,१२५)।

बंधदि, लब्भदि, लंभदि, करेदि (१,६-१,१); कस्सामो १,६-२,१); वण्णइस्सामो १,६-२,१ व १,६-६,२); कित्तइस्सामो (१,६-३,१); लहदि (१,६-८,१); लब्भदि (१,६-८,२ व ३); ठवेदि, उप्पादेदि (१,६-८,५); ओहट्टेदि (१,६-८,६); करेदि १,६-८,७); करेंति (१,६-८,१३० व १३७); उवसामेदि (१,६-८,८); आरभते, आढवेदि (१,६-८,११); णिट्ठवेदि १,६-८,१२); निर्यान्ति णींति (१,६-६,४४-४७ व ४६-५६,६१-७५); गच्छदि (४,२,४,१२ व १६,२६,५४); गच्छंति (१,६-६,१०१-१६ आदि); आगच्छंति (१,६-६,७६-८० आदि); उद्वर्तन्ते—उव्वट्टिति (१,६-६,८६ व १००,१८४); चयंति (१,६-६,१८४ व १८७); सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वाणयंति, परिविजाणंति (१,६-६, २१६ व २२०, २२६,२३३ २४०,२४३); इच्छदि (४,१,४७ व ४,२,२,१); इच्छंति (४,१,५०); बंधंति (४,२,६,१७५-८०); जाणदि (५,५,७६ व ८०,८६,८८,६८); पदुप्पादेदि (५,५,६१); पस्सादि (५,५,६८); विहरदि (५,५,६८); संभवदि (५,६,४३); वज्झंति (५,६,३४); मुंचंति (५,६,१२७); वक्कमंति (५,६,५,८१-८४); वुच्चदि (५,६,६४४)।

ष० खं० में वर्णविकार के कुछ अन्य उदाहरण—

अनुयोग=अणियोग (१,१,५)।

अप्=आउ (१,१,३६)।

तेजस्=तेउ (१,१,३६)।

औदारिक=ओरालिय (१,१,५६)।

वैक्रियिक=वेउव्विय (१,१,५६)।

कापोत=काउ (१,१,१३६)।

वज्र=वइर (१,६-१,३६)।

कियन्तः=केवडिया (१,३,२)।

पल्योपम=पलिदोपम (१,२,६)।

स्तोक=थोव (१,८,२)।

आरभन्=आढवेंतो (१,६-८,११)।

उत्पन्नाः=उववण्णल्लया (१,६-६,२०५)।
जातिस्मरणात्=जाइस्सरा (१,६-६,८)।
आमर्शौषधि=आमोसहि (४,१,३०)।
संनिकर्ष=सण्णियास (४,२,१,१)।
जागृत=जागार (४,२,६,८)।
स्यात्=सिया (४,२,६,२-३ आदि)।
स्त्री=इत्थी (१,१,१०१)।
पुरुष=पुरिस (१,१,१०१)।
द्रोणमुख=दोणामुह (५,५,७६)।
पुद्गल=पोग्गल (२,२,१२)।
मैथुन=मेहुण (४,२,८,५)।
पञ्चाशत्=पण्णासाए (४,२,६,१०८)।

षट्खण्डागम में उपर्युक्त भाषा के अन्तर्गत जो बहुत-से शब्दों में वर्णविकार देखा जाता है उसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

अनुयोग=अणियोग (१,१,५)।
नारक=णेरइय (१,१,२५)।
अप्=आउ (१,१,३६)।
तेजस्=तेउ (१,१,३६)।
मृषा=मोस (१,१,४६)।
औदारिक=ओरालिय
वैक्रियिक=वेउव्विय (१,१,५६)।
अर्धतृतीय=अड्ढाइज्ज (१,१,१६३)।
कापोत=काउ (१,१,१३६)।
पल्योपम=पलिदोवम (१,२,६)।
कियन्तः=केवडिया (१,२,२)।
कियत्=केवडियं (१,४,२)।
स्तोक=थोव (१,८,२)।
वज्र=वइर (१,६-१,३६)।
आरभन्=आढवेंतो (१,६-८,११)।
जातिस्मरणात्=जाइस्सरा (१,६-६,८)।
उत्पन्नाः=उववण्णल्लया (१,६-६,२०५)।
कर्कश=कक्खड (१,६-१,४०)।
आमर्शौषधि=आमोसहि (४,१,३०)।
संनिकर्ष=सण्णियास=(४,२,१,१)।
जागृत=जागार (४,२,६,८)।
स्यात्=सिया (४,२,६,२)।

विवेचन-पद्धति

प्रश्नोत्तर शैली

प्रस्तुत षट्खण्डागम में प्रतिपाद्य विषय का विवेचन प्रायः प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है। कहीं पर यदि एक सूत्र में विवक्षित विषय से सम्बद्ध प्रश्न को उठाकर उसका उत्तर दे दिया गया है तो कहीं पर एक सूत्र में प्रश्न को उठाकर आवश्यकतानुसार उसका उत्तर एक व अनेक सूत्रों में भी दिया गया है। जैसे—

१. जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में एक ही सूत्र (६) के द्वारा प्रश्नोत्तर के रूप में सासादन-सम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत पर्यन्त चार गुणस्थानवर्ती जीवों के द्रव्यप्रमाण का उल्लेख कर दिया गया है।

इसी प्रकार यहीं पर प्रश्नोत्तर के रूप में ही सूत्र ७ में प्रमत्तसंयतों और सूत्र ८ में अप्रमत्तसंयतों के द्रव्यप्रमाण को प्रकट किया गया है।

२. इसके पूर्व इसी द्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्र २ में मिथ्यादृष्टि जीवों के द्रव्यप्रमाण विषयक प्रश्न को उठाते हुए उसी सूत्र में उत्तर भी दे दिया गया है कि वे अनन्त हैं। आगे सूत्र ३ के द्वारा उनके प्रमाण को काल की अपेक्षा और सूत्र ४ के द्वारा क्षेत्र की अपेक्षा कहा गया है। अब रहा भाव की अपेक्षा उनका द्रव्यप्रमाण, सो उसके विषय में आगे के सूत्र ५ में यह कह दिया गया है कि द्रव्य, क्षेत्र और काल इन तीनों का जान लेना ही भाव प्रमाण है।

इसी प्रकार यह प्रश्नोत्तर शैली जीवस्थान के क्षेत्रानुगम आदि आगे के अनुयोगद्वारों में भी चालू रही है। विशेष इतना है कि प्रसंग के अनुरूप उसके प्रथम सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में और अन्तिम अल्पबहुत्वानुगम में उपर्युक्त प्रश्नोत्तर शैली को चालू नहीं रखा जा सका है।

आगे इस जीवस्थान खण्ड से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में से प्रथम आठ चूलिकाओं में भी यह प्रश्नोत्तर शैली अनावश्यक रही है। किन्तु अन्तिम गति-आगति चूलिका में गति-आगति आदि विषयक चर्चा उसी प्रश्नोत्तर शैली में की गई है।

द्वितीय खण्ड क्षुद्रकबन्ध में सर्व प्रथम सामान्य से बन्धक-अबन्धक जीवों का विचार करके उसके अन्तर्गत स्वामित्व आदि ११ अनुयोगद्वारों में चौथे 'नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय' और अन्तिम अल्पबहुत्वानुगम को छोड़कर शेष ६ अनुयोगद्वारों में विवक्षित विषय का विवेचन उसी प्रश्नोत्तर शैली में किया गया है।

इसी प्रकार 'बन्धस्वामित्वविचय' आदि आगे के खण्डों में कुछ अपवादों को छोड़कर तत्त्व का निरूपण उसी प्रश्नोत्तर शैली से किया गया है।

वेदना खण्ड के अन्तर्गत 'वेदनाद्रव्यविधान' अनुयोगद्वार में 'द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट

ज्ञानावरणीय वेदना किसके होती है' इस प्रश्न को उठाकर (सूत्र ४,२,४,६) उसका उत्तर गुणितकर्मांशिक के लक्षणों को प्रकट करते हुए २६ (७-३२) सूत्रों में पूरा किया गया है।

अनुयोगद्वारों का विभाग

विवक्षित विषय को सरल व सुबोध बनाने के लिए उसे जितने व जिन अनुयोगद्वारों में विभक्त करना आवश्यक प्रतीत हुआ उनका निर्देश प्रकरण के प्रारम्भ में कर दिया गया है। तत्पश्चात् उसी क्रम से प्रसंग प्राप्त विषय की प्ररूपणा की गई है। जैसे—प्रथम खण्ड जीव-स्थान के प्रारम्भ में सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश करके तदनुसार ही क्रम से जीवों के सत्त्व और द्रव्यप्रमाण आदि की प्ररूपणा की गई है।

ओघ-आदेश

उन अनुयोगद्वारों में भी जो क्रमशः प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा की गई है वह ओघ और आदेश के क्रम से की गई है। ओघ का अर्थ सामान्य या अभेद तथा आदेश का अर्थ विशेष अथवा भेद रहा है।[1]

अभिप्राय यह है कि विवक्षित विषय का विचार वहाँ प्रथमतः सामान्य से—गति-इन्द्रिय आदि की विशेषता से रहित मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों के आधार से—और तत्पश्चात् आदेश से—गति-इन्द्रिय आदि अवस्थाभेद के आश्रय से—प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा की गई है।[2] इस प्रकार से यह प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा का क्रम इतना सुव्यवस्थित, क्रमवद्ध और संगत रहा है कि यदि लिपिकार की असावधानी से कहीं कोई शब्द या वाक्य आदि लिखने से रह गया है तो वह पूर्वापर प्रसंगों के आश्रय से सहज ही पकड़ में आ जाता है। उदाहरण के रूप में, सत्प्ररूपणा (पु० १) के अन्तर्गत सूत्र ९३ में नागरी लिपि में लिखित कुछ प्रतियों में मनुष्यणियों से सम्बद्ध प्रमत्तादि संयत गुणस्थानों का बोधक 'संजद' शब्द लिखने से रह गया था। उसके सम्पादन के समय जब उस पर ध्यान गया तो आगे के द्रव्यप्रमाणानुगम आदि अन्य अनुयोगद्वारों में उन मनुष्यणियों के प्रसंग में यथास्थान उस 'संजद' शब्द के अस्तित्व को देखकर यह निश्चित प्रतीत हुआ कि यहाँ वह 'संजद' शब्द लिखने से रह गया है। बाद में मूडबिद्री में सुरक्षित कानड़ी लिपि में ताड़पत्रों पर लिखित प्रतियों से उसका मिलान कराने से उसकी पुष्टि भी हो गई।[3]

चूलिका

सूत्रों में निर्दिष्ट और उनके द्वारा सूचित तत्त्व की प्ररूपणा यदि उन अनुयोगद्वारों में

---

१. ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः, अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति।
—धवला पु० १, पृ० १६०

२. देखिए सूत्र १,१,८-९ (पु० १); सूत्र १,२,१-२ (पु० ३); सूत्र १,३,१-२, सूत्र १,४, १-२ व सूत्र १,५, १-२ (पु० ४); सूत्र १,६,१-२, सूत्र १,७,१-२ व सूत्र १, ८, १-२ (पु० ५)।

३. विशेष जानकारी के लिए देखिए पु० ७ की प्रस्तावना पृ० १-४

सांगोपांग कही नहीं की जा सकी है तो उसकी पूर्ति के लिए अन्त में आवश्यकतानुसार चूलिका नामक प्रकरण योजित किये गये हैं। सूत्रसूचित अर्थ को प्रकाशित करना, यह उन चूलिका प्रकरणों का प्रयोजन रहा है।[1] यथा—

१. जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर अन्त में चूलिका प्रकरण को योजित किया गया है। उसमें नौ चूलिकायें हैं।[2]

२. द्वितीय खण्ड 'खुद्दाबंध' के अन्त में 'महादण्डक' नाम का प्रकरण है। उसे धवलाकार ने 'चूलिका' कहा है।[3]

३. वेदनाद्रव्यविधान में पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों के अन्त में 'चूलिका' को योजित किया गया है।[4]

४. वेदनाकालविधान में आवश्यकतानुसार दो चूलिकाओं को योजित किया गया है।[5]

५. वेदनाभावविधान में प्रसंगानुसार तीन चूलिकायें जोड़ी गई हैं।[6]

६. बन्धन अनुयोगद्वार में भी एक चूलिका योजित की गई है।[7]

निक्षेप व नय

प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा प्रसंगानुरूप संगत व आगमाविरुद्ध हो; इसके लिए प्राचीन आगमव्याख्यान की पद्धति में निक्षेप व नयों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। कारण यह है कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ सम्भव हैं। प्रकृत में उनमें उसका कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है, यह निक्षेप विधि से ही हो सकता है। उदाहरण के रूप में, किसी का नाम यदि पार्श्वनाथ है तो यह जान लेना आवश्यक है कि वह नाम से ही 'पार्श्वनाथ' है, स्थापना या भाव से पार्श्व-नाथ नहीं है। अन्यथा जिसे वैसा ज्ञान नहीं है वह अविवेकी उसकी पूजा-वन्दनादि में भी प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु जो यह समझ चुका है कि वह केवल नाम से पार्श्वनाथ है, न तो उसमें पार्श्वनाथ की स्थापना की गई है और न वह भाव से (साक्षात्) पार्श्वनाथ है, वह उसकी वन्दनादि में प्रवृत्त नहीं होता।

प्रस्तुत षट्खण्डागम में आवश्यकतानुसार सर्वत्र प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः विवक्षित विषय के सम्बन्ध में निक्षेपों की प्ररूपणा की गई है व प्रसंगप्राप्त विषय को प्रकरण के अनुरूप स्पष्ट किया गया है।

---

१. सुत्तसूइदत्थपयासणं चूलियाणाम। धवला पु० १०, पृ० ३९५ (पु० ६, पृ० २; पु० ७, पृ० ५७५; पु० ११, पृ० १४०; पु० १२, पृ० ८८ और पु० १४, पृ० ४६९ भी द्रष्टव्य हैं)

२. ये सब चूलिकायें ष० ख० पु० ६ में देखी जा सकती हैं।

३. समत्तेसु एक्कारसअणियोगद्दारेसु किमट्ठमेसो महादंडओ वोत्तुमाढत्तओ? वुच्चदे—खुद्दा-बंधस्स एक्कारसअणिओगद्दारणिबद्धस्स चूलियं काऊण महादंडओ वुच्चदे।
—धवला पु० ७, पृ० ५७५

४. देखिए ष० खं० पु० १०, पृ० ३९५

५. वही, पु० ११, पृ० १४० व ३०८

६. वही, पु० १२, पृ० ७८, ८७ व २४१

७. वही, पु० १४, पृ० ४६९

उदाहरणस्वरूप कृति-अनुयोगद्वार को ले लीजिये। वहाँ सर्वप्रथम नाम-स्थापनादि के भेद से 'कृति' को सात प्रकार कहा गया है (सूत्र ४,१,४६)। आगे इन सबके स्वरूप को प्रकट करते हुए अन्त में (४,१,७६) यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इनमें यहाँ गणनाकृति प्रकृत है।

यही अवस्था नय की भी है। एक ही वस्तु में एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरुद्ध दिखनेवाले अनेक धर्म रहते हैं। उनकी संगति नय-प्रक्रिया के जाने विना नहीं बैठायी जा सकती है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र सुमति जिन की प्रस्तुति में कहते हैं कि हे भगवन्! वही तत्त्व अनेक भी है और एक भी है, यह उसमें भेद का और अन्वय का जो ज्ञान होता है उससे सिद्ध है। उदाहरणार्थ, मनुष्यों में यह देवदत्त है, इस प्रकार जो भिन्नता का बोध होता है उससे उनमें कथंचित् अनेकता सिद्ध है। साथ ही उनमें यह देवदत्त भी मनुष्य है और यह जिनदत्त भी मनुष्य है, इस प्रकार जो उनमें अन्वय रूप बोध होता है उससे उनमें मनुष्य जाति सामान्य की अपेक्षा कथंचित् एकरूपता भी सिद्ध है। यदि इन दोनों में से किसी एक का लोप किया जाता है तो दूसरा भी विनष्ट हो जाता है। तब वैसी स्थिति में वस्तुव्यवस्था ही भंग हो जाती है। इसी प्रकार से सत्त्व-असत्त्व और नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरुद्ध दिखनेवाले अन्य धर्मों में भी नयविवक्षा से समन्वय होता है।[1]

यह आवश्यक है कि इस व्यवस्था में मुख्यता और गौणता अपेक्षित है। अर्थात् यदि विशेष मुख्य और सामान्य गौण है तो इस दृष्टि से तत्त्व की अनेकता सिद्ध है। इसके विपरीत यदि सामान्य मुख्य और विशेष गौण है तो इस अपेक्षा से वही तत्त्व कथंचित् एक भी है।[2]

इस प्रकार वस्तु-व्यवस्था के लिए नयविवक्षा की अनिवार्यता सिद्ध होती है। तदनुसार प्रस्तुत षट्खण्डागम में विवक्षित विषय का विचार उस नयविवक्षा के आश्रय से किया गया है। उदाहरणार्थ, उसी कृति अनुयोगद्वार में उक्त सात कृतियों में कौन नय किन कृतियों को स्वीकार करता है, ऐसा प्रश्न उठाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार उन सभी कृतियों को विषय करते हैं। किन्तु ऋजुसूत्र स्थापनाकृति को विषय नहीं करता तथा शब्दादिक नय नामकृति और भावकृति को स्वीकार नहीं करते।[3]

इसके लिए वहाँ कहीं-कहीं 'नयविभाषणता' नामक एक स्वतन्त्र अनुयोगद्वार भी रहा है।[4]

सूत्र-रचना

षट्खण्डागम का अधिकांश भाग गद्यात्मक सूत्रों में रचा गया है। फिर भी उसमें कुछ

---

१. अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्यलोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम्॥—स्वयंभू० २२

२. विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्य-गुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ॥—स्वयंभू० २५

३. देखिए सूत्र ४,१,४७-५० (पु० ९)

४. देखिए सूत्र ४,१,४७ (पु० ९), सूत्र ४,२,२,१ (पु० १०), सूत्र ५,३,५ (पु० १३) और सूत्र ५,४,५ (पु० १३) इत्यादि।

गाथात्मक सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। ये गाथात्मक सूत्र चतुर्थ वेदनाखण्ड में ८ और पाँचवें वर्गणाखण्ड में २८, इस प्रकार सब ३६ हैं।

चूर्णिसूत्र

जिस प्रकार आचार्य गुणधर विरचित कषायप्राभृत में कहीं-कहीं पूर्व में मूलगाथा सूत्र और तत्पश्चात् उनके विवरणस्वरूप भाष्य गाथाएँ रची गई हैं[1] उसी प्रकार प्रस्तुत षट्खण्डागम में कहीं पर संक्षेप में प्रतिपाद्य विषय के सूचक मूल गाथासूत्र को रचकर तत्पश्चात् ग्रन्थकार द्वारा उसके विवरण में आवश्यकतानुसार कुछ गद्यात्मक सूत्र भी रचे गये हैं। जैसे—

वेदनाभावविधान अनुयोगद्वार में प्रथमतः उत्तरप्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागविषयक अल्पबहुत्व की संकेतात्मक शब्दों में संक्षेप में प्ररूपणा करनेवाले तीन गाथा-सूत्रों को रचकर तत्पश्चात् उनके जघन्य अनुभागविषयक अल्पबहुत्व के प्ररूपक अन्य तीन गाथा-सूत्र रचे गये हैं। उनमें प्रथम तीन गाथागत गूढ़ अर्थ के स्पष्टीकरण में "एत्तो उक्कस्सओ चउसट्ठिपदियो महादंडओ कायव्वो भवदि (सूत्र ६५)" ऐसी सूचना करते हुए ५२ (६६-११७) गद्यात्मक सूत्र रचे गये हैं। पश्चात् आगे के उन तीन गाथा-सूत्रों के स्पष्टीकरण में "एत्तो जहण्णओ चउसट्ठिपदियो महादंडओ कायव्वो भवदि (११८)" ऐसा निर्देश करते हुए ५६ (११९-७४) सूत्रों को रचकर उनके आश्रय से उन तीन (४-६) गाथाओं के दुरूह अर्थ को स्पष्ट किया गया है।[2]

उन विवरणामक गद्य-सूत्रों की आवश्यकता इसलिए समझी गई कि उक्त गाथासूत्रों में नामके आद्य अक्षरों के द्वारा जिन प्रकृति विशेषों का उल्लेख किया गया है उनका विशेष स्पष्टीकरण करने के विना सर्वसाधारण को बोध नहीं हो सकता था। जैसे—'दे' से देवगति व 'कं' से कार्मण शरीर आदि।

इन विवरणात्मक सूत्रों को धवलाकारने 'चूर्णिसूत्र' कहा है।[3]

आगे इसी वेदनाभावविधान की प्रथम चूलिका के प्रारम्भ में "सम्मत्तुप्पत्ती वि य" आदि दो गाथासूत्र हैं, जिनके द्वारा ग्यारह गुणश्रेणियों रूप प्रदेशनिर्जरा और उसमें लगनेवाले काल के क्रम की सूचना की गई है।

इसके पूर्व इन दोनों गाथाओं को धवलाकार द्वारा वेदनाद्रव्यविधान में गाथासूत्र के रूप में उद्धृत किया जा चुका है।[4]

---

1. जैसे १५वें 'चारित्रमोहक्षपणा' अधिकार में मूल गाथासूत्र ७ और उनकी भाष्य गाथा में क्रम से ५,११,४,३,३,१ और ४ हैं। देखिए क० पा० सुत्त परिशिष्ट १, पृ० ६१५-१८ (गा० १२४-१६१)
2. देखिए धवला पु० १२, पृ ४०-७५
3. क—तदणणुवृत्ती वि कुदो णव्वदे? एदस्स गाहासुत्तस्स विवरणभावेण रचिद उवरिमचुण्णिसुत्तादो।—पु० १२, पृ० ४१
   ख—कधं सव्वमिदं णव्वदे? उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो।—पु० १२, पृ० ४२-४३
   ग—कधं समाणत्तं णव्वदे? उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो।—धवला पु० १२, पृ० ४३
4. धवला पु० १०, पृ० २८२

उन दोनों गाथासूत्रों के अभिप्राय को अन्तर्हित करनेवाला एक सूत्र तत्त्वार्थसूत्र में भी ध्यान के प्रसंग में प्राप्त होता है। विशेषता उसमें यह है कि दूसरे गाथासूत्र के उत्तरार्ध में जो निर्जरा के कालक्रम का भी निर्देश किया गया है वह उस तत्त्वार्थसूत्र में नहीं किया गया है।[1]

इन गाथासूत्रों की व्याख्या में धवलाकार ने जहाँ ग्यारह गुणश्रेणियों की सूचना की है वहाँ तत्त्वार्थसूत्र के वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में असंख्येयगुणनिर्जरा में व्यापृत उन सम्यग्दृष्टि आदि दस की ही सूचना की है। वहाँ सूत्र में सामान्य से निर्दिष्ट 'जिन' में कोई भेद नहीं किया गया। फिर भी षट्खण्डागम के कर्ता आचार्य भूतवलि ने स्वयं उन गाथासूत्रों के विवरण में 'जिन' के इन दो भेदों का निर्देश किया है—अधःप्रवृत्त केवलीसंयत और योगनिरोध केवलीसंयत।[2]

ये दोनों गाथाएँ शिवशर्मसूरि विरचित कर्मप्रकृति में भी उपलब्ध होती हैं। वहाँ दूसरी गाथा के पूर्वार्ध में जिणे य दुविहे ऐसा निर्देश किया गया है। कर्मप्रकृति में उन गाथाओं की व्याख्या करते हुए आचार्य मलयगिरि ने ग्यारह गुणश्रेणियों का उल्लेख किया है। उन्होंने वहाँ दसवीं गुणश्रेणि सयोगकेवली के और ग्यारहवीं अयोगकेवली के वतलायी है।[3]

उपर्युक्त दो गाथासूत्रों में जिस गुणश्रेणिनिर्जरा और उसके काल का संक्षेप में निर्देश किया गया है उसका स्पष्टीकरण स्वयं सूत्रकार आ० भूतवलि ने आगे २२ गद्यसूत्रों (१७५-९६) द्वारा किया है। इन गद्यसूत्रों को भी पूर्वोक्त धवलाकारके अभिप्रायानुसार चूर्णिसूत्र ही समझना चाहिए।

विभाषा

कहीं पर संक्षेप में प्ररूपित दुरवबोध विषय का स्पष्टीकरण स्वयं मूलग्रन्थकार द्वारा 'विभाषा' ऐसी सूचना के साथ भी किया गया है।[4]

सूत्र से सूचित अर्थ के विशेषतापूर्वक विवरण को विभाषा कहते हैं। वह प्ररूपणा-विभाषा और सूत्र-विभाषा के भेद से दो प्रकार की है। सूत्र-पदों का उच्चारण न करके सूत्रसूचित समस्त अर्थ की जो विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की जाती है उसका नाम प्ररूपणाविभाषा है। गाथा-सूत्रों के अवयवस्वरूप पदों के अर्थ का परामर्श करते हुए जो सूत्र का स्पर्श किया जाता है उसे सूत्र-विभाषा कहा जाता है।[5]

---

१. सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशमोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। त० सू०-४५

२. सूत्र ४,२,७,१८४-८७ (पु० १२, पृ० ८४-८५)

३. क० प्र० उदय गाथा ८-९।

४. विविहा भासा विहासा, परूवणा णिरूवणा वक्खाणमिदि एयट्ठो।—धवला पु० ६, पृ० ५

५. सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसियूण भासा विहासा विवरणं ति वुत्तं होदि। विहासा दुविहा होदि—परूवणाविहासा सुत्तविहासा चेदि। तत्थ परूवणाविहासा णाम सुत्तपदाणि अणुच्चारिय सुत्तसूचिदासेसत्थस्स वित्थरपरूवणा। सुत्तविहासा णाम गाहासुत्ताणमवयवत्थ-परामरसमुहेण सुत्तफासो।—जयध० (क० पा० सुत्त प्रस्तावना पृ० २२)

उस विभाषा को स्पष्ट करने के लिए प्रकृत में जीवस्थान-चूलिका का उदाहरण उपयुक्त है। वहाँ नौ चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका के प्रारम्भ में एक पृच्छासूत्र प्राप्त होता है, जिसमें ये पृच्छायें निहित हैं—प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव कितनी और किन प्रकृतियों को बाँधता है, कितने काल की स्थितिवाले कर्मों के निमित्त से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता करता है, अथवा नहीं प्राप्त करता है, कितने काल के द्वारा मिथ्यात्व के कितने भागों को करता है, उपशामना व क्षपणा किन क्षेत्रों में, किसके मूल में व कितने दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करनेवाले और सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त करनेवाले के होती है (सूत्र १,६-१, १)।

इन पृच्छाओं की विभाषा—प्ररूपणा या व्याख्या—में स्वयं सूत्रकार द्वारा नौ चूलिकाओं की प्ररूपणा की गई है।[1]

जैसा कि ऊपर कषायप्राभृत के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है, आगमग्रन्थों के रचयिताओं की यह पद्धति रही है कि वे प्रथमतः पृच्छासूत्र के रूप में, चाहे वह गाथात्मक हो या गद्यात्मक हो, वर्णनीय विषय की संक्षेप में सूचना करते थे। तत्पश्चात् आगे वे भाष्य-गाथाओं या गद्यात्मक सूत्रों द्वारा उसका विस्तारपूर्वक विशेष व्याख्यान किया करते थे। यह पूर्वोल्लिखित पृच्छासूत्र के आधार से निर्मित उन नौ चूलिकाओं की रचना से स्पष्ट हो चुका है। इसके पूर्व भी उसे 'प्रश्नोत्तरशैली' शीर्षक में स्पष्ट किया जा चुका है।

कुछ निश्चित शब्दों का प्रयोग

आगमग्रन्थों की रचना-पद्धति अथवा उनके व्याख्यान की यह एक पद्धति रही है कि उसमें यथाप्रसंग कुछ नियमित विशिष्ट शब्दों का उपयोग होता रहा है। जैसे—

जीवसमास—साधारणतः इस शब्द का उपयोग बादर-सूक्ष्म व पर्याप्त-अपर्याप्त एकेन्द्रि-यादि चौदह जीवभेदों के प्रसंग में किया गया है।[2] किन्तु प्रस्तुत षट्खण्डागम में उसका उपयोग चौदह गुणस्थानों के अर्थ में किया गया है, यह धवला से स्पष्ट है।[3]

स्वयं सूत्रकार आचार्य भूतबलि ने भी आगे 'बन्धस्वामित्वविचय' के प्रसंग में पूर्व में (सूत्र ३-३) मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का नाम निर्देश करते हुए अनन्तर **'एदेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं पयडिवोच्छेदो कादव्वो भवदि'** (सूत्र ३-४) ऐसा कहकर उन चौदह गुणस्थानों का उल्लेख 'जीवसमास' के नाम से किया है और तदनुसार ही आगे क्रम से उन मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में कृत प्रतिज्ञा के अनुसार कर्मप्रकृतियों के बन्धव्युच्छेद की प्ररूपणा की है।[4]

---

१. इसके लिए देखिए धवला पु० ६, पृ० २-४ (विशेषकर पृ० ४)

२. मूलाचार (१२,१५२-५३) में बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रियादि १४ जीवभेदों का उल्लेख तो किया गया पर 'जीवसमास' शब्द व्यवहृत नहीं हुआ, वृत्तिकार ने उन्हें 'जीवसमास' ही कहा है। (गो० जीवकाण्ड गाथा ७०-१११ भी द्रष्टव्य हैं)। ति० प० के प्रायः सभी महा-धिकारों में उन १४ जीवभेदों को लक्ष्य करके यथाप्रसंग उस 'जीवसमास' शब्द का व्यवहार हुआ है।

३. जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः।···तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानाम्, चतुर्दशगुण-स्थानानामित्यर्थः।—धवला पु० १, पृ० १३१

४. ष० खं०, पु० ८, पृ० ४-५

ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था रतलाम से प्रकाशित 'जीवसमास' ग्रन्थ में मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का उल्लेख 'जीवसमास' नाम से किया गया है (गाथा ८-९)।

संयतविशेष—आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानवर्ती संयतों का उल्लेख सर्वत्र क्रम से अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धिसंयत, अनिवृत्तिबादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयत और सूक्ष्मसाम्परायिकप्रविष्टशुद्धिसंयत इन नामों से किया गया है।[1] ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के लिए क्रम से उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ और क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ इन नामों का निर्देश किया गया है।[2]

तीर्थंकर-नाम-गोत्रकर्म—तीर्थंकर नामकर्म का उल्लेख 'तीर्थंकर-नाम-गोत्रकर्म' के रूप में भी किया गया है।[3]

इसके विषय में धवला में यह शंका उठायी गई है कि नामकर्म के अवयवभूत तीर्थंकर प्रकृति का निर्देश 'गोत्र' के नाम से क्यों किया गया। उसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उच्चगोत्र का अविनाभावी होने से उस तीर्थंकर प्रकृति के गोत्रता सिद्ध है।[4]

उद्वर्तितसमान—इस शब्द का अर्थ विवक्षित पर्याय को समाप्त कर अन्यत्र उत्पन्न होना है। यद्यपि धवला में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया है, फिर भी मूलाचार की आ० वसुनन्दी विरचित वृत्ति में उसका वैसा अर्थ किया गया है।[5]

षट्खण्डागम में इस शब्द का उपयोग केवल नरकगति में वर्तमान नारकियों के अन्य गति में आते समय किया गया है।[6]

आगति—यद्यपि प्रसंग प्राप्त 'गति-आगति' चूलिका में धवलाकार ने इस शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु आगे 'प्रकृति अनुयोगद्वार' में मनःपर्ययज्ञान के विषय के प्रसंग में सूत्रकार द्वारा व्यवहृत उस शब्द को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि अन्य गति से इच्छित गति में आने का नाम आगति है।[7] इस शब्द का उपयोग केवल नारकियों और देवों के उस गति से तिर्यंचगति व मनुष्यगति में आते समय किया गया है।[8]

कालगतसमान—इस शब्द का अर्थ धवलाकार ने 'विनष्ट होते हुए' किया है।[9] इसका उपयोग केवल तिर्यंचगति में वर्तमान तिर्यंचों और मनुष्यगति में वर्तमान मनुष्यों के लिए अन्य

---

१. उदाहरण के रूप में देखिए सूत्र १,१,१६-१८ (पु० १, पृ० १७९-८७)
२. उदाहरणस्वरूप देखिए १,१,१९-२० (पु० १)
३. सूत्र ३,३९-४२ (पु० ८)
४. कधं तित्थयरस्स णामकम्मावयवस्स गोदसण्णा ? ण, उच्चागोदबंधाविणाभावित्तणेण तित्थयरस्स वि गोदत्तसिद्धीदो।—धवला पु० ८ पृ०७६
५. उद्वर्तनम् अस्मादन्यत्रोत्पत्तिः।—मूला० वृत्ति १२-३
६. देखिए सूत्र १,९-९,७६ व ८७,९३,२०३,२०६,२०९,२१३,२१७
७. अण्णगदीदो इच्छिदगदीए आगमणमागदी णाम।—धवला पु० १३, पृ० ३४६
८. नारकियों के लिए सूत्र १,९-९,७६-८५ व ८७-९१ आदि तथा देवों के लिए सूत्र १,९-९, १७३-८३ व १८५-८९ आदि।
९. कालगदसमाणा विणट्ठा संता त्ति घेत्तव्वं।—पु० ६, पृ० ४५४

गति में जाते समय किया गया है।[1]

गति—इच्छित गति से अन्य गति में जाने का नाम गति है।[2] इसका उपयोग केवल तिर्यंचों और मनुष्यों के लिए अपनी-अपनी गति से अन्य गति में जाते समय किया गया है।[3]

उद्वर्तितच्युतसमान—'उद्वर्तित' का अर्थ मूलाचारवृत्ति के अनुसार पूर्व में निर्दिष्ट किया जा चुका है। सौधर्म इन्द्र आदि देवों का जो अपनी सम्पत्ति से वियोग होता है उसका नाम चयन है।[4] इसका उपयोग भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ऐशान कल्पवासी देवों के लिए उस गति से निकलकर अन्यत्र उत्पन्न होने के समय किया गया है।[5]

च्युतसमान—'चयन' का अर्थ ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है। इसका उपयोग केवल सनत्कुमारादि ऊपर के विमानवासी देवों के लिए उस पर्याय को छोड़कर अन्यत्र उत्पन्न होते समय किया गया है।[6]

अनेक शब्दों का उपयोग

कहीं-कहीं पर प्रशंसा के रूप में प्रायः एक ही अभिप्राय के पोषक अनेक शब्दों का उपयोग किया गया है। जैसे—

१. तीर्थंकर नामकर्म के उदय से जीव अर्चनीय, पूजनीय, वन्दनीय, नमस्करणीय, नेता और धर्मतीर्थ का कर्ता होता है। सामान्य से समानार्थक होने पर धवलाकार ने उनका पृथक्-पृथक् विशिष्ट अर्थ भी किया है।[7]

२. कोई अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, और सब दुःखों के अन्त को प्राप्त होते हैं।[8]

धवलाकार ने 'बुद्ध्यन्ते', 'मुच्यन्ते', 'परिनिर्वान्ति' और 'सर्वदुःखानामन्तं परिविजानन्ति' इन पदों की सफलता क्रम से कपिल, नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसक, तार्किक और पुनः तार्किक इनके अभिमत के निराकरण में प्रकट की है।[9]

शब्दों की पुनरावृत्ति

सूत्रों में कहीं-कहीं एक ही शब्द का दो-तीन बार प्रयोग किया गया है। जैसे—

---

१. देखिए तिर्यंचों के लिए सूत्र १,९-९,१०१ व आगे १०७, ११२, ११५, ११८, १२९, १३४, १३८; मनुष्यों के लिए सूत्र १,९-९,१४१ व आगे १४७,१५०,१६३,१६६,१७०

२. इच्छिदगदीदो अण्णगदिगमणं गदी णाम।—धवला पु० १३, पृ० ३४६

३. देखिए तिर्यंचों के लिए सूत्र १,९-९,१०१-२९ व १३१-४०

४. सोहम्मिंदादिदेवाणं सगसंपयादो विरहो चयणं णाम।—धवला पु० १३, पृ० ३४६-४७

५. देखिए सूत्र १,९-९,१७३ व आगे १८५,१९०

६. देखिए सूत्र १,९-९,१९१-१९२,१९८

७. सूत्र ३-४२ व उसकी धवला टीका द्रष्टव्य है।—पु० ८, पृ० ९१-९२

८. देखिए सूत्र १,९-९,२१६ व आगे २२०,२२६,२३३,२४०,२४३ (पु० ६)

९. धवला पु० ६, पृ० ४९०-९१

१. तिरिक्खा............तिरिक्खा.........तिरिक्खेहि[1] कालगदसमाणा कदिगदीओ गच्छंति (सूत्र १, ६-६, १०१)।

यहाँ धवलाकार द्वारा स्पष्ट किया गया है कि औपचारिक तिर्यंचों के प्रतिषेध के द्वितीय 'तिर्यंच' पद को ग्रहण किया गया है। 'तिरिक्खेहि' का अर्थ 'तिर्यंच पर्यायों से' किया गया है।

२. अधो मत्तमाए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति ? (सूत्र १, ६-६, २०३)।

धवना में यहाँ यद्यपि इस शब्द-पुनरावृत्ति का कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया। पर आगे जाकर सूत्र २०६ में पुनः इसी प्रकार का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—

एत्थ 'छट्ठीए पुढवीए णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति' त्ति वत्तव्वं, ण 'णिरयादो णेरया' त्ति, तम्म फलाभावा ? ण एस दोसो, छट्ठीए पुढवीए णेरइया णिरयादो-णिरयपज्जायादो, उव्वट्टिदसमाणा—विणट्ठा संता, णेरइया—दव्वट्ठियणयावलंवणेण णेरइया होदूण, कदि गदीओ आगच्छंति त्ति तदुच्चारणाए फलोवलंभा (पु० ६, पृ० ४८५-८६)।

३. इसके पूर्व यहीं पर 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका में क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रसंग में प्राप्त सूत्र ११४ में जिन, केवली और तीर्थंकर इन तीन शब्दों का उपयोग किया गया है। इनमें जिन व केवली शब्द प्रायः समानार्थक हैं, फिर भी उनका जो पृथक्-पृथक् उपयोग किया गया है उनकी सफलता का स्पष्टीकरण धवला में कर दिया गया है।[2]

---

१. ओवयारियतिरिक्खपडिसेहट्ठं विदियतिरिक्खगहणं। तिरिक्खेहि तिरिक्खपज्जाएहि...।
—धवला पु० ६, पृ० ४५४

२. देखिये पु० ६, पृ० २४३-४७

मूलग्रन्थगत विषय का परिचय

प्रथम खण्ड : जीवस्थान

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, प्रस्तुत षट्खण्डागम जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छह खण्डों में विभक्त है। उनमें जो प्रथम खण्ड जीवस्थान है उसमें ये आठ अनुयोगद्वार हैं—१. सत्प्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाणानुगम, ३. क्षेत्रानुगम, ४. स्पर्शनानुगम, ५. कालानुगम, ६. अन्तरानुगम, ७. भावानुगम और ८. अल्पबहुत्वानुगम। इनका यहाँ क्रम से विषयपरिचय कराया जा रहा है—

१. सत्प्ररूपणा

यह पीछे 'ग्रन्थनाम' शीर्षक में स्पष्ट किया जा चुका है कि मूल ग्रन्थ में कहीं कोई खण्ड-विभाग नहीं किया गया है। प्रकृत में जो छह खण्डों का विभाग किया गया है वह धवला टीका और इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के आधार से किया गया है।

सर्वप्रथम यहाँ 'णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं' आदि पंचनमस्कारात्मक मंगलगाथा के द्वारा—जिसे अनादि मूलमन्त्र माना जाता है—अर्हदादि पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् दूसरे सूत्र के द्वारा चौदह जीवसमासों के मार्गणार्थ—चौदह गुणस्थानों के अन्वेषणार्थ—चौदह मार्गणाओं को जान लेने योग्य कहा गया है।

जैसा कि धवला में स्पष्ट किया गया है इस सूत्र में उपर्युक्त 'जीवसमास' से यहाँ मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थान अभिप्रेत हैं।

सूत्र में जिन मार्गणास्थानों को ज्ञातव्य कहा गया है वे चौदह मार्गणास्थान कौन हैं, इसे आगे के सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हुए उनके नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार (सूत्र ४)।

तत्पश्चात् पूर्वनिर्दिष्ट चौदह जीवसमासों की प्ररूपणा के निमित्तभूत उपर्युक्त सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोग द्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है (५-७)। इन भूमिका स्वरूप सात सूत्रों को सम्मिलित कर प्रकृत सत्प्ररूपणा अनुयोग द्वार में सब सूत्र १७७ हैं।

'सत्प्ररूपणा' में सत् का अर्थ अस्तित्व और प्ररूपणा का अर्थ प्रज्ञापन है। इस प्रकार इस सत्प्ररूपणा अनुयोग के आश्रय से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में जीवों के अस्तित्व का परिज्ञान कराया गया है। वह प्रथमतः ओघ, अर्थात् सामान्य या मार्गणा निरपेक्ष केवल गुणस्थानों के आधार से, और तत्पश्चात् आदेश से, अर्थात् गति-इन्द्रिय आदि मार्गणाओं की विशेषता के साथ कराया गया है। ओघ से जैसे—मिथ्यादृष्टि है, सासादन सम्यग्दृष्टि है,

सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, इत्यादिक विशेष रूप से यहाँ अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धिसंयतों, अनिवृत्ति-बादर-साम्परायिकप्रविष्टशुद्धिसंयतों और सूक्ष्मसाम्परायिकप्रविष्टशुद्धिसंयतों इन तीन (८, ९, १०) गुणस्थानों में उपशम श्रेणि की अपेक्षा उपशमकों के और क्षपकश्रेणि की अपेक्षा क्षपकों के भी अस्तित्व को प्रकट किया गया है। (९-२२)।

इस प्रकार सामान्य से चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों के अस्तित्व को दिखाकर तत्पश्चात् गुणस्थानातीत सिद्धों के भी अस्तित्व को प्रकट किया गया है (२३)।

१. **गतिमार्गणा**—ओघप्ररूपणा के पश्चात् आदेश प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए चौदह मार्गणाओं में प्रथम गति मार्गणा का आश्रय लेकर उसके ये पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति। इनमें से नारकियों के मिथ्या दृष्टि आदि चार, तिर्यंचों के मिथ्यादृष्टि आदि पाँच, मनुष्यों के मिथ्यादृष्टि आदि चौदहों और देवों के मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है (२४-२८)।

इस प्रसंग में आगे कुछ विशेषता प्रकट करते हुए एकेन्द्रियों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यंचों को शुद्ध तिर्यंच और संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत पर्यन्त मिश्र कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त सब जीव एकमात्र तिर्यंचगति में होते हैं, इसीलिए उन्हें शुद्ध तिर्यंच कहा गया है। पर आगे के वे संज्ञी पंचेन्द्रियादि संयता-संयत पर्यन्त प्रथम चार गुणस्थानों की अपेक्षा शेष तीन गतियों के जीवों से तथा संयतासंयत गुणस्थानवर्ती वे इस गुणस्थान की अपेक्षा मनुष्यों से समानता रखते हैं, इसीलिए उन्हें मिश्र कहा गया है। यही अभिप्राय आगे मिश्र और शुद्ध मनुष्यों के कहने में भी समझना चाहिए (२९-३२)।

२. **इन्द्रिय**—दूसरी इन्द्रिय मार्गणा के प्रसंग में प्रथमतः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय (इन्द्रियातीत सिद्ध) इन इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच जीव-भेदों का उल्लेख करके तत्पश्चात् पंचेन्द्रिय पर्यन्त उन एकेन्द्रियादि जीवों के यथाक्रम से भेद-प्रभेदों का निर्देश किया गया है (३३-३५)। आगे उनमें सम्भव गुणस्थानों का उल्लेख करते हुए एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पर्यन्त सब के एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अस्तित्व को प्रकट किया गया है। आगे के सूत्र में असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त सब ही जीव पंचेन्द्रिय होते हैं, यह कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि संज्ञी पंचेन्द्रियों में चौदहों गुण-स्थान सम्भव हैं (३६-३७)। तत्पश्चात् वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय जीवों से परे सब जीव अनिन्द्रिय—एकेन्द्रियादि जातिभेद से रहित कर्म-कलंकातीत (सिद्ध) होते हैं (३८)।

३. **काय**—तीसरी कायमार्गणा के प्रसंग में पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायु-कायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और अकायिक जीवों के अस्तित्व को दिखाकर आगे उनके भेद-प्रभेदों को प्रकट किया गया है। अनन्तर पृथिवीकायिकादि पाँच स्थावर जीवों में एकमात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के सद्भाव को बतलाकर द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त सब जीव त्रसकायिक होते हैं, यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है। बादर एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त सब जीव बादर होते हैं। इन स्थावर और त्रस जीवों से परे अकायिक शरीर से रहित हुए सिद्ध होते हैं (३९-४६)।

४. योगमार्गणा—यह चौथी मार्गणा है। इसके प्रसंग में प्रथमतः मनोयोगी, वचनयोगी व काययोगी इन तीन सयोगियों और तत्पश्चात् अयोगियों के अस्तित्व को प्रकट करके आगे मनोयोग के ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सत्य मनोयोग, मृषा मनोयोग, सत्य-मृषा मनोयोग और असत्य-मृषा मनोयोग। आगे इसमें कौन मनोयोग किस गुणस्थान तक होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सामान्य से मनोयोग, सत्य मनोयोग और असत्य-मृषा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तथा मृषा मनोयोग और सत्य-मृषा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक होते हैं (४७-५१)।

यहाँ क्षीणकषाय गुणस्थान तक जो मृषा मनोयोग और सत्य-मृषा मनयोग का सद्भाव बतलाया गया है वह विपर्यय और अनध्यवसाय रूप अज्ञान के कारण मन के सद्भाव के कारण बतलाया गया है।[1]

मनोयोग के समान वचनयोग भी चार प्रकार का है—सत्य वचनयोग, मृषा वचनयोग, सत्य-मृषा वचनयोग और असत्य-मृषा वचनयोग। इनमें सामान्य वचनयोग और असत्य-मृषा वचनयोग द्वीन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक, सत्य वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक तथा मृषा वचनयोग और सत्यमृषा वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक होते हैं (५२-५५)।

मृषा और सत्यमृषा वचनयोगों का सद्भाव जो क्षीणकषाय गुणस्थान तक निर्दिष्ट किया गया है वह असत्य वचनयोग के कारणभूत अज्ञान के विद्यमान रहने के कारण निर्दिष्ट किया गया है।[2]

काययोग औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण के भेद से सात प्रकार का है। इनमें औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग तिर्यंच व मनुष्यों के, वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र काययोग देवों व नारकियों के, आहारक और आहारकमिश्र काययोग ऋद्धिप्राप्त संयतों के तथा कार्मण काययोग विग्रहगति में वर्तमान जीवों के और समुद्घातगत केवलियों के होता है (५६-६०)।

उपर्युक्त सात काययोगों में सामान्य काययोग के साथ औदारिक और औदारिकमिश्र ये दो काययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक, वैक्रियिक व वैक्रियिकमिश्र ये दो संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक, आहारक व आहारकमिश्र ये दो काययोग एकमात्र प्रमत्तसंयत गुणस्थान में, और कार्मण काययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है। यह सामान्य कथन है। विशेष रूप में इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि जिन संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में अपर्याप्तता सम्भव नहीं है वहाँ कार्मण काययोग नहीं होता। इसी प्रकार समुद्घात को छोड़कर पर्याप्तों के वह नहीं होता (६१-६४)।

संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक मन, वचन व काय तीनों योग होते हैं। वचनयोग व काययोग द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं। काययोग एकेन्द्रिय जीवों के होता है। मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तक जीवों के होते हैं, अपर्याप्तकों के वे नहीं

१. देखिए सूत्र १,१,५१ की टीका, धवला पु० १, पृ० २८५-८६
२. सूत्र १,१,५५ की टीका, धवला पु० १, पृ० २८९

होते। किन्तु काययोग पर्याप्तकों के भी होता है और अपर्याप्तकों के भी होता है (६४-६६)।

प्रसंग पाकर यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि छह पर्याप्तियाँ और छह अपर्याप्तियाँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक, पाँच पर्याप्तियाँ व पाँच अपर्याप्तियाँ द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक और चार पर्याप्तियाँ व चार अपर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवों के होती हैं (७०-७५)।

उपर्युक्त औदारिकादि सात काययोगों में कौन पर्याप्त जीवों के और कौन अपर्याप्त जीवों के होते हैं, इसका भी यहाँ विचार किया गया है (७६-७८)। तत्पश्चात् क्रम से चारों गतियों में पर्याप्त-अपर्याप्त जीवों के जो गुणस्थान सम्भव हैं और जो सम्भव नहीं हैं उनके सद्भाव-असद्भाव को प्रकट किया गया है (७९-१००)।

५. वेद—इस मार्गणा के प्रसंग में स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और अपगतवेदी जीवों के अस्तित्व को प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि इनमें स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी असंज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तथा नपुंसकवेदी एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। इसके आगे सब जीव अपगतवेद (वेद से रहित) होते हैं। आगे इस प्रसंग में यहाँ क्रम से नरकादि चारों गतियों में किस वेदवाले कहाँ तक होते हैं, इसका भी विचार किया गया है (१०१-१०)।

६. कषाय—कषायमार्गणा में क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी जीवों के अस्तित्व को दिखाकर उनमें कौन किस गुणस्थान तक होते हैं इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि क्रोधकषायी, मानकषायी और मायाकषायी ये एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक, लोभकषायी एकेन्द्रिय से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक तथा अकषायी जीव उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानों में होते हैं (१११-१४)।

७. ज्ञान—ज्ञानमार्गणा की प्ररूपणा में मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी और विभंगज्ञानी इन तीन अज्ञानियों के साथ आभिनिबोधिक ज्ञानी आदि पाँच सम्यग्ज्ञानियों के अस्तित्व को दिखलाकर उनमें यथासम्भव गुणस्थानों के सद्भाव को प्रकट किया गया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आभिनिबोधिक आदि तीन सम्यग्ज्ञानों को मतिअज्ञान आदि तीन अज्ञानों से मिश्रित कहा गया है (११५-२२)।

८. संयम—इस मार्गणा के प्रसंग में सामायिक-शुद्धिसंयत, छेदोपस्थापना-शुद्धिसंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसाम्परायिक-शुद्धिसंयत व यथाख्यातविहार-शुद्धिसंयत इन पाँच संयतों के साथ संयतासंयत और असंयत जीवों के अस्तित्व को प्रकट करके उनमें कहाँ कितने गुणस्थान सम्भव हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (१२३-३०)।

यहाँ धवला में यह शंका की गई है कि संयम के प्रसंग में असंयतों और संयतासंयतों का ग्रहण नहीं होना चाहिए। इसके समाधान में वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार आम्रवृक्षों की प्रधानता से 'आम्रवन' के नाम से प्रसिद्ध वन के भीतर अवस्थित नीम आदि अन्य वृक्षों का भी 'आम्रवन' यह नाम देखा जाता है उसी प्रकार संयम की प्रधानता से इस संयममार्गणा में असंयतों और संयतों का ग्रहण विरुद्ध नहीं है। अन्यथा, आम्रवन में अवस्थित नीम आदि अन्य वृक्षों से व्यभिचार का प्रसंग प्राप्त होता है।

९. दर्शन—इस मार्गणा के प्रसंग में चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी और केवल-

दर्शनी जीवों के अस्तित्व को प्रकट करके उनमें सम्भव गुणस्थानों का उल्लेख है (१३१-३५)।

१० लेश्या—इस मार्गणा की प्ररूपणा करते हुए कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या इन लेश्यावाले जीवों के साथ उस लेश्या से रहित हुए अलेश्य (सिद्ध) जीवों के भी अस्तित्व को व्यक्त करके उनमें किसके कितने गुणस्थान सम्भव हैं; इसका विचार किया गया है (१३६-४०)।

११. भव्य—यहाँ भव्यसिद्धिक और अभव्यसिद्धिक जीवों के अस्तित्व को दिखाकर आगे उनका गुणस्थानविषयक विचार करते हुए कहा गया है कि भव्यसिद्धिक जीव एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली तक और अभव्यसिद्धिक एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि तक होते हैं (१४१-४३)।

१२. सम्यक्त्व—इस मार्गणा के प्रसंग में सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि इनके अस्तित्व को दिखाकर उनमें कौन किस गुणस्थान तक सम्भव हैं; इसे स्पष्ट किया गया है (१४४-५०)।

आगे क्रम से चारों गतियों के जीवों में कौन किस-किस सम्यग्दर्शन से रहित होते हुए किस गुणस्थान तक सम्भव हैं, इसका विशेष विचार किया गया है। जैसे—नारकियों में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थान वाले होते हैं। उनमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्रथम पृथिवी में ही सम्भव हैं, द्वितीयादि शेष पृथिवियों में वे संभव नहीं हैं। शेष पृथिवियों में वे वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि ही होते हैं (१५१-५५)। इसी प्रकार से आगे तिर्यंचों, मनुष्यों और देवों में सम्यग्दर्शन भेदों के साथ यथासम्भव गुणस्थानों के सद्भाव को प्रकट किया गया है (१५६-७१)।

१३. संज्ञी—इस मार्गणा में संज्ञी और असंज्ञी जीवों के अस्तित्व को दिखाकर आगे यह स्पष्ट कर दिया है कि उनमें संज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक होते हैं। असंज्ञी जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं (१७२-७४)।

१४. आहार—इस मर्गणा के प्रसंग में आहारक-अनाहारक जीवों के अस्तित्व को प्रकट करते हुए आहारक जीवों का सद्भाव एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक बतलाया गया है। अनाहारक जीव विग्रहगति में वर्तमान जीव, समुद्घातकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन चार स्थानों में सम्भव हैं (१७५-७७)।

इस प्रकार आचार्य पुष्पदन्त विरचित यह सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार १७७ सूत्रों में समाप्त हुआ है। वह धवला टीका के साथ षट्खण्डागम की १६ जिल्दों में से प्रथम व द्वितीय इन दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। दूसरी जिल्द में सूत्र कोई नहीं है, वहाँ धवलाकार द्वारा उपर्युक्त १७७ सूत्रों से सूचित गुणस्थान व जीवसमास आदि रूप बीस प्ररूपणाओं को विशद किया गया है।

२. द्रव्यप्रमाणानुगम

'द्रव्य' से यहाँ छह द्रव्यों में जीवद्रव्य विवक्षित है। उसके प्रमाण (संख्या) का अनुगम (बोध) कराना, यह इस अनुयोगद्वार का प्रयोजन रहा है। इस द्रव्य प्रमाण की प्ररूपणा के यहाँ

दो प्रकार रहे हैं—ओघ और आदेश। इन दोनों का अभिप्राय ऊपर 'सत्प्ररूपणा' के प्रसंग में प्रकट किया जा चुका है।[1]

उनमें प्रथमतः ओघ की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा करते हुए क्रम से मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रमाण का विचार किया गया है। यथा—मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा कितने हैं ऐसा प्रश्न उठाते हुए उत्तर में कहा गया है कि वे अनन्त हैं। काल की अपेक्षा वे अनन्तानन्त अवसर्पिणी व उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होते। क्षेत्र की अपेक्षा वे अनन्तानन्त लोक प्रमाण हैं। द्रव्य, काल और क्षेत्र इन तीनों प्रमाणों का जान लेना; यही भावप्रमाण है (सूत्र २-५)।

ऊपर काल की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रमाण की प्ररूपणा में जो यह कहा गया है कि वे अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होते, उसका अभिप्राय यह है कि एक ओर अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों के समयों को रक्खे और दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीवराशि को रक्खे, पश्चात् उस काल के समयों में से एक समय को और उस जीवराशि में से एक जीव को अपहृत करे, इस प्रकार से उत्तरोत्तर अपहृत करने पर सब समय तो समाप्त हो जाते हैं, पर मिथ्यादृष्टि जीवराशि समाप्त नहीं होती।

इसी प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा जो उन्हें अनन्तानन्त लोक प्रमाण कहा गया है उसका भी अभिप्राय यह है कि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक मिथ्यादृष्टि जीव को रखने पर एक लोक होता है, ऐसी मन से कल्पना करे। इस प्रक्रिया के बार-बार करने पर मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तानन्त लोकप्रमाण होती है।

आगे सासादनसम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत पर्यन्त चार गुणस्थानवर्ती जीवों के द्रव्य-प्रमाण की प्ररूपणा में कहा गया है कि उनमें से प्रत्येक का द्रव्यप्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। इनमें से प्रत्येक के प्रमाण की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त से पल्योपम अपहृत होता है। इनके प्रमाण की प्ररूपणा यहाँ काल और क्षेत्र की अपेक्षा नहीं की गई है, क्योंकि प्रकृत में उनकी सम्भावना नहीं रही (सूत्र ६)।

इनके पृथक्-पृथक् प्रमाण का स्पष्टीकरण धवला में विस्तार से किया गया है।[2]

आगे प्रमत्तसंयतों का द्रव्यप्रमाण कोटिपृथक्त्व और अप्रमत्तसंयतों का वह संख्यात निर्दिष्ट किया गया है (७-८)।

चार उपशामकों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा करते हुए उन्हें प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन व उत्कर्ष से चौवन कहा गया है। काल की अपेक्षा उन्हें संख्यात कहा गया है। इसी प्रकार चार क्षपकों को प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन व उत्कर्ष से एक सौ आठ कहा गया है। काल की अपेक्षा उन्हें भी संख्यात कहा गया है (९-१२)।

धवला के अनुसार संदृष्टि में स्थूल रूप से चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण इस प्रकार है—

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ इन अनुयोगद्वारों में जो विषय का परिचय कराया जा रहा है वह मूल सूत्रों के आधार से संक्षेप में कराया जा रहा है, विशेष परिचय धवला के आधार से आगे कराया जायेगा।

२. पु० ३, पृ० ६३-८८

गुणस्थान	प्रमाण
१. मिथ्यादृष्टि	अनन्त
२. सासादनसम्यग्दृष्टि	असंख्य
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि	
४. असंयतसम्यग्दृष्टि	
५. संयतासंयत	
६. प्रमत्तसंयत	५९३९८२०६
७. अप्रमत्तसंयत	२९६९९१०३
८. अपूर्वकरण	८९७
९. अनिवृत्तिकरण	८९७
१०. सूक्ष्मसाम्पराय	८९७
११. उपशान्तमोह	२९९
१२. क्षीणमोह	५९८
१३. सयोगिकेवली	८९८५०२
१४. अयोगिकेवली	५९८

ओघप्ररूपणा के पश्चात् आदेशप्ररूपणा में क्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में जहाँ जो गुणस्थान सम्भव हैं उनमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि आदि जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा इसी पद्धति से की गई है (१५-१९२)। इस प्रकार यह अनुयोगद्वार १९२ सूत्रों में समाप्त हुआ है। वह उक्त १६ जिल्दों में से तीसरी जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

३. क्षेत्रानुगम

उपर्युक्त आठ अनुयोगद्वारों में यह तीसरा है। इसमें समस्त सूत्र ९२ हैं। क्षेत्र से यहाँ आकाश अभिप्रेत है। वह दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश। जहाँ तक जीवादि पाँच द्रव्य अवस्थित हैं उतने आकाश का नाम लोकाकाश है। इस लोकाकाश के सब ओर उन जीवादि द्रव्यों से रहित शुद्ध अनन्त अलोकाकाश है। प्रकृत में लोकाकाश विवक्षित है।

कौन जीव कितने लोकाकाश में रहते हैं, इसका बोध कराना इस अनुयोगद्वार का प्रयोजन है। पूर्वोक्त द्रव्य-प्रमाणानुगम के समान इस क्षेत्रानुगम में प्रकृत क्षेत्र की प्ररूपणा भी प्रथमतः ओघ अर्थात् मार्गणानिरपेक्ष के गुणस्थान के आधार से की गई है और तत्पश्चात् गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से उन में यथासम्भव गुणस्थानों को लक्ष्य करके उस क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है।

उनमें ओघ की अपेक्षा क्षेत्र की प्ररूपणा करते हुए मिथ्यादृष्टि जीवों का क्षेत्र समस्त लोक तथा आगे के सासादनसम्यग्दृष्टि आदि अयोगिकेवली पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है (सूत्र २-३)। लोक से यहाँ ३४३ घनराजु प्रमाण लोक की विवक्षा रही है। यहाँ सूत्र (३) में जो सामान्य से सासादनसम्यग्दृष्टि आदि अयोगिकेवली पर्यन्त ऐसा कहा गया है उसमें यद्यपि सयोगिकेवली भी आ जाते हैं, पर उनके क्षेत्र में 'लोक के असंख्यातवें भाग से' विशेषता है, अतएव उसे स्पष्ट करने के लिए अपवाद

रूप से रचित अगले सूत्र (४) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सयोगिकेवली लोक के असंख्यातवें भाग में, लोक के असंख्यात बहुभागों में, अथवा सब ही लोक में रहते हैं। इसमें जो उनका लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र कहा गया है वह दण्ड और कपाट समुद्घातगत केवलियों की अपेक्षा कहा गया है। प्रतरसमुद्घातगत केवलियों का क्षेत्र जो लोक के असंख्यात बहुभाग प्रमाण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि वे वातवलय से रोके गये लोक के असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष बहुभागो में रहते हैं। लोकपूरणसमुद्घातगत केवली ३४३ घनराजु प्रमाण सब ही लोक मे रहते है, क्योंकि इस समुद्घात में उनके आत्मप्रदेश समस्त लोकाकाश को ही व्याप्त कर लेते हैं। इस प्रकार यहाँ ओघप्ररूपणा २-४ सूत्र में समाप्ति हो जाती है।

आदेशप्ररूपणा में पूर्व पद्धति के अनुसार प्रस्तुत क्षेत्रप्ररूपणा भी गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं, जहाँ जो गुणस्थान सम्भव हैं उनमें वर्तमान जीवों की, की गई है (५-९२)। इस प्रकार यह क्षेत्रानुगम ९२ सूत्रों में समाप्त हुआ।

४. स्पर्शनानुगम

इस चौथे स्पर्शनानुगम अनुयोगद्वार में सब सूत्र १८५ हैं। स्पर्शन से अभिप्राय जीवों के द्वारा स्पृष्ट क्षेत्र का है। पूर्व क्षेत्रानुगम में जहाँ जीवों के क्षेत्र की प्ररूपणा वर्तमानकाल के आश्रय से की गई है वहाँ इस स्पर्शनानुगम अनुयोगद्वार में विभिन्न जीवों के द्वारा तीनों कालों में स्पर्श किए जानेवाले क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है। यह क्षेत्रानुगम की अपेक्षा इस स्पर्शनानुगम की विशेषता है।

यहाँ ओघ की अपेक्षा स्पर्शन की प्ररूपणा में सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श किया गया है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उनके द्वारा सब ही लोक का स्पर्श किया गया है (सूत्र २)। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जो मिथ्यादृष्टि जीवों से अछूता रहा हो।

आगे सासादनसम्यग्दृष्टियों के स्पर्शनक्षेत्र का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उनके द्वारा लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया गया है। यह उनका क्षेत्रप्रमाण वर्तमान काल की अपेक्षा निर्दिष्ट किया गया है, जो पूर्व क्षेत्रानुगम में भी कहा जा चुका है।

अतीत काल की अपेक्षा उनके स्पर्शनप्रमाण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अथवा उनके द्वारा लोकनाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग (८/१४) और कुछ कम बारह भाग स्पर्श किए गए हैं (३-४)।

सूत्र निर्दिष्ट उनका वह आठ बटे चौदह भाग स्पर्शनक्षेत्र विहार अथवा वेदनासमुद्घातादि में परिणत सासादनसम्यग्दृष्टियों के सम्भव है। कारण यह है कि भवनवासी देव मेरुतल से नीचे तीसरी पृथिवी तक दो घनराजु क्षेत्र में जाते हैं तथा ऊपर वे उपरिम देवों के प्रयोग से सोलहवें कल्प तक छह घनराजु क्षेत्र में जा सकते हैं। इस प्रकार चौदह घनराजु प्रमाण त्रसनाली में आठ (२+६) राजु प्रमाण क्षेत्र में उनका गमन सम्भव है। कुछ कम में उसे तीसरी पृथिवी के नीचे के एक हजार योजनों से कम समझना चाहिए।

उनका बारह बटे चौदह भाग स्पर्शनक्षेत्र मारणान्तिकसमुद्घातगत सासादनसम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा कहा गया है। इसका कारण यह है कि मेरुतल से ऊपर ईषत्प्राग्भार पृथिवी तक

सात राजु और नीचे छठी पृथिवी तक पाँच राजु, इतने क्षेत्र में उनका मारणान्तिकसमुद्घात सम्भव है। इस प्रकार मारणान्तिकसमुद्घात की अपेक्षा उनका बारह (७ + ५) राजु प्रमाण स्पर्शनक्षेत्र घटित होता है। कुछ कम में उसे छठी पृथिवी के नीचे के एक हजार योजन से कम समझना चाहिए।

इसी प्रकार से आगे इस ओघ प्ररूपणा में सम्यग्मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि (५-६), संयतासंयत (७-८) और प्रमत्तसंयतादि अयोगिकेवली पर्यन्त (६) गुणस्थानवर्ती जीवों के विषय में उस स्पर्शन के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है। सयोगिकेवलियों के द्वारा स्पृष्ट क्षेत्र के प्रमाण में विशेषता होने से उसकी प्ररूपणा पृथक् से अगले सूत्र (१०) में की गई है।

आगे आदेश की अपेक्षा गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में जहाँ जो-जो गुणस्थान सम्भव हैं उनमें वर्तमान जीवों के विषय में भी वह स्पर्शनप्ररूपणा इस पद्धति से की गई है।

५. कालानुगम

इस पाँचवें अनुयोगद्वार में समस्त सूत्र संख्या ३४२ है। यहाँ पूर्व पद्धति के अनुसार प्रथमतः ओघ की अपेक्षा और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा काल की प्ररूपणा की गई है। काल से यहाँ द्रव्यकाल से उत्पन्न परिणामस्वरूप नोआगम भावकाल विवक्षित रहा है, जो कल्पकाल पर्यन्त क्रम से समय व आवली आदि स्वरूप है। काल की यह प्ररूपणा यहाँ एक जीव की अपेक्षा और नाना जीवों की अपेक्षा पृथक्-पृथक् की गई है।

ओघप्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टियों के काल का उल्लेख किया गया है व कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव नाना जीवों की अपेक्षा सर्व काल रहते हैं। पर एक जीव की अपेक्षा उनका वह काल अनादि-अपर्यवसित, अनादि-सपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित है। आगे सूत्र में सादि-सपर्यवसित काल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिनमें सादि-सपर्यवसित काल है उसका प्रमाण जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से कुछ कम अर्ध-पुद्गलपरिवर्तन है (२-४)।

यहाँ जो मिथ्यात्व का काल अनादि-अपर्यवसित कहा गया है वह अभव्य जीव की अपेक्षा कहा गया है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का न आदि है, न अन्त और न मध्य है—वह सदा बना रहने वाला है। दूसरा अनादि-सपर्यवसित काल उस भव्य के मिथ्यात्व को लक्ष्य में रख-कर निर्दिष्ट किया गया है जो अनादि काल से मिथ्यादृष्टि रहकर अन्त में उससे रहित होता हुआ सम्यग्दृष्टि हो जाता है और पुनः मिथ्यात्व को न प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। धवला में उसके लिए वर्धनकुमार का उदाहरण दिया गया है।

सादि-सपर्यवसित मिथ्यात्व का काल जघन्य और उत्कृष्ट के रूप में दो प्रकार का है। इनसे जघन्य से उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। जैसे—कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा प्रमत्तसंयत परिणाम के वश मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। वह उस सादि मिथ्यात्व के साथ सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्तकाल रहकर फिर से भी सम्यग्मिथ्यात्व, असंयम के साथ सम्यक्त्व, संयमासंयम अथवा अप्रमत्तस्वरूप से संयम को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसके उस सादि मिथ्यात्व का सबसे जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

उसका उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है। कारण यह है कि उक्त प्रकार से मिथ्यात्व को प्राप्त जीव उस मिथ्यात्व के साथ अधिक-से-अधिक कुछ (चौदह अन्तर्मुहूर्त)

क्रम अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल तक ही संसार में परिभ्रमण करता है, इसके बाद वह सम्यक्त्व ग्रहणकर नियम से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

इस ओघप्ररूपणा में आगे इसी प्रकार से सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत, चार उपशमक, चार क्षपक और सयोगिकेवली इनके काल की प्ररूपणा की गई है (५-३२)।

ओघप्ररूपणा के पश्चात् आदेशप्ररूपणा में क्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में जहाँ जितने गुणस्थान सम्भव हैं उनमें वर्तमान जीवों के काल की प्ररूपणा उसी पद्धति से की गई है (३३-३४२)।

क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम और कालानुगम ये तीन अनुयोगद्वार धवला टीका के साथ चौथी जिल्द में प्रकाशित हुए हैं।

६. अन्तरानुगम

अन्तरानुगम में ओघ और आदेश की अपेक्षा क्रम से अन्तर की प्ररूपणा की गई है। अन्तर, उच्छेद, विरह और परिणामान्तर की प्राप्ति ये समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह है कि किसी गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जाकर पुनः उस गुणस्थान की प्राप्ति में जितना काल लगता है उसका नाम अन्तर है।

ओघ की अपेक्षा उस अन्तर की प्ररूपणा करते हुए सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टियों का अन्तर कितने काल होता है इसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि नाना जीवों की अपेक्षा उनका कभी अन्तर नहीं होता—वे सदा ही विद्यमान रहते हैं।

एक जीव की अपेक्षा उनका अन्तर सम्भव है। वह जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से कुछ कम दो छयासठ (६६ × २ = १३२) सागरोपम प्रमाण होता है (२-४)।[1]

धवला में इसे इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—कोई एक तिर्यंच या मनुष्य चौदह सागरोपम प्रमाण आयु स्थिति वाले लान्तव-कापिष्ट कल्पवासी देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने एक सागरोपम विताकर दूसरे सागरोपम के प्रथम समय में सम्यक्त्व को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार से वह वहाँ सम्यक्त्व के साथ तेरह सागरोपम काल तक रहकर वहाँ से च्युत हुआ और मनुष्य हो गया। वहाँ वह संयम अथवा संयमासंयम का परिपालन कर मनुष्य आयु से कम वाईस सागरोपम स्थिति वाले आरण-अच्युत कल्प के देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर वह पुनः मनुष्य हुआ। वहाँ संयम का परिपालन करके वह मनुष्यायु से कम इकतीस सागरोपम की स्थितिवाले देवों में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार से वह अन्तर्मुहूर्त से कम छ्यासठ (१३ + २२ + ३१) सागरोपम के अन्तिम समय में परिणाम के वश सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और उसके साथ अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त हो गया। तत्पश्चात् वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य हो गया। वहाँ संयम अथवा संयमासंयम का परिपालन करके वह मनुष्यायु से कम वीस सागरोपम आयुवाले देवों में उत्पन्न हुआ। और तत्पश्चात् वह मनुष्यायु से कम क्रमशः वाईस और चौवीस सागरोपम की स्थितिवाले देवों में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त कम दो छ्यासठ (१३ + २२ + ३१ = ६६; २० + २२

---

१. इस सवका स्पष्टीकरण आगे 'धवलागत-विषय-परिचय' में किया जाने वाला है।

+२४=६६) सागरोपम के अन्तिम समय में मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया। इस प्रकार से मिथ्यात्व का वह उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त कम दो छ्यासठ सागरोपम उपलब्ध हो जाता है।

यह अव्युत्पन्न जनों के अवबोधनार्थ दिशावबोध कराया गया है। वस्तुतः उस अन्तर की पूर्ति जिस किसी भी प्रकार से कराई जा सकती है।

इसी प्रकार से आगे सासादनसम्यग्दृष्टि आदि शेष गुणस्थानवर्ती जीवों के अन्तर की प्ररूपणा नाना जीवों व एक जीव की अपेक्षा की गई है (५-२०)।

इस प्रकार ओघप्ररूपणा को समाप्त कर आगे आदेश की अपेक्षा उस अन्तर की प्ररूपणा करते हुए क्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थानों के आश्रय से उस अन्तर की प्ररूपणा उसी पद्धति से एक और नाना जीवों की अपेक्षा की गई है (२१-३९७)। इस प्रकार यह अनुयोगद्वार ३९७ सूत्रों में समाप्त हुआ है।

७. भावानुगम

भाव से यहाँ जीवपरिणाम की विवक्षा रही है। वह पाँच प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। प्रकृत में इन जीवभावों की प्ररूपणा यहाँ पूर्व पद्धति के अनुसार प्रथमतः ओघ की अपेक्षा और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा की गई है। यहाँ सब सूत्र ९३ हैं।

ओघप्ररूपणा में सर्वप्रथम 'मिथ्यादृष्टि' यह कौन-सा भाव है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह औदयिक भाव है। कारण यह है कि वह तत्त्वार्थ के अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व परिणाम मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होता है (२)।

आगे क्रमप्राप्त दूसरे 'सासादन' परिणाम को पारिणामिक कहा गया है। जो भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के विना अन्य कारणों से उत्पन्न हुआ करता है उसे पारिणामिक भाव कहा जाता है। प्रकृत सासादन परिणाम चूंकि दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम और क्षय की अपेक्षा न करके अन्य कारणों से उत्पन्न होता है, इसीलिए उसे पारिणामिक भाव कहा गया है। यद्यपि वह सासादन भाव अन्यतर अनन्तानुबन्धी के उदय से होता है, इसलिए उसे इस अपेक्षा से औदयिक कहा जा सकता था; किन्तु इस भाव प्ररूपणा के प्रसंग में प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शनमोहनीय के उदयादि से उत्पन्न होने वाले भावों की ही विवक्षा रही है, अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाले भावों की वहाँ विवक्षा नहीं रही। यही कारण है जो सासादन परिणाम को सूत्र में पारिणामिक कहा गया है (३)।

इसी प्रकार से प्ररूपणा करते हुए आगे सम्यग्मिथ्यादृष्टि को क्षायोपशमिक भाव कहा गया है। असंयतसम्यग्दृष्टि भाव औपशमिक भी है, क्षायिक भी है और क्षायोपशमिक भी है। विशेषता यह है कि असंयतसम्यग्दृष्टि का असंयतत्व भाव औदयिक है, क्योंकि वह संयमघाती कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ये तीन भाव क्षायोपशमिक हैं। कारण यह कि ये तीनों भाव चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। यह कथन चारित्रमोहनीय की प्रधानता से किया गया है, यहाँ दर्शनमोहनीय की विवक्षा नहीं रही है। आगे चार उपशामक भावों को औपशमिक तथा चार क्षपक, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन भावों को क्षायिक भाव कहा गया है (४-९)।

इस प्रकार ओघप्ररूपणा को समाप्त कर आदेश की अपेक्षा भावों की प्ररूपणा करते हुए

क्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में जो-जो गुणस्थान सम्भव हैं उनके आश्रय से प्रकृत भावप्ररूपणा की गई है (१-९३)।

८. अल्पबहुत्वानुगम

जीवस्थान के उपर्युक्त आठ अनुयोगद्वारों में यह अन्तिम है। इसकी सूत्रसंख्या ३८२ है। अल्पबहुत्व का अर्थ हीनाधिकता है। विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीव अन्य गुणस्थानवर्ती जीवों से अल्प हैं या अधिक हैं इत्यादि का विचार इस अनुयोगद्वार में किया गया है। पूर्व पद्धति के अनुसार उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा भी प्रथमतः ओघ की अपेक्षा और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा की गई है। जैसे—

अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्परायिक इन तीन गुणस्थानवर्ती उपशामक प्रवेश की अपेक्षा परस्पर समान तथा अन्य गुणस्थानवर्ती जीवों की अपेक्षा अल्प हैं। उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ भी उतने ही हैं। क्षपक उनसे संख्यातगुणे (दुगुने) हैं। क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ पूर्वोक्त क्षपकों के समान उतने ही हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली दोनों प्रवेश की अपेक्षा परस्पर में समान व उतने ही हैं। किन्तु सयोगिकेवली संचय की अपेक्षा उनसे संख्यातगुणे हैं। इन सयोगिकेवलियों से अक्षपक व अनुपशामक अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे, उनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे, उनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे, उनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे, उनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे, उनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे और उनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं (२-१४)।

आगे यहाँ असंयतसम्यग्दृष्टि व संयतासंयत आदि उक्त गुणस्थानों में पृथक्-पृथक् उपशमसम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि इन तीनों में भी परस्पर अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है (१५-२६)। जैसे—

असंयतसम्यग्दृष्टि स्थान में उपशमसम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं, उनसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं, उनसे वेदकसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं; इत्यादि।

इस प्रकार ओघप्ररूपणा को समाप्त कर तत्पश्चात् आदेश प्ररूपणा में गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में जहाँ जो गुणस्थान सम्भव है उनमें वर्तमान जीवों के अल्प-बहुत्व को प्रकट किया गया है (२७-३८२)।

अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये तीन अनुयोगद्वार षट्खण्डागम की १६ जिल्दों में से ५वीं जिल्द में प्रकाशित हुए हैं।

जीवस्थान-चूलिका

जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत उपर्युक्त सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर आगे का जो गति-आगति पर्यन्त ग्रन्थभाग है धवलाकार ने उसे जीवस्थान की चूलिका कहा है।[1] धवलाकार के अनुसार उक्त आठ अनुयोगद्वारों के विषम स्थलों का विवरण देना,

---

१. तिहुवणसिरसेहरए भवभयगब्भादु णिग्गदे पणउं।
सिद्धे जीवट्ठाणस्समलिणगुणचूलियं वोच्छं॥ —धवला पु० ६, पृ० १

इस चूलिका का प्रयोजन रहा है।[1]

इसमें ये नौ चूलिकायें हैं—१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. स्थानसमुत्कीर्तन, ३. प्रथम महादण्डक, ४. द्वितीय महादण्डक, ५. तृतीय महादण्डक, ६. उत्कृष्ट स्थिति, ७. जघन्य स्थिति, ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति, और ९. गति-आगति। यहाँ उनका यथाक्रम से संक्षेप में परिचय कराया जाता है—

सर्वप्रथम यहाँ ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो प्रथम सूत्र प्राप्त हुआ है उसमें ये प्रश्न उठाये गये हैं—प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव कितनी व किन प्रकृतियों को बांधता है, कितने काल की स्थितिवाले कर्मों के आश्रय से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, अथवा नहीं प्राप्त करता है, कितने काल के द्वारा मिथ्यात्व के कितने भागों को करता है, उपशामना अथवा क्षपणा किन क्षेत्रों में व किसके समीप में, कितने दर्शनमोहनीय के क्षय के करनेवाले व सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त करनेवाले के होती है।

ये प्रश्न उन नौ चूलिकाओं की भूमिका स्वरूप हैं, जिनकी कि प्ररूपणा क्रम से आगे की जानेवाली है, इन्हीं के स्पष्टीकरण में वे नौ चूलिकायें रची गई हैं। इनके अन्तर्गत विषय का परिचय यहाँ सूत्रानुसार संक्षेप में कराया जाता है। उसका विशेष परिचय आगे धवला के आधार से कराया जाने वाला है।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—यहाँ प्रथमतः ज्ञानावरणीयादि आठ मूल कर्मप्रकृतियों का और तत्पश्चात् पृथक्-पृथक् उनकी उत्तर प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। यहाँ सब सूत्र ४६ हैं।

२. स्थानसमुत्कीर्तन—प्रथम चूलिका में जिन कर्म-प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है वे एक साथ बँधती हैं या क्रम से बँधती हैं, इसे इस दूसरी चूलिका में स्पष्ट किया गया है। जिस संख्या अथवा अवस्था विशेष में प्रकृतियाँ रहती हैं उसका नाम स्थान है। वह मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत-स्वरूप है (१-३)। संयत शब्द से यहाँ प्रमत्तसंयत आदि सयोगिकेवली पर्यन्त आठ गुणस्थान अभिप्रेत हैं। अयोगिकेवली गुणस्थान कर्मबन्ध से रहित है, अतः उसका ग्रहण नहीं किया गया है। इन स्थानों की प्ररूपणा यहाँ क्रम से इस प्रकार की गई है—

ज्ञानावरण की आभिनिवोधिक आदि पाँच प्रकृतियाँ हैं। ये पाँचों साथ-साथ ही बँधती हैं। इस प्रकार इन पाँचों को बाँधनेवाले जीव का पाँच संख्यारूप एक ही अवस्था विशेष में अवस्थान है। वह मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत के होता है। 'संयत' से यहाँ सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त संयतों को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आगे के उपशान्तकषायादि संयतों से उनका बन्धन सम्भव नहीं है (४-६)।

आगे दर्शनावरणीय के प्रसंग में कहा गया है कि दर्शनावरणीय कर्म के नौ, छह और चार के तीन स्थान हैं। उनमें निद्रानिद्रा आदि नौ ही दर्शनावरणीय प्रकृतियों के बाँधनेवाले जीव का सम्यक्त्व के अभाव रूप एक अवस्था विशेष में अवस्थान है। वह मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि के होता है। कारण यह कि आगे नौ की संख्या में उनका बन्ध सम्भव नहीं

---

१. सम्मत्तेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु चूलिया किमट्ठमागदा ? पुव्वुत्ताणमट्ठण्णमणिओगद्दाराण विसमपएसविवरणट्ठमागदा।—धवला पु० ६, पृ० २

है। उन नौ प्रकृतियों में निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन को छोड़कर शेष छह का दूसरा स्थान है, जो सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण के सात भागों में से प्रथम भाग तक अवस्थित संयतों के ही सम्भव है, आगे छह की संख्या में उनका बन्ध सम्भव नहीं रहता। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चार दर्शनावरण प्रकृतियों का तीसरा स्थान है जो अपूर्वकरण के दूसरे भाग से लेकर सूक्ष्मसाम्पराधिक संयत तक सम्भव है। इसके आगे उस दर्शनावरणीय का बन्ध नहीं होता (७-१६)।

इसी पद्धति से आगे क्रमशः वेदनीय आदि शेष कर्मों के भी यथासम्भव स्थानों की प्ररूपणा की गई है (१७-११७)।

इस प्रकार यह दूसरी स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका ११७ सूत्रों में समाप्त हुई है।

३. **प्रथममहादण्डक**—इस तीसरी चूलिका में दो ही सूत्र हैं। इनमें से प्रथम सूत्र में 'अब प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव जिन प्रकृतियों को नहीं बाँधता है उनका निरूपण करते हैं' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। दूसरे सूत्र में कृत प्रतिज्ञा के अनुसार उन प्रकृतियों का उल्लेख कर दिया गया है जिन्हें प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य बाँधता है।

इस सूत्र के मध्यगत 'आउगं च ण बंधदि' इस वचन द्वारा आयु कर्म के बन्ध का निषेध किया गया है। साथ ही उसके अन्तर्गत 'च' शब्द से उन अन्य प्रकृतियों की भी सूचना की गई है जिन्हें वह आयु के साथ नहीं बाँधता है। उन प्रकृतियों का निर्देश यद्यपि सूत्र में नहीं किया गया है, फिर भी उनका उल्लेख धवला में कर दिया गया है।

४. **द्वितीय महादण्डक**—इस चौथी चूलिका में भी २ ही सूत्र हैं। यहाँ पहले सूत्र में दूसरे दण्डक के करने की प्रतिज्ञा की गई है और तदनुसार अगले सूत्र में उन प्रकृतियों का उल्लेख कर दिया गया है जिन्हें प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ देव व सातवीं पृथिवी के नारकी को छोड़कर अन्य नारकी बाँधता है। पूर्व के समान यहाँ भी 'आउगं च ण बंधदि' इस सूत्रांश के द्वारा आयु के बाँधने का निषेध किया गया है। साथ ही 'च' शब्द से सूचित उन अन्य प्रकृतियों के बन्ध का भी निषेध किया गया है जिन्हें वह नहीं बाँधता है। सूत्र में अनिर्दिष्ट उन न बँधने वाली अन्य प्रकृतियों का उल्लेख धवला में कर दिया गया है।

५. **तृतीय महादण्डक**—इस पाँचवीं चूलिका में भी २ ही सूत्र हैं। उनमें प्रथम सूत्र के द्वारा तीसरे महादण्डक के करने की प्रतिज्ञा करते हुए अगले सूत्र में उन प्रकृतियों का नाम निर्देश किया गया है जिन्हें प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ सातवीं पृथिवी का नारकी बाँधता है। यहाँ भी 'आउगं च ण बंधदि' इस सूत्रांश के द्वारा आयु के बन्ध का तथा 'च' शब्द से सूचित अन्य कुछ प्रकृतियों के बन्ध का भी निषेध कर दिया गया है।

६. **उत्कृष्ट स्थिति**—इस छठी चूलिका में ४४ सूत्र हैं। चूलिका को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम जो प्रश्न उठाये गये थे उनमें एक प्रश्न यह भी था कि कितने काल की स्थितिवाले कर्मों के आश्रय से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, अथवा नहीं करता है। उसकी यहाँ प्रथमसूत्र में पुनरावृत्ति करते हुए यह कहा गया है कि 'कितने काल की स्थितिवाले कर्मों के आश्रय से सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है?' इस प्रश्न को इस चूलिका में स्पष्ट किया जाता है। अभिप्राय यह है कि कर्मों की जिस उत्कृष्ट स्थिति के रहते हुए वह सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता है उस उत्कृष्ट स्थिति की प्ररूपणा इस छठी चूलिका में की गई है।

आगे उस स्थिति के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए यहाँ प्रथमतः पाँच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, असातावेदनीय और पाँच अन्तराय इन कर्मों की समान रूप से बँधनेवाली तीस कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का उल्लेख किया गया है। साथ ही उनके आवाधाकाल और निषेकरचना के क्रम का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि उनका आवाधाकाल तीन हजार वर्ष है। इस आवाधाकाल से हीन उनका कर्मनिषेक होता है (२-६)।

बाँधे गये कर्मस्कन्ध जब तक उदय या उदीरणा को प्राप्त नहीं होते तब तक का काल आबाधाकाल कहलाता है। बाँधी गई स्थिति के प्रमाण में से इस आवाधाकाल के कम कर देने पर शेष स्थितिप्रमाण के जितने समय होते हैं उतने कर्मनिषेक होते हैं जो आवाधाकाल के अनन्तर नियमित क्रम से प्रत्येक समय में निर्जरा को प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, ऊपर जो ज्ञानावरणादि की तीन हजार वर्ष प्रमाण आवाधा वतलाई गई है उसे उस तीस सागरोपम स्थिति में से कम कर देने पर शेप स्थितिप्रमाण के जितने समय रहते हैं उतने निषेक होंगे। उनमें एक-एक निषेक क्रम से तीन हजार वर्ष के अनन्तर एक-एक समय में निर्जीर्ण होनेवाला है। इस प्रकार स्थिति के अन्तिम समय में अन्तिम निषेक निर्जरा को प्राप्त होगा।

इसी पद्धति से आगे क्रम से समान स्थिति वाले अन्य साता वेदनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति, आवाधा और कर्मनिषेक की प्ररूपणा की गई है (७-२१)।

आयु कर्म को छोड़ शेष सात कर्मों की आवाधा के विषय में साधारणतः यह नियम है कि एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति की आवाधा सौ वर्ष होती है। इसी नियम के अनुसार विवक्षित कर्म की स्थिति की आवाधा के प्रमाण को प्राप्त किया जा सकता है। अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति की आवाधा अन्तर्मुहूर्त होती है।

यह आवाधा का नियम आयु कर्म के विषय में लागू नहीं होता। आयु कर्म की आवाधा उसके बाँधने के समय जितनी भुज्यमान आयु शेष रहती है उतनी होती है। वह पूर्वकोटि के तृतीय भाग से लेकर असंक्षेपाद्धा (क्षुद्रभव के संख्यातवें भाग) पर्यन्त होती है।

प्रस्तुत चूलिका में आयुकर्म के प्रसंग में नारकायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम प्रमाण व उसकी आवाधा पूर्वकोटि के तृतीय भाग प्रमाण निर्दिष्ट की गई है। उसका कर्मनिषेक अन्य कर्मों के समान आवाधाकाल से हीन न होकर सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण कहा गया है। तिर्यंच आयु और मनुष्य आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम प्रमाण तथा उसका आवाधाकाल पूर्वकोटि का तृतीय भाग निर्दिष्ट किया गया है। कर्मनिषेक उसका सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण ही होता है (२२-२६)।

इसी पद्धति से आगे द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियादि अन्य के कर्मों की भी यथासम्भव उत्कृष्ट स्थिति, आवाधा और कर्मनिषेक की प्ररूपणा की गई है (३०-४४)।

७. जघन्यस्थिति—जिस प्रकार इससे पूर्व छठी चूलिका में सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति आदि की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार इस चूलिका में सब कर्मों की जघन्य स्थिति, आबाधा और कर्मनिषेक की प्ररूपणा की गई है। इसमें सब सूत्र ४३ हैं।

८. सम्यक्त्वोत्पत्ति—इस आठवीं चूलिका में सर्वप्रथम यह सूचना की गई है कि जीव इतने काल की स्थितिवाले, पूर्व दो चूलिकाओं में निर्दिष्ट उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति से युक्त, कर्मों के रहते सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है। उस सम्यक्त्व की प्राप्ति कब सम्भव है इसे

स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि जब जीव इन सब कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति को बाँधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है (१-३)।

इसका अभिप्राय यह है कि कर्मों के उत्कृष्ट व जघन्य स्थितिबन्ध, उत्कृष्ट व जघन्य स्थितिसत्त्व, उत्कृष्ट व जघन्य अनुभागसत्त्व तथा उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशसत्त्व के होने पर जीव सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है। किन्तु जब वह उन कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को बाँधता है तब प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यह भी सामान्य से कहा गया है। वस्तुतः उस सम्यक्त्व की प्राप्ति अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन परिणामों के अन्तिम समय में ही सम्भव है।

आगे प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीव के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि उसे पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्वविशुद्ध होना चाहिए। वह जब इन सभी कर्मों की संख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है तब प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ वह अन्तर्मुहूर्त अन्तरकरण करके मिथ्यात्व के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। इस प्रकार से वह दर्शनमोहनीय को उपशमाता है (४-८)।

विवक्षित कर्मों की नीचे व ऊपर की स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणामविशेष के द्वारा अभाव करना, यह अन्तरकरण का लक्षण है।

इस सब का उपसंहार करते हुए आगे के सूत्र में कहा गया है कि इस प्रकार दर्शनमोहनीय को उपशमाता हुआ वह उसे चारों ही गतियों में उपशमाता है, चारों गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियों में नहीं; पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है, असंज्ञियों में नहीं; संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भजों में उपशमाता है, संमूर्च्छिनों में नहीं; गर्भजों में भी पर्याप्तकों में उपशमाता है, अपर्याप्तकों में नहीं; पर्याप्तकों में भी संख्यातवर्षायुष्कों (कर्मभूमिजों) में भी उपशमाता है और असंख्यात वर्षायुष्कों (भोगभूमिजों) में भी उपशमाता है। वह दर्शनमोहनीय की उपशामना किसी भी क्षेत्र में व किसी के भी समीप में की जा सकती है, इसके लिए क्षेत्र विशेष का कुछ नियम नहीं है। इसी प्रकार किसके समीप में वह की जाती है, इसके लिए भी कोई विशेष नियम नहीं है—किसी के भी समीप में वह की जा सकती है (९-१०)।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय की उपशामना विधि की प्ररूपणा कर देने पर यह पूछा गया है कि दर्शनमोहनीय के क्षय को प्रारम्भ करनेवाला जीव कहाँ उसे प्रारम्भ करता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि वह उसे अढ़ाई द्वीप-समुद्रों के अन्तर्गत पन्द्रह कर्मभूमियों में प्रारम्भ करता है, जहाँ व जिस काल में वहाँ जिन, केवली व तीर्थंकर हों। वह उसका समापन चारों गतियों में कहीं भी कर सकता है (११-१२)।

यहाँ (सूत्र ११ में) सामान्य से उपर्युक्त जिन, केवली और तीर्थंकर शब्दों के विषय में स्पष्टीकरण करते हुए धवलाकार ने प्रथम तो देशजिन और सामान्य केवली का निषेध करके तीर्थंकर केवली को ग्रहण किया है। तत्पश्चात् विकल्प रूप में 'अथवा' कहकर यह भी अभिप्राय प्रकट किया है कि 'जिन' शब्द से चौदह पूर्वों के धारकों, 'केवली' शब्द से तीर्थंकर प्रकृति के उदय से रहित केवलज्ञानियों को, और 'तीर्थंकर' शब्द से तीर्थंकर प्रकृति के उदय से उत्पन्न होनेवाले आठ प्रतिहार्यों और चौंतीस अतिशयों से सम्पन्न अरहन्तों को ग्रहण

करना चाहिए। इन तीनों में से किसी के भी पादमूल में उस दर्शनमोहनीय के क्षय को प्रारम्भ किया जा सकता है।[1]

पूर्व में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को हजार सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थापित करता है (५)। उसका स्मरण कराते हुए यहाँ पुनः यह कहा गया है कि सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव आयु को छोड़ शेष ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की स्थिति को सर्वविशुद्ध मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा संख्यातगुणी हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थापित करता है (१३)।

आगे चारित्र की उत्पत्ति के प्रसंग में कहा गया है कि चारित्र को प्राप्त करने वाला जीव आयु को छोड़ शेष ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की स्थिति को सम्यक्त्व के अभिमुख हुए उस मिथ्यादृष्टि के द्वारा स्थापित स्थिति की अपेक्षा संख्यातगुणी हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थापित करता है (१४)।

सम्पूर्ण चारित्र[2] को प्राप्त करने वाला जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की स्थिति को अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है। वेदनीय की स्थिति को वह बारह मुहूर्त, नाम व गोत्र की स्थिति को आठ मुहूर्त और शेष कर्मों की स्थिति को भिन्न मुहूर्त मात्र स्थापित करता है (१५-१६)।

यहाँ धवला में संयमासंयम तथा क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक इन तीन भेद-स्वरूप सकलचारित्र की प्राप्ति के विधान की विस्तार से प्ररूपणा की गई है।[3] इसी प्रकार आगे सम्पूर्ण चारित्र की प्राप्ति के विधान की भी वहाँ विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की गई है।[4]

इस सब का स्पष्टीकरण आगे 'धवला' के प्रसंग में किया जाएगा।

९. गति-आगति—उपर्युक्त नौ चूलिकाओं में यह अन्तिम है। इसमें गति-आगति के आश्रय से इन चार विषयों का क्रम से विचार किया गया है—

१. नारक मिथ्यादृष्टि आदि प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हुए उसे वे किस अवस्था में व किन कारणों से उत्पन्न करते हैं, इसका विचार किया गया है (सूत्र १-४३)।

२. नारक मिथ्यादृष्टि आदि विवक्षित गति में किस गुणस्थान के साथ प्रविष्ट होते हैं और वहाँ से वे किस गुणस्थान के साथ निकलते हैं, इसका स्पष्टीकरण किया गया है (४४-७५)।

३. नारक मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि आदि विवक्षित पर्याय में अपनी आयु को समाप्त करके अगले भव में अन्यत्र किन गतियों में आते-जाते हैं तथा वहाँ वे किन अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं व किन अवस्थाओं को नहीं प्राप्त करते हैं, इसकी चर्चा की गई है (७६-२०२)।

---

१. धवला पु० ६, पृ० २४६

२. 'सम्पूर्ण चारित्र' से यह अभिप्राय समझना चाहिए कि योग का अभाव हो जाने पर जब अयोगिकेवली के शैलेश्य अवस्था प्राप्त होती है तभी चारित्र की पूर्णता होती है।

३. धवला पु० ६, पृ० २६८-३४२

४. धवला पु० ६, पृ० ३४२-४१८

४. नारक आदि विवक्षित पर्याय को छोड़कर किन गतियों में आते-जाते हैं व वहाँ उत्पन्न होकर किन-किन ज्ञानादि गुणों को उत्पन्न करते और किन गुणों को वे नहीं उत्पन्न करते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (२०३-४३)।

इनमें से प्रत्येक को यहाँ उदाहरण के रूप में उसके प्रारम्भिक अंश को लेकर स्पष्ट किया जाता है—

१. नारकी मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हुए उसे पर्याप्तकों में उत्पन्न करते हैं, अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में भी वे पर्याप्त होने के प्रथम समय से लेकर तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उत्पन्न करते हैं, उसके पूर्व में नहीं। प्रथम तीन पृथिवियों में वर्तमान नारकियों में कोई उस सम्यक्त्व को जातिस्मरण से, कोई धर्मश्रवण से और कोई वेदना के अनुभव से इस प्रकार तीन कारणों से उत्पन्न करते हैं। नीचे चार पृथिवियों के नारकी धर्मश्रवण के बिना उपर्युक्त दो ही कारणों से उसे उत्पन्न करते हैं (१-१२)।

इसी प्रकार से शेष तिर्यंचों आदि में भी उक्त सम्यक्त्व की उत्पत्ति को स्पष्ट किया गया है।

२. नारकियों में कितने ही मिथ्यात्व के साथ नरकगति में प्रविष्ट होकर व वहाँ मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व के साथ रहकर अन्त में वहाँ से मिथ्यात्व के साथ निकलते हैं। कोई मिथ्यात्व के साथ वहाँ प्रविष्ट होकर अन्त में सासादनसम्यक्त्व के साथ वहाँ से निकलते हैं। कोई मिथ्यात्व के साथ प्रविष्ट होकर सम्यक्त्व के साथ वहाँ से निकलते हैं। कोई सम्यक्त्व के साथ नरकगति में प्रविष्ट होकर सम्यक्त्व के साथ ही वहाँ से निकलते हैं। पर यह प्रथम पृथिवी में प्रविष्ट होने वाले नारकियों के ही सम्भव है। इसका कारण यह है कि जिन्होंने सम्यक्त्व के प्राप्त करने के पूर्व नारकायु को बाँध लिया है व तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त किया है वे बद्धायुष्क जीव नरकगति में तो जाते हैं, पर प्रथम पृथिवी में ही जाकर उत्पन्न होते हैं; आगे की पृथिवियों में उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

दूसरी से छठी पृथिवी के नारकियों में कोई मिथ्यात्व के साथ वहाँ जाकर मिथ्यात्व के साथ ही वहाँ से निकलते हैं, कोई मिथ्यात्व के साथ वहाँ जाकर सासादनसम्यक्त्व के साथ वहाँ से निकलते हैं, और कोई मिथ्यात्व के साथ जाकर सम्यक्त्व के साथ वहाँ से निकलते हैं।

सातवीं पृथिवी के नारकियों में सभी मिथ्यात्व के साथ ही वहाँ से निकलते हैं। जो नारकी वहाँ सम्यक्त्व, सासादनसम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व को भी प्राप्त होते हैं वे मरण के समय उससे च्युत होकर नियम से मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं (४४-५२)।

इसी प्रकार से आगे क्रम से तिर्यंच, मनुष्य और देवों के विषय में भी प्रकृत प्ररूपणा की गई है (५३-७५)।

३. नारकी मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि नरक से निकलकर कितनी गतियों में आते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वे तिर्यंच गति और मनुष्य गति इन दो गतियों में आते हैं। तिर्यंचों में आते हुए वे पंचेन्द्रियों में आते हैं, एकन्द्रियों व विकलेन्द्रियों में नहीं आते। पंचेन्द्रियों में आते हुए वे संज्ञियों में आते हैं, असंज्ञियों में नहीं। संज्ञियों में आते हुए वे गर्भ जन्मवालों में आते हैं, सम्मूर्छन जन्मवालों में नहीं। गर्भजों में आते हुए वे पर्याप्तकों में आते हैं, अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में आते हुए वे संख्यातवर्षायुष्कों में आते हैं, असंख्यात-वर्षायुष्कों में नहीं।

मनुष्यों में आते हुए वे गर्भजों में आते हैं, सम्मूर्छनों में नहीं। गर्भजों में आते हुए वे पर्याप्तकों में आते हैं, अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में आते हुए वे संख्यातवर्षायुष्कों में आते हैं, असंख्यात वर्षायुष्कों में नहीं (७६-८५)।

यह प्ररूपणा यहाँ नारकी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टियों के आश्रय से की गई है। इसी पद्धति से आगे वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि नारकियों (८६-१००), विभिन्न तिर्यंचों (१०१-४०), मनुष्यों (१४१-७२) और देवों (१७३-२०२) के आश्रय से भी की गई है। विशेष इतना है कि सम्यग्मिथ्यात्व के साथ कहीं से भी निकलना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस गुणस्थान में मरण नहीं होता।

४. नीचे सातवीं पृथिवी के नारकी नारक पर्याय को छोड़कर कितनी गतियों में आते हैं, इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि वे एक मात्र तिर्यंचगति में आते हैं। तिर्यंचों में उत्पन्न होकर वे तिर्यंच आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और संयमासंयम इन छह को नहीं उत्पन्न करते हैं। छठी पृथिवी के नारकी नरक से निकलते हुए तिर्यंच गति और मनुष्य गति इन दो गतियों में आते हैं। तिर्यंचों और मनुष्यों में उत्पन्न हुए उनमें से कितने ही इन छह को उत्पन्न करते हैं—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और संयमासंयम।

पाँचवीं पृथिवी के नारकी नरक से निकल कर तिर्यंच गति और मनुष्य गति इन दो गतियों में आते हैं। तिर्यंचों में उत्पन्न हुए उनमें से कितने ही इन छह को उत्पन्न करते हैं—आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और संयमासंयम। मनुष्यों में उत्पन्न हुए उनमें से कुछ इन आठ को उत्पन्न करते हैं—आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम।

चौथी पृथिवी के नारकी नरक से निकलकर तिर्यंच और मनुष्य इन दो गतियों में आते हैं। तिर्यंचों में उत्पन्न हुए उनमें से कितने ही पूर्वोक्त आभिनिवोधिकज्ञान आदि छह को उत्पन्न करते हैं। मनुष्यों में उत्पन्न हुए उनमें से कितने ही इन दस को उत्पन्न करते हैं—आभिनिवोधिकज्ञान आदि पाँच ज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, संयमासंयम, संयम और मुक्ति। पर वे बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं होते। मुक्ति के प्रसंग में यहाँ कहा गया है कि उनमें कितने ही अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, और सब दुःखों के अन्त होने का अनुभव करते हैं।

ऊपर की तीन पृथिवियों के नारकियों की प्ररूपणा पूर्वोक्त चतुर्थ पृथिवी से निकलते हुए नारकियों के ही समान है। विशेषता इतनी है कि उन तीन पृथिवियों से निकलकर मनुष्यों में उत्पन्न हुए उनमें कुछ पूर्वोक्त दस के साथ तीर्थंकरत्व को भी उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार वे ग्यारह को उत्पन्न करते हैं।

यह प्ररूपणा यथासम्भव सातवीं-छठी आदि पृथिवियों से निकलते हुए नारकियों के विषय में की गई है (२०३-२०)।

इसी पद्धति से आगे प्रकृत प्ररूपणा तिर्यंच-मनुष्यों (२२१-२५) और देवों (२२६-४३) के विषय में भी की गई है।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ चूलिकाओं में विभक्त यह जीवस्थान खण्ड से सम्बद्ध चूलिका प्रकरण ५१५ सूत्रों (४६+११७+२+२+२+४४+४३+१६+२४३) में समाप्त हुआ

है। वह १६ जिल्दों में से छठी जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

द्वितीय खण्ड : क्षुद्रकबन्ध (खुद्दाबन्ध)

'क्षुद्रकवन्ध' यह प्रस्तुत पट्खण्डगम का दूसरा खण्ड माना जाता है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, मूलग्रन्थकार ने इन खण्डों की न कहीं कोई व्यवस्था की है और न इन खण्डों में प्रस्तुत 'खुद्दावंध'[1] के अतिरिक्त अन्य किसी खण्ड का उन्होंने नामनिर्देश भी किया है। धवलाकार ने भी प्रस्तुत खण्ड की 'धवला' टीका को प्रारम्भ करते हुए महादण्डक के प्रारम्भ में (पृ० ५७५) ग्यारह अनुयोगद्वारों में निवद्ध 'खुद्दावंध' का नाम निर्देश किया है। पर वह पट्खण्डागम का दूसरा खण्ड है ऐसा संकेत उन्होंने कहीं भी नहीं किया। इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र यथाप्रसंग इसके सूत्रां को उद्धृत करते हुए प्रायः 'खुद्दावंध' इस नाम निर्देश के साथ ही उन्हें उद्धृत किया है। पर वह प्रस्तुत षट्खण्डागम का दूसरा खण्ड है, ऐसा उन्होंने कहीं संकेत भी नहीं किया।

इसमें वन्धक जीवों की प्ररूपणा संक्षेप से की गई है, इसीलिए इसे नाम से 'क्षुद्रकवन्ध' कहा गया है। यह अपेक्षाकृत नाम निर्देश है। कारण यह कि आचार्य भूतवलि के द्वारा जो प्रस्तुत पट्खण्डागम का छठा खण्ड 'महावन्ध' रचा गया है वह ग्रन्थप्रमाण में तीस हजार (३०,०००) है, जव कि यह क्षुद्रकवन्ध उनके द्वारा १५८९ सूत्रों में ही रचा गया है।

बन्धकसत्त्व

यहाँ सर्वप्रथम "जे ते बन्धगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो" इस प्रथम सूत्र के द्वारा वन्धक जीवों की प्ररूपणा करने की सूचना करते हुए आगे के सूत्र में गति व इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं का निर्देश किया गया है।[2] तत्पश्चात् यथाक्रम से उन गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में वन्धक-अवन्धक जीवों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है। यथा—

गतिमार्गणा के अनुसार नरकगति में नारकी जीव बन्धक हैं। तिर्यंच वन्धक हैं। देव वन्धक हैं। मनुष्य वन्धक भी हैं और अवन्धक भी हैं। सिद्ध अबन्धक हैं (सूत्र ३-७)।

इस पद्धति से आगे इन्द्रिय आदि शेप तेरह मार्गणाओं के आश्रय से यथासम्भव उन बन्धक-अवन्धक जीवों के अस्तित्व की प्ररूपणा की गई है। इसमें सब सूत्र ४३ हैं। इसका उल्लेख अनुयोगद्वार के रूप में नहीं किया गया है।

इस प्रकार वन्धक-अवन्धकों के अस्तित्व को दिखलाकर आगे उन बन्धक जीवों की प्ररूपणा में प्रयोजनीभूत इन ग्यारह अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है—१. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, २. एक जीव की अपेक्षा काल, ३. एक जीव की अपेक्षा अन्तर, ४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, ५. द्रव्यप्रमाणानुगम, ६. क्षेत्रानुगम, ७. स्पर्शनानुगम,

---

१. गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइया वन्धा तिरिक्खा बंधा······सिद्धा अबंधा। एवं खुद्दाबंध एक्कारस अणियोगद्दारं णेयव्वं।

२. यह सूत्र इसी रूप में जीवस्थान के सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में भी आ चुका है। पृ० १, पृ० १३२, सूत्र ४

८. नानाजीवों की अपेक्षा काल, ९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, १०. भागाभागानुगम और ११. अल्पबहुत्वानुगम।

१. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व

उक्त क्रम से इन ग्यारह अनुयोगद्वार के आश्रय से उन बन्धकों की प्ररूपणा करते हुए क्रमप्राप्त इस 'एक जीव की अपेक्षा स्वामित्वानुगम' के प्रसंग में सर्वप्रथम सूत्रकार द्वारा 'एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व' की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की गई है। तत्पश्चात् गतिमार्गणा के अनुसार नरक गति में 'नारकी' कैसे होता है, ऐसा प्रश्न उठाते हुए उसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि नरकगति नामकर्म के उदय से नारकी होता है। इसी पद्धति से आगे तिर्यंच-गति नामकर्म के उदय से तिर्यंच, मनुष्य गति नामकर्म के उदय से मनुष्य और देवगति नामकर्म के उदय से देव होता है, यह स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसंग में आगे सिद्धगति में सिद्ध कैसे होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सिद्ध क्षायिकलब्धि से होता है (३-१३)।

इसी पद्धति से आगे क्रम से इन्द्रिय आदि शेष मार्गणाओं के आश्रय से भी यथायोग्य उन बन्धकों के स्वामित्व की प्ररूपणा की गई है (१४-९१)।

यहाँ सब सूत्र ९१ हैं।

२. एक जीव की अपेक्षा कालानुगम

इस दूसरे अनुयोगद्वार में एक जीव की अपेक्षा उन बन्धकों के काल की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः नरक गति में नारकी कितने काल रहते हैं, यह पृच्छा की गई है। पश्चात् उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वे वहाँ जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कर्ष से तेतीस सागरोपम काल तक रहते हैं। (१-३)। यह उनके काल का निर्देश सामान्य से किया गया है। आगे विशेष रूप में पृथिवियों के आश्रय से उनके काल की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि प्रथम पृथिवी के नारकियों का काल जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागरोपम है। अनन्तर द्वितीय पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी तक के नारकियों का जघन्य काल क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह और बाईस सागरोपम तथा वही उत्कृष्ट क्रम से तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेंतीस सागरोपम कहा गया है (४-९)।

आगे इसी पद्धति से तिर्यंच गति में तिर्यंचों (१०-१८), मनुष्य गति में मनुष्यों (१९-२४) और देवगति में देवों (२५-३८) के काल की प्ररूपणा की गई है।

तत्पश्चात् उसी पद्धति से आगे क्रम से इन्द्रिय आदि अन्य मार्गणाओं के आश्रय से प्रकृत काल की प्ररूपणा की गई है। इस अनुयोगद्वार की सूत्र संख्या २१६ है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रस्तुत काल की प्ररूपणा इसके पूर्व जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत पाँचवें कालानुगम अनुयोगद्वार में की जा चुकी है। पर वहाँ जो उसकी प्ररूपणा की गई है वह क्रमसे गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थानों के आश्रय से की गई है। किन्तु यहाँ उसकी प्ररूपणा गुणस्थान निरपेक्ष केवल मार्गणाओं मे ही की गई है। यह उन दोनों में विशेषता है।

यही विशेषता आगे एक जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम आदि अन्य अनुयोगद्वारों में भी रही है।

३. एकजीव की अपेक्षा अन्तरानुगम

यहाँ गति-इन्द्रिय आदि उन्हीं चौदह मार्गणाओं में अपने-अपने अवान्तर भेदों के साथ एक जीव की अपेक्षा अन्तर की प्ररूपणा की गई है। यथा—

नरकगति में नारकियों का अन्तर कितने काल होता है, इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह उनका अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्यात पुद्गल परिवर्तन रूप अनन्त काल तक होता है। यह जो सामान्य से अन्तर कहा गया है वही अन्तर पृथक्-पृथक् सातों पृथिवियों के नारकियों का भी है (१-४)।

अभिप्राय यह है कि कोई एक नारकी नरक से निकलकर यदि गर्भज तिर्यंच या मनुष्यों में उत्पन्न होता है और वहाँ सबसे जघन्य आयु के काल में नारक आयु को बाँधकर मरण को प्राप्त होता हुआ पुनः नारकियों में उत्पन्न होता है तो इस प्रकार से वह सूत्रोक्त अन्तर्मुहूर्तमात्र जघन्य अन्तर प्राप्त हो जाता है।

सूत्रनिर्दिष्ट असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण वह उत्कृष्ट अन्तर उसे नारकी की अपेक्षा उपलब्ध होता है जो नरक से निकलकर, नरक गति को छोड़ अन्य गतियों में आवली के असंख्यातवें भाग मात्र पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण परिभ्रमण करता हुआ पीछे फिर से नारकियों में उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार यह अन्तर की प्ररूपणा नरक गति के आश्रय से नारकियों के विषय में की गई है इसी प्रकार से वह आगे सामान्य तिर्यंचों व उनके अवान्तर भेदों में, सामान्य मनुष्यों व उनके अवान्तर भेदों में (५-१०) तथा सामान्य देवों व उनके अन्तर्गत भेदों में (११-३४) की गई है।

इसी प्रकार से आगे प्रकृत अन्तर की प्ररूपणा यथाक्रम से इन्द्रिय आदि अन्य मार्गणाओं के आश्रय से की गई है (३५-१५१)। इस अनुयोगद्वार में समस्त सूत्रों की संख्या १५१ है।

४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय

इस अनुयोगद्वार की समस्त सूत्र संख्या २३ है। गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में जीव नियम से कहाँ सदाकाल विद्यमान रहते हैं और कहाँ वे कदाचित् रहते हैं व कदाचित् नहीं भी रहते हैं, इस प्रकार इस अनुयोगद्वार में विवक्षित जीवों के अस्तित्व व नास्तित्व रूप भंगों का विचार किया गया है। यथा—

गतिमार्गणा के प्रसंग में कहा गया है कि सामान्य नारकी तथा पृथक्-पृथक् सातों पृथिवियों के नारकी नियम से रहते हैं, उनका वहाँ कभी अभाव नहीं होता (१-२)।

तिर्यंचगति में सामान्य तिर्यंच व पंचेंद्रिय तिर्यंच आदि विशेष तिर्यंच तथा मनुष्यगति में मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त व मनुष्यिणी ये सब जीव नियम से सदा ही रहते हैं (३)।

मनुष्य अपर्याप्त कदाचित् रहते हैं और कदाचित् नहीं भी रहते हैं (४)।

देवगति में सामान्य से देव व विशेष रूप से भवनवासी आदि सभी देव नियम से सदा काल रहते हैं (५-६)।

इसी पद्धति से आगे अन्य इन्द्रिय आदि मार्गणाओं में भी जीवों के अस्तित्व-नास्तित्व का विचार किया गया है (७-२३)।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि ऊपर जिस प्रकार मनुष्य अपर्याप्तों के कदाचित् रहने और

कदाचित् न रहने का उल्लेख किया गया है (४) उसी प्रकार आगे वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी (११), सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत (१६), उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि (२१) जीवों के भी कदाचित् रहने और कदाचित् न रहने का उल्लेख किया गया है।

पूर्वोक्त मनुष्य अपर्याप्त और वैक्रियिकमिश्रकाययोगी आदि सात, इस प्रकार ये आठ सान्तरमार्गणायें निर्दिष्ट की गई हैं।[1]

५. द्रव्यप्रमाणानुगम

इस अनुयोगद्वार में गति-इन्द्रिय आदि उन चौदह मार्गणाओं में यथाक्रम से जीवों की संख्या का विचार किया गया है। यथा—

द्रव्यप्रमाणानुगम से गतिमार्गणा के अनुसार नरक गति में नारकीजीव द्रव्यप्रमाण से कितने हैं, ऐसा प्रश्न उठाते हुए उसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि वे द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा वे असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा वे जगप्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात जगश्रेणि प्रमाण हैं। उन जगश्रेणियों की विष्कम्भसूची सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित उसी के प्रथम वर्गमूल प्रमाण हैं (१-६)। इस प्रकार सामान्य नारकियों की संख्या का उल्लेख करके आगे प्रथमादि पृथिवियों में वर्तमान नारकियों की संख्या का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है (७-१३)।

इसी प्रकार से आगे तिर्यंच आदि शेष तीन गतियों और इन्द्रिय-काय आदि शेष मार्गणाओं में भी जीवों की संख्या की प्ररूपणा की गई है। यहाँ सब सूत्र १९१ हैं।

६. क्षेत्रानुगम

इस अनुयोगद्वार में गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में वर्तमान जीवों के वर्तमान निवास स्वरूप क्षेत्र की प्ररूपणा स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद इन पदों के आश्रय से की गई है। यथा—

गति मार्गणा के अनुसार नरक गति में नारकी स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा कितने क्षेत्र में रहते हैं, इस प्रश्न के साथ यह स्पष्ट किया गया है कि वे इन तीन पदों की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। यही क्षेत्र पृथक्-पृथक् प्रथमादि सातों पृथिवियों में वर्तमान नारकियों का भी है (१-३)।

स्वस्थान दो प्रकार का है—स्वस्थान-स्वस्थान और विहारवत्स्वथान। जीव जिस ग्राम-नगरादि में उत्पन्न हुआ है उसी में सोना, बैठना व गमन आदि करना, इसका नाम स्वस्थान-स्वस्थान है। अपने उत्पन्न होने के ग्रामनगरादि को छोड़कर अन्यत्र सोने, बैठने एवं गमन आदि करने का नाम विहारवत्स्वस्थान है।

वेदना व कषाय आदि के वश आत्मप्रदेशों का बाहर निकलकर जाना, इसका नाम समुद्घात है। वह वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवलिसमुद्घात के भेद से सात प्रकार का है। इनमें से प्रकृत में वेदना, कषाय वैक्रियिक और मारणान्तिक इन चार समुद्घातों की विवक्षा रही है। कारण यह कि आहारकसमुद्घात नारकियों के सम्भव नहीं है, क्योंकि वह ऋद्धि प्राप्त महर्षियों के ही होता है। केवलिसमुद्-

१. गो० जीवकाण्ड, १४२

घात केवलियों के होता है, अतः वह भी नारकियों के सम्भव नहीं है। तैजस समुद्घात महाव्रतों के विना नहीं होता, इससे उसकी भी सम्भावना नारकियों के नहीं है।

पूर्व भव को छोड़कर अगले भव के प्रथम समय में जो प्रवृत्ति होती है, इसे उपपाद कहा जाता है।

इस प्रकार नरकगति में नारकियों के क्षेत्रप्रमाण को दिखाकर आगे तिर्यंचगति में उस क्षेत्र की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि तिर्यंचगति में सामान्य तिर्यंच उक्त तीन पदों की अपेक्षा सब लोक में रहते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमती और पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त ये उन तीनों पदों की अपेक्षा लोक के असं-ख्यातवें भाग में रहते हैं। (४-७)।

मनुष्यगति में सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यणी स्वस्थान और उपपाद पद से लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। समुद्घात की अपेक्षा वे लोक के असंख्यातवें भाग में, असंख्यात बहुभागों में और समस्त लोक में रहते हैं। मनुष्य अपर्याप्त उन तीनों पदों से लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। (८-१४)।

यहाँ समुद्घात की अपेक्षा जो मनुष्यों का क्षेत्र असंख्यात बहुभाग और समस्त लोक कहा गया है वह क्रम से प्रतरसमुद्घात और लोकपूरण समुद्घातगत केवलियों की अपेक्षा से कहा गया है।

देवगति में सामान्य देवों का तथा विशेषरूप में भवनवासी आदि सर्वार्थसिद्धि विमान वासी देवों तक का क्षेत्र सामान्य से देवगति के समान लोक का असंख्यातवाँ भाग निर्दिष्ट किया गया है (१५-१७)।

इसी पद्धति से आगे इन्द्रिय व काय आदि अन्य मार्गणाओं के आश्रय से भी क्रमशः प्रकृत क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है। यहाँ सब सूत्र १२४ हैं।

७. स्पर्शनानुगम

पूर्वक्षेत्रानुगम अनुयोगद्वार में जहाँ जीवों के वर्तमान निवासभूत क्षेत्र का विचार किया गया है वहाँ इस स्पर्शनानुगम में उक्त तीन पदों की अपेक्षा उन चौदह मार्गणाओं में यथाक्रम से वर्तमान क्षेत्र के साथ अतीत व अनागत काल का भी आश्रय लेकर इस स्पर्शनक्षेत्र की प्ररूपणा की गई है यथा—

नरकगति में नारकियों ने स्वस्थान पद से कितने क्षेत्र का स्पर्श किया है, इस प्रश्न को उठाते हुए उसके स्पष्टीकरण में यह कहा गया है कि उन्होंने स्वस्थान की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है तथा समुद्घात और उपपाद इन दो पदों की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग का अथवा कुछ कम छह बटे चौदह भागों का स्पर्श किया है (१-५)।

यह कुछ कम छह बटे चौदह भाग प्रमाण क्षेत्र अतीत काल के आश्रय से सातवीं पृथिवी के नारकी द्वारा किए जानेवाले मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदों की अपेक्षा कहा गया है। इसमें जो कुछ कम किया गया है वह धवलाकार के अभिप्रायानुसार संख्यात हजार योजनों से कम समझना चाहिए। प्रकारान्तर से धवलाकार ने यह भी कहा है कि अथवा 'कम का प्रमाण इतना है', यह जाना नहीं जाता, क्योंकि पार्श्व भागों के मध्य में इतना क्षेत्र कम है, इस विषय में विशिष्ट उपदेश प्राप्त नहीं है। आगे उन्होंने कहा है कि उपपाद पद के प्रसंग में भी इस

कमी के प्रमाण को पूर्व के समान जानकर कहना चाहिए।[1]

प्रथम पृथिवी के नारकियों ने उक्त तीनों पदों से लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है (६-७)।

दूसरी से लेकर सातवीं पृथिवी तक के नारकियों ने स्वस्थान की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग तथा समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग अथवा चौदह भागों में यथाक्रम से कुछ कम एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह भागों का स्पर्श किया है (८-११)।

इसी पद्धति से आगे तिर्यंचगति आदि तीन गतियों और इन्द्रिय-काय आदि शेष मार्गणाओं के आश्रय से प्रकृत स्पर्शन की प्ररूपणा की गई है। यहाँ सब सूत्र २७९ हैं।

८. नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम

इस अनुयोगद्वार में गति-इन्द्रिय आदि मार्गणाओं में वर्तमान जीव वहाँ नाना जीवों की अपेक्षा कितने काल रहते हैं, इसका विचार किया गया है। यथा—

नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम से गतिमार्गणा के अनुसार नरकगति में नारकी जीव कितने काल रहते हैं, यह पूछे जाने पर उत्तर में कहा गया है कि वे वहाँ सर्वकाल रहते हैं, उनका वहाँ कभी अभाव नहीं होता। यह जो सामान्य से नारकियों के काल का निर्देश किया गया है। वही पृथक्-पृथक् सातों पृथिवियों के नारकियों को भी निर्दिष्ट किया गया है (१-३)।

तिर्यंचगति में नाना जीवों की अपेक्षा पाँचों प्रकार के तिर्यंचों और मनुष्यगति में मनुष्य अपर्याप्तकों को छोड़कर सभी मनुष्यों का भी सर्वकाल (अनादि-अनन्त) ही कहा गया है। मनुष्य अपर्याप्त जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण मात्र और उत्कर्ष से वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्रकाल तक अपनी उस पर्याय में रहते हैं (४-८)।

देवगति में सामान्य से देवों का व विशेष रूप से भवनवासियों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि विमानवासी तक पृथक्-पृथक् सभी देव सदाकाल रहते हैं, उनमें से किन्हीं का भी कभी अभाव नहीं होता (९-११)।

इसी पद्धति से आगे इन्द्रिय आदि अन्य मार्गणाओं में भी प्रस्तुत काल की प्ररूपणा की गई है। सब सूत्र यहाँ ५५ हैं।

९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम

यहाँ गति-इन्द्रिय आदि मार्गणाओं में नाना जीवों की अपेक्षा यथाक्रम से अन्तर की प्ररूपणा की गई है। यथा—

गतिमार्गणा के अनुसार नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम से नरकगति में नारकियों का अन्तर कितने काल होता है, इस प्रश्न को उठाते हुए उसके उत्तर में कहा गया है कि उनका अन्तर नहीं होता, वे निरन्तर हैं—सदाकाल विद्यमान रहते है। इसी प्रकार सातों पृथिवियों में नारकी जीवों का अन्तर नहीं होता—वे सदा विद्यमान रहते हैं (१-४)।

तिर्यंचगति में पाँचों प्रकार के तिर्यंच और मनुष्यगति में सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त

---

१. धवला पु०७, पृ० ३६९-७०

और मनुष्यणी ये जीवराशियां भी निरन्तर हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। मनुष्य अपर्याप्तों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्रकाल तक होता है (५-१०)।

देवगति में सामान्य देवों का और उन्हीं के समान भवनवासियों से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमानवासी तक किन्हीं देवविशेषों का भी अन्तर नहीं होता, वे सब ही निरन्तर हैं (११-१४)।

इसी पद्धति से आगे इन्द्रिय व काय आदि अन्य मार्गणाओं में भी यथाक्रम से उस अन्तर की प्ररूपणा की गई है। यहाँ सब सूत्र ६८ हैं।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि पीछे 'नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय' अनुयोगद्वार में जिन आठ सान्तर मार्गणाओं का निर्देश किया गया है उनमें जहाँ जितना अन्तर सम्भव है उसके प्रमाण को यहाँ प्रकट किया गया है। जैसे—

१. मनुष्य अपर्याप्तों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्रकाल तक होता है (सूत्र ८-१०)।

२. वैक्रियिक मिश्रकाययोगियों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से बारह मुहूर्त तक होता है (२४-२६)।

३-४. आहारककाययोगियों और आहारकमिश्रकाययोगियों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से वर्षपृथक्त्व काल तक होता है (२७-२९)।

५. सूक्ष्मसाम्परायिक शुद्धिसंयतों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से छह मास तक होता है (४२-४४।

६. उपशमसम्यग्दृष्टियों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से सात रात-दिन होता है (५७-५९)।

७-८. सासादनसम्यग्दृष्टियों और सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्रकाल तक होता है (६०-६२)।

१०. भागाभागानुगम

'भागाभाग' में भाग से अभिप्राय अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग का है तथा अभाग से अभिप्राय अनन्तबहुभाग, असंख्यातबहुभाग और संख्यातबहुभाग का रहा है। तदनुसार इस अनुयोगद्वार में गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में वर्तमान नारकी आदि जीवों में विवक्षित जीव अन्य सब जीवों के कितनेवें भाग प्रमाण हैं, इसका यथाक्रम से विचार किया गया है। जैसे—

गतिमार्गणा के अनुसार नरकगति में नारकी जीव सब जीवों के कितनेवें भाग प्रमाण हैं, इस प्रश्न को उठाते हुए स्पष्ट किया गया है कि वे सब जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् सातों पृथिवियों में स्थित नारकी सब जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण ही हैं (१-३)।

तिर्यंचगति में सामान्य से तिर्यंच जीव सब जीवों के अनन्तबहुभाग प्रमाण हैं। वहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि अन्य चार प्रकार के तिर्यंच तथा मनुष्यगति में मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त,

मनुष्यणी और मनुष्य अपर्याप्त ये सब पृथक्-पृथक् सब जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं (४-७)।

देवगति में सामान्य से देव और विशेष रूप से भवनवासियों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवों तक सब ही पृथक्-पृथक् सब जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं (८-१०)।

इसी पद्धति से आगे इन्द्रियादि अन्य मार्गणाओं के आश्रय से प्रस्तुत भागाभाग का विचार किया गया है। यहाँ सब सूत्र ८८ हैं।

११. अल्पवहुत्वानुगम

इस अन्तिम अनुयोगद्वार में गति-इन्द्रिय आदि उन चौदह मार्गणाओं में वर्तमान जीवों के प्रमाणविषयक हीनाधिकता का विचार किया गया है। यहाँ गतिमार्गणा के प्रसंग में सर्वप्रथम पांच गतियों की सूचना करते हुए उनमें इस प्रकार अल्पबहुत्व प्रकट किया गया है—

मनुष्य सबसे स्तोक हैं, नारकी उनसे असंख्यातगुणे हैं, देव असंख्यातगुणे हैं, सिद्ध अनन्तगुणे हैं, और तिर्यंच उनसे अनन्तगुणे हैं (१-६)।

आगे प्रकारान्तर से आठ गतियों की सूचना करते हुए उनमें इस प्रकार से अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है—

मनुष्यणी सबसे स्तोक हैं, मनुष्य उनसे असंख्यातगुणे हैं, नारकी असंख्यातगुणे हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमती असंख्यातगुणी हैं, देव संख्यातगुणे हैं, देवियां संख्यातगुणी हैं, सिद्ध अनन्तगुणे हैं, और उनसे तिर्यंच अनन्तगुणे हैं (७-१५)।

दूसरी इन्द्रियमार्गणा में जीवों के अल्पवहुत्व को इस प्रकार प्रकट किया गया है—इन्द्रियमार्गणा के अनुसार पंचेन्द्रिय सबसे स्तोक हैं, चतुरिन्द्रिय उनसे विशेष अधिक हैं, त्रीन्द्रिय विशेष अधिक हैं, द्वीन्द्रिय विशेष अधिक हैं, अनिन्द्रिय अनन्तगुणे हैं, और उनसे एकेन्द्रिय अनन्तगुणे हैं (१६-२१)।

इस इन्द्रियमार्गणा में पर्याप्त-अपर्याप्तों का भेद करके प्रकारान्तर से पुनः उस अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है (२२-३७)।

इसी पद्धति से आगे क्रम से कायमार्गणा आदि अन्य मार्गणाओं में प्रस्तुत अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है। यहाँ सब सूत्र २०५ हैं।

जैसा कि ऊपर गति और इन्द्रिय मार्गणा में देख चुके हैं, कुछ अन्य मार्गणाओं में भी अनेक प्रकार से उस अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है। जैसे—

कायमार्गणा में चार प्रकार से (३८-४४, ४५-५६, ६०-७५ व ७६-१०६); योगमार्गणा में दो प्रकार से (१०७-१० व १११-२६); वेदमार्गणा में दो प्रकार से (१३०-३३ व १३४-४४); संयममार्गणा में संयतों के अल्पवहुत्व को दिखाकर (१५६-६७) आगे संयतभेदों में चारित्रलब्धिविषयक अल्पवहुत्व को भी प्रकट किया गया है (१६८-१७४); सम्यक्त्वमार्गणा में उस अल्पवहुत्व को दो प्रकार से प्रकट किया गया है (१८६-९२ व १९३-९९)।

यहाँ कायमार्गणा के अन्तर्गत जिस अल्पवहुत्व की चार प्रकार से प्ररूपणा की गई है उसमें सूत्र ५८-५९, ७४-७५, व १०५-६ में निगोद जीवों को वनस्पतिकायिकों से विशेष अधिक कहा गया है। साधारणतः निगोदजीव वनस्पतिकायिकों के ही अन्तर्गत माने गये हैं, उनसे भिन्न निगोदजीव नहीं माने गये। पर इस अल्पबहुत्व से उनकी वनस्पतिकायिकों से

भिन्नता सिद्ध होती है। इस विषय में धवलाकार द्वारा जो अनेक शंका-समाधानपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है[1] उसका उल्लेख आगे के प्रसंग में किया जाएगा।

महादण्डक चूलिका

उक्त अल्पबहुत्व की प्ररूपणा के अनन्तर सूत्रकार ने "आगे सब जीवों में महादण्डक करने योग्य है" ऐसा निर्देश करते हुए समस्त जीवों में मार्गणाक्रम से रहित उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है[2] इसे धवलाकार ने चूलिका कहा है। यथा—

मनुष्य पर्याप्त गर्भोपक्रान्तिक सबसे स्तोक हैं, मनुष्यणी उनसे संख्यातगुणी हैं, सर्वार्थसिद्धिविमानवासी देव उनसे संख्यातगुणे हैं, बादर तेजस्कायिक पर्याप्त उनसे असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि। यहाँ सब सूत्र ७९ हैं।

इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट 'एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व' आदि उन ग्यारह अनुयोगद्वारों में पूर्वप्ररूपित बन्धकसत्त्वप्ररूपणा और इस महादण्डक को सम्मिलित करने पर १३ अधिकार होते हैं। इस प्रकार यह क्षुद्रकबन्ध खण्ड उपर्युक्त १३ अधिकारों में समाप्त हुआ है। इसमें समस्त सूत्रसंख्या ४३+९१+२१६+१५१+२३+१७१+१२४+२७४+५५+६८+८८+२०६+७९=१५८९ है। यह दूसरा खण्ड एक ही ७वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

तृतीय खण्ड : बन्ध-स्वामित्वविचय

यह प्रस्तुत षट्खण्डागम का तीसरा खण्ड है। इसमें समस्त सूत्र ३२४ हैं। जैसा कि इस खण्ड का नाम है, तदनुसार उसमें बन्धक के स्वामियों का विचार किया गया है। सर्वप्रथम यहाँ वह बन्धस्वामित्वविचय की प्ररूपणा ओघ और आदेश के भेद से दो प्रकार की है, ऐसी सूचना की गई है। तत्पश्चात् ओघ से की जानेवाली उस बन्धस्वामित्वविषयक प्ररूपणा में ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) ज्ञातव्य हैं, ऐसा कहते हुए आगे उन चौदह गुणस्थानों का नाम निर्देश किया गया है। तदनन्तर इन चौदह जीवसमासों के आश्रय से प्रकृतियों के बन्धव्युच्छेद (बन्धव्युच्छित्ति) की प्ररूपणा की जाती है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है (सूत्र १-४)।

ओघप्ररूपणा

कृत प्रतिज्ञा के अनुसार आगे ओघ की अपेक्षा उस बन्धव्युच्छित्ति की प्ररूपणा करते हुए ज्ञानावरणीय आदि के क्रम से उनके साथ विवक्षित गुणस्थान में बन्ध से व्युच्छिन्न होनेवाली अन्य कर्म प्रकृतियों को भी यथाक्रम से सम्मिलित करके प्रश्नोत्तरपूर्वक उन बन्धक-अबन्धकों की प्ररूपणा की गई है। जैसे—

पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन

---

१. देखिए धवला पु० ७, पृ० ५३९-४१

२. खुद्दाबंधस्स एक्कारसअणियोगद्दारणिबद्धस्स चूलियं काऊण महादंडओ वुच्चदे।— धवला पु० ७, पृ० ५७५

१६ कर्मप्रकृतियों का कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है, इस प्रश्न के साथ उसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धि-संयतों में उपशमक और क्षपक तक बन्धक हैं, सूक्ष्म साम्परायिक शुद्धिकाल के अन्तिम समय में जाकर उनके बन्ध का व्युच्छेद होता है। ये बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं (५-६)।

इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उन्हें देशामर्शक कहकर उनसे सूचित अर्थ की प्ररूपणा में पृच्छास्वरूप ५वें सूत्र की व्याख्या में क्या बन्धपूर्व में व्युच्छिन्न होता है, क्या उदय पूर्व में व्युच्छिन्न होता है; क्या दोनों साथ ही व्युच्छिन्न होते हैं; इनका क्या अपने उदय के साथ बन्ध होता है, इत्यादि रूप से सूत्रगत एक ही पृच्छा में निलीन २३ पृच्छाओं को उद्भावित किया है तथा उनमें से कुछ विषम पृच्छाओं का समाधान भी किया है।[1]

इनका स्पष्टीकरण आगे 'धवलागत विषय परिचय' के प्रसंग में किया गया है।

अगले सूत्र (६) की व्याख्या में उन्होंने उपर्युक्त २३ पृच्छाओं को उठाकर सूत्र में निर्दिष्ट उन पांच ज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के विषय में भी प्रस्तुत प्ररूपणा विस्तार से की है।[2] यहाँ धवला में इस प्रसंग से सम्बद्ध अनेक प्राचीन आर्ष गाथाओं को उद्धृत करते हुए उनके आधार से यह प्रासंगिक विवेचन विस्तार से किया गया है। इस विषय में विशेष प्रकाश आगे धवला के प्रसंग में डाला जाएगा।

इसी पद्धति से आगे दर्शनावरण के अन्तर्गत निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला व स्त्यानगृद्धि तथा अन्य अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों का विचार करते हुए इस ओघाश्रित प्ररूपणा को समाप्त किया गया है (७-३८)।

यहाँ प्रसंग पाकर आगे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि १६ कारणों का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही उसके प्रभाव से प्राप्त होनेवाली लोकपूज्यता आदि रूप विशेष महिमा को भी प्रकट किया गया है (३९-४३)।

उन १६ कारणों का विवेचन धवला में विस्तार से किया गया है।[3]

आदेशप्ररूपणा

ओघप्ररूपणा के समान वह बन्धक-अबन्धकों की प्ररूपणा आगे आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में की गई है (४३-३२४)। इस प्रकार यह तीसरा खण्ड ३२४ सूत्रों में समाप्त हुआ है। वह उन १६ जिल्दों में से ८वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

चतुर्थ खण्ड : वेदना

पूर्वनिर्दिष्ट महाकर्म प्रकृतिप्राभृत के कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में से प्रारम्भ के कृति और वेदना ये दो अनुयोगद्वार इस 'वेदना' खण्ड के अन्तर्गत हैं। कृति अनुयोगद्वार से

---

१. धवला पु० ८, पृ० ७-१३
२. वही, पृ० १३-३०
३. वही, पु० ८, पृ० ७९-९१

वेदना अनुयोगद्वार के अत्यधिक विस्तृत होने के कारण यह खण्ड 'वेदना' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१. कृति अनुयोगद्वार

वेदना खण्ड को प्रारम्भ करते हुए इस कृति अनुयोगद्वार में सर्वप्रथम "**णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं**" को आदि लेकर "**णमो वद्धमाणवुद्धरिसिस्स**" पर्यन्त ४४ सूत्रों के द्वारा मंगल के रूप में 'जिनों' और 'अवधिजिनों' आदि को नमस्कार किया गया है।

तत्पश्चात् ४५वें सूत्र में यह निर्देश किया गया है कि अग्रायणीय पूर्व के अन्तर्गत चौदह 'वस्तु' नाम के अधिकारों में पाँचवें अधिकार का नाम च्यवनलब्धि है। उसके अन्तर्गत बीस प्राभृतों में चौथा कर्मप्रकृतिप्राभृत है। उसमें ये २४ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—१. कृति २. वेदना, ३. स्पर्श, ४. कर्म, ५. प्रकृति, ६. बन्धन, ७. निबन्धन, ८. प्रक्रम, ९. उपक्रम, १०. उदय, ११. मोक्ष, १२. संक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्याकर्म, १५. लेश्यापरिणाम, ६. सात-असात, १७. दीर्घ-ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलात्त, २०. निधत्त-अनिधत्त, २१. निकाचित-अनिकाचित, २२. कर्मस्थिति, २३. पश्चिमस्कन्ध और २४ अल्पबहुत्व।

इन २४ अनुयोगद्वारों में प्रथम कृति अनुयोगद्वार है। इसमें 'कृति' की प्ररूपणा की गई है। वह सात प्रकार की है—१. नामकृति, २. स्थापनाकृति, ३. द्रव्यकृति, ४. गणनाकृति, ५. ग्रन्थकृति, ६. करणकृति और ७ भावकृति (सूत्र ४६)।

इस प्रकार से इन सात कृतिभेदों का निर्देश करके आगे 'कृतिनयविभाषणता' के आश्रय से कौन नय किन कृतियों को स्वीकार (विषय) करता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय उन सब ही कृतियों को स्वीकार करते हैं। ऋजु-सूत्रनय स्थापना कृति को स्वीकार नहीं करता है—शेष छह को वह विषय करता है। शब्द नय आदि नाम कृति और भाव कृति को स्वीकार करते हैं (४७-५०)।

१. इस प्रकार कृतिनयविभाषणता को समाप्त कर आगे क्रम से उन सात कृतियों के स्वरूप को प्रकट करते हुए प्रथम नामकृति के विषय में कहा गया है कि जो एक जीव, एक अजीव, बहुत जोव, बहुत अजीव, एक जीव व एक अजीव, एक जीव व बहुत अजीव, बहुत जीव व एक अजीव तथा बहुत जीव व बहुत अजीव इन आठ में जिसका 'कृति' यह नाम किया जाता है उसे नामकृति कहते हैं (५१)।

२. काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्म, लेप्यकर्म, लेण्ण (लयन) कर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भित्ति कर्म, दन्तकर्म और भेंडकर्म इनमें तथा अक्ष व वराटक इनको आदि लेकर और भी जो इसी प्रकार के हैं उनमें 'यह कृति है' इस प्रकार से स्थापना के द्वारा जो स्थापित किये जाते हैं उस सबका नाम स्थापनाकृति है (५२)।

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त काष्ठकर्म आदि विविध क्रियाविशेषों के आश्रय से जो मूर्तियों की रचना की जाती है उसका नाम सद्भाव (तदाकार) स्थापनाकृति है तथा अक्ष (पांसा) व कौड़ी आदि में जो 'कृति' इस प्रकार स्थापना की जाती है उसे असद्भाव (अतदाकार) स्थापनाकृति जानना चाहिए।

३. द्रव्यकृति दो प्रकार की है—आगमद्रव्यकृति और नोआगम द्रव्यकृति। इनमें जो आगम द्रव्यकृति है उसके ये नौ अर्थाधिकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम,

अर्थसम, ग्रन्थसम; नामसम और घोषसम (५३-५४)।

आगे 'वन्धन' अनुयोगद्वार में आगमभाववन्धका विचार करते हुए पुनः इसी प्रकार का प्रसंग प्राप्त हुआ है (सूत्र ५, ६, १२ पु० १४, पृ० ७)। वहाँ और यहाँ भी धवलाकार ने इन स्थित-जित आदि आगमभेदों के स्वरूप को स्पष्ट किया है।[1] इन दोनों प्रसंगों पर जो उनके लक्षणों में विशेषता देखी जाती है उसे भी यहाँ साथ में स्पष्ट किया जाता है। यथा—

जो पुरुष वृद्ध अथवा रोगी के समान भावागम में धीरे-धीरे संचार करता है उस पुरुष और उस भावागम का नाम भी स्थित है। आगे पुनः प्रसंग प्राप्त होने पर धवला में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए यह भी कहा गया है कि जिसने वारह अंगों का अवधारण कर लिया है वह साधु स्थित-श्रुतज्ञान होता है।

स्वाभाविक प्रवृत्ति का नाम जित है, जिस संस्कार से पुरुष निर्वाध रूप से भावागम में संचार करता है उस संस्कार से युक्त पुरुष को और उस भावागम को भी जित कहा जाता है।

जिस-जिस विषय में प्रश्न किया जाता है उस-उसके विषय में जो शीघ्रता से प्रवृत्ति होती है उसका नाम परिचित है, तात्पर्य यह कि जिस जीव की प्रवृत्ति भावागम रूप समुद्र में क्रम, अक्रम अथवा अनुभय रूप से मछली के समान अतिशय चंचलापूर्वक होती है उस जीव को और भावागम को भी परिचित कहा जाता है। प्रकारान्तर आगे इसके लक्षण में यह भी कहा गया है कि जो वारह अंगों में पारंगत होता हुआ निर्वाध रूप से जाने हुए अर्थ के कहने में समर्थ होता है उसे परिचित श्रुतज्ञान कहते हैं।

जो नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या इन चार प्रकार की वाचनाओं को प्राप्त होकर दूसरों के लिए ज्ञान कराने में समर्थ होता है उसका नाम वाचनोपगत है।

तीर्थंकर के मुख से निकले हुए वीजपद को सूत्र कहते हैं, उस सूत्र के साथ जो रहता है, उत्पन्न होता है, ऐसे गणधर देव में स्थित श्रुतज्ञान को सूत्रसम कहा जाता है। प्रकारान्तर से आगे उसके प्रसंग में श्रुतकेवली को सूत्र और उसके समान श्रुतज्ञान को सूत्रसम कहा गया है। अथवा वारह अंगस्वरूप शब्दागम का नाम सूत्र है, आचार्य के उपदेश विना जो श्रुतज्ञान सूत्र से ही उत्पन्न होता है उसे सूत्रसम जानना चाहिए।

वारह अंगों के विषय का नाम अर्थ है, उस अर्थ के साथ जो रहता है उसे अर्थसम कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यश्रुत-आचार्यों की अपेक्षा न करके, संयम के आश्रय से होनेवाले श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो वारह अंगस्वरूप श्रुत होता है तथा जिसके आधार स्वयंवुद्ध हुआ करते हैं उसे अर्थसम कहा जाता है। आगे पुनः उस प्रसंग के प्राप्त होने पर आगमसूत्र के विना समस्त श्रुतज्ञानरूप पर्याय से परिणत गणधर देव को अर्थ और उसके समान श्रुतज्ञान को अर्थसम कहा गया है। यहीं पर प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है कि अथवा वीजपद का नाम अर्थ है, उससे जो समस्त श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थसम कहलाता है।

गणधर देव विरचित द्रव्यश्रुत का नाम ग्रन्थ है, उसके साथ जो द्वादशांग श्रुतज्ञान रहता है, उत्पन्न होता है उसे ग्रन्थसम कहते हैं। यह श्रुतज्ञान वोधितवुद्ध आचार्यों में अवस्थित रहता है। आगे पुनः प्रसंग प्राप्त होने पर उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि

---

१. धवला पु० ६, पृ० २५१-६१ तथा पु० १४, पृ० ७-८

आचार्यों के उपदेश का नाम ग्रन्थ है, उसके समान श्रुत को ग्रन्थसम कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि आचार्यों के पादमूल में बारह अंगोंरूप शब्दागम को सुनकर जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे ग्रन्थसम जानना चाहिए।

नामभेद के द्वारा अनेक प्रकार से अर्थ ज्ञान के कराने के कारण एक आदि अक्षरोंस्वरूप बारह अंगों के अनुयोगों के मध्य में स्थित द्रव्यश्रुतज्ञान के भेदों को नाम कहा जाता है, उस नामरूप द्रव्यश्रुत के साथ जो श्रुतज्ञान रहता है, उत्पन्न होता है वह नामसम कहलाता है। यह नामसम श्रुतज्ञान शेष आचार्यों में स्थित होता है। इसी के सम्बन्ध में आगे प्रकारान्तर से यह कहा गया है कि आचार्यों के पादमूल में द्वादशांग शब्दागम को सुनकर जिसके प्रतिपाद्य अर्थविषयक ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे नामसम कहा जाता है।

'घोष' शब्द से यहाँ नाम का एक देश होने से घोषानुयोग विवक्षित है, उस 'घोष' द्रव्यानुयोगद्वार के साथ जो रहता है उस अनुयोग श्रुतज्ञान का नाम घोषसम है। आगे प्रकारान्तर से उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि बारह अंगोंस्वरूप शब्दागम को सुनते हुए जिसके सुने हुए अर्थ से सम्बद्ध अर्थ को विषय करनेवाला ही श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ है उसे घोषसम कहा जाता है।

इस प्रकार आगम द्रव्यकृतिविषयक नौ अर्थाधिकारों का निर्देश करते हुए आगे उन अर्थाधिकारों सम्बन्धी उपयोगभेदों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—उन नौ अर्थाधिकारों के विषय में जो वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा तथा और भी जो इस प्रकार के हैं वे उपयोग हैं (५५)।

सूत्र में 'उपयोग' शब्द के न होने पर धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सूत्र में यद्यपि 'उपयोग' शब्द नहीं है तो भी अर्थापत्ति से उसका अध्याहार करना चाहिए।

उक्त स्थित आदि नौ आगमोंविषयक जो यथाशक्ति भव्य जीवों के लिए ग्रन्थार्थ की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम वाचना-उपयोग है। अज्ञात पदार्थ के विषय में प्रश्न करना-पूछना, इसका नाम पृच्छना उपयोग है। विस्मरण न हो, इसके लिए पुनः पुनः भावागम का परिशीलन करना, यह परिवर्तना नाम का उपयोग है। कर्मनिर्जराके लिए अस्थि-मज्जासे अनुगत—हृदयंगम किये गये—श्रुतज्ञान का परिशीलन करना, इसे अनुप्रेक्षणा उपयोग कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि सुने हुए अर्थ का जो श्रुतके अनुसार चिन्तन किया जाता है उसे अनुप्रेक्षणा उपयोग समझना चाहिए।

समस्त अंगों के विषय की प्रमुखता से किये जानेवाले बारह अंगों के उपसंहार का नाम स्तव है। बारह अंगों में एक अंग के उपसंहार को स्तुति और अंग के किसी एक अधिकार के उपसंहार को धर्मकथा कहा जाता है।[1]

उक्त वाचनादि उपयोगों से रहित जीव को, चाहे वह श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से रहित हो अथवा विनष्ट क्षयोपशमवाला हो, अनुपयुक्त कहा जाता है। ऐसे अनुपयुक्तों की प्ररूपणा करते हुए आगे कहा गया है कि नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त को अथवा अनेक अनुपयुक्तों को आगम से द्रव्यकृति कहा जाता है। संग्रहनय की अपेक्षा एक अथवा अनेक अनुपयुक्त जीव आगम से द्रव्यकृति हैं। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त

१. इसके लिए आगे धवला पु० १४, पृ० ९ और गो० कर्मकाण्ड गाथा ४९ भी द्रष्टव्य हैं।

आगम से द्रव्यकृति है। शब्दनय की अपेक्षा अवक्तव्य है। इस सब को आगम से द्रव्यकृति कहा गया है (५६-६०)।

नोआगम द्रव्यकृति ज्ञायकशरीर आदि के भेद से तीन प्रकार की है। इनमें ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकृति के प्रसंग में पुनः उन स्थित-जित आदि नौ अर्थाधिकारों का निर्देश किया गया है। च्युत, च्यावित और त्यक्त शरीरवाले कृतिप्राभृत के ज्ञायक का यह शरीर है, ऐसा मान करके आधेय में आधार के उपचार से उन शरीरों को ही ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकृति कहा गया है। जो जीव भविष्य में इन कृतिअनुयोगद्वारों के उपादान कारण रूप से स्थित है उन्हें करता नहीं है; उन सबका नाम भावी नोआगमद्रव्यकृति है। ग्रन्थिम, वाइम, वेदिम, पूरिम,संघातिम, आहोदिम, निक्खोदिम, ओवेल्लिम, उद्वेल्लिम, वर्ण, चूर्ण, गन्ध और विलेपन आदि तथा अन्य भी जो इस प्रकार के सम्भव हैं उन सबको ज्ञायकशरीर-भावीव्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकृति कहा गया है (६१-६५)।

४. गणनाकृति अनेक प्रकार की है। जैसे—'एक' (१) संख्या नोकृति, 'दो' (२) संख्या कृति और नोकृति के रूप से अवक्तव्य, 'तीन' (३) संख्या को आदि लेकर आगे की संख्यात, असंख्यात व अनन्त संख्या कृतिस्वरूप है (६६)।

जिस संख्या का वर्ग करने पर वह वृद्धि को प्राप्त होती है तथा अपने वर्ग में से वर्गमूल को कम करके पुनः वर्ग करने पर वृद्धि को प्राप्त होती है उसे कृति कहा जाता है। '१' संख्या का वर्ग करने पर वह वृद्धि को नहीं प्राप्त होती तथा उसमें से वर्गमूल के कम कर देने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाती है, इसलिए '१' संख्या को नोकृति कहा गया है। '२' संख्या का वर्ग करने पर वह वृद्धिगत तो होती है (२×२ =४), पर उसके वर्ग में से वर्गमूल को कम करने पर वह वृद्धि को प्राप्त नहीं होती (२×२ =४, ४—२ २), उतनी ही रहती है, इसलिए उसे न नोकृति कहा जा सकता है और न कृति भी। इसलिए उसे अवक्तव्य कहा गया है। '३' संख्या का वर्ग करने पर तथा वर्ग में से वर्गमूल कम करने पर भी वह वृद्धि को प्राप्त होती है (३×३ = ९, ९ — ३ = ६), इसलिए '३' इसको आदि लेकर आगे की ४,५,६ आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त इन सब संख्याओं को कृति कहा गया है। ये गणनाकृति के तीन प्रकार हुए।

यहाँ धवलाकार ने इस सूत्र को देशामर्शक कहकर उसके आश्रय से धन, ऋण और धन-ऋण सब गणित को प्ररूपणीय कहा है। आगे उन्होंने कृति, नोकृति और अवक्तव्य इनकी सोदाहरण प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा करते हुए उसके विषय में इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है—ओघानुयोग, प्रथमानुयोग, चरमानुयोग और संचयानुयोग। इनकी प्ररूपणा करते हुए संचयानुगम के प्रसंग में उन्होंने उसकी प्ररूपणा सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की है।[1]

५. पाँचवीं ग्रन्थकृति है। उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि लोक, वेद और समयविषयक जो शब्द प्रबन्धरूप अक्षर-काव्यादिकों की ग्रन्थ-रचना की जाती है उस सबका नाम ग्रन्थकृति है (६७)।

यहाँ धवलाकार ने ग्रन्थकृति के विषय में चार प्रकार के निक्षेप की प्ररूपणा करते हुए

---

१. धवला पु० ९, पृ० २७६-३२१

नोआगमभावकृति के इन दो भेदों का निर्देश किया है—श्रुतभाव ग्रन्थकृति और नोश्रुतभाव ग्रन्थकृति। इस प्रसंग में उन्होंने श्रुत को लौकिक, वैदिक और सामायिक के भेद से तीन प्रकार का कहा है। इनमें हाथी, अश्व, तंत्र, कौटिल्य और वात्स्यायन आदि के बोध को लौकिकभाव श्रुतग्रन्थ कहा गया है। द्वादशांगविषयक बोध का नाम वैदिकभाव श्रुतग्रन्थ है। नैयायिक, वैशेषिक, लोकायत, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध आदि विविध प्रकार के दर्शनों के बोध को सामायिकभावश्रुतग्रन्थ कहा जाता है। इनकी जो प्रतिपाद्य अर्थ को विषय करने वाली शब्द-प्रबन्धरूप ग्रन्थ रचना की जाती है उसका नाम श्रुतग्रन्थकृति है।

नोश्रुतग्रन्थकृति अभ्यन्तर व बाह्य के भेद से दो प्रकार की है। उनमें मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह को अभ्यन्तर नोश्रुतग्रन्थकृति तथा क्षेत्र व वास्तु आदि दस को बाह्य नोश्रुतग्रन्थकृति कहा जाता है।

६. करणकृति मूलकरणकृति और उत्तरकरणकृति के भेद से दो प्रकार की है। इनमें मूलकरणकृति पाँच प्रकार की है—औदारिक शरीरमूलकरणकृति, वैक्रियिक शरीरमूलकरण-कृति, आहारक शरीरमूलकरणकृति, तैजसशरीरमूलकरणकृति और कार्मणशरीरमूलकरण-कृति। इनमें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरमूलकरणकृतियों में प्रत्येक संघातन, परिशातन और संघातन-परिशातन कृति के भेद से तीन-तीन प्रकार की है। तैजस और कार्मण शरीरमूलकरणकृति दो प्रकार की है—परिशातनकृति और संघातन-परिशातन-कृति (६८-७०)।

विवक्षित शरीर के परमाणुओं का निर्जरा के बिना जो केवल संचय होता है उसका नाम संघातनकृति है। उन्हीं विवक्षित शरीर के पुद्गल स्कन्धों के संचय के बिना जो निर्जरा होती है उसे परिशातनकृति कहा जाता है। विवक्षित शरीरगत पुद्गल स्कन्धों का जो आगमन और निर्जरा दोनों साथ होते हैं उसे संघातन-परिशातनकृति कहते हैं।

अगले सूत्र में यह सूचना की गई है कि इन सूत्रों (६९-७०) द्वारा तेरह (उक्त प्रकार से ३ औदारिकशरीरमूलकरणकृति, ३ वैक्रियिकशरीरमूलकरणकृति, ३ आहारकशरीरमूल-करणकृति, २ तैजसशरीरमूलकरणकृति और २ कार्मणशरीरमूलकरणकृति) कृतियों की सत्प्ररूपणा की गई है[1] (७१)।

---

१. इसके शब्दविन्यास व रचनापद्धति को देखते हुए यह सूत्र नहीं प्रतीत होता है, किन्तु धवला का अंश दिखता है। सूत्रकार ने अन्यत्र कहीं अपने द्वारा विरचित सन्दर्भ का 'सूत्र' के रूप में उल्लेख करके यह नहीं कहा कि इस या इन सूत्रों के द्वारा अमुक विषय की प्ररूपणा की गई है। हाँ, उन्होंने आगे वर्णन किए जानेवाले विषय का उल्लेख कहीं-कहीं प्रतिज्ञा के रूप में अवश्य किया है। जैसे—

१. एत्तो ट्ठाणसमुक्कित्तणं वण्णइस्सामो।—सूत्र १,९-२,१

२. इदाणिं पढमसम्मत्ताभिमुहो जाओ पयडीओ बंधदि ताओ पयडीओ कित्तइस्सामो।
—सूत्र १,९-३,१

३. तत्थ इमो विदिओ महादंडओ कादव्वो भवदि। १,९-४,१

४. तत्थ इमो तदिओ महादंडओ कादव्वो भवदि। १,९-५,१

५. एत्तो सव्वजीवेसु महादंडओ कादव्वो भवदि। २,११-२,१ (शेष पृष्ठ ७८ पर देखिए)

इस प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि यह सूत्र देशामर्शक है, अतः इससे सूचित अधिकारों की प्ररूपणा की जाती है, क्योंकि उनके बिना सत्त्व घटित नहीं होता। ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए उन्होंने आगे पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अधिकारों का निर्देश किया है और तदनुसार क्रम से उन मूलकरण कृतियों की प्ररूपणा की है।[1]

तत्पश्चात् उन्होंने 'अब यहाँ देशामर्शक सूत्र से सूचित अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करते हैं' ऐसा निर्देश करते हुए आगे क्रमशः सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोद्वारों के आश्रय से उन मूलकरणकृतियों की प्ररूपणा की है।[2]

उत्तरकरणकृति अनेक प्रकार की है। जैसे—असि, वासि, परशु, कुदारी, चक्र, दण्ड, वेम, नालिका, शलाका, मिट्टी, सूत्र और पानी आदि कार्यों की समीपता से वह उत्तरकरणकृति अनेक प्रकार की है। इसी प्रकार के जो और भी हैं उन सबको उत्तरकरणकृति समझना चाहिए (७२-७३)।

७. कृति का सातवाँ भेद भावकृति है। उसके लक्षण में कहा गया है कि जो जीव कृति-प्राभृत का ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त होता है उसका नाम भावकृति है (७४-७५)।

इस प्रकार उपर्युक्त सातों कृतियों के स्वरूप को दिखलाकर अन्त में 'इन कृतियों में कौन कृति यहाँ प्रकृत है' इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि इनमें यहाँ गणनाकृति प्रकृत (प्रसंग प्राप्त) है (७६)।

यहाँ सूत्रकार ने गणनाकृति को प्रकृत बतलाकर स्वयं उसकी कुछ प्ररुपणा नहीं की है। जैसाकि पूर्व में कहा जा चुका है, धवलाकार ने उस गणनाकृति के स्वरूप के निर्देशक सूत्र (६६) की व्याख्या करते हुए उसके विषय में विशेष प्रकाश डाला है (पु० ९, पृ० २७४-३२१)।

यह कृति अनुयोगद्वार ९वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

२. वेदना अनुयोगद्वार

चतुर्थ 'वेदना' खण्ड का यह दूसरा अनुयोगद्वार है। विविध अधिकारों में विभक्त उसके अतिशय विस्तृत होने से धवलाकार ने उसे वेदनामहाधिकार कहा है।[3]

प्रकृत में तो ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार यह कह रहे हैं कि सूत्रकार ने इन सूत्रों के द्वारा तेरह मूलकरणकृतियों के सत्त्व की प्ररूपणा की है। यह सत्त्व की प्ररूपणा पदमीमांसा आदि तीन अधिकारों के बिना बनती नहीं है, अतएव हम यहाँ देशामर्शक सूत्र के द्वारा सूचित अधिकारों की प्ररूपणा करते हैं। यदि वह सूत्र होता तो धवलाकार उसके आगे 'पुणो एदेण देसामासियसुत्तेण' में 'पुणो' यह नहीं कहते।

इसी प्रकार आगे (पु० १४, पृ० ४६९) "एत्तो उवरिमगंथो चूलियाणाम" यह भी सूत्र (५, ६, ५८१) के रूप में सन्देहास्पद है। सूत्रकार ने ग्रन्थगत किसी सन्दर्भ को 'चूलिका' नहीं कहा।

१. धवला पु० ९, पृ० ३२९-५४
२. वही, पृ० ३५४-४५०
३. कम्मट्ठजणियवेयणउवट्टिसंमुत्तिण्णए जिणे णमिउं।
वेयणमहाहियारं विविहहियारं परूवेमो ॥ पु० १०, पृ० १

सूत्रकार ने 'वेदना' इस रूप में प्रकृत अनुयोगद्वार का स्मरण कराते हुए उसमें इन सोलह अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा है—१. वेदनानिक्षेप, २. वेदनानयविभाषणता, ३. वेदना-नामविधान, ४. वेदनाद्रव्यविधान, ५. वेदनाक्षेत्रविधान, ६. वेदनाकालविधान, ७. वेदना-भावविधान, ८. वेदनाप्रत्ययविधान, ९. वेदनास्वामित्वविधान, १०. वेदनावेदनविधान, ११. वेदनागतिविधान, १२. वेदनाअनन्तरविधान, १३. वेदनासंनिकर्षविधान, १४. वेदना-परिमाणविधान, १५. वेदनाभागाभागविधान और १६. वेदनाअल्पबहुत्व (सूत्र १)।

इन १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से यहाँ यथाक्रम से 'वेदना' की प्ररूपणा इस प्रकार की गई है—

१. **वेदनानिक्षेप**—इस अनुयोगद्वार में केवल दो सूत्र हैं। उनमें से प्रथम सूत्र के द्वारा 'वेदनानिक्षेप' अधिकार का स्मरण कराते हुए वह वेदनानिक्षेप चार प्रकार का है, यह सूचना की गई है तथा दूसरे सूत्र के द्वारा उसके उन चार भेदों का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है—नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना।

२. **वेदनानयविभाषणता**—वेदनानिक्षेप में निर्दिष्ट वेदना के उन चार भेदों में कौन नय किन वेदनाओं को स्वीकार करता है, इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय सब ही वेदनाओं को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनावेदना को स्वीकार नहीं करता है, तथा शब्दनय नामवेदना और भाववेदना को स्वीकार करता है (सूत्र १-४)।

३. **वेदनानाम-विधान**—यहाँ बन्ध, उदय व सत्त्वस्वरूप नो आगमद्रव्य कर्मवेदना प्रकृत है। प्रकृतवेदना के और नाम के विधान की प्ररूपणा करना—इस अनुयोगद्वार का प्रयोजन है।

तदनुसार यहाँ प्रारम्भ में वेदनानाम विधान का स्मरण कराते हुए नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा उक्त वेदना के ये आठ भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—ज्ञानावरणीयवेदना, दर्शना-वरणीयवेदना, वेदनीयवेदना, मोहनीयवेदना, आयुवेदना, नामवेदना, गोत्रवेदना और अन्तराय-वेदना (सूत्र १)।

नामविधान को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि 'ज्ञानमावृणोतीति ज्ञाना-वरणीयम्' इस निरुक्ति के अनुसार ज्ञान को आवृत करनेवाले कर्मद्रव्य का नाम ज्ञानावरणीय है। 'ज्ञानावरणीयवेदना' में धवलाकार के अभिप्रायानुसार 'ज्ञानावरणीयमेव वेदना ज्ञाना-वरणीयवेदना' ऐसा कर्मधारय समास करना चाहिए, न कि 'ज्ञानावरणीयस्य वेदना' इस प्रकार का तत्पुरुप समास; क्योंकि द्रव्यार्थिक नयों में भाव की प्रधानता नहीं होती। तदनुसार ज्ञानावरणीय रूप पुद्गल कर्मद्रव्य को ही ज्ञानावरणीयवेदना समझना चाहिए। इन दोनों नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना को ज्ञानावरणीयवेदना नहीं कहा जा सकता।

संग्रहनय की अपेक्षा आठों ही कर्मों की एक वेदना है (२)।

एक 'वेदना' शब्द से समस्त वेदनाभेदों की अविनाभाविनी एक वेदनाजाति उपलब्ध होती है, इसलिए इस नय की अपेक्षा आठों कर्मों की एक वेदना है।

ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा न ज्ञानावरणीय वेदना है और न दर्शनावरणीय वेदना आदि भी हैं किन्तु इस नय की अपेक्षा एक वेदनीय ही वेदना है (३)।

लोकव्यवहार में सुख-दुःख को वेदना माना जाता है। ये सुख-दुःख वेदनीयरूप कर्मपुद्गल-स्कन्ध को छोड़कर अन्य किसी कर्म से नहीं होते, इसीलिए इस नय की अपेक्षा अन्य कर्मों का

निषेध करके उदय को प्राप्त एक वेदनीयकर्म द्रव्य को वेदना कहा गया है।

शब्द नय की अपेक्षा 'वेदना' ही वेदना है (४)।

इस नय की अपेक्षा वेदनीय द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख अथवा आठ कर्मों के उदय से उत्पन्न जीव का परिणाम वेदना है, क्योंकि उस शब्द-नय का विषय द्रव्य नहीं है। इस अनुयोगद्वार में ४ ही सूत्र हैं।

४. **वेदनाद्रव्यविधान**—यह 'वेदना' अनुयोगद्वार का चौथा अवान्तर अनुयोगद्वार है। इसमें उपर्युक्त वेदनारूप द्रव्य के विधानस्वरूप से उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य पदों की प्ररूपणा की गई है।

यहाँ प्रारम्भ में 'वेदनाद्रव्यविधान' का स्मरण कराते हुए उसकी प्ररूपणा में इन तीन अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है—पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व।

इनमें से पदमीमांसा में ज्ञानावरणीय वेदना क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुकृष्ट है, क्या जघन्य है और क्या अजघन्य है; इस प्रश्न को उठाते हुए उसके उत्तर में कहा गया है कि उकृष्ट भी हैं, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है। आगे संक्षेप में यह सूचना कर दी गई है कि इस ज्ञानावरणीय के समान अन्य सात कर्मों के भी इन पदों की प्ररूपणा करना चाहिए (१-४)।

यहाँ धवलाकार ने पूर्वोक्त पृच्छासूत्र (२) और उत्तरसूत्र (३) को देशामर्शक कहकर उनके द्वारा सूचित उक्त उत्कृष्ठ आदि चार पदों के साथ अन्य सादि-अनादि आदि नौ पदों विषयक पृच्छाओं और उनके उत्तर को प्ररूपणीय कहा है। इस प्रकार उन दो सूत्रों के अन्तर्गत तेरह-तेरह अन्य सूत्रों को समझना चाहिए। उस सबके विषय में विशेष विचार 'धवला' के प्रसंग में किया जायगा।

दूसरे स्वामित्व अनुयोगद्वार में स्वामित्व के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जघन्य पदविषयक और उत्कृष्ट पदविषयक। इनमें उत्कृष्ट पद के आश्रय से पूछा गया है कि स्वामित्व की अपेक्षा उत्कृष्ट पद में ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट किसके होती है (५-६)।

इसके उत्तर में यह कहना अभिप्रेत है कि वह ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट गुणित-कर्मांशिक के होती है। इसी अभिप्राय को हृदयंगम करते हुए यहाँ उस गुणितकर्मांशिक के ये लक्षण प्रकट किये गये हैं—जो साधिक दो हजार सागरोपम से हीन कर्मस्थितिकाल तक बादर पृथिवीकायिक जीवों में रहा है, वहाँ परिभ्रमण करते हुए जिसके पर्याप्तभव बहुत और अपर्याप्तभव थोड़े होते हैं, पर्याप्तकाल बहुत व अपर्याप्तकाल थोड़े होते हैं (७-६), इत्यादि अन्य कुछ विशेषताओं को प्रकट करते हुए (१०-२०) आगे कहा गया है कि इस प्रकार से परिभ्रमण करके जो अन्तिम भवग्रहण में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ है (२१), आगे इस नारकी की कुछ विशेषताओं को दिखलाते हुए (२२-२६) कहा गया है कि वहाँ रहते हुए जो द्विचरम और चरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुआ है, चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ है, इस प्रकार जो चरमसमयवर्ती तद्भवस्थ हुआ है उस चरमसमयवर्ती तद्भवस्थ नारकी के ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है (३०-३२)।

इस प्रकार ये सब विशेषताएँ ऐसी हैं कि उनके आश्रय से ज्ञानावरणीयरूप कर्मपुद्गल-स्कन्धों का उस गुणितकर्मांशिक जीव के उत्तरोत्तर अधिकाधिक संचय होता जाता है। इस

प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ जब वह अन्त में सातवीं पृथिवी के नारकियों में तेंतीस सागरोपम प्रमाण आयु को लेकर उत्पन्न होता है तब उसके आयु के अन्तिम समय में उन ज्ञानावरणीयरूप कर्मस्कन्धों का सर्वाधिक संचय होता है, यह यहाँ अभिप्राय प्रकट किया गया है।

उक्त गुणितकर्मांशिक जीव के ज्ञानावरणीय कर्मद्रव्य का कितना संचय होता है तथा वह किस क्रम से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, इस सबकी प्ररूपणा यहाँ धवलाकार ने गणित प्रक्रिया के आधार से बहुत विस्तार से की है।[1]

आगे ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य से अनुत्कृष्ट किसके होती है, इस विषय में यह कह दिया गया है कि उपर्युक्त उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय द्रव्यवेदना से भिन्न अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना है (३३)।

इसका स्पष्टीकरण धवला में पर्याप्त रूप में किया गया है।[2]

इस प्रकार ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् अन्य छह कर्मवेदनाओं के विषय में संक्षेप से यह कह दिया है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणीय के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट द्रव्य की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार से आयु कर्म को छोड़ शेष छह कर्मों के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट द्रव्य की प्ररूपणा करना चाहिए। (३४)।

आयुकर्म के विषय में जो विशेषता रही है उसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाला जो जीव परभव सम्बन्धी पूर्वकोटि प्रमाण आयु को बाँधता हुआ उसे जलचर जीवों में दीर्घ आयुबन्ध काल से तत्प्रायोग्य संक्लेश के साथ उत्कृष्ट योग में बाँधता है, जो योगयवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा है, अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक रहा है, इस क्रम से काल को प्राप्त हुआ पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले जलचर जीवों में उत्पन्न हुआ है, अन्तर्मुहूर्त में सबसे अल्प समय में सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, अन्तर्मुहूर्तकाल से फिर से भी जलचर जीवों में पूर्वकोटि प्रमाण आयु को बाँधता है, उस आयु को जो दीर्घ आयुबन्ध काल में तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग के द्वारा बाँधता है, योगयवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्तकाल रहता है, अन्तिम गुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग काल तक रहा है, बहुत-बहुत बार सातावन्ध के योग्यकाल से युक्त होता है, तथा जो अनन्तर समय में परभविक आयु के बन्ध को समाप्त करने वाला है, उसके आयुकर्मवेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है (३५-४६)।

इन सब विशेषताओं का स्पष्टीकरण धवलाकार ने विस्तार से किया है। उसके सम्बन्ध में आगे 'धवलागत विषय परिचय' में विशेष विचार किया जानेवाला है।

आगे आयुवेदना द्रव्य से अनुत्कृष्ट किसके होती है, इस विषय में यह कह दिया है कि उपर्युक्त उत्कृष्ट द्रव्यवेदना से भिन्न अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना जानना चाहिए (४७)।

इस प्रकार उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना के प्रसंग को समाप्त कर आगे द्रव्य से जघन्य वेदना की प्ररूपणा करते हुए स्वामित्व की अपेक्षा जघन्य पद में ज्ञानावरणीय वेदनाद्रव्य से जघन्य किसके होती है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा गया है कि जो जीव पल्योपम

---

१. धवला पु० १०, पृ० १०९-२१०
२. वही, पृ० २१०-२४

के असंख्यातवें भाग से हीन कर्म स्थितिकाल पर्यन्त सूक्ष्मनिगोद जीवों में रहा है, वहाँ परिभ्रमण करते हुए जिसके अपर्याप्त भव बहुत व पर्याप्त भव थोड़े रहते हैं, इत्यादि क्रम से जो यहाँ जघन्य ज्ञानावरणीय द्रव्यवेदना के स्वामी के लक्षण प्रकट किए गये हैं (४८-५६) वे प्रायः सभी पूर्वोक्त उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय द्रव्यवेदना के स्वामी के लक्षणों से भिन्न हैं। इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि इस प्रकार से परिभ्रमण करके जो बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त जीवों में उत्पन्न हुआ है, अन्तर्मुहूर्त में सर्वलघु काल से सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, अन्तर्मुहूर्त में काल को प्राप्त होकर जो पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है, सर्वलघुकाल (सात मास) में योनिनिष्क्रमण रूप जन्म से जो आठ वर्ष का होकर संयम को प्राप्त हुआ है, वहाँ कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण भवस्थिति तक संयम का पालन कर जीवित के थोड़ा शेष रहने पर जो मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है, इस मिथ्यात्व से सम्बद्ध सबसे अल्प असंयमकाल में रहा है, इत्यादि क्रम से यहाँ अन्य भी कुछ विशेषताओं को प्रकट करते हुए (५६-७०) आगे कहा गया है कि इस प्रकार नाना भव-ग्रहणों से आठ संयम-काण्डकों का पालन करके, चार बार कषायों को उपशमाकर, पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र संयमासंयम और सम्यक्त्वकाण्डकों का पालन करके जो इस प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ अन्तिम भवग्रहण में फिर से भी पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है, वहाँ सर्वलघु कालवाले योनिनिष्क्रमण रूप जन्म से आठ वर्ष का होकर जो संयम को प्राप्त हुआ है, कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण काल तक संयम का पालन कर जीवित के थोड़ा शेष रह जाने पर जो क्षपणा में उद्यत हुआ है; इस प्रकार जो अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ (क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती) हुआ है उसके ज्ञानावरणीय-वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है (७१-७५)।

अभिप्राय यह है कि द्रव्य से जघन्य ज्ञानावरणीय वेदना क्षपितकर्मांशिक जीव के होती है। इन सूत्रों में उसी क्षपितकर्मांशिक के लक्षणों को प्रकट किया गया है। ये सब लक्षण ऐसे हैं जिनके आश्रय से ज्ञानावरणीय रूप कर्मपुद्गलस्कन्धों का संचय उत्तरोत्तर हीन होता गया है। धवला में इसका स्पष्टीकरण विस्तार से किया गया है।

आगे इस जघन्य ज्ञानावरणीय द्रव्यवेदना से भिन्न अजघन्य ज्ञानावरणीय द्रव्यवेदना है, यह सूचना कर दी गई है (७६)।

इसका स्पष्टीकरण धवला में विस्तार से किया गया है।[1]

आगे दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय इन तीन कर्मों की जघन्य द्रव्यवेदना के सम्बन्ध में यह सूचना कर दी गई है कि जिस प्रकार जघन्य ज्ञानावरणीय द्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार से इन तीन जघन्य कर्मद्रव्यवेदनाओं की प्ररूपणा करना चाहिए। विशेष इतना है कि मोहनीयकर्म की क्षपणा में उद्यत जीव अन्तिम समयवर्ती सकषायी (सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत) होता है तब उसके मोहनीय वेदना द्रव्य से जघन्य होती है (७७)।

इस जघन्य द्रव्यवेदना से भिन्न उन तीनों कर्मों की अजघन्य द्रव्यवेदना है (७८)।

अनन्तर द्रव्य से जघन्य वेदनीयवेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि जो जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन कर्म स्थितिकाल तक सूक्ष्म निगोद जीवों में

---

१. धवला पु० १०, पृ० २९९-३१२

रहा है, वहाँ परिभ्रमण करते हुए उसके अपर्याप्त भव बहुत व पर्याप्त भव थोड़े रहे हैं, इत्यादि क्रम से उसके लक्षणों को स्पष्ट करते हुए (७९-१०१) अन्त में कहा गया है कि इस प्रकार से परिभ्रमण करके जो अन्तिम भवग्रहण में फिर से पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर सर्वलघु योनिनिष्क्रमण रूप जन्म से आठ वर्ष का होता हुआ संयम को प्राप्त हुआ है, अन्तर्मुहूर्त से क्षपणा में उद्यत हुआ व अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान और केवलदर्शन को उत्पन्न करके केवली हुआ है, इस प्रकार कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण भवस्थिति काल तक केवलिविहार से विहार करके जीवित के थोड़ा शेष रह जाने पर जो अन्तिम समयवर्ती भव्यसिद्धिक हुआ है उसके द्रव्य से जघन्य वेदनीयवेदना होती है (१०२-८)।

अजघन्य वेदनीयद्रव्यवेदना उससे भिन्न निर्दिष्ट की गई है (१०९)।

इसके अनन्तर यह कहा गया है कि जिस प्रकार ऊपर जघन्य-अजघन्य वेदनीयद्रव्यवेदना की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार नाम व गोत्र इन दो कर्मों की भी जघन्य-अजघन्य द्रव्यवेदनाओं की प्ररूपणा करना चाहिए (११०)।

स्वामित्व के आश्रय से जघन्य पद में द्रव्य से जघन्य आयुवेदना किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि जो पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाला जीव अल्प आयुबन्धकाल में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में आयु को बाँधता है, उसे जो तत्प्रायोग्य जघन्य योग के द्वारा बाँधता है, योगयवमध्य के नीचे जो अन्तर्मुहूर्तकाल रहता है, प्रथम जीवगुणहानिस्थानान्तर में जो आवली के असंख्यातवें भाग मात्र रहता है, पश्चात् क्रम से काल को प्राप्त होकर जो नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ है, वहाँ प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ होकर जिसने जघन्य योग के द्वारा पुद्गलपिण्ड को ग्रहण किया है, जो जघन्य वृद्धि से वृद्धिगत हुआ है, अन्तर्मुहूर्त में सर्वाधिक काल से जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ है, वहाँ पर तेंतीस सागरोपम प्रमाण भवस्थिति तक आयु का पालन करता हुआ जो बहुत बार असाताकाल से युक्त हुआ है; तथा जीवित के थोड़ा शेष रह जाने पर जो अनन्तर समय में परभव सम्बन्धी आयु को बाँधेगा उसके द्रव्य से जघन्य आयुवेदना होती है (१११-२१)।

द्रव्य से जघन्य इस आयुवेदना से भिन्न अजघन्य आयुवेदना कही गई है (१२२)।

आयुकर्म के इस अजघन्य द्रव्य की प्ररूपणा गणितप्रक्रिया के अनुसार धवला में विस्तारपूर्वक की गई है।[1]

इस प्रकार यहाँ स्वामित्व अनुयोद्वार समाप्त हो जाता है।

अल्पबहुत्व—'वेदना द्रव्यविधान' का तीसरा अनुयोगद्वार है। इसमें ये तीन अनुयोगद्वार हैं—जघन्य पदविषयक, उत्कृष्ट पदविषयक और जघन्य-उत्कृष्ट पदविषयक अल्पबहुत्व (१२३)।

इनमें जघन्य पदविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा में कहा गया है कि जघन्य पद की अपेक्षा द्रव्य से जघन्य आयुवेदना सबसे स्तोक है, द्रव्य से जघन्य नामवेदना व गोत्रवेदना दोनों परस्पर समान होकर उससे असंख्यातगुणी है, द्रव्य से जघन्य ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय तीनों वेदना में परस्पर-समान व उन दोनों से विशेष अधिक हैं। उनसे जघन्य मोह-

---

१. धवला पु० १०, पृ० ३३६-८४

नीयद्रव्यवेदना विशेष अधिक है, जघन्य वेदनीयवेदना उससे विशेष अधिक है (१२४-२८)।

इसी पद्धति से आगे उत्कृष्ट पदविषयक अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है (१२९-३३)।

जघन्य-उत्कृष्ट पदविषयक अल्पवहुत्व के प्रसंग में द्रव्य से जघन्य आयुवेदना को सबसे स्तोक, उससे उसी की उत्कृष्ट वेदना असंख्यातगुणी, उससे नामवेदना और गोत्रवेदना द्रव्य से जघन्य दोनों परस्पर समान होकर असंख्यातगुणी हैं, इस पद्धति से आगे इस जघन्य-उत्कृष्ट पदविषयक अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है (१३४-४३)।

चूलिका—

इस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पवहुत्व इन तीन अधिकारों में विभक्त प्रस्तुत वेदना द्रव्यविधान के समाप्त हो जाने पर उसकी चूलिका प्राप्त हुई है। यद्यपि मूल ग्रन्थ में इस प्रकरण का उल्लेख 'चूलिका' नाम से नहीं किया गया है, पर धवलाकार ने उसे चूलिका कहा है। धवला में इस प्रकरण के प्रारम्भ में यह शंका की गई है कि पूर्वोक्त तीन अनुयोग-द्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक वेदना द्रव्यविधान की प्ररूपणा कर देने पर यह आगे का ग्रन्थ किसलिए कहा जाता है। इसका समाधान करते हुए धवलाकार ने निष्कर्ष के रूप में कहा है कि वेदना द्रव्यविधान की चूलिका की प्ररूपणा करने के लिए यह आगे का ग्रन्थ आया है। सूत्रों से सूचित अर्थ को प्रकाशित करना, यह चूलिका का लक्षण है।[1]

इस प्रकरण के प्रारम्भ में सूत्रकार ने कहा है कि यहाँ जो यह कहा गया है कि "बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है" (४,२,४,१२ व १९) तथा 'बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थानों को प्राप्त होता है" (४,२,४,५४)यहाँ उसके स्पष्टीकरण में अल्पवहुत्व दो प्रकार का है—योगाल्पवहुत्व और प्रदेशाल्पवहुत्व (१४४)। यह कहते हुए उन्होंने आगे जीवसमासों के आश्रय से प्रथमत: योगाल्पवहुत्व की प्ररूपणा इस प्रकार की है—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य योग सबसे स्तोक है, वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य योग उससे असंख्यातगुणा है, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य योग उससे असंख्यातगुणा है, इत्यादि (१४५-७३)।

धवलाकार ने इस मूलवीणा के अल्पवहुत्वालाप को देशामर्शक कहकर यहाँ धवला में उससे सूचित प्ररूपणा, प्रमाण और अल्पवहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है।[2]

इस प्रकार योगाल्पवहुत्व की प्ररूपणा करके आगे क्रम प्राप्त प्रदेशाल्पवहुत्व की प्ररूपणा के विषय में यह कह दिया है कि जिस प्रकार योगाल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार प्रदेशाल्पवहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिए। विशेष इतना है कि सूत्रों में जहाँ योगाल्पवहुत्व के प्रसंग में योग को अल्प कहा गया है वहाँ इस प्रदेशाल्पवहुत्व के प्रसंग में प्रदेशों को अल्प कहना चाहिए (१७४)।

आगे योगस्थानप्ररूपणा में ये दस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य कहे गए हैं—अविभाग प्रतिच्छेद-प्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व (१७५-७६)।

---

१. धवला पु० १०, पृ० ३९५

२. धवला पु० १०, पृ० ४०३-३१

१. अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा में यह स्पष्ट किया गया है कि एक-एक जीवप्रदेश में योग के कितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं (१७७-७९)।

२. वर्गणाप्ररूपणा में यह स्पष्ट किया गया है कि असंख्यात लोक मात्र अविभाग-प्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है। ऐसी वर्गणाएँ श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात-होती हैं (१८०-८१)।

३. एक स्पर्धक श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात वर्गणाओं का होता है। ऐसे स्पर्धक श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात होते हैं। यह विवेचन स्पर्धक-प्ररूपणा में किया गया है (१८२-८३)।

४. अन्तरप्ररूपणा में एक-एक स्पर्धक का अन्तर असंख्यात लोकमात्र होता है, इसे स्पष्ट किया गया है (१८४-८५)।

५. स्थानप्ररूपणा में यह स्पष्ट किया गया है कि श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात स्पर्धकों का एक जघन्य योगस्थान होता है। ऐसे योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग असंख्यात होते हैं (१८६-८७)।

६. अनन्तरोपनिधा में योगस्थानगत स्पर्धकों की हीनाधिकता को प्रकट किया गया है (१८८-९२)।

७. परम्परोपनिधा में यह स्पष्ट किया गया है कि जघन्य योगस्थानों से आगे श्रेणि के असंख्यातवें भागमात्र जाकर वे दुगुणी वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार वे उत्कृष्ट योगस्थान तक उत्तरोत्तर दुगुणी वृद्धि को प्राप्त हुए हैं, इत्यादि (१९३-९६)।

८. समयप्ररूपणा में चार समय वाले व पाँच समय वाले आदि योगस्थान कितने हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (१९७-२००)।

९. वृद्धिप्ररूपणा में यह स्पष्ट किया गया है कि योगस्थानों में इतनी वृद्धि-हानियाँ हैं और इतनी नहीं हैं। साथ ही उनके काल का भी यहाँ निर्देश किया गया है (२०१-५)।

१०. अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में आठ व सात आदि समयोंवाले योगस्थानों में हीनाधिकता को प्रकट किया है (२०६-१२)।

अन्त में यह निर्देश किया गया है कि जो (जितने) योगस्थान हैं वे (उतने) ही प्रदेश-बन्ध-स्थान हैं। विशेष इतना है कि प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेष से विशेष अधिक हैं। (२१३)।

इसे धवला में बहुत कुछ स्पष्ट किया गया है।[1] इस प्रकार यह वेदनाद्रव्यविधान अनुयोगद्वार समाप्त हुआ। वेदना अनुयोगद्वार के अन्तर्गत पूर्वोक्त १६ अनुयोगद्वारों में से पूर्व के ये चार अनुयोगद्वार दसवीं जिल्द में प्रकाशित हुए हैं।

५. वेदनाक्षेत्र विधान- वेदना के अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वारों में यह पाँचवाँ अनुयोगद्वार है। पूर्व वेदनाद्रव्यविधान के समान इस वेदनाक्षेत्र विधान में भी वे ही पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व नाम के तीन अनुयोगद्वार हैं (सूत्र १-२)।

पदमीमांसा के अनुसार यहाँ यह पूछा गया है कि ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्र की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है, और क्या अजघन्य है। उत्तर में कहा गया है कि वह उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी और अजघन्य भी है। आगे यह सूचना कर

---

१. धवला पु० १०, पृ० ५०५-१२

दी गई है कि इसी प्रकार से शेष दर्शनावरणीय आदि सात कर्मों के विषय में भी पदमीमांसा करना चाहिए (३-५)।

स्वामित्व अनुयोगद्वार में स्वामित्व के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जघन्य पद-विषयक और उत्कृष्ट पदविषयक। आगे पूछा गया है कि स्वामित्व की अपेक्षा उत्कृष्ट पद में ज्ञानावरणीय वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट किसके होती है। उत्तर में कहा गया है कि एक हजार योजन विस्तारवाला जो मत्स्य स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट पर स्थित है, वेदना-समुद्घात से समुद्घात को प्राप्त हुआ है, काकलेश्या—कौवे के समान वर्णवाले तीसरे तनुवातवलय—से संलग्न है, फिर भी मारणान्तिक समुद्घात को करते हुए काण्डक (बाण) के समान तीन बार ऋजुगति से चलकर दो बार मुड़ा है, ऐसा करके जो अनन्तर समय में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होनेवाला है, उसके क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञानावरणीय-वेदना उत्कृष्ट होती है (६-१२)।

क्षेत्र की अपेक्षा उस उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय वेदना से भिन्न अनुत्कृष्ट ज्ञानावरणीयक्षेत्रवेदना कही गई है (१३)।

आगे दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन तीन कर्मों की उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट वेदना के क्षेत्र की प्ररूपणा के विषय में यह सूचना कर दी गई है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टवेदना के क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार इन तीन कर्मों की भी उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट वेदना के क्षेत्र की प्ररूपणा करना चाहिए (१४)।

पश्चात् क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदनीयवेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि केवलिसमुद्घात से समुद्घात को प्राप्त होकर समस्त लोक को व्याप्त करनेवाले किसी भी केवली के वह क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदनीयवेदना होती है (१५)।

इस उत्कृष्ट वेदनीयवेदना से भिन्न क्षेत्र की अपेक्षा अनुत्कृष्ट वेदनीयवेदना निर्दिष्ट की गई है (१६-१७)।

आगे आयु, नाम और गोत्र इन तीन वेदनाओं के विषय में यह निर्देश कर दिया गया है कि जिस प्रकार यह वेदनीयवेदना के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार आयु, नाम और गोत्र वेदनाओं के भी उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट क्षेत्र की प्ररूपणा करना चाहिए, क्योंकि उससे इनके क्षेत्र में कुछ विशेषता नहीं है (१८)।

क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य ज्ञानावरणीय वेदना उस अन्यतर सूक्ष्मनिगोद जीव अपर्याप्तक के निर्दिष्ट की गई है जो तृतीय समयवर्ती आहारक और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ होकर जघन्य योग से युक्त होता हुआ शरीर की सबसे जघन्य अवगाहना में वर्तमान है। इससे भिन्न क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना अजघन्य है। इस प्रकार शेष सात कर्मवेदनाओं के भी जघन्य-अजघन्य क्षेत्र की प्ररूपणा करना चाहिए, क्योंकि इनके क्षेत्र में ज्ञानावरणीय वेदना के उस जघन्य-अजघन्य क्षेत्र से कुछ विशेषता नहीं है (१९-२२)।

अल्प-बहुत्व अनुयोगद्वार में जघन्य पद-विषयक, उत्कृष्ट पदविषयक और जघन्य-उत्कृष्ट पद विषयक इन अवान्तर अनुयोग द्वारों के आश्रय से उस वेदना विषयक क्षेत्र के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गई है (२३-२९)।

आगे जिस अवगाहनादण्डक की प्ररूपणा की गई है उसकी उत्थानिका के रूप में धवला-कार ने कहा है कि यह अल्पबहुत्व सूत्र सब जीवसमासों का आश्रय लेकर नहीं कहा गया है,

इसलिए अब आगे सूत्रकार सब जीवसमासों के आश्रय से ज्ञानावरणादि कर्मों के जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र की प्ररूपणा के लिए अल्पबहुत्वदण्डक कहते हैं।[1]

तदनुसार ही आगे ग्रन्थकार द्वारा "यहाँ सब जीवों में अवगाहनादण्डक किया जाता है" ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए (सूत्र ३०) उस अल्पबहुत्वदण्डक की प्ररूपणा की गई है। यथा—

सूक्ष्म निगोदजीव अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना सबसे स्तोक है, सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है, सूक्ष्म तेजकायिक की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है, सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात-गुणी है, इत्यादि[2] (सूत्र ३१-९४)।

आगे इस अल्पबहुत्व में अवगाहना के गुणकार का निर्देश करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि एक सूक्ष्म जीव से दूसरे सूक्ष्म जीव का अवगाहना-गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग, सूक्ष्म से बादर जीव की अवगाहना का गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, बादर से सूक्ष्म की अवगाहना का गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग, और बादर से बादर जीव की अवगाहना का गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। आगे पुनः बादर से बादर का गुणकार जो संख्यात समय कहा गया है वह द्वीन्द्रिय आदि निर्वृत्त्यपर्याप्त और उन्हीं पर्याप्त जीवों को लक्ष्य करके कहा गया है (९५-९९)।

इस प्रकार से यह वेदनाक्षेत्र विधान अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है। यहाँ सब सूत्र ९९ हैं।

६. वेदनाकालविधान—यहाँ भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व नाम के वे ही तीन अनुयोगद्वार हैं।

पदमीमांसा में काल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि वेदनाओं सम्बन्धी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य पदों का विचार किया गया है (१-५)।

स्वामित्व अनुयोगद्वार में स्वामित्व के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जघन्यपदविषयक और उत्कृष्टपदविषयक। इनमें स्वामित्व के अनुसार काल की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह उस अन्यतर पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि के होती है जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हो चुका है; वह कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज अथवा कर्मभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न इनमें कोई भी हो; संख्यातवर्षायुष्क अथवा असंख्यातवर्षायुष्क में कोई भी हो; देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा नारकी कोई भी हो; स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुंसकवेदी कोई भी हो; जलचर, स्थलचर अथवा नभचर कोई भी हो; किन्तु साकार उपयोगवाला हो, जागृत हो, श्रुतोपयोग से युक्त हो, तथा उत्कृष्ट स्थिति के बन्धयोग्य उत्कृष्ट स्थितिसंक्लेश में वर्तमान अथवा कुछ मध्यम परिणामवाला हो (६-८)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने यहाँ सूत्र में उपयुक्त 'अकर्मभूमिज' शब्द से भोग-भूमिजों को न ग्रहण कर देव-नारकियों को ग्रहण किया है, क्योंकि भोगभूमिज उसकी उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बाँधते हैं।

---

१. धवला पु० ११, पृ० ५५

२. यह अवगाहना अल्पबहुत्व इसके पूर्व जीवस्थान-क्षेत्रानुगम में धवला में 'वेदनाक्षेत्रविधान' के नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया गया है। पु०४, पृ० ९४-९८; वह गो० जीवकाण्ड में भी 'जीवसमास' अधिकार में उपलब्ध होता है। गा० ९७-१०१

'संख्यात वर्षायुष्क' से अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में उत्पन्न और कर्मभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न जीव को ग्रहण किया है। 'कर्मभूमिप्रतिभाग' से स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में उत्पन्न जीवों का अभिप्राय रहा है।

'असंख्यातवर्षायुष्क' से एक समय अधिक पूर्वकोटि को लेकर आगे की आयुवाले तिर्यंच व मनुष्यों को न ग्रहण करके देव-नारकियों को ग्रहण किया है।

काल की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना अनुत्कृष्ट उपर्युक्त उत्कृष्टवेदना से भिन्न कही गई है (६)।

आगे यह सूचना कर दी गई है कि जिस प्रकार ऊपर काल की अपेक्षा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों के विषय में प्ररूपणा करना चाहिए (१०)।

काल की अपेक्षा उत्कृष्ट आयु कर्मवेदना के विषय में विचार करते हुए आगे कहा गया है कि वह उस अन्यतर मनुष्य अथवा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के होती है जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हो चुका है; वह सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि में कोई भी हो; कर्मभूमिज अथवा कर्मभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न कोई भी हो; किन्तु संख्यातवर्षायुष्क होना चाहिए; स्त्रीवेद, पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेद इनमें किसी भी वेद से युक्त हो; जलचर हो या थलचर हो; साकार उपयोग से युक्त, जागृत व तत्प्रायोग्य संक्लेश अथवा विशुद्धि से युक्त हो; तथा जो उत्कृष्ट आबाधा के साथ देव अथवा नारकी की आयु को बाँधनेवाला है। उसके आयुवेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है (११-१२)।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उत्कृष्ट देवायु को मनुष्य ही बाँधते हैं, पर उत्कृष्ट नारकायु को मनुष्य भी बाँधते हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी बाँधते हैं, इसी अभिप्राय को हृदयंगम करते हुए सूत्र में मनुष्य और तिर्यंच इन दोनों शब्दों को ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार देवों की उत्कृष्ट आयु को सम्यग्दृष्टि और नारकियों की उत्कृष्ट आयु को मिथ्यादृष्टि ही बाँधते हैं; इसके ज्ञापनार्थ सूत्र में 'सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि' इन दोनों को ग्रहण किया गया है।

देवों की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह कर्मभूमियों में ही बाँधी जाती है, किन्तु नारकियों की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह कर्मभूमियों और कर्मभूमि प्रतिभागों में भी बाँधी जाती है, इस अभिप्राय से सूत्र में कर्मभूमिज और कर्मभूमि-प्रतिभागज इन दोनों का निर्देश किया गया है। देव-नारकियों की उत्कृष्ट आयु को असंख्यात वर्षायुष्क तिर्यंच और मनुष्य नहीं बाँधते हैं, संख्यात वर्ष की आयुवाले ही उनकी उत्कृष्ट आयु को बाँधते हैं।

सूत्र में काल की अपेक्षा उत्कृष्ट आयुवेदना में तीनों वेदों के साथ अविरोध प्रकट किया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि 'वेद' से यहाँ भाववेद को ग्रहण किया गया है, क्योंकि द्रव्य स्त्रीवेद के साथ नारकियों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध नहीं होता। ऐसा न मानने पर "आ पंचमी त्ति सिंहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति" इस सूत्र (मूलाचार १२, ११३) के साथ विरोध का प्रसंग अनिवार्य होगा। इसी प्रकार देवों की उत्कृष्ट आयु भी द्रव्य स्त्रीवेद के साथ नहीं बाँधी जाती, अन्यथा "णियमा णिग्गंथलिंगेण" इस सूत्र (मूलाचार १२-१३४) के साथ विरोध अवश्यंभावी है। यदि कहा जाय कि द्रव्य स्त्रियों के निर्ग्रन्थता सम्भव है तो यह कहना संगत नहीं होगा, क्योंकि वस्त्र आदि के परित्याग विना उनके भावनिर्ग्रन्थता असम्भव है। द्रव्यस्त्री और नपुंसक वेदवालों के वस्त्र का त्याग नहीं होता, अन्यथा छेदसूत्र के

साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है।[1]

देवों व नारकियों की उत्कृष्ट आयु को नभचर नहीं बांधते, इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए सूत्र में जलचर और थलचर इन दो को ही ग्रहण किया गया है।

काल की अपेक्षा इस उत्कृष्ट आयुवेदना से भिन्न अनुत्कृष्ट आयुवेदना है (१३)।

जघन्य पद में काल की अपेक्षा जघन्य ज्ञानावरणीय वेदना के स्वामी का निर्देश करते हुए कहा गया है कि वह अन्यतर अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के होती है। इससे भिन्नकाल की अपेक्षा अजघन्य ज्ञानावरणीय-वेदना है (१५-१६)।

जिस प्रकार काल की अपेक्षा जघन्य-अजघन्य ज्ञानावरणीय-वेदना की प्ररूपणा गई है उसी प्रकार काल की अपेक्षा जघन्य-अजघन्य दर्शनावरणीय और अन्तराय वेदनाओं की भी प्ररूपणा करना चाहिए, क्योंकि उससे इनकी प्ररूपणा में कुछ विशेषता नहीं है (१७)।

स्वामित्व के अनुसार जघन्य पद में काल की अपेक्षा वेदनीयवेदना जघन्य किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि वह अन्तिम समयवर्ती भव्यसिद्धिक (अयोगिकेवली) के होती है। इससे भिन्न काल की अपेक्षा वेदनीयवेदना अजघन्य है (१८-२०)।

जिस प्रकार वेदनीयवेदना के जघन्य-अजघन्य स्वामित्व की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार आयु, नाम और गोत्र कर्मों के भी जघन्य-अजघन्य स्वामित्व की भी प्ररूपणा करना चाहिए (१२१)।

मोहनीयवेदना काल की अपेक्षा जघन्य अन्तिम समयवर्ती अन्यतर सकषाय (सूक्ष्म-साम्परायिक) क्षपक के होती है। इससे भिन्न काल की अपेक्षा अजघन्य मोहनीयवेदना है (२२-२४)।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में ये तीन अवान्तर अनुयोगद्वार हैं—जघन्य पदविषयक, उत्कृष्ट पदविषयक और जघन्य-उत्कृष्ट पदविषयक। इन तीन के आश्रय से क्रमशः काल की अपेक्षा उन ज्ञानावरणीय आदि कर्मवेदनाओं के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है (२५-३५)।

इस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर यह वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

चूलिका १

उपर्युक्त वेदनाकालविधान के समाप्त हो जाने पर आगे उसकी चूलिका प्राप्त हुई है। धवलाकार ने कालविधान के द्वारा सूचित अर्थों के विवरण को चूलिका कहा है। जिस अर्थ की प्ररूपणा करने पर शिष्यों को पूर्वप्ररूपित अर्थ के विषय में निश्चय उत्पन्न होता है उसे चूलिका समझना चाहिए।

यहाँ सर्वप्रथम सूत्र में कहा गया है कि यहाँ जो मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध पूर्व में ज्ञातव्य है उसमें ये चार अनुयोगद्वार हैं—स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्डक प्ररूपणा और अल्पबहुत्व (३६)।

स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा में जीवसमासों के आश्रय से स्थितिबन्धस्थानों की प्ररूपणा की

---

१. धवला पु० ११, पृ० ११४-१५

गई है। यथा—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिबन्धस्थान सबसे स्तोक हैं, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिबन्धस्थान उनसे संख्यातगुणे हैं, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिबन्धस्थान उनसे संख्यातगुणे हैं, इत्यादि (३७-५०)।

धवलाकार ने इस अव्वोगाढ अल्पबहुत्वदण्डक को देशामर्शक बतलाकर यहाँ उसके अन्तर्गत स्वस्थान अव्वोगाढ अल्पबहुत्व, परस्थान अव्वोगाढ अल्पबहुत्व, स्वस्थान मूलप्रकृति अल्पबहुत्व और परस्थान मूलप्रकृति अल्पबहुत्व आदि विविध अल्पबहुत्वों की प्ररूपणा की है।[1]

इसी प्रसंग में आगे सूत्रकार द्वारा संक्लेश-शुद्धिस्थानों (५१-६४) और स्थितिबन्ध (६५-१००) के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

निषेकप्ररूपणा अनुयोगद्वार में अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए प्रथमतः अनन्तरोपनिधा के अनुसार पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि आदि के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के प्रथम-द्वितीयादि समयों में निषिक्त प्रदेशाग्र सम्बन्धी प्रमाण को प्रकट किया गया है (१०१-१०)।

परम्परोपनिधा के अनुसार पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी आदि जीवों के द्वारा प्रथम समय में निषिक्त आठों कर्मों का प्रदेशाग्र कितना अध्वान जाकर उत्तरोत्तर दुगुना-दुगुना हीन हुआ है, इत्यादि का विवेचन किया गया है (१११-२०)।

आबाधाकाण्डकप्ररूपणा से यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी व चतुरिन्द्रिय आदि जीवों के द्वारा आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की जो उत्कृष्ट आबाधा के अन्तिम समय में उत्कृष्ट स्थिति बाँधी जाती है उसमें क्रम से एक-एक समय के हीन होने पर पल्योपम के असंख्यातवें भाग नीचे जाकर एक आबाधाकाण्डक किया जाता है। यह क्रम जघन्य स्थिति तक चलता है (१२१-२२)।

आयुकर्म की अमुक स्थिति अमुक आबाधा में ही बँधती है, ऐसा कुछ नियम न होने से उसे यहाँ छोड़ दिया गया है।

अल्पबहुत्व—यहाँ पंचेन्द्रिय संज्ञी व असंज्ञी आदि जीवों की सात कर्मों सम्बन्धी आबाधा, आबाधास्थान, आबाधाकाण्डक, नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एक प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, स्थितिबन्ध और स्थितिबन्धस्थान इनमें हीनाधिकता को प्रकट किया गया है (१२३-६४)।

यहाँ धवला में इस अल्पबहुत्व से सूचित अन्य कितने ही अल्पबहुत्वों की प्ररूपणा विस्तार से की गई है।[2]

इस प्रकार इस अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के समाप्त हो जाने पर यह चूलिका समाप्त हुई है।

चूलिका २

यह प्रस्तुत कालविधान की दूसरी चूलिका है। इसमें ये तीन अनुयोगद्वार हैं—जीव-

---

१. धवला पु० ११, पृ० १४७-२०५

२. वही, पु० ११, पृ० २७९-३०८

समुदाहार, प्रकृतिसमुदाहार और स्थितिसमुदाहार।

जीवसमुदाहार में साता वा असातावेदनीय की एक-एक स्थिति में इतने-इतने जीव हैं, इत्यादि का विचार किया गया है। यथा—

ज्ञानावरणीय के बन्धक जीव दो प्रकार के हैं—सातबन्धक और असातबन्धक। इनमें सातबन्धक जीव तीन प्रकार के हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। असातबन्धक जीव भी तीन प्रकार के हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुःस्थानबन्धक। साता के चतुःस्थानबन्धक जीव से विशुद्ध, त्रिस्थानबन्धक संक्लिष्टतर और द्विस्थानबन्धक उनसे संक्लिष्टतर होते हैं। असाता के द्विस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध, त्रिस्थानबन्धक संक्लिष्टतर और चतुःस्थानबन्धक उनसे संक्लिष्टतर होते हैं (१६५-७४)।

सातावेदनीय का अनुभाग चार प्रकार का है—गुड़, खांड, शक्कर और अमृत। इनमें चारों के बन्धक चतुःस्थानबन्धक, अमृत को छोड़ शेष तीन बन्धक त्रिस्थानबन्धक और अमृत व शक्कर को छोड़ शेष दो के बन्धक द्विस्थानबन्धक कहलाते हैं।

'सर्वविशुद्ध' का अर्थ है साता के द्विस्थानबन्धक और त्रिस्थानबन्धकों से विशुद्ध। यहाँ विशुद्धता से अतिशय तीव्रकषाय का अभाव अथवा मन्दकषाय अभिप्रेत है। अथवा जघन्य स्थितिबन्ध के कारणभूत परिणाम को विशुद्धि समझना चाहिए।

असातावेदनीयका अनुभाग भी चार प्रकार का है—नीम, कांजीर, विष और हालाहल। इनमें चारों के बन्धक जीव असाता के चतुःस्थानबन्धक, हालाहल को छोड़ त्रिस्थानबन्धक और हालाहल व विष को छोड़ द्विस्थानबन्धक कहलाते हैं।

आगे साता-असाता के चतुःस्थानबन्धक आदि जीव ज्ञानावरणीय की जघन्य आदि किस प्रकार की स्थिति को बाँधते हैं, इत्यादि का विचार किया गया है (१७५-२३८)।

प्रकृतिसमुदाहार में दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। इनमें से प्रमाणानुगम में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के स्थितिबन्धाध्यवसानों का प्रमाण प्रकट किया गया है (२३९-४१)।

अल्पबहुत्व में उन स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानों की हीनाधिकता को दिखलाया गया है (२४२-४५)।

स्थितिसमुदाहार में ये तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रगणना, अनुकृष्टि और तीव्र-मन्दता। इनमें से प्रगणना में इस स्थिति के बन्ध के कारणभूत इतने-इतने स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान होते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (२४६-६८)।

अनुकृष्टि में उन स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानों की समानता व असमानता को व्यक्त किया गया है (२६९-७१)।

तीव्र-मन्दता के आश्रय से ज्ञानावरणीय आदि के जघन्य आदि स्थिति सम्बन्धी स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान के अनुभाग की तीव्रता व मन्दता का विचार किया गया है (२७२-७९)।

इस स्थितिसमुदाहार के समाप्त होने पर प्रस्तुत वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार की दूसरी चूलिका समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ वेदनाकालविधान समाप्त हुआ है।

वेदनाक्षेत्रविधान और वेदनाकालविधान ये दो (५,६) अनुयोगद्वार ११वीं जिल्द में प्रकाशित हुए हैं।

७. वेदनाभावविधान—इसमें भी वे ही तीन अनुयोगद्वार हैं—पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व।

पदमीमांसा में भाव की अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि वेदनाएँ क्या उत्कृष्ट हैं, क्या अनुत्कृष्ट हैं, क्या जघन्य हैं, और क्या अजघन्य हैं, इन पदों का विचार किया गया है (१-५)।

स्वामित्व में उन्हीं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की भाववेदनाविषयक उपर्युक्त उत्कृष्ट-अनुकृष्ट आदि पदों के स्वामियों की प्ररूपणा की गई है। यथा—

स्वामित्व दो प्रकार का है—उत्कृष्ट पदविषयक और जघन्य पदविषयक। इनमें उत्कृष्ट पद के अनुसार ज्ञानावरणीयवेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट किसके होती है, इसका विचार करते हुए कहा गया है कि नियम से अन्यतर पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त, जागृत और उत्कृष्ट संक्लेश से सहित ऐसे जीव के द्वारा बाँधे गये उत्कृष्ट अनुभाग का जिसके सत्त्व होता है उसके भाव की अपेक्षा वह ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट होती है। वह एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनमें कोई भी हो सकता है; वह संज्ञी भी हो सकता है और असंज्ञी भी; अथवा बादर भी हो सकता है और सूक्ष्म भी; पर्याप्त भी हो सकता है व अपर्याप्त भी हो सकता है; इसी प्रकार वह चारों गतियों में से किसी भी गति में वर्तमान हो सकता है—इन अवस्थाओं में उसके लिए कोई विशेष नियम नहीं है। इस से भिन्न भाव की अपेक्षा ज्ञानवरणीयवेदना अनुत्कृष्ट होती है (६-१०)।

आगे दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायवेदनाओं के विषय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणीय के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट अनुभाग की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार इन तीन घातिया कर्मों के भी उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट अनुभाग की प्ररूपणा करना चाहिए—उससे इनमें कोई विशेषता नहीं हैं (११)।

वेदनीयवेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट किसके होती हैं, इसका विचार करते हुए आगे कहा गया है कि जिस अन्यतर सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत क्षपक ने अन्तिम समय में उसके उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधा है उसके भाव की अपेक्षा वेदनीयवेदना उत्कृष्ट होती है, साथ ही जिसके उसका उत्कृष्ट सत्त्व है। वह उसका-उसका सत्त्व क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ व सयोगिकेवली के होता है। अतः उनके भी भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदनीयवेदना होती है। इससे भिन्न भाव की अपेक्षा वेदनीयवेदना अनुत्कृष्ट होती है (१२-१५)।

अभिप्राय यह है कि सातावेदनीय के उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधकर क्षीणकषाय, सयोगी और अयोगी गुणस्थानों को प्राप्त हुए जीव के इन गुणस्थानों में भी वेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग होता है। सूत्र में यद्यपि 'अयोगी' शब्द नहीं है, फिर भी धवलाकार के अभिप्रायानुसार सूत्र में उपयुक्त दो 'वा' शब्दों में से दूसरे 'वा' शब्द से उसकी सूचना की गई है।

भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट नाम और गोत्र वेदनाओं की प्ररूपणा उपर्युक्त वेदनीय-वेदना के समान है (१६)।

आगे भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट आयुवेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि साकार उपयोग से युक्त, जागृत और तत्प्रायोग्य विशुद्धि से सहित अन्यतर अप्रमत्तसंयत के द्वारा बाँधे गए उसके उत्कृष्ट अनुभाग का सत्त्व जिसके होता है उसके भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट आयुवेदना होती है। उसका सत्त्व संयत अथवा अनुत्तर विमानवासी देव के होता है, अतएव उसके वह भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट आयुवेदना जानना चाहिए। साथ ही जिस

अप्रमत्तसंयत ने उसके उत्कृष्ट अनुभाग को बांधा है वह भी आयु की उत्कृष्ट भाववेदना का स्वामी होता है। इससे भिन्न उसकी अनुत्कृष्ट वेदना होती है (१७-२०)।

भाव की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की जघन्य वेदना अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ क्षपक के होती है। इससे भिन्न उसकी जघन्य भाववेदना निर्दिष्ट की गई है। दर्शनावरणीय और अन्तराय इन दो कर्मों की भी भाव की अपेक्षा जघन्य-अजघन्य वेदनाओं की प्ररूपणा ज्ञानावरणीय के ही समान है (२१-२४)।

इसी प्रकार से आगे वेदनीय आदि शेष कर्मों की भाव की अपेक्षा जघन्य-अजघन्य वेदनाओं की प्ररूपणा की गई है (२५-३९)। इस प्रकार स्वामित्व अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में जघन्य पदविषयक, उत्कृष्ट पदविषयक और जघन्य-उत्कृष्ट पदविषयक इन तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से भाववेदना सम्बन्धी अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः ज्ञानावरणीय आदि मूल प्रकृतियों की भाववेदना के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। यथा—

मोहनीयवेदना भाव की अपेक्षा जघन्य सबसे स्तोक है, अन्तरायवेदना भाव से जघन्य उससे अनन्तगुणी है, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय वेदनाएँ भाव की अपेक्षा जघन्य परस्पर समान होती हुई अन्तरायवेदना से अनन्तगुणी हैं, आयुवेदना भाव से जघन्य अनन्तगुणी है, इत्यादि (४०-६४)।

आगे यहाँ तीन गाथासूत्रों के द्वारा उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से उत्कृष्ट अनुभागविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा संक्षेप में की गई है[1]।

इसके अनन्तर 'यहाँ चौंसठ पदवाला उत्कृष्ट महादण्डक किया जाता है' इस सूचना के साथ आगे उन तीन गाथाओं द्वारा संक्षेप में निर्दिष्ट उसी अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण गद्यात्मक सूत्रों द्वारा पुनः विस्तार से किया गया है[2]। यथा—

लोभसंज्वलन सबसे मन्द अनुभागवाला है। मायासंज्वलन उससे अनन्तगुणा है। मानसंज्वलन उससे अनन्तगुणा है। क्रोधसंज्वलन उससे अनन्तगुणा है। मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तराय ये दोनों परस्पर तुल्य होकर उस क्रोधसंज्वलन से अनन्तगुणे हैं, इत्यादि।

इन गद्यात्मक सूत्रों को धवलाकार ने उन गाथासूत्रों के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट करनेवाले चूर्णिसूत्र कहा है।[3]

आगे अन्य तीन गाथासूत्रों द्वारा उत्तरप्रकृतियों के आश्रय से जघन्य अनुभागविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।[4]

ठीक इसके पश्चात् 'यहाँ चौंसठ पदवाला जघन्य महादण्डक किया जाता है' इस सूचना के साथ आगे उन गाथासूत्रों द्वारा निर्दिष्ट उसी संक्षिप्त अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण पुनः

---

१. धवला पु० १२, पृ० ४०-४४
२. वही, पृ० ४४-५९, सूत्र ६५-११७
३. वही, पु० १२, पृ० ४१, ४२-४३ व ४३
४. वही, पु० १२, पृ० ६२-६४

गद्यात्मक सूत्रों में किया गया है ।[1] जैसे—

उक्त तीन गाथाओं में से प्रथम गाथा के प्रारम्भ में यह कहा गया है—**संज-मण-दाणमोहीलाभं**। इसमें 'संज' से चार संज्वलन, 'मण' से मनःपर्ययज्ञानावरणीय, 'दाण' से दानान्तराय और 'ओही' से अवधिज्ञानावरण व अवधिदर्शनावरण अभिप्रेत रहे हैं। तदनुसार गद्यसूत्रों में उसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

संज्वलनलोभ सबसे मन्द अनुभागवाला है, संज्वलनमाया उससे अनन्तगुणी है, संज्वलन-मान उससे अनन्तगुणा है, संज्वलनक्रोध उससे अनन्तगुणा है, मनःपर्ययज्ञानावरण और दानान्त-राय ये दोनों परस्पर तुल्य होकर उससे अनन्तगुणे हैं, अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शना-वरणीय और लाभान्तराय तीनों परस्पर तुल्य होकर उनसे अनन्तगुणे हैं (सूत्र ११९-२४), इत्यादि।

इस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों के समाप्त होने पर आगे प्रस्तुत वेदनाभावविधान से सम्बन्धित तीन चूलिकाएँ हैं।

चूलिका १

यहाँ सर्वप्रथम 'सम्मत्तुप्पत्ती वि य' इत्यादि दो गाथाएँ प्राप्त होती हैं। इन गाथाओं द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति, देशविरति, संयत, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन, दर्शनमोह का क्षपक, कषाय का उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह और जिन अधःप्रवृत्तकेवली व योगनिरोध के इन स्थानों में नियम से उत्तरोत्तर होनेवाली असंख्यातगुणी निर्जरा और विपरीत क्रम से उस निर्जरा के संख्यातगुणे काल की प्ररूपणा की गई है।[2]

आगे इन दोनों गाथाओं के अभिप्राय को गद्यसूत्रों में स्वयं ग्रन्थकार द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

दर्शनमोह के उपशामक की गुणश्रेणिनिर्जरा का गुणकार सबसे स्तोक है। उससे संयता-संयत की गुणश्रेणिनिर्जरा का गुणकार असंख्यातगुणा है। उससे अधःप्रवृत्तसंयत की गुणश्रेणि-निर्जरा का गुणकार असंख्यातगुणा है। उससे अनन्तानुबन्धी के विसंयोजक की गुणश्रेणि-निर्जरा का गुणकार असंख्यातगुणा है, इत्यादि (सूत्र १७५-८५)।

इस गुणश्रेणिनिर्जरा का विपरीत कालक्रम-योगनिरोधकेवली की गुणश्रेणि का काल सबसे स्तोक है। अधःप्रवृत्तकेवली की गुणश्रेणि का काल उससे संख्यातगुणा है। क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ की गुणश्रेणि का काल उससे संख्यातगुणा है, इत्यादि (सूत्र १८६-९६)।

चूलिका २

पूर्व में वेदनाद्रव्यविधान, वेदनाक्षेत्रविधान और वेदनाकालविधान इन तीन अनुयोगद्वारों में अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थानों की सूचना मात्र की गई है, उनकी प्ररूपणा वहाँ नहीं की गई है। अब इस दूसरी चूलिका में अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओज-युग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा,

---

१. धवला सूत्र, ११८-७४, पृ० ६५-७५
२. वही, पु० १२, पृ० ७८

वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगद्वारों के आश्रय से उन्हीं अनुभागबन्धाध्यवसानस्थानों (अनुभागबन्धस्थानों) की प्ररूपणा की गई है। धवलाकार ने 'अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान' से 'अनुभागबन्धस्थान' का अभिप्राय व्यक्त किया है (सूत्र १६७)। यह दूसरी चूलिका १६७ वें सूत्र से प्रारम्भ होकर २६७वें सूत्रपर समाप्त हुई है[1]।

चूलिका ३

प्रस्तुत भावविधान से सम्बद्ध इस तीसरी चूलिका में जीवसमुदाहार के अन्तर्गत ये आठ अनुयोगद्वार निर्दिष्ट किए गए हैं—एकस्थानजीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, नानाजीवकालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

१. एकस्थानजीवप्रमाणानुगम में एक-एक अनुभागबन्धस्थान में जघन्य से इतने और उत्कर्ष से इतने जीव होते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (२६६)।

२. निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम के आश्रय से निरन्तर जीवों से सहगत अनुभाग-स्थान इतने और उत्कर्ष से इतने होते हैं, यह स्पष्ट किया गया है (२७०)।

३. निरन्तर जीवों से विरहित वे स्थान जघन्य से इतने और उत्कर्ष से इतने होते हैं, इसे सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम में स्पष्ट किया गया है (२७१)।

४. नानाजीवकालप्रमाणानुगम में एक-एक स्थान में जघन्य से इतने और उत्कर्ष से इतने जीव होते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (२७२-७४)।

५. वृद्धिप्ररूपणा में अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा के आश्रय से जीवों की वृद्धि को प्रकट किया गया है (२७५-८६)।

६. क्रम से बढ़ते हुए जीवों के स्थानों के असंख्यातवें भाग में यवमध्य होता है। उससे ऊपर के सब स्थान जीवों से विशेष हीन होते गये हैं। इसका स्पष्टीकरण यवमध्यप्ररूपणा में किया गया है (२९०-९२)।

७. स्पर्शन अनुयोगद्वार में अतीत काल में एक जीव के द्वारा एक अनुभाग-स्थान इतने काल स्पर्श किया गया है, इसका विचार किया गया है (२९३-३०३)।

८. अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में पूर्वोक्त तीनों अनुभाग स्थानों के अल्पबहुत्व का विवेचन किया गया है (३०४-१४)।

इस प्रकार यह तीसरी भावविधान-चूलिका २६८ वें सूत्र से प्रारम्भ होकर ३१४ वें सूत्र पर समाप्त हुई है। इन तीनों चूलिकाओं के समाप्त हो जाने पर प्रस्तुत वेदनाभावविधान अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

८. **वेदनाप्रत्ययविधान**—इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मवेदनाओं के प्रत्ययों (कारणों) का विचार किया गया है। यथा—

नैगम, व्यवहार और संग्रह इन तीन नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म-वेदनाओं में प्रत्येक के ये प्रत्यय निर्दिष्ट किये गये हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान,

---

१. पु० १२, पृ० ८७-२४०

मैथुन, परिग्रह व रात्रि भोजन; इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माय (मेय), मोष, (स्तेय), मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग (सूत्र १-११)।

तत्त्वार्थसूत्र (८-१) में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनको बन्ध का कारण कहा गया है। धवलाकार ने उपर्युक्त वेदनाप्रत्ययविधान में निर्दिष्ट उन सब प्रत्ययों को इन्हीं मिथ्यादर्शन आदि के अन्तर्गत किया है। उन्होंने उपर्युक्त प्रत्ययों में प्राणातिपात मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन इन प्रारम्भ के छह प्रत्ययों को असंयम प्रत्यय कहा है।[1]

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान (प्रस्थ आदि), माय (मेय—गेहूँ आदि), और मोष (स्तेय), इन सबको धवला में कषाय प्रत्यय कहा गया है। इनके अतिरिक्त वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन को मिथ्यात्व प्रत्यय तथा प्रयोग को योग प्रत्यय निर्दिष्ट किया गया है।

प्रमाद के विषय में धवला में वहाँ यह शंका उठायी गई है कि इन प्रत्ययों में यहाँ प्रमाद प्रत्यय का निर्देश क्यों नहीं किया गया। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि इन प्रत्ययों के बाहर प्रमाद प्रत्यय नहीं पाया जाता—उसे इन्हीं प्रत्ययों के अन्तर्गत समझना चाहिए।[2]

आगे ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि वेदनाओं के प्रत्यय की प्ररूपणा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि इस नय की अपेक्षा प्रकृति और प्रदेश पिण्ड स्वरूप वह कर्मवेदना योग प्रत्यय से तथा स्थिति और अनुभाग स्वरूप वह वेदना कषाय प्रत्यय से होती है (१२-१४)।

अन्त में शब्दनय की अपेक्षा उक्त कर्मवेदनाओं के प्रत्यय को प्रकट करते हुए उसे 'अवक्तव्य' कहा गया है (१५-१६)।

धवलाकार ने इसका कारण शब्दनय की दृष्टि में समास का अभाव बतलाया है। उदाहरण के रूप में वहाँ यह कहा गया है कि 'योगप्रत्यय' में 'योग' शब्द योगरूप अर्थ को तथा 'प्रत्यय' शब्द प्रत्ययरूप अर्थ को कहता है, इस प्रकार समास के अभाव में दो पदों के द्वारा एक अर्थ की प्ररूपणा नहीं की जाती है। अतएव तीनों शब्दनयों की अपेक्षा वेदना का प्रत्यय अवक्तव्य है।

इस प्रकार यह वेदना प्रत्यय विधान अनुयोगद्वार १६ सूत्रों में समाप्त हुआ है।

९. वेदना-स्वामित्व-विधान—इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि कर्मवेदनाओं के स्वामी के विषय में विचार किया गया है। यथा—

सर्वप्रथम यहाँ वेदनास्वामित्वविधान अधिकार का स्मरण कराते हुए कहा गया है कि

---

१. एवमसंयमप्रत्ययो परूविदो।—धवला पु० १२, पृ० २८३

२. कोध-माण-माया-लोभ-राग-दोस-मोह-पेम्म-णिदाण-अब्भक्खाण-कलह-पेसुण-रदि-अरदि-उवहि-माण-माय-मोसेहि कसायपच्चओ परूविदो। मिच्छणाण-मिच्छदंसणेहि मिच्छत्त पच्चओ णिद्दिट्ठो। पओएण जोगपच्चओ परूविदो। पमादपच्चओ एत्थ किण्ण वुत्तो? ण, एदेहिंतो बज्झपमादाणुवलंभादो।—धवला पु० १२, पृ० २८६

नैगम और व्यवहार इन दो नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मवेदनाएँ कंथचित् एक जीव के, कथंचित् नो-जीव के, कथंचित् अनेक जीवों के, कथंचित् अनेक नो-जीवों के, कथंचित् एक जीव व एक नो-जीव के, कथंचित् एक जीव व अनेक नो-जीवों के, कथंचित् अनेक जीव व एक नो-जीव के, और कथंचित् अनेक जीवों व अनेक नो-जीवों के होती हैं (९-१०)।

वह वेदना संग्रहनय की अपेक्षा जीव के अथवा जीवों के होती है (११-१३)।

शब्द और ऋजुसूत्र इन दो नयों की अपेक्षा वह कर्मवेदना जीव के होती है (१४-१५)। कारण यह कि इन दोनों नयों की दृष्टि में बहुत्व सम्भव नहीं है।

इस प्रकार यह अनुयोगद्वार १५ सूत्रों में समाप्त हुआ है।

१०. वेदनावेदनाविधान—'वेदनावेदनाविधान' में प्रथम 'वेदना' शब्द का अर्थ 'वेद्यते वेदिष्यते इति वेदना' इस निरुक्ति के अनुसार वह आठ प्रकार का कर्मपुद्गलस्कन्ध है, जिसका वर्तमान में वेदन किया जाता है व भविष्य में वेदन किया जाएगा। दूसरे 'वेदना' शब्द का अर्थ अनुभवन है। 'विधान' शब्द का अर्थ प्ररूपणा है। इस प्रकार इस अनुयोगद्वार में बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त कर्मवेदनाओं की प्ररूपणा नैगमादि नयों के आश्रय से की गई है। यथा—

यहाँ प्रथम सूत्र में प्रस्तुत अनुयोगद्वार का स्मरण कराते हुए आगे कहा गया है कि बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त इस तीन प्रकार के कर्म का नाम नैगम नय की अपेक्षा प्रकृति है, ऐसा मानकर यहाँ उस सबकी प्ररुपणा की जा रही है (१-२)।

अभिप्राय यह है कि नैगमनय बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त इन तीनों कर्मों के 'वेदना' नाम को स्वीकार करता है। तदनुसार आगे यहाँ उस नैगम नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना के आश्रय से इन बध्यमानादि तीनों की प्ररुपणा एक-एक रूप में और द्विसंयोगी-त्रिसंयोगी भंगों के रूप में भी की गई है।

ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् बध्यमान वेदना है। कथंचित् उदीर्ण वेदना है। कथंचित् उपशान्त वेदना है। कथंचित् बध्यमान व उदीर्ण वेदना (द्विसंयोगी भंग) है (३-९)।

इसी प्रकार से आगे एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के संयोग से द्विसंयोगी व त्रिसंयोगी भंगों के रूप में उस ज्ञानावरणीय वेदना की प्ररूपणा की गई है (१०-२८)।

आगे यह सूचना कर दी गई है कि जिस प्रकार नैगमनय के अभिप्रायानुसार ज्ञानावरणीय के वेदनावेदनविधान की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि अन्य सातों कर्मों के वेदनावेदनविधान की प्ररूपणा इस नयके आश्रय से करना चाहिए, उसमें कुछ विशेषता नहीं है (२९)।

व्यवहार नयके आश्रय से ज्ञानावरणीय व उसी के समान अन्य सातों कर्मों की वेदना कथंचित् बध्यमान वेदना, कथंचित् उदीर्ण वेदना व कथंचित् उपशान्त वेदना है। कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ व उपशान्त वेदनाएँ हैं। इसी प्रकार आगे भी इस नय की अपेक्षा उस वेदना की प्ररूपणा की गई है (३०-४७)।

यहाँ सूत्र (३३) में बध्यमान वेदना का बहुवचन के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है। उसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि व्यवहार नय की दृष्टि में बध्यमान वेदना का बहुत्व सम्भव नहीं है। कारण यह है कि बन्धक जीवों के बहुत होने से तो बध्यमान वेदना का बहुत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवों के भेद से बध्यमान वेदना में भेद का व्यवहार नहीं होता।

प्रकृति के भेद से उसका भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ज्ञानावरणीय प्रकृति में भेद का व्यवहार नहीं देखा जाता। समयभेद से भी उसका भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि बध्यमान वेदना वर्तमान काल को विषय करती है, अतः उसमें काल का बहुत्व नहीं हो सकता।

इसी पद्धति से आगे यथासम्भव संग्रहनय की अपेक्षा प्रकृत कर्मवेदना की प्ररूपणा की गई (४७-५५) है।

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उदीर्ण—जिसका विपाक फल को प्राप्त है—ही वेदना है। यही अभिप्राय अन्य दर्शनावरणीय आदि सात कर्मों के विषय में समझना चाहिए (५६-५७)।

इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि जो कर्मस्कन्ध जिस समय में अज्ञान को उत्पन्न करता है उसी समय में वह ज्ञानावरणीय वेदना रूप होता है, आगे के समय में वह उस रूप नहीं होता; क्योंकि उस समय उसकी कर्मपर्याय नष्ट हो जाती है। पूर्व समय में भी वह उक्त वेदना स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय वह अज्ञान के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहता। इसलिए इस नयकी दृष्टि में एक उदीर्ण वेदना ही वेदना हो सकती है।

शब्द नयकी अपेक्षा उसे अवक्तव्य कहा गया है, क्योंकि उसका विषय द्रव्य नहीं है (५८)। इस प्रकार यह वेदनावेदनाविधान ५८ सूत्रों में समाप्त हुआ है।

११. वेदनागतिविधान—वेदना का अर्थ कर्मस्कन्ध और गति का अर्थ गमन या संचार है। तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि राग-द्वेषादि के वश जीवप्रदेशों का संचार होने पर उनसे सम्बद्ध कर्मस्कन्धों का भी उनके साथ संचार होता है। प्रस्तुत अनुयोगद्वार में नय-विवक्षा के अनुसार ज्ञानावरणीयादि रूप कर्मस्कन्धों की उसी गति का विचार किया गया है। यथा—नैगम, व्यवहार और संग्रह इन तीन नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् अस्थित (संचारित) है। कथंचित् वह स्थित-अस्थित है (१-३)।

इसका अभिप्राय यह है कि व्याधिवेदनादि के अभाव में जिन जीव प्रदेशों का संचार नहीं होता उनमें समवेत कर्मस्कन्धों का भी संचार नहीं होता तथा उन्हीं जीवप्रदेशों में कुछ का संचार होने पर उनमें स्थित कर्मस्कन्धों का भी संचार होता है। इसी अपेक्षा से उस ज्ञाना-वरणीय वेदना को कथंचित् स्थित-अस्थित कहा गया है।

आगे यह सूचना कर दी गई है कि जिस ज्ञानावरणीय की दो प्रकार गतिविधान की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन तीन कर्मों के गतिविधान की प्ररूपणा करना चाहिए (४)।

वेदनीयवेदना कथंचित्—अयोगिककेवली की अपेक्षा—स्थित, कथंचित् अस्थित और कथंचित् स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार आयु, नाम और गोत्र कर्मों के गतिविधान की प्ररूपणा जानना चाहिए (५-८)।

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् स्थित और कथंचित् अस्थित है। इस नय की अपेक्षा अन्य सात कर्मों के भी गतिविधान की प्ररूपणा इसी प्रकार करना चाहिए (८-११)।

शब्दनय की अपेक्षा वह अवक्तव्य कही गई है (१२)।

इस प्रकार यह वेदनागतिविधान अनुयोगद्वार १२ सूत्रों में समाप्त हुआ है।

१२. वेदना-अनन्तर-विधान—पूर्व वेदना-वेदना-विधान अनुयोगद्वार में बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त इन तीनों अवस्थाओं को वेदना कहा जा चुका है। उनमें बध्यमान कर्म बँधने

के समय में ही विपाक को प्राप्त होकर फल देता है अथवा द्वितीय आदि समयों में वह फल देता है, इसका स्पष्टीकरण इस वेदना-अनन्तर-विधान में किया गया है। बन्ध अनन्तर-बन्ध और परम्परा-बन्ध के भेद से दो प्रकार का है। इनमें कार्मण वर्गणास्वरूप से स्थित पुद्गल स्कन्धों का मिथ्यात्व आदि के द्वारा कर्मस्वरूप से परिणत होने के प्रथम समय में जो बन्ध होता है वह अनन्तर-बन्ध कहलाता है। बन्ध के द्वितीय समय से लेकर कर्मपुद्गल-स्कन्धों और जीवप्रदेशों का जो बन्ध होता है उसे परम्परा-बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समयों में होने वाले बन्ध की निरन्तरता को परम्परा-बन्ध समझना चाहिए। इसका विवेचन यहाँ संक्षेप में नयविवक्षा के अनुसार किया गया है। यथा—

पूर्व पद्धति के अनुसार प्रस्तुत वेदना-अनन्तर-विधान का स्मरण कराते हुए आगे कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह इन तीन नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना-अनन्तर-बन्ध रूप, परम्परा-बन्धरूप और उभय-बन्ध रूप हैं। इसी प्रकार इस नय की अपेक्षा अन्य सात कर्मों की प्ररूपणा करना चाहिए (१-५)।

इसका स्पष्टीकरण धवला में प्रकारान्तर से इस प्रकार किया गया है—ज्ञानावरणादिरूप अनन्तानन्त कर्मस्कन्ध जो निरन्तर स्वरूप से परस्पर में सम्वद्ध होकर स्थित होते हैं उनका नाम अनन्तर-बन्ध है। ये ही अनन्तर-बन्ध रूप कर्मस्कन्ध जब ज्ञानावरणादि कर्मरूपता को प्राप्त होते हैं तब उन्हें परम्परा-ज्ञानावरणादि-वेदना कहा जाता है। अनन्तानन्त कर्मपुद्गल स्कन्ध परस्पर में सम्बद्ध होकर शेष कर्मस्कन्धों से असम्बद्ध रहते हुए जब जीव के द्वारा सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं तब वे परम्परा-बन्ध कहलाते हैं। ये भी ज्ञानावरणादि वेदना स्वरूप होते हैं।[1]

संग्रह नय की अपेक्षा उन ज्ञानावरणादि वेदनाओं को अनन्तर-बन्ध व परम्परा बन्ध भी कहा गया है (६-८)।

आगे ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा आठों ज्ञानावरणादि वेदनाओं को परम्परा-बन्ध और शब्द नय की अपेक्षा उन्हें अवक्तव्य कहा गया है (९-११)।

इस अनुयोगद्वार में ११ ही सूत्र हैं।

१३. वेदना-संनिकर्ष-विधान—जघन्य व उत्कृष्ट भेदों में विभक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमें किसी एक की विवक्षा में शेष पद क्या उत्कृष्ट हैं, अनुत्कृष्ट हैं, जघन्य हैं या अजघन्य हैं; इसकी जो परीक्षा की जाती है, इसका नाम संनिकर्ष है। वह स्वस्थान संनिकर्ष और परस्थान संनिकर्ष के भेद से दो प्रकार का है। इनमें विवक्षित कर्मविषयक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को विषय करनेवाले संनिकर्ष का नाम स्वस्थान संनिकर्ष तथा आठों कर्मों सम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को विषय करनेवाले संनिकर्ष का नाम परस्थान संनिकर्ष है। प्रस्तुत अनुयोगद्वार में इसी संनिकर्ष की प्ररूपणा की गई है। यथा—

यहाँ सर्वप्रथम 'वेदना संनिकर्ष विधान' का स्मरण कराते हुए संनिकर्ष के पूर्वोक्त इन दो भेदों का निर्देश किया गया है—स्वस्थान-वेदना-संनिकर्ष और परस्थान-वेदना-संनिकर्ष। इनमें स्वस्थान-वेदना-संनिकर्ष को जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनासंनिकर्ष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है (१-५)।

---

१. धवला, पु० १२, पृ० ३७१-७२

इस प्रकार संनिकर्ष के भेद-प्रभेदों को प्रकट करके आगे जिसके ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट होकर असंख्यात-गुणी हीन होती है (६-७)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि पाँच सौ धनुष प्रमाण उत्सेधवाले सातवीं पृथिवी के नारकी के अन्तिम समय में ज्ञानावरण का उत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है। उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी इस नारकी का क्षेत्र संख्यात घनांगुल प्रमाण है, क्योंकि पाँच सौ धनुष ऊँचे और उसके आठवें भाग प्रमाण-विष्कम्भवाले इस क्षेत्र का समीकरण करने पर संख्यात प्रमाण घनांगुल प्राप्त होते हैं। उधर समुद्घात को प्राप्त महामत्स्य का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात जगश्रेणि प्रमाण है। इस प्रकार इस महामत्स्य के उत्कृष्ट क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी उस नारकी का क्षेत्र कम है। इसलिए सूत्र में द्रव्य की अपेक्षा उस क्षेत्र-वेदना को नियम से अनुत्कृष्ट कहा गया है। इस प्रकार वह नियम से अनुत्कृष्ट होकर भी उससे असंख्यातगुणी हीन है, क्योंकि उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी उस नारकी के उत्कृष्ट क्षेत्र का महामत्स्य के उत्कृष्ट क्षेत्र में भाग देने पर जगश्रेणि का असंख्यातवाँ भाग प्राप्त होता है।[1]

काल की अपेक्षा वह उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी (८-९)।

यदि उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी उस नारकी के अंतिम समय में उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश होता है तो काल की अपेक्षा भी उसके ज्ञानावरणीय वेदना उत्कृष्ट हो सकती है, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थिति को छोड़कर अन्य स्थितियों का बन्ध सम्भव नहीं है।

किन्तु यदि उसके अन्तिम समय में उत्कृष्ट स्थितिसंक्लेश नहीं होता है तो वह ज्ञानावरण वेदना काल की अपेक्षा उसके नियम से अनुत्कृष्ट होती है, क्योंकि अंतिम समय में उत्कृष्ट स्थितिसंक्लेश के न होने से उसके उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध सम्भव नहीं है।

उत्कृष्ट की अपेक्षा यह अनुत्कृष्ट वेदना कितनी हीन होती है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया कि वह उत्कृष्ट की अपेक्षा एक समय कम होती है (९-१०)।

भाव की अपेक्षा वह उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी होती है। उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट इन छह स्थानों में पतित होती है—अनन्तभाग हीन, असंख्यातभाग हीन, संख्यात-भाग हीन, संख्यातगुण हीन, असंख्यातगुण हीन और अनन्तगुण हीन (११-१४)।

इसी पद्धति से आगे क्रम से ज्ञानावरण वेदना को क्षेत्र (१५-२३), काल (२४-३२) और भाव (३३-४१) की अपेक्षा प्रमुख करके उसके आश्रय से यथा सम्भव अन्य उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट पदों की प्ररूपणा की गई है।

आगे यह सूचना कर दी गई है कि जिस प्रकार ऊपर ज्ञानावरण वेदना के किसी एक पद की विवक्षा में अन्य पदों की उत्कृष्टता-अनुत्कृष्टता की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार से दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय वेदनाओं में प्रस्तुत पदों की प्ररूपणा करना चाहिए, क्योंकि उससे इन तीन कर्मवेदनाओं के पदों की प्ररूपणा में कुछ विशेषता नहीं है (४२)।

इसी पद्धति से आगे वेदनीय वेदना (४३-६९), नाम-गोत्र (७०) और आयु (७१-९४) वेदनाओं के प्रस्तुत संनिकर्ष की प्ररूपणा की गई है।

---

१. धवला पु० १२, पृ० ३७७-७८

तत्पश्चात् पूर्व (सूत्र ४) में जिस जघन्य स्वस्थान-वेदना-संनिकर्ष को स्थगित किया गया था उसके आश्रय से आगे ज्ञानावरणीय वेदना के विषय में द्रव्य, क्षेत्र, काल अथवा भाव से जघन्य किसी एक की विवक्षा में अन्य पदों की जघन्य-अजघन्यता की प्ररूपणा की गई है (६५-२१६)।

इस प्रकार स्वस्थान-वेदना-संनिकर्ष को समाप्त कर आगे परस्थान-वेदना-संनिकर्ष की प्ररूपणा करते हुए उसे जघन्य परस्थान-संनिकर्ष और उत्कृष्ट परस्थान-संनिकर्ष के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ भी जघन्य परस्थान-संनिकर्ष को स्थगित करके प्रथमतः उत्कृष्ट परस्थान-संनिकर्ष की प्ररूपणा की गई है। उत्कृष्ट स्वस्थान-वेदना के समान यह परस्थान वेदना-संनिकर्ष भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है। इनमें द्रव्य की अपेक्षा जिसके उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय वेदना होती है उसके आयु को छोड़कर शेष छह कर्मवेदनाएँ द्रव्य से उत्कृष्ट होती या अनुत्कृष्ट, इसका विचार किया गया है। यथा—जिसके ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है उसके आयु को छोड़ शेष कर्मों की वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी। उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट अनन्तभाग हीन और असंख्यातभाग हीन इन दो स्थानों में पतित होती है। उसके आयुवेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट होकर असंख्यातगुणी हीन होती है। इसी प्रकार से आगे आयु को छोड़कर अन्य छह कर्मों के आश्रय से प्रस्तुत संनिकर्ष की प्ररूपणा करने की सूचना कर दी गई है (२१६-२५)।

आगे आयु कर्म की प्रमुखता से प्रस्तुत संनिकर्ष का विचार करते हुए कहा गया है कि जिसके आयुवेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है उसके शेष सात कर्मों की वेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट होकर असंख्यातभाग हीन, संख्यातभाग हीन, संख्यातगुण हीन और असंख्यातगुण हीन इन चार स्थानों में पतित होती है (२२६-२८)।

इसी प्रकार से आगे क्षेत्र (२२९-३७), काल (२३८-४५), और भाव (२४६-६१) की प्रमुखता से इन कर्मवेदनाओं के विषय में प्रस्तुत संनिकर्ष का विचार उसी पद्धति से किया गया है। इस प्रकार से यहाँ उत्कृष्ट परस्थानवेदना-संनिकर्ष समाप्त हो जाता है।

पूर्व (सूत्र २१८) में जिस जिस जघन्य परस्थानवेदना को स्थगित किया गया था यहाँ आगे उसकी प्ररूपणा भी पूर्व पद्धति के अनुसार की गई है (२६२-३२०)।

इस वेदना संनिकर्ष अनुयोगद्वार में ३२० सूत्र हैं।

१४. वेदनापरिमाणविधान—इसमें प्रकृतियों के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है। यहाँ प्रारम्भ में 'वेदनापरिमाणविधान' अनुयोगद्वार का स्मरण कराते हुए उसमें इन तीन अनुयोग द्वारों का उल्लेख किया गया है—प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास (१-२)।

प्रकृत्यर्थता में प्रकृति के भेद से प्रकृतियों के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है। यथा—

प्रकृत्यर्थता के आश्रय से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उनकी असंख्यात लोक प्रमाण प्रकृतियाँ हैं (३-५)।

प्रकृतिका अर्थ स्वभाव या शक्ति है। ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को आच्छादित करने का और दर्शनावरण का स्वभाव दर्शन को आच्छादित करने का है। क्रमशः उनसे आव्रियमाण ज्ञान और दर्शन इन दोनों के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। अतः उनको क्रम से आच्छादित करनेवाले ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

इसी प्रकार से आगे वेदनीय आदि अन्य कर्मों की प्रकृतियों के भेदों की प्ररूपणा की गई है (६-२३)।

समयप्रवद्धार्थता में समयप्रवद्ध के भेद से प्रकृतियों के भेदों का निर्देश किया गया है। यथा—समय प्रवद्धार्थता की अपेक्षा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इनकी कितनी प्रकृतियां हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इनमें प्रत्येक प्रकृति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमों को समयप्रवद्धार्थता से गुणित करने पर जो प्राप्त होता है उतने प्रमाण है। इसी प्रकार से आगे अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार वेदनीय आदि अन्य कर्मप्रकृतियों के भी प्रमाण को प्रकट किया गया है (२४-४२)।

क्षेत्रप्रत्यास में क्षेत्र के भेद से प्रकृतियों के भेदों की प्ररूपणा की गई है। यथा—

क्षेत्रप्रत्यास के अनुसार ज्ञानावरणीय की कितनी प्रकृतियां हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वयम्भूरमण समुद्र के वाह्य तट पर स्थित जो एक हजार योजन अवगाहनावाला मत्स्य वेदनासमुद्घात से समुद्घात को प्राप्त होकर काकवर्णवाले तनुवातवलय से संलग्न हुआ है, फिर भी जो मारणान्तिक समुद्घात से समुद्घात को प्राप्त होता हुआ तीन विग्रह-काण्डकों को करके, अर्थात् तीन वार ऋजुगति से जाकर दो मोड़ लेता हुआ, अनन्तर समय में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होनेवाला है उसके इस क्षेत्रप्रत्यास से पूर्वोक्त समय-प्रवद्धार्थता प्रकृतियों को गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतनी ज्ञानावरण प्रकृतियां हैं[1] (४४-४७)।

अभिप्राय यह है कि प्रकृत्यर्थता में जिन ज्ञानावरणीय प्रकृतियों की प्ररूपणा की गई है उनको अपने अपने समय-प्रवद्धार्थता से गुणित करने पर समय-प्रवद्धार्थता प्रकृतियां होती हैं। उनको जगप्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रप्रत्यास से गुणित करने पर यहां की प्रकृतियों का प्रमाण होता है।

इसी पद्धति से आगे यहाँ दर्शनावरणीय आदि अन्य कर्मप्रकृतियों के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है (४८-५३)।

१५. वेदनाभागाभागविधान—पूर्वोक्त वेदना-परिमाण-विधान के समान यहाँ भी प्रकृत्यर्थता, समय-प्रवद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास नाम के वे ही तीन अनुयोगद्वार हैं। यहाँ क्रमशः इन तीनों के आश्रय से विवक्षित कर्मप्रकृतियां सव प्रकृतियों के कितनेवें भाग प्रमाण हैं, इसे स्पष्ट किया गया है। इस अनुयोगद्वार में सव सूत्र २१ हैं।

१६. वेदनाअल्पवहुत्व—यह वेदना खण्ड के अन्तर्गत दूसरे 'वेदना' अनुयोगद्वार के पूर्वोक्त १६ अनुयोगद्वारों में अन्तिम है। यहाँ भी प्रकृत्यर्थता, समय-प्रवद्धार्थता और क्षेत्र-प्रत्यास ये वे ही तीन अनुयोगद्वार हैं। यहाँ क्रम से इन तीनों अनुयोगद्वारों के आश्रय से प्रकृतियों के अल्पवहुत्व को प्रकट किया गया है। यथा—

प्रकृत्यर्थता के आश्रय से गोत्रकर्म की प्रकृतियां सवसे स्तोक, उतनी ही वेदनीय की प्रकृतियाँ, उनसे आयुकर्मकी प्रकृतियाँ संख्यातगुणी, उनसे अन्तराय की विशेष अधिक, मोहनीय की संख्यातगुणी, नामकर्मकी असंख्यातगुणी, दर्शनमोहनीय की असंख्यातगुणी और उनसे ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यातगुणी निर्दिष्ट की गई हैं (१-१०)।

---

१. इसके लिए सूत्र ४,२,५,७-१२ व उनकी धवला टीका द्रष्टव्य है। पु० ११, पृ० १४-२३

समयप्रबद्धार्थता के आश्रय से आयुकर्म की प्रकृतियाँ सबसे स्तोक, गोत्र की असंख्यातगुणी, वेदनीय की विशेष अधिक, अन्तराय की संख्यातगुणी, मोहनीय की संख्यातगुणी, नामकर्म की असंख्यातगुणी, दर्शनावरणीय की असंख्यातगुणी और उनसे ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ विशेष अधिक कही गई हैं (११-१८)।

क्षेत्र-प्रत्यास के आश्रय से अन्तराय की प्रकृतियाँ सबसे स्तोक, मोहनीय की संख्यातगुणी, आयु की असंख्यातगुणी, गोत्र की असंख्यातगुणी, वेदनीय की विशेष अधिक, नामकर्म की असंख्यातगुणी, दर्शनावरणीय की असंख्यातगुणी और ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक कही गई हैं (१९-२६)। यहाँ सब सूत्र २६ हैं।

इस प्रकार इस वेदना अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के समाप्त होने पर चतुर्थ वेदनाखण्ड समाप्त हुआ है। पूर्वोक्त वेदनाभावविधान आदि अल्पबहुत्व पर्यन्त दस (७-१६) अनुयोगद्वार १२वीं जिल्द में प्रकाशित हुए हैं।

पंचम खण्ड : वर्गणा

इस खण्ड में स्पर्श, कर्म व प्रकृति इन तीन अनुयोगद्वारों के साथ बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत बन्ध, बन्धक, बन्धनीय व बन्धविधान इन चार अधिकारों में बन्ध और बन्धनीय ये दो अधिकार समाविष्ट हैं। इनमें यहाँ बन्धनीय—वर्गणाओं—की प्ररूपणा के विस्तृत होने से इस खण्ड का नाम 'वर्गणा' प्रसिद्ध हुआ है।

१. स्पर्श

इसमें ये १६ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य कहे गये हैं—स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनय- विभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्र विधान, स्पर्शकालविधान, स्पर्श-भावविधान, स्पर्शप्रत्ययविधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्शगतिविधान, स्पर्शअनन्तर-विधान, स्पर्शसंनिकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व (सूत्र १-२)।

ये अनुयोगद्वार नाम से वे ही हैं, जिनका उल्लेख वेदना अनुयोगद्वार के प्रारम्भ (सूत्र ४,२,१,१) में किया गया है, पर प्रतिपाद्य विषय भिन्न है। वेदना अनुयोगद्वार में जहाँ उनके आश्रय से वेदना की प्ररूपणा की गई है वहाँ इस अनुयोगद्वार में उनके आश्रय से स्पर्श की प्ररूपणा की गई है। इसी से उन सबके आदि में वहाँ 'वेदना' शब्द रहा है—जैसे वेदनानिक्षेप व वेदनानयविभाषणता आदि, और यहाँ 'स्पर्श' शब्द योजित किया गया है—जैसे स्पर्श-निक्षेप व स्पर्शनयविभाषणता आदि। यही प्रक्रिया आगे कर्मअनुयोगद्वार (५,४,२) में भी अपनाई गई है।

१. स्पर्शनिक्षेप—उक्त १६ अनुयोगद्वारों में प्रथम स्पर्शनिक्षेप है। इसमें यहाँ स्पर्श के इन १३ भेदों का निर्देश किया गया है--नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तर क्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श (३-४)।

२. स्पर्शनयविभाषणता—यहाँ अधिकार प्राप्त उपर्युक्त तेरह प्रकार के स्पर्श के स्वरूप

को न प्रकट करके प्रथमतः नयविभाषणता के आश्रय से उन स्पर्शों में कौन नय किन स्पर्शों को स्वीकार करता है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि नैगमनय उन सभी स्पर्शों को स्वीकार करता है। व्यवहार और संग्रह ये दो नय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श को स्वीकार नहीं करते, शेष ग्यारह स्पर्शों को वे स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श को स्वीकार नहीं करता है। शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्श को स्वीकार करता है (५-८)।

यहाँ अवसरप्राप्त सूत्रोक्त तेरह स्पर्शों के अर्थ को स्पष्ट न करके नयविभाषणता के अनुसार कौन नय किन स्पर्शों को विषय करता है, यह प्ररूपणा उसके पूर्व क्यों की गई, इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि 'निश्चये क्षिपतीति निक्षेपो नाम' इस निरुक्ति के अनुसार जो निश्चय में स्थापित करता है उसका नाम निक्षेप है। नयविभाषणता के बिना निक्षेप संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित जीवों को उन संशयादि से हटाकर निश्चय में स्थापित नहीं कर सकता है, इसीलिए पूर्व में नयविभाषणता की जा रही है।

विवक्षित नय अमुक स्पर्शों को क्यों विषय करते हैं, अन्य स्पर्शों को वे क्यों नहीं करते, इसका स्पष्टीकरण आगे 'धवला' के प्रसंग में किया जाएगा।

नामस्पर्श—इस प्रकार पूर्व में नयविभाषणता को कहके तत्पश्चात् पूर्वोक्त स्पर्शों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रथमतः अवसर प्राप्त नामस्पर्श के विषय में कहा गया है कि एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव, बहुत अजीव, एक जीव व एक अजीव, एक जीव व बहुत अजीव, बहुत जीव व एक अजीव और बहुत जीव व बहुत अजीव, इन आठ में जिसका 'स्पर्श' ऐसा नाम किया जाता है वह नामस्पर्श कहलाता है (६)।

स्थापनास्पर्श—काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्म, लेप्यकर्म, लयनकर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेंडकर्म इनमें तथा अक्ष व वराटक आदि अन्य भी जो इस प्रकार के हैं उनमें स्थापना के द्वारा 'यह स्पर्श है' इस प्रकार का जो अध्यारोप किया जाता है उसका नाम स्थापनास्पर्श है (१०)।

द्रव्यस्पर्श—एक द्रव्य जो दूसरे द्रव्य के द्वारा स्पर्श किया जाता है, इस सबको द्रव्यस्पर्श कहा गया है। अभिप्राय यह है कि एक पुद्गलद्रव्य का जो दूसरे पुद्गलद्रव्य के साथ संयोग अथवा समवाय होता है उसका नाम द्रव्यस्पर्श है। अथवा जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य इन दोनों का जो एकता के रूप में सम्बन्ध होता है उसे द्रव्यस्पर्श समझना चाहिए (११-१२)।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से द्रव्य छह प्रकार का है। इनमें सत्त्व व प्रमेयत्व आदि की अपेक्षा द्रव्य के रूप में परस्पर समानता है। अतः इनमें एक, दो, तीन आदि के संयोग या समवाय के रूप में जो स्पर्श होता है उस सब को नैगमनय की अपेक्षा द्रव्यस्पर्श कहा गया है। यहाँ दो संयोगी आदि जो समस्त तिरेसठ (६+१५+२०+१५+६+१=६३) भंग होते हैं उनका स्पष्टीकरण धवला में किया गया है। उस सबको आगे धवला के प्रसंग में स्पष्ट किया जाएगा।

एकक्षेत्रस्पर्श—एक आकाश प्रदेश में स्थित अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्धों का जो समवाय या संयोग के रूप में स्पर्श होता है उसे एक क्षेत्रस्पर्श कहते हैं (१३-१४)।

अनन्तरक्षेत्रस्पर्श—जो द्रव्य अनन्तर क्षेत्र से स्पर्श करता है उसे अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहा जाता है (१५-१६)।

एक आकाशप्रदेश की अपेक्षा अनेक आकाशप्रदेशों का क्षेत्र अनन्तर क्षेत्र होता है। इस प्रकार दो आकाशप्रदेशों में स्थित द्रव्यों का जो अन्य दो आकाशप्रदेशों में स्थित द्रव्यों के साथ स्पर्श होता है, वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहलाता है। इसी प्रकार दो आकाशप्रदेश स्थित द्रव्यों का जो तीन प्रदेशों में स्थित, चार प्रदेशों में स्थित, पाँच प्रदेशों में स्थित, इत्यादि क्रम से महास्कन्ध पर्यन्त आकाशप्रदेशों में स्थित अन्य द्रव्यों के साथ जो स्पर्श होता है उस सबको अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहा जाता है। यह द्विसंयोगी भंगों की प्ररूपणा हुई। इसी प्रकार त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी आदि अन्य भंगों को भी समझना चाहिए।

यहाँ एकक्षेत्रस्पर्शन और अनन्तरक्षेत्रस्पर्शन में यह विशेषता प्रकट की गई है कि समान अवगाहनावाले स्कन्धों का जो स्पर्श होता है उसे एकक्षेत्रस्पर्श और असमान अवगाहनावाले स्कन्धों का जो स्पर्श होता है उसे अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहा जाता है।

देश-स्पर्श—जो द्रव्य का एक देश (अवयव) अन्य द्रव्य के देश के साथ स्पर्श को प्राप्त होता है, उसका नाम देशस्पर्श है (१७-१८)।

यह देश-स्पर्श स्कन्ध के अवयवों का ही होता है, परमाणु पुद्गलों का नहीं; इस अभिप्राय का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि ऐसा मानना ठीक नहीं है। कारण यह कि वैसा कहना तब संगत हो सकता है जब कि परमाणु निरवयव हों। परन्तु परमाणुओं की निरवयवता सिद्ध नहीं है। परिकर्म में जो परमाणु को 'अप्रदेश' कहा गया है उसके अभिप्राया-नुसार प्रदेश का अर्थ परमाणु है, वह जिस परमाणु में समवेतस्वरूप से नहीं रहता है वह परमाणु अप्रदेशी है। इससे उसकी निरवयवता सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत परमाणु की सावयवता के विना चूंकि स्कन्ध की उत्पत्ति बनती नहीं है, इससे उसकी सावयवता ही सिद्ध होती है।

त्वक्स्पर्श—जो द्रव्य त्वक् और नोत्वक् को स्पर्श करता है उस सबको त्वक्स्पर्श कहा जाता है। त्वक् से अभिप्राय वृक्षों आदि के छाल का और नोत्वक् से अभिप्राय अदरख, प्याज व हल्दी आदि के छिलके का रहा है (१९-२०)।

सर्वस्पर्श—जो द्रव्य सबको सर्वात्मस्वरूप से स्पर्श करता है उसका नाम सर्वस्पर्श है। जैसे—परमाणु द्रव्य। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार परमाणु द्रव्य सब ही अन्य परमाणु को स्पर्श करता हुआ उसे सर्वात्मस्वरूप से स्पर्श करता है उसी प्रकार का अन्य भी जो स्पर्श होता है उसे सर्वस्पर्श जानना चाहिए (२१-२२)।

इसका विशेष स्पष्टीकरण प्रासंगिक शंका-समाधानपूर्वक धवला में किया गया है। तद-नुसार आगे इस पर विचार किया जायगा।

स्पर्श-स्पर्श—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण के भेद से स्पर्श आठ प्रकार का है। उस सबको सूत्रकार ने स्पर्श-स्पर्श कहा है (२३-२४)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि 'स्पृश्यत इति स्पर्शः' इस निरुक्ति के अनुसार 'स्पर्श-स्पर्श' में एक स्पर्श शब्द का अर्थ कर्कशादि रूप आठ प्रकार का स्पर्श है तथा दूसरे स्पर्श का अर्थ 'स्पृश्यति अनेन इति स्पर्शः' इस निरुक्ति के अनुसार त्वक् (स्पर्शन) इन्द्रिय है, क्योंकि उसके द्वारा कर्कशादि का स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा जो कर्कश आदि आठ प्रकार के स्पर्श का स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श-स्पर्श जानना चाहिए। स्पर्श के आठ भेद होने से स्पर्श-स्पर्श भी आठ प्रकार का है। प्रकारान्तर से वहाँ यह भी कहा गया है कि कर्कशादि आठ प्रकार के स्पर्श

का जो परस्पर में स्पर्श होता है उसे स्पर्श-स्पर्श समझना चाहिए। उसके एक दो तीन आदि के संयोग से २५५ भंग होते हैं।

कर्मस्पर्श—कर्मों का कर्मों के साथ जो स्पर्श होता है उसका नाम कर्मस्पर्श है। वह ज्ञानावरणीयस्पर्श व दर्शनावरणीयस्पर्श आदि के भेद से आठ प्रकार का है (२५-२६)।

बन्धस्पर्श—बन्धस्वरूप औदारिक आदि शरीरों के बन्ध का नाम बन्धस्पर्श है। वह औदारिक शरीर बन्धस्पर्श आदि के भेद से पाँच प्रकार का है (२७-२८)।

यहाँ धवलाकार ने 'बध्नातीति बन्धः, औदारिकशरीरमेव बन्धः औदारिकशरीरबन्धः' ऐसी निरुक्ति करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया है कि बाँधने वाले औदारिक शरीर आदि ही बन्ध हैं, अतः उनके स्पर्श को बन्धस्पर्श समझना चाहिए। इस प्रकार शरीर के भेद से बन्धस्पर्श भी पाँच प्रकार का है। आगे उन्होंने इस बन्धस्पर्श के भंगों को भी स्पष्ट किया है। यथा—

१. औदारिकनोकर्मप्रदेश तिर्यंचों व मनुष्यों में औदारिक शरीरनोकर्मप्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं। २. औदारिक नोकर्मप्रदेश तिर्यंचों व मनुष्यों में वैक्रियिक नोकर्मप्रदेशों के साथ स्पर्श को प्राप्त हैं। ३. औदारिक शरीर नोकर्मप्रदेश प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक-शरीर-नोकर्म-प्रदेशों के साथ स्पर्श को प्राप्त होते हैं। इस पद्धति से औदारिक बन्धस्पर्श के ५, वैक्रियिक शरीरबन्धस्पर्श के ४, आहारकशरीरबन्ध के ४, तैजसशरीरबन्ध के ५, और कार्मणशरीर बन्ध के ५ भंगों का उल्लेख किया गया है।

भव्यस्पर्श—विष, कूट व यंत्र आदि, उनके निर्माता तथा उनको इच्छित स्थान में स्थापित करनेवाले; ये सब भव्यस्पर्श के अन्तर्गत हैं। कारण यह कि वे वर्तमान में तो घात आदि के लिए इच्छित वस्तु का स्पर्श नहीं करते हैं, किन्तु भविष्य में उनमें उसकी योग्यता है, अतः कारण में कार्य का उपचार करके इन सबको भव्यस्पर्श कहा गया है (२९-३०)।

भावस्पर्श—जो जीव स्पर्शप्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से भी सहित है उसका नाम भावस्पर्श है (३१-३२)।

इन सब स्पर्शों में यहाँ किस स्पर्श का प्रसंग है, यह पूछे जाने पर उत्तर में कहा गया है कि यहाँ कर्मस्पर्श प्रसंग-प्राप्त है (३३)।

इस अनुयोगद्वार में सब सूत्र ३३ हैं।

यहाँ सूत्र में 'कर्मस्पर्श' को प्रसंग-प्राप्त कहा गया है। पर धवलाकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि यह खण्डग्रन्थ अध्यात्मविषयक है, इसी अपेक्षा से सूत्रकार द्वारा यहाँ कर्मस्पर्श को प्रकृत कहा गया है। किन्तु महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में द्रव्यस्पर्श, सर्वस्पर्श और कर्मस्पर्श प्रकृत हैं, क्योंकि दिगन्तरशुद्धि में द्रव्यस्पर्श की प्ररूपणा के बिना वहाँ स्पर्श अनुयोगद्वार का महत्त्व घटित नहीं होता।

प्रस्तुत अनुयोगद्वार को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार द्वारा उसकी प्ररूपणा में १६ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है। यहाँ धवला में यह शंका उठायी गई है कि यदि यहाँ कर्मस्पर्श प्रकृत है तो ग्रन्थकर्ता भूतबलि भगवान् ने उस कर्मस्पर्श की प्ररूपणा यहाँ कर्मस्पर्श-नय विभाषणता आदि शेष पन्द्रह अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्यों नहीं की है। इसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि कर्मस्कन्ध का नाम स्पर्श है, अतः उसकी प्ररूपणा करने पर वेदना अनुयोगद्वार में प्ररूपित अर्थ (कर्मस्कन्ध) से कुछ विशेषता नहीं रहती, इसी से

उसकी प्ररूपणा यहाँ सूत्रकार द्वारा नहीं की गई है।

कर्म—प्रसंग प्राप्त इस कर्म अनुयोगद्वार को प्रारम्भ करते हुए कर्मनिक्षेप व कर्मनय विभाषणता आदि उन्हीं १६ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है, जिनका कि निर्देश पूर्व स्पर्श-अनुयोगद्वार में स्पर्शनिक्षेप व स्पर्शनयविभाषणता आदि के रूप में किया गया है (सूत्र १-२)।

१. **कर्मनिक्षेप**—उक्त १६ अनुयोगद्वारों में प्रथम कर्मनिक्षेप है। इसमें कर्म की प्ररूपणा करते हुए यहाँ उसके इन दस भेदों का निर्देश किया गया है—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्य-कर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म (३-४)।

२. **कर्मनयविभाषणता**—पूर्व स्पर्श अनुयोगद्वार के समान यहाँ भी प्रथमतः प्रसंगप्राप्त उन कर्मों की प्ररूपणा न करके उसके पूर्व कर्मनयविभाषणता के आश्रय से इन कर्मों में कौन नय किन कर्मों को विषय करता है, इसका विचार किया गया है। यथा—

नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय उन कर्मों में सभी कर्मों को विषय करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनाकर्म को विषय नहीं करता, क्योंकि इस नय की दृष्टि में संकल्प के वश अन्य का अन्यस्वरूप से परिणमन सम्भव नहीं है, इसके अतिरिक्त सब द्रव्यों में सदृशता भी नहीं रहती। शब्दनय नामकर्म और भावकर्म को विषय करता है (५-८)।

नामकर्म—आगे यथाक्रम से उन दस कर्मों का निरूपण करते हुए पूर्व पद्धति के अनुसार नामकर्म के विषय में कहा गया है कि एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव, बहुत अजीव, एक जीव व एक अजीव, एक जीव व बहुत अजीव, बहुत जीव व एक अजीव तथा बहुत जीव व बहुत अजीव इन आठ में जिसका 'कर्म' ऐसा नाम किया जाता है वह नामकर्म कहलाता है (९-१०)।

स्थापनाकर्म—काष्ठकर्म, चित्रकर्म व पोत्तकर्म आदि तथा अक्ष व वराटक आदि में जो स्थापना बुद्धि से 'यह कर्म है' इस प्रकार की कल्पना की जाती है उसका नाम स्थापनाकर्म है (११-१२)।

द्रव्यकर्म—जो द्रव्य सद्भावक्रिया से सिद्ध हैं उन सबको द्रव्यकर्म कहा जाता है। सद्भाव क्रिया से यहाँ जीवादि द्रव्यों का अपना-अपना स्वाभाविक परिणमन अभिप्रेत है। जैसे—जीवद्रव्य का ज्ञान-दर्शनादिस्वरूप से और पुद्गल द्रव्य का वर्ण-गन्धादिस्वरूप से परिणमन, इत्यादि (१३-१४)।

प्रयोगकर्म—मनःप्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोगकर्म के भेद से प्रयोगकर्म तीन प्रकार का है। यह मन, वचन और काय के साथ होने वाला प्रयोग संसारी (छद्मस्थ) जीवों के और सयोगिकेवलियों के होता है (१५-१८)।

यहाँ सूत्र (१७) में संसारावस्थित और सयोगिकेवली इन दो का पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है। इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि 'संसरन्ति अनेन इति संसारः' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा जीव चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण किया करते हैं उस घातिकर्मकलाप का नाम संसार है, उसमें जो अवस्थित हैं वे संसारावस्थित हैं। इस प्रकार 'संसारावस्थित' से यहाँ मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त छद्मस्थ जीव विवक्षित रहे हैं। सयोगिकेवलियों के इस प्रकार का संसार नहीं रहा है, पर तीनों योग उनके वर्तमान हैं, इस विशेषता को प्रकट करने के लिए सूत्र में सयोगिकेवलियों को पृथक् से ग्रहण किया

गया है।

समवदानकर्म—आठ प्रकार के, सात प्रकार के और छह प्रकार के कर्मों का जो भेद रूप से ग्रहण प्रवृत्त होता है उसका नाम समवदानकर्म है। अभिप्राय यह है कि अकर्मरूप से स्थित कार्मण वर्गणा के स्कन्ध मिथ्यात्व व असंयम आदि कारणों के वश परिणामान्तर से अन्तरित न होकर जो अनन्तर समय में ही आठ, सात अथवा छह कर्मस्वरूप से परिणत होकर ग्रहण करने में आते हैं, उसे समवदानताकर्म कहा जाता है[1] (१६-२०)।

अधःकर्म—उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ कार्य से जो औदारिक शरीर उत्पन्न होता है उसे अधःकर्म कहते हैं। जीव का उपद्रव करने का नाम उपद्रावण, अंगों के छेद आदि करने का नाम विद्रावण, सन्ताप उत्पन्न करने का परितापन और प्राणी के प्राणों का वियोग करने का नाम आरम्भ है। इन कार्यों से जो औदारिक शरीर उत्पन्न होता है उसे अधःकर्म जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस शरीर में स्थित प्राणियों के प्रति दूसरों के निमित्त से उपद्रव आदि होते हैं उसे अधःकर्म कहा जाता है (२१-२२)।

ईर्यापथकर्म—ईर्या का अर्थ योग है, केवल योग के निमित्त से जो कर्म बँधता है उसका नाम ईर्यापथ कर्म है। वह ईर्यापथ कर्म छद्मस्थ वीतराग—उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय संयतों के तथा सयोगि केवलियों के होता है (२३-२४)।

तपःकर्म—अनशन आदि छह प्रकार के बाह्य और प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के अभ्यन्तर, इस बारह प्रकार के तप का नाम तपःकर्म है[1] (२५-२६)।

क्रियाकर्म—आत्माधीन (स्वाधीन) होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार नमस्कार आदि करना, तीन अवनमन करना, सिर झुकाकर चार बार नमस्कार करना और बारह आवर्त करना; इस सबका नाम क्रियाकर्म है। इसे ही कृतिकर्म व वन्दना कहा जाता है (२७-२८)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने इस क्रियाकर्म के छह भेदों का निर्देश किया है—आत्माधीन, प्रदक्षिणा, त्रिःकृत्वा (तीन बार करना), अवनमनत्रय, चतुःशिर और द्वादश आवर्त। (१) क्रियाकर्म करते हुए उसे जो अपने अधीन रहकर—पराधीन न होकर—किया जाता है, उसका नाम आत्माधीन है। (२) वन्दना के समय जो गुरु, जिन और जिनालय इनकी प्रदक्षिणा करते हुए नमस्कार किया जाता है उसे प्रदक्षिणा कहते हैं। (३) प्रदक्षिणा और नमस्कारादि क्रियाओं के तीन बार करने को 'त्रिःकृत्वा' कहा जाता है। अथवा एक ही दिन में जिन, गुरु और ऋषि की जो तीन बार वन्दना की जाती है उसे त्रिःकृत्वा समझना चाहिए। (४) अवनमन का अर्थ भूमि पर बैठना है जो तीन बार होता है—निर्मलचित्त होकर पादप्रक्षालनपूर्वक जिनेन्द्र का दर्शन करते हुए जिन-के आगे बैठना, यह एक अवनमन है। फिर उठकर जिनेन्द्र आदि की विनती, विज्ञप्ति या प्रार्थना करके बैठना यह दूसरा अवनमन है। तत्पश्चात् पुनः उठकर सामायिक दण्डक के साथ आत्मशुद्धि करके कषाय के परित्याग-पूर्वक शरीर से ममत्व छोड़ना, चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करना तथा जिन, जिनालय और गुरु की स्तुति करना—इस सब अनुष्ठान को करते हुए बैठना, यह तीसरा अवनमन है। (५) सब क्रियाकर्म चतुःशिर होता है—सामायिक के आदि में जो सिर को नमाया जाता है, यह एक सिर हुआ। उसी सामायिक के अन्त में जो सिर को नमाया जाता है यह दूसरा सिर

---

१. इस बारह प्रकार के तप की प्ररूपणा धवला में विस्तार से की गई है। पु० १३, ५४-८८

हुआ। 'थोस्सामि' दण्डक के आदि में जो सिर को नमाया जाता है यह तीसरा सिर हुआ। तथा उस 'थोस्सामि' दण्डक के अन्त में जो सिर को नमाया जाता है यह चौथा सिर हुआ। इस प्रकार एक क्रियाकर्म 'चतुःशिर' होता है। प्रकारान्तर से धवलाकार ने इस चतुःशिर का अन्य अभिप्राय प्रकट करते हुए यह कहा है कि अथवा सव ही क्रियाकर्म अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म इन चार की प्रधानता से जो किया जाता है उसे चतुःशिर का लक्षण समझना चाहिए, क्योंकि उन चार को प्रधानभूत करके ही सारी क्रियाकर्म की प्रवृत्ति देखी जाती है। (६) सामायिक और थोस्सामि-दण्डकों के आदि व अन्त में जो मन, वचन व काय की विशुद्धि का वारह वार परावर्तन किया जाता है, इसका नाम द्वादशावर्त है। इस प्रकार एक क्रिया-कर्म को द्वादशावर्तस्वरूप कहा गया है।[1]

भावकर्म—यह पूर्वोक्त कर्म के दस भेदों में अन्तिम है। जो कर्मप्राभृत का ज्ञाता होता हुआ वर्तमान में उसमें उपयुक्त भी होता है उसे भावकर्म कहा जाता है (२९-३०)।

उपर्युक्त १० कर्मों में यहाँ समवदान कर्म को प्रकृत कहा गया है, क्योंकि कर्मानुयोगद्वार में उसी की विस्तार से प्ररूपणा की गई है (३१)।

इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि सूत्र में जो यहाँ समवदान कर्म को प्रकृत कहा गया है वह संग्रह नय की अपेक्षा कहा गया है। किन्तु मूलतंत्र में प्रयोगकर्म, समवदान-कर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म इन छह कर्मों की प्रधानता रही है, क्यों-कि वहाँ इनकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है। इस सूचना के साथ धवलाकार ने यहाँ उन छह कर्मों की सत्-संख्या आदि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की है।

३. **प्रकृति**—यहाँ 'प्रकृति' की प्रमुखता से (प्रकृतिनिक्षेप व प्रकृतिनयविभाषणता आदि) उन्हीं सोलह अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है, जिनका उल्लेख स्पर्श की प्रमुखता से 'स्पर्श' अनुयोगद्वार में और कर्म की प्रमुखता से 'कर्म' अनुयोगद्वार में किया जा चुका है (१-२)।

प्रकृतिनिक्षेप— उन १६ अनुयोगद्वारों में यह प्रथम है। उसमें इसके ये चार भेद निर्दिष्ट किये गए हैं—नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति (३-४)।

प्रकृतिनयविभाषणता—स्पर्श व कर्म अनुयोगद्वार के समान यहाँ भी अवसरप्राप्त उन नामप्रकृति आदि चार निक्षेपों की प्ररूपणा न करके उसके पूर्व प्रकृतिनयविभाषणता के अनुसार कौन नय किन प्रकृतियों को विषय करता है, इसका विचार किया गया है। यथा—

नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय उन नामादिरूप चारों प्रकृतियों को विषय करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापनाप्रकृति को विषय नहीं करता है। शब्द नय नामप्रकृति और भाव-प्रकृति को विषय करता है (५-८)।

आगे पूर्वनिर्दिष्ट चार प्रकार के प्रकृतिनिक्षेप की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः नामप्रकृति के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि एक जीव व एक अजीव आदि आठ में से जिसका 'प्रकृति' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामप्रकृति कहते हैं (९)।

काष्ठ व चित्रकर्म आदि कर्मविशेषों में तथा अक्ष व वराटक आदि और भी जो इस प्रकार

---

१. पु० १३, पृ० ९०-१९६

के हैं उनमें 'यह प्रकृति है' इस प्रकार जो अभेद रूप में स्थापना की जाती है उसका नाम स्थापना प्रकृति है (१०)।

द्रव्यप्रकृति आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार की है। इनमें आगम द्रव्यप्रकृति के ये नौ अर्थाधिकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम। इन आगमविशेषों को विषय करने वाले ये आठ उपयोगविशेष हैं—वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति और धर्मकथा। इन उपयोगों से रहित (अनुपयुक्त) पुरुष द्रव्यरूप होते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जो जीव प्रकृति-प्राभृत के ज्ञाता होकर भी तद्विषयक उपयोग से रहित होते हैं उन सबको आगमद्रव्य प्रकृति जानना चाहिए (११-१४)।

नोआगम द्रव्यप्रकृति कर्मप्रकृति और नोकर्मप्रकृति के भेद से दो प्रकार की है। इनमें कर्मप्रकृति को स्थगित कर प्रथमतः नोआगम प्रकृति का विचार करते हुए उसे अनेक प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। यथा—अनेक प्रकार के पात्रोंरूप जो घट, पिढर, सराव, अरंजन व उलुंचन आदि हैं उनकी प्रकृति मिट्टी है तथा धान व तर्पण आदि की प्रकृति जौ व गेहूँ है। इस सबको नोआगमद्रव्य प्रकृति कहा जाता है (१५-१८)।

जिस कर्मप्रकृति को पूर्व में स्थगित किया गया है उसकी अब प्ररूपणा करते हुए उसके ये आठ भेद निर्दिष्ट किये गए हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें ज्ञानावरणीय की आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय आदि पाँच प्रकृतियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। इनमें आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेदों का निर्देश करते हुए उनमें उसके ये चार भेद कहे गये हैं—अवग्रहावरणीय, ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय। इनमें अवग्रहावरणीय अर्थावग्रहावरणीय और व्यंजनावग्रहावरणीय के भेद से दो प्रकार का है। इनमें व्यंजनावग्रहावरणीय श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के भेद से चार प्रकार का है। अर्थावग्रहावरणीय पाँच इन्द्रियों और नोइन्द्रिय के निमित्त से छह प्रकार का है। इसी प्रकार से आगे ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय इनमें भी प्रत्येक के इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के आश्रय से वे ही छह-छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इस प्रकार से अन्त में उस आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के चार, चौबीस, अट्ठाईस, बत्तीस, अड़तालीस, एक सौ चवालीस, एक सौ अड़सठ, एक सौ बानबै, दो सौ अठासी, तीन सौ छत्तीस और तीन सौ चौरासी भेद ज्ञातव्य कहे गये हैं (१९-३५)।

इन भेदों का कुछ स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के मूल में व्यंजनावग्रहावरणीय और अर्थावग्रहावरणीय ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें क्रमशः उनसे आव्रियमाण व्यंजनावग्रह चक्षुइन्द्रिय व मन को छोड़ शेष चार इन्द्रियों के आश्रय से चार प्रकार का तथा अर्थावग्रह पाँचों इन्द्रियों और मन के आश्रय से छह प्रकार का है। इसी प्रकार ईहा आदि तीन भी पृथक्-पृथक् छह-छह प्रकार के हैं। इस प्रकार व्यंजनावग्रह के ४ और अर्थावग्रह के २४ (४×६) भेद हुए। दोनों के मिलकर २८ (४+२४) भेद होते हैं। इन २८ उत्तर भेदों में अवग्रह आदि ४ मूल भेदों के मिलाने पर ३२ भेद होते हैं। इस प्रकार ४, २४, २८ और ३२ को पाँच इन्द्रिय व मन इन छह से गुणित करने पर ४×६=२४; २४×६=१४४; २८×६=१६८; ३२×६=१९२ भेद होते हैं। उक्त अवग्रह

आदि बहु व एकआदि बारह (६ + ६) प्रकार के पदार्थों को विषय करते हैं, अतः उन्हीं चार (४,२४,२८ व ३२) को १२ से गुणित करने पर इतने भेद हो जाते हैं—४ × १२ = ४८, २४ × १२ = २८८; २८ × १२ = ३३६; ३२ × १२ = ३८४।

इन्द्रिय व मन इन ६ से पूर्व में गुणित किया जा चुका है और यहाँ फिर से भी उनसे गुणित किया गया है, अतः इन २४ (६ × ४) पुनरुक्त भेदों के निकाल देने पर सूत्र (३५) में निर्दिष्ट वे भेद उक्त क्रम से प्राप्त हो जाते हैं।

आगे 'उसी आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय की अन्य प्ररूपणा की जाती है' यह सूचना करते हुए उक्त अवग्रह आदि चारों के पर्यायशब्दों को इस प्रकार प्रकट किया गया है—

१. अवग्रह—अवग्रह, अवदान, सान, अवलम्बना और मेधा।

२. ईहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा।

३. अवाय—अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा।

४. धारणा—धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा।

आभिनिबोधिक ज्ञान के समानार्थक शब्द हैं—संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता।

इस प्रकार आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म की अन्यप्ररूपणा समाप्त की गई है (३६-४२)।

तत्पश्चात् श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की संख्यात प्रकृतियाँ हैं। इसके स्पष्टीकरण में आगे कहा गया है कि जितने अक्षर अथवा अक्षरसंयोग हैं उतनी श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। आगे इन संयोगावरणों के प्रमाण को लाने के लिए एक गणितगाथा सूत्र को प्रस्तुत करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि संयोगाक्षरों को लाने के लिए ६४ संख्या प्रमाण दो (२) राशियों को स्थापित करना चाहिए, उनको परस्पर गुणित करने पर जो प्राप्त हो उसमें एक कम करने पर संयोगाक्षरों का प्रमाण प्राप्त होता है (४३-४६)।

चौंसठ अक्षर इस प्रकार हैं—क् ख् ग् घ् ङ् (कवर्ग), च् छ् ज् झ् ञ् (चवर्ग,) ट् ठ् ड् ढ् ण् (टवर्ग), त् थ् द् ध् न् (त वर्ग), प् फ् ब् भ् म् (प वर्ग); इस प्रकार २५ वर्गाक्षर। अन्तस्थ चार—य् र् ल् व्; ऊष्माक्षर चार— श् ष् स् ह्; अयोगवाह चार—अं अः ᳵक ᳵप। स्वर सत्ताईस —अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये नौ ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं, इस प्रकार २७ (९ × ३ = २७) स्वर। ये सब मिलकर चौंसठ होते हैं—२५ + ४ + ४ + ४ + २७ = ६४। इन अक्षरों के भेद से श्रुतज्ञान के तथा उनके आवारक श्रुतज्ञानावरण के भी उतने (६४-६४) ही भेद होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त गणित गाथा के अनुसार ६४ संख्या प्रमाण '२' के अंक को रखकर परस्पर गुणित करने पर इतनी संख्या प्राप्त होती है—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५। इतने मात्र संयोगाक्षर होते हैं। इनके आश्रय से उतने ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उनके आवारक श्रुतज्ञानावरण के भी उतने ही भेद होते हैं।[1]

इस प्रकार अक्षर प्रमाणादि की प्ररूपणा करके आगे 'उसी श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की

---

१. इन अक्षर संयोगों का विवरण धवला में विस्तार से किया गया है।

—पु० १३, पृ० २४७-६०

बीस प्रकार की प्ररूपणा की जाती है' ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए उसके बीस भेदों का उल्लेख प्रथमतः संक्षेप में गाथासूत्र के द्वारा और तत्पश्चात् उन्हीं का पृथक्-पृथक् विवरण गद्यात्मक सूत्र के द्वारा किया गया है। वे २० भेद ये हैं—पर्यायावरणीय, पर्यायसमासावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, संघातावरणीय, संघातसमासावरणीय, प्रतिपत्तिआवरणीय, प्रतिपत्तिसमासावरणीय, अनुयोगद्वारावरणीय, अनुयोगद्वारसमासावरणीय, प्राभृतप्राभृतावरणीय, प्राभृतप्राभृतसमासावरणीय, प्राभृतावरणीय, प्राभृतसमासावरणीय, वस्तुआवरणीय, वस्तुसमासावरणीय, पूर्वावरणीय और पूर्वसमासावरणीय (४७-४८)।

उपर्युक्त बीस प्रकार के श्रुतज्ञानावरणीय के द्वारा आव्रियमाण अक्षर व अक्षर-समास आदि बीस प्रकार के श्रुतज्ञान की प्ररूपणा धवला में विस्तार से की गई है।[1]

आगे 'उसी श्रुतज्ञानावरणीय की अन्य प्ररूपणा हम करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए श्रुतज्ञान के इन इकतालीस पर्याय-शब्दों का निर्देश किया गया है—(१) प्रावचन (२) प्रवचनीय, (३) प्रवचनार्थ, (४) गतियों में मार्गणता, (५) आत्मा, (६) परम्परालब्धि, (७) अनुत्तर, (८) प्रवचन, (९) प्रवचनी, (१०) प्रवचनाद्धा, (११) प्रवचन संनिकर्ष, (१२) नय विधि, (१३) नयान्तरविधि, (१४) भंगविधि, (१५) भंगविधिविशेष, (१६) पृच्छाविधि, (१७) पृच्छाविधिविशेष, (१८) तत्त्व, (१९) भूत, (२०) भव्य, (२१) भविष्यत्, (२२) अवितथ (२३) अविहत, (२४) वेद, (२५) न्याय्य, (२६) शुद्ध, (२७) सम्यग्दृष्टि, (२८) हेतुवाद, (२९) नयवाद, (३०) प्रवरवाद, (३१) मार्गवाद, (३२) श्रुतवाद, (३३) परवाद, (३४) लौकिकवाद, (३५) लोकोत्तरीयवाद, (३६) अग्र्य, (३७) मार्ग, (३८) यथानुमार्ग, (३९) पूर्व, (४०) यथानुपूर्व और (४१) पूर्वातिपूर्व (४९-५०)।

धवला में यहाँ यह शंका की गई है कि सूत्रकार श्रुतज्ञानावरणीय के समानार्थक शब्दों की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं, पर प्ररूपणा आगे श्रुतज्ञान के समानार्थक शब्दों की की जा रही है, यह क्या संगत है? इस आशंका का निराकरण करते हुए वहाँ यह कहा गया है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आवरणीय (श्रुतज्ञान) की प्ररूपणा का अविनाभाव उसके आवरण के स्वरूप के ज्ञान के साथ है। प्रकारान्तर से वहाँ यह भी कहा गया है कि अथवा 'आवरणीय' शब्द कर्मकारक में सिद्ध हुआ है, अतः 'श्रुतज्ञानावरणीय' से श्रुतज्ञान का ग्रहण हो जाता है। आगे धवला में इन पर्याय शब्दों का भी निरुक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् अर्थ प्रकट किया गया है।[2]

आगे क्रम प्राप्त अवधिज्ञानावरणीय की प्ररूपणा के प्रसंग में उसकी कितनी प्रकृतियाँ हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अवधिज्ञानावरणीय की असंख्यात प्रकृतियाँ हैं। वह अवधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से दो प्रकार का है। इनमें भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों व नारकियों के होता है तथा गुणप्रत्यय तिर्यंच व मनुष्यों के। आगे इस अवधिज्ञान को अनेक प्रकार का कहकर उसके इन भेदों का उल्लेख किया गया है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र (५१-५६)।

---

१. पु० १३, पृ० २६०-७६
२. पु० १३, पृ० २८०-८६

यहाँ गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि 'गुण' से यहाँ सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत-महाव्रत अभिप्रेत हैं, तदनुसार इस गुण के आश्रय से जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है।

एक क्षेत्र व अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिस अवधिज्ञान का करण जीव के शरीर का एकदेश हुआ करता है वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान कहलाता है तथा जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र को छोड़कर शरीर के सब अवयवों में रहता है उसे अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान कहा जाता है। तीर्थंकर, देव और नारकियों का अवधिज्ञान अनेक क्षेत्र ही होता है, क्योंकि वह शरीर के सब अवयवों से अपने विषयभूत पदार्थ को ग्रहण किया करता है। इनके अतिरिक्त शेष जीव एकदेश से ही पदार्थ को जानते हैं, ऐसा नियम नहीं करना चाहिए, क्योंकि परमावधि और सर्वावधि के धारक गणधर आदि के अपने सब अवयवों से अपने विषयभूत अर्थ का ग्रहण उपलब्ध होता है। इससे यह समझना चाहिए कि शेष जीव शरीर के एकदेश व सब अवयवों से भी जानते हैं।[1]

आगे इस एकक्षेत्र अवधि के विशेष स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जिन जीव प्रदेशों में अवधिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हुआ है उनके करणस्वरूप शरीर के प्रदेश अनेक आकारों में अवस्थित होते हैं। जैसे—श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त आदि (५७-५८)।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ प्रतिनियत आकार में होती हैं उस प्रकार अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम युक्त जीवप्रदेशों के करणस्वरूप शरीर प्रदेश प्रतिनियत आकार में नहीं होते, किन्तु वे श्रीवत्स व कलश आदि अनेक आकारों में परिणत होते हैं। ये तिर्यंच व मनुष्यों के नाभि के ऊपर होते हैं, उसके नीचे नहीं होते, क्योंकि शुभ आकारों का शरीर के अधोभाग के साथ विरोध है। एक जीव के एक ही स्थान में वे आकार होते हों यह भी नियम नहीं है, किन्तु वे एक दो तीन आदि अनेक स्थानों में हो सकते हैं।

विभंगज्ञानी तिर्यंच-मनुष्यों के गिरगिट आदि अशुभ आकार हुआ करते हैं, जो नाभि के नीचे होते हैं। यदि इन विभंगज्ञानियों के सम्यक्त्व के प्रभाव से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो वे गिरगिट आदि के अशुभ आकार हटकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ आकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार अवधिज्ञानियों के मिथ्यात्व के वश अवधिज्ञान विनष्ट होकर विभंगज्ञान होता है तो उनके वे नाभि के ऊपर के शंख आदि शुभ आकार विनष्ट होकर नाभि के नीचे अशुभ आकार हो जाते हैं। यह अभिप्राय धवलाकार ने सूत्र के अभाव में गुरु के उपदेश-अनुसार प्रकट किया है।

कुछ आचार्यों के अभिप्रायानुसार अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के न क्षेत्रगत आकार में कुछ भेद होता और न नाभि के नीचे-ऊपर का भी कुछ नियम रहता है। सम्यक्त्व व मिथ्यात्व की संगति से किये गये नामभेद के कारण उनमें भेद नहीं है, अन्यथा अव्यवस्था होना सम्भव है।[2]

पूर्व में अवधिज्ञान के देशावधि आदि जिन अनेक भेदों का निर्देश किया गया है उनमें

---

१. पु० १३, पृ० २९५-९६
२. पु० १०, पृ० २९६-९८

एक अनवस्थित अवधिज्ञान भी है। अनवस्थित अवधिज्ञान वह है जो उत्पन्न होकर घटता-बढ़ता रहता है। इस अनवस्थित अवधिज्ञान के जघन्य व उत्कृष्ट काल के अन्तर्गत अनेक काल भेदों की प्ररूपणा करते हुए समय, आवलि, क्षण, लव, मुहूर्त आदि सागरोपम पर्यन्त अनेक काल भेदों का उल्लेख किया गया है (५९)।

दो परमाणुओं का तत्प्रायोग्य वेग से ऊपर व नीचे जाते हुए शरीरों के साथ परस्पर स्पर्श होने में जितना काल लगता है उसका नाम समय है। यह उसके अवस्थान का जघन्य काल है। कारण यह कि कोई अवधिज्ञान उत्पन्न होने के दूसरे ही समय में विनष्ट होता हुआ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार उसका अवस्थान काल क्षण-लव आदि समझना चाहिए।

आगे अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र दिखलाते हुए कहा गया है कि तृतीय समयवर्ती आहारक और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ हुए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक की जितनी अवगाहना होती है उतना अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है। इस प्रकार अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र को दिखला कर आगे क्षेत्र से सम्बद्ध काल की और काल से सम्बद्ध क्षेत्र के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है। इसी प्रसंग में नाना काल और नाना जीवों के आश्रय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बद्ध वृद्धि के क्रम को भी प्रकट किया गया है। इस प्रकार द्रव्य से सम्बद्ध उसके क्षेत्र-काल आदि की प्ररूपणा करते हुए कौन-कौन जीव उस अवधिज्ञान के द्वारा क्षेत्र-काल आदि की अपेक्षा कितना जानते हैं; इसे स्पष्ट किया गया है (गाथा सूत्र ३-१७, पृ० ३०१-२८)।

इस प्रकार अवधिज्ञानावरणीय की प्ररूपणा को समाप्त कर आगे मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म की प्ररूपणा करते हुए उसकी कितनी प्रकृतियाँ हैं, इसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि उसकी दो प्रकृतियाँ हैं—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय और विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय। इनमें जो ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म है वह तीन प्रकार का है - ऋजुमनोगत अर्थ को जानता है, ऋजुवचनगत अर्थ को जानता है और ऋजुकायगत अर्थ को जानता है (६०-६२)।

इसका अभिप्राय यह रहा है कि ऋजुमनोगत अर्थ को विषय करनेवाले, ऋजुवचनगत अर्थको विषय करनेवाले और ऋजुकायगत अर्थ को विषय करनेवाले इस तीन प्रकार के मनःपर्ययज्ञान को आवृत करनेवाला ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म भी तीन प्रकार का है।

इसके पश्चात् ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान के विषय की प्ररूपणा करते हुए यह कहा गया है कि मनःपर्ययज्ञानी मन (मतिज्ञान) से मानस को ग्रहण करके दूसरों की संज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगरविनाश, देशविनाश, जनपदविनाश, खेट-विनाश, कर्वटविनाश, मडंबविनाश, पट्टनविनाश, द्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोग इन सब काल से विशेषित पदार्थों को जानता है। इनके अतिरिक्त वह व्यक्त मनवाले अपने व दूसरे जीवों से सम्बन्धित वस्तुओं को जानता है, किन्तु अव्यक्त मनवाले जीवों से सम्बन्धित वस्तुओं को वह नहीं जानता है। आगे इसी प्रसंग में काल और क्षेत्र की अपेक्षा वह कितने विषय को जानता है, इसे भी स्पष्ट किया गया है (६३-६९)।

इस प्रकार ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय की प्ररूपणा को समाप्त कर आगे विपुल-

मतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म की प्ररूपणा के प्रसंग में उसके ये छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—वह ऋजु व अनृजु मनोगत अर्थ को जानना है, ऋजु व अनृजु वचनगत अर्थ को जानता है तथा ऋजु व अनृजु कायगत अर्थ को जानता है। इसका अभिप्राय ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय के ही समान समझना चाहिए। इसी प्रकार आगे ऋजुमतिमनःपर्यय के समान इस विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान के विषय की भी प्ररूपणा उसी पद्धति से की गई है (७०-७८)।

आगे क्रमप्राप्त केवलज्ञानावरणीय की प्ररूपणा के प्रसंग में उसकी कितनी प्रकृतियाँ हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि केवलज्ञानावरणीय कर्म की एक ही प्रकृति है। अनन्तर उस केवलज्ञानावरणीय से आवृत केवलज्ञान के स्वरूप को प्रकट करते हुए उसे सकल—तीनों कालों के विषयभूत समस्त बाह्य पदार्थों को विषय करनेवाला, सम्पूर्ण—अनन्तदर्शन व वीर्य आदि अनन्तगुणों से परिपूर्ण—और कर्म-वैरी से रहित होने के कारण असपत्न कहा गया है। आगे स्वयं उत्पन्न होनेवाले उस केवलज्ञान के विषय को प्रकट करते हुए कहा गया है कि स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न भगवान् देवलोक, असुरलोक व मनुष्यलोक (ऊर्ध्व, अधः व तिर्यक् तीनों लोक) की गति, आगति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, अनुभाग, तर्क, फल, मन, मानसिक, मुक्त, कृति, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को समीचीनतया जानते हैं, देखते हैं व विहार करते हैं[1] (७९-८३)।

आगे क्रम से दर्शनावरणीय (८४-८६), वेदनीय (८७-८८), मोहनीय (८९-९८) और आयु (९९) कर्म की उत्तरप्रकृतियों का नाम-निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् नामकर्म की व्यालीस प्रकृतियों का निर्देश करते हुए उनमें यथाक्रम से आनुपूर्वी तक गति-जाति आदि तेरह पिण्डप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियों के नामों का भी निर्देश किया गया है (१००-१३२)।

विशेषता यहाँ यह रही है कि आनुपूर्वी के प्रसंग में उसकी नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी आदि चार में प्रत्येक की उत्तरप्रकृतियों के प्रमाण को भी दिखलाते हुए उसमें एक वार अल्पबहुत्व को प्रकट करके (१२३-२७) 'भूयो अप्पाबहुअं' इस सूचना के साथ प्रकारान्तर से पुनः उस अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है (१२८-३२)।

इस प्रसंग में यहाँ धवला में यह शंका की गई है कि एक वार उनके अल्पबहुत्व को कहकर फिर से उसकी प्ररूपणा किसलिए की जा रही है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि अन्य भी व्याख्यानान्तर है, इसके ज्ञापनार्थ उसका प्रकारान्तर से पुनः कथन किया जाता है।

आगे जिन अगुरुलघु आदि २९ प्रकृतियों का उल्लेख पूर्व (१०१) में किया जा चुका है उनका उल्लेख उसी रूप में यहाँ पुनः किया गया है (१३३)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि इन प्रकृतियों की प्ररूपणा उत्तरोत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा जानकर करना चाहिए। इनकी उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ नहीं हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि धव और धम्मन आदि प्रत्येक शरीर तथा मूली और थूहर आदि साधारण-शरीर इनके वहुत प्रकार के स्वर और गमन आदि उपलब्ध होता है।

---

१. यह सन्दर्भ आचारांग द्वि० श्रुतस्कन्ध (चू० ३) गत केवलज्ञान विषयक सन्दर्भ से शब्दशः वहुत कुछ मिलता-जुलता है। पृ० ८८८

अनन्तर गोत्र कर्म की दो और अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियों का निर्देश किया गया है[1] (१३४-३७)।

इस प्रकार प्रकृति के नाम, स्थापना और द्रव्य रूप तीन भेदों की प्ररूपणा करके आगे उसके चौथे भेदभूत भावप्रकृति की प्ररूपणा करते हुए उसके इन दो भेदों का निर्देश किया गया है—आगमभाव प्रकृति और नो-आगमभाव प्रकृति। आगमभाव प्रकृति के प्रसंग में उसके स्वरूप को प्रकट करते हुए पूर्व के समान उसके स्थित-जित आदि नौ अर्थाधिकारों के साथ तद्विषयक वाचना-पृच्छना आदि आठ उपयोग-विशेषों का भी उल्लेख किया गया है। दूसरी नोआगमभाव प्रकृति को अनेक प्रकार का कहा गया है। जैसे—सुर व असुर आदि देवविशेष, मनुष्य एवं मृग—पशु अर्थात् पक्षी आदि विविध प्रकार के तिर्यंच और नारकी इनकी निज का अनुसरण करनेवाली प्रकृति (१३८-४०)।

अन्त में प्रकरण का उपसंहार करते हुए 'इन प्रकृतियों में यहाँ कौन-सी प्रकृति प्रकृत है', इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उनमें यहाँ भावप्रकृति प्रकृत है। इस प्रकार प्रथम प्रकृतिनिक्षेप अनुयोगद्वार की प्ररूपणा करके आगे यह कह दिया है कि शेष प्ररूपणा वेदना अनुयोगद्वार के समान है (१४२-४२)।

इसका अभिप्राय यह रहा है कि प्रकृतिनयविभाषणता आदि जिन शेष १५ अनुयोगद्वारों की यहाँ प्ररूपणा नहीं की गई है उनकी वह प्ररूपणा वेदना अनुयोगद्वार के समान समझना चाहिए।

इस प्रकार 'वर्गणा' खण्ड के अन्तर्गत स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीनों अनुयोगद्वार १३वीं जिल्द में प्रकाशित हुए हैं।

४. बन्धन

यहाँ सर्व प्रथम सूत्र में यह निर्देश किया गया है कि 'बन्धन' इस अनुयोगद्वार में बन्धन की विभाषा (व्याख्यान) चार प्रकार की है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान (सूत्र १)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने 'बन्धन' शब्द की निरुक्ति चार प्रकार से की है—**बन्धो बन्धनम्, बध्नातीति बन्धनः, बध्यते इति बन्धनम्, बध्यते अनेनेति बन्धनम्।** इनमें प्रथम निरुक्ति के अनुसार बन्ध ही बन्धन सिद्ध होता है। दूसरी निरुक्ति कर्ता के अर्थ में की

---

१. प्रकृतियों की यह प्ररूपणा कुछ अपवादों को छोड़कर—जैसे ज्ञानावरणीय व आनुपूर्वी आदि—प्रायः सब ही जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में प्रथम 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' चूलिका के समान है। दोनों में सूत्र भी प्रायः वे ही हैं। उदाहरण के रूप में इन सूत्रों को देखा जा सकता है—प्रकृति अनुयोगद्वार सूत्र ८९-११४, प्रकृतिसमु० चूलिका सूत्र १५-४१।

सूत्रसंख्या में जो भेद है वह एक ही सूत्र के २-३ सूत्रों में विभक्त हो जाने के कारण हुआ है। जैसे—जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधदो एयविहं ॥९१॥ तस्स संत कम्मं पुण तिविहं सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥९२॥ (प्रकृतिअनु) जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं तस्स संतकम्मं पुण तिविहं—सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि ॥२१॥ (जी० चूलिका १)

गई है, तदनुसार बांधनेवाले का नाम वन्धन है। इससे वन्धन का अर्थ बन्धक भी होता है। तीसरी निरुक्ति (वध्यते यत्) कर्मसाधन में की गई है, तदनुसार जिसे बांधा जाता है वह वन्धन सिद्ध होता है। इस प्रकार वन्धन का अर्थ बांधने के योग्य (वन्धनीय) कर्म होता है। चौथी निरुक्ति करण साधन में की गई है। तदनुसार जिसके द्वारा बाँधा जाता है वह बन्धन है, इस प्रकार से वन्धन का अर्थ वन्धविधान भी हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत वन्धन अनुयोगद्वार में ये चार अवान्तर अनुयोगद्वार हैं—बन्ध, वन्धक, वन्धनीय और वन्धविधान।

१. बन्ध—सर्वप्रथम वन्ध की प्ररूपणा करते हुए उसके ये चार भेद निर्दिष्ट किये हैं—नामवन्ध, स्थापनावन्ध, द्रव्यवन्ध और भाववन्ध। आगे वन्धन नयविभाषणता के अनुसार कौन नय किन वन्धों को स्वीकार करता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय सव वन्धों को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापनावन्ध को स्वीकार नहीं करता। शब्दनय नामवन्ध और भाववन्ध को स्वीकार करता है (२-६)।

आगे नामवन्ध और स्थापनावन्ध के स्वरूप को उसी पद्धति से प्रकट किया गया है, जिस पद्धति से पूर्व में नामस्पर्श और स्थापनास्पर्श तथा नामकर्म और स्थापनाकर्म के स्वरूप को प्रकट किया गया है। तत्पश्चात् द्रव्यवन्ध को स्थगित कर भाववन्ध की प्ररूपणा भी उसी पद्धति से की गई है (७-१२)।

विशेष इतना है कि नो आगमभाववन्ध की प्ररूपणा में उसके ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जीवभाववन्ध और अजीवभाववन्ध। इनमें जीवभाववन्ध तीन प्रकार का है—विपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध, अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध और उभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध। इनमें विपाक प्रत्ययिक जीवभाववन्ध का स्वरूप प्रकट करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि कर्म के उदय के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले औदयिक जीवभावों का नाम विपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध है। ऐसे वे जीवभाव ये हैं—देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, असंयत, अविरत, अज्ञान और मिथ्यादृष्टि। इनके अतिरिक्त इसी प्रकार के और भी कर्मोदयजनित भाव हैं उन सबको विपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध जानना चाहिए[1] (१३-१५)।

ये सव ही जीवभाव विभिन्न कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं। जैसे—देव-मनुष्य गति आदि नामकर्म के उदय से देव-मनुष्यादि। नोकषायस्वरूप स्त्रीवेदोदयादि से स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद।

अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध दो प्रकार का है—औपशमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध और क्षायिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध। इनमें क्रोध-मानादि के उपशान्त होने पर जो अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानों में भाव होते हैं उन्हें औपशमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध कहा गया है। औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्र तथा और भी जो इसी प्रकार के भाव हैं उन सवको औपशमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध निर्दिष्ट

---

१. ये भाव थोड़ी-सी विशेषता के साथ तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—
गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदा:। (१२-६)

किया गया है। इसी प्रकार उक्तक्रोधादि के सर्वथा क्षय को प्राप्त हो जाने पर जो जीवभाव उत्पन्न होते हैं उनके साथ क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र तथा क्षायिक दान-लाभ आदि (नौ क्षायिक लब्धियाँ) एवं अन्य भी इसी प्रकार के जीवभावों को क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहा गया है। विवक्षित कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले एकेन्द्रियलब्धि आदि विविध प्रकार के जीवभावों को तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध निर्दिष्ट किया गया है (१६-१६)।

अजीवभावबन्ध भी तीन प्रकार का है—विपाकप्रत्ययिक अजीवभावबन्ध, अविपाकप्रत्ययिक अजीवभावबन्ध और तदुभयप्रत्ययिक अजीवभावबन्ध। इनमें प्रयोगपरिणत वर्ण व शब्द आदिकों को विपाकप्रत्ययिक अजीवभावबन्ध और विस्रसापरिणत वर्ण व शब्द आदिकों को अविपाकप्रत्ययिक अजीव-भावबन्ध कहा गया है। प्रयोगपरिणत स्कन्धगत वर्णों के साथ जो विस्रसापरिणत स्कन्धों के वर्णों का संयोग या समवाय रूप सम्बन्ध होता है उसे तदुभयप्रत्ययिक अजीव-भावबन्ध कहा गया है। इसी प्रकार शब्द व गन्ध आदि को भी तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध जानना चाहिए (२०-२३)।

आगे पूर्व में जिस द्रव्यबन्ध को स्थगित किया गया था उसकी प्ररूपणा करते हुए उसके ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आगमद्रव्यबन्ध और नो-आगमद्रव्यबन्ध। इनमें आगमद्रव्यबन्ध के स्वरूप को पूर्व पद्धति के अनुसार दिखलाकर नो-आगमद्रव्य-बन्ध के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध। इनमें प्रयोगबन्ध को स्थगित कर विस्रसाबन्ध को सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इनमें भी सादि विस्रसाबन्ध को स्थगित कर अनादि विस्रसाबन्ध के तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—धर्मास्तिक, अधर्मास्तिक और आकाशास्तिक। इनमें भी प्रत्येक तीन प्रकार का है। जैसे—धर्मास्तिक, धर्मास्तिक देश और धर्मास्तिकप्रदेश। अधर्मास्तिक और आकाशास्तिक के भी इसी प्रकार से तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इन तीनों ही अस्तिकायों का परस्पर में प्रदेशबन्ध होता है (२४-३१)।

अनादि विस्रसाबन्ध का स्पष्टीकरण धवला में इस प्रकार किया गया है—धर्मास्तिकाय के अपने समस्त अवयवों के समूह का नाम धर्मास्तिक है। इस प्रकार अवयवी धर्मास्तिकाय का जो अपने अवयवों के साथ बन्ध है उसे धर्मास्तिक बन्ध कहा जाता है। उसके अर्धभाग से लेकर चतुर्थ भाव तक का नाम धर्मास्तिक देश है, उन्हीं धमास्तिक देशों का जो अपने अवयवों के साथ बन्ध है वह धमास्तिक देशबन्ध कहलाता है। उसी के चौथे भाग से लेकर जो अवयव हैं उनका नाम प्रदेश और उनके पारस्परिक बन्ध का नाम धर्मास्तिक प्रदेशबन्ध है। इसी प्रकार का अभिप्राय अधर्मास्तिक और आकाशास्तिक के विषय में रहा है। इन तीनों ही अस्तिकायों के प्रदेशों का जो परस्पर में बन्ध है उस सबका नाम अनादिविस्रसाबन्ध है। कारण यह कि ये तीनों द्रव्य अनादि व प्रदेशों के परिस्पन्द से रहित हैं। इसीलिए उनका बन्ध अनादि होकर स्वाभाविक है।

अब यहाँ जिस सादि विस्रसाबन्ध को पूर्व में स्थगित किया गया था उसकी प्ररूपणा करते हुए विसदृश स्निग्धता और विसदृश रूक्षता को बन्ध—बन्ध का कारण—कहा गया है तथा समान स्निग्धता और समान रूक्षता को भेद—असंयोग का कारण कहा गया है (३२-३३)।

इन दो सूत्रों का स्पष्टीकरण आगे एक गाथा-सूत्र (३४) के द्वारा करते हुए "वेमादाणिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो" इस सूत्र (३२) को पुनः उपस्थित किया गया है।

धवलाकार ने इसका दूसरा अर्थ करके संगति बैठायी है। यथा—पूर्व में 'मादा' का अर्थ सदृशता और 'वेमादा' का अर्थ सदृशता से रहित (विसदृशता) किया गया है। अब यहाँ 'मादा' (मात्रा) का अर्थ अविभागप्रतिच्छेद और 'वे' का अर्थ दो संख्या किया गया है। तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि स्निग्ध पुद्गल दो अविभागप्रतिच्छेदों से अधिक अथवा दो अविभागप्रतिच्छेदों से हीन अन्य स्निग्ध पुद्गलों के साथ वंध को प्राप्त होते हैं, तीन आदि अविभागप्रतिच्छेदों से अधिक अथवा हीन अन्य स्निग्ध पुद्गलों के साथ वे वन्ध को प्राप्त नहीं होते।

इस अर्थ का निर्णय आगे एक अन्य गाथा-सूत्र (३६) द्वारा किया गया है।

इस प्रकार यहाँ परमाणु-पुद्गलों के वन्धविपयक दो मत स्पप्ट हैं। प्रथम मत के अनुसार स्निग्धता अथवा रूक्षता से सदृश (स्निग्ध-स्निग्ध या रूक्ष-रूक्ष) परमाणुओं में वन्ध नहीं होता है। किन्तु दूसरे मत के अनुसार स्निग्धता और रूक्षता से सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकार के पुद्गलपरमाणुओं में परस्पर वन्ध होता है। विशेष इतना है उन्हें स्निग्धता और रूक्षता के अविभागप्रतिच्छेदों में दो-दो से अधिक अथवा हीन होना चाहिए। उदाहरण के रूप में—

दो गुण (भाग) स्निग्ध परमाणु का चार गुण स्निग्ध अन्य परमाणु के साथ वन्ध होता है। इसी प्रकार दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण रूक्ष परमाणु के साथ भी वन्ध होता है। दो गुण स्निग्ध का तीन गुण व पाँच गुण आदि किसी भी स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओं के साथ वन्ध सम्भव नहीं है, उन्हें दो-दो गुणों से ही अधिक होना चाहिए। इसी प्रकार तीन गुण स्निग्ध का पाँच गुण स्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणुओं के साथ वन्ध सम्भव है। इसी प्रकार से आगे चार गुण स्निग्ध या रूक्ष का छह गुणस्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणुओं में परस्पर बन्ध होता है। यह अवश्य है कि जघन्य गुण (सवसे हीन अविभागप्रतिच्छेद युक्त) पुद्गल परमाणु का किसी भी अवस्था में अन्य परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। यह दूसरा मत तत्त्वार्थसूत्र (५,३२-३६) व उसकी व्याख्या स्वरूप सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्तिक में उपलब्ध होता है।[1]

आगे इस सादि विस्रसावन्ध के विपय में अनेक उदाहरण देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि क्षेत्र, काल, ऋतु, अयन (दक्षिणायन-उत्तरायन) और पुद्गल के निमित्त से उपर्युक्त बन्ध परिणाम को प्राप्त होकर जो अभ्र, मेघ, सन्ध्या, विद्युत्, उल्का, कनक (अशनि), दिशादाह, धूमकेतु और इन्द्रायुध के रूप में वन्धनपरिणाम से परिणत होते हैं; इस सवको सादि-विस्रसा-वन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार के अन्य भी जो स्वभावतः उस प्रकार के वन्धनपरिणाम से परिणत होते हैं उनके उस वन्ध को सादि-विस्रसावन्ध समझना चाहिए (३७)।[2]

आगे पूर्व में स्थगित किये गए प्रयोगवन्ध की प्ररूपणा करते हुए उसे कर्मवन्ध और नो-

---

१. इस प्रसंग में तत्त्वार्थवार्तिक में पट्खण्डागम के अन्तर्गत वर्गणाखण्ड का उल्लेख भी इस प्रकार किया गया है—स पाठो नोपपद्यते। कुतः? आर्पविरोधात्। एवं हि उक्तमार्षे वर्गणायां वन्धविधाने नोआगमद्रव्यवन्धविकल्पे सादि-वैस्रसिकवन्धनिर्देशः प्रोक्तः। विपमरूक्षतायां च बन्धः समरूक्षतायां च भेदः इति। तदनुसारेण च सूत्रमुक्तं 'गुणसाम्ये सदृशानाम्'इति"।— त० वा० ५,१६,४ पृ० २४२

२. तत्त्वार्थवार्तिक ५,२४,१३; पृ० २३२

कर्मवन्ध के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। इनमें कर्मवन्ध को स्थगित करके दूसरे नोकर्मवन्ध के इन पाँच भेदों का निर्देश किया है—आलापनवन्ध, अल्लीवनवन्ध, संश्लेपवन्ध, शरीरवन्ध और शरीरीवन्ध। इनमें आलापनवन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि लोहा, रस्सी, वत्र अथवा दर्भ आदि अन्य द्रव्य के निमित्त से जो शकट, यान, युग, गड्डी, गिल्ली, रथ, स्यन्दन, शिविका, गृह, प्रासाद, गोपुर और तोरण इनके तथा और भी जो इस प्रकार के हैं उन सबके वन्ध को आलापनवन्ध कहा जाता है। कटक, कुड्ड, गोवरपीढ, प्राकार, शाटिका तथा और भी जो इस प्रकार के द्रव्य हैं, जिनका अन्य द्रव्यों से अल्लीवित होकर वन्ध होता है वह सव ही अल्लीवनवन्ध कहलाता है। परस्पर में संश्लेष को प्राप्त काष्ठ और लाख का जो वन्ध होता है उसका नाम संश्लेशवन्ध है (३८-४३)।

प्रयोग का अर्थ जीव का व्यापार है, इस जीवव्यापार से जो वन्ध उत्पन्न होता है उसे प्रयोगवन्ध कहते हैं। वह पाँच प्रकार का है—आलापनवन्ध, अल्लीवनवन्ध, संश्लेपवन्ध, शरीरवन्ध और शरीरीवन्ध। लोहा, रस्सी, चमड़ा और लकड़ी आदि के आश्रय से जो उनसे भिन्न गाड़ी, रथ व जहाज आदि अन्य द्रव्यों का बन्ध होता है उसे आलापनवन्ध कहा जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक में इसका उल्लेख आलपनवन्ध के नाम से किया गया है। वहाँ 'लपि' धातु का अर्थ आकर्षण क्रिया किया गया है।[1]

लेपनविशेप से जड़े या जोड़े गये द्रव्यों का जो परस्पर बन्ध होता है उसका नाम अल्लीवन वन्ध है, जैसे—चटाई, भीत व वस्त्र आदि का वन्ध। आलापन वन्ध में जहाँ गाड़ी आदि में लोहे या लकड़ी आदि की कीलें उनसे भिन्न रहती हैं वहाँ इस वन्ध में कीलों आदि के समान द्रव्य नहीं रहते। जैसे—ईंटों व मिट्टी (गारा) आदि के लेप से बननेवाली भीत आदि, तथा तन्तुओं के परस्पर बुनने से बननेवाला वस्त्र। तत्त्वार्थवार्तिक में इनका उल्लेख आलेपनवन्ध के नाम से किया गया है।

संश्लेपवन्ध काष्ठ और लाख आदि चिक्कन-अचिक्कन द्रव्यों का होता है। आलापनवन्ध में जैसे कीलें आदि भिन्न द्रव्य रहती हैं तथा अल्लीवनवन्ध में जैसे—ईंट व मिट्टी व आदि के साथ पानी भी रहता है, क्योंकि उसके विना लेप नहीं होता; इस प्रकार से इस वन्ध में न कीलों आदि के समान कुछ पृथक् द्रव्य रहते हैं और न अल्लीवन वन्ध के समान पानी आदि का उपयोग इसमें होता है, इससे यह संश्लेपवन्ध उन दोनों से भिन्न है।

शरीरवन्ध को औदारिकशरीरवन्ध आदि के भेद से पाँच प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। आगे उनके यथा सम्भव एक दो तीन के संयोग से १५ भेद का भी उल्लेख किया गया है। जैसे—औदारिक-औदारिक-शरीरवन्ध, औदारिक-तेजसशरीरवन्ध, औदारिक-कार्मणशरीर-वन्ध, औदारिक-तैजस-कार्मणशरीरवन्ध, वैक्रियिक-वैक्रियिक-शरीरवन्ध, आदि (४४-६०)।

जीव प्रदेशों का अन्य जीवप्रदेशों के साथ तथा पाँच शरीरों के साथ जो वन्ध हैं उसे शरीरी वन्ध कहते हैं। वह शरीरीवन्ध सादिशरीरीवन्ध और अनादिशरीरीवन्ध के भेद से दो प्रकार का है। इनमें सादिशरीरीवन्ध को शरीरवन्ध के समान जानना चाहिए। जीव के आठ मध्य-प्रदेशों का जो परस्पर में वन्ध है उसका नाम अनादिशरीरीवन्ध है।

आगे पूर्व में स्थगित किए गए कर्मवन्ध के विपय में यह सूचना कर दी गई है कि उसकी

---

१. इन सव शब्दों को धवला में स्पष्ट किया गया है। पु० १४, पृ० ३८-३९

प्ररूपणा 'कर्म' अनुयोगद्वार के समान जानना चाहिए (६१-६४)। इस प्रकार यहाँ वन्ध अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

२. वन्धक—यहाँ प्रारम्भ में 'जो वन्धक हैं उनका यह निर्देश है' ऐसी सूचना करते हुए गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं का नामोल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् यह कहा गया है कि गतिमार्गणा के अनुवाद से नरकगति में नारकी वन्धक हैं, तिर्यंच वन्धक हैं, देव वन्धक हैं, मनुष्य वन्धक भी हैं और अवन्धक भी हैं, सिद्ध अवन्धक हैं। इस प्रकार क्षुद्रकवन्ध के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों की यहाँ प्ररूपणा करना चाहिए। इसी प्रकार आगे महादण्डकों की प्ररूपणा करना चाहिए (६५-६७)।

वन्धक जीव हैं। उन वन्धक जीवों की प्ररूपणा क्षुद्रकवन्ध नाम के दूसरे खण्ड में 'एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व' आदि ग्यारह अनुयोगद्वारों में विस्तार से की गई है। ग्रन्थकर्ता ने यहाँ उसकी ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि वन्धकों की प्ररूपणा जिस प्रकार क्षुद्रकवन्ध में की गई है उसी प्रकार यहाँ उनकी प्ररूपणा करना चाहिए। यहाँ ऊपर जो ६५-६६ ये दो सूत्र कहे गये हैं वे क्षुद्रकवन्ध में उसी रूप में अवस्थित हैं।[1] विशेषता यह रही है कि यहाँ ६६वें सूत्र में 'सिद्धा अबंधा' के आगे प्रसंगवश 'एवं खुद्दाबंधएक्कारसअणियोगद्दारं णेयव्वं' इतना और निर्देश कर दिया गया है तथा उसके पश्चात् ६७वें सूत्र में 'एवं महादंडया णेयव्वा'[2] इतनी और भी सूचना कर दी गई है। इस सूचना के साथ इस वन्धक अनुयोगद्वार को समाप्त कर दिया गया है।

३. वन्धनीय—यहाँ सर्वप्रथम 'वन्धनीय' को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जिनका वेदन या अनुभवन किया जाता है वे वेदनास्वरूप पुद्गल स्कन्धरूप हैं, और वे स्कन्ध वर्गणा-स्वरूप हैं। 'वन्धनीय' से यहाँ वर्गणाएँ अभिप्रेत हैं। इस प्रकार यहाँ इस 'वन्धनीय' अनुयोग-द्वारों में २३ प्रकार की वर्गणाओं को वर्णनीय सूचित किया गया है (६८)।

तदनुसार उन वर्गणाओं की यहाँ विस्तार से प्ररूपणा की गई है। इसी कारण से इस खण्ड के अन्तर्गत पूर्वोक्त स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अनुयोगद्वारों के साथ वन्ध और वन्धक अधिकारों को भी गौण करके इन वन्धनीय वर्गणाओं की प्रमुखता से इस पाँचवें खण्ड का वर्गणा नाम प्रसिद्ध हुआ है। चौथे अधिकारस्वरूप वन्धविधान की प्ररूपणा महावन्ध नामक आगे के छठे खण्ड में विस्तार से की गई है।

इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ में उन वर्णनीय वर्गणाओं के परिज्ञान में प्रयोजनीभूत होने से इन आठ अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है—वर्गणा, वर्गणाद्रव्यसमुदाहार, अनन्तरोप-निधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पवहुत्व। इनमें जो प्रथम वर्गणा अनुयोगद्वार है उसमें ये १६ अनुयोगद्वार हैं—वर्गणानिक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणा-प्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओज युग्मानुगम, वर्गणाक्षेत्रानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाकालानुगम, वर्गणा-अन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणा-उपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणा-अल्पवहुत्व (६९-७०)।

---

१. सूत्र २, १, १-७ (पु ७, पृ० १-८)।
२. 'क्षुद्रकवन्ध' के अन्त में पृ० ५७५-९४ में महादण्डक भी है।

वर्गणा अभ्यन्तर और वाह्य के भेद से दो प्रकार की है। इनमें वाह्य वर्गणा की प्ररूपणा आगे की जाने वाली है। अभ्यन्तर वर्गणा दो प्रकार की है—एकश्रेणि वर्गणा और नानाश्रेणि वर्गणा। इनमें से उपर्युक्त १६ अनुयोगद्वार एक श्रेणिवर्गणा में ज्ञातव्य हैं। अब उन सोलह अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्रमशः वर्गणाओं का परिचय कराया जाता है—

वर्गणानिक्षेप—यह छह प्रकार का है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा और भाववर्गणा (७१)।

वर्गणानयविभाषणता के अनुसार कौन नय किन वर्गणाओं को स्वीकार करते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय सब वर्गणाओं को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापना वर्गणा को स्वीकार नहीं करता। शब्दनय नामवर्गणा और भाववर्गणा को स्वीकार करता है (७२-७४)।

पूर्व में वर्गणाविषयक ज्ञान कराने के लिए जिन वर्गणा और वर्गणाद्रव्य समुदाहार आदि आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है उनमें से प्रथम वर्गणा अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट १६ अनुयोगद्वारों में से वर्गणानिक्षेप और वर्गणानयविभाषणता इन दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करके पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों में से दूसरे वर्गणाद्रव्यसमुदाहार की प्ररूपणा करते हुए उसमें इन १४ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—

वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणा-ओजयुग्मानुगम, वर्गणाक्षेत्रानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाकालानुगम, वर्गणा-अन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणा-उपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणा-अल्पबहुत्व (७५)।

इसकी व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि १६ अनुयोगद्वारों से वर्गणाविषयक प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा करके उनमें केवल पूर्व के दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गई है, शेष १४ अनुयोगद्वारों के आश्रय से उस वर्गणाविषयक प्ररूपणा नहीं की गई है। इस प्रकार उनकी प्ररूपणा न करके वर्गणाद्रव्यसमुदाहार की प्ररूपणा क्यों की जा रही है। इस शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वर्गणाप्ररूपणा अनुयोगद्वार वर्गणाओं की एक श्रेणि का निरूपण करता है, परन्तु वर्गणाद्रव्यसमुदाहार वर्गणाओं की नाना और एक दोनों श्रेणियों का निरूपण करता है, इसलिए चूंकि वर्गणाद्रव्य समुदाहार प्ररूपणा वर्गणाप्ररूपणा की अविनाभाविनी है, इसीलिए वर्गणाविषयक उन चौदह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा न करके वर्गणाद्रव्यसमुदाहार की प्ररूपणा को प्रारम्भ किया जा रहा है; अन्यथा पुनरुक्त दोष का होना अनिवार्य था।

आगे यथाक्रम से उस वर्गणाद्रव्य समुदाहार में निर्दिष्ट उन चौदह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की जा रही है—

१. **वर्गणाप्ररूपणा**—इस अनुयोगद्वार में (१) एकप्रदेशिक परमाणु-पुद्गलवर्गणा, द्वि-प्रदेशिक परमाणुपुद्गलवर्गणा, इसी प्रकार त्रिप्रदेशिक, चतुःप्रदेशिक आदि (२) संख्यातप्रदेशिक, (३) असंख्यात प्रदेशिक, परीतप्रदेशिक, अपरीतप्रदेशिक, (४) अनन्तप्रदेशिक, अनन्तानन्त प्रदेशिक परमाणुपुद्गलवर्गणा, अनन्तानन्तप्रदेशिक वर्गणाओं के आगे, (५) आहारद्रव्यवर्गणा, (६) अग्रहण वर्गणा, (७) तैजसद्रव्यवर्गणा, (८) अग्रहणद्रव्यवर्गणा, (९) भाषावर्गणा, (१०) अग्रहणद्रव्य-वर्गणा, (११) मनोद्रव्यवर्गणा, (१२) अग्रहणद्रव्यवर्गणा, (१३) कार्मणद्रव्यवर्गणा,

(१४) ध्रुवस्कन्धवर्गणा, (१५) सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणा, (१६) ध्रुवशून्यवर्गणा, (१७) प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा, (१८) ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, (१९) बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा, (२०) ध्रुवशून्य वर्गणा, (२१) सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, (२२) ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा और (२३) महास्कन्धवर्गणा; इन वर्गणाओं का उल्लेख किया गया है (७६-१७)।

इनमें द्वि-त्रि प्रदेशिक आदि वर्गणाएँ संख्यातप्रदेशिक वर्गणा के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार परीतप्रदेशिक, अपरीतप्रदेशिक और अनन्तानन्तप्रदेशिक ये तीन अनन्तप्रदेशिक वर्गणा के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार इन पाँच को उपर्युक्त वर्गणाओं में से कम कर देने पर शेष एकप्रदेशिक वर्गणा, संख्यातप्रदेशिक वर्गणा, असंख्यातप्रदेशिक वर्गणा, अनन्तप्रदेशिक वर्गणा व आहारद्रव्यवर्गणा आदि २३ वर्गणाएँ रहती हैं।

२. वर्गणानिरूपणा—इस अनुयोगद्वार में पूर्वोक्त एकप्रदेशिक आदि पुद्गलवर्गणाओं में से प्रत्येक क्या भेद से होती है, संघात से होती है या भेद-संघात से होती है; इसका विचार किया गया है। यथा—

एक प्रदेशिकवर्गणा द्विप्रदेशिक आदि ऊपर की वर्गणाओं के भेद से होती है। द्विप्रदेशिक वर्गणा ऊपर की द्रव्यों के भेद से और नीचे की द्रव्यों के संघात से तथा स्वस्थान में भेद-संघात से होती है। त्रिप्रदेशी चतुःप्रदेशी आदि संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी, परीतप्रदेशी, अपरीतप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी और अनन्तानन्तप्रदेशी पुद्गलद्रव्य वर्गणाएँ ऊपर की द्रव्यों के भेद से, नीचे की द्रव्यों के संघात से और स्वस्थान की अपेक्षा भेद-संघात से होती हैं, इत्यादि (९८-११६)। इस प्रकार यह दूसरा 'वर्गणानिरूपणा' अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

पूर्वनिर्दिष्ट (७५) वर्गणाप्ररूपणा-वर्गणानिरूपणादि १४ अनुयोगद्वारों में से मूलग्रन्थकर्ता द्वारा वर्गणाप्ररूपणा और वर्गणानिरूपणा इन दो अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की गई है, शेष वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम आदि १२ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उन्होंने नहीं की है।

इस पर धवला में यह शंका उठाई गई है कि सूत्रकार ने इन दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करके शेष बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा क्यों नहीं की है। अजानकार होने से उन्होंने उनकी प्ररूपणा न की हो, यह तो सम्भव नहीं है; क्योंकि ग्रन्थकर्ता भगवान् भूतबलि चौबीस अनुयोगद्वाररूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में पारंगत रहे हैं, इस कारण वे उनके विषय में अजानकर नहीं हो सकते। विस्मरणशील होकर उन्होंने उनकी प्ररूपणा न की हो, यह भी नहीं हो सकता। कारण यह कि प्रमाद से रहित होने के कारण उनके विस्मरणशीलता असम्भव है।

इस शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि पूर्वाचार्यों के व्याख्यानक्रम के ज्ञापनार्थ उन्होंने उन बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं की है।

इस पर पुनः यह शंका की गई है कि अनुयोगद्वार वहीं पर वहाँ के समस्त अर्थ की प्ररूपणा संक्षिप्त वचनकलाप से क्यों करते हैं। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि वचनयोगरूप आस्रवद्वार से आने-वाले कर्मों के निरोध के लिए संक्षिप्त वचनकलाप से वहाँ के समस्त अर्थ की प्ररूपणा की जाती है।

इस शंका-समाधान के साथ आगे धवलाकार ने कहा है कि पूर्वोक्त दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा देशामर्शक है, इससे हम उन शेष बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करते हैं, यह कहते हुए उन्होंने आगे धवला में यथाक्रम से उन वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम व वर्गणासान्तरनिरन्तरा-

नुगम आदि बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है।[1]

प्रसंग के अन्त में धवलाकार ने कहा है कि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से तेईस वर्गणाओं की प्ररूपणा करने पर अभ्यन्तर वर्गणा समाप्त हो जाती है।

पूर्व में धवलाकार ने वर्गणा के अभ्यन्तर वर्गणा और बाह्य वर्गणा इन दो भेदों का निर्देश करते हुए कहा था कि जो पाँच शरीरों की बाह्य वर्गणा है उसका कथन आगे चार अनुयोगद्वारों के आश्रय से करेंगे।

बाह्य वर्गणा

'आगे इस बाह्य वर्गणा की अन्य प्ररूपणा की जाती है', ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए उसकी प्ररूपणा में इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—शरीरीशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा और विस्रसोपचयप्ररूपणा (११७-१८)।

शरीरी का अर्थ जीव है। जहाँ पर जीवों के प्रत्येक और साधारण इन दो प्रकार के शरीरों की अथवा प्रत्येक व साधारण लक्षणवाले जीवों के इन शरीरों की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम शरीरीशरीर प्ररूपणा है।

जिसमें पाँचों शरीरों के प्रदेशप्रमाण, उन प्रदेशों के निषेकक्रम और प्रदेशों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम शरीर-प्ररूपणा है।

जहाँ पर पाँचों शरीरों के विस्रसोपचय सम्बन्ध के कारणभूत स्निग्ध और रूक्ष गुणों की तथा औदारिक आदि पाँच शरीरगत परमाणुविषयक अविभागप्रतिच्छेदों की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम शरीरविस्रसोपचय प्ररूपणा है।

जीव से रहित हुए उन्हीं परमाणुओं के विस्रसोपचय की प्ररूपणा जहाँ की जाती है उसका नाम विस्रसोपचय प्ररूपणा है।

१. शरीरीशरीरप्ररूपणा

यहाँ सर्वप्रथम प्रत्येक शरीर और साधारणशरीर इन दो प्रकार के जीवों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है। आगे कहा गया है कि जो साधारण शरीर जीव हैं वे नियम से वनस्पतिकायिक ही होते हैं, शेष जीव प्रत्येकशरीर होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वनस्पतिकायिक साधारणशरीर भी होते हैं और प्रत्येकशरीर भी, किन्तु शेष जीव प्रत्येकशरीर ही होते हैं। आगे साधारण जीवों के लक्षण को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जिनका आहार—शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण—तथा आन-पान (उच्छ्वास व निःश्वास) का ग्रहण साधारण (सामान्य) होता है वे साधारण जीव कहलाते हैं। उनका यह साधारण लक्षण कहा गया है। एक जीव का अनुग्रहण—परमाणु पुद्गलों का ग्रहण—बहुत से साधारण जीवों का होता है तथा बहुतों का अनुग्रहण इस एक जीव का भी होता है। एक साथ उत्पन्न होनेवाले उन जीवों के शरीर की निष्पत्ति एक साथ होती है तथा अनुग्रहण और उच्छ्वास-निःश्वास भी उनका साथ-साथ होता है। जिस शरीर में स्थित एक जीव मरता है उसमें स्थित अनन्त जीवों का मरण होता है। जिस निगोदशरीर में एक जीव उत्पन्न होता है

१. धवला पु० १४, पृ० १३५-२२३

उसमें अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है। बादर-निगोद जीव और सूक्ष्म-निगोद जीव परस्पर-बद्ध (समवेत) और स्पष्ट होकर रहते हैं। वे अनन्त जीव हैं जो मूली, थूहर और अदरख आदि के रूप में रहते हैं। अनन्त जीव ऐसे हैं जिन्होंने कभी त्रसपर्याय को नहीं प्राप्त किया है। वे संक्लेश की अधिकता से कलुषित रहते हुए निगोद स्थान को नहीं छोड़ते हैं। एक निगोद शरीर में अवस्थित द्रव्यप्रमाण से देखे गये (सर्वज्ञ के द्वारा द्रव्यप्रमाण से निर्दिष्ट) जीव सब ही अतीत काल में सिद्ध हुए जीवों से अनन्तगुणे हैं (११९-२८)।

एक ही जीव का जो शरीर होता है वह प्रत्येक-शरीर कहलाता है, इस प्रकार के प्रत्येक-शरीर से संयुक्त जीवों को प्रत्येकशरीर कहा जाता है। बहुत जीवों का जो एक शरीर होता है उसका नाम साधारण शरीर है, उस साधारण शरीर में जो जीव रहते हैं वे साधारण-शरीर कहलाते हैं। अथवा जिन जीवों का प्रत्येक (पृथग्भूत) शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर समझना चाहिए। इनमें जो साधारण शरीरवाले जीव हैं वे नियम से वनस्पतिकायिक होते हैं।

वनस्पतिकायिकों से निगोद जीवों की भिन्नता—इसका अभिप्राय यह हुआ कि सब निगोद जीव वनस्पतिकाय के अन्तर्गत हैं, उससे बाह्य नहीं हैं। परन्तु प्रस्तुत षट्खण्डागम के ही द्वितीय खण्ड क्षुद्रकबन्ध में उन्हें वनस्पतिकायिकों से पृथग्भूत सूचित किया गया है। इस क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में अन्तिम अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार है। इनमें यथा-क्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। कायमार्गणा में उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा चार प्रकार से की गई है। वहाँ इस प्रसंग में सूत्र ५८-५९, ७४-७५ और १०५-६ में वनस्पतिकायिकों से निगोद जीवों को विशेष अधिक दिखलाया गया है।[1]

वहाँ सूत्र ७५ की व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका की गई है कि यह सूत्र निरर्थक है, क्योंकि वनस्पतिकायिकों से निगोद जीव पृथक् नहीं पाये जाते। अन्यत्र वनस्पतिकायिकों से पृथग्भूत पृथिवीकायिकादियों में निगोद जीव नहीं हैं, ऐसा आचार्यों का उपदेश भी है।

इस शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि तुम्हारा कहना सत्य हो सकता है, क्योंकि बहुत से सूत्रों में वनस्पतिकायिकों के आगे निगोद पद नहीं पाया जाता, इसके विपरीत वहाँ निगोद जीवों के आगे वनस्पतिकायिकों का पाठ पाया जाता है तथा वह बहुत से आचार्यों को सम्मत भी है। किन्तु यह सूत्र ही नहीं है, ऐसा अवधारण करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा तो वह कह सकता है जो चौदह पूर्वों का धारक अथवा केवलज्ञानी हो। परन्तु वर्तमानकाल में वे नहीं हैं, और न उनके पास सुनकर आये हुए विशिष्ट ज्ञानीजन भी इस समय पाये जाते हैं। इसलिए इसे ठप्प करके जो आचार्य सूत्र की आसादना से भयभीत हैं उन्हें दोनों ही सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए।

इस पर वहाँ पुनः यह शंका की गई है कि निगोद जीवों के आगे वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर जीवों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं, परन्तु वनस्पतिकायिकों

---

१. वणप्फदिकाइया विसेसाहिया। णिगोदजीवा विसेसाहिया। सूत्र ५८-५९, ७४-७५ व १०५-६ (पु० ७, पृ० ५३५, ५३९ और ५४९)

के आगे निगोदजीव किससे अधिक हो सकते हैं।

इसके समाधान में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि 'वनस्पतिकायिक' यह कहने पर बादरनिगोद जीवों से प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जीवों को नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आधेय से आधार में भेद देखा जाता है।

इस स्थिति में 'वनस्पतिकायिकों से निगोद जीव विशेष अधिक हैं' ऐसा कहने पर बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर जीवों से और बादर निगोदप्रतिष्ठित जीवों से वे विशेष अधिक हैं, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।[1]

धवलाकार आ० वीरसेन के द्वारा जो उपर्युक्त शंका-समाधान किया गया है वह सूत्र की आसादना के भय से ही किया गया है, अन्यथा जैसा कि उस शंका-समाधान से स्पष्ट है, उन्हें स्वयं भी वनस्पतिकायिकों से निगोदजीवों की भिन्नता अभीष्ट नहीं रही है।

वे 'वनस्पतिकायिक विशेष अधिक हैं' इस सूत्र (७४) की व्याख्या में भी यह स्पष्ट कहते हैं कि सब आचार्यों से सम्मत ग्रन्थ सूत्रों में यहीं पर यह अल्पबहुत्व समाप्त हो जाता है व आगे अन्य अल्पबहुत्व प्रारम्भ होता है, परन्तु इन सूत्रों में वह अल्पबहुत्व यहाँ समाप्त नहीं हुआ है[2]।

प्रकृत विचार— इस प्रकार वनस्पतिकायिकों से निगोदजीवों के भेद-अभेद का प्रासंगिक विचार करके आगे उन निगोदजीवों के लक्षण आदि का विचार किया जाता है। मूल सूत्र में साधारण जीवों का सामान्य लक्षण साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास-निःश्वास कहा गया है। शरीर के योग्य पुद्गलस्कन्धों के ग्रहण का नाम आहार है। एक जीव के आहार ग्रहण करने पर उस शरीर में अवस्थित अन्य सब ही जीव आहार को ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार एक जीव के उच्छ्वास-निःश्वास को ग्रहण करने पर वे सब ही जीव उच्छ्वास-निःश्वास को ग्रहण करते हैं। यही उनका साधारण या सामान्य लक्षण है। अभिप्राय यह है कि जिस शरीर में पूर्व में उत्पन्न हुए निगोद जीव सबसे जघन्य पर्याप्ति-काल में शरीर, इन्द्रिय, आहार और आन-पान इन चार पर्याप्तियों से पर्याप्त होते हैं उस शरीर में उनके साथ उत्पन्न हुए मन्द योगवाले निगोदजीव भी उसी काल में उन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं। यदि प्रथम उत्पन्न हुए जीव दीर्घ काल में उन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं तो उस शरीर में पीछे उत्पन्न जीव उसी काल में उन पर्याप्तियों को पूर्ण करते हैं। उस आहार से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह पीछे उत्पन्न हुए जीवों के प्रथम समय मे ही पायी जाती है। इसी से वह सब जीवों का सामान्य आहार होता है। जिस कारण सब जीवों के परमाणु पुद्गलों का ग्रहण एक साथ होता है, इसी कारण उनके आहार, शरीर, इन्द्रिय और उच्छ्वास-निःश्वास की उत्पत्ति एक साथ होती।

जिस शरीर में एक जीव मरता है उसमें अवस्थित अनन्त जीव मरते हैं। इसी प्रकार जिस निगोदशरीर में एक जीव उत्पन्न होता है उस शरीर में अनन्त ही जीव उत्पन्न होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि एक निगोदशरीर में एक, संख्यात व असंख्यात जीव नहीं उत्पन्न

---

१. धवला पु० ७, पृ० ५३९-४१ (शंका-समाधान का यह प्रसंग आगे द्रष्टव्य है)।

२. पु० ७, पृ० ५४९

होते हैं; किन्तु अनन्त ही उत्पन्न होते हैं।

निगोदजीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। एक शरीर में स्थित बादर निगोदजीव उस शरीर में स्थित अन्य बादर-निगोद जीवों के साथ परस्पर में समवेत व एक दूसरे के सब अवयवों से स्पृष्ट होकर रहते हैं। ये बादर-निगोदजीव मूली व थूहर आदि प्रत्येकशरीर जीवों के रूप में रहते हैं। इन मूली आदि के शरीर उन बादर निगोदजीवों के योनिभूत हैं।

इसी प्रकार एक शरीर में स्थित सूक्ष्म-निगोदजीव परस्पर में समवेत व एक दूसरे के सभी अवयवों से स्पष्ट होकर रहते हैं। इन सूक्ष्म-निगोदजीवों की योनि नियत नहीं है; उनकी योनि जल, स्थल व आकाश में सर्वत्र उपलब्ध होती है।

इन निगोद जीवों में ऐसे अनन्तजीव हैं जिन्हें मिथ्यात्व आदिरूप संक्लिष्ट परिणाम से कलुषित रहने के कारण कभी त्रसपर्याय नहीं प्राप्त हुई। इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यदि ऐसे कलुषित परिणामवाले अनन्त जीव न होते तो संसार में भव्य जीवों के अभाव का प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होता। और जब भव्य जीव न रहते तब उनके प्रतिपक्षभूत अभव्य जीवों के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होनेवाला था। इस प्रकार से संसारी जीवों का ही अभाव हो सकता था। इससे सिद्ध है कि ऐसे संक्लिष्ट परिणामवाले अनन्त जीव हैं, जिन्होंने अतीत काल में कभी त्रसपर्याय को प्राप्त नहीं किया। इसे आगे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जिनेन्द्रदेव द्वारा देखे गये अथवा प्ररूपित एक ही निगोदशरीर में जो अनन्त जीव रहते हैं वे समस्त अतीत काल में सिद्ध हुए जीवों से अनन्तगुणे हैं। इससे सिद्ध है कि सब अतीत काल के द्वारा एक निगोदशरीर में स्थित जीव ही सिद्ध नहीं हो सकते हैं। आगे वे कहते हैं कि आय से रहित जिन संख्याओं की व्यय के होने पर समाप्ति होती है उनका नाम संख्यात व असंख्यात है। किन्तु आय से रहित जिन संख्याओं का संख्यात व असंख्यातवें रूप में व्यय के होने पर भी कभी व्युच्छेद नहीं होता उनका नाम अनन्त है। इसके अतिरिक्त सब जीवराशि अनन्त है, इसलिए उसका व्युच्छेद नहीं हो सकता; अन्यथा अनन्तता के विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है।

इन निगोदों में स्थित जीव दो प्रकार के होते हैं—चतुर्गतिनिगोद और नित्यनिगोद। जो निगोद जीव देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर फिर से निगोदों में प्रविष्ट हुए हैं व वहाँ रह रहे है उनका नाम चतुर्गतिनिगोद है तथा जो सदा काल निगोदों में ही रहते हैं वे नित्यनिगोद कहलाते हैं। अतीत काल में त्रसपर्याय को प्राप्त हुए जीव यदि अधिक से अधिक हों तो वे अतीत काल से असंख्यातगुणे ही होते हैं, जबकि एक ही निगोद शरीर में स्थित जीव अतीत काल में सिद्ध होने वाले जीवों से अनन्तगुणे होते हैं। इससे सिद्ध है कि ऐसे अनन्त निगोद जीव हैं जिन्होंने कभी त्रसपर्याय को प्राप्त नहीं किया।

प्रकृत शरीरीशरीर प्ररूपणा में इन आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है— सत् प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम, और अल्पबहुत्वानुगम। इनमें सत्प्ररूपणा के आश्रय से ओघ और आदेश का निर्देश करते हुए कहा गया है कि ओघ की अपेक्षा जीव दो शरीरवाले, तीन शरीरवाले, चार शरीरवाले और शरीर से रहित हुए हैं (१२९-३१)।

विग्रह गति में वर्तमान चारों गतियों के जीव तैजस और कार्मण इन दो शरीरों से युक्त

होते हैं। तीन शरीरवाले औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों से अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों से सहित होते हैं। चार शरीर वाले औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण इन चार शरीरों से अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन चार शरीरों से युक्त होते हैं। जिनके शरीर नहीं है वे मुक्ति को प्राप्त जीव अशरीर हैं।

इसी पद्धति से आगे आदेश की अपेक्षा क्रम से गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में भी दो, तीन और चार शरीरवाले तथा शरीर से रहित जीवों का विचार किया गया है (१३२-६७)। इस प्रकार से सत्प्ररूपणा समाप्त हुई है।

इस प्रकार सूत्र-निर्दिष्ट उपर्युक्त आठ अनुयोगद्वारों में से सूत्रकार ने एक सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार की प्ररूपणा की है। आगे द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम और भावानुगम इन छह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा न करके उन्होंने अन्तिम अनुयोगद्वार अल्पबहुत्वानुगम की प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी है।

इस विषय में धवलाकार ने कहा है कि यह अनुयोगद्वार (सत्प्ररूपणा) शेष छह अनुयोग-द्वारों का आश्रयभूत है, इसलिए उन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा यहाँ की जाती है। यह कहते हुए उन्होंने धवला में उन द्रव्यप्रमाणानुगम आदि छह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा स्वयं की है।[1]

उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए ओघ और आदेश की अपेक्षा उसकी प्ररूपणा दो प्रकार से है, यह कहकर सूत्रकार द्वारा प्रथमतः ओघ की अपेक्षा उसकी प्ररूपणा की गई है। यथा—ओघ की अपेक्षा चार शरीरवाले सबसे स्तोक, शरीररहित उनसे अनन्तगुणे, दो शरीर वाले उनसे अनन्तगुणे और तीन शरीरवाले जीव उनसे अनन्तगुणे हैं (१६८-७२)।

आगे इसी पद्धति से आदेश की अपेक्षा भी गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है (१७२-२३५)।

इस प्रकार इस अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार की प्ररूपणा करके प्रकृत शरीरीशरीर प्ररूपणा अनुयोगद्वार को समाप्त किया गया है।

२. शरीरप्ररूपणा

इसमें छह अनुयोगद्वार हैं—नामनिरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेकप्ररूपणा, गुणकार, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व (२३६)।

१. नामनिरुक्ति के आश्रय से औदारिक आदि पाँच शरीरों के वाचक शब्दों के निरुक्तयर्थ को प्रकट किया गया है (२३७-४१)। जैसे—

'उरालमिदि ओरालियं' यह ओरालिय (औदारिक) शब्द की निरुक्ति है। उराल या उदार शब्द का अर्थ स्थूल होता है। 'इति' शब्द के हेतु या विवक्षा में घटित होने से 'उराल' को ही 'ओराल (औदारिक)' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि उदार या स्थूल शरीर का नाम औदारिक है। यह स्थूलता अवगाहना की अपेक्षा है। अन्य शरीरों की अपेक्षा औदारिक शरीर की अवगाहना अधिक है, जो महामत्स्य के पाँच सौ योजन विस्तार और एक हजार योजन आयाम के रूप में उपलब्ध होती है।

---

१. धवला पु० १४, पृ० २४८-३०१

सर्वार्थसिद्धि (२-३६) में उक्त औदारिक शरीर की निरुक्ति इस प्रकार की गई है—'उदारे भवमौदारिकम्, उदारं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्'। अभिप्राय यही है कि जो शरीर स्थूल होता है अथवा जिसका प्रयोजन स्थूल होता है उसका नाम औदारिक शरीर है। आगे इसी प्रकार से वैक्रियिक आदि अन्य चार शब्दों की भी निरुक्ति की गई है।

२. **प्रदेशप्रमाणानुगम** में औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशप्रमाण को स्पष्ट करते हुए पाँचों शरीरों में से प्रत्येक के प्रदेशाग्र का प्रमाण अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग मात्र कहा गया है (२४२-४४)।

३. **निषेक प्ररूपणा** में ज्ञातव्य के रूप में इन छह अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—समुत्कीर्तना, प्रदेश प्रमाणानुगम, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, प्रदेशविरच और अल्पबहुत्व (२४५)।

समुत्कीर्तना—यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि यथासम्भव औदारिक आदि शरीरों में विवक्षित शरीरवाले जीव ने जिस प्रदेशाग्र को ग्रहण किया है वह कितने काल रहता है। यथा—औदारिक शरीरवाले जीव ने प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ होकर औदारिक शरीर के रूप में जिस प्रदेशाग्रको बाँधा है उसमें से कुछ एक समय जीव के साथ रहता है, कुछ दो समय रहता है, कुछ तीन समय रहता है, इस क्रम से वह औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तीन पल्योपम काल तक रहता हैं। यही अवस्था वैक्रियिक व आहारक शरीर की भी है। विशेष इतना है कि वैक्रियिक शरीर के रूप में ग्रहण किया गया वह प्रदेशाग्र, उसी क्रम से उसकी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तेतीस सागरोपम तक और आहारक के रूप में ग्रहण किया गया वह प्रदेशाग्र उसकी स्थिति प्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल रहता है (२४६)।

तैजस शरीर के रूप में ग्रहण किया गया प्रदेशाग्र उसी क्रम से रहता हुआ उत्कृष्ट रूप में छयासठ सागरोपम काल तक रहता है। कार्मणशरीर के रूप में बाँधे गये प्रदेशाग्र में से कुछ एक समय अधिक आवलिकाल तक, कुछ दो समय अधिक आवलि काल तक, कुछ तीन समय अधिक आवलि काल तक, इस क्रम से वह उत्कृष्ट रूप में कर्मस्थिति काल तक रहता है (२४७-४८)।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि तैजस और कार्मण शरीरों में प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ होने का नियम नहीं है। कारण यह कि इन दोनों शरीरों का सम्बन्ध जीव के साथ अनादि काल से है, अतएव जहाँ कहीं भी स्थापित करके उनकी प्रदेशरचना उपलब्ध होती है।

प्रदेशप्रमाणानुगम—यहाँ प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ औदारिक शरीरवाले, वैक्रियिक शरीरवाले व आहारक शरीरवाले जीव के द्वारा प्रथमादि समयों में बाँधा गया प्रवेशाग्र कितना होता है; इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह अभव्यजीवों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होता है। यह प्रथमादि समयों का क्रम यथाक्रम से अपने-अपने शरीर की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तीन पल्य, तेतीस सागरोपम, अन्तर्मुहूर्त तक समझना चाहिए (२४९-५५)।

यही क्रम तैजस और कार्मण शरीरों का है। विशेष इतना है कि उनके प्रदेशाग्र के बाँधे जाने का काल प्रथमादि समय से लेकर उत्कृष्ट रूप में क्रम से छयासठ सागरोपम और कर्मस्थिति

काल है (२५६-६२)।

अनन्तरोपनिधा—उक्त पाँच शरीरों में से विवक्षित शरीरवाले जीव के द्वारा पूर्वोक्त क्रम से अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति तक बाँधा गया प्रदेशाग्र अभव्यजीवों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होकर भी उत्तरोत्तर प्रथम-द्वितीयादि समयों में अपेक्षाकृत हीनाधिक कैसा होता है, इसका स्पष्टीकरण इस अनुयोगद्वार में किया गया है (२६३-७१)।

परम्परोपनिधा—पूर्वोक्त क्रम से अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति तक बाँधा गया वह प्रदेशाग्र उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त जाकर दुगुणा-दुगुणा हीन होता जाता है, इत्यादि का स्पष्टीकरण इस परम्परोपनिधा अनुयोगद्वार में किया गया है (२७२-८६)।

प्रदेशविरच—यहाँ सर्वप्रथम सोलह पदवाले दण्डक के आश्रय से एकेन्द्रिय व सम्मूर्च्छिम आदि जीवों को लक्ष्य करके स्वस्थान व परस्थान में जघन्य और उत्कृष्ट पर्याप्तनिवृत्ति व निर्वृत्ति-स्थानों में उत्तरोत्तर होनेवाली अधिकता के क्रम का विचार किया गया है (२८७-३१६)।

इसी प्रसंग में आगे जघन्य अग्रस्थिति, अग्रस्थिति विशेष, अग्रस्थितिस्थान, उत्कृष्ट अग्रस्थिति, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों के आश्रय से प्रकृत औदारिकादि शरीरों से सम्बन्धित अग्रस्थिति और अग्रस्थिति विशेष आदि के प्रमाण का विचार किया गया है (३२०-८९)।

जघन्य निर्वृत्ति के अन्तिम निषेक का नाम अग्र और उसकी जघन्य स्थिति का नाम अग्रस्थिति है।

तीन पल्योपमों के अन्तिम निषेक का नाम उत्कृष्ट अग्र और उसकी तीन पल्योपम प्रमाण स्थिति का नाम उत्कृष्ट अग्रस्थिति है।

उत्कृष्ट अग्रस्थिति में से जघन्य अग्रस्थिति के कम कर देने पर अग्रस्थिति-विशेष का प्रमाण होता है।

यहाँ प्रदेशविरच अनुयोगद्वार समाप्त हो गया है।

निषेकअल्पबहुत्व में जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्य-उत्कृष्ट पदविषयक तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से औदारिकादि शरीर सम्बन्धी एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तर और नाना गुणहानिस्थानान्तरों के अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है (३९०-४०६)।

इस प्रकार समुत्कीर्तनादि छह अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर निषेकप्ररूपणा समाप्त हुई है।

४. गुणकार—यह शरीरप्ररूपणा के अन्तर्गत छह अनुयोगद्वारों में चौथा है। इसमें जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्य-उत्कृष्ट इन तीन पदों के आश्रय से औदारिकादि पाँच शरीरों सम्बन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्य-उत्कृष्ट गुणकार की प्ररूपणा की गई है (४०७-१५)।

५. पदमीमांसा—यह उस शरीरप्ररूपणा का पाँचवाँ अनुयोगद्वार है। यहाँ जघन्यपद और उत्कृष्ट पद के आश्रय से औदारिकादि शरीर सम्बन्धी जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशाग्र के स्वामी का विचार किया गया है (४१६-९६)। यथा—

यद्यपि सूत्र में प्रथमतः जघन्य पद का निर्देश किया गया है, पर प्ररूपणा पहले उत्कृष्ट पद के आश्रय से की गई है। उसे प्रारम्भ करते हुए प्रथमतः औदारिक शरीर का उत्कृष्ट प्रदेशाग्र किसके होता है, इसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि वह तीन पल्योपम की स्थिति

वाले अन्यतर उत्तरकुरु और देवकुरु के मनुष्य के होता है (४१७-१८), इतना सामान्य से कहकर आगे ग्यारह (४१९-२९) सूत्रों में उसके लक्षणों को प्रकट किया गया है।

वैक्रियिक शरीर का उत्कृष्ट प्रदेशाग्र किसके होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया कि वह बाईस सागरोपम प्रमाण स्थितिवाले अन्यतर आरण-अच्युत कल्पवासी देव के होता है (४३७-३२), यह कहते हुए आगे ग्यारह (४३३-४६) सूत्रों में उसकी कुछ विशेषताओं को प्रकट किया गया है।

जघन्य पद की अपेक्षा औदारिक शरीर का जघन्य प्रदेशाग्र किसके होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह अन्यतर सूक्ष्म निगोद जीव अपर्याप्त के होता है (४७९-८०)।

वैक्रियिकशरीर का जघन्य प्रदेशाग्र किसके होता है, इसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि वह असंज्ञी पंचेन्द्रियों में से आये हुए अन्यतर देव-नारकी के होता है, जो प्रथम समयवर्ती व प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ होकर जघन्य योग से युक्त होता है (४८३-८५)।

ऊपर औदारिक और वैक्रियिक शरीर का उदाहरण दिया गया है। इसी पद्धति से अन्य शरीरों के उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशाग्र के स्वामी की प्ररूपणा की गई है।

६. अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में पाँचों शरीरों के प्रदेशाग्र विषयक अल्पबहुत्व को प्रकट करते हुए औदारिक शरीर के प्रदेशाग्र को सबसे स्तोक, वैक्रियिक शरीर के प्रदेशाग्र को असंख्यातगुणा, आहारक शरीर के प्रदेशाग्र को असंख्यातगुणा, तैजस शरीर के प्रदेशाग्र को अनन्तगुणा और कार्मणशरीर के प्रदेशाग्र को अनन्तगुणा निर्दिष्ट किया गया है (४९७-५०१)।

इस प्रकार छह अनुयोगद्वारों के समाप्त होने पर बाह्य वर्गणा के अन्तर्गत उन चार अनुयोग द्वारों में यह शरीरप्ररूपणा नाम का दूसरा अनुयोगद्वार समाप्त हुआ।

३. शरीरविस्रसोपचय प्ररूपणा

यह बाह्य वर्गणाविषयक तीसरा अनुयोगद्वार है। इसमें ये छह अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा और अल्पबहुत्व (५०२)।

पाँच शरीरों सम्बन्धी परमाणुपुद्गलों के स्निग्ध आदि गुणों के द्वारा उन पाँच शरीरगत पुद्गलों में जो पुद्गल संलग्न होते हैं उनका नाम विस्रसोपचय है। उन विस्रसोपचयों के सम्बन्ध का कारण जो पाँच शरीरों से सम्बन्धित परमाणु पुद्गलगत स्निग्ध आदि गुण है उसे भी कारण में कार्य के उपचार से विस्रसोपचय कहा जाता है। इसी स्निग्धादि गुण की यहाँ विवक्षा है।

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा के अनुसार एक-एक औदारिक प्रदेश में सब जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं (५०३-५)।

वर्गणाप्ररूपणा के अनुसार सब जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है। इस प्रकार की वर्गणाएँ अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग मात्र होती हैं (५०६-७)।

स्पर्धकप्ररूपणा के अनुसार अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण उन वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार के स्पर्धक अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों

के अनन्तवें भाग अनन्त होते हैं (५०८-९)।

अनन्तरप्ररूपणा के अनुसार एक-एक स्पर्धक का अन्तर सब जीवों से अनन्तगुणे अविभाग-प्रतिच्छेदों से होता है (५१०-११)।

शरीरप्ररूपणा के अनुसार शरीरबन्धन के कारणभूत गुणों का बुद्धि से छेद करने पर अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। प्रसंगवश यहाँ उस छेदना के दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—नामछेदना, स्थापनाछेदना, द्रव्यछेदना, शरीरबन्धनगुणछेदना, प्रदेशछेदना, वल्लरि-छेदना, अणुछेदना, तटछेदना, उत्पातछेदना और प्रज्ञाभावछेदना (५१२-१४)।

शरीर अनन्तानन्त पुद्गलों के समवायस्वरूप है। जिस गुण के निमित्त से उन पुद्गलों का परस्परबन्ध होता है उसका नाम बन्धनगुण है। उस गुण का बुद्धि से छेद करने पर अनन्त अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। गुण का छेद बुद्धि से ही किया जा सकता है। इसी से यहाँ उपर्युक्त दस छेदनाओं में अन्तिम प्रज्ञाछेद विवक्षित है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा में औदारिक शरीर के अविभागप्रतिच्छेद सबसे कम, वैक्रियिकशरीर के अनन्तगुणे, आहारकशरीर के अनन्तगुणे, तैजसशरीर के अनन्तगुणे और कार्मणशरीर के अनन्तगुणे निर्दिष्ट किये गये हैं (५१५-१९)।

इस प्रकार शरीरविस्रसोपचय प्ररूपणा समाप्त हुई है।

४. विस्रसोपचय प्ररूपणा

यह बाह्य वर्गणा के अन्तर्गत पूर्वोक्त चार अनुयोगद्वारों में अन्तिम है। यहाँ इस विस्र-सोपचय प्ररूपणा के अनुसार एक-एक जीवप्रदेश पर कितने विस्रसोपचय उपचित हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि एक-एक जीवप्रदेश पर सब जीवों से अनन्तगुणे अनन्त विस्र-सोपचय उपचित हैं। वे सब लोक से आकर उपचित होते हैं (५२०-२२)।

'जीवप्रदेश' से यहाँ आधेय में आधार का उपचार करके परमाणु अभिप्रेत है। अभिप्राय यह है कि जीव के द्वारा छोड़े गए पाँच शरीरगत पुद्गल सब आकाशप्रदेशों से सम्बद्ध होकर रहते हैं।

आगे जीव से पृथक् होकर सब लोक में व्याप्त हुए उन पुद्गलों में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार की हानि होती है उसकी यहाँ प्ररूपणा की गई है (५२३-४३)।

इसी प्रसंग में आगे जघन्य व उत्कृष्ट औदारिक आदि पाँच शरीरों के जघन्य व उत्कृष्ट पद में जघन्य व उत्कृष्ट विस्रसोपचयक अल्पबहुत्व को प्रकट करते हुए उन विस्रसोपचयों की प्ररूपणा में प्रयोजनीभूत जीवप्रमाणानुगम, प्रदेशप्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व इन तीन अनु-योगद्वारों का आश्रय लिया गया है (५४४-५५)।

उनमें जीवप्रमाणानुगम के अनुसार पृथिवीकायिक आदि जीवों के प्रमाण को और प्रदेश-प्रमाणानुगम के अनुसार उन पृथिवीकायिकादि जीवों के जीवप्रदेशों के प्रमाण को प्रकट किया गया है (५५६-६७)।

अल्पबहुत्व के आश्रय से क्रमशः जीवों के व प्रदेशों के प्रमाण को प्रकट किया गया है (५६८-८०)।

इस प्रकार इस विस्रसोपचय प्ररूपणा के समाप्त होने पर बाह्य वर्गणा समाप्त हुई है।

चूलिका—

आगे का ग्रन्थ चूलिका है। जिन अर्थों की पूर्व में सूचना-मात्र की गई है, स्पष्टीकरण उनका नहीं किया गया है, उनकी प्ररूपणा करना चूलिका का प्रयोजन होता है। तदनुसार पूर्व में जो यहाँ 'जत्थेउ मरइ जीवो' इत्यादि गाथा (सूत्र १२५) के द्वारा निगोदजीवों के मरने व उत्पन्न होने की सूचना की गई है उसे स्पष्ट करते हुए यहाँ प्रथमतः उनके उत्पत्ति के क्रम की प्ररूपणा की गई है, जिसमें आवलि के असंख्यातवें भाग काल तक एक, दो, तीन आदि समयों में निरन्तर उत्पन्न होनेवाले तथा एक, दो, तीन आदि समयों को आदि लेकर आवलि के असंख्यातवें भाग तक का अन्तर करके उत्पन्न होनेवाले निगोद जीवों के प्रमाण को प्रकट किया गया है व उनके उत्पन्न होने के काल और उन उत्पन्न होनेवाले जीवों के अल्पवहुत्व को भी स्पष्ट किया गया है (५८१-६२८)। यथा—

सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम समय में जो निगोद जीव उत्पन्न होता है उसके साथ अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं। एक समय में अनन्तानन्त साधारण जीवों को ग्रहणकर एक शरीर होता है और असंख्यात लोकप्रमाण शरीरों को ग्रहणकर एक निगोद होता है। निगोद और पुलवि ये समानार्थक शब्द हैं। एक पुलवि में जो शरीर और उन शरीरों के भीतर अनन्तानन्त जीव रहते हैं, आधार में आधेय के उपचार से उन दोनों को ही निगोद कहा जाता है। आगे इस उत्पत्ति के क्रम को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि द्वितीय समय में असंख्यात-गुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से आगे आवलि के असंख्यातवें तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे जीव उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् एक, दो, तीन समय से लेकर अधिक-से-अधिक आवलि प्रमाणकाल के अन्तर से पुनः उसी क्रम से आवलि के असंख्यातवें भाग तक वे निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

अल्पवहुत्व अद्धाअल्पवहुत्व और जीवअल्पबहुत्व के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से अद्धाअल्पवहुत्व में सान्तर और निरन्तर समय में उत्पन्न होनेवाले जीवों के और इन कालों के अल्पवहुत्व को प्रकट किया गया है। जीवअल्पवहुत्व में काल के आश्रय से जीवों के अल्पवहुत्व को दिखलाया गया है।

आगे स्कन्ध, अण्डर, आवास और पुलवियों में जो वादर और सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं वे पर्याप्त, अपर्याप्त या मिश्र होते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है (६२९-३०)।

निगोदों का मरण-क्रम

इस प्रकार निगोदों के उत्पत्तिक्रम को दिखलाकर आगे पूर्वनिर्दिष्ट गाथा के पूर्वार्ध में सूचित मरण के क्रम का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो निगोद जघन्य उत्पत्तिकाल से उत्पन्न होते हुए जघन्य प्रबन्धनकाल से प्रवद्ध एकरूपता को प्राप्त हुए हैं उन वादर निगोदों का तथा प्रवद्धों का निगर्मन मरणक्रम के अनुसार होता है।

आगे इस मरणक्रम के प्रसंग में कहा गया है कि सर्वोत्कृष्ट गुणश्रेणीमरण से मरण को प्राप्त हुए तथा सबसे दीर्घ काल में निर्लेप्यमान उन जीवों के अन्तिम समय में मरने से शेष रहे निगोदों का प्रमाण आवलि के असंख्यातवें भाग मात्र रहता है। इसे स्पष्ट करते हुए आयुओं के अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गई है (६३१-३९)।

ऊपर जिस मरणक्रम का उल्लेख किया गया है वह यवमध्यमरणक्रम और अयवमध्य-

मरणक्रम के भेद से दो प्रकार का है। यह जो सर्वोत्कृष्ट गुणश्रेणि से मरण को प्राप्त हुए व सबसे दीर्घकाल में निर्लेप्यमान जीवों के अन्तिम समय में मरने से शेष रहे निगोदों का प्रमाण प्रकट किया गया है वह अयवमध्यक्रम के अनुसार है। 'निर्लेप्यमान' से अभिप्राय आहार, शरीर, इन्द्रिय और आन-प्राण अपर्याप्तियों की निर्वृत्ति स्वरूप निर्लेपन को प्राप्त होनेवाले जीवों से है। उनके अन्तिम समय में मरने से शेष रहे निगोदों का प्रमाण जो आवलि के असंख्यातवें भागमात्र कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि क्षीणकषाय के अन्तिम समय में मरने से शेष रहे जीवों के निगोद आवलि के असंख्यातवें भाग शेष रहते हैं। निगोद और पुलवि ये समानार्थक शब्द हैं। क्षीणकषाय के अन्तिम समय में असंख्यात लोकमात्र निगोदशरीर होते हैं। उनमें से प्रत्येक शरीर में मरने से शेष रहे जीव अनन्त होते हैं। उनकी आधारभूत पुलवियाँ आवलि के असंख्यातवें भागमात्र होती हैं यही जघन्य बादरनिगोदवर्गणा का प्रमाण है।

इस प्रसंग में धवलाकार ने क्षीणकषायकाल के भीतर व थूवर आदि में मरनेवाले जीवों की प्ररूपणा—प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि और अल्पबहुत्व—इन चार अनुयोगद्वारों के आश्रय से की है।[1]

क्षीणकषायकाल में जघन्य आयुमात्र काल के शेष रह जाने पर बादर निगोदजीव क्षीणकषाय शरीर में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनके जीवनयोग्य काल शेष नहीं रहा है। इसी अभिप्राय के ज्ञापनार्थ उक्त आयुओं के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

निगोदवर्गणाओं के कारणों की प्ररूपणा के प्रसंग में आगे कहा गया है कि इन्हीं सब निगोदों (बादर निगोदों) के मूल कारण ये महास्कन्धस्थान (महास्कन्ध के अवयव) हैं—आठ पृथिवियाँ, टंक, कूट, भवन, विमान, विमानेन्द्रक, विमानप्रस्तार, नरक, नरकेन्द्रक, नरकप्रस्तार, गच्छ, गुल्म, वल्ली, लता और तृणवनस्पति आदि (६४०-४१)।

शिलामय पर्वतों पर जो वापी, कुआँ, तालाब व जिनगृह आदि उकेरे जाते हैं उनका नाम टंक है। मेरू, कुलाचल, विन्ध्य व सह्य आदि पर्वतों को कूट कहा जाता है।

आगे महास्कन्धवर्गणा के जघन्य-उत्कृष्ट भाव कैसे होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जब महास्कन्धस्थानों का जघन्य पद होता है तब बादर त्रस पर्याप्तों का उत्कृष्ट पद होता है और जब बादर त्रस पर्याप्तों का जघन्य पद होता है तब मूल महास्कन्ध स्थानों का उत्कृष्ट पद होता है (६४०-४३)।

पश्चात् 'अब यहाँ महादण्डक किया जाता है' ऐसा निर्देश करते हुए अपर्याप्तनिर्वृत्ति, आवश्यक, यवमध्य, शमिलामध्य, निर्लेपनस्थान, आयुबन्धयवमध्य, मरणयवमध्य, औदारिकादि शरीरों के निर्वृत्तिस्थान, इन्द्रियनिर्वृत्तिस्थान, आनपान-भाषा-मननिर्वृत्तिस्थान इत्यादि प्रसंगप्राप्त विषयों की चर्चा विविध अल्पबहुत्वों के आश्रय से की गई है (६४३-७०५)।

इस प्रकार से 'जत्थेउ मरइ जीवो' आदि गाथा के अर्थ की प्ररूपणा समाप्त हुई है।

पूर्व में २३ वर्गणाओं की प्ररूपणा के प्रसंग में सामान्य से ग्रहण प्रायोग्य और अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं का निर्देश किया गया था। अब यहाँ ये वर्गणाएँ पाँच शरीरों के ग्रहण योग्य हैं और ये उनके ग्रहण योग्य नहीं हैं, इसके परिज्ञापनार्थ इन चार अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है—वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, प्रदेशार्थता और अल्पबहुत्व (७०६)।

---

१. धवला पु० १४, पृ०४८७-९१

वर्गणाप्ररूपणा में एक प्रदेशी पुद्गलवर्गणा से लेकर कार्मणद्रव्यवर्गणा पर्यन्त वर्गणाओं का उल्लेख किया गया है (७०७-१८)।

वर्गणानिरूपणा में उपर्युक्त वर्गणाओं में कौन ग्रहणप्रायोग्य हैं और कौन अग्रहणप्रायोग्य हैं, इसे स्पष्ट करते हुए पृथक्-पृथक् उनके स्वरूप को भी दिखलाया गया है (७१९-५८)।

प्रदेशार्थता—यहाँ औदारिकादि शरीरद्रव्यवर्गणाओं में प्रत्येक के प्रदेशों और वर्ण-रसादि को स्पष्ट किया गया है (७५९-९३)।

अल्पबहुत्व—यहाँ औदारिकादि शरीरद्रव्यवर्गणाओं में प्रत्येक के प्रदेशों की अपेक्षा और अवगाहना की अपेक्षा दो प्रकार से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है (७८४-९६)।

इस प्रकार अनेक अनुयोगद्वारों व अवान्तर अनुयोगद्वारों के आश्रय से वर्गणाओं की सविस्तार प्ररूपणा के समाप्त होने पर बन्धनीय अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

बन्धविधान

यह प्रस्तुत बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत चार अधिकारों में अन्तिम है। वह बन्ध-विधान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है (१९७)।

इसके प्रसंग में धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन चारों बन्धों के विधान की प्ररूपणा भूतबलि भट्टारक ने महाबन्ध में बहुत विस्तार से की है, इसलिए वहाँ हमने उसकी प्ररूपणा नहीं की है। अतएव यहाँ समस्त महाबन्ध की प्ररूपणा करने पर बन्धविधान समाप्त होता है।

इस प्रकार बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों अधिकारों के समाप्त होने पर यह बन्धन अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है। यह षट्खण्डागम की १६ जिल्दों में से १४वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

इस बन्धन अनुयोगद्वार के साथ षट्खण्डागम का पाँचवाँ वर्गणाखण्ड समाप्त होता है।

षष्ठ खण्ड : महाबन्ध

महाबन्ध षट्खण्डागम का छठा खण्ड है। जैसाकि पूर्व में कहा जा चुका है, इसके दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध में बन्धक जीवों की प्ररूपणा स्वामित्व आदि ११ अनुयोगद्वारों के आश्रय से की गई है। परन्तु इस महाबन्ध खण्ड में उस बन्ध की प्ररूपणा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के क्रम से अनेक अनुयोगद्वारों के आश्रय से बहुत विस्तार के साथ की गई है। इसी दृष्टि से उस दूसरे खण्ड का नाम क्षुद्रकबन्ध या खुद्दाबंध पड़ा है। उसमें समस्त सूत्र संख्या १५७९ है, जब कि महाबन्ध का ग्रन्थ-प्रमाण ३०००० श्लोक है। इसीलिए इस छठे खण्ड का नाम महाबन्ध पड़ा है, जो अपेक्षाकृत है।

इस महाबन्ध की कानडी लिपि में लिखी गई एक ही प्रति उपलब्ध हुई है, जिसके आधार से उसका प्रकाशन हुआ है। उसमें भी कुछ पत्र त्रुटित रहे हैं। प्रारम्भ का अंश कुछ त्रुटित हो जाने से उसकी प्रारम्भिक रचना किस प्रकार की रही है, यह ज्ञात नहीं हो सका।

बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। इसी चार प्रकार के बन्ध की वहाँ क्रमशः बहुत विस्तार से प्ररूपणा की गई है।

१. प्रकृतिवन्ध

वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत वन्धनीय अर्थाधिकार में २३ पुद्गल वर्गणाओं की प्ररूपणा की गई है। उनमें एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त लोक में व्याप्त है। मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामविशेष से इस कार्मण वर्गणा के परमाणु जो कर्म रूप से परिणत होकर जीवप्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं, प्रकृतिवन्ध कहलाता है। इस प्रकार जीव प्रदेशों से सम्बद्ध होने पर जो उनमें ज्ञान-दर्शन आदि आत्मीय गुणों के आच्छादित करने का जो स्वभाव पड़ता है उसे प्रकृतिवन्ध कहा जाता है।

प्रारम्भिक अंश के त्रुटित हो जाने से यद्यपि यह ज्ञात नहीं हो सका कि इस प्रकृतिवन्ध की प्ररूपणा में वहाँ कितने व किन अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है, फिर भी आगे स्थिति वन्ध आदि की प्ररूपणा पद्धति के देखने से वह निश्चित ज्ञात हो जाता है कि इस प्रकृतिवन्ध की प्ररूपणा में वहाँ इन २४ अनुयोगद्वारों का निर्देश रहा है—

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. सर्ववन्ध, ३. नोसर्ववन्ध, ४. उत्कृष्टवन्ध, ५. अनुत्कृष्टवन्ध, ६. जघन्य वन्ध, ७. अजघन्य वन्ध, ८. सादिवन्ध, ९. अनादिवन्ध, १०. ध्रुववन्ध, ११. अध्रुव-वन्ध, १२. वन्धस्वामित्वविचय, १३. एक जीव की अपेक्षा काल, १४. एक जीव की अपेक्षा अन्तर, १५. संनिकर्ष, १६. भंगविचय, १७. भागाभागानुगम, १८. परिमाणानुगम, १९. क्षेत्रा-नुगम, २०. स्पर्शनानुगम, २१. नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम, २२. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम, २३. भावानुगम और २४. अल्पवहुत्वानुगम।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—इस अनुयोगद्वार में कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा प्रायः उसी प्रकार से की गई है, जिस प्रकार कि उनकी प्ररूपणा उसके पूर्व जीवस्थान खण्ड से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में से प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तन[1] चूलिका में तथा आगे वर्गणाखण्ड (५) के अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वार में की गई है।[2] विशेषता यह रही है कि प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका में ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियों का ही उल्लेख किया गया है (सूत्र १३-१४)। पर आगे प्रकृति अनुयोगद्वार में उन ज्ञानावरणीय की पाँच उत्तरप्रकृतियों की भी कितनी ही अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है (सूत्र २१-६९)।

प्रकृत महावन्ध में उन ज्ञानावरणीय की उत्तर-प्रकृतियों और उत्तरोत्तर-प्रकृतियों की प्ररूपणा उपर्युक्त प्रकृति अनुयोगद्वार के समान की गई है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। साथ ही उन ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के प्रसंग से जिस प्रकार प्रकृति अनुयोगद्वार में ज्ञानभेदों की भी प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार इस महावन्ध में भी उन सव की प्ररूपणा की गई है। इसके अतिरिक्त ज्ञान के प्रसंग में प्रकृति अनुयोगद्वार में जिन गाथासूत्रों (३-१७) का उपयोग किया गया है वे ही गाथासूत्र प्रायः उसी रूप में आगे-पीछे इस महावन्ध में भी उपयुक्त हुए हैं।[3]

---

१. ष० ख०, पु० ६, पृ० १-७८ में प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका। ('प्रकृतिसमुत्कीर्तन' इस नाम का भी उपयोग दोनों स्थानों में समान रूप में किया गया है)।
२. ष० ख०, पु० १३, पृ० १९७-३९२ में प्रकृति अनुयोगद्वार।
३. महावन्ध १, पृ० २१-२३

वेदना खण्ड के अन्तर्गत कृतिअनुयोगद्वार में मंगल के प्रसंग में देशावधि-परमावधि की प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने भी इन गाथाओं को उद्धृत किया है और कहा है कि इन गाथाओं द्वारा कहे गये समस्त अवधिज्ञान के क्षेत्रों के इस अर्थ प्ररूपणा करना चाहिए।[1]

आगे प्रकृति अनुयोगद्वार में दर्शनावरणीय आदि अन्य मूल प्रकृतियों की उत्तर-प्रकृतियों के नामों का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया गया है, पर महाबन्ध में उनके नामों का पृथक्-पृथक् निर्देश न करके उनकी संख्या मात्र की सूचना की गई है व अन्त में यह कह दिया है कि 'यथा पयडिभंगो तथा कादव्वो'। यह सूचना करते हुए आचार्य भूतबलि ने सम्भवतः इसी प्रकृति अनुयोगद्वार की ओर संकेत किया है।

२-३. सर्वबन्ध-नोसर्वबन्ध—इन दो अनुयोगद्वारों में ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों के विषय में सर्वबन्ध व नोसर्वबन्ध का विचार किया गया है। विवक्षित कर्म की जब अधिक से अधिक प्रकृतियाँ एक साथ बँधती हैं तब उनके बन्ध को सर्वबन्ध कहा जाता है। जैसे—ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ ये अपनी बन्धव्युच्छित्ति होने तक सूक्ष्मसाम्परायसंयत गुणस्थान तक साथ-साथ बँधती है, अतएव यह इन दोनों कर्मों का सर्वबन्ध है।

दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान तक साथ-साथ बँधती हैं, अतएव उसका दूसरे गुणस्थान तक सर्वबन्ध है। दूसरे गुणस्थान में निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन की बन्धव्युच्छित्ति हो जाने से आगे अपूर्वकरण के प्रथम भाग तक छह प्रकृतियाँ बँधती हैं, अतः उसका यह नोसर्वबन्ध है। इसी प्रकरण के प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला इन दो के व्युच्छिन्न हो जाने से आगे सूक्ष्मसाम्पराय तक उसकी चार प्रकृतियाँ बँधती हैं, यह भी उसका नोसर्वबन्ध है। इस प्रकार दर्शनावरण का सर्वबन्ध भी होता और नोसर्वबन्ध भी होता है।

वेदनीय, आयु और गोत्र इन तीन कर्मों का नोसर्वबन्ध ही होता है, क्योंकि उनकी एक समय में किसी एक प्रकृति का ही बन्ध सम्भव है।

मोहनीय और नामकर्म इन दो का सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध दोनों होते हैं।

४-७. उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध और अजघन्यबन्ध ये प्रकृतिबन्ध में सम्भव नहीं है।

८-९. सादि-अनादिबन्ध—विवक्षित कर्मप्रकृति के बन्ध का अभाव हो जाने पर पुनः उसका बन्ध होना सादिबन्ध कहलाता है। जैसे—ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों का बन्ध सूक्ष्मसाम्पराय तक होता है। जो जीव सूक्ष्मसाम्पराय में इनकी बन्धव्युच्छित्ति को करके आगे उपशान्तकषाय हुआ है उसके वहाँ उनके बन्ध का अभाव हो गया। पर वह जब उपशान्तकषाय से पतित होकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में आता है तब उसके उनका बन्ध फिर होने लगता है। यही सादिबन्ध का लक्षण है।

जीव जब तक श्रेणि पर आरूढ़ नहीं होता तब तक उसके अनादिबन्ध है। जैसे—उक्त

---

१. ष० ख० पु० ९, पृ० २४-२६, २९, ३८ व ४२। एदाहि गाहादि उत्तासेसोहि खेत्ताणमेसो अत्थो जहासंभवं परूवेदव्वो (पृ० २९)। इच्चादिगाहावग्गणसुत्तेहि सह विरोहादो (पृ० ४०)।

ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों का श्रेणि पर आरूढ़ न होने पर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक अनादिबन्ध होता है; क्योंकि तब तक उसके अनादि काल से उनका बन्ध होता रहा है।

इस प्रकार सभी कर्मों के विषय में वहाँ विस्तार से इस सादि-अनादि बन्ध का विचार किया गया है।

१०-११. ध्रुव-अध्रुवबन्ध—अभव्य जीव के जो बन्ध होता है वह ध्रुव बन्ध है, क्योंकि उसके अनादिकाल से हो रहे उस कर्मबन्ध का कभी अभाव होनेवाला नहीं है।

भव्य जीवों का कर्मबन्ध अध्रुवबन्ध है, क्योंकि उनके उस कर्मबन्ध का अभाव होने वाला है।

इस प्रकार से वहाँ इन दो अनुयोगद्वारों में अन्य सभी कर्मों के विषय में ध्रुव-अध्रुवबन्ध की विस्तार से प्ररूपणा की गई है।

१२. बन्धस्वामित्वविचय—इस अनुयोगद्वार में नाम के अनुसार बन्धक-अबन्धक जीवों की प्ररूपणा ठीक उसी प्रकार से की गई है, जिस प्रकार कि प्रस्तुत षट्खण्डागम के तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्वविचय में उनकी प्ररूपणा की गई है। विशेषता वहाँ यह रही है कि विवक्षित मार्गणा में उन बन्धक-अबन्धकों की प्ररूपणा करते हुए यदि वह पूर्व प्ररूपित किसी मार्गणा के उस विषय से समानता रखती है तो वहाँ विवक्षित प्रकृतियों का नामनिर्देश न करके 'ओघभंग' आदि के रूप में पूर्व में की गई उस प्ररूपणा के समान प्ररूपणा करने का संकेत कर दिया गया है। किन्तु उस तीसरे खण्ड में ओघ और आदेश की अपेक्षा उन बन्धक-अबन्धकों की प्ररूपणा करते हुए प्रायः सर्वत्र ही विवक्षित प्रकृतियों के नामोल्लेखपूर्वक प्रकृत प्ररूपणा की गई है।[1]

यह उस महाबन्ध में प्रकृतिबन्ध के अन्तर्गत जिन प्रकृतिसमुत्कीर्तन आदि २४ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है उनमें प्रारम्भ के कुछ अनुयोगद्वारों में प्ररूपित विषय का दिशावबोधमात्र कराया गया है। इसी प्रकार शेष अनुयोगद्वारों में प्ररूपित विषय की प्ररूपणा विवक्षित अनुयोगद्वार के नाम के अनुसार समझना चाहिए।

२. स्थितिबन्ध

ज्ञानावरणादि कर्म बँधने के पश्चात् जितने काल तक जीव के साथ सम्बद्ध होकर रहते हैं उसका नाम स्थितिबन्ध है। जिन २४ अनुयोगद्वारों का उल्लेख पूर्व में प्रकृतिबन्ध के प्रसंग में किया गया है, नाम से वे ही २४ अनुयोगद्वार इस स्थितिबन्ध के प्रसंग में भी निर्दिष्ट किये गये हैं। विशेषता केवल इतनी है कि प्रथम अनुयोगद्वार का नाम जहाँ प्रकृतिबन्ध के प्रसंग में 'प्रकृति समुत्कीर्तन' निर्दिष्ट किया गया है वहाँ इस स्थितिबन्ध के प्रसंग में वह 'अद्धाच्छेद' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।

सर्वप्रथम यहाँ मूल प्रकृति स्थितिबन्ध के प्रसंग में इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्डक प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारों के आश्रय से वहाँ स्थितिबन्धस्थान आदि की यथाक्रम से

---

१. अपवाद के रूप में कुछ ही प्रसंग वैसे होंगे। जैसे—माणुसअपज्जत्ताणं पंचिंदियतिरिक्ख-अपज्जत्तभंगो। सूत्र ७६ (इसके पूर्व का सूत्र ७५ भी इसी प्रकार का है)

प्ररूपणा की गई है।

इसके पूर्व वेदना-खण्ड के अन्तर्गत दूसरे वेदना-अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट १६ अनुयोगद्वारों में से छठे वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार की प्रथम चूलिका में उन्हीं चार अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्रमशः उन बन्धस्थान आदि की प्ररूपणा की गई है जो सर्वथा समान है। सूत्र भी प्रायः समान हैं[1]। उसका परिचय पूर्व में कराया जा चुका है।

१. अद्धाच्छेद—अद्धा नाम काल का है। किस कर्म का उत्कृष्ट और जघन्य बन्ध कितना होता है, उसकी इस उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति में आबाधाकाल कितना पड़ता है, तथा निषेक रचना किस प्रकार होती है इत्यादि की प्ररूपणा यहाँ विस्तारपूर्वक की गई है।[2]

२-३. सर्वबन्ध-नोसर्वबन्ध—विवक्षित कर्मप्रकृति की जितनी उत्कृष्ट स्थिति नियमित है उसके बन्ध को सर्वबन्ध और उससे कम के बन्ध को नोसर्वबन्ध कहा जाता है। इन दो अनुयोग द्वारों में वहाँ स्थितिबन्ध के प्रसंग में उस सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध की प्ररूपणा विभिन्न कर्मप्रकृतियों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की गई है।

इसी प्रकार अन्य अनुयोगद्वारों के आश्रय से भी वहाँ अपने-अपने नाम के अनुसार प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा की गई है।

३. अनुभागबन्ध

ज्ञानावरणादि मूल व उनकी उत्तरप्रकृतियों का बन्ध होने पर जो उनमें यथा योग्य फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। इस अनुभाग की प्ररूपणा यहाँ क्रम से मूल व उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से विस्तार के साथ की गई है। इस प्रसंग में यहाँ प्रथमतः निषेक प्ररूपणा और स्पर्धक प्ररूपणा इन दो अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए क्रमशः उनके आश्रय से निषेकों और स्पर्धकों की प्ररूपणा की गई है।

इसके पूर्व प्रस्तुत षट्खण्डागम के चौथे वेदना खण्ड के अन्तर्गत वेदना-अनुयोगद्वार में जिन १६ अवान्तर अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है उनमें ७ वाँ अनुयोगद्वार भावविधान है। उसके अन्त में जो तीन चूलिकाएँ हैं उनमें से दूसरी चूलिका में अनुभागबन्धाध्यवसानस्थानों की प्ररूपणा इन १२ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की गई है—१. अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा २. स्थानप्ररूपणा, ३. अन्तरप्ररूपणा, ४. काण्डकप्ररूपणा, ५. ओज-युग्म-प्ररूपणा, ६. षट्स्थानप्ररूपणा, ७. अधस्तनस्थानप्ररूपणा, ८. समयप्ररूपणा, ९. वृद्धि-प्ररूपणा, १०. यवमध्यप्ररूपणा, ११. पर्यवसान प्ररूपणा और १२. अल्पबहुत्व[3] (सूत्र १९७-९८)।

---

१. स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा सूत्र ३६-१००, निषेक प्ररूपणा सूत्र १०१-२०, आबाधाकाण्डक १२१-२२, अल्पबहुत्व १२३-६४ (पु० ११, पृ० १४०-३०८)।

२. कर्म की मूल व उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट व जघन्य स्थितियों, आबाधाकाल और निषेकरचना क्रम की प्ररूपणा जीवस्थान की चूलिका ६ व ७ में यथाक्रम से पृथक्-पृथक् विस्तारपूर्वक की गई है (पु० ६, पृ० १४५-२०२)। यहाँ 'उत्कृष्ट स्थिति' हेतु सूत्र ६ की धवला टीका भी द्रष्टव्य है (पृ० १५०-५८)।

३. इन्हीं १२ अनुयोगद्वारों के आश्रय से आगे महाबन्ध में स्वामित्व के प्रसंग में अनुभाग-बन्धाध्यवसानस्थानों की प्ररूपणा की गई है।

इनमें से अविभागप्रतिच्छेद प्ररूपणा के प्रसंग में धवलाकार ने सूत्र १९९ की व्याख्या में अविभागप्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक इनके स्वरूप आदि का स्पष्टीकरण संदृष्टि के साथ विस्तारपूर्वक किया है।[1]

इस प्रकार अनुभाग के प्रसंग में उन दो अनुयोगद्वारों के आश्रय से निषेकों और स्पर्धकों की प्ररूपणा करके आगे महाबन्ध में उन्हीं २४ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है, जिनका उल्लेख इसके पूर्व प्रकृति और स्थितिबन्ध में किया जा चुका है। विशेषता इतनी है कि प्रथम अनुयोगद्वार का उल्लेख जहाँ प्रकृतिबन्ध के प्रसंग में 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' और स्थिति-बन्ध के प्रसंग में 'अद्धाच्छेद' के नाम से किया गया है वहाँ अनुभाग के प्रसंग में उसका उल्लेख 'संज्ञा' के नाम से किया गया है। शेष २३ अनुयोगद्वार नाम से वे ही हैं।

संज्ञा अनुयोगद्वार—घाति संज्ञा और स्थान संज्ञा के भेद से संज्ञा दो प्रकार की है। जो जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और वीर्य गुणों का विघात किया करते हैं उन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों की 'घाति' संज्ञा है। शेष वेदनीय आदि चार कर्म अघाति हैं, क्योंकि वे जीवगुणों का घात नहीं करते।

इन घाति-अघाति कर्मों के अनुभाग की तर-तमता जिनसे प्रकट होती है उनका नाम स्थान है। घाति कर्मों के अनुभागविषय व स्थान चार हैं—एकस्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय। इनमें लता के समान अनुभाग एकस्थानीय, उससे कुछ कठोर दारु (लकड़ी) के समान अनुभाग द्विस्थानीय, दारु से भी कुछ कठोर हड्डी के समान अनुभाग त्रिस्थानीय और उससे भी अधिक कठोर पत्थर के समान अनुभाग चतुःस्थानीय कहलाता है।

अघातिकर्म प्रशस्त व अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें प्रशस्त घाति कर्मों का अनुभाग तर-तमता से गुड़, खाँड, शक्कर और अमृत के समान तथा अप्रशस्त घाति कर्मों का अनुभाग नीम, कांजीर, विष और हालाहल के समान होता है।

इस प्रकार कर्मों के अनुभाग की प्ररूपणा इस संज्ञा अनुयोगद्वार में विस्तारपूर्वक की गई है।

आगे सर्व-नोसर्वबन्ध आदि अन्य अनुयोगद्वारों के आश्रय से अपने-अपने नाम के अनुसार प्रकृत अनुभाग विषयक प्ररूपणा की गई है।

४. प्रदेशबन्ध

योग के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं के परमाणु कर्म रूप परिणत होकर जो जीवप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप में अवस्थित होते हैं, इसका नाम प्रदेशबन्ध है। इस प्रदेशबन्ध की प्ररूपणा में वे ही २४ अनुयोगद्वार हैं। उनमें प्रथम अनुयोगद्वार का नाम स्थान-प्ररूपणा है, शेष २३ अनुयोगद्वार नाम से पूर्व के समान वे ही हैं।

स्थानप्ररूपणा में दो अनुयोगद्वार हैं—योगस्थानप्ररूपणा और प्रदेशबन्धप्ररूपणा। मन, वचन व काय के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है उसका नाम योग है। एक काल में होनेवाले इस प्रदेश परिस्पन्दनरूप योग को योगस्थान कहते हैं। इन योगस्थानों की प्ररूपणा यहाँ इन दस अनुयोगद्वारों के द्वारा की गई है—अविभाग-प्रतिच्छेदप्ररूपणा,

---

१. ष० ख०, पु० १२, पृ० ९१-१११

वर्गणा-प्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

इन योगस्थानों की प्ररूपणा इसके पूर्व वेदनाद्रव्य विधान की चूलिका में उन्हीं दस अनुयोगद्वारों के आश्रय से पूर्व में भी की जा चुकी है।[1]

इसी प्रसंग में महाबन्ध में चौदह जीवसमासों के आश्रय से जघन्य व उत्कृष्ट योग विषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

इस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा भी उपर्युक्त वेदनाद्रव्य विधान की चूलिका में उसी प्रकार से की गई है।[2]

प्रदेशबन्धस्थान—जितने योगस्थान होते हैं, उतने ही प्रदेशबन्धस्थान होते हैं। विशेष रूप में इन प्रदेशबन्धस्थानों को प्रकृतिविशेष की अपेक्षा उन योगस्थानों से विशेष अधिक कहा गया है।

उदाहरणस्वरूप जो जीव जघन्य योग से आठ कर्मों को बाँधता है उससे ज्ञानावरण का एक प्रदेशबन्धस्थान होता है। तत्पश्चात् प्रक्षेप अधिक दूसरे योगस्थान से आठ कर्मों के बाँधने वाले के दूसरा प्रदेशबन्धस्थान होता है। इसी क्रम से उत्कृष्ट योगस्थान तक जानना चाहिए। इस प्रकार से योगस्थान प्रमाण ही ज्ञानावरण के प्रदेशबन्धस्थान होते हैं। यही नियम आयुकर्म को छोड़कर अन्य सब कर्मों के विषय में है। आयु के प्रदेशबन्धस्थान परिणामयोगस्थान प्रमाण ही होते हैं, क्योंकि उसका बन्ध उपपाद और एकान्तानुवृद्धि योगस्थानों के समय में नहीं होता।

यही अभिप्राय इसके पूर्व उस वेदनाद्रव्य विधान की चूलिका में भी प्रकट किया गया है। वहाँ भी यही कहा गया है—

"जाणि चेव जोगट्ठाणाणि ताणि चेव पदेसबन्धट्ठाणाणि। णवरि पदेसबंधट्ठाणाणि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि।" सूत्र ४,२,४,२१३

यहाँ जो प्रदेशबन्ध स्थानों को प्रकृतिविशेष से विशेष अधिक कहा गया है उसका स्पष्टीकरण धवलाकार ने विस्तार से किया है।[3]

आगे इसी प्रकार सर्व-नोसर्वबन्ध आदि अन्य अनुयोगद्वारों के आश्रय से इस प्रदेशबन्ध की प्ररूपणा उनके नामानुसार वहाँ विस्तार से की गई है।

यहाँ महाबन्ध के विषय का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। विशेष परिचय ग्रन्थ के परिशीलन से ही प्राप्त हो सकता है।

यह महाबन्ध पृथग्रूप में हिन्दी अनुवाद के साथ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा ७ जिल्दों में प्रकाशित किया गया है जो मूल मात्र है। प्रस्तुत षट्खण्डागम के पूर्व पाँच खण्डों पर जिस प्रकार आचार्य वीरसेन द्वारा संस्कृत-प्राकृतमय धवला टीका लिखी गई है, उस प्रकार किसी आचार्य के द्वारा इस छठे खण्ड पर कोई टीका नहीं लिखी गई। मूल रूप में ही वह तीस हजार श्लोक प्रमाण है, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है।

---

१. ष० ख०, पु० १०, पृ० ४३२-५०५, सूत्र १७५-२१३
२. ष० ख०, पु० १०, पृ० ३९५-४०३, सूत्र १४४-७३
३. धवला, पु० १०, पृ० ५०५-१२

उपसंहार

निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत षट्खण्डागम के पूर्व कुछ खण्डों में-जैसे (१) क्षुद्रकबन्ध (२), बन्धस्वामित्वविचय (३) वेदना, (४) खण्ड के अन्तर्गत क्षेत्र, काल व भाव आदि अवान्तर अनुयोगद्वारों में तथा वर्गणा (५) खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' व 'बन्धन' (बन्धनीय) अनुयोग-द्वारों में—प्रकृति-स्थिति आदि बन्धभेदों व उनकी विविध अवस्थाओं की प्ररूपणा प्रकीर्णक रूप में जहाँ तहाँ प्रसंगवश संक्षेप में की गई है। प्रकृति-स्थिति आदि रूप उसी चार प्रकार के बन्ध की अतिशय व्यवस्थित प्रक्रियाबद्ध प्ररूपणा प्रस्तुत षट्खण्डागम के इस छठे खण्ड में अनेक अनुयोगद्वारों और उनके अन्तर्गत अनेक अवान्तर अनुयोगद्वारों में बहुत विस्तार से की गई है। इसी से यह छठा खण्ड पूर्व पांच खण्डों से छह गुणा (६००० × ५ = ३००००) विस्तृत है।

षटखण्डागम की अन्य ग्रन्थों से तुलना

विषयविवेचन आदि की अपेक्षा प्रस्तुत षट्खण्डागम की अन्य ग्रन्थों से कहाँ कितनी समानता है, इसका कुछ परिचय यहाँ कराया जाता है।

१. षट्खण्डागम व कषायप्राभृत

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण प्राचीन आगम ग्रन्थ हैं। इन्हें परमागम माना जाता है। इनमें प्रथम का सीधा सम्बन्ध जहाँ दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत १४ पूर्वों में दूसरे अग्रायणीय पूर्वश्रुत से रहा है वहाँ दूसरे का सीधा सम्बन्ध उन १४ पूर्वों में पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वश्रुत से रहा है, यह पूर्व में स्पष्ट किया ही जा चुका है।

षट्खण्डागम की अवतारविषयक प्ररूपणा करते हुए उसकी टीका धवला में कहा गया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् केवली व श्रुतकेवलियों आदि के अनुक्रम से द्वादशांग श्रुत उत्तरोत्तर क्षीण होता गया। इस प्रकार उसके क्रमशः क्षय को प्राप्त होने पर सब अंग-पूर्वों का एकदेश आचार्यपरम्परा से आकर धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। वे उन अंग-पूर्वों के एकदेशभूत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के ज्ञाता थे।[1]

उन्होंने उस समस्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत को भूतबलि और पुष्पदन्त के लिए समर्पित कर दिया। तब भूतबलि भट्टारक ने श्रुत के व्युच्छेद के भय से उस महाकर्मप्रकृति का उपसंहार कर छह खण्ड किये।[2]

वह महाकर्मप्रकृतिप्राभृत दूसरे अग्रायणी पूर्व के अन्तर्गत चौदह वस्तु नामक अधिकारों में चयनलब्धि नामक पाँचवें अधिकार के बीस प्राभृतों में चौथा है।

यही स्थिति कषायप्राभृत की भी है। पूर्वोक्त क्रम से उत्तरोत्तरश्रुत के क्षीण होने पर शेष रहे सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत प्रेयोद्वेषप्राभृत के धारक गुणधर भट्टारक हुए। प्रेयोद्वेषप्राभृत यह कषायप्राभृत का दूसरा नाम है।[3] प्रेयस् नाम राग का है, ये राग और द्वेष कषायस्वरूप

---

१. ···तदो सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेगदेसो आइरियपरंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो। धवला पु० १, पृ० ६५-६७; लोहाइरिये सग्गलोगं गदे आयार-दिवायरो अत्थमिओ। एवं वारससु दिणयरेसु भरहखेत्तम्मि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेगदेसभूद-पेज्जदोस-महाकम्मपयडिपाहुडादीणं धारया जादा।—धवला, पु० ६, पृ० १३३

२. धवला पु० ६, पृ० १३३

३. पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥—क० प्रा० १
तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। तं जहा—पेज्ज-दोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि।
क० प्रा० चूर्णि २१ (क० पा० सुत्त, पृ० १६)

हैं। वह प्रेयोद्वेषप्राभृत पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व के अन्तर्गत जो वस्तु नामक बारह अधिकार हैं उनमें दसवें वस्तु अधिकार के बीस प्राभृतों में तीसरा प्राभृत है। गुणधर भट्टारक ने सोलह हजार पद प्रमाण इस प्रेयोद्वेषप्राभृत का उपसंहार कर १८० गाथाओं में प्रकृत कषायप्राभृत की रचना की है। ये गाथासूत्र आचार्यपरम्परा से आते हुए आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुए। उनके पादमूल में इन गाथा-सूत्रों को सुनकर यतिवृषभ भट्टारक ने उनपर चूर्णिसूत्र रचे। इस प्रकार प्रकृत कषायप्राभृत के रचयिता गुणधर भट्टारक हैं।[1]

पूर्वापरवर्तित्व

इन दोनों ग्रन्थों में पूर्ववर्ती कौन है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। फिर भी कषायप्राभृत के गाथासूत्रों की संक्षिप्तता व गम्भीरता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत षट्खण्डागम के पूर्व रचा जा चुका था।

आचार्य इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में आचार्य गुणधर और धरसेन के पूर्वापरवर्तित्व के विषय में अपनी अनाजकारी व्यक्त की है। यथा—

गुणधर-धरसेनन्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात् ॥१५१॥

समानता

इन दोनों ग्रन्थों में रचनापद्धति व विषयविवेचन की दृष्टि से जो कुछ समानता दिखती है, उसका यहाँ विचार किया जाता है—

१. षट्खण्डागम में जीवस्थान-चूलिका के प्रारम्भ में यह सूत्र आया है—

"कदि काओ पयडीओ बंधदि, केवडि कालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्तं लब्भदि वा ण लब्भदि वा, केवचिरेण कालेण वा, कदि भाए वा करेदि मिच्छत्तं उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स मूले केवडियं वा दंसणमोहणीयं कम्मं खवेंतस्स चारित्तं वा संपुण्णं पडिवज्जंतस्स ॥१॥"

यह पृच्छासूत्र है। इसमें निर्दिष्ट पृच्छाओं के अन्तर्गत अर्थ के स्पष्टीकरण में स्वयं ग्रन्थकार द्वारा नौ चूलिकाएँ रची गई हैं।

ग्रन्थरचना की यह पद्धति कषायप्राभृत में देखी जाती है। वहाँ प्रथमतः पृच्छा के रूप में मूल सूत्रगाथाएँ रची गई हैं और तत्पश्चात् उन पृच्छाओं में निहित अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ भाष्यगाथाएँ रची गई हैं।[2] उदाहरणस्वरूप सम्यक्त्व अर्थाधिकार की ये चार सूत्रगाथाएँ

---

१. जयधवला भा० १, पृ० ८७-८८ व भा० ५, पृ० ३८७-८८ तथा धवला पु० १२, पृ० २३१-३२

२. ऐसी गाथाओं को चूर्णिकार ने मूलगाथा व भाष्यगाथा ही कहा है। जैसे—गाथा १२४ की उत्थानिका में 'तत्थ सत्त मूलगाहाओ'; गाथा १३० की उत्थानिका में 'एत्तो विदिया मूलगाहा'; गा० १४२ की उत्थानिका में 'एत्तो तदियमूलगाहा' इत्यादि। गाथा १३६-४१ की उत्थानिका में 'तदिये अत्थे छब्भासगाहाओ' इत्यादि। क०पा० सुत्त, पृ० ७५६-६७। जयधवला में इन मूलगाथाओं को सूत्रगाथाएँ कहा गया है।

द्रष्टव्य हैं—

दंसणमोहउवसामगस्स परिणामो केरिसो भवे।
जोगे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥९१॥
काणि वा पुव्वबद्धाणि के वा अंसे णिबंधदि।
कदि आवलियं पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो ॥९२॥
के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा॥
अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं ॥९३॥
किंट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
ओवट्टे दूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि ॥९४॥

इन गाथाओं की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने उन्हें सूत्रगाथाएँ कहा है तथा उनमें निर्दिष्ट पृच्छाओं का स्पष्टीकरण 'विभाषा'[1] कहकर यथाक्रम से किया है। यथा—

एदाओ चत्तारि सुत्तगाहाओ अधापवत्तकरणस्स पढमसमए परुविदव्वाओ। तं जहा। दंसणमोहउवसामगस्स केरिसो परिणामो भवे' त्ति विहासा। तं जहा। परिणामो विसुद्धो। पुव्वं पि अंतोमुहुत्तप्पहुडि अणंतगुणाए विसोहीए विसुज्झमाणो आगदो।[2]

इसी प्रकार से उन्होंने आगे पूर्वनिर्दिष्ट उन सभी पृच्छाओं को स्पष्ट किया है।[3]

षट्खण्डागम में पूर्वोक्त जीवस्थान-चूलिका गत पृच्छासूत्र के अन्तर्गत उन पृच्छाओं में प्रथम पृच्छा के स्पष्टीकरण में सूत्रकार ने 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' आदि पाँच चूलिकाओं को रचा है। इस स्पष्टीकरण का उल्लेख उन्होंने 'विभाषा' के नाम से इस प्रकार किया है—कदि काओ पगडीओ बंधदि त्ति जं पदं तस्स विहासा।[4] सूत्र २ (पु० ६, पृ० ४)।

धवलाकार ने भी ५वीं चूलिका के अन्त में यह सूचना की है—एवं 'कदिकाओ पयडीओ बंधदि' त्ति जं पदंतस्स वक्खाणं समत्तं। (पु० ६, पृ० १४४)

इस प्रकार पृच्छापूर्वक विवक्षित अर्थ के स्पष्टीकरण की यह पद्धति दोनों ग्रन्थों में समान रूप से देखी जाती है।

२. उपर्युक्त जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत नौ चूलिकाओं में आठवीं सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका है। वहाँ प्रारम्भ में यह कहा गया है कि प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव जब ज्ञानावरणीय आदि सब कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण बाँधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। आगे उसकी योग्यता को प्रकट करते हुए कहा गया है कि वह पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि और सर्वविशुद्ध होता है। इस प्रकार से दर्शनमोहनीय को उपशमाता हुआ वह चारों गतियों में पंचेद्रियों, संज्ञियों, गर्भोपक्रान्तिकों, पर्याप्तों तथा

---

१. 'विभाषा' का अर्थ धवला और जयधवला में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—
'विविहा भासा विहासा, परूवणा, णिरूवणा, वक्खाणमिदि एगट्ठो।' धवला पु० ६, पृ० ५
'सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसियूण भासा विहासा विवरणं त्ति वुत्तं होदि।' जयध० (क०पा० प्रस्तावना पृ २२ का टिप्पण)।

२. क० पा० सुत्त, पृ० ६१५

३. वही, पृ० ६१५-३०

४. सूत्र १, ९-६, १ (पृ० १४५) व १, ९-८, १-२ (पृ० २०३) भी द्रष्टव्य हैं।

संख्यातवर्षायुष्कों व असंख्यातवर्षायुष्कों में भी उसे उपशमाता है; इनके विपरीत एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों व असंज्ञियों आदि में नहीं उपशमाता ।[1]

कषायप्राभृत में भी लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है । इस प्रसंग में इन दोनों का मिलान किया जा सकता है—

उपसामेंतो कम्हि उपसामेदि ? चदुसु वि गदीसु उवसामेदि । चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय-विगलिंदियेसु । पंचिदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु । गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि, णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि असंखेज्जवस्साउगेसु वि ।—ष०ख० सूत्र ९ (पु० ६, पृ० २३८) ।

कषायप्राभृत का भी यह उल्लेख देखिए—

> दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
> पंचिदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥९५॥
>
> —क० पा० सुत्त, पृ० ६३०

षट्खण्डागम के सूत्र में जहाँ शब्दों की पुनरुक्ति अधिक हुई है वहाँ कषायप्राभृत की इस गाथा में प्रसंग प्राप्त उन शब्दों की पुनरावृत्ति न करके लगभग उसी अभिप्राय को संक्षेप में प्रकट कर दिया गया है, जो उसकी सूत्र रूपता का परिचायक है ।

षट्खण्डागम के उस सूत्र में उपयुक्त केवल गर्भज और संख्यात-असंख्यातवर्षायुष्क इन दो विशेषणों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है । इनमें संख्यात-असंख्यात वर्ष का उल्लेख न करने पर भी उसका बोध 'चतुर्गति' के निर्देश से हो जाता है, क्योंकि चतुर्गति के अन्तर्गत मनुष्यगति व तिर्यंचगति सामान्य में वे दोनों आ जाते हैं ।

यह भी यहाँ स्मरणीय है कि पूर्व में कषायप्राभृत की जिन चार मूलगाथाओं का उल्लेख किया गया है उनके अन्तर्हित अर्थ के विशदीकरण में जिन १५ (९५-१०९) गाथाओं का उपयोग किया गया है उनमें यह प्रथम गाथा है ।

इन गाथाओं के प्रारम्भ में उनकी उत्थानिका में चूर्णिकारने इतना मात्र कहा है कि आगे इन मूल गाथासूत्रों का स्पर्श करना योग्य है—उनका विवरण दिया जाता है ।

कषायप्राभृत की वे ९५-१०९ गाथाएँ 'एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ' इस सूचना के साथ षट्खण्डागम की उस जीवस्थान-चूलिका में उसी क्रम से उद्धृत की गई हैं । केवल गाथा १०२ व १०३ में क्रमव्यत्यय हुआ है ।[2]

दर्शनमोह की उपशामना के प्रसंग में ऊपर कषायप्राभृत की जिन चार मूल गाथाओं को उद्धृत किया गया है उनमें सर्वविशुद्ध 'परिणाम' के विषय में पृच्छा की गई है । चूर्णिकार ने परिणाम को विशुद्ध कहा है । षट्खण्डागम में उसे सर्वविशुद्ध कहा गया है (सूत्र १,९-८,४) ।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त मूल गाथाओं में योग, कषाय, उपयोग, लेश्या, वेद और पूर्वबद्ध कर्मों आदि के विषय में जो पृच्छा को उद्भावित किया गया है उस सबका स्पष्टीकरण षट्-

---

१. सूत्र १, ९-८, ३-९ (पु० ६)
२. क० पा० सुत्त पृ० ६३०-३८ व धवला पु० ६, पृ० २३८-४३

खण्डागम में कुछ क्रमव्यत्यय के साथ धवलाकार द्वारा किया गया है।[1]

३. षट्खण्डागम में इसी चूलिका में आगे दर्शनमोहनीय के क्षय के प्रारम्भ करने व उसकी समाप्ति के विषय में विचार करते हुए कहा गया है कि उस दर्शनमोहनीय के क्षय को प्रारम्भ करनेवाला उसके क्षय को अढाई द्वीप-समुद्रों के भीतर पन्द्रह कर्मभूमियों में, जहाँ जिन केवली तीर्थंकर होते हैं, प्रारम्भ करता है। पर उसका निष्ठापक वह चारों ही गतियों में उस दर्शनमोहनीय के क्षयका निष्ठापन करता है (सूत्र १, ६-८, ११-१२)।

इसी अभिप्राय को व्यक्त करनेवाली गाथा कषायप्राभृत में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥११०॥

दोनों ग्रन्थगत इन उल्लेखों में बहुत कुछ समानता है। साथ ही विशेषता भी कुछ उनमें है। वह यह कि षट्खण्डागम में जहाँ मनुष्यगति का कोई उल्लेख नहीं किया गया वहाँ कषाय-प्राभृत में 'जिन केवली तीर्थंकर' का कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया है।

हाँ, धवला में वहाँ इस प्रसंग में यह शंका उठाई गई है कि 'पन्द्रह कर्मभूमियों में' इतना मात्र कहने से वहाँ अवस्थित देव, मनुष्य और तिर्यंच इन सबका ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होगा। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि सूत्र में निर्दिष्ट 'कर्मभूमि' यह संज्ञा उपचार से उन मनुष्यों की है जो उन कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए हैं, इससे उनमें अवस्थित देवों व तिर्यंचों के ग्रहण का प्रसंग प्राप्त नहीं होता। इस पर पुनः यह शंका की गई है कि फिर भी तिर्यंचों के ग्रहण का प्रसंग तो प्राप्त होता ही है, क्योंकि मनुष्यों के समान तिर्यंचों की उत्पत्ति भी वहाँ सम्भव है। इसके समाधान में यह स्पष्ट किया है कि जिनकी उत्पत्ति कर्मभूमियों के सिवाय अन्यत्र सम्भव नहीं है उन मनुष्यों का नाम ही पन्द्रह कर्मभूमि है। तिर्यंच चूंकि कर्म-भूमियों के अतिरिक्त स्वयंप्रभ पर्वत के परभाग में भी उत्पन्न होते हैं, इससे तिर्यंचों का भी प्रसंग नहीं प्राप्त होता। इस प्रसंग के स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कषायप्राभृत की उसी उपर्युक्त गाथा 'उक्तं च' निर्देश के साथ उद्धृत की है।[2]

कषायप्राभृत में दर्शनमोह की इस क्षपणा के प्रसंग में, जहाँ तक मैं देख सका हूँ, यह कहीं नहीं कहा गया कि उसकी क्षपणा का प्रारम्भ जिन, केवली व तीर्थंकर के पादमूल में किया जाता है। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, षट्खण्डागम में उसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[3]

षट्खण्डागम के प्रसंगप्राप्त उस सूत्र में उपयुक्त जिन, केवली और तीर्थंकर इन पदों की सार्थकता को प्रकट करते हुए धवलाकार ने प्रथम तो यह कहा है कि देशजिनों का प्रति-षेध करने के लिए सूत्र में 'केवली' को ग्रहण किया है तथा तीर्थंकर कर्म से रहित केवलियों का प्रतिषेध करने के लिए 'तीर्थंकर' को ग्रहण किया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर

---

१. धवला पु० ६, पृ० २०६-२२२; उनका स्पष्टीकरण चूर्णिकार ने कषायप्राभृत में गाथोक्त क्रम से ही किया है।—क० पा० सुत्त पृ० ६१५-३०

२. धवला पु० ६, पृ० २४६

३. सूत्र १, ६-८, १०-११ (पु० ६, पृ० २४३)

दिया है कि तीर्थंकरके पादमूल में दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ करते हैं, अन्यत्र नहीं।

विकल्प के रूप में उन्होंने वहाँ आगे यह भी कहा है कि अथवा 'जिन' ऐसा कहने पर चौदह पूर्वों के धारकों को ग्रहण करना चाहिए, 'केवली' ऐसा कहने पर तीर्थंकर कर्म के उदय से रहित केवलियों को ग्रहण करना चाहिए, तथा 'तीर्थंकर' ऐसा करने पर तीर्थंकर नामकर्म के उदय से उत्पन्न आठ प्रतिहार्यों और चौंतीस अतिशयों से सहित केवलियों को ग्रहण करना चाहिए। इन तीनों के भी पादमूल में दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ करते हैं।[1]

विशेषता

इन दोनों ग्रन्थों में जो विशेषता दृटिगोचर होती वह इस प्रकार है—

१. समस्त षट्खण्डागम जहाँ, कुछ अपवाद को छोड़कर[2], गद्यात्मक सूत्रों में रचा गया है वहाँ कषायप्राभृत गाथाओं में ही रचा गया है।

२. षट्खण्डागम के सूत्र अर्थ की दृष्टि से उतने गम्भीर व दुरूह नहीं है; जितने कषाय-प्राभृत के गाथासूत्र अर्थ की दृष्टि से गम्भीर व दूरूह हैं। यही कारण है कि षट्खण्डागम का ग्रन्थप्रमाण छत्तीस हजार (प्रथम ५ खण्डों का ६०००+छठे खण्ड का ३००००) श्लोक है, पर समस्त कषायप्राभृत केवल १८० अथवा २३३ गाथाओं में रचा गया है। ग्रन्थप्रमाण में वह इतना अल्प होकर भी प्रतिपाद्य विषय का सर्वांगपूर्ण विवेचन करनेवाला है।

३. षट्खण्डागम के छह खण्डों में प्रथम खण्ड जीवस्थान और चतुर्थ वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में मंगल किया गया है, किन्तु कषायप्राभृत के प्रारम्भ में व अन्यत्र भी कहीं मंगल नहीं किया गया।

४. षट्खण्डागम में खण्डों व उनके अन्तर्गत अधिकारों आदि का कुछ उल्लेख नहीं है। बीच-बीच में वहाँ अनियत क्रम से विविध अनुयोगद्वारों का निर्देश अवश्य किया गया है। धवलाकार ने भी वहाँ खण्डों का व्यवस्थित निर्देश नहीं किया।

किन्तु क० प्रा० में ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यह निर्देश कर दिया गया है कि पाँचवें पूर्व के अन्तर्गत दसवें वस्तु नामक अधिकार में तीसरा पेज्जपाहुड (प्रेयःप्राभृत) है, उसमें कषायों का प्राभृत है—कषायों की प्ररूपणा की गई है (गा० १)। आगे कहा गया है कि एक सौ अस्सी गाथा रूप इस ग्रन्थ में पन्द्रह अर्थाधिकार हैं। उनमें जिस अर्थाधिकार में जितनी सूत्रगाथाएँ हैं उन्हें मैं (गुणधर) कहूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थकार ने आगे उन अर्थाधिकारों में यथा क्रम से सूत्र गाथाएँ व भाष्यगाथाओं की संख्या का उल्लेख भी कर दिया है (२-१२)।

इस प्रकार कषायप्राभृत के कर्ता आचार्य गुणधर ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसके अन्तर्गत नामनिर्देश के साथ अर्थाधिकारों व उनमें रची जानेवाली सूत्रगाथाओं और भाष्यगाथाओं की संख्या का भी निर्देश कर दिया है तथा उसी क्रम से प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा भी की है।

---

१. धवला पु० ६, पृ० २४६

२. अपवाद के रूप में वहाँ ३६ गाथा सूत्र (वेदनाखण्ड में ८, और वर्गणा खण्ड में २८)भी हैं।

४. ष०ख० में जीवस्थान खण्ड से सम्बद्ध नौ तथा वेदना व वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत कुछ अनुयोगद्वारों से सम्बद्ध सात, इस प्रकार सोलह चूलिका नामक प्रकरण भी हैं। दूसरे क्षुद्रक-बन्ध खण्ड के अन्तर्गत ११ वें अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के अन्त में 'महादण्डक' है। इसे भी धवलाकार ने चूलिका कहा है।

क० प्रा० में इस प्रकार की किसी चूलिका की योजना नहीं की गई है।

५. ष० ख० में ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से सम्बद्ध बन्ध, उदय (वेदना) व बन्धनीय (वर्गणा) आदि की प्ररूपणा कुछ अनियत क्रम से की गई है।

क० प्रा० में प्रेयोद्वेषविभक्ति, स्थितिविभक्ति व अनुभागविभक्ति आदि पन्द्रह अर्थाधिकारों के आश्रय से राग-द्वेषस्वरूप एक मात्र मोहनीय कर्म की व्यवस्थित व क्रमबद्ध प्ररूपणा की गई है।

६. ष० ख० के प्रथम खण्ड जीवस्थान में ओघ और आदेश से चौदह गुणस्थानों व चौदह मार्गणाओं से विशेषित उन्हीं गुणस्थानों की सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्रमशः सुव्यवस्थित प्ररूपणा की गई है।

क० प्रा० में गुणस्थान और मार्गणाओं से सम्बन्धित इस प्रकार की प्ररूपणा उपलब्ध नहीं होती।

अभिप्रायभेद

दोनों ग्रन्थों में कहीं-कहीं प्रतिपाद्य विषय के व्याख्यान में कुछ मतभेद भी रहा दिखता है। जैसे—

७. ष० ख० में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रसंग में यह कहा गया है कि ज्ञानावरणादि सभी कर्मों की स्थिति को जीव जब अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण बाँधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है (सूत्र १, ६-१, ३)।

क० प्रा० में सम्यक्त्व की उत्पत्ति—दर्शनमोह की उपशामना—के प्रसंग में इस प्रकार के स्थितिबन्ध का प्रमाण मूल व चूर्णि में कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

८. ष० ख० में क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रसंग में यह कहा गया है कि पन्द्रह कर्मभूमियों में जहाँ—जिन क्षेत्र व काल विशेषों में—जिन, केवली व तीर्थंकर सम्भव हैं वहाँ उनके पादमूल में जीव दर्शनमोहनीय की क्षपणा प्रारम्भ करता है (१, ६-८,१०-११)।

क० प्रा० में मात्र 'कर्मभूमिज' का उल्लेख किया गया है। परन्तु जिन, केवली तीर्थंकर का उल्लेख वहाँ देखने में नहीं आया।

९. ष० ख० में इसी प्रसंग में मनुष्यगति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया, जबकि क० प्रा० (गा० ११०) में उसका स्पष्ट उल्लेख देखा जाता है।

यह अवश्य है कि धवलाकार ने सूत्र में निर्दिष्ट 'कर्मभूमि' को उपचार से कर्मभूमिजात मनुष्य की संज्ञा मानी है, यह पूर्व में स्पष्ट ही किया जा चुका है।

ऊपर जो षट्खण्डागम से कषायप्राभृत के पूर्ववर्ती होने की सम्भावना व्यक्त की गई है वह ऐसी ही कुछ विशेषताओं को देखते हुए की है।

यह भी ध्यातव्य है कि पेज्जदोसपाहुड (कषायप्राभृत) अविच्छिन्न परम्परा से आता हुआ गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ व उन्होंने १६००० पद प्रमाण उस कषायप्राभृत का १८०

गाथासूत्रों में उपसंहार किया।

उसी आचार्यपरम्परा से आता हुआ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। पर उन्होंने उसका स्वयं उपसंहार न करके उसका व्याख्यान भूतवलि और पुष्पदन्त के लिए किया।[1] आचार्य भूतवलि ने उसका उपसंहार कर छह खण्ड किये।[2]

उन छह खण्डों में सबका ग्रन्थप्रमाण ज्ञात नहीं होता, धवला के अनुसार जीवस्थान १८००० पद प्रमाण[3] और खण्डग्रन्थ की अपेक्षा वेदना का प्रमाण १६००० पद रहा है।[4]

ये दोनों ग्रन्थ आचार्य परम्परा से आकर उन दोनों आचार्यों को गाथासूत्रों के रूप में या गद्यात्मक सूत्रों के रूप में प्राप्त हुए, यह ज्ञात नहीं होता। जिस किसी भी रूप में वे उन्हें प्राप्त हुए हों, पर सम्भवतः परम्परा से मौखिक रूप में ही वे उन्हें प्राप्त हुए होंगे।

२. षट्खण्डागम व मूलाचार

वट्टकेराचार्य (सम्भवतः ई० द्वितीय शताब्दी) विरचित 'मूलाचार' एक साध्वाचार-विषयक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें मुनियों के आचार की विस्तार से प्ररूपणा की गई है। वह इन वारह अधिकारों में विभक्त है—१ मूलगुणाधिकार, २. वृहत्प्रत्याख्यानसंस्त-रस्तव, ३. संक्षेपप्रत्याख्यानसंस्तरस्तव, ४. समाचार, ५. पंचाचार, ६. पिण्डशुद्धि, ७. षडावश्यक, ८. द्वादशानुप्रेक्षा, ९. अनगारभावना, १०. समयसार, ११. शीलगुणाधिकार और १२. पर्याप्ति अधिकार।

इसकी यह विशेषता रही है कि उन बारह अधिकारों में से विवक्षित अधिकार में जिन विषयों का विवेचन किया जानेवाला है उसकी सूचना उस अधिकार के प्रारम्भ में करके तदनुसार ही क्रम से उनकी प्ररूपणा वहाँ की गई है।

उक्त बारह अधिकारों में अन्तिम पर्याप्ति अधिकार है। प्रारम्भ में यहाँ कर्मचक्र से निर्मुक्त सिद्धों को नमस्कार करके आनुपूर्वी के अनुसार पर्याप्तिसंग्रहणियों के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। तत्पश्चात् इस अधिकार में जिन विषयों का विवेचन किया जानेवाला है उनका निर्देश इस प्रकार कर दिया गया है—पर्याप्ति, देह, काय व इन्द्रियों का संस्थान, योनि, आयु, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद, उद्वर्तन, स्थान, कुल, अल्पबहुत्व तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश रूप चार प्रकार का बन्ध।

इन सब सैद्धान्तिक विषयों की प्ररूपणा यहाँ व्यवस्थित रूप में जिस क्रम व पद्धति से की गई है उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिता को उन विषयों का ज्ञान

---

१. पुणो कमेण वक्खाणंतेण आसाढमाससुक्कपक्खएक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो। (धवला पु० १, ७०); तेण वि गिरिणयरचंदगुहाए भूदवलि-पुप्फदंताणं महाकम्मपहुडि-पाहुडं सयलं समप्पिदं। (पु० ९, पृ० १३३)

२. तदो भूदवलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडि-पाहुडमुवसंहरिऊण छखंडाणि कयाणि।---धवला पु० ९, पृ० १३३

३. पदं पडुच्च अट्ठारहपदसहस्सं।—धवला पु० १, पृ० ६०

४. अधवा खंडगंथं पडुच्च वेयणाए सोलसपदसहस्साणि। ताणि व जाणिदूण वत्तव्वाणि। —धवला पु० ९, पृ० १०६

अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्राप्त था।

उर्युपक्त विषयों में से बहुतों की प्ररूपणा प्रस्तुत षट्खण्डागम में भी की गई है जिसकी समानता विवेचन पद्धति के कुछ भिन्न होते हुए भी दोनों ग्रन्थों में देखी जाती है। उदाहरण के रूप में यहाँ उनमें से कुछ के विषय में प्रकाश डाला जाता है। जैसे—

१. पूर्वनिर्दिष्ट क्रम के अनुसार मूलाचार में सर्वप्रथम पर्याप्तियों की प्ररूपणा की गई है। उसमें यहाँ प्रथमतः आहार-शरीरादि छह पर्याप्तियों के नामों का निर्देश करते हुए उनमें से एकेन्द्रियों के चार, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त द्वीन्द्रियादिकों के पाँच और संज्ञियों के छहों पर्याप्तियों का सद्भाव प्रकट किया गया है।[1]

षट्खण्डागम में जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में योगमार्गणा के प्रसंग में उन छह पर्याप्तियों की संख्या का निर्देश करते हुए वे किन जीवों के कितनी सम्भव हैं, इसे भी स्पष्ट किया गया है।[2]

विशेषता इतनी है कि यहाँ उन आहार-शरीरादि छह पर्याप्तियों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया, जो मूलाचार में किया गया है। उनके नामों का उल्लेख वहाँ धवला में कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त मूलाचार में जहाँ एकेन्द्रियों के चार, द्वीन्द्रियादिकों के पाँच और संज्ञियों के छह; इस क्रम से उनका उल्लेख किया गया है वहाँ षट्खण्डागम में विपरीत क्रम से संज्ञियों के छह, द्वीन्द्रियादिकों के पाँच और एकेन्द्रियों के चार, इस प्रकार से उनका उल्लेख है। इस प्रकार क्रम भेद होने पर भी अभिप्राय में भिन्नता नहीं है।

मूलाचार में उक्त रीति से पर्याप्तियों के अस्तित्व को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि इन पर्याप्तियों से जो जीव अनिवृत्त (अपूर्ण) होते हैं उन्हें अपर्याप्त जानना चाहिए।[3]

यह अभिप्राय षट्खण्डागम में पृथक्-पृथक् उनकी संख्या के निर्देश के साथ ही प्रकट किया गया है। यथा—**छ पज्जत्तीओ छ अपज्जत्तीओ** (७०) आदि।

मूलाचार में आगे उन पर्याप्तियों के निष्पन्न होने के काल का भी निर्देश किया गया है,[4] जो ष०ख० में नहीं है।

२. मूलाचार में शुद्ध पृथिवीकायिक, खरपृथिवी कायिक एवं अप्कायिक आदि विभिन्न जातियों के जीवों की आयु के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है। पर वहाँ इस प्ररूपणा में गुणस्थान और मार्गणा की अपेक्षा नहीं की गई।[5]

ष० ख० में इस आयु (काल) की प्ररूपणा जीवस्थान के अन्तर्गत कालानुगम अनुयोगद्वार में और दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में से दूसरे 'एक जीव की अपेक्षा काल' अनुयोगद्वार में भी की गई है। पर जीवस्थान में जहाँ गुणस्थान और मार्गणा दोनों की

---

१. मूलाचार १२, ४-६

२. ष० ख० सूत्र १, १, ७०-७५ (पु० १, पृ० ३११-१४)।

३. मूलाचार १२-६

४. पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णायव्वा।
अणुसमयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीणं ॥१२-७

५. मूलाचार १२, ६४-८३

अपेक्षा रखी गई है वहाँ क्षुद्रकबन्ध में गुणस्थाननिरपेक्ष केवल मार्गणा के क्रम से उस काल की प्ररूपणा की गई है।

इसके अतिरिक्त विवक्षित पर्याय में जीव उत्कृष्ट व जघन्य रूप में कितने काल रहता है इसकी विवक्षा ष० ख० में रही है। पर मूलाचार में एक ही भव की अपेक्षा रखकर उस आयु की प्ररूपणा की गई है।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में इस काल प्ररूपणा की सर्वथा तो समानता नहीं रही, फिर भी जिन जीवों की विवक्षित पर्याय उसी भव में समाप्त हो जाती है, भवान्तर में संक्रान्त नहीं होती, उन की आयु के विषय में दोनों ग्रन्थों में कुछ समानता देखी जाती है, यदि गुणस्थान की विवक्षा न की जाय। यथा—

मूलाचार में देवों व नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम और जघन्य आयु दस हजार वर्ष निर्दिष्ट की गई है। आगे वहाँ पृथिवीक्रम से नारकियों की उत्कृष्ट आयु १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम कही गई हैं। तत्पश्चात् वहाँ संक्षेप में यह निर्देश कर दिया गया है कि प्रथमादि पृथिवियों में जो उत्कृष्ट आयु है वही साधिक (समयाधिक) द्वितीय आदि पृथिवियों में यथाक्रम से जघन्य आयु है। यहीं पर यह भी सूचना कर दी गई है कि घर्मा (प्रथम) पृथिवी के नारकियों, भवनवासियों और व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है।[1]

इन जीवों की आयु का यही प्रमाण ष० ख० में भी यथा प्रसंग निर्दिष्ट किया गया है।[2]

इसी प्रकार दोनों ग्रन्थों में देवों के आयुप्रमाण में भी समानता है, भले ही उसका उल्लेख आगे पीछे किया गया हो।[3]

विशेषता यह रही है कि मूलाचार में पृथक्-पृथक् असुरकुमार-नागकुमारादि भवनवासियों और किंनरकिंपुरुषादि व्यन्तरों, ज्योतिषियों एवं वैमानिकों की आयु का उल्लेख किया गया है,[4] जिसका कि उल्लेख ष० ख० में नहीं किया गया।

इसी प्रकार मूलाचार में सौधर्मादि कल्पों की देवियों के भी आयुप्रमाण को प्रकट किया गया है, जिसका उल्लेख ष० ख० में नहीं किया गया।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मूलाचार में देवियों की इस आयु के प्रमाण को दो भिन्न मतों के अनुसार प्रकट किया गया है। इनमें प्रथम मत के अनुसार सोलह कल्पों में से प्रत्येक में उन देवियों के आयुप्रमाण को यथा क्रम से ५,७,९,११,१३,१५,१७,१९,२१,२३,२५,२७,३४,४१, ४८ और ५५ पल्योपम निर्दिष्ट किया गया है। यही आयुप्रमाण उनका दूसरे मत के अनुसार यथाक्रम से प्रत्येक कल्पयुगल में ५,१७,२५,३०,३५,४०,४५, और ५५ पल्योपम कहा गया है।[5]

वृत्तिकार आ० वसुनन्दी ने द्वितीय उपदेश को न्याय्य बतलाते हुए विकल्प के रूप में दोनों

१. मूलाचार १२, ७३-७५

२. ष० ख० सूत्र २, २, १-९ और २, २, २५-२९ (पु० ७)।

३. मूलाचार १२, ७६-७८ व ष० ख० सूत्र २, २, २८-३८

४. वही, १२, ७६-७८

५. वही १२, ८९-८०

उपदेशों को ग्राह्य कहा है।[1]

विरुद्ध मतों के सद्भाव में धवलाकार आ० वीरसेन की प्रायः इसी प्रकार की पद्धति रही है। उसी का अनुसरण सम्भवतः आ० वसुनन्दी ने किया है।[2]

देवियों के आयुप्रमाणविषयक ये दोनों मत तिलोयपण्णत्ती में भी उपलब्ध होते हैं। उनमें प्रथम मत का उल्लेख वहाँ 'लोगायणिये' इस निर्देश के साथ और दूसरे मत का उल्लेख 'मूलायारे इरिया एवं णिउणं णिरूवेंति' इस सूचना के साथ किया गया है।[3]

३. मूलाचार में वेदविषयक प्ररूपणा के प्रसंग में यह कहा गया है कि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी और सम्मूर्च्छन ये सब जीव वेद से नियमतः नपंसक होते हैं। देव, भोगभूमिज और असंख्यात वर्ष की आयुवाले—भोगभूमिप्रतिभाग में उत्पन्न हुए व म्लेच्छखण्डों में उत्पन्न हुए—मनुष्य और तिर्यंच ये स्त्री और पुरुष इन दो वेदों से युक्त होते हैं, उनके तीसरा (नपुंसक) वेद नहीं होता। शेष पंचेन्द्रिय संज्ञी व असंज्ञी तिर्यंच एवं मनुष्य ये तीनों वेदवाले होते हैं।[4]

ष० ख० में इस वेद की प्ररूपणा सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत वेदमार्गणा में की गई है। दोनों ग्रन्थों का वेदविषयक यह अभिप्राय प्रायः समान ही है। प्ररूपणा के क्रम में भेद अवश्य रहा है, पर आगे पीछे उसका निरूपण उसी रूप में किया गया है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जो वेद की प्ररूपणा की गई है उसमें गुणस्थान और मार्गणा की विवक्षा रही है, जो मूलाचार में नहीं रही।[5]

४. मूलाचार में अवधिज्ञान के विषय की प्ररूपणा करते हुए जिन गाथाओं के द्वारा देव-नारकियों के अवधिज्ञान के विषय को प्रकट किया गया है उनमें गाथा १०७ व १०९-१० ष०ख० में सूत्र के रूप में उपलब्ध होती हैं। विशेष इतना है कि मूलाचारगत गाथा ११० के उत्तरार्ध में जहाँ 'संखातीदा य खलु' ऐसा पाठ है वहाँ ष० ख० में 'संखातीदसहस्सा' ऐसा पाठ है।[6]

मूलाचार की गाथा १०८ और ष० ख० की गाथा १३ व १४ के पूर्वार्ध में कुछ पाठ-भेद है, इससे अभिप्राय में भी कुछ भेद दिखने लगा है। परन्तु धवलाकार ने उसका समन्वय करते हुए प्रसंगप्राप्त उस गाथा की व्याख्या में कहा है कि आनत-प्राणतकल्पवासी देव पाँचवीं पृथिवी के अधस्तन तलभाग तक साढ़े नौ राजु आयत और एक राजु विस्तृत लोकनाली को

---

१. देवायुषः प्रतिपादनन्यायेनायमेवोपदेशो न्याय्योऽत्रैवकारकरणादथवा द्वावप्युपदेशौ ग्राह्यौ, सूत्र द्वयोपदेशात्। द्वयोर्मध्य एकेन सत्येन भवितव्यम्। नात्र सन्देहमिथ्यात्वम्, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति सन्देहाभावात्। छद्मस्थैस्तु विवेकः कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति।—वृत्ति १२-८०

२. धवला पु० १, पृ० २१७-२१, पु० ७, पृ० ५३९-४० और पु० ९, पृ० १२६ इत्यादि।

३. ति० प० गाथा ८,५३०-३२ 'मूलायारेइरिया' ऐसा कहकर सम्भवतः इस मूलाचार के रचयिता आचार्य की ओर ही संकेत किया गया है।

४. मूलाचार १२,८७-८९

५. ष० ख० सूत्र १०५-१० (पु० १, पृ० ३४५-४७)।

६. गाथा सूत्र १२ व १०-११ (पु० १३, पृ० ३१६ व ३१४-१५)।

देखते हैं तथा आरण-अच्युत कल्पवासी देव पांचवीं पृथिवी के अधस्तन तलभाग तक दस राजु आयत और एक राजु विस्तृत लोकनाली को देखते हैं। नौग्रैवेयकवासी देव छठी पृथिवी के अधस्तन तलभाग तक साधिक ग्यारह राजु आयत और एक राजु विस्तृत लोकनाली को देखते हैं।[1]

विशेषता यहाँ यह रही है कि मूलाचार में आगे गाथा १११ में पृथिवी क्रम से नारकियों के भी अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र को स्पष्ट किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण ष० ख० में नहीं किया गया है।

५. मूलाचार में गुणस्थान और मार्गणा की विवक्षा न करके सामान्य से गति-आगति की प्ररूपणा विस्तार से की गई है। वहाँ संक्षेप में विवक्षित गति में जहाँ जिन जीवों की उत्पत्ति सम्भव है उनकी उत्पत्ति को जातिभेद के बिना एक साथ प्रकट किया गया है। जैसे—

असंज्ञी जीव प्रथम पृथिवी में, सरीसृप द्वितीय पृथिवी तक, पक्षी तीसरी पृथिवी तक, उरःसर्प (अजगर आदि) चौथी पृथिवी तक, सिंह पाँचवीं पृथिवी तक, स्त्रियाँ छठी पृथिवी तक और मत्स्य सातवीं पृथिवी तक जाते हैं।[2]

इस प्रकार मूलाचार में यथाक्रम से नरकों में उत्पन्न होनेवाले जीवविशेषों का निर्देश करके आगे नारक पृथिवियों से निकलते हुए नारकी कहाँ किन अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं और किन अवस्थाओं को नहीं प्राप्त करते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सातवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्य पर्याय को प्राप्त नहीं करते, वहाँ से निकलकर वे तिर्यंच गति में संख्यात वर्ष की आयुवाले (कर्मभूमिज व कर्मभूमिप्रतिभागज), व्यालों, दंष्ट्रावाले सिंहादिकों में, पक्षियों में और जलचरों में उत्पन्न होते हैं तथा फिर से भी वे नारक अवस्था को प्राप्त होते हैं।[3]

छठी पृथिवी से निकले हुए नारकी अनन्तर जन्म में मनुष्यभव को कदाचित् प्राप्त करते हैं। पर मनुष्यभव को प्राप्त करके वे संयम को प्राप्त नहीं कर सकते। पाँचवीं पृथिवी से निकला हुआ जीव संयम को तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह भवसंक्लेश के कारण नियम से मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकता है। चौथी पृथिवी से निकला हुआ जीव मुक्ति को तो प्राप्त कर सकता है, पर निश्चित ही वह तीर्थंकर नहीं हो सकता। प्रथम तीन पृथिवियों से निकले हुए नारकी अनन्तर भव में कदाचित् तीर्थंकर तो हो सकते हैं, पर वे नियम से बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती पदों को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।[4]

ष० ख० में जीवस्थान खण्ड से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में अन्तिम गति-आगति चूलिका है। उसमें गति-इन्द्रिय आदि मार्गणाओं के क्रम से गुणस्थान निर्देशपूर्वक प्रकृत गति-आगति

---

१. धवला पु० १३, पृ० ३१९

२. मूलाचार १२, ११२-१३

३. प्रसंगप्राप्त यह मूलाचार की गाथा (१२-११५) तिलोयपण्णत्ती की गाथा २-२९० से प्रायः शब्दशः समान है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मूलाचार और तिलोयपण्णत्ती में प्ररूपित अनेक विषयों में पर्याप्त समानता है। देखिए ति० प० भाग २ की प्रस्तावना पृ० ४२-४४ में 'मूलाचार' शीर्षक।

४. मूलाचार १२, ११४-२०

विषयक प्ररूपणा विस्तार से की गई है, जो अभिप्राय में मूलाचार की उस प्ररूपणा से बहुत कुछ समान है।[1]

उदाहरण के रूप में दोनों का कुछ मिलान इस प्रकार किया जा सकता है—

> उव्वट्टिदा य संता णेरइया तमतमादु पुढवीदो ।
> ण लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणीमुवणमंति ।।—मूलाचार १२, ११४
> छट्ठीदो पुढवीदो उव्वट्टिदा अणंतरभवम्हि ।
> भज्जा माणुसलंभे संजमलंभेण दु विहीणा ।।—मूलाचार १२,११६

ष० ख० में भी इसी अभिप्राय को देखिए—

"अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिद-समाणा कदि गदीओ आगच्छंति ? एक्कम्हि तिरिक्खगदिमागच्छंति । तिरिक्खेसु उववण्णल्लया छण्णो उप्पाएंति आभिणिवोहियणाणं णो उप्पाएंति, सुदणाणं णो उप्पाएंति, ओहिणाणं णो उप्पाएंति, सम्मामिच्छत्तं णो उप्पाएंति, सम्मत्तं णो उप्पाएंति, संजमासंजमं णो उप्पाएंति ।

छट्ठीए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ? दुवे गदीओ आगच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुस्सगदिं चेव । तिरिक्ख-मणुस्सेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा मणुस्सा केइं छ उप्पाएंति—केइं आभिणिवोहियणाणमुप्पाएंति, केइं सुदणाणमुप्पाएंति, केइं मोहिणाणमुप्पाएंति, केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति, केइं सम्मत्तमुप्पाएंति केइं संजमासंजममुप्पाएंति ।" ष० ख० सूत्र १, ९-९, २०३-८ (पु० ६, पृ० ४८४-८६)

मूलाचार में यह प्ररूपणा संक्षेप में की गई है, पर है वह सर्वांगपूर्ण । कौन जीव कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं, इत्यादि का विचार यहाँ बहुत स्पष्टता से किया गया है । जैसे—

सब अपर्याप्त, सूक्ष्मकाय, सब तेजकाय व वायुकाय तथा असंज्ञी ये सब जीव मनुष्य और तिर्यंचों में से ही आते हैं—उनमें नारकी, देव, भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव आकर उत्पन्न नहीं होते । पृथिवीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक और सब विकलेन्द्रिय ये सब मनुष्य और तिर्यंचों में जाकर उत्पन्न होते हैं । सभी तेजकाय और सभी वायुकाय जीव अनन्तर भव में नियम से मनुष्य पर्याय को नहीं प्राप्त करते हैं । प्रत्येकशरीर वनस्पति तथा बादर व पर्याप्त पृथिवीकायिक एवं जलकायिक जीव मनुष्य, तिर्यंच और देवों में से ही आते हैं । असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंच जीव मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी इनमें उत्पन्न तो होते हैं, पर उन सभी में वे उत्पन्न नहीं होते—यदि नारकियों में वे उत्पन्न होते हैं तो केवल प्रथम पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होते हैं; यदि देवों में उत्पन्न होते हैं तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में ही उत्पन्न होते हैं; यदि मनुष्यों और तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिज, भोगभूमिप्रतिभागज तथा अन्य भी पुण्यशाली मनुष्य-तिर्यंचों में उत्पन्न न होकर शेष मनुष्य-तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं ।[2]

---

१. सातवीं व छठी आदि पृथिवियों से निकले हुए नारकी कहाँ जाते हैं, तथा वहाँ जाकर वे क्या प्राप्त करते हैं व क्या नहीं प्राप्त करते हैं, इसके लिए देखिए सूत्र १, ९-९, २०३-२० (पु० ६) ।

२. मूलाचार १२,१२३-२६

इत्यादि क्रम से मूलाचार में जो विविध जीवों की गति-आगतिविषयक प्ररूपणा की गई है वह सरल व सुबोध है। किन्तु ष०ख० में जो इस गति-आगति की प्ररूपणा की गई है वह प्रायः चारों गतियों के अन्तर्गत भेद-प्रभेदों का आश्रय लेकर गुणस्थान क्रम के अनुसार की गई है। इससे विवक्षित जीव की गति-आगति के क्रम को वहाँ तदनुसार ही खोजना पड़ता है।[1]

इसके अतिरिक्त मूलाचार में तापस, परिव्राजक और आजीवक आदि अन्य लिंगियों, निर्ग्रन्थ श्रावकों व आर्यिकाओं, निर्ग्रन्थ लिंग के साथ उत्कृष्ट तप करनेवाले अभव्यों और रत्नत्रय से विभूषित दिगम्बर मुनियों आदि के भी उत्पत्ति क्रम को प्रकट किया गया है।[2]

ष० ख० में इनकी वह प्ररूपणा उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि वहाँ उन तापस आदि के उत्पत्ति के क्रम की प्ररूपणा मनुष्यगति के प्रसंग में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों की विवक्षा में की जा सकती थी, पर सम्भवतः सूत्रकार को इस विस्तार में जाना अभिप्रेत नहीं रहा।

मूलाचार में इस गति-आगति के प्रसंग को समाप्त करते हुए अन्त में यह सूचना की गई है कि इस प्रकार से मैंने सारसमय—व्याख्याप्रज्ञप्ति—में जिस गति-आगति का कथन किया गया है उसकी प्ररूपणा तदनुसार ही यहाँ कुछ की है। मुक्तिगमन नियम से मनुष्य गति में ही अनुज्ञात है।[3]

गाथा में निर्दिष्ट यह सारसमय कौन-सा आगमग्रन्थ मूलाचार के कर्ता के समक्ष रहा है, यह अन्वेषणीय है। वृत्तिकार आचार्य वसुनन्दी ने उसका अर्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति किया है।[4] इसका आधार उनके सामने सम्भवतः धवला टीका रही है। धवला में उस गति-आगति चूलिका का उद्गम उस व्याख्याप्रज्ञप्ति से निर्दिष्ट किया गया है।[5]

आ० वसुनन्दी ने मूलाचार की उस वृत्ति में जहाँ-तहाँ धवला का अनुसरण किया है। इसका परिचय आगे धवला से सम्बद्ध ग्रन्थोल्लेख में कराया जानेवाला है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का पाँचवाँ अंग है। उसमें गति-आगति की भी प्ररूपणा की गई है।[6]

---

१. उदाहरणस्वरूप पूर्वोक्त मूलाचार में जिन अपर्याप्त, सूक्ष्मकाय व तेज-वायुकाय आदि जीवों की गति-आगति की प्ररूपणा की गई है उसके लिए ष० ख० में सूत्र १,९-९,११२-४० द्रष्टव्य हैं—(पु० ६, पृ० ४५७-६८)

२. मूलाचार १२,१३१-३५ आदि।

३. एवं तु सारसमए भणिदा दु गदीगदी मया किंचि।
णियमा दु मणुसगदिए णिव्वुदिगमणं अणुण्णादं ॥१४३॥

४. एवं तु अनेन प्रकारेण सारसमये व्याख्याप्रज्ञप्त्यां सिद्धान्ते तस्माद् वा भणिते गति-आगती ···। मूला०वृत्ति १२-१४३। (यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है, क्योंकि इस गाथा की संस्कृत-छाया के स्थान में किसी अन्य गाथा की छाया आ गई दिखती है)।

५. वियाहपण्णत्तीदो गदिरागदी णिग्गदा।—धवला पु० १, पृ० १३०

६. व्याख्याप्रज्ञप्तौ षष्टिलक्षाष्टाविंशतिपदसहस्रायां षष्टिव्याकरणसहस्राणि किमस्ति जीवो नास्ति जीवः क्वोत्पद्यते कुत आगच्छतीत्यादयो निरूप्यन्ते।

—धवला पु० ९, पृ० २००

अमृतचन्द्र सूरि ने भी इस गति-आगति की प्ररूपणा अपने तत्त्वार्थसार में की है।[1] उसका आधार सम्भवतः मूलाचार का यही प्रकरण रहा है। कारण यह कि इन दोनों ही ग्रन्थों में इस प्ररूपणा का क्रम व पद्धति सर्वथा समान है।[2] इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो तत्त्वार्थसार में मूलाचार की गाथाओं का छायानुवाद-सा दिखता है।[3]

इसी प्रकार तत्त्वार्थसार में जो योनि,[4] कुल,[5] आयु[6] और उत्सेध[7] आदि की प्ररूपणा की गई है उसका आधार भी यही मूलाचार का पर्याप्ति अधिकार हो सकता है।

६. मूलाचार के इस अधिकार में जीवस्थान (जीवसमास), गुणस्थान और मार्गणास्थानों आदि की भी जो संक्षेप में प्ररूपणा की गई है[8] उनकी वह प्ररूपणा ष० ख० के उस सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में यथाप्रसंग की गई है। इस प्रसंग में यहाँ मार्गणाओं के नामों का निर्देश करनेवाली जो गाथा (१२-१५६) आयी है वह थोड़े-से शब्द परिवर्तन के साथ ष० ख० में सूत्र के रूप में उपलब्ध होती है।[9]

इसी प्रकार जिन अनन्त निगोदजीवों ने कभी त्रस पर्याय नहीं प्राप्त की है उनका उल्लेख करनेवाली 'अत्थि अणंता जीवा' आदि गाथा (१६२) तथा आगे एक-निगोदशरीर में अवस्थित जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपक 'एगणिगोदसरीरे' आदि गाथा (१६३), ये दोनों गाथाएँ ष०ख० में सूत्र के रूप में उपलब्ध होती हैं।[10]

७. मूलाचार में निगोदों में वर्तमान एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिकों का प्रमाण अनन्त तथा एकेन्द्रिय पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक और वायुकायिक जीवों का प्रमाण असंख्यात लोकमात्र निर्दिष्ट किया गया है (१६४)।

ष०ख० में उनका यही प्रमाण कहा गया है।[11]

८. मूलाचार में त्रसकायिकों का प्रमाण प्रतरच्छेद से निष्पन्न असंख्यात श्रेणियाँ निर्दिष्ट

---

१. तत्त्वार्थसार २,१४६-७५
२. विशेष जानकारी के लिए 'आ० शान्तिसागर स्मृतिग्रन्थ' में 'तत्त्वार्थसार' शीर्षक द्रष्टव्य है—(पृ० २१५-२२)।
३. संखातीदाऊणं संकमणं नियमदो दु देवेसु।
   पयडीए तणुकसाया सव्वेसिं तेण बोधव्वा ॥—मूलाचार १२,१२८
   संख्यातीतायुषां नूनं देवेष्वेवास्तु संक्रमः।
   निसर्गेण भवेत् तेषां यतो मन्दकषायता ॥—त० सा० २,१६०
४. मूलाचार १२,५८-६३ व त०सा० २,१०५-११
५. मूलाचार १२,१६६-६६ व त०सा० २,११२-१६
६. मूलाचार १२,६४-८३ व त०स० २,११७-३५
७. मूलाचार १२,१४-३० व त०सा० २,१३६-४५
८. जीवसमास १५२-५३, गुणस्थान १५४-५५, मार्गणास्थान १५६ व इन मार्गणास्थानों में जीवसमास आदि १५७-५६
९. ष० ख०, पु० १, पृ० १३२ तथा पु० ७, पृ० ६
१०. वही, १४, पृ० २३३ व २३४
११. सूत्र १,२,६५ व ८७ (पु० ३)

किया गया है (गा० १६५)।

प०ख० में उनके द्रव्यप्रमाण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि क्षेत्र की अपेक्षा त्रसकायिकों के द्वारा अंगुल के असंख्यातवें भाग रूप वर्ग के प्रतिभाग से जगप्रतर अपहृत होता है।[1]

निष्कर्ष के रूप में धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग का जगप्रतर में भाग देने पर जो लब्ध हो उतने त्रसकायिक जीव हैं।

९. मूलाचार में गतियों के आश्रय से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि मनुष्यगति में मनुष्य स्तोक हैं, उनसे नरकगति में वर्तमान जीव असंख्यातगुणे, देवगति में वर्तमान जीव उनसे असंख्यातगुणे, सिद्धगति में वर्तमान मुक्त जीव उनसे अनन्तगुणे और तिर्यंचगति में वर्तमान जीव उनसे अनन्तगुणे हैं।[2]

प०ख० के दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में अन्तिम अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार है। उसमें अनेक प्रकार से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। सर्वप्रथम वहाँ मूलाचारगत जिस अल्पबहुत्व का ऊपर उल्लेख किया गया है वह उसी रूप में उपलब्ध होता है।[3]

आगे मूलाचार में नरकादि गतियों में से प्रत्येक में भी पृथक्-पृथक् उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।[4]

षट्खण्डागम में आदेश की अपेक्षा चारों गतियों में पृथक्-पृथक् उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा तो की गई है, पर उसका आधार गुणस्थान रहे हैं, इसलिए दोनों में समानता नहीं रही। यथा—

नरकगति में नारकियों में सासादन सम्यग्दृष्टि सबसे स्तोक हैं, सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं, असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं, मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं।[5]

इसी क्रम से आगे प्रथम-द्वितीय आदि पृथिवियों में भी पृथक्-पृथक् उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

किन्तु मूलाचार में गुणस्थानों की अपेक्षा न करके भिन्न रूप में उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। जैसे—

सातवीं पृथिवी में नारकी सबसे स्तोक हैं, आगे पाँचवीं व छठी आदि पृथिवियों में वे उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि।

१०. आगे मूलाचार के इस अधिकार में बन्ध के मिथ्यात्वादि कारणों का निर्देश करते हुए बन्ध के स्वरूप को दिखलाकर उसके प्रकृति-स्थिति आदि चार भेदों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् प्रकृति-बन्ध के प्रसंग में ज्ञानावरणादि आठ-आठ मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है। आगे उनमें से मिथ्यादृष्टि आदि कितनी प्रकृतियों को

---

१. सूत्र १,२,१०० (पु० ३)
२. मूलाचार १२,१७०-७१
३. सूत्र २,११,१-६ (पु० ७)
४. मूलाचार १२,१७२-८१
५. सूत्र १,८,२७-३० (पु० ५)

बाँधते हैं, इसे भी स्पष्ट किया गया है। स्थितिबन्ध के प्रसंग में मूल कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति को प्रकट किया गया है।[1]

षट्खण्डागम में जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका में मूल-उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है। छठी 'उत्कृष्ट स्थिति' चूलिका में विस्तार से मूल-उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति और सातवीं 'जघन्यस्थिति' चूलिका में उन्हीं की जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है।

मूलाचार में आगे क्रमप्राप्त अनुभागबन्ध व प्रदेशबन्ध का विचार करते हुए अन्त में केवलज्ञान की उत्पत्ति और मुक्ति की प्राप्ति को स्पष्ट किया गया है और इस अधिकार को समाप्त किया गया है।[2]

उपसंहार

इस प्रकार मूलाचार के इस पर्याप्ति अधिकार में जो अनेक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक विषयों की व्यवस्थित प्ररूपणा की गई है उसकी कुछ समानता यद्यपि प्रसंग के अनुसार प्रस्तुत षट्खण्डागम से देखी जाती है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उसका आधार षट्खण्डागम रहा है। कारण यह है कि इन दोनों ग्रन्थों की वर्णनशैली भिन्न है। यथा—

१. षट्खण्डागम में विवक्षित विषय की प्ररूपणा प्रायः प्रश्नोत्तर शैली में गद्यात्मक सूत्रों द्वारा की गई है। पर मूलाचार में प्रश्नोत्तर शैली को महत्त्व न देकर गाथासूत्रों में विवक्षित विषय की संक्षेप में विशद प्ररूपणा की गई है।

२. षट्खण्डागम में विवक्षित विषय की प्ररूपणा में यथावश्यक कुछ अनुयोगद्वारों का निर्देश तो किया गया है, पर विवक्षित विषय की स्पष्टतया सूचना नहीं की गई है। किन्तु मूलाचार में प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में मंगलपूर्वक वहाँ विवक्षित विषयों के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए तदनुसार ही उन विषयों की प्ररूपणा की गई है।

३. षट्खण्डागम में विषय की प्ररूपणा प्रायः गुणस्थान और मार्गणाओं के आधार से की गई है। किन्तु मूलाचार में गुणस्थान और मार्गणा की विवक्षा न करके सामान्य से ही प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा की गई है जो सरल व सुबोध रही है।

४. षट्खण्डागम का प्रमुख वर्णनीय विषय कर्म सिद्धान्त रहा है। उससे सम्बद्ध होने के कारण उसके प्रथम जीवस्थान खण्ड में ओघ और आदेश के अनुसार जो जीवस्थानों की प्ररूपणा की गई है वह अन्य खण्डों की अपेक्षा अतिशय व्यवस्थित और क्रमबद्ध है।

मूलाचार का प्रमुख वर्णनीय विषय साधुओं का आचार रहा है। यही कारण है कि धवलाकार वीरसेन स्वामी ने उसका उल्लेख 'आचारांग' के नाम से किया है।[3] यद्यपि उपर्युक्त पर्याप्ति अधिकार में प्ररूपित विषय साधु का आचार नहीं है, पर उससे सम्बद्ध सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का वह विषयभूत है, अतः ज्ञातव्य है। वृत्तिकार आचार्य वसुनन्दी ने उस पर्याप्ति

---

१. मूलाचार १२,१८५-९७ व आगे २००-२०२

२. वही, १२,२०३-५ (मूलाचारगत यह चार प्रकार के कर्मबन्ध की प्ररूपणा तत्त्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय में की गई उस कर्मबन्ध की क्रमबद्ध प्ररूपणा के सर्वथा समान है।)

३. धवला पु० ४, पृ० ३१६

अधिकार को 'सर्वसिद्धान्तकरणचरणस्वरूप' कहा है।[1]

इस परिस्थिति को देखते हुए अधिक सम्भावना तो यही है कि मूलाचार के कर्ता को आचार्य परम्परा से उन विषयों का ज्ञान प्राप्त था, जिसके आश्रय से उन्होंने इस ग्रन्थ की, विशेषकर उस पर्याप्ति अधिकार की रचना की है, तदनुसार ही उन्होंने आनुपूर्वी के अनुसार उसके कथन की प्रतिज्ञा भी है।[2]

दोनों ग्रन्थगत सैद्धान्तिक विषयों के विवेचन की इस पद्धति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अंग-पूर्वधरों की शृंखला के लुप्त हो जाने पर पीछे जो सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन होता रहा है वह दो धाराओं में प्रवाहित हुआ है, जिनमें एक धारा का प्रवाह षट्खण्डागम में और दूसरी धारा का प्रवाह मूलाचार व तत्त्वार्थसूत्र आदि में दृष्टिगोचर होता है।

यह भी सम्भव है मूलाचार के रचियता को जो श्रुत का उपदेश प्राप्त था वह षट्खण्डागम की अपेक्षा भिन्न आचार्यपरम्परा से प्राप्त रहा है। कारण यह है कि इतना तो निश्चित है कि श्रुतकेवलियों के पश्चात् आचार्यपरम्परा में भी सम्प्रदाय भेद हो चुका था, यह षट्खण्डागम की टीका धवला में निर्दिष्ट अनेक मतभेदों से स्पष्ट है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मूलाचार के कर्ता के समक्ष प्रस्तुत षट्खण्डागम रहा है या नहीं।

यह भी यहाँ ध्यातव्य है कि मूलाचार, विशेषकर उसके उपर्युक्त पर्याप्ति अधिकार में, जिन विषयों की प्ररूपणा की गई है उनमें से अधिकांश की प्ररूपणा उसी पद्धति से यथाप्रसंग तिलोयपण्णत्ती में भी की गई है। इतना ही नहीं, इन दोनों ग्रन्थों के अन्तर्गत कुछ गाथाएँ भी प्रायः शब्दशः समान उपलब्ध होती हैं।[3]

इन दोनों ग्रन्थों में से यदि कोई एक ग्रन्थ दूसरे ग्रन्थ के रचयिता के समक्ष रहा हो व उसने अपने ग्रन्थ की रचना में उसका उपयोग भी किया हो तो इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता है।[4]

मूलाचार का कर्तृत्व

मूलाचार के कर्ता के विषय में विद्वान् प्रायः एकमत नहीं हैं। मा० दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित उसके संस्करण में उसे वट्टकेराचार्य विरचित सूचित किया गया है। पर यह नाम कुछ अद्भुत-सा है और वह भी एकरूप में नहीं उल्लिखित हुआ है। इससे कुछ विद्वान उसके

---

१. "शीलगुणाधिकारं व्याख्याय सर्वसिद्धान्तकरणचरणस्वरूपं द्वादशाधिकारं पर्याप्त्याख्यं प्रतिपादयन् मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां आह"—मूलाचार वृत्ति १२-१ की उत्थानिका।

२. काऊण णमोक्कारं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
पज्जत्तीसंगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीयं ॥—मूलाचार १२-१०

३. ति० प० भाग २ की प्रस्तावना पृ० ४२-४४ में 'मूलाचार' शीर्षक।

४. तिलोयपण्णत्ती का वर्तमान रूप कुछ सन्देहास्पद है, उसमें पीछे प्रक्षेप हुआ प्रतीत होता है। किन्तु उसकी रचनापद्धति, वर्णनीय विषय की क्रमबद्ध व अतिशय व्यवस्थित प्ररूपणा तथा उसमें उल्लिखित अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नामों को देखते हुए उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं रहता। विशेष जानकारी के लिए भाग २ की प्रस्तावना पृ० ६-२० में 'ग्रन्थकार यतिवृषभ' और ग्रन्थ का रचनाकाल शीर्षक द्रष्टव्य हैं।

विषय में सन्देह करते हैं। इसके अतिरिक्त उसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों में उसके कुन्दकुन्दाचार्य विरचित होने का भी उल्लेख देखा जाता है।

स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने उसके आचार्य कुन्दकुन्द विरचित होने की सम्भावना भी व्यक्त की है।[1]

उधर स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी उसे प्रायः आचार्य वट्टकेरि विरचित मानते रहे हैं।[2]

मूलाचार के अन्तर्गत विषय की प्ररूपणा पद्धति को, विशेषकर इस 'पर्याप्तिसंग्रहणी' अधिकार की विषयवस्तु और उसके विवेचन की पद्धति को देखते हुए वह आ० कुन्दकुन्द के द्वारा रचा गया है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध अध्यात्म ग्रन्थों में कहीं भी इस प्रकार का विषय और उसके विवेचन की पद्धति नहीं देखी जाती है।

जैसा कुछ भी हो, ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय और उसके विवेचन की पद्धति को देखते हुए उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं रहता।

३. षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्वार्थसूत्र यह आचार्य उमास्वाति अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य विरचित एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसका रचना काल सम्भवतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में यहाँ मंगलस्वरूप से जो मोक्षमार्ग के नेता, वीतराग और सर्वज्ञ को इन्हीं तीन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार किया गया है उससे उसकी आध्यात्मिकता स्पष्ट है। वह शब्दसन्दर्भ में संक्षिप्त होने पर भी अर्थ से विशाल व गम्भीर है। यही कारण है कि उसपर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे विस्तारपूर्ण टीकाग्रन्थ रचे गये हैं। उसका दूसरा नाम 'मोक्षशास्त्र' भी प्रसिद्ध है, जो सार्थक ही है। कारण यह कि उसकी रचना मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से की गई है, यह सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका से प्रकट है।[3]

मोक्ष का अर्थ कर्मबन्धन से छूटना है। वह जन्ममरण स्वरूप संसारपूर्वक होता है। उस संसार के कारण आस्रव और बन्ध तथा मोक्ष के कारण संवर और निर्जरा हैं। उक्त आस्रव आदि जीव और अजीव—पौद्गलिक कर्म—से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आत्मोत्थान में प्रयोजनीभूत इन्हीं जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का विचार किया गया है।[4] इसीलिए

---

१. 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावना पृ० १८-१९

२. 'जैन साहित्य और इतिहास' द्वितीय संस्करण पृ० ५४८-५३

३. कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान्······निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म—भगवन् किं नु खलु आत्मने हितं स्यादिति। स आह मोक्ष इति। स एव पुनः प्रत्याह किंस्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति। आचार्य प्राह—···। स० सि० १-१ (उत्थानिका)।

४. प्रथम अध्याय भूमिकास्वरूप है। २, ३ व ४ इन तीन अध्यायों में जीव के स्वरूप व उसके भेद-प्रभेदों के निर्देशपूर्वक निवासस्थानों को प्रकट किया गया है। ५ वें में अजीव, ६-७ वें में आस्रव, ८ वें में बन्ध, ९वें में संवर और निर्जरा तथा १० वें अध्याय में मोक्ष इस प्रकार से वहाँ इन सात तत्त्वों की प्ररूपणा की गई है।

उसका 'तत्त्वार्थसूत्र' यह भी सार्थक नाम है। सम्भवतः यह जैन सम्प्रदाय में सूत्ररूप से संस्कृत में रची गई आद्य कृति है।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आचार्य उमास्वाति के समक्ष सम्भवतः प्रस्तुत षट्खण्डागम रहा है और उन्होंने उसका उपयोग भी तत्त्वार्थसूत्र की रचना में किया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि षट्खण्डागम यह एक कर्मप्रधान आगमग्रन्थ है, जो अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्रवाहित श्रुत के आधार पर आगमिक पद्धति से रचा गया है। उसमें विविध अनुयोगद्वारों के आश्रय से कर्म की विभिन्न अवस्थाओं की प्ररूपणा की गई है।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, मुमुक्षु जीवों को लक्ष्य करके मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से रचा गया है। इसलिए उसमें उन्हीं तत्त्वों की चर्चा की गई है जो उस मोक्ष की प्राप्ति में प्रयोजनीभूत हैं। इसी से इन दोनों ग्रन्थों की रचनाशैली में भेद होना स्वाभाविक है। फिर भी प्रसंगानुरूप कुछ प्रतिपाद्य विषयों की प्ररूपणा दोनों ग्रन्थों में समान देखी जाती है। यथा—

१. तत्त्वार्थसूत्र में सर्वप्रथम मोक्ष के मार्गस्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निर्देश करते हुए सम्यग्दर्शन के विषयभूत सात तत्त्वों का उल्लेख किया गया है (१,१-४)। तत्पश्चात् उन तत्त्वविषयक संव्यवहार में प्रयोजनीभूत नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों का निर्देश किया गया है (१-५)।

षट्खण्डागम में प्रायः सर्वत्र ही प्रकृत विषय का प्रसंगानुरूप बोध कराने के लिए इन चार निक्षेपों की योजना की गई है।[1]

२. तत्त्वार्थसूत्र में आगे उक्त सात तत्त्वों विषयक समीचीन बोध के कारणभूत प्रमाण, नय व निर्देश-स्वामित्व आदि के साथ सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अधिकारों का उल्लेख किया गया है (१, ६-८)।

ष० ख० में मंगल के पश्चात् सर्वप्रथम जीवसमासों—जीवों का जहाँ संक्षेप किया जाता है उन गुणस्थानों—की प्ररूपणा में प्रयोजनीभूत गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं का ज्ञातव्य स्वरूप से नामोल्लेख करते हुए उन्हीं जीवसमासों की प्ररूपणा में उपयोगी उपर्युक्त सत् (सत्प्ररूपणा), संख्या (द्रव्यप्रमाणानुगम) व क्षेत्र आदि आठ अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है (१, २-७) तथा आगे जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड में यथाक्रम से उन्हीं आठ अनुयोग द्वारों के आश्रय से जीवस्थानों की विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की गई है।[2]

विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ आगम परम्परा के अनुसार उक्त आठ अनुयोगद्वारों का उल्लेख सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि जैसे शब्दों के द्वारा किया गया है वहाँ संस्कृत भाषा में विरचित तत्त्वार्थसूत्र में उनका उल्लेख सत्, संख्या, क्षेत्र आदि नामों से किया गया है।

यह भी यहाँ विशेष स्मरणीय है कि तत्त्वार्थसूत्र यह एक अतिशय संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ है,

---

१. सूत्र ४,१,४६-६५ व ७३-७४ (पु० ९) तथा सूत्र ४,२,१, २-३ (पु० १०); ५,३,३-४; ५,४,३-४ व ५,५, ३-४ (पु० १३); ५,६,२-१४ आदि (पु० १४)।

२. सत्प्ररूपणा पु० १-२, द्रव्यप्रमाणानुगम पु० ३, क्षेत्रानुगमादि पु० ३ अनुयोगद्वार पु० ४, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व पु० ५।

इसलिए उसमें उन्हीं तत्त्वों का प्रमुखता से विचार किया गया है जो मोक्षमार्ग से विशेष सम्वद्ध रहे हैं। यही कारण है कि वहाँ षट्खण्डागम के समान उन आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से पृथक्-पृथक् जीवस्थानों की प्ररूपणा नहीं की गई है, वहाँ केवल उन आठ अनुयोगद्वारों के नामों का उल्लेख मात्र किया गया है। उसकी वृत्तिस्वरूप सर्वार्थसिद्धि में उनके आश्रय से ठीक उसी प्रकार से विस्तारपूर्वक उन जीवस्थानों की प्ररूपणा की गई है, जिस प्रकार कि प्रस्तुत षट्खण्डागम में है।[1]

३. तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच सम्यग्ज्ञानों का उल्लेख किया गया है (१-९)।

ष० ख० में सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत ज्ञानमार्गणा के प्रसंग में उन पाँच सम्यग्ज्ञानों के आश्रयभूत पाँच सम्यग्ज्ञानियों का उल्लेख उसी प्रकार से किया गया है (१,१,११५)।

विशेष इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र में जिसका उल्लेख मतिज्ञान के नाम से किया गया है ष० ख० में उसका उल्लेख आगमिक पद्धति से आभिनिबोधिक के नाम से किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्याय नामों में जहाँ 'अभिनिबोध' का भी निर्देश किया गया है[2] वहाँ ष० ख० में आगे 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय के प्रसंग में निर्दिष्ट आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय नामों में 'मतिज्ञान' का भी निर्देश किया गया है।[3]

४. तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के इन्द्रिय-अनिन्द्रियरूप कारणों, अवग्रहादि भेद-प्रभेदों व उनके विषयभूत बहु-आदि बारह प्रकार के पदार्थों का उल्लेख किया गया है; जिनके आश्रय से उसके ३३६ भेद उत्पन्न होते हैं।[4]

ष० ख० में पूर्वनिर्दिष्ट 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में उस मतिज्ञान अपरनाम आभिनिबोधिकज्ञान के आवारक आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेदों का निर्देश करते हुए उनमें चार भेद अवग्रहावरणीय आदि के भेद से निर्दिष्ट किये गये हैं। आगे अवग्रहावरणीय के अर्थावग्रहावरणीय और व्यंजनावग्रहावरणीय इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनमें व्यंजनावग्रहावरणीय के श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन चार इन्द्रियों के भेद से चार भेदों का तथा अर्थावग्रहावरणीय के पाँचों इन्द्रियों और छठे अनिन्द्रिय (मन) इन छह के आश्रय से छह भेदों का उल्लेख किया गया है।[5]

आगे यहीं पर उक्त पांच इन्द्रियों और छठे अनिन्द्रिय के आश्रय से ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय इनमें से प्रत्येक के छह-छह भेदों का निर्देश किया गया है। अन्त में उपसंहार के रूप में उक्त आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय के ४, २४, २८, ३२, ४८, १४४,

---

१. स० सि० १-८ (पृ० १३-५५)।

२. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। त० सू० १-१३

३. सण्णा सदी मदी चिंता चेदि। सूत्र ५,५,४१ (पु० १३)। (मननं मतिः—स० सि० १-१३ व धवला पु० १३, पृ० २४४)

४. त० सू० १,१४-१९

५. सूत्र ५,५,२२-२८ (पु० १३, पृ० २१६-२७)

१६८, १९२, २८८, ३३६ और ३८४ भेदों को ज्ञातव्य कह दिया गया है।[1]

ये सब भेद यथासम्भव उसके भेदों, कारणों और विषयभूत बहु-बहुविध आदि १२ पदार्थों के आश्रय से निष्पन्न होते हैं।

विशेष इतना है कि मूल ग्रन्थ में उस आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के उन भेदों को ज्ञातव्य कहकर वहाँ बहु-बहुविध आदि उन बारह प्रकार के पदार्थों का निर्देश नहीं किया गया है। पर धवलाकार ने तत्त्वार्थसूत्र के 'बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्' इस सूत्र (१-१६) को उद्धृत करते हुए आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के उन सूत्रोक्त भेदों को विस्तार से उच्चारणपूर्वक स्पष्ट किया है।[2]

५. तत्त्वार्थसूत्र में अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त इन दो भेदों का निर्देश करके उनके स्वामियों के विषय में कहा गया है कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियों के तथा क्षयोपशमनिमित्त अवधिज्ञान शेष— मनुष्य और तिर्यंचों—के होता है।[3]

ष० ख० में अवधिज्ञान के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। इनके स्वामियों का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र के ही समान किया गया है।[4]

तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ उसके दूसरे भेद का उल्लेख 'क्षयोपशमनिमित्त' के रूप में किया है वहाँ ष० ख० में उसका उल्लेख 'गुणप्रत्यय' के नाम से किया गया है। स्वामियों का उल्लेख दोनों ग्रन्थों में समान है। 'गुण' से यहाँ सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत विवक्षित हैं, तदनुसार अणुव्रत या महाव्रत के आश्रय से होनेवाले अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय समझना चाहिए।[5] वह मनुष्य और तिर्यंचों के ही सम्भव है। कारण यह कि तिर्यंच और मनुष्य-भवों को छोड़कर अन्यत्र अणुव्रत और महाव्रत सम्भव नहीं हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में 'गुणप्रत्यय' के स्थान में जो 'क्षयोपशमनिमित्तक' के रूप में उसका उल्लेख किया है वह सामान्य कथन है। उससे मिथ्यादृष्टि तिर्यंच व मनुष्यों के अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले अवधिज्ञान (विभंगावधि) का भी ग्रहण हो जाता है। ष० ख० में निर्दिष्ट 'गुणप्रत्यय' से उसका ग्रहण सम्भव नहीं है। यह इन दोनों ग्रन्थों में किये गये उक्त प्रकार के उल्लेख की विशेषता है। अभिप्राय दोनों का यही है कि तिर्यंच और मनुष्यों के जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम की प्रमुखता से होता है। उनमें जिसके सम्यक्त्व है उसका वह अवधिज्ञान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जायगा। किन्तु जिसके सम्यक्त्व नहीं है उसके मिथ्यात्व से सहचरित उस ज्ञान को अवधिज्ञान न कहकर विभंगावधि कहा जाता है। देव-नारकियों के उस अवधिज्ञान में क्षयोपशम के रहने पर भी उसकी प्रमुखता नहीं है, प्रमुखता वहाँ देव-नारक भव की है।

६. तत्त्वार्थसूत्र में क्षयोपशमनिमित्तक उस अवधिज्ञान के छह भेदों का भी निर्देश मात्र

---

१. सूत्र ५,५, २९-३५ (पु० १३, पृ० २३०-३४)
२. धवला पु० १३, पृ० २३४-४१
३. तत्त्वार्थसूत्र १,२१-२२
४. सूत्र ५,५, ५३-५५ (पु० १३)।
५. अणुव्रत-गुणव्रतानि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद् गुणप्रत्ययकम्।
—धवला पु० १३, पृ० २९१-९२

किया गया है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार उसके वे छह भेद इस प्रकार हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।[1]

ष० ख० में भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय की विवक्षा न करके सामान्य से अवधिज्ञान को अनेक प्रकार का बतलाते हुए उनमें कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र।[2]

इस सूत्र (५६) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सूत्र में 'वह अवधिज्ञान अनेक प्रकार का है' ऐसा कहने पर सामान्य से अवधिज्ञान अनेक प्रकार का है, ऐसा अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

इस पर वहाँ यह शंका उठायी गयी है कि इसके पूर्व में जिस गुणप्रत्यय अवधिज्ञान का उल्लेख किया गया है उसे ही अनेक प्रकार का क्यों न कहा जाय। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी और अननुगामी ये भेद पाये जाते हैं।[3]

सर्वार्थसिद्धि में क्षयोपशमप्रत्यय अवधिज्ञान के जिन छह भेदों का उल्लेख किया गया है वे ष० ख० में निर्दिष्ट उन अनेक भेदों के अन्तर्गत हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यरूप तत्त्वार्थवार्तिक में अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि इन भेदों का भी ष० ख० के समान उल्लेख किया गया है।[4] आगे वहाँ उस अवधिज्ञानोपयोग को एकक्षेत्र व अनेकक्षेत्र के भेद से दो प्रकार का भी निर्दिष्ट किया गया है।[5]

यह यहाँ विशेष स्मरणीय है कि सर्वार्थसिद्धिकार और तत्त्वार्थवार्तिककार के समक्ष प्रस्तुत षट्खण्डागम रहा है और उन्होंने अपनी-अपनी ग्रन्थरचना में उसका उपयोग भी किया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इन ग्रन्थों के प्रसंग में आगे किया जानेवाला है।

७. तत्त्वार्थसूत्र में आगे जहाँ मनःपर्ययज्ञान के ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय इन दो भेदों का निर्देश किया गया है वहाँ ष० ख० में इन दोनों ज्ञानों की आवरक ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय और विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय इन दो प्रकृतियों का निर्देश किया गया है।[6]

विशेष इतना है कि ष० ख० में ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय को ऋजुमनोगत आदि के भेद से तीन प्रकार का और विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय को ऋजु-अनृजुमनोगत आदि के भेद से छह प्रकार का कहा गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ इन दोनों ज्ञानों के विषयभेद

---

१. स० सि० १-२२

२. सूत्र ५,५, ५६ (पु० १३, पृ० २९२)

३. धवला पु० १३, पृ० २९३

४. त० वा० १, २२,५

५ स एषोऽवधिज्ञानोपयोगो द्विधा भवति एकक्षेत्रोऽनेकक्षेत्रश्च। श्री-वृषभ-स्वस्तिक-नंद्यावर्ताद्यन्यतमोपयोगोपकरण एकक्षेत्रः। तदनेकोपकरणोपयोगोऽनेकक्षेत्रः। त० वा० १, २२, ५ (पृ० ५७)।

६. त० सूत्र १-२३ और षट्खण्डागम सूत्र ५,५,६०-६१ (पु० १३, पृ० ३१८)

को भी प्रकट किया है।[1]

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यभूत तत्त्वार्थवार्तिक में उपर्युक्त तीन प्रकार के ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय के द्वारा आव्रियमाण तीन प्रकार के ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान को और छह प्रकार के विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय के द्वारा आव्रियमाण छह प्रकार के विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान को स्पष्ट किया है। साथ ही वहाँ इन दोनों मनःपर्ययज्ञानों के विषयभेद को भी प्रकट किया है।[2]

८. तत्त्वार्थसूत्र में पूर्वोक्त क्रम से उन मति आदि पाँच सम्यग्ज्ञानों का निर्देश करके आगे मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं, यह स्पष्ट कर दिया गया है।[3]

षट्खण्डागम में इन तीन मिथ्याज्ञानों का उल्लेख पूर्वोक्त पाँच सम्यग्ज्ञानों के साथ ही किया गया है।[4]

यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ 'ज्ञान' शब्द व्यवहृत हुआ है वहाँ षट्खण्डागम में 'ज्ञानी' शब्द का व्यवहार हुआ है। इस विषय में धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पर्याय और पर्यायी में कथंचित् अभेद होने से पर्यायी (ज्ञानी) का ग्रहण करने पर भी पर्यायस्वरूप ज्ञान का ही ग्रहण होता है।[5]

९. तत्त्वार्थसूत्र में जीवादि तत्त्वों के अधिगम के कारणभूत प्रमाण और नय में प्रथमतः प्रत्यक्ष-परोक्षस्वरूप प्रमाण का विचार करके तत्पश्चात् नय का निरूपण करते हुए उसके ये सात भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत (१-३३)।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, ष० ख० में प्रतिपाद्य विषय के विवेचन के पूर्व उसके विषय में प्रायः सर्वत्र नामादि निक्षेपों के साथ नयों की योजना की गई है। यद्यपि वहाँ तत्त्वार्थसूत्र के समान नामनिर्देशपूर्वक नयों की संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी वहाँ नैगम, व्यवहार, संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों का ही प्रचुरता से उपयोग किया गया है।[6]

शब्दनय के भेद भूत समभिरूढ और एवंभूत इन दो नयों का उल्लेख षट्खण्डागम में

---

१. ष० ख० सूत्र ५,५,६२-७८ (पु० १३, पृ० ३२९-४४)

२. त० वा० १, २३,९-१०

३. त० सूत्र १, ९ व ३१-३२

४. ष० ख० पु० १, सूत्र १,११५ (पृ० ३५३), तत्त्वार्थसूत्र २-९ (स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः) द्रष्टव्य है।

५. अत्रापि पूर्ववत् पर्याय-पर्यायिणोः कथंचिदभेदात् पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति। ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यते इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः। धवला पु० १, पृ० ३५३

६. सूत्र ४,१,४६-५० (पु० ९)। ४,२,२,१-४ व ४, २, ३, १-४ (पु० १०)। ४,२,८,२ व १२ एवं १५; ४,२,९,२ व ११ और १४; ४,२,१०, २ व ३०,४८,५६ और ५८; ४,२, ११,२ व ९ और १२; ४,२,१२,२ व ६,९ और ११ (पु० १२)। ५,३,५-८; ५,४,५-८, ५,५,५-८ (पु० १३)। ५,६,३-६ व ७२-७४ (पु० १४)।

कहीं उपलब्ध नहीं होता।[1] साथ ही वहाँ व्यवहार नय का उल्लेख पूर्व में और संग्रह नय का उल्लेख उसके पीछे किया गया है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा यहाँ इन दो नयों के विषय में क्रम-भेद भी हुआ है।

श्वे० सम्प्रदाय में भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार प्रथमतः नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों का नामनिर्देश करके तत्पश्चात् आद्य नय के दो और शब्द नय के तीन भेद प्रकट किये गये हैं।[2]

इसे भाष्य में स्पष्ट करते हुए 'आद्य' से नैगमनय को ग्रहण कर उसके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी इन दो भेदों का तथा शब्द के साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन भेदों का निर्देश किया गया है।

१०. तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में जीवतत्त्व का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम जीव के निज तत्त्वस्वरूप औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों का उल्लेख किया गया है तथा आगे क्रम से उनके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेदों को भी स्पष्ट किया गया है।[3]

षट्खण्डागम में जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में सातवाँ एक स्वतन्त्र भावानुयोगद्वार है। उसमें ओघ और आदेश की अपेक्षा उन भावों की प्ररूपणा पृथक्-पृथक् विस्तार से की गई है। ओघ से जैसे—मिथ्यादृष्टि को औदयिक, सासादन सम्यग्दृष्टि को पारिणामिक, सम्यग्मिथ्यादृष्टि को क्षायोपशमिक, असंयम को औदयिक, संयमासंयम आदि तीन को क्षायोपशमिक, चार उपशामकों को औपशमिक तथा चार क्षपकों और सयोग-अयोग केवलियों को क्षायिक भाव कहा गया है।[4]

इसी प्रकार से आगे आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में भी उन भावों की प्ररूपणा की गई है।

इस प्रकार ष० ख० के उस भावानुयोगद्वार में पृथक्-पृथक् एक-एक भाव को लेकर विशदता की दृष्टि से प्रश्नोत्तर शैली में जिन भावों की विस्तार से प्ररूपणा की गई है वे सभी भाव संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्र के उन सूत्रों (२,१-७) में अन्तर्भूत हैं।

---

१. अपवाद के रूप में यह एक सूत्र उपलब्ध है—सद्दादओ णामकदिं भावकदिं इच्छंति॥
—५०(पु० ६)।

यहाँ सूत्र में प्रयुक्त 'सद्दादओ' विचारणीय है। इसके पूर्व यदि शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयों का कहीं उल्लेख कर दिया गया होता तो 'सद्दादओ' (शब्दादयः) यह कहना संगत होता। 'सद्दादओ' में आदि शब्द से किन का ग्रहण अभिप्रेत है, यह भी स्पष्ट नहीं है। धवला में भी 'तिसु सद्दणएसु णामकदी वि जुज्जदे' इतना मात्र कहा गया है, उन तीन का स्पष्टीकरण वहाँ भी नहीं किया गया है।

२. नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्दा नयाः। आद्य-शब्दौ द्वित्रिभेदौ। त० सूत्र १, ३४-३५

३. त० सूत्र २,१-७

४. षट्खण्डागम (पु० ५) सूत्र १,७,१-९ (क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत 'स्वामित्व' अनुयोगद्वार भी द्रष्टव्य है—पु० ७; पृ० २५-११३)

इस स्थिति को देखते हुए यदि यह कहा जाय कि ष० ख० के इस भावानुयोग द्वार का तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेपीकरण किया गया है तो असंगत नहीं होगा। तत्त्वार्थसूत्र की इस अर्थबहुल संक्षिप्त विवेचन पद्धति को देखते हुए उसमें सूत्र का यह लक्षण पूर्णतया घटित होता है—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम् ।
निर्दोषं हेतुमत् तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः[1] ॥

इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम के पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत जो 'बन्धन' अनुयोगद्वार है उसमें बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चार की प्ररूपणा की गई है। उनमें नाम-स्थापनादि के भेद से चार प्रकार के बन्ध की प्ररूपणा के प्रसंग में नोआगमभावबन्ध का विवेचन करते हुए उसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जीवभावबन्ध और अजीवभाव-बन्ध। इनमें जीवभावबन्ध विपाकप्रत्ययिक, अविपाकप्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक के भेद से तीन प्रकार का है।

इनमें विपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध के लक्षण में कहा गया है कि कर्मोदयप्रत्ययिक जो भाव उदयविपाक से उत्पन्न होते हैं उन्हें जीवभावबन्ध कहा जाता है। वे भाव कौन-से हैं, इसे स्पष्ट करते हुए उनका उल्लेख वहाँ इस प्रकार किया गया है—(१) देव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यंच, (४) नारक, (५) स्त्रीवेद, (६) पुरुषवेद, (७) नपुंसक वेद, (८) क्रोध, (९) मान, (१०) माया, (११) लोभ, (१२) राग, (१३) द्वेष, (१४) मोह, (१५) कृष्णलेश्या, (१६) नीललेश्या, (१७) कापोतलेश्या, (१८) तेजोलेश्या, (१९) पद्मलेश्या, (२०) शुक्ललेश्या, (२१) असंयत, (२२) अविरत, (२३) अज्ञान और (२४) मिथ्यादृष्टि। कर्मोदय के आश्रय से होनेवाले इन सब भावों को औदयिक समझना चाहिए।[2]

तत्त्वार्थसूत्र में इन औदयिक भावों का निर्देश इस प्रकार है—गति ४, कषाय ४, लिंग (वेद) ३, मिथ्यादर्शन १, अज्ञान १, असंयत १, असिद्धत्व १, और लेश्या ६। ये सब २१ हैं।[3]

तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा यदि षट्खण्डागम में (१२) राग, (१३) द्वेष, (१४) मोह और (२२) अविरत ये चार भाव अधिक हैं तो तत्त्वार्थसूत्र में षट्खण्डागम की अपेक्षा एक 'असिद्धत्व' अधिक है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट इन औदयिक भावों में जो थोड़ी-सी-हीनाधिकता देखी जाती है उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखता। कारण यह कि षट्खण्डागम में जिन राग-द्वेष आदि अधिक भावों का निर्देश किया गया है उनका तत्त्वार्थसूत्र में अन्यत्र अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—धवलाकार के अभिमतानुसार राग माया और लोभ स्वरूप है, द्वेष क्रोध और मानस्वरूप है, तथा मोह पाँच प्रकार के मिथ्यात्वादिस्वरूप है।[4]

---

१. धवला पु० ९, पृ० २५९ पर उद्धृत।

२. षट्खण्डागम सूत्र ५,६,१५ (पु० १४, पृ० १०-११)

३. त० सूत्र २-६

४. रागो विवागपच्चइयो, माया-लोभ-हस्स-रदि-तिवेदाणं दव्वकम्मोदयजणिदत्तादो। दोसो विवागपच्चइयो, कोह-माण-अरदि-सोग-भय-दुगुंछाणं दव्वकम्मोदयजणिदत्तादो। पंच-विहमिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सासणसम्मत्तं च मोहो, सो विवागपच्चइयो; मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-अणंताणुबंधीणं दव्वकम्मोदजणिदत्तादो।—धवला पु० १४, पृ० ११

तदनुसार ये तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट चार कषायों और मिथ्यादर्शन में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

सामान्य से असंयम और अविरत में विशेष भेद नहीं समझा जाता है। इसी अभिप्राय से सम्भवतः तत्त्वार्थसूत्र में असंयम से भिन्न 'अविरत' का अतिरिक्त उल्लेख नहीं किया गया।

सूत्र में असंयम और अविरत दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख होने से धवला में उनकी विशेषता को प्रकट करते हुए समितियों से सहित अणुव्रत और महाव्रतों को संयम तथा समितियों से रहित उन महाव्रत और अणुव्रतों को विरति कहा है (पु० १४, पृ० ११-१२)।

तत्त्वार्थसूत्र में जो षट्खण्डागम से एक 'असिद्धत्व' अधिक है उसका अन्तर्भाव षट्खण्डागम में चार गतियों में समझना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र में चूंकि मोक्ष को लक्ष्य में रखा गया है, इसीलिए सम्भवतः वहाँ 'असिद्धत्व' का पृथक् से उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार उक्त रीति से जिस प्रकार औदयिक भावों की प्ररूपणा प्रायः दोनों ग्रन्थों में समान रूप से की गई है उसी प्रकार औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों की प्ररूपणा भी दोनों ग्रन्थों में लगभग समान रूप में ही की गई है।[1]

विशेष इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ उस जाति के अनेक भावों को विवक्षित भाव के अन्तर्गत करके उनकी प्ररूपणा संक्षेप में की गई है वहाँ ष० ख० में ऐसे अनेक भावों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करके उनकी प्ररूपणा विस्तार से की गई है। जैसे—क्रोध-मानादि के उपशम व क्षय के होने पर उत्पन्न होनेवाले भावों का पृथक्-पृथक् उल्लेख। किन्तु ऐसे भावों का वहाँ पृथक्-पृथक् उल्लेख करने पर भी तत्त्वार्थसूत्र निर्दिष्ट दो औपशमिक, नौ क्षायिक और अठारह क्षायोपशमिक भाव षट्खण्डागम में निर्दिष्ट भावों में समाविष्ट हैं।

एक विशेषता यह अवश्य देखी जाती है कि तत्त्वार्थसूत्र (२-७) में जिन तीन जीवत्व आदि पारिणामिक भावों का भी उल्लेख किया गया है उनका उल्लेख षट्खण्डागम में नहीं है।

इस प्रसंग में वहाँ धवला में यह शंका की गई है कि जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि जीवभाव पारिणामिक भी हैं; उनकी प्ररूपणा यहाँ क्यों नहीं की गई है। इसके समाधान में वहाँ कहा गया है कि आयु आदि प्राणों के धारण करने का नाम जीवन है। वह अयोगिकेवली के अन्तिम समय के आगे नहीं रहता, क्योंकि सिद्धों के प्राणों के कारणभूत आठ कर्मों का अभाव हो चुका है। इसलिए जीवत्व पारिणामिक नहीं है, किन्तु कर्मविपाकजन्य (औदयिक) है। तत्त्वार्थसूत्र में जो जीवभाव को पारिणामिक कहा गया है वह प्राणधारण की अपेक्षा नहीं कहा गया, किन्तु चेतना गुण का आश्रय लेकर कहा गया है।

चार अघाति कर्मों के उदय से उत्पन्न असिद्धत्व दो प्रकार का है—अनादि-अपर्यवसित और अनादि-सपर्यवसित। इनमें जिन जीवों का असिद्धत्व अनादि-अपर्यवसित है उनका नाम अभव्य है तथा जिनका वह असिद्धत्व अनादि-सपर्यवसित है वे भव्य जीव हैं। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व ये विपाकप्रत्ययिक (औदयिक) ही हैं। तत्वार्थसूत्र में जो उन्हें पारिणामिक कहा गया है वह असिद्धत्व की अनादि-अपर्यवसितता और अनादि-सपर्यवसितता को निष्कारण मानकर कहा गया है।[2]

---

१. औपशमिक—त० सूत्र २-३ व षट्खण्डागम ५, ६, १७। क्षायिक—त० सूत्र २-४ व षट्खण्डागम ५,६,१८। क्षायोपशमिक—त० सूत्र २-५ व ष० ख० ५,६, १९

२. धवला पु० १४, पृ० १३-१४

इस प्रकार धवलाकार ने तत्त्वार्थसूत्र के साथ समन्वय करके उपर्युक्त शंका का समाधान कर दिया है। किन्तु इसके पूर्व इसी षट्खण्डागम के पूर्वोक्त भावानुगम अनुयोगद्वार में भव्य मार्गणा के प्रसंग में अभव्यत्व को पारिणामिक भाव कहा जा चुका है।[1]

यद्यपि वहाँ मूल में भव्यत्व का उल्लेख नहीं है, फिर भी प्रसंग प्राप्त उस सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने भव्यत्व को भी पारिणामिक भाव ही प्रकट किया है।[2]

आगे क्षुद्रकवन्ध खण्ड के अन्तर्गत स्वामित्वानुगम अनुयोगद्वार में भी भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों को पारिणामिक कहा गया है।[3]

११. तत्त्वार्थसूत्र में आगे इसी अध्याय में सामान्य से जीवों के संसारी और मुक्त इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनमें संसारी जीवों के समनस्क (संज्ञी) और अमनस्क (असंज्ञी) इन दो भेदों के साथ उनके दो भेद त्रस और स्थावर का भी निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् उनमें स्थावर कौन हैं और त्रस कौन हैं, इसे स्पष्ट करते हुए पृथिवी, जल, तेज़, वायु और वनस्पति इन पाँच को स्थावर तथा द्वीन्द्रिय आदि (त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय) को त्रस कहा गया है।[4]

ष० ख० में पूर्वोक्त जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में से प्रथम सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में काय मार्गणा के प्रसंग में सर्वप्रथम पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और अकायिक (कायातीत मुक्त) जीवों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् यथाक्रम से पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावर जीवों के बादर-सूक्ष्म व पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेद-प्रभेदों को प्रकट किया गया है।[5]

यद्यपि सूत्र में उन पृथिवीकायिक आदि पाँच का उल्लेख स्थावर के रूप में नहीं किया गया है, तो भी धवलाकार ने उनके स्थावरस्वरूप को प्रकट कर दिया है।[6]

आगे प्रसंगप्राप्त उन पृथिवीकायिकादिकों में पर्याप्त-अपर्याप्तता आदि का विचार करते हुए द्वीन्द्रिय आदिकों को त्रस कहा गया है।[7]

उक्त क्रम से स्थावर और त्रस जीवों के भेद-प्रभेदों के निर्देशपूर्वक वहाँ यथा सम्भव गुणस्थानों के अस्तित्व को भी प्रकट करते हुए प्रसंग के अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि उक्त सशरीर (संसारी) स्थावर व त्रसों से परे अकायिक—शरीर से रहित मुक्त—जीव हैं।[8]

---

१. अभवसिद्धिय त्ति को भावो ? पारिणामिओ भावो।—सूत्र १,७,६३ (पु० ५)।

२. कुदो ? कम्माणमुदएण उवसमेण खएण खओवसमेण वा अभवियत्ताणुपत्तीदो। भवियत्तस्स वि पारिणामिओ चेव भावो, कम्माणमुदय-उवसम-खय-खओवसमेहि भवियत्ताणुप्पत्तीदो।—धवला पु० ५, पृ० २३०

३. भवियाणुवादेण भवसिद्धिओ अभवसिद्धिओ णाम कधं भवदि ? पारिणामिएण भावेण। सूत्र २,१,६४-६५ (पु० ७, पृ० १०६)

४. तत्त्वार्थसूत्र २, १०-१४

५. सूत्र १,१,३९-४१ (पु० १, पृ० २६४-६८)

६. एते पञ्चापि स्थावराः, स्थावर-नामकर्मोदयजनितविशेषत्वात्।—धवला पु० १, २६५

७. सूत्र १,१,४४ (पु० १, पृ० ३७५)

८. तेण परमकाइया चेदि। सूत्र १,१,४६

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में आगे-पीछे प्रायः समान रूप में संसारी और मुक्त जीवों का विचार किया गया है।

१२ तवत्तर्थसूत्र में यहाँ प्रसंगप्राप्त इन्द्रियों के विषय में विचार करते हुए सर्वप्रथम इन्द्रियों की पाँच संख्या का निर्देश करके उनके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन दो भेदों का उल्लेख स्वरूपनिर्देशपूर्वक किया गया है। तत्पश्चात् उन पाँच इन्द्रियों के नामनिर्देशपूर्वक उनके विषयक्रम को भी दिखलाया गया है। आगे सूत्रनिर्दिष्ट क्रम (२-१३) के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 'वनस्पति' पर्यन्त उन पृथिवी आदि पाँच स्थावरों के एक मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है तथा आगे कृमि-पिपीलिका आदि के क्रम से उत्तरोत्तर एक-एक इन्द्रिय बढ़ती गई है।[1]

षट्खण्डागम में पूर्वोक्त सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत इन्द्रिय मार्गणा के प्रसंग में प्रथमतः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय—इन्द्रियातीतसिद्ध —इनके अस्तित्व को प्रकट किया गया है। आगे उन एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादिकों के भेदों का निर्देश करते हुए अन्त में इन्द्रियातीत सिद्धों का भी उल्लेख है।[2]

तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य से इन्द्रिय के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके अवान्तर भेदों को भी प्रकट किया गया है तथा आगे एक व दो आदि इन्द्रियाँ किन जीवों के होती हैं, इसे भी स्पष्ट किया गया है। किन्तु मूल षट्खण्डागम में इसका विचार नहीं किया गया है। धवला में अवश्य प्रसंगप्राप्त उस सबकी प्ररूपणा की गई है। इस प्रसंग में वहाँ यह एक शंका उठायी गई है कि अमुक जीव के इतनी ही इन्द्रियाँ होती हैं, यह कैसे जाना जाता है। इसके समाधान में 'उसका ज्ञान आर्ष से हो जाता है' यह कहते हुए धवलाकार ने इस गाथासूत्र को उपस्थित कर उसके अर्थ को भी स्पष्ट किया है—

एइंदियस्स फुसणं एक्कं चिय होइ सेसजीवाणं।
होंति कमवड्ढियाइं जिब्भा-घाणक्खि-सोत्ताइं ।।

अनन्तर 'अथवा' कहकर उन्होंने विकल्प के रूप में **'कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि'** इस सूत्र (तत्त्वार्थसूत्र २-२३) को प्रस्तुत करते हुए उसके भी अर्थ को स्पष्ट किया है।[3]

१३. तत्त्वार्थसूत्र में समनस्क जीवों को संज्ञी और अमनस्क जीवों को असंज्ञी प्रकट किया गया है (२-२४)। षट्खण्डागम के पूर्वोक्त सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में संज्ञी मार्गणा के प्रसंग में उन संज्ञी-असंज्ञी जीवों के विषय में विचार किया गया है (सूत्र १,१, १७२-७४)।

१४. तत्त्वार्थसूत्र में जो आहारक जीवों का उल्लेख किया गया है (२-३०) वह अनाहार जीवों का सूचक है।

ष० ख० के उस सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में आहार मार्गणा के प्रसंग में आहारक-अनाहारक जीवों के विषय में विचार किया गया है (सूत्र १,१,७५-७७)।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र २, १५-२३
२. षट्खण्डागम सूत्र १,१, ३३-३८ (पु० १, पृ० २३१-६४)
३. धवला पु० १, पृ० २३२-४६

१५. तत्त्वार्थसूत्र में औदारिक आदि पाँच शरीरों की प्ररूपणा के प्रसंग में प्रदेशों की अपेक्षा उनकी हीनाधिकता, तैजस व कार्मण शरीर की विशेषता, एक जीव के एक साथ सम्भव शरीर, जन्म की अपेक्षा शरीर विशेष की उत्पत्ति तथा आहारक शरीर का स्वरूप व स्वामी; इत्यादि के विषय में अच्छा प्रकाश डाला गया है।[1]

ष० ख० में बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत एक 'शरीर-प्ररूपणा' नाम का स्वतंत्र अधिकार है। उसमें नामनिरुक्ति आदि छह अवान्तर अनुयोगद्वारों के आश्रय से शरीरविषयक प्ररूपणा की गई है। पर तत्त्वार्थसूत्र से जिस प्रकार संक्षेप में शरीर के विषय में जानकारी उपलब्ध हो जाती है वैसी सरलता से ष० ख० में वह उपलब्ध नहीं होती। वहाँ आगमिक पद्धति से उन शरीरों के विषय में प्रदेश व निषेक आदि विषयक प्ररूपणा विस्तार से की गई है।[2]

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यभूत तत्त्वार्थवार्तिक में प्रसंग पाकर संज्ञा, स्वलाक्षण्य, स्वकारण, स्वामित्व, सामर्थ्य, प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, संख्या, प्रदेश, भाव और अल्पबहुत्व आदि अधिकारों में पाँचों शरीरों की परस्पर भिन्नता प्रकट की गई है, जो षट्खण्डागम से कुछ भिन्न है।

इस प्रसंग में यहाँ स्वकारण की अपेक्षा उनमें भिन्नता को प्रकट करते हुए वैक्रियिक शरीर का सद्भाव देव-नारकियों, तेजकायिकों, वायुकायिकों, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों व मनुष्यों के प्रकट किया गया है। इस प्रसंग में शंकाकार द्वारा यह शंका की गई है कि जीवस्थान में योगमार्गणा के प्रसंग में सात काययोगों के स्वामियों को दिखलाते हुए औदारिक काययोग और औदारिक मिश्रकाययोग तिर्यंच-मनुष्यों के तथा वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग देव-नारकियों के कहा गया है। परन्तु यहाँ उनका सद्भाव तिर्यंच-मनुष्यों के भी कहा जा रहा है, यह आर्ष के विरुद्ध है। इसके उत्तर में वहाँ आगे कहा गया है कि अन्यत्र वैसा उपदेश है। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकों में शरीरभंग के प्रसंग में वायु के औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये चार शरीर कहे गये हैं तथा मनुष्यों में भी उनका सद्भाव प्रकट किया गया है। आगे प्रसंगप्राप्त इस विरोध का परिहार करते हुए कहा गया है कि देव-नारकियों में सदा वैक्रियिक शरीर के देखे जाने से जीवस्थान में उन दो योगों का विधान किया गया है, किन्तु लब्धि के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला वह वैक्रियिक शरीर तिर्यंच-मनुष्यों में सबके और सदाकाल नहीं रहता। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकों में उनके कादाचित्क अस्तित्व के देखे जाने से उन तिर्यंच-मनुष्यों में उक्त चार शरीरों का विधान किया गया है, इस प्रकार अभिप्रायभेद होने से दोनों के कथन में कुछ भी विरोध नहीं है।[3]

१६. कर्मादान के कारणभूत कार्मण काययोग का सद्भाव जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में विग्रहगति बतलाया गया है उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी उसका सद्भाव विग्रहगति में दिखलाया गया है। विशेष इतना है कि ष०ख० में विग्रहगति के साथ समुद्घातगत केवलियों

---

१. त० सूत्र २, ३६-४९

२. ष०ख०, पु० १४, सूत्र २३६-५०१, पृ० ३२१-४३०

३. त० वा० २,४९, ८ पृ० १०८-१०

के भी उसका सद्भाव प्रकट किया गया है।[1]

१७. तत्त्वार्थसूत्र मे आहारकशरीर का सद्भाव प्रमत्तसंयत के ही प्रकट किया गया है।[2]

किन्तु ष० ख० में योगमार्गणा के प्रसंग में आहारककाययोग का सद्भाव सामान्य से ऋद्धिप्राप्त संयतों के निर्दिष्ट किया गया है। वहाँ विशेष रूप में प्रमत्तसंयत का कोई उल्लेख नहीं किया गया, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में अवधारणपूर्वक उसका सद्भाव प्रमत्तसंयत के ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त ष० ख० में तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा 'ऋद्धिप्राप्त' यह विशेषण अधिक है।[3]

वह आहारकशरीर प्रमत्तसंयत के क्यों होता है, इसे स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि जब आहारकशरीर के निर्वर्तन को प्रारम्भ किया जाता है तब संयत प्रमाद से युक्त होता है, इसीलिए सूत्र में उसका सद्भाव प्रमत्तसंयत के कहा गया है।[4]

आगे जाकर ष० ख० में भी विशेष रूप से स्वामित्व को प्रकट करते हुए उन आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग का सद्भाव एक मात्र प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही निर्दिष्ट किया गया है।[5]

धवलाकार ने पूर्व सूत्र (५९) की उत्थानिका में 'आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह' ऐसी सूचना की है और तत्पश्चात् अगले सूत्र (६३) की उत्थानिका में उन्होंने 'आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह' ऐसी सूचना की है।[6]

इस स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृत आहारकशरीर और आहारककाययोग के स्वामियों के विषय में परस्पर कुछ मतभेद रहा है, जिसे मूल ग्रन्थ और टीका में स्पष्ट नहीं किया गया है।

१८. तत्त्वार्थसूत्र में नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले जीवों को नपुंसकवेदी, देवों को नपुंसकवेद से रहित—पुरुष-वेदी व स्त्रीवेदी—तथा इन से शेष रहे सब जीवों को तीनों वेदवाले कहा गया है।

ष० ख० के उक्त सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में वेदमार्गणा के प्रसंग में सामान्य से स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी इन तीनों वेदवाले जीवों के अस्तित्व को दिखा कर आगे गुणस्थान की प्रमुखता से स्त्री और पुरुष इन दो वेदवाले जीवों का अस्तित्व असंज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण तक और नपुंसकवेदियों का अस्तिव एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण तक प्रकट किया गया है। आगे के गुणस्थानवर्ती जीव वेद से रहित होते हैं। इस प्रकार सामान्य से वेद की स्थिति को प्रकट करके आगे गतियों में उस वेद की स्थिति दिखलाते हुए कहा गया है कि नारकी जीव चारों गुणस्थानों में शुद्ध—स्त्री व पुरुषवेद से

---

१. त० सूत्र २-२५ व ष० ख० १,१,६० (पु० १, पृ० २९८)

२. त० सूत्र २-४९

३. ष० ख० १,१, ५९ (पु० १, पृ० २९७)

४. यदाऽऽहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसंयतस्येत्युच्यते।

—स०सि० १-४९

५. सूत्र १,१, ६३ (पु० १, पृ० ३०६)

६. धवला पु० १, पृ० २९७ और ३०६

रहित—एक नपुंसक वेद से युक्त होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त सब तिर्यंच शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत तक वे तिर्यंच तीनों वेदों से सहित होते हैं। मनुष्य मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनों वेदवाले हैं और उस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के आगे सब उस वेद से रहित होते हैं। चारों गुणस्थानवर्ती देव स्त्री और पुरुष इन दो वेदों से युक्त होते हैं।[1]

इस प्रकार गुणस्थान जी प्रमुखता से ष० ख० में जो वेदविषयक प्ररूपणा की गई है उसका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र के उन सूत्रों में संक्षेप से प्रकट कर दिया गया है।

१९. तत्त्वार्थसूत्र में यथाप्रसंग नारकियों,[2] मनुष्य-तिर्यंचों[3] और देवों की[4] उत्कृष्ट व जघन्य आयु की प्ररूपणा की गई है।

ष० ख० में आयु की वह प्ररूपणा दूसरे क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में से दूसरे 'एक जीव की अपेक्षा कालानुगम' अनुयोगद्वार में गति मार्गणा के प्रसंग में की गई है। विशेष इतना है कि वहाँ वह सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त आदि विशेषता के साथ कुछ विस्तारपूर्वक की गई है, जब कि तत्त्वार्थसूत्र में उन भेदों की विवक्षा न करके वह सामान्य से की गई है। जैसे—

तत्त्वार्थसूत्र में पृथिवीक्रम के अनुसार नारकियों की उत्कृष्ट आयु १,३,७,१०,१७,२२ और ३३ सागरोपम (सूत्र ३-६) तथा जघन्य आयु उनकी द्वितीयादि पृथिवियों में क्रम से १,३,७,१०,१७ और २२ सागरोपम निर्दिष्ट की गई है। प्रथम पृथिवी में उनकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष कही गई है (४,३५-३६)।

ष० ख० में भी उनकी आयु का प्रमाण यही कहा गया है (सूत्र २,२,१-९)।

तत्त्वार्थसूत्र में मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रम से तीन पल्योपम और अन्तर्मुहूर्त कही गई है (३-३८)।

ष० ख० में उसका उल्लेख मनुष्य सामान्य व मनुष्यपर्याप्त आदि भेदों के साथ किया गया है, फिर भी मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यणी की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक तीन पल्योपम प्रमाण ही कही गई है (२,२;१९-२२)।

यहाँ ष० ख० में जो उसे पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक तीन पल्योपम कहा गया है उसमें मनुष्यपर्याय की विवक्षा रही है। जो कर्मभूमि का मनुष्य यहाँ की आयु को बिताकर दान के अनुमोदन से भोगभूमि में मनुष्य उत्पन्न होता है उसके यह मनुष्य पर्याय का काल घटित होता है।[5]

इसी पद्धति से आगे तिर्यंचों और देवों के कालप्रमाण की भी प्ररूपणा इन दोनों ग्रन्थों में अपनी-अपनी पद्धति से की गई है।

२०. तत्त्वार्थसूत्र में स्कन्ध और अणुरूप पुद्गल भेद, संघात अथवा भेद-संघात से किस

---

१. ष० ख० सूत्र १,१,१०१-११०
२. त० सूत्र ३-६ (उत्कृष्ट) व ४,३५-३६ (जघन्य)
३. वही ३,३८-३९
४. वही ४, २८-४२
५. सूत्र २,२,२१ की धवला टीका (पु० ७, पृ० १२५-२६)

प्रकार उत्पन्न होते हैं, इसे संक्षेप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्कन्ध तो भद, संघात और भेद संघात से उत्पन्न होते हैं, किन्तु परमाणु केवल भेद से उत्पन्न होते हैं (५,२६-२८)।

ष० ख० में यह स्कन्ध और अणुरूप पुद्गलों की उत्पत्ति की प्ररूपणा बहुत विस्तार से की गई है। उसमें पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत बन्धन अनुयोगद्वार में बन्धनीय (वर्गणाओं) की प्ररूपणा १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से की गई है। उनमें 'वर्गणानिरूपणा' नामक चौथे अनुयोगद्वार में एक-द्विप्रदेशी आदि वर्णणाएँ क्या भेद से उत्पन्न होती हैं, क्या संघात से उत्पन्न होती हैं और क्या भेद-संघात से उत्पन्न होती हैं; इसका विचार विस्तार से किया गया है।[1]

दोनों ग्रन्थों में संक्षेप और विस्तार से की गई प्ररूपणा में यथासम्भव कुछ समानता रही ही है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्र में अणु की उत्पत्ति भेद से प्रकट की गई है (५-२७)।

ष०ख० में भी परमाणुस्वरूप एकप्रदेशिक परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणा की उत्पत्ति तत्त्वार्थसूत्र के समान भेद से ही प्रकट की गई है।[2]

तत्त्वार्थसूत्र में द्वि-त्रिप्रदेशी आदि स्कन्धों की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद-संघात से निर्दिष्ट की गई है (५-२६)।

ष०ख० में भी आगे स्कन्धस्वरूप द्वि-त्रिप्रदेशी आदि वर्गणाओं की उत्पत्ति यथासम्भव भेद, संघात और भेद-संघात से निर्दिष्ट की गई है।[3]

२१. तत्त्वार्थसूत्र में परमाणुओं के परस्पर में होनेवाले एकात्मकतारूप बन्ध का विचार करते हुए कहा गया है कि परमाणुओं का जो परस्पर में बन्ध होता है वह स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होता है। इसे विशेष रूप में स्पष्ट करते हुए वहाँ आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्निग्ध और रूक्ष गुण के आश्रय से होनेवाला वह बन्ध जघन्य गुणवाले परमाणुओं का अन्य किन्हीं भी परमाणुओं के साथ नहीं होता है। गुण से अभिप्राय यहाँ स्निग्धता और रूक्षता के अविभागप्रतिच्छेदरूप अंशों का रहा है। तदनुसार जिन परमाणुओं में स्निग्धता व रूक्षता का जघन्य—सबसे निकृष्ट—अंश रहता है, अन्य परमाणुओं के साथ उनके बन्ध का प्रतिषेध किया गया है। आगे चलकर उन गुणों की समानता में समानजातीय परमाणुओं के भी बन्ध का निषेध किया गया है। उदाहरण के रूप में दो गुण स्निग्धवाले परमाणुओं का दो गुण रूक्षवाले परमाणुओं के साथ, तीन गुण स्निग्धवाले परमाणुओं का तीन गुण रूक्षवाले परमाणुओं के साथ, दो गुण स्निग्धवाले परमाणुओं का अन्य दो गुण स्निग्धवाले तथा दो गुण रूक्षवाले परमाणुओं का अन्य दो गुण रूक्षवाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता है।

तब फिर कितने स्निग्ध व रूक्ष गुणवाले परमाणुओं में परस्पर बन्ध होता है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि वह बन्ध दो-दो गुणों से अधिक परमाणुओं में हुआ करता है। जैसे—दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध होता है, किन्तु

---

१. ष० ख० सूत्र ५, ६, ९८-११६ (पु० १४, पृ० १२०-३३)

२. वग्गणणिरूवणदाए इमा एयपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणाणाम किं भेदेण किं संघादेण किं भेद-संघादेण ? उवरिल्लीणं दव्वाणं भेदेण। सूत्र ९८-९९ (पु० १४, पृ० १२०)।

३. ष० ख० सूत्र ५,६,१००-११६

उसका एक गुण स्निग्ध, दो गुण स्निग्ध और तीन गुण स्निग्ध अन्य परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है। उसी दो गुण स्निग्धवाले परमाणु का अन्य पाँच गुण स्निग्ध व छह सात आदि संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त गुणवाले किसी भी परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है। चार गुण स्निग्ध का छह गुणस्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध होता है, अन्य किन्हीं के साथ नहीं होता है। इस प्रकार दो-दो गुण अधिक (तीन-पांच, चार-छह, पाँच-सात आदि) परमाणुओं में उस बन्ध को समझना चाहिए।[1]

ष० ख० में भी परमाणुओं व स्कन्धों में होनेवाले इस बन्ध की प्ररूपणा की गई है। वहाँ पूर्वनिर्दिष्ट बन्धन अनुयोगद्वार में सादिविस्रसाबन्ध का विचार करते हुए प्रथम तो समान स्निग्धता और रूक्षता के अभाव में बन्ध का सद्भाव दिखलाया गया है, तत्पश्चात् समान स्निग्धता और रूक्षता के होने पर उनमें परस्पर बन्ध का निषेध भी किया गया है।[2]

इसका अभिप्राय यह है कि स्निग्ध परमाणुओं का रूक्ष परमाणुओं के साथ और रूक्ष परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ बन्ध होता है—स्निग्ध स्निग्ध परमाणुओं में और रूक्ष रूक्ष परमाणुओं में समानता रहने से बन्ध नहीं होता। इसी अभिप्राय को आगे गाथा-सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

आगे जाकर वही सूत्र पुनः अवतरित हुआ है—**वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खता बंधो**। ३५

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने कहा है कि इस सूत्र के पूर्वोक्त अर्थ के अनुसार स्निग्ध पुद्गलों का स्निग्ध पुद्गलों के साथ और रूक्ष पुद्गलों का रूक्ष पुद्गलों के साथ गुणा-विभाग प्रतिच्छेदों से समान अथवा असमान होने पर भी बन्ध के अभाव का प्रसंग प्राप्त होने पर उनमें भी बन्ध होता है; यह जतलाने के लिए इसका दूसरा अर्थ कहा जाता है। तदनुसार पूर्वोक्त अर्थ से उसका भिन्न अर्थ करते हुए उन्होंने कहा है कि 'मादा' (मात्रा) का अर्थ अविभागप्रतिच्छेद है। इस प्रकार जिस स्निग्धता में दो मात्रा अधिक अथवा हीन होती हैं वह स्निग्धता बन्ध की कारण है। अभिप्राय यह है कि स्निग्ध पुद्गल दो अविभागप्रतिच्छेदों से अधिक अथवा दो अविभागप्रतिच्छेदों से हीन स्निग्ध पुद्गलों के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, किन्तु तीन आदि अविभागप्रतिच्छेदों से अधिक अथवा तीन पुद्गलों के साथ वे बन्ध को प्राप्त नहीं होते। यही अभिप्राय रूक्ष पुद्गलों के विषय में भी व्यक्त किया गया है। आगे इस अर्थ के निर्णय की पुष्टि एक अन्य गाथासूत्र द्वारा की गई है।[3]

यह गाथासूत्र तत्त्वार्थवार्तिक में भी 'उक्तं च' के साथ इस प्रसंग में उद्धृत है।[4]

पर त० वा० में उसके चतुर्थ चरण में उपयुक्त 'विसमे समे' का अर्थ जहाँ समान जातीय और असमान जातीय विवक्षित रहा है वहाँ धवला में उसके अर्थ में गुणविभाग-प्रतिच्छेदों से

---

१. त० सूत्र ५,३३-३६

२. ष० ख० ५,६,३२-३४ (पु० १४, पृ० ३०-३१)

३. सूत्र ३५-३६ (पु० १४, पृ० ३२-३३)। पूर्व में धवलाकार ने 'वेमादा' में 'वि' का अर्थ विगत और 'मादा' का अर्थ सदृश किया था, तदनुसार 'वेमादा' का अर्थ विसदृश रहा है।

४. त० वा० ५,३५,१ (पृ० २४२)

रूक्षपुद्गल के सदृश स्निग्ध पुद्गल का नाम सम और उनसे असमान का नाम विषम अभीष्ट रहा है।

इस प्रकार परमाणुपुद्गलों के बन्ध के विषय में तत्त्वार्थसूत्र और ष० ख० में कुछ मतभेद रहा है। धवलाकार ने तत्त्वार्थसूत्र के साथ उसका समन्वय करने का कुछ प्रयत्न किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

२२. तत्त्वार्थसूत्र से क्रमप्राप्त आस्रव तत्त्व की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में पृथक्-पृथक् ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवों—बन्धक के कारणों—का विचार किया गया है।[1]

षट्खण्डागम में चौथे वेदनाखण्ड के अन्तर्गत दूसरे वेदना अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट १६ अधिकारों में ८वाँ 'वेदनाप्रत्ययविधान' है। उसमें पृथक्-पृथक् ज्ञानावरणादि वेदनाओं के प्रत्ययों (कारणों) की प्ररूपणा की गई है।

दोनों ग्रन्थगत उस प्ररूपणा में विशेषता यह रही है कि तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ उन ज्ञानावरणादि के कारणों की प्ररूपणा नयविवक्षा के बिना सामान्य से की गई है वहाँ षट्खण्डागम में उनकी वह प्ररूपणा नयविवक्षा के अनुसार की गई है यथा—

तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दो कर्मों के आस्रव ज्ञान और दर्शन से सम्बद्ध इस प्रकार निर्दिष्ट हैं— प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात।[2]

उधर षट्खण्डागम में नैगम, व्यवहार और संग्रह इन तीन नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मवेदनाओं के ये प्रत्यय निर्दिष्ट किए गए हैं—

प्राणातिपात आदि पाँच पाप, रात्रि-भोजन, क्रोध आदि चार कषाय, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपाधि, निकृति, मान (प्रस्थ आदि माप के उपकरण), माय (मेय), मोष (स्तेय), मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग।[3]

ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा प्रकृति-प्रदेशाग्र का कारण योग और स्थिति-अनुभाग का कारण कषाय कहा गया है।[4] शब्दनय की अपेक्षा उन्हें अवक्तव्य कहा गया है, क्योंकि उस नय की दृष्टि में पदों के मध्य में समास सम्भव नहीं है।[5]

षट्खण्डागम में निर्दिष्ट ये कारण व्यापक तो बहुत हैं, पर तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट संक्षिप्त कारणों के द्वारा जिस प्रकार पृथक्-पृथक् उन ज्ञानावरणादि के बन्ध का सरलता से बोध हो जाता है उस प्रकार षट्खण्डागम में निर्दिष्ट उन प्रचुर कारणों से भी वह बोध सरलता से नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त जिन कारणों का अन्तर्भाव वहीं पर निर्दिष्ट अन्य कारणों में सम्भव है उनका उल्लेख भी पृथक् से किया गया है। जैसे—राग, द्वेष, मोह, प्रेम, रति, अरति, निकृति—ये चार कषायों एवं मिथ्यादर्शन से भिन्न नहीं है—उनके अन्तर्भूत होते हैं। 'मोष'

---

१. त० सूत्र ६,१०-२७

२. वही, ६-१० (तत्त्वार्थसार में ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों के कारणों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है—त० सूत्र ४,१३-१६)

३. सूत्र ४,२,८,१-११ (पु० १२, पृ० २७५-८७)

४. वही, १२-१४

५. वही, १५-१६

यह अदत्तादान (स्तेय) में गर्भित होता है।

सूत्रोक्त इन प्रत्ययों की भिन्नता को प्रकट करने के लिए धवलाकार ने ऐसे प्रत्ययों के स्वरूप का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया है। यथा—

सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति (असंयम), कषाय और योग ये चार बन्ध के कारण माने गये हैं।[1] तदनुसार धवलाकार ने ष० ख० में निर्दिष्ट उन सब कारणों का अन्तर्भाव इन्हीं चार में प्रकट किया है। प्राणातिपात आदि पाँच पापों और रात्रिभोजन को उन्होंने असंयम प्रत्यय कहा है। आगे उन्होंने क्रोध-मान को आदि लेकर मोष पर्यन्त सब कारणों को कषाय प्रत्यय, मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन को मिथ्यात्व प्रत्यय और प्रयोग को योग प्रत्यय निर्दिष्ट किया है।[2]

यहाँ धवला में यह शंका की गई है कि 'प्रमाद' प्रत्यय का उल्लेख यहाँ क्यों नहीं किया।[3] इसके उत्तर में कहा गया है कि इन प्रत्ययों से बहिर्भूत प्रमाद प्रत्यय नहीं पाया जाता।

२३. तत्त्वार्थसूत्र में इसी प्रसंग में तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक सोलह कारणों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है।[4]

ष० ख० के तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्व विचय में बन्धक-अबन्धक जीवों की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के उन सोलह करणों का निर्देश किया गया है।[5]

दोनों ग्रन्थों में जो उन दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणों का निर्देश किया गया है वह प्रायः शब्दशः समान है। यदि कहीं कुछ थोड़ा शब्दभेद भी दिखता है तो भी अभिप्राय में समानता है।

ष० ख० में निर्दिष्ट उन सोलह कारणों के अन्तर्गत क्षण-लवप्रतिबोधनता और अभीक्ष्ण-अभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता इन दो कारणों में आपाततः समानता दिखती है। पर उनमें विशेषता है, जिसे धवलाकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील इन गुणों को उज्ज्वल करना, कलंक को धोना अथवा दग्ध करना इसका नाम प्रतिबोधनता है। इसमें प्रतिसमय (निरन्तर) उद्यत रहना, इसका नाम क्षण-लवप्रतिबोधनता है। अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता में ज्ञानोपयोग से भावश्रुत और द्रव्यश्रुत अभिप्रेत है, उसमें बार-बार (निरन्तर) उद्युक्त रहना, यह अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगयुक्तता का लक्षण है।

---

१. धवला पु० ८, पृ० १९-२८

२. ......एवमसंजमपच्चओ परूविदो। संपहि कसायपच्चयपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि। धवला पु० १२, पृ० २८३; क्रोध-माण-माया-लोभ-राग-दोस-मोह-पेम्म-णिदाण-अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रदि-अरदि-उवहि-णियदि-माण-माय-मोसेहि कसायपच्चओ परुविदो। मिच्छणाण-मिच्छदंसणेहि मिच्छत्तपच्चओ णिद्दिट्ठो। पओगेण जोगपच्चओ परूविदो। —(पु० १२, पृ० २८६)

३. त०सू० में उन चार कारणों के साथ प्रमाद का भी पृथक् से उल्लेख किया गया है—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।—(त० सू० ८-१)

४. त०सू० ६-२४

५. ष० ख० सूत्र ३, ३९-४१ (पु० ८)

दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट वे कारण संख्या में सोलह ही हैं। त० सू० में यदि उनमें क्षण-लवप्रतिवोधनता का उल्लेख नहीं किया गया है तो ष० ख० में आचार्यभक्ति का उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में अनिर्दिष्ट उस क्षण-लवप्रतिवोधनता का अन्तर्भाव अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता में सम्भव है। इसी प्रकार ष० ख० में अनिर्दिष्ट आचार्यभक्ति का अन्तर्भाव वहुश्रुतभक्ति[1] में सम्भव है।

तीर्थंकर प्रकृति के वन्धक वे सोलह कारण पृथक्-पृथक् उस तीर्थंकर प्रकृति के वन्धक हैं या समस्त रूप में, इसे स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि समीचीनतया भाव्यमान वे सोलह कारण व्यस्त और समस्त भी तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।[2]

ष० ख० में प्रसंगप्राप्त सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उन सोलह कारणों में से पृथक्-पृथक् प्रत्येक में शेष पन्द्रह कारणों का अन्तर्भाव सिद्ध किया है। इस प्रकार से उन्होंने शेष पन्द्रह कारणों से गर्भित प्रत्येक को पृथक्-पृथक् उस तीर्थंकर प्रकृति का वन्धक सूचित किया है। अन्त में 'अथवा' कहकर उन्होंने विकल्प के रूप में यह भी कहा है कि सम्यग्दर्शन के होने पर शेष कारणों में से एक-दो आदि कारणों के संयोग से उस तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध होता है, यह कहना चाहिए।[3] इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति के वन्धक उन कारणों के विषय में प्रायः दोनों ग्रन्थों का अभिप्राय समान रहा है।

२४. तत्त्वार्थसूत्र में आगे अवसरप्राप्त वन्ध तत्त्व का विचार करते हुए सर्वप्रथम वहाँ वन्ध के इन पाँच कारणों का निर्देश किया गया है---मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पश्चात् वन्ध के स्वरूप का निर्देश करते हुए उसके इन चार भेदों का उल्लेख किया गया है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वन्ध। आगे उनमें प्रकृतिवन्ध को ज्ञानावरणादि के भेद से आठ प्रकार वतलाते हुए उनमें प्रत्येक के भेदों की संख्या का निर्देश यथा क्रम से इस प्रकार किया है—पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच। अनन्तर निर्दिष्ट संख्या के अनुसार यथाक्रम से ज्ञानावरणादि के उन भेदों का नामनिर्देश भी है।[4]

ष० ख० में जीवस्थान से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में जो प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका है उसमें सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् ज्ञानावरण आदि उन आठ मूल प्रकृतियों के और तत्पश्चात् यथाक्रम से उनकी उत्तरप्रकृतियों के नामों का निर्देश किया गया है।[5]

आगे वहाँ पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में भी लगभग उसी प्रकार से उन मूल और उत्तर प्रकृतियों का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख पुनः किया गया है। यहाँ विशेषता केवल यह रही है कि आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय आदि के उत्तरोत्तर भेदों का भी उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रसंग पाकर वहाँ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेदों व उनके विषय को भी स्पष्ट किया गया है।[6]

---

१. वारहंगधारया वहुसुदा णाम।—धवला पु० ८, पृ० ८६
२. स० सि० ६-२४
३. धवला पु० ८, पृ० ७९-९१
४. त० सूत्र ८, १-१३
५. षट्खण्डागम पु० ६, सूत्र १, ९-१, ३-२८ व ४५-४६
६. सूत्र ५,५, १९-१५४ (पु० १३)

दोनों ग्रन्थगत उन कर्मप्रकृतियों के भेदों में प्रायः शब्दशः समानता है। नामकर्म के भेदों का निर्देश करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ गति-जाति आदि पिण्डप्रकृतियों के साथ ही अपिण्ड प्रकृतियों और उनकी प्रतिपक्ष प्रकृतियों का भी निर्देश कर दिया गया है वहाँ षट्खण्डागम में ब्यालीस पिण्डप्रकृतियों का निर्देश करके आगे यथाक्रम से पृथक्-पृथक् सूत्रों द्वारा गति-जाति आदि पिण्डप्रकृतियों के उत्तरभेदों को भी प्रकट कर दिया गया है।[1]

२५. तत्त्वार्थसूत्र में आगे यहीं पर स्थितिबन्ध के प्रसंग में ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति को प्रकट किया गया है।[2]

षट्खण्डागम में पूर्वोक्त नौ चूलिकाओं में छठी उत्कृष्ट स्थिति और सातवीं जघन्यस्थिति चूलिका है। उनमें यथाक्रम से मूल और उत्तर सभी कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियों की प्ररूपणा की गई है।

तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा षट्खण्डागम में इतनी विशेषता रही है कि वहाँ उत्तर-प्रकृतियों की भी उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है। साथ ही अपनी अपनी स्थिति के अनुसार यथासम्भव उनके आबाधा काल और निषेकरचना-क्रम को भी प्रकट किया गया है।[3]

२६. तत्त्वार्थसूत्र में क्रमप्राप्त संवर और निर्जरा इन दो तत्त्वों का व्याख्यान करते हुए तप के आश्रय से होनेवाली कर्मनिर्जरा के प्रसंग में जिन सम्यग्दृष्टि व श्रावक आदि के उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यात गुणी निर्जरा होती है उनका उल्लेख किया गया है।[4]

ष० ख० में वेदना खण्ड के अन्तर्गत दूसरे वेदना-अनुयोगद्वार में जो १६ अनुयोगद्वार हैं उनमें सातवाँ वेदनाभावविधान है। उसकी प्रथम चूलिका के प्रारम्भ में दो गाथासूत्रों द्वारा उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रम से होनेवाली उस निर्जरा की प्ररूपणा की गई है।[5]

दोनों ग्रन्थों में प्ररूपित निर्जरा का वह क्रम समान रहा है तथा उसके आश्रयभूत सम्यग्दृष्टि व श्रावक आदि भी समान रूप में वे ही हैं। विशेष इतना है कि उस निर्जरा के अन्तिम स्थानभूत 'जिन' का उल्लेख यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में और ष० ख० के गाथासूत्र में सामान्य से ही किया है, फिर भी ष० ख० में आगे जो उन दो गाथासूत्रों का गद्यात्मक सूत्रों में स्पष्टीकरण है उसमें 'जिन' के अधःप्रवृत्तकेवली संयत और योगनिरोधकेवली संयत ये दो भेद किये हैं।[6] इस प्रकार वहाँ गुण श्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थान हो गये हैं।[7]

---

१. त० सूत्र ८-११ व षट्खण्डागम सूत्र १, ९-१, २८-४४ (पु० ६) तथा ५,५, ११६-५० (पु० १३)।
२. तत्त्वार्थसूत्र ८, १४-२०
३. छठी चूलिका पृ० १४५-७९, सातवीं पृ० १८०-२०२ (पु० ६)।
४. तत्त्वार्थसूत्र ९-४५
५. पु० १२, पृ० ७८
६. पु० १२, सूत्र ४,२,७,१८४-८७
७. ये दोनों गाथासूत्र शिवशर्मसूरि विरचित कर्मप्रकृति में भी उपलब्ध होते हैं (उदय ८-९)। वहाँ 'जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा' के स्थान में 'जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी' पाठभेद है। टीकाकर मलयगिरि सूरि ने 'जिणे य दुविहे' से सयोगी और अयोगी जिनों को ग्रहण किया है।

तत्त्वार्थसूत्र व उसकी व्याख्यास्वरूप सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में भी इन दो भेदों का उल्लेख नहीं है।

दूसरी विशेषता यह भी है कि षट्खण्डागम के उन दो गाथासूत्रों में दूसरे गाथासूत्र के उत्तरार्ध में उस निर्जरा के उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित काल का भी विपरीत क्रम से निर्देश किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में यह नहीं है।

उपसंहार

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र दोनों महत्त्वपूर्ण सूत्रग्रन्थ हैं तथा उनमें प्ररूपित अनेक विषयों में परस्पर समानता भी देखी जाती है। फिर भी दोनों की रचनापद्धति भिन्न है व उनकी अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं। यथा—

(१) षट्खण्डागम जहाँ गद्यात्मक प्राकृत-सूत्रों में रचा गया है वहाँ तत्त्वार्थसूत्र संस्कृत गद्य-सूत्रों में रचा गया है व सम्भवतः जैन सम्प्रदाय में वह संस्कृत में रची गई आद्य कृति है।

(२) षट्खण्डागम आगम पद्धति के अनुसार प्रायः प्रश्नोत्तरशैली में रचा गया है, इसलिए उसमें पुनरावृत्ति भी बहुत हुई है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में उस प्रश्नोत्तर शैली को नहीं अपनाया गया, वहाँ विवक्षित विषय की प्ररूपणा अत्यन्त संक्षेप में की गई है, इससे ग्रन्थ प्रमाण में वह अल्प है, फिर भी आवश्यक तत्त्वों का विवेचन उसमें सर्वांगपूर्ण हुआ है।

(३) षट्खण्डागम में पारिभाषिक शब्दों का लक्षणनिर्देशपूर्वक स्पष्टीकरण नहीं किया गया। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के संक्षिप्त होने पर भी उसमें कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों का लक्षण निर्देशपूर्वक आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण भी किया गया है।

(४) षट्खण्डागम की रचना श्रुतविच्छेद के भय से हुई है, इसीलिए उसमें सैद्धान्तिक विषयों की प्ररूपणा की गई है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की रचना मोक्ष को लक्ष्य में रखकर की गई है, अतः उसमें उन्हीं तत्त्वों का विवेचन है जो मोक्ष की प्राप्ति में प्रयोजनीभूत रहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे और चौथे अध्याय में जो भौगोलिक विवेचन किया गया है वह भी प्रयोजनीभूत व आवश्यक रहा है। कारण यह कि कौन जीव मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं और कौन जीव उसे नहीं प्राप्त कर सकते हैं तथा कहाँ से उसकी प्राप्ति सम्भव है और कहाँ से वह सम्भव नहीं है; इत्यादि का परिज्ञान करा देना भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक रहा है। संस्थानविचय धर्मध्यान में इसी सबका चिन्तन किया जाता है।

(५) तत्त्वार्थसूत्र में चर्चित ऐसा भी बहुत कुछ विषय है, जिसकी प्ररूपणा षट्खण्डागम में उपलब्ध नहीं होती। जैसे—तीसरे-चौथे अध्याय का भौगोलिक वर्णन, पाँचवें अध्याय में प्ररूपित अजीव तत्त्व, सातवें अध्याय में वर्णित व्रत व उनके अतिचार आदि, नौवें अध्याय में प्ररूपित गुप्ति-समिति आदि तथा दसवें अध्याय में प्ररूपित मोक्ष व उसकी विशेषता।

इस स्थिति के होते हुए भी सम्भावना तो यही की जाती है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आ० उमास्वाति के समक्ष प्रस्तुत षट्खण्डागम रहा है व उन्होंने उसका उपयोग अपनी पद्धति से तत्त्वार्थसूत्र की रचना में भी किया है, पर निश्चित नहीं कहा जा सकता। हाँ, तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याता आ० पूज्यपाद और भट्टाकलंक देव के समक्ष वह षट्खण्डागम रहा है व उन्होंने

उसका भरपूर उपयोग भी किया है, यह निश्चित कहा जा सकता है। यह आगे सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक के साथ तुलनात्मक विचार के प्रसंग से स्पष्ट हो जाएगा।

तत्त्वार्थसूत्र में प्ररूपित जिन अन्य विषयों का ऊपर निर्देश किया गया है उनकी प्ररूपणा के आधार कदाचित् ये ग्रन्थ हो सकते हैं—

(१) तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे-चौथे अध्याय में जो लोक के विभागों की प्ररूपणा की गई है उसका आधार आ० सर्वनन्दी विरचित लोकविभाग या उसी प्रकार का अन्य कोई प्राचीन भौगोलिक ग्रन्थ हो सकता है। तिलोयपण्णत्ती में ऐसे कितने ही प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख है, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।[1]

(२) द्रव्यविषयक प्ररूपणा का आधार कदाचित् आ० कुन्दकुन्द विरचित पंचास्तिकाय सम्भव है।

(४) व्रतनियमादि की प्ररूपणा का आधार मूलाचार का पंचाचाराधिकार[2] तथा योनि, आयु, लेश्या व बन्ध आदि कुछ अन्य विषयों की प्ररूपणा का आधार इसी मूलाचार का पर्याप्ति अधिकार भी सम्भव है।

तुलनात्मक दृष्टि से क्रमशः तत्त्वार्थसूत्र और मूलाचार में प्ररूपित इन बन्ध व बन्धकारण आदि को देखा जा सकता है—

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः। आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः। पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम्। —तत्त्वार्थसूत्र ८,१-५

कर्मबन्धविषयक यह प्ररूपणा मूलाचार की इन गाथाओं में उसी रूप में व उसी क्रम से इस प्रकार उपलब्ध होती है—

मिच्छादंसण-अविरदि-कसाय-जोगा हवंति बंधस्स।
आऊसज्झवसाणं हेदव्वो ते दु णायव्वा॥
जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो॥
पयडि-ट्ठिदि-अणुभागप्पदेसबंधो य चदु विहो होइ।
दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव॥

---

१. ति० प० २, परिशिष्ट, पृ० ९६५ पर 'ग्रन्थनामोल्लेख'।

२. यहाँ 'चरणाचार' के प्रसंग में व्रत-समिति-गुप्ति आदि की प्ररूपणा की गई है। यहीं पर आगे पाँच व्रतों की जिन ५-५ भावनाओं का निरूपण किया गया है (५,१४०-४४) उनका उसी प्रकार से निरूपण तत्त्वार्थसूत्र (७, ३-८) में भी किया गया है।

आ० कुन्दकुन्द ने चारित्रप्राभृत में संयमचरण के दो भेद निर्दिष्ट किये हैं—सागार संयमचरण और निरागार संयमचरण। सागार संयमचरण में उन्होंने ग्यारह प्रतिमाओं के साथ श्रावक के बारह व्रतों का निर्देश किया है (चा० प्रा० २१-२७)। तत्त्वार्थसूत्रमें जो श्रावकाचार का विवेचन है वह यद्यपि चरित्रप्राभृत से कुछ भिन्न है, फिर भी आ० उमास्वाति के समक्ष वह रह सकता है।

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय मोहणियं।
आउग-णामा-गोदं तहंतरायं च मूलाओ॥
पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चदुरो तहेव बादालं।
दोण्णि य पच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव॥

—मूला० १२, १८२-८६

आगे यथाक्रम से तत्त्वार्थसूत्र और मूलाचार में उपर्युक्त ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतियों के उत्तरभेद भी द्रष्टव्य हैं।—तत्त्वार्थसूत्र ८, ७-१३ व मूलाचार १२, १८७-९७

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में क्रमवद्ध शब्दार्थविषयक समानता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मूलाचार के इस बन्धप्रसंग को सामने रखकर तत्त्वार्थसूत्र में बन्धविषयक प्ररूपणा की गई है।

दोनों ग्रन्थों में केवलज्ञान का उत्पत्तिविषयक यह प्रसंग भी देखिए—

मोहक्षयाज् ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्त्वार्थसूत्र १०-१

मोहस्सावरणाणं खयेण अह अन्तरायस्स य एव।
उववज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं॥ —मूला० १२-२७५

४. षट्खण्डागम और कर्मप्रकृति

शिवशर्मसूरि विरचित कर्मप्रकृति एक महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थ है। शिवशर्म सूरि का समय विक्रम की ५वीं शताब्दी माना जाता है[1]। यह प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। समस्त गाथा संख्या उसकी ४७५ है। इसमें बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना इन आठ करणों की प्ररूपणा की गई है। अन्त में उदय और सत्त्व की भी प्ररूपणा की गई है। इसमें प्ररूपित अनेक विषय ऐसे हैं जो शब्द और अर्थ की अपेक्षा प्रस्तुत षट्खण्डागम से समानता रखते हैं। यथा—

१. षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में से छठी चूलिका में उत्कृष्ट स्थिति और सातवीं चूलिका में जघन्य कर्मस्थिति की प्ररूपणा की गई है।

उधर कर्मप्रकृति में प्रथम बन्धनकरण के अन्तर्गत स्थितिबन्ध के प्रसंग में संक्षेप से उस उत्कृष्ट और जघन्य कर्मस्थिति की प्ररूपणा की गई है।

दोनों ग्रन्थों में यह कर्मस्थिति की प्ररूपणा समान है। विशेषता यह है कि ष०ख० में जहाँ उसकी प्ररूपणा प्रक्रियाबद्ध व विस्तार से की गई है वहाँ क० प्र० में वह संक्षेप में की गई है। जैसे—

ष० ख० में पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असातावेदनीय और पाँच अन्तराय इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण बतलाते हुए उनका आबाधाकाल तीन हजार वर्ष प्रमाण कहा गया है। इस आबाधाकाल से हीन कर्मस्थिति प्रमाण उनका कर्मनिषेक निर्दिष्ट किया गया है।[3]

क० प्र० में इन बीस प्रकृतियों की कर्मस्थिति की प्ररूपणा '.........विग्घावरणेसु

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० ११०
२. सूत्र १, ९-६, ४-६ (पु० ६)।

कोडिकोडीओ। उदही तीसमसाते······।।' इस गाथांश में कर दी गई है।[1] यहाँ इस गाथा में यद्यपि उनके आबाधाकाल और कर्मनिषेक का निर्देश नहीं किया गया है, पर उसकी व्याख्या में टीकाकार मलयगिरि सूरि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिन कर्मों की जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति होती है उतने सौ वर्ष उनका अबाधाकाल[2] होता है। तदनुसार उक्त बीस कर्मप्रकृतियों की स्थिति चूंकि तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है, इसलिए उनका उत्कृष्ट अबाधाकाल उपर्युक्त नियम के अनुसार तीस सौ (३०००) वर्षप्रमाण ही सम्भव है। इस अबाधाकाल से हीन उनका कर्मदलिकनिषेक होता है।[3]

उक्त अबाधाकाल के नियम का निर्देश आगे स्वयं मूल ग्रन्थकार ने इस प्रकार कर दिया है—

वाससहस्समबाहा कोडाकोडीदसगस्स सेसाणं।
अणुवाओ अणुवट्टणगाउसु छम्मासिगुक्कोसो।। —बन्धन क० ७५

अभिप्राय यह है कि जिन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है उनका अबाधाकाल एक हजार वर्ष होता है। शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का वह अबाधाकाल इसी अनुपात से—त्रैराशिक प्रक्रिया के आश्रय से—जानना चाहिए। अनपवर्त्य आयुवालों—देव-नारकियों और असंख्यात वर्षायुष्क मनुष्य-तिर्यंचों—में परभव सम्बन्धी आयु का उत्कृष्ट अबाधाकाल छह मास होता है।

इसी प्रकार से दोनों ग्रन्थों में शेष कर्मों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा आगे-पीछे समान रूप में की गई है।

२. ष० ख० में चौथे वेदना खण्ड के अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वारों में छठा 'वेदनाकालविधान' अनुयोगद्वार है। उसकी प्रथम चूलिका में मूलप्रकृतिबन्ध के प्रसंग में इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—स्थितिबन्ध स्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।[1] इनमें स्थितिबन्ध स्थानों की प्ररूपणा इस प्रकार है—

"ट्ठिदिबंधट्ठाणपरूवणदाए सव्वत्थोवा सुहुमेइंदियअपज्जत्तयस्स ट्ठिदिबंधट्ठाणाणि। बादरे-इंदियअपज्जत्तयस्स ट्ठिदिबंधट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि।" इत्यादि सूत्र ४,२,६, ३६-५० (पु० ११, पृ० १४०-४७)।

इस प्रकार यहाँ चौदह जीवसमासों में स्थितिबन्धस्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

कर्मप्रकृतिमें इन्हीं स्थितिबन्धस्थानों की प्ररूपणा संक्षेप से इन दो गाथाओं में कर दी गई है—

ठिइबंधट्ठणाइं सुहुम अपज्जत्तगस्स थोवाइं।
बायर-सुहुमेयर-बि-ति-चउरिंदिय-अमण-सण्णीणं।।
संखेज्जगुणाणि कमा असमत्तियेर बिंदियाइम्मि।
नवरमसंखेज्जगुणाइं·················।। —बन्धन क० ६८-६९

२. क० प्र० बन्धन, क० ७०, पृ० ११०
३. श्वे० ग्रन्थों में आबाधा के स्थान में 'आबाधा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
४. क० प्र०, मलयवृत्ति बन्धन क० गा० ७०, पृ० १११

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में इन स्थितिबन्धस्थान की प्ररूपणा सर्वथा समान रही है। क० प्र० के टीकाकार मलयगिरि सूरि ने इन गाथाओं में संक्षेप से निर्दिष्ट उन स्थानों का स्पष्टीकरण प्रायः उन्हीं शब्दों में कर दिया है जिन शब्दों द्वारा ष० ख० में उनकी प्ररूपणा विस्तार से की गई है।

ष० ख० में आगे यहीं पर जिन संक्लेश-विशुद्धिस्थानों की प्ररूपणा चौदह (५१-६४) सूत्रों में की गई है उनकी सूचना क० प्र० में 'संक्लेसाइं (य) सव्वत्थ' (पूर्व गा० ६६ का च० चरण) 'एमेव विसोहीओ (गा० का प्र० चरण) इन गाथाओं में कर दी गई है। उनका स्पष्टीकरण टीकाकार मलयगिरि सूरि ने ष०ख० के ही समान किया है।

३. ष० ख० में जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत नौ चूलिकाओं में आठवीं 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका है। उसमें प्रथम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह के उपशम व क्षय की प्ररूपणा की गई है। इनमें प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीव की योग्यता को प्रकट करते हुए यहाँ उसकी इन विशेषताओं को दिखलाया गया है—

सर्वप्रथम वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि वह जब ज्ञानावरणीय आदि सब कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण बाँधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। आगे इसे और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उसे पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्वविशुद्ध—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन विशुद्धियों से विशुद्ध—होना चाहिए। उक्त सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को जब वह संख्यात सागरोपम से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थापित करता है तब प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। उस प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ वह अन्तर्मुहूर्त हटता है—अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करके वह मिथ्यात्व के तीन खण्ड करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। इस प्रकार वह दर्शनमोह को उपशमाता है। उसे उपशमाता हुआ वह चारों गतियों, पंचेन्द्रियों, संज्ञियों, गर्भोपक्रान्तिकों और पर्याप्तकों में उपशमाता है। इसके विपरीत वह एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों आदि में उसे नहीं उपशमाता है। वह उसे संख्यातवर्षायुष्कों में और असंख्यातवर्षायुष्कों में भी उपशमाता है।[1]

दर्शनमोहनीय की उपशामना किन क्षेत्रों व किसके समक्ष होती है, इसके लिए कोई विशेष नियम नहीं है—वह किसी भी क्षेत्र में और किसी के भी समक्ष हो सकती है।[2]

क० प्र० में छठा उपशामनाकरण है। उसकी उत्थानिका में वृत्तिकार मलयगिरि सूरि ने उसके प्रतिपादन में इन आठ अधिकारों की सूचना की है—(१) सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, (२) देशविरतिलाभप्ररूपणा, (३) सर्वविरतिलाभप्ररूपणा, (४) अनन्तानुबन्धिविसंयोजना, (५) दर्शनमोहनीयक्षपणा, (६) दर्शनमोहनीय उपशामना, (७) चारित्रमोहनीय उपशामना और (८) देशोपशामना।[3]

इनमें प्रथमतः ग्रन्थकार ने सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा के प्रसंग में उपशामना के करणकृता और अकरणकृता इन दो भेदों का निर्देश करते हुए 'अनुदीर्णा' अपर नामवाली दूसरी अकरण-

---

१. ष०ख० सूत्र १, ९-८, ३-९ (पु० ६)।
२. ष०ख० सूत्र १,९-१,१० (इसकी धवला टीका भी द्रष्टव्य है)
३. क० प्र० मलय० वृत्ति, पृ० २५४/२

कृता उपशामना के अनुयोगधरों को—तद्विषयक व्याख्याकुशलों को—नमस्कार किया है।[1]

आगे वहाँ करणोपशामना के सर्वोपशामना और देशोपशामना इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनमें सर्वोपशामना के गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना तथा देशोपशामना के अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना इन दो भेदों का निर्देश किया गया है। साथ ही वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि उनमें सर्वोपशामना मोह की ही होती है।[2]

इसी प्रसंग में आगे कर्मप्रकृति में यह स्पष्ट किया गया है कि इस सर्वोपशामना क्रिया के योग्य पंचेन्द्रिय, संज्ञी, लब्धित्रय—पंचेन्द्रियत्व, संज्ञित्व व पर्याप्तता रूप तीन लब्धियों अथवा उपशमलब्धि, उपदेशश्रवण लब्धि और करणत्रय की हेतु प्रकृष्ट योगलब्धि रूप तीन लब्धियों—से युक्त, करणकाल के पूर्व विशुद्धि को प्राप्त होनेवाला, ग्रन्थिक जीवों (अभव्यों) की विशुद्धि का अतिक्रमण कर वर्तमान; तथा मति व श्रुतरूप साकार उपयोगों में से किसी एक उपयोग में, तीन योगों में से किसी एक योग में व विशुद्ध लेश्या में वर्तमान जीव होता है।

इन विशेषताओं से युक्त होता हुआ जो सात कर्मों की स्थिति को अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण करके अशुभ कर्मों के चतुःस्थानरूप अनुभाग को द्विस्थानरूप और शुभ कर्मों के द्विस्थानरूप अनुभाग को चतुःस्थानरूप करता है, ध्रुव प्रकृतियों (४७) को बांधता हुआ जो अपने भव के योग्य शुभ प्रकृतियों को बांधता है, आयु कर्म को नहीं बांधता है, योग के वश जो जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट प्रदेशाग्र को बांधता है; स्थिति काल के पूर्ण होने पर जो नवीन स्थिति को पूर्व की अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन बांधता है तथा अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को जो अनन्तगुणी हानि के साथ और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को अनन्त गुणी वृद्धि के साथ बांधता है; इस विधि के साथ जो क्रम से अन्तर्मुहूर्त कालवाले यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है वह क्रम से उपशान्ताद्धा को प्राप्त करता है।[3]

इसका पूर्वोक्त षट्खण्डागम[4] से मिलान करने पर दोनों में पर्याप्त समानता दिखती है। विशेष स्पष्टीकरण दोनों ग्रन्थों की अपनी-अपनी टीका में कर दिया गया है। जैसे—

(१) क० प्र० में दर्शनमोह के उपशामक जीव को अन्यतर साकार उपयोग में वर्तमान कहा गया है।

---

१. करणकया अकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ विइयाए। अकरण-अणुइन्नाए अणुओगधरे पणिवयामि ॥—उपशा० १

२. इसकी प्ररूपणा कषायप्राभृत (चूर्णि) में इस प्रकार की गई है—उवसामणा कदिविधा त्ति? उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि —अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा—देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि—देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु। जा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि—सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि।

—क० पा० चुण्णिसुत्त २९९-३०६, पृ० ७०७-८

३. क०प्र० (उपशा० क०) गा० ३-८, पृ० २५५

४. ष० ख० सूत्र १, ९-८, ३-१० (पु० ६)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि वह मति व श्रुतरूप साकार उपयोग से युक्त होता है।[1]

(२) आगे क० प्र० में उसे विशुद्ध लेश्या में वर्तमान कहा गया है।

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि वह छह लेश्याओं में से किसी एक लेश्या से युक्त होता हुआ अशुभ लेश्या की उत्तरोत्तर होने वाली हानि और शुभ लेश्या की उत्तरोत्तर होनेवाली वृद्धि से युक्त होता है।[2]

(३) क० प्र० में उसे अशुभ कर्मप्रकृतियों के चतुःस्थानक अनुभाग को द्विस्थानक और शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक अनुभाग को चतुःस्थानक करनेवाला कहा गया है।

इस विषय में धवला में उल्लेख है कि वह पाँच ज्ञानावरणीयादि अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग की द्विस्थानिक और सातावेदनीयादि प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानिक अनुभाग से सहित होता है। यहाँ उन प्रकृतियों का नामनिर्देश भी कर दिया गया है।[3]

(४) क० प्र० में जो यह कहा गया है कि ध्रुव प्रकृतियों को बाँधता हुआ वह प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव अपने-अपने भव के योग्य प्रकृतियों को बाँधता है उसे स्पष्ट करते हुए टीकाकार मलयगिरि सूरि ने प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाला तिर्यंच व मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ देवगति के योग्य जिन शुभ प्रकृतियों को बाँधता है, उस सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला देव व नारकी मनुष्य गति के योग्य जिन प्रकृतियों को बाँधता है, तथा उस सम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाला सातवीं पृथिवी का नारकी जिन कर्मप्रकृतियों को बाँधता है उन सबको पृथक्-पृथक् नाम निर्देशपूर्वक स्पष्ट कर दिया है।[4]

ष० ख० में मूल ग्रन्थकर्ता ने ही इस प्रसंग को स्पष्ट कर दिया है। यथा—

जीवस्थान की उन नौ चूलिकाओं में तीसरी 'प्रथम महादण्डक' चूलिका है। इसमें प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा मनुष्य जिन कर्मप्रकृतियों को बाँधता है उनको नामनिर्देशपूर्वक स्पष्ट किया गया है।[5]

चौथी 'द्वितीय महादण्डक' चूलिका में नामोल्लेखपूर्वक उन कर्मप्रकृतियों को स्पष्ट किया गया है जिन्हें सातवीं पृथिवी के नारकी को छोड़कर अन्य कोई नारकी या देव बाँधता है।[6]

पाँचवीं 'तृतीय महादण्डक' चूलिका में सातवीं पृथिवी का नारकी जिन कर्मप्रकृतियों को बाँधता है उन्हें नामनिर्देश के साथ स्पष्ट किया गया है।

(५) जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, ष०ख० में आगे यह कहा गया है कि प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाला अनादि मिथ्यादृष्टि अन्तर्मुहूर्त हटता है—वह मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है।[7]

---

१. धवला पु० ६, पृ० २०७
२. ,, ,,
३. धवला पु० ६ पृ० २०८-९
४. क० प्र० मलय० वृत्ति, पृ० २५६-१
५. सूत्र १,९-३,१-२ (पु० ६, पृ० १३३-३४)
६. सूत्र १,९-४,१-२ (पु० ६, पृ० १४०-४१)
७. सूत्र १,९-५,१-२ (पु० ६, पृ० १४२-४३)

क० प्र० में भी कहा गया है कि प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला अनिवृत्तिकरण-काल में संख्यातवें भाग के शेष रह जाने पर अन्तरकरण करता है।[1]

इस अन्तरकरण का स्पष्टीकरण दोनों ग्रन्थों की टीका में प्रायः समान रूप में ही किया गया है।[2]

(६) ष० ख० में आगे यह भी कहा गया है कि इस प्रकार अन्तरकरण करके वह मिथ्यात्व के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।[3]

क०प्र० में भी कहा गया है कि मिथ्यात्व के उदय के क्षीण हो जाने पर वह आत्महितकर उस औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, जिसे पूर्व में कभी नहीं प्राप्त किया था। तब वह द्वितीय स्थिति को अनुभाग की अपेक्षा तीन प्रकार करता है—देशघाति सम्यक्त्व, सर्वघाति संमिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) और मिथ्यात्व।[4]

इसका स्पष्टीकरण दोनों ग्रन्थों की टीका में विशेषरूप से किया गया है। इतना विशेष रहा है कि धवला में जहाँ उस मिथ्यात्व के तीन भाग करने की सूचना सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के प्रथम समय में ही की गई है वहाँ क० प्र० की टीका में उसकी सूचना सम्यक्त्वप्राप्ति के पूर्व अनन्तर समयमें, अर्थात् प्रथमस्थिति के अन्तिम समय में की गई है।[5]

(७) क० प्र० में आगे कहा गया है कि सम्यक्त्व का यह प्रथम लाभ मिथ्यात्व के सर्वोपशम से होता है। इस सम्यक्त्व के प्राप्त हो जाने पर उसके काल में अधिक से अधिक छह आवलियों के शेष रह जाने पर कोई जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है।[6]

ष० ख० मूल में यद्यपि इसकी सूचना नहीं की गई है, पर धवलाकार ने इस प्रसंग में 'एत्थ उवउज्जंतीओ गाहाओ' ऐसी सूचना करते हुए कुछ गाथाओं को उद्धृत कर प्रसंगप्राप्त विषय की प्ररूपणा की है।[7]

ये सब ही गाथाएँ कषायप्राभृत में उसी क्रम से उपलब्ध होती हैं।[8] उनमें एक गाथा का पूर्वार्ध कर्मप्रकृतिगत गाथा के समान है। यथा—

"सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह य वियट्ठेण।"

—धवला पु० ६, पृ० २४१

"सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा तहा विगिट्ठो य।"

—क० प्र० (उप० क० २३ पू०)

कर्म प्रकृतिगत आगे की अन्य तीन (२४-२६) गाथाएँ भी उन गायाओं के अन्तर्गत हैं।[9]

---

१. क० प्र० (उपशा क०) १६-१७, पृ० २५६/२
२. धवला पु० ६, पृ० २३०-३४ तथा क० प्र० मलय० वृत्ति १६-१७, पृ० २६०
३. सूत्र १,९-८,७
४. क० प्र० (उपशा० क०) १८-१९
५. धवला पु० ६, पृ० २३४-३५ तथा क० प्र० मलय० वृत्ति १९, पृ० २६१/२
६. क० प्र० (उप० क०) २३
७. धवला पु० ६, पृ० २३८-४३, गा० २-१६
८. कसायपाहुडसुत्त गा० ४२-५६ (गा० ४९-५० में क्रमव्यत्यय हुआ है। पृ० ६३१-३८
९. क० प्र० (उप० क०) २४-२६ (धवला पु० ६, २४२-४३ तथा कसायपाहुडसुत्त गा० ५४-५६, पृ० ६३७-३८

धवला में उद्धृत उन गाथाओं में एक अन्य गाथा इस प्रकार है—

उवसामगो य सव्वो णिव्वाघादो तहा णिरासाणो।
उवसंते भजियव्वो णिरासाणो चेव खीणम्हि ॥ —पु० ६, पृ० २३९

इस गाथा के द्वारा क० प्र० (२३) के समान यही अभिप्राय प्रकट किया गया है कि मिथ्यात्व का उपशम हो जाने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्ववाला जीव कदाचित् सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है। किन्तु उक्त मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर जीव उस सासादन गुणस्थान को नहीं प्राप्त होता है।

आचार्ययतिवृषभ विरचित कषायप्राभृत-चूर्णि में उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है— इस उपशमकाल के भीतर जीव असंयम को भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयम को भी प्राप्त हो सकता है, और दोनों को भी प्राप्त हो सकता है। उपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियों के शेष रहने पर वह कदाचित् सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है। किन्तु यदि उस सासादन गुणस्थान को प्राप्त होकर वह मरता है तो नरकगति, तिर्यंचगति अथवा मनुष्यगति को प्राप्त नहीं होता। उस अवस्था में वह नियम से देवगति को ही प्राप्त होता है।[1]

क० प्र० की पूर्व निर्दिष्ट गाथा (२३) की व्याख्या में मलयगिरि सूरि ने शतक-बृहच्चूर्णि से इस प्रसंग को उद्धृत करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया है कि अन्तरकरण में स्थित कोई उपशमसम्यग्दृष्टि देशविरति को भी प्राप्त होता है और कोई सर्वविरति को भी प्राप्त होता है। पर मूल गाथा में इतनी मात्र सूचना की गई है कि उपशमसम्यक्त्वकाल में छह आवलियों के शेष रह जाने पर कोई जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है।[2]

ष०ख० की धवला टीका में सासादन सम्यग्दृष्टियों के पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र जघन्य अन्तर को घटित करते हुए कहा गया है कि कोई जीव प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसके साथ अन्तर्मूहूर्त रहा व सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता हुआ मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार अन्तर करके सबसे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र उद्वेलन काल से सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व के स्थिति सत्वर्म को प्रथम सम्यक्त्व के योग्य सागरोपम पृथक्त्व मात्र स्थापित करके तीनों करणों को करता हुआ फिर से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् उपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियों के शेष रह जाने पर सासादन को प्राप्त हो गया। इस प्रकार उसके सासादन का जघन्य अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्राप्त होता है।

इस पर यह शंका की गई है कि उपशम श्रेणि से उतरकर व सासादन को प्राप्त होकर अन्तर्मूहूर्त में फिर से उपशमश्रेणि पर आरूढ़ हुआ। पश्चात् उससे उतरता हुआ फिर से सासादन को प्राप्त हो गया, इस प्रकार सासादन का जघन्य अन्तर अन्तमुहूर्त प्राप्त होता है। उसकी यहाँ प्ररूपणा क्यों नहीं की। कषायप्राभृत में कहा भी गया है कि उपशमश्रेणि से उतरता हुआ उपशमसम्यग्दृष्टि सासादन को भी प्राप्त हो सकता है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा

१. क० सुत्त चूर्णि ५४२-४६, पृ० ७२६-२७ (पाठ कुछ अशुद्ध हुआ दिखता है, संयमासंयम के स्थान में 'संयम' पाठ सम्भव है)।

२. क० प्र० (उप० क०) मलय० वृत्ति, गा० २३, पृ० २६२१२ (सम्भव है यह उपर्युक्त क०प्रा० चूर्णि के ही आधार से स्पष्टीकरण किया गया है।)

गया है कि उपशमश्रेणि से उतरनेवाला एक ही उपशमसम्यग्दृष्टि दो वार सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।[1]

इस विषय में दो भिन्न मत रहे हैं। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है,[2] कषाय-प्राभृत-चूर्णि के कर्ता यतिवृषभाचार्य उपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियों के शेष रहने पर जीव कदाचित् सासादन को प्राप्त हो सकता है, ऐसा मानते हैं। पर षट्खण्डागम के कर्ता स्वयं भूतवलि भट्टारक के उपदेशानुसार उपशमश्रेणि से उतरता हुआ जीव सासादन गुणस्थान को नहीं प्राप्त होता है।[3]

८. ष०ख० में जीवस्थान की उसी सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका में आगे दर्शनमोह की क्षपणा के प्रसंग में कहा गया है कि उसकी क्षपणा में उद्यत जीव अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में अवस्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में, जहाँ जिन केवली तीर्थंकर हों, उसकी क्षपणा को प्रारम्भ करता है। पर निष्ठापक उसका चारों ही गतियों में हो सकता है।[4]

क०प्र० में भी यही कहा गया है कि दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक आठ वर्ष से अधिक आयुवाला जिनकालवर्ती—केवली जिन के समय में रहने वाला—मनुष्य होता है। अन्तिम काण्डक के उत्कीर्ण होने पर क्षपक कृतकरणकालवर्ती होता है—उस समय उसे कृतकरण कहा जाता है।[5]

इसे स्पष्ट करते हुए मलयगिरि सूरि ने कहा है कि ऋषभ जिन के विचरणकाल से लेकर जम्बूस्वामी के केवलज्ञान उत्पन्न होने के अन्त तक जिनकाल माना गया है। इस जिनकाल में रहने वाला आठ वर्ष से अधिक आयु से युक्त मनुष्य दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ करता है। कृतकरणकाल में यदि कोई मरण को प्राप्त होता है तो वह चारों गतियों में से कहीं भी उसे समाप्त करता है। इस प्रसंग में उन्होंने 'उक्तं च' कहकर इस आगमवाक्य को उद्धृत किया है—"पट्ठवगो य मणुस्सो णिट्ठवगो चउसु वि गईसु।"[6]

लगभग इससे मिलती हुई गाथा कषायप्राभृत में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥[7]

९. ष० ख० में वेदना खण्ड के अन्तर्गत दूसरे 'वेदना' अनुयोगद्वार के १६ अवान्तर अनुयोगद्वारों में से चौथे वेदनाद्रव्यविधान अनुयोगद्वार के द्रव्य की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना किसके होती है, इसे स्पष्ट किया गया है। वह चूंकि गुणितकर्मांशिक के होती हैं, इसलिए उस गुणितकर्मांशिक के विशेष लक्षणों को वहाँ प्रकट किया गया है।[8]

---

१. धवला पु० ७, २३३-३४
२. क० प्रा० चूर्णिसूत्र वे ही हैं जिनका उल्लेख अभी पीछे किया जा चुका है।
३. धवला पु० ६, पृ० ३३१ (पृ० ४४४ भी द्रष्टव्य है)
४. ष०ख० सूत्र १, ९-८, ११ व १२ (पु० ६, पृ० २४३ व २४६)
५. क० प्र० (उप० क०) गा० ३२, पृ० २६७/१
६. क० प्र० (उप० क०) मलय० वृत्ति, पृ० २६८/२
७. क० पा०, सुत्त० पृ० ६३९, गा० ११० (५७)
८. ष०ख० सूत्र ४, २,४,६-३२ (पु० १०, पृ० ३१-१०९)

क० प्र० में संक्रम करण के अन्तर्गत प्रदेश संक्रम के सामान्य लक्षण, भेद, सादि-अनादि प्ररूपणा, उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामी और जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामी इन पाँच अर्थाधिकारों में से चौथे 'उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामी' अर्थाधिकार में उस गुणितकर्मांशिक के लक्षणों को प्रकट किया गया है, जिस गुणितकर्मांशिक के वह उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम होता है।

उसके वे लक्षण इन दोनों ग्रन्थों में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। विशेषता यह है कि ष०ख० में जहाँ उन लक्षणों को विशदतापूर्वक विस्तार से प्रकट किया गया है वहाँ क० प्र० में उनकी प्ररूपणा अतिशय संक्षेप में की गई है। यथा—

ष० ख० में उसके लक्षणों को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो जीव साधिक दो हजार सागरोपमों से कम कर्मस्थितिकाल तक वादर पृथिवीकायिकों में रहा है, वहाँ परिभ्रमण करते हुए जिसके पर्याप्त भव बहुत और अपर्याप्त भव थोड़े रहे हैं, पर्याप्तकाल बहुत व अपर्याप्त काल थोड़े रहे हैं, जब-जब वह आयु को बाँधता है तब-तब तत्प्रायोग्य जघन्य योग के द्वारा बाँधता है, उपरिम स्थितियों के निषेक का उत्कृष्ट पद और अधस्तन स्थितियों के निषेक का जघन्य पद होता है, बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है, बहुत-बहुत बार अधिक संक्लेश परिणामों से युक्त होता है, इस प्रकार परिभ्रमण करके जो बादर त्रस पर्याप्त जीवों में उत्पन्न हुआ है।[1]

इस प्रकार उसके इन थोड़े से लक्षणों को ष० ख० में जहाँ पृथक्-पृथक् आठ सूत्रों में निर्दिष्ट किया गया है वहाँ कर्मप्रकृति में उसके इन्हीं लक्षणों को संक्षेप में इन दो गाथाओं में प्रकट कर दिया गया है—

जो बायरतसकालेणूणं कम्मट्ठिदिं तु पुढवीए।
बायर (रि) पज्जत्तापज्जत्तगदीहेयरद्धासु॥
जोग-कसाउक्कोसो बहुसो निच्चमवि आउबंधं च।
जोगजहण्णेणुवरिल्लठिइनिसेगं बहुं किच्चा॥[2]

दोनों ग्रन्थों में यहाँ केवल अर्थ से ही समानता नहीं है, शब्दों में भी बहुत कुछ समानता है।

ष० ख० में आगे उसके कुछ अन्य लक्षणों को दिखलाते हुए पूर्वोक्त बादर त्रस जीवों में उत्पन्न होने पर वहाँ परिभ्रमण करते हुए भी 'पर्याप्त भव बहुत और अपर्याप्त भव थोड़े,' इत्यादि का निरूपण जिस प्रकार पूर्व में, बादर पृथिवीकायिकों के प्रसंग में, किया गया था उसी प्रकार इन बादर त्रस जीवों में परिभ्रमण के प्रसंग में भी उनका निरूपण उन्हीं सूत्रों में पुनः किया गया है।[3]

कर्मप्रकृति के कर्ता को भी प्रसंग प्राप्त उन 'पर्याप्तभव अधिक' इत्यादि का निरूपण करना 'बादरत्रसों' के प्रसंग में भी अभीष्ट रहा है, किन्तु उन्होंने अगली गाथा में संक्षेप से यह सूचना कर दी है कि बादर त्रसों में उत्पन्न होकर उसके--बादर त्रसकायस्थिति के — काल तक इसी प्रकार से—'पर्याप्तभव बहुत' इत्यादि प्रकार पूर्वोक्त पद्धति से—भ्रमण करता

१. ष० ख० सूत्र ४,२,४, ७-१४ (पु० १०)
२. क० प्र० (संक्रम क०) ७४-७५
३. ष० ख० सूत्र ४,२,४,८-१४ और सूत्र १५-२१ (पु० १०)

हुआ जो सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ है।[1]

इसी प्रकार आगे भी उक्त गुणितकर्मांशिक के शेष लक्षणों को दोनों ग्रन्थों में समान रूप से निर्दिष्ट किया गया है।[2]

१०. ष० ख० में आगे द्रव्य की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की जघन्य वेदना किसके होती है, इसका विचार करते हुए, वह चूंकि क्षपित कर्मांशिक के होती है इसलिए, उसके लक्षणों को भी वहाँ प्रकट किया गया है।[3]

कर्मप्रकृति में भी जघन्य प्रदेशसंक्रम के स्वामी के प्रसंग में उस क्षपितकर्मांशिक के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है।[4]

ये क्षपितकर्मांशिक के लक्षण भी दोनों ग्रन्थों में समान रूप में ही उपलब्ध होते हैं।

विशेषता यह रही है कि क० प्र० में संक्षेप से यह निर्देश कर दिया गया है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन कर्मस्थितिकाल तक सूक्ष्म निगोद जीवों में परिभ्रमण कर जो भव्य के योग्य जघन्य प्रदेशसंचय को करता हुआ उन सूक्ष्म निगोदजीवों में से निकल कर सम्यक्त्व व देशविरति आदि के योग्य त्रसों में उत्पन्न हुआ है, इत्यादि।

मूलगाथाओं में उस क्षपितकर्मांशिक के जिन लक्षणों का निर्देश नहीं किया है उनका उल्लेख उनकी टीका में मलयगिरि सूरि के द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में कर दिया गया है जिनका उपयोग ष० ख० में किया गया है। उदाहरण के रूप में उनमें से कुछ का मिलान इस प्रकार किया जा सकता है—

"एवं संसरिदूण बादरपुढविजीवपज्जत्तएसु उववण्णो। अंतोमुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो। अंतोमुहुत्तेण कालगदसमाणो पुव्वकोडाउएसु मणुसेसुववण्णो। सव्वलहुं जोणिणिक्खमणजम्मणेण जादो अट्ठवस्सीओ। संजमं पडिवण्णो। तत्थ य भवट्ठिदि पुव्वकोडिं देसूणं संजममणुपालइत्ता थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति मिच्छत्तं गदो।"—ष०ख० ४,२,४,५६-६१

"सूक्ष्मनिगोदभ्यो निर्गत्य बादरपृथ्वीकायेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततोऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनिर्गत्य मनुष्येषु पूर्वकोट्यायुष्केषु मध्ये समुत्पन्नः। तत्रापि शीघ्रमेव माससप्तकान्तरं योनिविनिर्गमनेन जातः। ततोऽष्टवार्षिकः सन् संयमं प्रतिपन्नः। ततो देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्य स्तोकावशेषे जीविते सति मिथ्यात्वं प्रतिपन्नः।" —क०प्र० मलय० वृत्ति, पृ० १६४/२

११. ष० ख० में पूर्वोक्त वेदना अनुयोगद्वार के १६ अवान्तर अनुयोगद्वारों में से सातवें वेदनाभावविधान अनुयोगद्वार की तीन चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका के प्रारम्भ में दो गाथासूत्रों द्वारा निर्जीर्यमाण कर्मप्रदेश और उस निर्जरा सम्बन्धी काल के क्रम को दिखलाते हुए सम्यक्त्वोत्पत्ति आदि ग्यारह गुणश्रेणियों की प्ररूपणा की गई है। वे गाथासूत्र ये हैं—

सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते॥

---

१. बायरतसेसु तक्कालमेवमंते य सत्तमखिईए। —क० प्र० (सं० क०) गा० ७६ (पूर्वार्ध)

२. ष० ख० सूत्र ४, २,४,२२-३२ (पु० १०) व क० प्र० (सं० क०) गा० ७६-७८ (इतना विशेष है कि ष०ख० में 'गुणित कर्मांशिक' का उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि क० प्र० में उसका उल्लेख किया गया है)

३. ष० ख० सूत्र ४,२,४,४८-७५ (पु० १०)

४. क० प्र० (सं० क०) गा० ९४-९६

खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणा य सेडीओ[1] ॥—पु० १२, पृ० ७८

ये दोनों गाथाएँ साधारण पाठभेद के साथ क० प्र० में इस रूप में उपलब्ध होती हैं—

सम्मत्तुप्पासावय-विरए संजोयणाविणासे य।
दंसणमोहक्खवगे कसाय उवसामगुवसंते॥
खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी।
उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी॥
—क० प्र० उदय गा० ८-९, पृ० २९१

ष० ख० में जहाँ 'अणंतकम्मंसे' पाठ है वहाँ क०प्र० में उसके स्थान में 'संजोयणाविणासे' पाठ है। उसका अर्थ मलयगिरि सूरि ने अनन्तानुवन्धियों का विसंयोजन ही किया है।[2] श्वे० ग्रन्थों में प्रायः अनन्तानुवन्धी के लिए 'संयोजना' शब्द व्यवहृत हुआ है।

इसी प्रकार आगे गा० ९ में 'जिणे य दुविहे'[3] ऐसा निर्देश करके उससे सयोगी और अयोगी दोनों केवलियों की विवक्षा की गई है।[4]

ष० ख० में वहाँ यद्यपि 'जिणे' के विशेषण स्वरूप 'दुविहे' पद का उपयोग न करके उसके स्थान में 'णियमा' पद का उपयोग किया गया है, फिर भी ग्रन्थकार को 'जिणे' पद से दो प्रकार के केवली जिन विवक्षित रहे हैं। उन्होंने स्वयं ही आगे इन गाथासूत्रों के अभिप्राय को जिन २२ सूत्रों द्वारा स्पष्ट किया है उनमें केवली के इन दो भेदों को स्पष्ट कर दिया है—अधः प्रवृत्तकेवली संयत और योगनिरोधकेवली संयत।

१२. ष० ख० के पाँचवें 'वर्गणा' खण्ड में जो 'वन्धन' अनुयोगद्वार है उसमें वन्ध, वन्धक, वन्धनीय और वन्धविधान इन चार की प्ररूपणा की गई है। उनमें वन्धनीय—वँधने योग्य, वर्गणाओं—की प्ररूपणा वहुत विस्तार से की गई है इसीलिए इस खण्ड के अन्तर्गत स्पर्श कर्म और प्रकृति इन अन्य अनुयोगद्वारों के होने पर भी उसका नाम 'वर्गणा' प्रसिद्ध हुआ है।

क० प्र० में भी प्रथम वन्धनकरण के प्रसंग में उन वर्गणाओं की प्ररूपणा की गई है।

वर्गणाओं की वह प्ररूपणा इन दोनों ग्रन्थों में लगभग समान ही है। थोड़ा-सा जो उनमें शब्दभेद दिखता है वह नगण्य है। दोनों ग्रन्थों में उनके नामों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

ष० ख०	क० प्र०
१. एक प्रदेशिक परमाणु पु० द्रव्यवर्गणा	परमाणु-संख्येय-असंख्येय-
२. संख्यातप्रदेशिक ,,	अनन्तप्रदेश-वर्गणा
३. असंख्यातप्रदेशिक ,,	(अग्राह्य)
४. अनन्त प्रदेशिक ,,	१. अग्रहणवर्गणा
५. आहारद्रव्यवर्गणा	२. आहारवर्गणा

१. ये दोनों गाथाएँ आचार-निर्युक्ति (२२२-२३) में भी उपलब्ध होती हैं।
२. चतुर्थी संयोजनानामनन्तानुवन्धिनां विसंयोजने।—क० प्र० मलय० वृत्ति गा० ८ (उदय)
३. आचा० नि० में 'जिणे य सेढी भवे असंखिज्जा' पाठ है।
४. दशमी सयोगिकेवलिनि। अयोगिकेवलिनि त्वेकादशीति।—मलय० वृत्ति गा० ९

ष० ख०	क० प्र०
६. अग्रहणद्रव्यवर्गणा	३. अग्रहणवर्गणा
७. तैजसद्रव्यवर्गणा	४. तैजसवर्गणा
८. अग्रहणद्रव्यवर्गणा	५. अग्रहणवर्गणा
९. भाषाद्रव्यवर्गणा	६. भाषावर्गणा
१०. अग्रहणद्रव्यवर्गणा	७. अग्रहणवर्गणा
११. मनोद्रव्यवर्गणा	८. मनोद्रव्यवर्गणा
१२. अग्रहणद्रव्यवर्गणा	९. अग्रहणवर्गणा
१३. कार्मणद्रव्यवर्गणा	१०. कार्मणवर्गणा
१४. ध्रुवस्कन्धद्रव्यवर्गणा	११. ध्रुवअचित्तवर्गणा
१५. सान्तर-निरन्तरद्रव्यवर्गणा	१२. अध्रुवअचित्तवर्गणा
१६. ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा	१३. ध्रुवशून्यवर्गणा
१७. प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा	१४. प्रत्येकशरीरवर्गणा
१८. ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा	१५. ध्रुवशून्यवर्गणा
१९. वादरनिगोदद्रव्यवर्गणा	१६. वादरनिगोदवर्गणा
२०. ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा	१७. ध्रुवशून्यवर्गणा
२१. सूक्ष्मनिगोदद्रव्यवर्गणा	१८. सूक्ष्मनिगोदवर्गणा
२२. ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा	१९. ध्रुवशून्यवर्गणा
२३. महास्कन्धद्रव्यवर्गणा	२०. महास्कन्धवर्गणा

विशेषता

(१) ष० ख० में एकप्रदेशिकपरमाणु पुद्गलद्रव्य वर्गणा, द्विप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्य-वर्गणा, इसी प्रकार त्रिप्रदेशिक-चतुःप्रदेशिक-पंचप्रदेशिक आदि संख्येयप्रदेशिक, असंख्येय-प्रदेशिक, परीतप्रदेशिक, अपरीतप्रदेशिक, अनन्तप्रदेशिक, अनन्तानन्तप्रदेशिक परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणा; ऐसा उल्लेख किया गया है।[1]

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने उनकी गणना इस प्रकार की है—(१) एकप्रदेशिक परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा, (२) संख्येयप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्य वर्गणा, (३) असंख्येयप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, और (४) अनन्तप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा। परीत-अपरीत-प्रदेशिक परमाणुपुद्गल-द्रव्यवर्गणाओं का अन्तर्भाव उन्होंने अनन्तप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्य-वर्गणाओं में किया है।[2]

कर्मप्रकृति में इस प्रसंग से सम्बद्ध गाथा इस प्रकार है—

परमाणु-संखऽसंखाणंतपएसा अभव्वणंतगुणा।
सिद्धाणणंतभागो आहारगवग्गणा तितणू॥ —वन्धनक०, गा० १८

इस गाथा के प्रारम्भ में ष० ख० के समान ही परमाणु, संख्येय, असंख्येय और अनन्त

१. ष० ख० सूत्र ५, ६, ७६-७८ (पु० १४)
२. धवला पु० १४, पृ० ५७-५९

प्रदेशों का उल्लेख किया है। टीकाकार मलयगिरि सूरि ने इनका उल्लेख क्रम से परमाणुवर्गणा, एक-द्वि-त्रिप्रदेश आदि संख्येय वर्गणा, असंख्येयवर्गणा और अनन्तवर्गणाओं के रूप में ही किया है तथा उन्हें उन्होंने अग्रहणप्रायोग्य कहा है। अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदायरूप वर्गणाओं में किन्हीं को ग्रहणप्रायोग्य और किन्हीं को अग्रहणप्रायोग्य कहा है।

गाथा में आगे अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओं के समुदाय रूप आहार वर्गणा का निर्देश करते हुए उसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरविषयक निर्दिष्ट किया गया है।[1]

उपर्युक्त गुणकार के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि संख्येय प्रदेशिक वर्गणाओं से असंख्येयप्रदेशिक वर्गणाएँ असंख्यातगुणी हैं। गुणकार का प्रमाण असंख्यात लोक है। अनन्त-प्रदेशिक वर्गणाविकल्पों का गुणकार अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण है।[2]

क० प्र० की उपर्युक्त गाथा (१८) में आहारवर्गणा को औदारिक आदि तीन शरीरों की कारणभूत कहा गया है।

धवला में आहार द्रव्यवर्गणा के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गलस्कन्धों का नाम आहार वर्गणा है।[3]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में प्ररूपित इस विषय में पूर्णतया समानता है।

(२) ष० ख० में कार्मण द्रव्यवर्गणा के पश्चात् ध्रुवस्कन्धवर्गणा का निर्देश किया गया है। इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि 'ध्रुवस्कन्ध' का निर्देश अन्तदीपक है, इसलिए इससे पूर्व की सब वर्गणाओं को ध्रुव ही—अन्तर से रहित—ग्रहण करना चाहिए।[4]

क०प्र० में इस ध्रुवस्कन्धवर्गणा के स्थान में 'ध्रुव अचित्त' वर्गणा का निर्देश किया गया है। उसके लक्षण का निर्देश करते हुए टीकाकार मलयगिरि सूरि कहते हैं कि जो वर्गणाएँ लोक में सदा प्राप्त होती हैं उनका नाम ध्रुवअचित्तवर्गणा है। इसे आगे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि इन वर्गणाओं के मध्य में अन्य उत्पन्न होती हैं और अन्य विनष्ट होती हैं, इनसे लोकविरहित नहीं होता। अचित्त उन्हें इसलिए समझना चाहिए कि जीव उन्हें कभी ग्रहण नहीं करता है।[5]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में यथाक्रम से निर्दिष्ट ध्रुवस्कन्धवर्गणा और ध्रुवअचित्तवर्गणा इन दोनों में केवल शब्दभेद ही है, अभिप्राय में कुछ भी भेद नहीं है।

(३) ष० ख० में उसके आगे सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा का निर्देश किया गया है। उसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि यह अन्तर के साथ निरन्तर चलती है, इसलिए इसकी 'सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा' संज्ञा है।[6]

---

१. क० प्र० (ब० क०) मलय० वृत्ति १८-२०, पृ० ३२/२
२. धवला पु० १४, पृ० ५८-५९
३. पु० १४, पृ० ५९
४. वही पृ० ६४
५. क० प्र० (व० क०) मलय० वृत्ति, पृ० ३५/२
६. धवला पु० १४, पृ० ६४

क० प्र० में ध्रुवाचित्तवर्गणा के आगे अध्रुवाचित्तवर्गणा का निर्देश किया गया है। इसके लक्षण को स्पष्ट करते हुए मलयगिरि सूरि कहते हैं कि जिन वर्गणाओं के मध्य में कुछ वर्गणाएँ लोक में कदाचित् होती हैं और कदाचित् नहीं होती हैं उनका नाम अध्रुवाचित्त-वर्गणा है। इसीलिए उन्हें सान्तर-निरन्तर कहा जाता है।[1]

इस प्रकार सान्तर-निरन्तरवर्गणा और अध्रुवाचित्तवर्गणा इनमें कुछ शब्द भेद ही है अभिप्राय दोनों का समान है। मलयगिरि सूरि ने उनका दूसरा नाम सान्तर-निरन्तर भी प्रकट कर दिया है।

(४) दोनों ही ग्रन्थों में इन वर्गणाओं की संख्या का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी ष० ख० की टीका धवला में उनका विवेचन करते हुए जहाँ २३ क्रमांक दिए गये हैं वहाँ क० प्र० की मलयगिरि विरचित टीका में उनकी प्ररूपणा करते हुए २६ क्रमांक दिय गए हैं। इसका कारण यह है कि धवला में प्रारम्भ में एकप्रदेशिक, संख्येयप्रदेशिक, असंख्येय-प्रदेशिक और अनन्तप्रदेशिक इन चार वर्गणाओं को गणनाक्रम में ले लिया गया है। पर जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, कर्मप्रकृति मूल में और उसकी मलयगिरि विरचित टीका में उन चारों का उल्लेख करते हुए भी उन्हें पृथक्-पृथक् गणनाक्रम में न लेकर एक अग्रहण-वर्गणा के अन्तर्गत कर लिया गया है। कारण यह कि वे चारों ग्रहण योग्य नहीं हैं। धवला-कार को भी वह अभीष्ट है। इस प्रकार क०प्र० टीका में ३ अंक कम हो जाने से २० (२३—३) रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त धवला में औदारिक, अग्रहण, वैक्रियिक, अग्रहण, आहारक और अग्रहण इन छह को आहार और अग्रहण इन दो वर्गणाओं के अन्तर्गत लिया गया है। इस प्रकार क० प्र० में धवला की अपेक्षा चार (६—२=४) अधिक रहते हैं। साथ ही क० प्र० में प्राणापान और अग्रहण इन दो अन्य वर्गणाओं को भी ग्रहण किया गया है, जिन्हें धवला में नहीं ग्रहण किया गया। इस प्रकार छह के अधिक होने से क० प्र० में उनकी संख्या छब्बीस (२०+४+२) निर्दिष्ट की गई है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में टीका की अपेक्षा वर्गणाओं के क्रमांकों में कुछ भिन्नता के होने पर भी मूलग्रन्थों की अपेक्षा उनके उल्लेख में समानता ही रहती है।

यहाँ इन दोनों ग्रन्थों में विषय की अपेक्षा उदाहरणपूर्वक कुछ समानता प्रकट की गई है। अन्य भी कुछ ऐसे विषय हैं, जिनमें परस्पर दोनों ग्रन्थों में समानता देखी जाती है। जैसे—

ष० ख० में वेदनाद्रव्यविधान-चूलिका में प्रसंग पाकर उनतीस (१४५-७३) सूत्रों में योगविषयक अल्पबहुत्व व उसके गुणकार की प्ररूपणा की गई है।[2]

क० प्र० में भी उसकी प्ररूपणा ठीक उसी क्रम से की गई है।

विशेषता यह है कि ष०ख० में जहाँ उसकी प्ररूपणा विशदतापूर्वक २९ सूत्रों में की गई है वहाँ कर्मप्रकृति में उसकी प्ररूपणा संक्षेप से इन तीन गाथाओं में कर दी गई है—

सव्वत्थोवो जोगो साहारणसुहुमपढमसमयम्मि।
बायरबिय-तिय-चउरमण-सन्नपज्जत्तगजहन्नो॥

---

१. क० प्र०, पृ० ३६/१ (गा० १९)
२. ष० ख० सूत्र ४,२,४,१४४-७३ (पु० १०, पृ० ३९५-४०३

आइदुगुक्कोसो पज्जत्तजहन्नगेयरे य कमा।
उक्कोस-जहन्नियरो असमत्तियरे असंखगुणो ॥
अमणाणुत्तर-गेविज्ज-भोगभूमिगय तइयतणुगेसु।
कमसो असंखगुणिओ सेसेसु य जोगु उक्कोसा ॥

—क० प्र० बन्धनकरण १४-१६

दूसरी विशेषता यह भी रही है कि ष० ख० में सबके अन्त में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक सामान्य से ही उल्लेख किया गया है किन्तु क० प्र० में 'संज्ञी' के अन्तर्गत इन भेदों में भी पृथक्-पृथक् उस अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है—अनुत्तरोपपाती देव, ग्रैवेयक देव, भोग-भूमिज तिर्यग्मनुष्य, आहारकशरीरी और शेष देव-नारक-तिर्यग्-मनुष्य (देखिए ऊपर गाथा १६)।

ष० ख० में यहीं पर आगे योगस्थान प्ररूपणा में इन दस अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए उनके आश्रय से प्रसंगप्राप्त योगस्थानों की प्ररूपणा की गई है—अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।[1]

क० प्र० में भी इन्हीं दस अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्रमशः उनकी प्ररूपणा की गई है।[2] दोनों ग्रन्थगत प्रारम्भ का प्रसंग इस प्रकार है—

"जोगट्ठाणपरूवणदाए तत्थ इमाणि दस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। अविभाग-पडिच्छेदपरूवणा वग्गणपरूवणा फद्दयपरूवणा अंतरपरूवणा ठाणपरूवणा अणंतरोवणिधा परंपरोवणिधा समयपरूवणा वड्ढिपरूवणा अप्पाबहुए त्ति।"

—सूत्र ४,२,४,१७५-७६ (पु० १०, पृ० ४३२ व ४३८)

अविभाग-वग्ग-फड्डग-अंतर-ठाणं अणंतरोवणिहा।
जोगे परंपरा-वुड्ढि-समय-जीवप्प-बहुगं च ॥

—क० प्र० बन्धनकरण ५

दोनों ग्रन्थों में समयप्ररूपणा और वृद्धिप्ररूपणा इन दो अनुयोगद्वारों में क्रमव्यत्यय है।

दोनों ग्रन्थों में यह एक विशेषता रही है कि ष० ख० में जहाँ प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा प्रायः प्रश्नोत्तरशैली के अनुसार विस्तारपूर्वक गई है वहाँ क० प्र० में उसी की प्ररूपणा प्रश्नोत्तरशैली के बिना अतिशय संक्षेप में की गई है। उदाहरण के रूप में नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार (जीवकाण्ड-कर्मकाड) को लिया जा सकता है। वहाँ आचार्य नेमिचन्द्र ने ष० ख० व उसकी टीका धवला में प्ररूपित विषय को अतिशय संक्षेप में संगृहीत कर लिया है।

५. षट्खण्डागम और सर्वार्थसिद्धि

'सर्वार्थसिद्धि' यह आचार्य पूज्यपाद अपरनाम देवनन्दी (५-६ ठी शती) विरचित तत्वार्थ सूत्र की एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत सभी विषयों का विशदी-

१. ष० ख० सूत्र ४,२,४,१७५-२१२ (पु० १०, पृ० ४३२-५०४)
२. क० प्र० बन्धनकरण, गा० ५-१३

करण किया गया है। आचार्य पूज्यपाद अद्वितीय वैयाकरण रहे हैं। उनका 'जैनेन्द्र व्याकरण' सुप्रसिद्ध है। साथ ही वे सिद्धान्त के मर्मज्ञ भी रहे हैं। उनके समक्ष प्रस्तुत षट्खण्डागम रहा है और उन्होंने इस सर्वार्थसिद्धि की रचना में उसका भरपूर उपयोग किया है। तत्त्वार्थसूत्र के 'सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वैश्च' इस सूत्र (१-८) की जो उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है उसका आधार यह षट्खण्डागम ही रहा है।

ष० ख० के प्रथम खण्ड जीवस्थान में जिस पद्धति से क्रमशः सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणास्थानों में जीवों की विविध अवस्थाओं की प्ररूपणा की गई है, ठीक उसी पद्धति से सर्वार्थसिद्धि में उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए आ० पूज्यपादने यथाक्रम से उन्हीं आठ अनुयोगद्वारों में उन गुणस्थानों और मार्गणाओं के आश्रय से जीवों की प्ररूपणा की है। उदाहरण के रूप में इन दोनों ग्रन्थों के कुछ प्रसंगों को उद्धृत किया जाता है, जो न केवल शब्दसन्दर्भ से ही समान हैं प्रत्युक्त उन प्रसंगों से सम्बद्ध सर्वार्थसिद्धि का बहुत-सा सन्दर्भ तो ष० ख० के सूत्रों का छायानुवाद जैसा दिखता है। यथा—

(१) ष० ख० में सर्वप्रथम गुणस्थानों की प्ररूपणा में प्रयोजनीभूत होने से चौदह मार्गणास्थानों के जान लेने की प्रेरणा इस प्रकार की गई है—

"एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति। तं जहा। गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि।"—ष० ख० सूत्र १,१,२-४ (पु० १)।

सर्वार्थसिद्धि में इसी प्रसंग को देखिए जो शब्दशः समान है—

"एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयाणि। गतीन्द्रिय-काय-योग-वेद-कषाय-ज्ञान-संयम-दर्शन-लेश्या-भव्य-सम्यक्त्व-संज्ञाऽऽहारका इति।"

—स०सि०, पृ० १४

१. सत्प्ररूपणा

"संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण य आदेसेण य। ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी······सजोगकेवली अजोगकेवली चेदि।"—ष०ख० सूत्र १,१,८-२३

"तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च।[1] सामान्येन तावत् अस्ति मिथ्यादृष्टिः। अस्ति सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादि।"[2] —स०सि०, पृ० १४

गतिमार्गणा

"आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि। णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति। तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठि सम्मामिच्छाइट्ठी असंजद-

---

१. ओघ और सामान्य तथा आदेश और विशेष ये समानार्थक शब्द हैं। यथा—'ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः। अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति।' धवला पु० १, पृ० १६०

२. चौदह गुणस्थानों का उल्लेख यहीं पर इसके पूर्व किया जा चुका है। —पृ० १४

सम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति। मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी······सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति। देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।"
—ष० ख०, सूत्र १,१, २४-२८

इसी प्रसंग को सर्वार्थसिद्धि में देखिए—

"विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीसु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति। तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि भवन्ति। मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति। देवगतौ नारकवत्।"
—स०सि०, पृ० १४

यहाँ यह स्मरणीय है कि षट्खण्डागम की रचना के समय और उसके पूर्व भी साधुसमुदाय के मध्य में तत्त्वचर्चा हुआ करती थी। इसलिए उसमें शंका-समाधान को महत्त्व प्राप्त था। साथ ही, अनेक शिष्यों के बीच में रहने से उस तत्त्वचर्चा के समय उनकी बुद्धि की हीनाधिकता और रुचि का भी ध्यान रखा जाता था। इसलिए विशदतापूर्वक विस्तार से तत्त्व का व्याख्यान हुआ करता था। तदनुसार ही आगमपद्धति पर प्रस्तुत षट्खण्डागम की रचना हुई है। इसीलिए उसमें जहाँ तहाँ कुछ पुनरुक्ति भी हुई है। पर सर्वार्थसिद्धिकार के सामने यह समस्या नहीं रही। उन्हें विवक्षित तत्त्व का व्याख्यान संक्षेप में करना तो अभीष्ट था, पर विशदतापूर्वक ही उसे करना था। तदनुसार उन्होंने संक्षेप को महत्त्व देकर भी कुछ भी अभिप्राय छूट न जाय, इसका विशेष ध्यान रखा है।

उदाहरणस्वरूप ऊपर के सन्दर्भ में ष० ख० में जहाँ चारों गतियों के प्रसंग में पृथक्-पृथक् अनेक बार उन गुणस्थानों का उल्लेख किया गया है वहाँ सर्वार्थसिद्धि में नरकगति के प्रसंग में सम्भव उन चार गुणस्थानों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करके आगे तिर्यचगति में उनका पृथक्-पृथक् पुनः उल्लेख न करके यह कह दिया है कि एक संयतासंयत गुणस्थान से अधिक वे ही चार गुणस्थान तिर्यंच गति में सम्भव हैं। इसी प्रकार आगे मनुष्यगति के प्रसंग में ष० ख० में जहाँ पृथक्-पृथक् चौदह गुणस्थानों का उल्लेख किया गया है वहाँ स०सि० में इतना मात्र निर्देश कर दिया गया है कि मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थान सम्भव हैं। इसी प्रकार देवगति के प्रसंग में ष० ख० में जहाँ उन चार गुणस्थानों का पुनः उल्लेख किया गया है वहाँ स० सि० में यह स्पष्ट कर दिया है कि देवगति में नारकियों के समान प्रथम चार गुणस्थान सम्भव हैं।

इस प्रकार स० सि० में संक्षेप को महत्त्व देकर भी ष० ख० के प्रसंग प्राप्त उस सन्दर्भ के सभी अभिप्राय को अन्तर्हित कर लिया है।

शेष मार्गणा

ष० ख० में गतिमार्गणा के पश्चात् शेष इन्द्रिय आदि मार्गणाओं में इसी प्रकार से गुणस्थानों के सद्भाव को दिखाते हुए प्रसंगानुसार कुछ अन्य भी विचार किया गया है। जैसे—इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय आदि जीवों के यथासम्भव बादर-सूक्ष्म व पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेदों का निर्देश। इन्हीं भेदों का उल्लेख वहाँ आगे कायमार्गणा के प्रसंग में भी पुनः किया गया है। पश्चात् क्रमप्राप्त योगमार्गणा में क्रम से योग के भेद-प्रभेदों को दिखाकर उनमें कौन योग किन जीवों के सम्भव हैं, इसे स्पष्ट किया है व इसी प्रसंग में पर्याप्ति-अपर्याप्तियों का भी विस्तार से विचार किया गया है।

सर्वार्थसिद्धि में वैसी कुछ अन्य चर्चा नहीं की गई है। वहाँ केवल सत्प्ररूपणा के अनुसार उन मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थानों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है। जैसे—

इन्द्रियमार्गणा

"एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे। पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति। तेण परमणिंदिया इदि।"

—ष०ख० सूत्र १,१,३६-३८

"इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति।" —स०सि०, पृ० १४

इस प्रकार यहाँ गुणस्थानों का उल्लेख दोनों ग्रन्थों में समान रूप से किया गया है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ असंज्ञी पंचेन्द्रियों का निर्देश एकेन्द्रियों आदि के साथ तथा पंचेन्द्रियों के साथ भी गुणस्थानों का उल्लेख करते समय किया गया है वहाँ स० सि० में संज्ञी असंज्ञी का भेद न करके एकेन्द्रियादि चार के एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान और पंचेन्द्रियों के चौदहों गुणस्थानों का सद्भाव प्रकट कर दिया गया है। यही स्थिति अन्य मार्गणाओं के प्रसंग में भी दोनों ग्रन्थों की रही है।

२. द्रव्यप्रमाणानुगम (संख्या प्ररूपणा)

द्रव्यप्रमाणानुगम यह सत्प्ररूपणा आदि उपर्युक्त आठ अनुयोगद्वारों में दूसरा है। स० सि० में इसका उल्लेख 'संख्याप्ररूपणा' के नाम से हुआ है। अर्थ की अपेक्षा दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। इसके प्रसंग में भी दोनों ग्रन्थों की समानता द्रष्टव्य है—

"दव्वपमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडिया? अणंता। अणंताणंताहि ओसप्पिणिउस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण। खेत्तेण अणंताणंता लोगा। तिण्हं पि अधिगमो भावपमाणं। सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति दव्वपमाणेण केवडिया? पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। एदेहि पलिदोवममवहिरिज्जदि अंतोमुहुत्तेण। पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया? कोडिपुधत्तं। अप्पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा। चदुण्हमुवसामगा दव्वपमाणेण केवडिया? पवेसणेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कस्सेण चउवण्णं। अद्धं पडुच्च संखज्जा।" —सूत्र १,१,१-१०

"संख्याप्ररूपणोच्यते—सा द्विविधा। सामान्येन तावत् जीवा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ता। सासादन-सम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताश्च पल्योपमा संख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्तसंयताः कोटीपृथक्त्वसंख्याः। पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा तिसृणां कोटीनामुपरि नवानामधः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। चत्वार उपशमका प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत्, स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः।" —स०सि० पृ० १६-१७

इस प्रकार से यह संख्याप्ररूपणा का प्रसंग दोनों ग्रन्थों में प्रायः शब्दशः समान है। विशेषता इतनी है कि ष० ख० में मिथ्यादृष्टियों के प्रमाण को अनन्त बतलाते हुए उसकी प्ररूपणा काल, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा भी की गई है (सूत्र २-५)। पर स०सि० में मिथ्यादृष्टियों की उस संख्या को सामान्य से अनन्तानन्त कहकर सम्भवतः दुर्बोध होने के कारण काल, क्षेत्र और भावकी अपेक्षा उसका उल्लेख नहीं किया गया है। बीच में यहाँ 'पृथक्त्व' इस

आगमोक्त संज्ञा को भी स्पष्ट कर दिया गया है, जिसका स्पष्टीकरण ष० ख० मूल में न करने पर भी धवला टीका में कर दिया गया है।[1]

आगे दोनों ही ग्रन्थों में चार क्षपकों, अयोगि-केवलियों और सयोगि-केवलियों की संख्या का भी उल्लेख समान रूप में किया गया है।[2]

संख्याप्ररूपणा का यह क्रम आगे गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में भी प्रायः दोनों ग्रन्थों में समान उपलब्ध होता है।

३. क्षेत्रानुगम

ष० ख० और स० सि० दोनों ही ग्रन्थों में पूर्व पद्धति के अनुसार चौदह गुणस्थानों में क्षेत्र का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"खेत्ताणुगमेण दुविहो णिद्देसो—ओघेण आदेसेण य। ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते? सव्वलोगे। सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभाए। सजोगिकेवली केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभागे असंखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा।" —ष० ख०, सूत्र १,३,१-४

"क्षेत्र मुच्यते। तद् द्विविधम्—सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टीनां सर्वलोकः। सासादनसम्यग्दृष्टयादीनामयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः, समुद्घातेऽसंख्येया वा भागाः सर्वलोको वा।" —स०सि०, पृ० २०-२१

यह क्षेत्रप्ररूपणा का प्रसंग भी दोनों ग्रन्थों में समान है। विशेष इतना है कि वहाँ सयोग-केवलियों का क्षेत्र जो असंख्यात बहुभाग और सर्वलोक प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है वह समुद्घात की अपेक्षा सम्भव है, इसे सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट कर दिया गया है। उसका स्पष्टीकरण मूल ष०ख० में तो नहीं किया गया, पर धवला टीका में उसे स्पष्ट कर दिया गया है।[3]

क्षेत्रविषयक यह समानता दोनों ग्रन्थों में आगे मार्गणाओं के प्रसंग में भी देखी जा सकती है।

४. स्पर्शनानुगम

स्पर्शनविषयक-समानता भी दोनों ग्रन्थों में द्रष्टव्य है—

"पोसणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो—ओघेण आदेसेण य। ओघेण मिच्छादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं पोसिदं? सव्वलोगो। सासणसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। अट्ठ बारह चोद्दस भागा वा देसूणा। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं पोसिदं?

---

१. पुधत्तमिदि तिण्हं कोडीणमुवरि णवण्हं कोडीणं हेट्ठदो जा संख्या सा घेत्तव्वा। —धवला पु० ३, पृ० ८९

२. ष० ख० सूत्र १, २, ११-१४ और स० सि०, पृ० १७

३. पदरगदो केवली केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जेसु भागेसु, लोगस्स असंखेज्जदिभागं वादवलयरुद्धखेत्तं मोत्तूण सेसवहुभागेसु अच्छदि त्ति जं वुत्तं होदि। —धवला पु० ४, पृ० ५०; लोगपूरणगदो केवली केवडि खेत्ते? सव्वलोगे।—पु० ४, पृ० ५६

लोगस्स असंखेज्जदिभागो। अट्ठ चोद्दस भागा वा देसूणा। संजदासंजदेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। छ चोद्दस भागा वा देसूणा। पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। सजोगिकेवलीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदि भागो असंखेज्जा वा भागा सव्वलोगो वा।"

—ष० ख० सूत्र १,४, १-१०

"स्पर्शनमुच्यते। तद् द्विविधम्—सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ द्वादश वा चतुर्दशभागा देशोनाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ वा चतुर्दश भागा देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दश भागा वा देशोनाः। प्रमत्तसंयतादीनामयोग-केवल्यन्तानां क्षेत्रवत् स्पर्शनम्।"

—स० सि० पृ० २३-२४

दोनों ग्रन्थों में गुणस्थानों के आश्रित यह स्पर्शनप्ररूपणा भी शब्दशः समान है। विशेषता इतनी है कि ष० ख० में जहाँ अयोगिकेवली पर्यन्त प्रमत्तसंयतादिकों के और सयोगिकेवलियों के स्पर्शन की प्ररूपणा पृथक् रूप से की गई है (सूत्र ९-१०) वहाँ सर्वार्थसिद्धि में संक्षेप से यह निर्देश कर दिया गया है कि अयोगकेवली पर्यन्त प्रमत्तसंयतादिकों के स्पर्शन की प्ररूपणा क्षेत्र के समान है, उससे उसमें कुछ विशेषता नहीं है। इसीलिए सर्वार्थसिद्धि में उनके स्पर्शन की प्ररूपणा पृथक् से नहीं की गई है।

दोनों ग्रन्थों में इसी प्रकार की समानता आगे गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं के प्रसंग में भी उपलब्ध होती है।

५. कालानुगम

कालविषयक प्ररूपणा भी दोनों ग्रन्थों में समान उपलब्ध होती है। जैसे—

"कालाणुगमेण दुविहो णिद्देसो— ओघेण आदेसेण य। ओघेण मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा। एगजीवं पडुच्च अणादिओ अपज्जवसिदो अणादिओ सपज्ज-वसिदो सादिओ सपज्जवसिदो। जो सो सादिओ सपज्जवसिदो तस्स इमो णिद्देसो—जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं। सासणसम्मादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ। उक्कस्सेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। एग जीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ। उक्कस्सेण छआवलियाओ।"

—ष० ख० सूत्र १, ५, १-८

"कालः प्रस्तूयते। स द्विविधः—सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टे-र्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवापेक्षया त्रयो भङ्गा—अनादिरपर्यवसानः अनादि-सपर्यवसानः सादिसपर्यवसानश्चेति। तत्र सादिसपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणार्ध-पुद्गलपरिवर्तो देशोनः। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षडावलिकाः।"

—स० सि०, पृ० ३१

आगे दोनों ग्रन्थों में इसी प्रकार की समानता सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि शेष गुणस्थानों और गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं के प्रसंग में भी द्रष्टव्य है।

६. अन्तरानुगम

अन्तरविषयक प्ररूपणा में भी दोनों ग्रन्थों की समानता द्रष्टव्य है। यथा—

"अंतराणुगमेण दुविहो णिद्दे सो—ओघेण आदेसेण य। ओघेण मिच्छादिट्ठीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणाजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं, णिरंतरं। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण वेछावट्ठिसागरोवमाणि देसोणाणि।" —ष० ख०, सूत्र १,६, १-४

"अन्तरं निरूप्यते। विवक्षितस्य गुणस्य गुणान्तरसंक्रमे सति पुनस्तत्प्राप्तेः प्राङ्.मध्यमन्तरम्। तद् द्विविधम्—सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे षट्षष्ठी देशोने सागरोपमानाम्।" —स० सि०, पृ० ४०

यहाँ विशेषता यह रही है कि मूल ष० ख० में प्रकृत अन्तर का कुछ स्वरूप नहीं प्रकट किया गया है, पर स० सि० में उसकी प्ररूपणा के पूर्व उसके स्वरूप का भी निर्देश कर दिया गया है। धवला में उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी प्ररूपणा के प्रारम्भ में अन्तर विषयक निक्षेप की योजना की गई है, जिसके आश्रय से प्रकृत में 'अन्तर' के अनेक अर्थों में कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है, यह ज्ञात हो जाता है।[1]

ष०ख० में यहाँ 'णत्थि अंतरं' के साथ 'णिरंतरं' पद का भी उपयोग किया गया है। स०सि० में 'नास्त्यन्तरम्' इतने मात्र से अभिप्राय के अवगत हो जाने से फिर आगे 'निरन्तरम्' पद का उपयोग नहीं किया गया है।

दोनों ग्रन्थों में इसी प्रकार की समानता व विशेषता आगे शेष गुणस्थानों और मार्गणास्थानों के प्रसंग में भी देखी जाती है।

७. भावानुगम

दोनों ग्रन्थों में क्रमप्राप्त भावविषयक समानता भी देखी जाती है। यथा—

"भावाणुगमेण दुविहो णिद्दे सो—ओघेण आदेसेण य। ओघेण मिच्छाइट्ठि त्ति को भावो? ओदइओ भावो। सासणसम्मादिट्ठि त्ति को भावो? पारिणामिओ भावो। सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति को भावो? खओवसमिओ भावो। असंजदसम्मादिट्ठि त्ति को भावो? उवसमिओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो। ओदइएण भावेण पुणो असंजदो।"

—ष०ख०, सूत्र १,७,१-६

"भावो विभाव्यते! स द्विविधः—सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टिरित्यौदयिको भावः। सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भावः। सम्यङ्.मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भावः। असंयतसम्यग्दृष्टिरिति औपशमिको वा क्षायिको वा क्षायोपशमिको वा भावः। उक्तं च—× × ×॥ असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन।" —स०सि०, पृ० ५०

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में यह भावविषयक प्ररूपणा भी क्रमशः समान पद्धति में की गई है। स० सि० में इतनी विशेषता रही है कि असंयतसम्यग्दृष्टि भाव के दिखला देने के पश्चात् वहाँ 'उक्तं च' कहकर 'मिच्छे खलु ओदइओ' इत्यादि गाथा को उद्धृत किया गया है।

८. अल्पबहुत्वानुगम

ष० ख० में जीवस्थान खण्ड का यह अन्तिम अनुयोगद्वार है। पूर्वोक्त सात अनुयोगद्वारों

---

१. धवला, पु० ५, पृ० १-३

के समान इस अनुयोगद्वार में अल्पवहुत्व विषयक प्ररूपणा भी दोनों ग्रन्थों में समान है। यथा—

"अप्पावहुगाणुगमेण दुविहो णिद्देसो—ओघेण आदेसेण य। ओघेण तिसु अद्धासु उवसमा पवेसणेण तुल्ला थोवा। उवसंतकसायवीदरागछदुमत्था तत्तिया चेय। खवा संखेज्जगुणा। खीणकसायवीदरागछदुमत्था तत्तिया चेव। सजोगकेवली अजोगकेवली पवेसणेण दो वि तुल्ला तत्तिया चेव। सजोगिकेवली अद्धं पडुच्च संखेज्जगुणा।" —प०ख०, सूत्र १,८, १-७

"अल्पवहुत्वमुपवर्ण्यते। तद् द्विविधम्—सामान्येन विशेपेण च। सामान्येन तावत् त्रय उपशमकाः सर्वतः स्तोकाः स्वगुणस्थानकालेपु प्रवेशेन तुल्यसंख्याः। उपशान्तकषायास्तावन्त एव। त्रयः क्षपकाः संख्येयगुणाः। क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थास्तावन्त एव। सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन तुल्यसंख्याः। सयोगकेवलिनः स्वकालेन समुदिताः संख्येयगुणाः।"

—स०सि०, पृ० ५२

दोनों ग्रन्थों में इसी प्रकार से इस अल्पवहुत्व की प्ररूपणा आगे अप्रमत्त-प्रमत्तादि शेष गुणस्थानों में ओघ (सामान्य) की अपेक्षा और गत्यादि मार्गणाओं में आदेश (विशेष) की अपेक्षा समान रूप में की गई है। विशेष इतना है कि ष० ख० में ओघप्ररूपणा के प्रसंग में असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान, संयतासंयत गुणस्थान व प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानों आदि में उपशम सम्यग्दृष्टियों आदि के अल्पवहुत्व को भी पृथक् से दिखलाया गया है (सूत्र १, ८, १५-२६)। उसकी प्ररूपणा स० सि० में पृथक् से नहीं की गई है। ऐसी ही कुछ विशेषता मार्गणाओं के प्रसंग में भी रही है।

अन्य कुछ उदाहरण

१. ष० ख० में जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में सम्यक्त्व मार्गणा के प्रसंग में नारकी असंयत सम्यग्दृष्टियों में कौन-कौन से सम्यग्दर्शन सम्भव हैं, इसका विचार करते हुए कहा गया है कि सामान्य से असंयत सम्यग्दृष्टि नारकियों के क्षायिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व ये तीनों सम्भव हैं। यह प्रथम पृथिवी को लक्ष्य में रखकर कहा गया है, आगे द्वितीयादि छह पृथिवियों के असंयतसम्यग्दृष्टि नारकियों में क्षायिक सम्यक्त्व का निषेध कर दिया गया है।[1]

इसके पूर्व योगमार्गणा के प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि नारकियों के पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान सम्भव हैं। यह प्रथम पृथिवी के नारकियों को लक्ष्य में रखकर कहा गया है। आगे द्वितीयादि पृथिवियों के नारकियों के अपर्याप्त अवस्था में असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान का प्रतिषेध है।[2]

स० सि० में सम्यग्दर्शन को उदाहरण वनाकर 'निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः' इस सूत्र (त० सूत्र १-७) की व्याख्या की गई है। वहाँ स्वामित्व के प्रसंग में कहा गया है कि गति के अनुवाद से नरकगति में सब पृथिवियों में पर्याप्त नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सम्भव हैं। किन्तु प्रथम पृथिवी के नारकियों में पर्याप्तकों और

---

१. सूत्र १,१,१५३-५५

२. सूत्र १,१,७९-८२

अपर्याप्तकों के क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सम्भव हैं।[1]

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में की गई इस प्ररूपणा का आधार ष० ख० का उपर्युक्त प्रसंग रहा है।

२. तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्र (१-७) की समस्त व्याख्या का आधार यही ष०ख० रहा है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जिस पद्धति से गुणस्थानों और मार्गणास्थानों में उस सम्यग्दर्शन के स्वामित्व आदि का विचार किया गया है तदनुसार वह विभिन्न प्रसंगों में किया गया है। जैसे—

स० सि० में इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए 'साधन' के प्रसंग में कहा गया कि चौथी पृथिवी के पूर्व (प्रथम तीन पृथिवियों में) नारकियों में किन्हीं नारकियों के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का बाह्य साधन (कारण) जातिस्मरण, धर्मश्रवण अथवा वेदना का अभिभव है। किन्तु आगे चौथी से लेकर सातवीं पृथिवी तक के नारकियों के उसकी उत्पत्ति का कारण धर्मश्रवण सम्भव नहीं है, शेष जातिस्मरण और वेदनाभिभव ये दो ही कारण सम्भव हैं।[2]

ष० ख० में उस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणों की प्ररूपणा जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में से अंतिम 'गति-आगति' चूलिका के प्रसंग में विस्तार से की गई है।

सर्वार्थसिद्धि का उपर्युक्त प्रसंग उस गति-आगति चूलिका के इन सूत्रों पर आधारित है—

"णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति ? तीहिं कारणेहिं पढमसम्मत्त-मुप्पादेंति। केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, कइं वेदणाहिभूदा। एवं तिसु उवरिमासु पुढवीसु णेरइया। चदुसु हेट्ठिमासु पुढवीसु णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति ? दोहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति। केइं जाइस्सरा केइं वेयणाहिभूदा।"

—ष०ख०, सूत्र १,९-९,६-१२

दोनों ग्रन्थगत सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के उन कारणों की प्ररूपणा सर्वथा समान है। विशेषता यही है कि ष० ख० में वह प्ररूपणा जहाँ आगम पद्धति के अनुसार प्रश्नोत्तर के साथ की गई है वहाँ स० सि० में वही प्ररूपणा प्रश्नोत्तर के बिना संक्षेप में कर दी गई है।

दोनों ग्रन्थों में आगे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के उन कारणों की प्ररूपणा अपनी-अपनी पद्धति से समान रूप में क्रम से तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में भी की गई है।[3]

३. दोनों ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन की स्थिति का प्रसंग भी देखिए—

ष० ख० में दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत 'एक जीव की अपेक्षा कालानुगम' अनुयोग-द्वार में सम्यक्त्वमार्गणा के प्रसंग में सामान्य सम्यग्दृष्टियों और क्षायिक सम्यग्दृष्टियों आदि के जघन्य और उत्कृष्ट काल की प्ररूपणा इस प्रकार की गई है—

"सम्मत्ताणुवादेण सम्मादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि। खइयसम्मादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? जहण्णेण अंतो-मुहुत्तं। उक्कस्सेण तेत्तीस सागरोवमाणि सादिरेयाणि। वेदगसम्माइट्ठी केवचिरं कालादो

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ० ९

२. वही, पृ० ११

३. ष० ख० सूत्र, तिर्यंचगति १, ९-९, २१-२२; मनुष्यगति १, ९-९, २९-३०; देवगति १, ९-९,३६-३७ (पु० ६) तथा स०सि०, पृ० ११-१२

होंति ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं । उक्कस्सेण छावट्ठिसागरोवमाणि । उवसमसम्मादिट्ठी सम्मा-मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं । उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं ।"

—सूत्र २,२,१८८-९९ (पु० ७)

"स्थितिरौपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चान्तर्मौहूर्तिकी । क्षायिकस्य संसारिणो जघन्यान्त-र्मौहूर्तिकी। उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षहीन-पूर्वकोटिद्वयाधिकानि । मुक्तस्य सादिरपर्यवसाना । क्षायोपशमिकस्य जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी । उत्कृष्टा षट्षष्ठिसागरो-पमाणि ।"

-- स० सि० पृ० १२

इस प्रकार इस स्थिति का प्रसंग भी दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समान है। विशेषता यह है कि ष० ख० में सामान्य सम्यग्दृष्टियों के काल को भी प्रकट किया गया है, जिसका उल्लेख सर्वार्थसिद्धि में पृथक् से नहीं किया गया है, क्योंकि वह विशेष प्ररूपणा से सिद्ध है। इसके अतिरिक्त ष० ख० में जहाँ उस सम्यक्त्व के आधारभूत सम्यग्दृष्टियों के काल का निर्देश है वहाँ सर्वार्थसिद्धि में सम्यक्त्वविशेषों के काल को स्पष्ट किया गया है। इससे अभिप्राय में कुछ भी भेद नहीं हुआ है।

ष० ख० में प्रथमतः क्षायिक सम्यग्दृष्टियों और तत्पश्चात् वेदक (क्षायोपशमिक) सम्य-ग्दृष्टियों व औपशमिक सम्यग्दृष्टियों के काल को दिखलाया गया है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि में प्रथमतः औपशमिक और तत्पश्चात् क्षायिक व औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति को प्रकट किया गया है। इससे केवल प्ररूपणा के क्रम में भेद हुआ है।

ष०ख० में क्षायिकसम्यग्दृष्टियों के उत्कृष्ट काल का निर्देश करते हुए उसे साधिक तेतीस सागरोपम कहकर उसकी अधिकता को स्पष्ट नहीं किया गया है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि में उस अधिकता को स्पष्ट करते हुए उसे अन्तर्मुहूर्त आठ वर्ष से हीन दो पूर्वकोटियों से अधिक कहा गया है।[1]

सर्वार्थसिद्धि में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि क्षायिक सम्यक्त्व की यह उत्कृष्ट स्थिति संसारी जीव की अपेक्षा निर्दिष्ट है। मुक्तजीव की अपेक्षा क्षायिकसम्यक्त्व की स्थिति आदि व अन्त से रहित है।

सर्वार्थसिद्धि की यह संक्षिप्त प्ररूपणा बहुत अर्थ से गर्भित है।

ष०ख० में सम्यक्त्वमार्गणा के अन्तर्गत होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टियों, सासादनसम्यग्दृष्टियों और मिथ्यादृष्टियों के काल का भी उल्लेख है (२,२,१९७-२०३)।

४. ष० ख० में जीवस्थान से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में आठवीं सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका है। वहाँ सर्वप्रथम सम्यक्त्व कब, कहाँ और किस अवस्था में उत्पन्न होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के होने पर प्राप्त नहीं होता। किन्तु जीव जब सब कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को बांधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उसमें भी जब वह उक्त अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को संख्यात हजार सागरोपम से हीन स्थापित करता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता

---

१. ष० ख० की टीका में उस अधिकता को सर्वार्थसिद्धि के समान स्पष्ट कर दिया गया है। साथ ही वहाँ वह कैसे घटित होता है, इसे भी स्पष्ट कर दिया है।

—(धवला पु० ७, पृ० १७९-८०)

है। उस सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त और सर्वविशुद्ध होता है।

यही अभिप्राय स० सि० में भी समान रूप से प्रकट किया गया है। दोनों ग्रन्थों की वह समानता इस प्रकार देखी जा सकती है—

"एवदिकालट्ठिदिएहि[1] कम्मेहि सम्मत्तं ण लहदि। लभदि त्ति विभापा। एदेसिं चेव सव्व-कम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लभदि। सो पुण पंचिंदियो सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो। एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जाधे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं उवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं ताधे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि।"

—प०ख०, सूत्र १,९-८,१-५ (पु० ६)

"अपरा कर्मस्थिति काललब्धिः—उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथम-सम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तः-कोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवा-पेक्षया—भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। आदिशब्देन[2] जातिस्मरणादिः परिगृह्यते।"

दोनों ग्रन्थगत इन सन्दर्भों में शब्द और अर्थ की समानता द्रष्टव्य है।

उपसंहार

ऊपर पट्खण्डागम और सर्वार्थसिद्धि दोनों ग्रन्थों के जिन प्रसंगों को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है उनमें परस्पर की शब्दार्थ विषयक समानता को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रहता कि सर्वार्थसिद्धि के कर्ता आ० पूज्यपाद के समक्ष प्रस्तुत ष० ख० रहा है और उन्होंने सर्वार्थसिद्धि की रचना में यथाप्रसंग उसका पूरा उपयोग किया है। जैसा कि पूर्व में किये गये विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, स०सि० में तत्त्वार्थसूत्र के 'सत्संख्यादि' सूत्र (१-८) की व्याख्या करते हुए ष० ख० के प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठों अनुयोगद्वारों में प्ररूपित प्रायः समस्त ही अर्थ का संक्षेप में संग्रह कर लिया गया है।

विशेप इतना कि पट्खण्डागम आगम ग्रन्थ है, अतः उसकी रचना उसी आगमपद्धति से प्रायः प्रश्नोत्तर शैली के रूप में हुई है, इससे उसकी रचना में पुनरुक्ति भी है। इसके अतिरिक्त उसकी रचना मन्दबुद्धि और तीव्रबुद्धि शिष्यों को लक्ष्य में रखकर हुई है, इसलिए विशदीकरण की दृष्टि से भी उसमें पुनरुक्ति हुई है। इसे धवलाकार ने जहाँ तहाँ स्पष्ट भी किया है।[3]

---

१. यह पद इसके पूर्व छठी और सातवीं चूलिका में प्ररूपित कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का सूचक है।

२. स० सि० में इसके पूर्व यह शंका की गई है कि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य के कर्मोदय से उत्पन्न हुई कलुषता के होने पर अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृत्तियों का उपशम कैसे होता है। इसके समाधान में वहाँ 'काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्' कहा गया है। इसमें 'काललब्धि' के आगे जो आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है उसी की ओर यह संकेत है।

३. इसके लिए धवला के ये कुछ प्रसंग द्रष्टव्य है— (प्रसंग पृष्ठ २०८ पर देखिए)

किन्तु सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या रूप ग्रन्थ है, इसलिए उसमें तत्त्वार्थसूत्र के ही विषयों का संक्षेप में स्पष्टीकरण किया गया है। संक्षिप्त होते हुए भी वह अर्थबहुल है। उसे यदि वृत्तिसूत्र रूप ग्रन्थ कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जयधवला में जो यह वृत्तिसूत्र का लक्षण कहा गया है वह सर्वार्थसिद्धि में भी घटित होता है—

"सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहिदसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो।"

—क०पा० सुत्त की प्रस्तावना, पृ० १५

अर्थात् सूत्र के जिस विवरण या व्याख्यान में शब्दों की रचना संक्षिप्त हो, फिर भी जिसमें सूत्र के अन्तर्गत समस्त अर्थ का संग्रह किया गया हो उसका नाम वृत्तिसूत्र है।

यही कारण है कि भट्टाकलंकदेव ने सर्वार्थसिद्धि के अधिकांश वाक्यों को अपनी कृति तत्त्वार्थवार्तिक में यथाप्रसंग आत्मसात् कर उनके आश्रय से विवक्षित विषय को स्पष्ट किया है।[2]

६. षट्खण्डागम और तत्त्वार्थवार्तिक

तत्त्वार्थवार्तिक यह आचार्य भट्टाकलंकदेव (ई० सन् ७२०-८०) के द्वारा विरचित तत्त्वार्थ

---

(१) एदं सुत्तं मंदबुद्धिसिस्ससंभालणट्ठं खेत्ताणि ओगद्दारे उत्तमेव पुणरवि उत्तं ·····। (पु० ४, पृ० १४८)

(२) पुणरुत्तत्तादो ण वत्तव्वमिदं सुत्तं ? ण, सव्वेसि जीवाणं सरिसणाणावरणीयकम्मक्ख-ओवसमाभावा।····· तदो भट्टसंसकारसिस्ससंभालणट्ठं वत्तव्वमिदं सुत्तं। (पु० ६, पृ० ८१)

(३) ण एस दोसो, अइजडसिस्ससंभालणट्ठत्तादो। (पु० ६, पृ० ८४)

(४) विस्सरणालुसिस्ससंभालणट्ठमिदं सुत्तं। (पु० ६, पृ० ८७)

(५) एदेण पुव्वुत्तपयारेण दंणमोहणीयं उवसामेदि त्ति पुव्वुत्तत्थो चेव सुत्तेण संभालिदो। (पु० ६, पृ० २३८)

(६) पुणरुत्तत्तादो णेदं सुत्तं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, जडमइसिस्साणुग्गहहेदुत्तादो। (पु० ६, पृ० ४८४)

(७) ण च एत्थ पुणरुत्तदोसो, मंदबुद्धीणं पुणरुत्तपुव्वुत्तत्थसंभालणेण फलोवलंभादो। (पु० ७, पृ० ३६६)

इसी प्रकार नैगमादि नयों के और औपशमिक आदि भावों के स्वरूप से सम्बन्धित वाक्यों को भी दोनों ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

२. उदाहरणस्वरूप दोनों ग्रन्थगत ये प्रसंग देखे जा सकते हैं—

(१) आत्म-कर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। (सर्वार्थसिद्धि १-४ व तत्त्वार्थवार्तिक १, ४, १७)

(२) आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः। (सर्वार्थसिद्धि १-४ व त०वा० १,४,१८)

(३) एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। (सर्वार्थसिद्धि १-४ व त०वा० १,४,१९)

(४) कृत्स्नकर्मविप्रयोगलक्षणो मोक्षः। (सर्वार्थसिद्धि १-४ व त०वा० १, ४, २०)

(५) अभ्यर्हितत्वात् प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः। (सर्वार्थसिद्धि १-६ व त०वा० १, ६,१)

सूत्र की एक विस्तृत व्याख्या है। आचार्य वीरसेन ने इसका उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य के नाम से किया है।[1] आ० अकलंकदेव अपूर्व दार्शनिक विद्वान होने के साथ सिद्धान्त के भी पारंगत रहे हैं। अपनी इस व्याख्या में उन्होंने जहाँ दार्शनिक विषयों का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया है वही उन्होंने सैद्धान्तिक विषयों को भी काफी विकसित किया है। इसके अतिरिक्त उनकी इस व्याख्या में जहाँ तहाँ जो शब्दों की निरुक्ति व उनके साधन की प्रक्रिया देखी जाती है उससे निश्चित है कि वे शब्दशास्त्र के भी गम्भीर विद्वान रहे हैं। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यस्वरूप अपनी इस विस्तृत व्याख्या के रचने में प्रस्तुत ष०ख० का अच्छा उपयोग किया है। कहीं-कहीं उन्होंने ष० ख० के सूत्रों को उसी क्रम से छाया के रूप में प्रस्तुत भी किया है।

इसी प्रकार उन्होंने सर्वार्थसिद्धि के भी बहुत से वाक्यों को तत्त्वार्थवार्तिक में आत्मसात् कर उनके आधार पर विवक्षित तत्त्व की विवेचना की है। विशेष इतना है कि स०सि० में जहाँ तत्त्वार्थसूत्र के 'सत्संख्या' आदि सूत्र की व्याख्या में सूत्र में निर्दिष्ट उन सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों की विस्तृत प्ररूपणा है वहाँ तत्त्वार्थवार्तिक में केवल सत् व संख्या आदि के स्वरूप को ही दिखलाया गया है, उनके आश्रय से वहाँ जीवस्थानों की प्ररूपणा नहीं की गई है। उनकी प्ररूपणा वहाँ आगे जाकर 'अनित्याशरण-संसार' आदि सूत्र (९-७) की व्याख्या में मात्र सत्प्ररूपणा के आधार से की गई है।

षट्खण्डागम के टीकाकार आ० वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में तत्त्वार्थवार्तिक का आश्रय लिया है। कहीं-कहीं उन्होंने इसके वाक्यों को व प्रसंगप्राप्त पूरे सन्दर्भ को भी उसी रूप में अपनी इस टीका में आत्मसात् कर लिया है।[2] इसके अतिरिक्त जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, कहीं पर उन्होंने 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' इस नाम निर्देश के साथ भी उसके वाक्यों को प्रसंग के अनुसार उद्धृत किया है।[3]

आगे यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से उदाहरण के रूप में कुछ ऐसे प्रसंग उपस्थित किये जाते हैं जो ष० ख० और त० वा० दोनों ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो तत्त्वार्थवार्तिककार ने ष० ख० के अन्तर्गत खण्ड और अनुयोगद्वार आदि का भी स्पष्टतया उल्लेख कर दिया है। जैसे—

१. त० वा० में 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम्' सूत्र (१-२१) की व्याख्या के प्रसंग में यह शंका उठाई गई है कि आगमपद्धति के अनुसार इस सूत्र में 'नारक' शब्द का पूर्व में निपात होना चाहिए। कारण यह कि आगम (षट्खण्डागम) में 'जीवस्थान' आदि खण्डों के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा आदि अनुयोगद्वारों में आदेश की अपेक्षा विवक्षित सत्-संख्या आदि की प्ररूपणा करते हुए सर्वत्र प्रथमतः नारकियों में ही उन 'सत्' आदि की प्ररूपणा की गई है।

---

१. धवला पु० १, पृ० १०३ (उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये)

२. जैसे—वाक्संस्कारकारणानि शिरःकण्ठादीन्यष्टो स्थानानि। वाक्प्रयोगशुभेतरलक्षणः सुगमः (वक्ष्यते)। —धवला पु० १, पृ० ११६ तथा त०वा० १,२०, १२, पृ० ५२
आगे 'अभ्याख्यानवाक्' आदि रूप बारह प्रकार की भाषा और 'नाम-रूप' आदि दस प्रकार के सत्यवचन से सम्बन्धित पूरा सन्दर्भ दोनों में सर्वथा समानरूप में उपलब्ध होता है। देखिए धवला पु० १,११६-१८ और त० वा० १, २०, १२ (पृ० ५२)।

३. 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये।' —धवला पु० १, पृ० १०३

तत्पश्चात् तिर्यंच, मनुष्य और देवों में उनकी प्ररूपणा है। इसीलिए प्रकृत सूत्र में 'देव' शब्द के पूर्व में 'नारक' शब्द का प्रयोग होना चाहिए।'[1]

इस शंका का समुचित समाधान वहाँ कर दिया गया है।

२. तत्त्वार्थवार्तिक में अवधिज्ञान के देशावधि-परमावधि आदि भेदों का निर्देश करते हुए उनके विषय की विस्तार से जो प्ररूपणा की गई है वह षट्खण्डागम के आधार से की गई दिखती है।

ष० ख० में वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार है। वहाँ अवधिज्ञानावरणीय की प्रकृतियों का निर्देश करते हुए प्रसंगवश अवधिज्ञान के देशावधि-परमावधि आदि भेदों का निर्देश किया गया है तथा उनके विषय की प्ररूपणा द्रव्य-क्षेत्रादि के आश्रय से पन्द्रह गाथा-सूत्रों में विस्तारपूर्वक की है। तत्त्वार्थवार्तिक में जो अवधिज्ञान के विषय की प्ररूपणा है उसके आधार वे गाथासूत्र ही हो सकते हैं।[2] उदाहरण के रूप में इस गाथासूत्र को देखा जा सकता है—

कालो चदुण्ण वुड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्व-पज्जय भजिदव्वा खेत्त-काला दु॥ —पु० १३, पृ० ३०६

इसका त० वा० के इस सन्दर्भ से मिलान कीजिए—

"उक्तायां वृद्धौ यदा कालवृद्धिस्तदा चतुर्णामपिवृद्धिर्नियता। क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भाज्या—स्यात् कालवृद्धिः स्यान्नेति। द्रव्य-भावयोस्तु वृद्धिर्नियता। द्रव्यवृद्धौ भाववृद्धिर्नियता, क्षेत्र-काल-वृद्धिः पुनर्भाज्या स्याद्वा नवेति। भाववृद्धावपि द्रव्यवृद्धिर्नियता, क्षेत्र-कालवृद्धिर्भाज्या स्याद्वा न वेति।" —त० वा० १,२२, ५ पृ० ५७

आगे यहाँ एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र अवधिज्ञानों का स्वरूप भी दोनों ग्रन्थों (ष०ख० सूत्र ५,५, ५७-५८ और त० वा० १,२२,५ पृ० ५७) में द्रष्टव्य है।

३. त० वा० में 'जीव-भव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्र (२-७) की व्याख्या के प्रसंग में एक यह शंका की गई है कि जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व इन तीन पारिणामिक भावों के साथ 'सासादनसम्यग्दृष्टि' इस द्वितीय गुण को भी ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वह भी जीव का साधारण पारिणामिक भाव है। कारण यह कि 'सासादनसम्यग्दृष्टि यह कौन-सा भाव है? वह पारिणामिक भाव है' ऐसा आर्ष (ष० ख०) में कहा गया है। (त०वा० २,७,११)

यहाँ 'आर्ष' से शंकाकार का अभिप्राय जीवस्थान के अन्तर्गत भावानुयोगद्वार के इस सूत्र से रहा है—

"सासणसम्मादिट्ठि त्ति को भावो? स पारिणामिओ भावो।"—सूत्र १,७,३ (पु० ५)।

उपर्युक्त शंका का यथेष्ट समाधान भी वहाँ कर दिया गया है।

---

१. आगमे हि जीवस्थानादौ सदादिष्वनुयोगद्वारेणाऽऽदेशवचने नारकाणामेवादौ सदादि-प्ररूपणा कृता। ततो नारकशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यमिति।—त० वा० १,२१, ६; ष०ख० सूत्र १,१,२४-२५ (पु० १); सू० १,२,१५ (पु० ३); सूत्र १,३,५; सूत्र १,४, ११; सूत्र १,५,३३ (पु० ४); १,६,२१; सूत्र १,७,१०; सूत्र १,८,२७ (पु० ५); इत्यादि।

२. ष० ख० पु० १३, पृ० ३०१-२८ तथा त० वा० १, २२,५ पृ० ५६-५७ (ये गाथासूत्र 'महाबन्ध' में उपलब्ध होते हैं)।

४. त० वा० में 'संसारिणस्त्रस-स्थावराः' इस सूत्र (२-१२) की व्याख्या के प्रसंग में कहा गया है कि स्थावर नामकर्म के उदय से जिन जीवों के विशेषता उत्पन्न होती है वे स्थावर कहलाते हैं। इस पर वहाँ शंका उठायी गई है कि जो स्वभावतः एक स्थान पर स्थिर रहते हैं उन्हें स्थावर कहना चाहिए। इसके उत्तर में कहा गया है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर वायु, तेज और जल जीवों के त्रसरूपता का प्रसंग प्राप्त होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि उक्त वायु आदि जीवों को त्रस मानना तो अभीष्ट ही है[1] तो ऐसा कहना आगम के प्रतिकूल है। कारण यह कि आगमव्यवस्था के अनुसार **सत्प्ररूपणा** में **कायमार्गणा** के प्रसंग में द्वीन्द्रियों से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त जीवों को त्रस कहा गया है। इसलिए चलने की अपेक्षा त्रस और एक स्थान पर स्थिर रहने की अपेक्षा स्थावर नहीं कहा जा सकता है, किन्तु जिनके त्रसनामकर्म का उदय होता है उन्हें त्रस और जिनके स्थावर नामकर्म का उदय होता है उन्हें स्थावर जानना चाहिए।[2]

इस शंका-समाधान में यहाँ आगम व्यवस्था के अनुसार जिस **सत्प्ररूपणा** के अन्तर्गत काय वर्गणा से सम्बन्धित सूत्र की ओर संकेत किया गया है वह इस प्रकार है—

"तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।"

—ष० ख० सूत्र १,१,४४ (पु० १)।

५. त० वा० में स्वामी, स्वलाक्षण्य व स्वकारण आदि के आश्रय से औदारिकादि पाँच शरीरों में परस्पर भिन्नता दिखलाई गई है। उस प्रसंग में वहाँ स्वामी की अपेक्षा उनमें भिन्नता को प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि औदारिकशरीर तिर्यंचों और मनुष्यों के होता है तथा वैक्रियिकशरीर देव-नारकियों, तेजकायिकों, वायुकायिकों एवं पंचेन्द्रिय तिर्यंचों व मनुष्यों के भी होता है। इस पर वहाँ यह शंका उपस्थित हुई है कि **जीवस्थान** में **योगमार्गणा** के प्रसंग में सात प्रकार के काययोग की प्ररूपणा करते हुए यह कहा गया है कि औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग तिर्यंचों व मनुष्यों के तथा वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र काययोग देवों और नारकियों के होता है। परन्तु यहाँ यह कहा जा रहा है कि वह (वैक्रियिकशरीर) तिर्यंचों व मनुष्यों के भी होता है; यह तो आगम के विरुद्ध है। इस शंका का समाधान करते हुए वहाँ यह कहा गया है कि इसमें कुछ विरोध नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्यत्र उसका उपदेश है---**व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकों** में शरीरभंग में वायु के औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये चार शरीर कहे गये हैं। ये ही चार शरीर वहाँ मनुष्यों के भी निर्दिष्ट किये गये हैं। इसपर शंकाकार ने कहा है कि इस प्रकार से तो उन दोनों आर्षों (आगमों) में परस्पर विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके समाधान में आगे वहाँ कहा गया है कि अभिप्राय के भिन्न होने से उन दोनों में कुछ विरोध होनेवाला नहीं है। **जीवस्थान** में देव-नारकियों के सदा काल उसके देखे जाने के कारण वैक्रियिक शरीर का सद्भाव प्रकट किया गया है। परन्तु तिर्यंचों व मनुष्यों के वह सदा काल नहीं देखा जाता है, क्योंकि वह उनके लब्धि के निमित्त

---

१. यहाँ यह स्मरणीय है कि श्वे० परम्परा में तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत 'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' इस सूत्र (त०सू० २-१४) के अनुसार तेज और वायुकायिक जीवों को चलन-क्रिया के आश्रय से त्रस माना गया है।

२. त० वा० २,१२,५

से उत्पन्न होता है। इसलिए उनके वह देव-नारकियों के समान सदा काल नहीं रहता है, उनके वह कदाचित् ही रहता है। इस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकों में उसके अस्तित्व मात्र के अभिप्राय को लेकर तिर्यंच-मनुष्यों में वैक्रियिक शरीर का सद्भाव दिखलाया है।[1]

ऊपर तत्त्वार्थवार्तिक में जीवस्थानगत जिस प्रसंग का उल्लेख किया गया है वह इस प्रकार है—

"ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणुस्साणं। वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देव-णेरइयाणं।" —ष० ख०, सूत्र १,१,५७-५८ (पु० १)

६. इसके पूर्व त० वा० में औपशमिक भाव के दो भेदों के प्ररूपक 'सम्यक्त्व-चारित्रे' सूत्र (२-३) की व्याख्या करते हुए औपशमिक सम्यक्त्व के स्वरूप के स्पष्टीकरण में कहा गया है कि अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व ये तीन दर्शन मोहनीय, इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसका नाम औपशमिक सम्यक्त्व है। इस पर वहाँ यह पूछा गया है कि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य के कर्मोदय जनित कलुषता के होने पर उनका उपशम कैसे होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह उनका उपशम उसके काललब्धि आदि कारणों की अपेक्षा से होता है।

इस प्रसंग में वहाँ कर्मस्थिति रूप दूसरी काललब्धि को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति युक्त कर्मों के होने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है, किन्तु जब उनका बन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति से युक्त होता है तथा विशुद्धि के वश उनके सत्त्व को भी जब जीव संख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण में स्थापित करता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।

यह प्रसंग पूर्णतया जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में आठवीं 'सम्यक्त्वोपत्ति' चूलिका पर आधारित है, जो शब्दशः समान है। उसका मिलान इस रूप में किया जा सकता है—

"एवदिकालट्ठिदिएहि[2] कम्मेहि सम्मत्तं ण लहदि। लभदि त्ति विभासा। एदेसिं चेव सव्व कम्माणं जावे अंतो कोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लभदि। सो पुण पंचिंदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तो सव्वविसुद्धो। एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं तावे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि।"

—ष०ख०, सूत्र १, ९-८,१-५ (पु० ६)

"अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिरुत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु प्रथमसम्यक्त्व-लाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तःकोटाकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटाकोटिसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति।" —त०वा० २,३,१-२

आगे त० वा० में प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीव की योग्यता को प्रकट करते हुए यह कहा गया है—

"स पुनर्भव्यः पंचेन्द्रियः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पाद-

---

१. त० वा० २, ४९,८

२. यह पद इसके पूर्व छठी व सातवीं चूलिका में क्रम से प्ररूपित सब कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियों की ओर संकेत करता है।

यति। (यहाँ ष० ख० की अपेक्षा एक 'भव्य' पद अधिक है)। —त० वा० २,३,२

यह ष० ख० के इस सूत्र का छायानुवाद है—

"सो पुण पंचिंदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो।" —सूत्र १,९-८,४

७. आगे त० वा० में वहीं पर यह कहा गया है कि इस प्रकार प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ वह अन्तर्मुहूर्त वर्तता है, अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करके मिथ्यात्व के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। अनन्तर यहाँ नरकगति में वह सम्यग्दर्शन किन कारणों से उत्पन्न होता है, इसे स्पष्ट किया गया है। यह सब सन्दर्भ ष० ख० से कितना प्रभावित है, द्रष्टव्य है—

(क) "पढमसम्मत्तमुप्पादेंतो अंतोमुहुत्तमोहट्टेदि। ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णिभागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं। दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि। उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि? चदुसु वि गदीसु उवसामेदि।" —ष०ख०, सूत्र १,९-८,६

"उत्पादयन्नन्तावन्तर्मुहूर्तमेव वर्तयति अपवर्त्य[1] च मिथ्यात्व कर्म त्रिधा विभजते सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति। दर्शनमोहनीयं कर्मोपशमयन् क्वोपशमयति? चतसृषु गतिषु।" —त० वा० २,३,२

(ख) "णेरइया मिच्छाइट्ठी पढमसम्मत्तमुप्पादेंति। उप्पादेंता कम्हि उप्पादेंति? पज्जत्तएसु उप्पादेंति, णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उप्पादेंता अंतोमुहुत्तप्पहुडि जाव तप्पाओग्गंतोमुहुत्तं उवरिमुप्पादेंति, णो हेट्ठा। एवं जाव सत्तसु पुढवीसु णेरइया। णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति? तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति। केइं जाइस्सरा केइं सोऊण केइं वेदणाहिभूदा। एवं तिसु उवरिमासु पुढवीसु णेरइया। चदुसु हेट्ठिमासु पुढवीसु णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति? दोहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति। केइं जाइस्सरा केइं वेयणाहिभूदा।" —ष० ख० १, ९-९, १-१२ (पु० ६)

"तत्र नारकाः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः, पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि उत्पादयन्ति नाधस्तात्। एवं सप्तसु पृथिवीषु तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वमुपजनयन्ति—केचिज्जातिं स्मृत्वा केचिद् धर्मं श्रुत्वा केचिद् वेदनाभिभूताः। अधस्ताच्चतसृषु पृथिवीषु द्वाभ्यां कारणाभ्याम्—केचिज्जातिं स्मृत्वा अपरे वेदनाभिभूताः।" —त० वा० २, ३,२

इस प्रकार त० वा० में ष० ख० के सूत्रों का रूपान्तर जैसा किया गया है। जैसा कि पीछे 'सर्वार्थसिद्धि' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, ष० ख० में अपनी प्रश्नोत्तर पद्धति के अनुसार कुछ पुनरुक्ति हुई है, जो त० वा० में नहीं है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के इन कारणों की प्ररूपणा आगे तिर्यंचों, मनुष्यों और देवों में भी शब्दशः समान रूप से ही दोनों ग्रन्थों में की गई है। (देखिए ष० ख० सूत्र १,९-९ १३-४३ तथा त० वा० २,३,२)

८. त० वा० में नारकियों की आयु के प्ररूपक सूत्र (३-६) की व्याख्या करते हुए उस प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि नारकपृथिवियों में उत्पन्न होनेवाले नारकी वहाँ किस

1. यहाँ 'ओहट्टेदि' और 'ओहट्टेदूण' इन प्राकृत शब्दों के रूपान्तर करने अथवा प्रतिलिपि के करने में कुछ गड़बड़ी हुई प्रतीत होती है।

गुणस्थान के साथ प्रविष्ट होते हैं और किस गुणस्थान के साथ वहाँ से निकलते हैं। यह प्रसंग भी त० वा० में पूर्णतया ष०ख० से प्रभावित है। यथा—

"णेरइया मिच्छत्तेण अधिगदा केइं मिच्छत्तेण णींति। केइं मिच्छत्तेण अधिगदा सासण-सम्मत्तेण णींति। केइं मिच्छत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण णींति। सम्मत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण चेव णींति। एवं पढमाए पुढवीए णेरइया। विदियाए जाव छट्ठीए पुढवीए णेरइया मिच्छत्तेण अधिगदा केइं मिच्छत्तेण णींति। मिच्छत्तेण अधिगदा केइं सासणसम्मत्तेण णींति। मिच्छत्तेण अधिगदा केइं सम्मत्तेण णींति। सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छत्तेण चेव णींति।"

—ष०ख०, सूत्र १,९-९ ४४-५२ (पु० ६)

"प्रथमायामुत्पद्यमाना नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वे-नाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेन प्रविष्टाः केचित् सम्यक्त्वेन। केचित् सम्यक्त्वेनाधिगताः सम्यक्त्वेनैव निर्यान्ति क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया। द्वितीयादिषु पञ्चसु नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेन प्रविष्टाः केचित् सम्यक्त्वेन निर्यान्ति। सप्तम्यां नारका मिथ्यात्वेनाधिगता मिथ्यात्वेनैव निर्यान्ति।" —त० वा० ३,६,६ पृ० ११८

९. त० व० में इसी सूत्र की व्याख्या में आगे नारक पृथिवियों से निकलते हुए नारकी किन गतियों में आते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है। यह प्रसंग भी ष० ख० से सर्वथा समान है—

"णेरइयामिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी णिरयादो उव्वट्टिदसम्माणा कदि गदीओ आगच्छंति? दो गदीओ आगच्छंति तिरिक्खगदिं चेव मणुसगदिं चेव। तिरिक्खेसु आगच्छंता पंचिदिएसु आ-गच्छंति, णो एइंदिय-विगलिंदिएसु। पंचिदिएसु आगच्छंता सण्णीसु आगच्छंति, णो असण्णीसु। सण्णीसु आगच्छंता गब्भोवक्कंतिएसु आगच्छंति, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु आ-गच्छंता पज्जत्तएसु आगच्छंति, णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु आगच्छंता संखेज्जवस्साउएसु आगच्छंति, णो असंखेज्जवस्साउएसु।" —ष० ख०, सूत्र १,-९-९, ७६-८२ (पु० ६)

"षड्भ्य उपरि पृथिवीभ्यो मिथ्यात्व-सासादनसम्यक्त्वाभ्यामुद्वर्तिताः केचित् तिर्यङ्-मनुष्य-गतिमायान्ति। तिर्यक्ष्वायाताः पञ्चेन्द्रिय-गर्भज-संज्ञि-पर्याप्तक-संख्येय-वर्षायुःषूत्पद्यन्ते, नेतरेषु।"

—त० वा० ३,६,६ (पृ० ११८)

दोनों ग्रन्थगत यह प्रसंग शब्दशः समान है। विशेषता यह है कि षट्खण्डागम में जहाँ पंचेन्द्रिय, गर्भज, संज्ञी, पर्याप्त और संख्यातवर्षायुष्कों में आने का उल्लेख पृथक्-पृथक् सूत्रों द्वारा किया गया है वहाँ तत्त्वार्थवार्तिक में उनका उल्लेख संक्षेप में 'पञ्चन्द्रिय-गर्भज' आदि एक ही समस्त पद में कर दिया गया है, अभिप्राय में कोई भेद नहीं रहा है।

ष०ख० में आगे यह प्रसंग जहाँ ८३-१०० सूत्रों में समाप्त हुआ है वहाँ त०वा० में वहीं पर वह दो पंक्तियों में समाप्त हो जाता है, फिर भी अभिप्राय कुछ भी छूटा नहीं है।

१०. त० वा० में आगे इसी प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि नारकी उन पृथिवियों से निकलकर किन गतियों में आते हैं व वहाँ आकर वे किन गुणों को प्राप्त करते हैं यह प्रसंग भी दोनों ग्रन्थों में द्रष्टव्य है जो शब्दशः समान है—

"अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिद-समाणा कदि गदीओ आ-गच्छंति? एक्कं हि चेव तिरिक्खगदिमागच्छंति त्ति। तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा

छण्णो उप्पाएंति—आभिणिबोहियणाणं णो उप्पाएंति, सुदणाणं णो उप्पाएंति, ओहिणाणं णो उप्पाएंति, सम्मामिच्छत्तं णो उप्पाएंति, सम्मत्तं णो उप्पाएंति, संजमासंजमं णो उप्पाएंति ।"

—ष०ख०, सूत्र १,९-९,२०३-५

"सप्तम्यां नारका मिथ्यादृष्टयो नरकेभ्य उद्वर्तिता एकामेव तिर्यग्गतिमायान्ति । तिर्यक्ष्वायाताः पंचेन्द्रिय-गर्भज-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुःषूत्पद्यन्ते, नेतरेषु । तत्र चोत्पन्नाः सर्वे मति-श्रुतावधि-सम्यक्त्व-सम्यङ्.मिथ्यात्व-संयमासंयमान् नोत्पादयन्ति ।" —त०वा० ३,६,७

इसी प्रकार दोनों ग्रन्थों में आगे छठी-पाँचवीं आदि पृथिवियों से निकलने वाले नारकियों से सम्बन्धित यह प्रसंग भी सर्वथा समान है। (देखिए ष०ख० सूत्र १,९-९,२०६-२० और त०वा० ३,६,७ पृ० ११८-१९)

११. त०वा० में पीछे ऋजुमतिमनःपर्यय के ये तीन भेद किए गये हैं—ऋजुमनोगतविषय, ऋजुवचनगतविषय और ऋजुकायगतविषय। यथा—

"आद्यस्त्रेधार्जुमनोवाक्-कायविषयभेदात् ।" —त०वा० १,२,३,९

ष०ख० में ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान के आवारक ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरणीय के वे ही तीन भेद इस प्रकार निर्दिष्ट किए गये हैं—

"जं तं उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीयं णाम कम्मं तं तिविहं—उजुगं मणोगदं जाणदि उजुगं वचिगदं जाणदि उजुगं कायगदं जणादि ।" —सूत्र ५,५,६२ (पु० १३, पृ० ३२९)

यद्यपि 'आवरणीय' के साथ 'जाणदि' पद का प्रयोग असंगत-सा दिखता है, फिर भी धवलाकार ने मूलग्रन्थकार के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है—

"जेण उजुमणोगदट्ठविसयं उजुवचिगदट्ठविसयं उजुकायगदट्ठविसयं ति तिविहमुजुमदिणाणं तेण तदावरणं पि तिविहं होदि ।" —पु० १३, पृ० ३२९-३९

त०वा० में आगे ऋजुमतिमनःपर्यय के उक्त भेदों के स्पष्टीकरण के प्रसंग में यह शंका की गई है कि यह अभिप्राय कैसे उपलब्ध होता है। इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि आगम के अविरोध से वह अभिप्राय उपलब्ध होता है। यह कहते हुए वहाँ कहा गया है—

"आगमे ह्युक्तं मनसा मनः परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति इति, मनसा आत्मनेत्यर्थः ।···तमात्मना आत्माऽवबुध्याऽऽत्मनः परेषां च चिन्ता-जीवित-मरण-सुख-दुःख-लाभालाभादीन् विजानाति । व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति, नाव्यक्तमनसाम् ।"

—त०वा० १,२३,९ (पृ० ५८)

त०वा० में यहाँ 'आगम' से अभिप्राय ष०ख० के इन सूत्रों का रहा है। मिलान कीजिए—

"मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं संण्णा मदि सदि चिंता जीविद-मरणं लाहालाहं सुह-दुक्खं णयरविणासं देसविणासं जणवयविणासं खेडविणासं कव्वडविणासं मडंबविणासं पट्टणविणासं दोणामुहविणासं अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेम.खेम-भय-रोग-कालसंपजुत्ते अत्थे वि जणादि। किं चि भूओ—अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाण जाणदि, णो अव्वत्तमाणाणं जाणदि ।"

—ष०ख०, सूत्र ५,५,६३-६४ (पु० १३, पृ० २३२ व २३६-३७)

धवला में 'वत्तमाणाणं' आदि का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

"···व्यक्तं निष्पन्नं संशय-विपर्ययानध्यवसायविरहितं मनः येषां ते व्यक्तमनसः, तेषां व्यक्तमनसां जीवानां परेषामात्मनश्च सम्बन्धि वस्त्वन्तरं जानाति, नो अव्यक्तमनसां जीवानां

सम्वन्धि वस्त्वन्तरम्, तत्र तस्य सामर्थ्याभावात् । कधं मणस्स माणववएसो ? 'एए छच्च समाणा' त्ति विहिददीहत्तादो । अथवा वर्तमानानां जीवानां वर्तमानमनोगतत्रिकालसम्वन्धिनमर्थं जानाति, नातीतानागतमनोविपर्यमिति सूत्रार्थो व्याख्येयः ।"

—धवला पु० १३, पृ० ३३७

दोनों ग्रन्थों में आगे उस ऋजुमतिमनःपर्यय के विषय की भी प्ररूपणा इस प्रकार की गई है, जो शब्दशः समान है—

"कालदो जहण्णेण दो-तिण्णिभवग्गहणाणि । उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि । जीवाणं गदिमागदिं पदुप्पादेदि । खेत्तदो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्तं, उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भंतरदो णो वहिद्धा ।"

—ष०ख० सूत्र ५,५,६५-६८

"कालतो जघन्येन जीवानामात्मनश्च द्वि-त्रीणि, उत्कर्षेण सप्ताष्टानि भवग्रहणानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं न वहिः, उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं न वहिः ।"

—त०वा० १,२३,९ (पृ० ५८-५९)

दोनों ग्रन्थों में जिस प्रकार समान रूप में ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान के भेदों और विषय की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार आगे विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान के भेदों और विषय की भी प्ररूपणा समान रूप में की गई है। यथा—

"जं तं विउलमदिमणपज्जवणाणावरणीयं णाम कम्मं तं छव्विहं—उज्जुगमणुज्जुगं मणोगदं जाणदि, उज्जुगमणुज्जुगं वचिगदं जाणदि, उज्जुगमणुज्जुगं कायगदं जाणदि ।" इत्यादि

—ष०ख०, सूत्र ५,५,७०-७७

"द्वितीयः षोढा ऋजु-वक्रमनोवाक्कायभेदात् ।" इत्यादि

—तत्त्वार्थवार्तिक १,२३,१० (पृ० ५९)

१२. (क) त० वा० में 'शब्द-वन्ध-सौक्ष्म्य' इत्यादि सूत्र (५-२४) की व्याख्या करते हुए उस प्रसंग में वन्ध के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—विस्रसावन्ध और प्रयोगवन्ध । इनमें वैस्रसिकवन्ध आदिमान् और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। इनमें आदिमान् वैस्रसिकवन्ध के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि जो वन्ध स्निग्ध और रूक्ष गुणों के निमित्त से विद्युत्, उल्का, जलधारा, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि को विषय करनेवाला है उसका नाम आदिमान् वैस्रसिक वन्ध है।

—त०वा० ५,२४,१०-११

ष०ख० में वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'वन्धन' अनुयोगद्वार में वन्ध के प्रसंग में विस्रसावन्ध के सादि विस्रसावन्ध और अनादि विस्रसावन्ध ये ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। (सूत्र ५,६, २८; पु० १४)

आगे सादिविस्रसावन्ध के स्वरूप को प्रकट करते हुए यह सूत्र कहा गया है—

"से तं वंधणपरिणामं पप्प से अब्भाणं वा मेहाणं वा संज्झाणं वा विज्जूणं वा उक्काणं वा कणयाणं वा दिसादाहाणं वा धूमकेदूणं वा इंदाउहाणं वा खेत्तं पप्प कालं पप्प उडुं पप्प अयणं पप्प पोग्गलं पप्प जे चामण्णे एवमादिया अंगमलप्पहुदीणि वंधणपरिणामेण परिणमंति सो सव्वो सादियवंधो णाम ।"

—सूत्र ५,६,३७ (पु० १४)

ऊपर त० वा० में वैस्रसिक वन्ध के उन दो भेदों का निर्देश करते हुए जो आदिमान् (सादि) वैस्रसिकवन्ध का लक्षण प्रकट किया गया है वह सम्भवतः इस ष०ख० के सूत्र के आश्रय से ही प्रकट किया गया है। विशेष इतना है कि ष०ख० में जहाँ इस वन्ध के रूप से

परिणत होनेवाले अभ्र, मेघ, संध्या, विद्युत् और उल्का आदि अनेक पदार्थों का उल्लेख किया है वहाँ तत्त्वार्थवार्तिक में केवल विद्युत्, उल्का, जलधारा, अग्नि और इन्द्रधनुष इनका मात्र उल्लेख किया गया है।

(ख) इसके पूर्व ष०ख० में जो उसी सादि विस्रसाबन्ध के प्रसंग में स्निग्धता और रूक्षता के आश्रय से होनेवाले परमाणुओं के पारस्परिक बन्ध के विषय में विचार किया गया है उसमें कुछ मतभेद रहा है।[1]

त० वा० में बन्धविषयक चर्चा आगे 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः' आदि सूत्रों (तत्त्वार्थसूत्र ५,३२-३६) की व्याख्या करते हुए की गई है। उस प्रसंग में वहाँ ष०ख० के इस गाथासूत्र को भी 'उक्तं च' के निर्देश के साथ उद्धृत किया गया है—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुक्खस्स ल्हुखेण दुराहिएण।
णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥
—त० वा० ५,३५,२ पृ० २४२ व ष०ख० सूत्र ५,६,३६ (पु० १४, पृ० ३३)

(ग) इसी प्रसंग में त० वा० में 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' इस सूत्र (५-३६) की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि इस सूत्र के स्थान में दूसरे 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' ऐसा सूत्र पढ़ते हैं।[2] वह असंगत है, क्योंकि आर्ष के विरुद्ध है। इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ आगे कहा गया है कि आर्ष में वर्गणा के अन्तर्गत बन्धविधान में सादिवैस्रसिक बन्ध का निर्देश किया गया है। उस प्रसंग में वहाँ विषम रूक्षता व विषम स्निग्धता में बन्ध और समरूक्षता व समस्निग्धता में भेद (बन्ध का अभाव) कहा गया है। तदनुसार ही 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' यह सूत्र (तत्त्वार्थसूत्र ५-३४) कहा गया है। इस सूत्र के द्वारा समान गुणवाले परमाणुओं के बन्ध का निषेध किया गया है। इस प्रकार समगुणवाले परमाणुओं में बन्ध का प्रतिषेध करने पर बन्ध में समगुणवाला परमाणु परिणामक होता है ऐसा कहना आर्ष के विरुद्ध है।
(त० वा० ५,३६, ३-४)

यहाँ आर्ष व वर्गणा का उल्लेख करते हुए जिस नोआगमद्रव्यबन्ध के प्रसंग की ओर संकेत किया है वह ष०ख० में वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत बन्धन अनुयोगद्वार में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

"जो सो थप्पो सादियविस्ससाबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो। समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो।

णिद्ध-णिद्धा ण बज्झंति ल्हुक्ख-ल्हुक्खा य पोग्गला।
णिद्ध-ल्हुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला॥
—ष०ख० ५,६, ३२-३४ (पु० १४, पृ० ३०-३१)

जैसाकि त० वा० में निर्देश किया गया है, इस बन्ध की प्ररूपणा ष०ख० में वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत बन्धन अनुयोगद्वार में नोआगमद्रव्यबन्ध (सूत्र २६) के प्रसंग में ही की गई है।

१. सूत्र ५,६,३२-३६ (पु०१४, पृ० ३०-३३)
२. बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ (तत्त्वार्थसूत्र ५-३६—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य सम्मत सूत्रपाठ के अनुसार)।

(घ) अनादिविस्रसावन्ध के स्वरूप को देखिए जो दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समान हैं—

"जो सो अणादिय विस्ससाबंधो णाम सो तिविहो धम्मत्थिया अधम्मत्थिया आगासत्थिया चेदि। धम्मत्थिया धम्मत्थियदेसा धम्मत्थियपदेसा अधम्मत्थिया अधम्मत्थियदेसा अधम्मत्थियपदेसा आगासत्थिया आगासत्थियदेसा आगासत्थियंपदेसा एदासिं तिण्णं पि अत्थिआणमण्णोण्णपदेसबंधो होदि।" —ष०ख० सूत्र ५,६,३०-३१

"अनादिरपि वैस्रसिकवन्धो धर्माधर्माकाशानामेकशः त्रैविध्यान्नवविधः। धर्मास्तिकायवन्धः धर्मास्तिकायदेशवन्धः धर्मास्तिकायप्रदेशवन्धः अधर्मास्तिकायवन्धः अधर्मास्तिकायदेशवन्धः अधर्मास्तिकायप्रदेशवन्धः आकाशास्तिकायवन्धः आकाशास्तिकायदेशवन्धः आकाशास्तिकायप्रदेशवन्धश्चेति।" —त० वा० ५,२४,११, पृ० २३२

आगे यहाँ धर्मास्तिकाय आदि के स्वरूप का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"कृत्स्नो धर्मास्तिकायः, तदर्धं देशः अर्धार्धं प्रदेशः। एवमधर्माकाशयोरपि।"

—त०वा० ५,२४,११, पृ० २३२

ष०ख० मूल में इनका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। पर धवलाकार ने उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सब अवयवों के समूह को धर्मास्तिकाय, उसके अर्ध भाग से लेकर चतुर्थभाग तक को धर्मास्तिकायदेश और उसी के चौथे भाग से लेकर शेष को धर्मास्तिकायप्रदेश कहा है। आगे अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भी स्वरूप को इसी प्रकार से जान लेने की सूचना कर दी है। (धवला पु० १४, पृ० ३०)

(ङ.) आगे दोनों ग्रन्थों में प्रयोगवन्ध के कर्मवन्ध और नोकर्मवन्ध रूप दो भेदों का निर्देश करते हुए नोकर्मवन्ध के ये पाँच भेद कहे गये हैं—आलापनवन्ध, अल्लीवनवन्ध[1] संश्लेषवन्ध, शरीरवन्ध और शरीरिवन्ध। इन पाँचों वन्धों का स्वरूप भी दोनों ग्रन्थों मे समान रूप से कहा गया है। (देखिए ष०ख० सूत्र ५,६,३८-६४ (पु० १४, पृ० ३६-४६) और त० वा० ५, २४,१३ पृ० २३२-३३)

१३. तत्त्वार्थवार्तिक में 'अनित्यशरण' आदि सूत्र (तत्त्वार्थसूत्र ९-७) की व्याख्या करते हुए वोधिदुर्लभ भावना के प्रसंग में 'उक्तं च' कहकर आगमप्रामाण्य के रूप में 'एगणिगोदसरीरे' आदि गाथासूत्र को उद्धृत किया गया है। वह गाथासूत्र ष०ख० में यथास्थान अवस्थित है।[2]

१४. त० वा० में उपर्युक्त सूत्र की ही व्याख्या में 'धर्मस्वाख्यात' भावना के प्रसंग में

---

१. त० वा० में इसका उल्लेख 'आलेपन' के नाम से किया गया है। वहाँ उसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

'कुड्य-प्रासादादीनां मृतपिण्डेष्टकादिभिः प्रलेपदानेन अन्योऽन्यालेपनात् अर्पणात् आलेपनवन्धः। धातूनामनेकार्थत्वात् आङ्.पूर्वस्य लिङ.: अर्पणक्रियस्य ग्रहणम्।'

—त० वा० ५,२४,१३,

ष०ख० में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—"जो सो अल्लीवणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से कडयाणं वा कुड्डाणं वा गोवरपीडाणं वा पागाराणं वा साडियाणं वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि अल्लीविदाणं बंधो होदि सो सव्वो अल्लीवणबंधो णाम।" —ष०ख०, सूत्र ५,६,१४ (पु० १४, पृ० ३९)

२. ष०ख० पु० १४, पृ० २३४ तथा त० वा० ९,७,११, पृ० ३२९

गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनमें क्रम से यथासम्भव जीवस्थानों—चौदह जीवसमासों—और गुणस्थानों के सद्भाव को प्रकट किया गया है।[1] यथा—

"···तान्येतानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि, तेषु जीवस्थानानां सत्ता विचिन्त्यते—तिर्यग्गतौ चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। इतरासु तिसृषु द्वे द्वे पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्।[2] एकेन्द्रियेषु चत्वारि जीवस्थानानि। विकलेन्द्रियेषु द्वे द्वे। पञ्चेन्द्रियेषु चत्वारः।" (त० वा० ९,७,१२ पृ० ३३०)

ष०ख० में जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत 'सत्प्ररूपणा' अनुयोगद्वार में यथाप्रसंग गुणस्थान और मार्गणास्थानों के क्रम से उस सबका विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।[3]

धवलाकार ने तो सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत समस्त (१७७) सूत्रों की व्याख्या को समाप्त करके तत्पश्चात् 'संपहि संतसुत्तविवरणसमत्ताणंतरं तेसिं परूवणं भणिस्सामो' ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए यथाक्रम से गुणस्थानों और मार्गणास्थानों के आश्रय से केवल जीवस्थानों (जीव समासों) की ही नहीं, गुणस्थान व जीवसमास आदि रूप बीस प्ररूपणाओं की विवेचना बहुत विस्तार से की है। यह सब ष०ख० की पु० २ में प्रकाशित है।

उपसंहार

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि तत्त्वार्थवार्तिक के रचियता आ० अकलंकदेव के समक्ष प्रस्तुत षट्खण्डागम रहा है और उन्होंने उसकी रचना में यथाप्रसंग उसका यथेष्ट उपयोग भी किया है। कहीं-कहीं पर उन्होंने उसके सूत्रों को संस्कृत रूपान्तर में उद्धृत करते हुए उसके खण्डविशेष, अनुयोगद्वार और प्रसंगविशेष का भी निर्देश कर दिया है। जैसे— जीवस्थान (प्रथम खण्ड), वर्गणा (पाँचवाँ खण्ड), सत्प्ररूपणा, कायानुवाद (कायमार्गणा), योगभंग (योगमार्गणा) और बन्धविधान आदि।

जैसाकि पीछे 'सर्वार्थसिद्धि' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, ष०ख० में विवक्षित विषय की प्ररूपणा प्रश्नोत्तर शैली में करते हुए उससे सम्बद्ध सूत्रवाक्यों का उल्लेख पुनः-पुनः किया गया है। इस प्रकार की पुनरुक्ति इस त० वा० में नहीं हुई है। वहाँ विवक्षित विषय की प्ररूपणा संक्षेप से प्रायः उसी ष० ख० के शब्दों में की गई है।

सर्वार्थसिद्धिकार ने उस ष०ख० का आश्रय विशेषकर 'सत्संख्या' आदि सूत्र की व्याख्या में तथा एक-दो अन्य प्रसंगों पर ही लिया है। किन्तु त०वा० के रचियता ने उसका आश्रय अनेक प्रसंगों पर लिया है। यह विशेष स्मरणीय है सर्वार्थसिद्धि में जिस 'सत्संख्या' आदि सूत्र की व्याख्या ष०ख० के आधार से बहुत विस्तार के साथ की गई है उस सूत्र की व्याख्या में

---

१. त० वा० ९,७,१२, पृ० ३२९-३२

२. इस प्रसंग से सम्बद्ध मूलाचार की ये गाथाएँ द्रष्टव्य हैं—

जीवाणं खलु ठाणाणि जाणि गुणसण्णिदाणि ठाणाणि।
एदे मग्गणठाणेसु चेव परिमग्गदव्वाणि॥
तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु।
मग्गणठाणस्सेदं णेयाणि समासठाणाणि॥ १२,१५७-५८

३. ष०ख०, पु० १ में विवक्षित विषय से सम्बद्ध प्रसंगविशेषों को देखा जा सकता है।

आ० भट्टाकलंक देव ने ष०ख० का आश्रय लेकर गुणस्थानों व मार्गणास्थानों में सूत्रोक्त सत्-संख्या आदि का विशेष विचार नहीं किया है। उन्होंने वहाँ केवल सत्-संख्या आदि के पूर्वापरक्रम का विचार किया है।

७. षट्खण्डागम और आचारांग

दिगम्बर परम्परा के अनुसार यद्यपि वर्तमान में गौतम गणधर द्वारा ग्रथित अंगों व पूर्वो का लोप हो गया है, पर श्वेताम्बर परम्परा में आज भी आचारादि ग्यारह अंग उपलब्ध हैं। वे वीरनिर्वाण के पश्चात् ९८० वर्ष के आस-पास वलभी में आचार्य देवर्धि गणि के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई वाचना में साधुसमुदाय की स्मृति के आधार पर पुस्तकारूढ़ किये गये हैं।[1]

बारहवें दृष्टिवाद अंग का लोप हुआ श्वे० परम्परा में भी माना जाता है।

प्रकृत आचारांग उन पुस्तकारूढ़ किये गये ग्यारह अंगों में प्रथम है। वह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। उनमें से प्रथम श्रुतस्कन्ध इन नौ अध्ययनों में विभक्त है—(१) शस्त्रपरिज्ञा, (२) लोकविजय, (३) शीतोष्णीय, (४) सम्यक्त्व, (५) लोकसार, (६) धूत, (७) महापरिज्ञा, (८) विमोक्ष और (९) उपधानश्रुत। इन नौ अध्ययनोंस्वरूप उस प्रथम श्रुतस्कन्ध को नवब्रह्मचर्यमय कहा गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में, जिसे आचाराग्र कहा जाता है, पाँच चूलिकाएँ हैं। उनमें से प्रथम चूलिका में सात अध्ययन हैं—(१) पिण्डैषणा, (२) शय्यैषणा, (३) ईर्या, (४) भाषाजात, (५) वस्त्रैषणा, (६) पात्रैषणा और (७) अवग्रह। दूसरी चूलिका 'सप्ततिका' में भी सात अध्ययन हैं। तीसरी चूलिका का नाम भावना अध्ययन है। विमुक्ति नाम की चौथी चूलिका में विमुक्ति अध्ययन है। पाँचवी चूलिका का नाम निशीथ है, जो एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में निबद्ध है।

संक्षेप में इतना परिचय करा देने के पश्चात् अब हम यह देखना चाहेंगे कि इसकी क्या कुछ थोड़ी-बहुत समानता प्रस्तुत षट्खण्डागम से है। दोनों में जो थोड़ी-सी समानता दिखती है वह इस प्रकार है—

ष०ख० में पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत जो प्रकृति अनुयोगद्वार है उसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा की गई है। उसमें मनःपर्ययज्ञानावरणीय के प्रसंग में मनःपर्ययज्ञान का निरूपण करते हुए उसके ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय इन दो भेदों का निर्देश किया गया है। उनमें ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय दोनों के विषय विशेष का पृथक्-पृथक् विचार करते हुए कहा गया है कि ऋजुमतिमनःपर्यय अपने व दूसरे व्यक्त मनवाले जीवों के मनोगत अर्थो को जानता है, अव्यक्त मनवालों के मनोगत अभिप्राय को नहीं जानता है। पर विपुलमतिमनःपर्यय व्यक्त मनवाले

---

१. यद्यपि इसके पूर्व एक वाचना वीरनि० के पश्चात्, लगभग १६० वर्ष के बाद, पाटलिपुत्र में और तत्पश्चात् दूसरी वाचना वीरनि० के लगभग ८४० वर्ष बाद मथुरा में स्कन्दिलाचार्य के तत्त्वावधान में भी सम्पन्न हुई है। ठीक इसी समय एक अन्य वाचना वलभी में आचार्य नागार्जुन के तत्त्वावधान में भी सम्पन्न हुई है, पर इन वाचनाओं में व्यवस्थित रूप से उन्हें पुस्तकारूढ़ नहीं किया जा सका। इसका कारण सम्भवतः कुछ पारस्परिक मतभेद रहा है।

और अव्यक्त मनवाले दोनों के मनोगत अभिप्राय को जानता है।[1]

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत पूर्वोक्त पाँच चूलिकाओं में जो तीसरी भावना नाम की चूलिका है उसमें निर्युक्तिकार के द्वारा दर्शनविशुद्धि की कारणभूत दर्शनभावना, ज्ञानभावना, चारित्रभावना एवं तपोभावना आदि का स्वरूप प्रकट किया गया है। वहाँ चारित्र-भावना को अधिकृत मानकर उसके प्रसंग में भगवान् महावीर के गर्भ, जन्म, परिनिष्क्रमण (दीक्षा) और ज्ञान-कल्याणकों की प्ररूपणा की गई है।

इस प्रसंग में वहाँ यह कहा गया है कि भगवान् महावीर के क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र के प्राप्त हो जाने पर उनके मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। तव वे उसके द्वारा अढ़ाई द्वीपों और दो समुद्रों के भीतर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त व व्यक्त मनवाले जीवों के मनोगत भावों को जानने लगे।[2]

इस प्रकार मन:पर्ययज्ञान के विषय के सम्वन्ध में इन दोनों ग्रन्थों का अभिप्राय बहुत कुछ समान दिखता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि षट्खण्डागम में 'व्यक्त मनवाले' इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए सूत्र (६४ व ७३) में 'वत्तमाणाणं' पद का उपयोग किया गया है। वहाँ धवला में यह शंका उठायी गई है कि मन के लिए सूत्र में 'मान' शब्द का उपयोग क्यों किया गया है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि 'एए छच्च समाणा' इस सूत्र के आधार से मकारवर्ती आकार के दीर्घ हो जाने से मन के लिए 'माण' शव्द व्यवहृत हुआ है। आगे प्रकारान्तर से उन्होंने विकल्प के रूप में 'वत्तमाणाणं' पद का अर्थ 'वर्तमान जीवों के' ऐसा करके यह अभिप्राय भी व्यक्त किया है कि वह ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान वर्तमान जीवों के वर्तमान मनोगत तीनों कालों सम्वन्धी अर्थ को जानता है, अतीत-अनागत मनोगत विषय को नहीं जानता है।[3]

दूसरा प्रसंग केवलज्ञान का है—आचारांग में कहा गया है कि भगवान् महावीर के केवलज्ञान के प्रकट हो जाने पर वे देव, असुर व मनुष्यलोक की आगति, गति, चयन व उपपाद आदि को जानते देखते थे।

तुलना के लिए दोनों ग्रन्थगत उस प्रसंग को यहाँ दिया जाता है—

"सइं भगवं उप्पण्णणाण-दरिसी सदेवासुर-माणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं वंधं मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो[4] माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं

---

१. सूत्र ५,५,६०-७८ (पु० १३)

२. आचार द्वि० विभाग, पृ० ८८६; जैसाकि पीछे तत्त्वार्थवार्तिक के प्रसंग में कहा जा चुका है, त० वा० में भी इस सम्वन्ध में इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

"व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति, नाव्यक्तमनसाम्। व्यक्त: स्फुटीकृतोऽर्थश्चिन्तया सुनिर्वर्तितो यैस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैरर्थं चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति, नेतरै:।" त०वा० १, २३, ६, पृ० ५८ (सम्भव है धवलाकार के समक्ष उपर्युक्त आचारांग का और त०वा० का भी वह प्रसंग रहा हो)।

३. धवला पु० १३, पृ० ३३७

४. यहाँ भी मकारवर्ती आकार को दीर्घ हुआ समझना चाहिए।

अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।"

—ष०ख०, सूत्र ५,५,६८ (पु० १३, पृ०३४६)

"से भयवं अरहं जिणे जाणए केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेव-मणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ। तं जहा—आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणो माणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं जाणमाणो पासमाणो एवं णं विहरइ" ॥१८॥

—आचार० द्वि० विभाग, पृ० ८८८

दोनों ग्रन्थगत इन सन्दर्भों में रेखांकित पदों को देखिए जो भाषागत विशेषता को छोड़कर सर्वथा समान हैं, अभिप्राय में भी कुछ भेद नहीं है।

यहाँ यह विशेष स्मरणीय है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके द्वारा अर्थरूप से प्ररूपित तत्त्व का व्याख्यान उसी रूप में क्रम से केवलियों, श्रुतकेवलियों और इतर आरातीय आचार्यों की परम्परा से बहुत समय तक मौखिक रूप में चलता रहा। अन्त में भद्रबाहु श्रुतकेवली के पश्चात् दीर्घकालीन दुर्भिक्ष के समय भगवान् महावीर की अनुगामिनी परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गई। फिर भी कुछ समय तक तत्त्व का वह व्याख्यान उसी रूप में चलता रहा। पर उस दुर्भिक्ष के समय साधुसंघों के दक्षिण व उत्तर की ओर चले जाने पर वहाँ की भाषा आदि का प्रभाव उनके तत्त्वनिरूपण पर भी पड़ता रहा। अन्ततः उत्तरोत्तर होती हुई श्रुत की हानि को देखकर जब परम्परागत उस मौखिक तत्त्वप्ररूपणा को पुस्तकों के रूप में निबद्ध किया गया तब अपनी-अपनी स्मृति के आधार पर उस तत्त्व के व्याख्यान से सम्बद्ध गाथात्मक या गद्यात्मक सूत्र पुस्तकों के रूप में निबद्ध हो गये। इसलिए विवक्षित सन्दर्भ या वाक्य अमुक के द्वारा अमुक से लिये गये, यह निर्णय करना उचित न होगा। यह अवश्य है कि कुछ समय के पश्चात् विभिन्न देशों की भाषा, संस्कृति और ग्रन्थकारों की मनोवृत्ति अथवा सम्प्रदाय के व्यामोह वश उस तत्त्वप्ररूपणा पर भी प्रभाव पड़ा है व उसमें परिवर्तन एवं हीनाधिकता भी हुई है।

८. षट्खण्डागम और जीवसमास

'जीवसमास' यह एक संक्षेप में जीवों की विभिन्न अवस्थाओं की प्ररूपणा करनेवाला महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है। यह किसके द्वारा रचा गया, ज्ञात नहीं हो सका। ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था से प्रकाशित संस्करण में 'पूर्वभृत् सूरि सूत्रित' ऐसा निर्देश किया गया है। ग्रन्थ के प्रक्रियाबद्ध विषय के विवेचन की पद्धति और उसकी अर्थबहुल सुगठित संक्षिप्त रचना को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिता परम्परागत विशिष्ट श्रुत के पारंगत रहे हैं, क्योंकि इसके बिना ऐसी सुव्यवस्थित अर्थबहुल संक्षिप्त ग्रन्थरचना, जिसमें थोड़े-से शब्दों के द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की प्ररूपणा विस्तार से की गई हो, सम्भव नहीं दिखती। ग्रन्थ प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। इसकी समस्त गाथासंख्या २८६ है। इस प्रकार यह ग्रन्थप्रमाण में संक्षिप्त होकर भी अर्थ से गम्भीर व विस्तृत है।

इसमें सर्वप्रथम मंगलस्वरूप चौवीस जिनवरों को नमस्कार करते हुए जीवसमास के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। तत्पश्चात् निक्षेप, निर्युक्ति, छह अथवा आठ अनुयोगद्वारों एवं गति आदि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासों[1] को अनुगन्तव्य (ज्ञातव्य) कहा गया है।

---

१. 'जीवसमास' से दोनों ही ग्रन्थों में गुणस्थानों की विवक्षा रही है।

ये छह अनुयोगद्वार कौन-से हैं, उनके नामों का उल्लेख यद्यपि ग्रन्थ में नहीं किया गया है, फिर भी प्रश्नात्मक रूप में जो वहाँ संकेत किया गया है उससे वे (१) निर्देश, (२) स्वामित्व, (३) साधन, (४) अधिकरण, (५) काल और (६) विधान ये छह अनुयोगद्वार फलित होते है ।[1] जैसे—

(१) अमुक पदार्थ क्या है ? (निर्देश), (२) वह किसके होता है ? (स्वामित्व), (३) वह किसके द्वारा होता है ? (साधन), (४) वह कहाँ रहता है ? (अधिकरण), (५) वह कितने काल रहता है ? (स्थिति) और (६) वह कितने प्रकार का है ? (विधान) ।

आठ अनुयोगद्वारों का नामनिर्देश ग्रन्थ में ही कर दिया गया है ।[2]

आगे गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं और मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का निर्देश करते हुए उन्हें अनुगन्तव्य कहकर उक्त निक्षेप-निर्युक्ति आदि के द्वारा जान लेने की प्रेरणा की गई है (गा० ६-६) ।

इस प्रकार प्रारम्भिक भूमिका को बाँधकर आगे कृत प्रतिज्ञा के अनुसार ओघ और आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से उन सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से जीवों की विविध अवस्थाओं की प्ररूपणा की गई है ।

अब आगे हम यह देखना चाहेंगे कि 'जीवसमास' की प्रस्तुत षट्खण्डागम के साथ कितनी समानता है और कितनी विशेषता ।

१. ष०ख० के प्रथम खण्ड जीवस्थान में सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम इन आठ अनुयोगद्वारों (सूत्र १,१,७) के आश्रय से जीवसमासों (गुणस्थानों) का मार्गण (अन्वेषण) किया गया है ।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है 'जीवसमास' में भी उन्ही आठ अनुयोगद्वारों (गाथा ५) के आश्रय से जीवों के स्थानविशेषों का विचार किया गया है, इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में उन आठ अनुयोगद्वारों के विषय में सर्वथा समानता है ।

२. ष०ख० और 'जीवसमास' दोनों ग्रन्थों में ज्ञातव्य के रूप में निर्दिष्ट उन चौदह मार्गणाओं का भी उल्लेख समान शब्दों में इस प्रकार किया गया है—

"गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ।" —ष०ख० १,१,४ (पु० १)

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भव सम्मे सन्नि आहारे ॥—जीवसमास, गाथा ६

विशेषता इतनी है कि षट्खण्डागम में जहाँ उनका उल्लेख गद्यात्मक सूत्र में किया गया है

---

१. किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कइविहो उ भावो त्ति ।
छहि अणुओगद्दारेहिं सव्वे भावाऽणुगंतव्वा ॥—गाथा ४
(तत्त्वार्थसूत्र मे इन छह अनुयोगद्वारों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः ।—(१-७)

२. संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्त-फुसणा य ।
कालंतरं च भावो अप्पाबहुअं च दाराइं ॥—गाथा ५

वहाँ 'जीवसमास' में वह गाथा के रूप में हुआ है।

३. षट्खण्डागम में आगे उस सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में ओघ की अपेक्षा 'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी' इत्यादि के क्रम से पृथक्-पृथक् सूत्रों के द्वारा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का उल्लेख है। सूत्र १,१,९-२२ (पु० १)

'जीवसमास' में भी उसी प्रकार से सत्प्ररूपणा के प्रसंग में मिथ्यात्व आदि चौदह गुण-स्थानों का उल्लेख किया गया है। (गाथा ७-९)

४. षट्खण्डागम में आगे उसी सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थानों के सद्भाव को दिखलाते हुए जीवों के स्वरूप आदि का विचार किया गया है। (सूत्र १,१,२४-१७७)

'जीवसमास' में भी उसी प्रकार से आदेश की अपेक्षा उस सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत अन्य प्रासंगिक विवेचन के साथ यथा योग्य जीवों के स्वरूप व भेद-प्रभेदादि का विचार किया गया है। जैसे—नरकगति के प्रसंग में सातों नरकों व धर्मावंशादि सातों पृथिवियों तथा मनुष्यगति के प्रसंग में कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और आर्यम्लेच्छादि का विचार इत्यादि। (गाथा १०-८४)

ष० ख० में वहाँ उन अवान्तर भेदों आदि का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। उन सबकी विस्तृत प्ररूपणा यथाप्रसंग उसकी टीका धवला में की गई है।

'जीवसमास' की यह एक विशेषता ही रही है कि वहाँ संक्षेप में विस्तृत अर्थ की प्ररूपणा कर दी गई है। उदाहरण के रूप में दोनों ग्रन्थगत संज्ञी मार्गणा का यह प्रसंग द्रष्टव्य है—

"सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी। सण्णी मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीय-रायछदुमत्था त्ति। असण्णी एइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति।"

—ष०ख०, सूत्र १,१,१७२-७४

अस्सण्णि अमणपंचिंदियंत सण्णी उ समण छउमत्था।
णो सण्णि णो असण्णी केवलणाणी उ विण्णेया॥

—जीवसमास ८१

ष० ख० के उपर्युक्त ३ सूत्रों में इतना मात्र कहा गया है कि संज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं और असंज्ञी जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं।

यह पूरा अभिप्राय 'जीवसमास' की उपर्युक्त गाथा के पूर्वार्ध में ही प्रकट कर दिया गया है। साथ ही वहाँ संज्ञी असंज्ञी जीवों के स्वरूप को भी प्रकट कर दिया गया है कि जो जीव मन से सहित होते हैं वे संज्ञी और जो उस मन से रहित होते हैं वे असंज्ञी कहलाते हैं। वहाँ 'छद्मस्थ' इतना मात्र कहने से मिथ्यादृष्टि आदि बारह गुणस्थानों का ग्रहण हो जाता है। उन गुणस्थानों के नामों का निर्देश दोनों ग्रन्थों में पूर्व में किया ही जा चुका है।

केवली संज्ञी होते हैं कि असंज्ञी, इसे ष०ख० में स्पष्ट नहीं किया गया है। पर 'जीवसमास' की उपर्युक्त गाथा के उत्तरार्ध में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि केवली न तो संज्ञी होते हैं और न ही असंज्ञी, क्योंकि वे मन से रहित हो चुके हैं।

इसी प्रकार इसके पूर्व कायमार्गण के प्रसंग में ष० ख० में प्रसंगप्राप्त पृथिवीकाय आदि के भेदों, योनियों, कुलकोटियों एवं त्रसकायिकों के संस्थान व संहनन आदि का कुछ विचार नहीं

किया गया पर जीवसमास में उस सबका भी विशद विचार किया गया है।[1] (गा० २६-५४)

५. ष० ख० में जीवस्थान के अन्तर्गत दूसरे द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार में मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या को प्रकट करते हुए ये सूत्र कहे गये हैं—

"ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता । अणताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण । खेत्तेण अणंताणंता लोगा ।" —सूत्र १,२,२-४ (पु० ३)

इन सूत्रों के उसी अभिप्राय को जीवसमास में एक गाथा के द्वारा उन्हीं शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर दिया गया है—

मिच्छादव्वमणंता कालेणोसप्पिणी अणंताओ ।
खेत्तेण मिज्जमाणा हवंति लोगा अणंताओ (उ) ॥ —गा० १४४

६. ष० ख० में ओघ से मिथ्यादृष्टि आदि जीवों के क्षेत्रप्रमाण के प्ररूपक ये सूत्र हैं—

"ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे । सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभाए । सजोगिकेवली केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभाए असंखेज्जेसु वा भागेसु सव्लोगे वा ।" —ष०ख०, सू० १,३,२-४ (पु० ४)

'जीवसमास' में इस क्षेत्रप्रमाण को एक ही गाथा में इस प्रकार से व्यक्त कर दिया गया है—

मिच्छा य सव्वलोए असंखभागे य सेस या हुंति ।
केवलि असंखभागे भागेसु व सव्वलोए वा ॥ —गाथा १७८

दोनों ग्रन्थों में क्षेत्र-प्रमाण विषयक यह अभिप्राय तो समान है ही, साथ ही शब्द भी प्रायः वे ही हैं व क्रम भी वही है। विशेष इतना है कि 'जीवसमास' में उसे ष०ख० के समान प्रश्नपूर्वक स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त 'सासादन से लेकर अयोगिकेवली तक' इस अभिप्राय को वहाँ एक 'शेष' शब्द में ही प्रकट कर दिया गया है।

७. ष०ख० में जीवस्थान के अन्तर्गत चौथे स्पर्शनानुगम अनुयोगद्वार में मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों के स्पर्शनक्षेत्र को इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"ओघेण मिच्छादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? सव्वलोगो । सासणसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो । अट्ठ बारह चोद्दस भागा वा देसूणा । सम्मामिच्छा-

---

१. इन सबकी प्ररूपणा मूलाचार में की गई है। जैसे—पृथिवी आदि के भेद गाथा ५,८-२२; कुल ५, २४-२८ व १२, १६६-६९; योनि १२,५८-६३; इन सबकी प्ररूपणा से सम्बद्ध अधिकांश गाथाएँ मूलाचार व जीवसमास में शब्दशः समान उपलब्ध होती हैं।

पृथिवी आदि के भेद— मूलाचार ५,९-१९ व जीवसमास २७-३७
कुल ,, ५,२४-२६ ,, ४०-४२
योनि ,, १२,५८-६० ,, ४५-४७

मूलाचार गाथा १२,१२-१५ और जीवसमास गाथा ३०-३३ का पूर्वार्ध समान है, उत्तरार्ध भिन्न है। जैसे—

मूलाचार—'ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥'
जीवसमास—'वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं णत्थि ते भेया ॥'
(मूलाचार में पुढवि के स्थान में आगे क्रम से 'आऊ, तेऊ' और 'वाऊ' पाठ है)

इट्ठि-असंजदसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। अट्ठ चोद्दस भागा वा देसूणा। संजदासंजदेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। छ चोद्दस भागा वा देसूणा। पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगिकेवलीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। सजोगिकेवलीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जा वा भागा सव्वलोगो वा।" —सूत्र १,४,२-१० (पु० ४)

'जीवसमास' में इसी स्पर्शनक्षेत्र के प्रमाण को डेढ गाथा में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

मिच्छेहि सव्वलोओ सासण-मिस्सेहि अजय-देसेहि।
पुट्ठा चउदस भागा बारस अट्ठट्ठ छच्चे व॥
सेसेहऽसंख भागो फुसिओ लोगो सजोगिकेवलिहिं।

—जीवसमास, गाथा १९५-९६

इसी पद्धति से आगे काल, अन्तर और भाव की भी प्ररूपणा दोनों ग्रन्थों में क्रम से की गई है। विशेषता वही रही है कि प० ख० में जहाँ वह प्ररूपणा प्रश्नोत्तर के साथ पृथक्-पृथक् रूप से की जाने के कारण अधिक विस्तृत हुई है वहाँ वह बहुत कुछ संक्षिप्त रही है।

ऐसा होते हुए भी, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, उन गति आदि चौदह मार्गणाओं के प्रसंग में 'जीवसमास' में ष०ख० की अपेक्षा अन्य प्रासंगिक विषयों की भी थोड़ी-सी चर्चा हुई है, जिसका विवेचन ष० ख० में नहीं मिलता है।

इतना विशेष है कि दोनों ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय के विवेचन की पद्धति और क्रम के समान होने पर भी ष० ख० में जहाँ उक्त आठों अनुयोगद्वारों में यथाक्रम से सभी मार्गणाओं का आश्रय लिया गया है वहाँ 'जीवसमास' में उन अनुयोगद्वारों के प्रसंग में प्रारम्भ में एक-दो मार्गणाओं के आश्रय से विवक्षित विषय को स्पष्ट करके आगे कुशलबुद्धि जनों से स्वयं वहाँ अनुक्त विषय के जान लेने की प्रेरणा कर दी गई है। जैसे कालानुगम के प्रसंग में वहाँ प्रतिपाद्य विषय का कुछ विवेचन करके आगे यह सूचना की गई है—

एत्थ य जीवसमासे अणुमज्जिय सुहुम-निउणमइकुसले।
सुहुमं कालविभागं विमएज्ज सुयम्मि उवजुत्तो॥२४॥

अभिप्राय यही है कि यहाँ 'जीवसमास' में जो प्रसंगप्राप्त सूक्ष्मकालविभाग की चर्चा नहीं की गई है उसका अन्वेषण श्रुत में उपयुक्त होकर निपुणमतियों को अनुमान से स्वयं करना चाहिए।

८. ष० ख० में दूसरे क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत जो ग्यारह अनुयोगद्वार हैं उनमें अन्तिम अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार है। वहाँ यथाक्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है। उस प्रसंग में वहाँ गतिमार्गणा में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः पाँच गतियों का उल्लेख है और उनमें उस अल्पबहुत्व को इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"अप्पाबहुगाणुगमेण गदियाणुवादेण पंच गदीओ समासेण। सव्वत्थोवा मणुसा। णेरइया असंखेज्जगुणा। देवा असंखेज्जगुणा। सिद्धा अणंतगुणा। तिरिक्खा अणंतगुणा।"

—सूत्र २,११,१-६ (पु० ७)

जीवसमास में यही अल्पबहुत्व प्रायः उन्हीं शब्दों में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

थोवा नरा नरेहि य असंखगुणिया हवंति नेरइया।
तत्तो सुरा सुरेहि य सिद्धाऽणंता तओ तिरिया ॥२७१॥

ष० ख० में आगे इसी प्रसंग में आठ गतियों का निर्देश करते हुए उनमें अल्पबहुत्व को इस प्रकार प्रकट किया है—

"अट्ठ गदीओ समासेण। सव्वत्थोवा मणुस्सिणीओ। मणुस्सा असंखेज्जगुणा। णेरइया असंखेज्जगुणा। पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ। देवा संखेज्जगुणा। देवीओ संखेज्जगुणाओ। सिद्धा अणंतगुणा। तिरिक्खा अणंतगुणा।" —सूत्र २,११, ७-१५ (पु० ७)

'जीवसमास' में भी इस अल्पबहुत्व को देखिए—

थोवाउ मणुस्सीओ नर-नरय-तिरिक्खिओ असंखगुणा।
सुर-देवी संखगुणा सिद्धा तिरिया अणंतगुणा ॥२७२॥

इस प्रकार से इस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समान है। विशेषता यह रही है कि ष० ख० में जहाँ मनुष्य, नारक और तिर्यंचनियों के वह अल्पबहुत्व पृथक्-पृथक् ३ सूत्रों में निर्दिष्ट किया है वहाँ जीवसमास में उसे संक्षेप में 'नर-नरय-तिरिक्खिओ असंखगुणा' इतने गाथांश में द्वन्द्व समास के आश्रय से प्रकट कर दिया गया है। इसी प्रकार ष० ख० में देव और देवियों में वह अल्पबहुत्व २ सूत्रों में तथा सिद्धों और तिर्यंचों के विषय में भी वह पृथक्-पृथक् २ सूत्रों में प्रकट किया गया है। किन्तु 'जीवसमास' में समस्त पदों के आश्रय से संक्षेप में ही उसकी प्ररूपणा कर दी गई है। इतना संक्षेप होने पर भी अभिप्राय में कुछ भेद नहीं दिखाई देता।

उपसंहार

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में विषय-विवेचन की प्रक्रिया और प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा में बहुत कुछ समानता देखी जाती है। विशेषता यह रही है कि ष० ख० में जिस प्रकार आगे द्रव्यप्रमाणानुगम आदि अनुयोगद्वारों के प्रसंग में पृथक्-पृथक् यथाक्रम से गति आदि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से विवक्षित द्रव्यप्रमाण आदि की प्ररूपणा है उस प्रकार से 'जीवसमास' में सभी मार्गणाओं के आश्रय से उन की प्ररूपणा नहीं की गई है। फिर भी वहाँ विवक्षित विषय से सम्बन्धित अन्य प्रासंगिक अनेक विषयों को स्पष्ट कर दिया गया है, जिनकी प्ररूपणा ष० ख० में उन प्रसंगों में नहीं है।

उदाहरण के रूप में द्रव्यप्रमाण को ही ले लीजिए। 'जीवसमास' में वहाँ द्रव्यप्रमाण के निरूपण के पूर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से प्रमाण के चार भेदों का निर्देश करते हुए आगे स्वरूप के निर्देशपूर्वक उनके कितने ही अवान्तर भेदों को भी स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् ष० ख० के समान ओघ की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या को प्रकट किया गया है। अनन्तर गतिमार्गणा के प्रसंग में नारकियों आदि की संख्या दिखलाते हुए कायमार्गणा से सम्बद्ध वादर पृथिवीकायिक आदि जीवों की संख्या को प्रकट किया गया है।—गाथा ८७-१६५ (द्रव्य-क्षेत्रादिप्रमाण ५७+गुण-संख्या ५+बादर पृथिवी आदि संख्या १७)

ष०ख० में उस द्रव्यप्रमाणानुगम के प्रसंग में प्रमाण के भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण 'जीवसमास' के समान नहीं हुआ है।

प्रसंग के अन्त में जीवसमास में वहाँ यह सूचना कर दी गई है कि आगे प्रकृत द्रव्यप्रमाण को अनुमानपूर्वक स्वयं जान लेना चाहिए। यथा—

एवं जे जे भावा जहिं जहिं हुंति पंचसु गदीसु।
ते ते अणुमज्जित्ता दव्वपमाणं नए धीरा॥१६६॥

यही पद्धति वहाँ प्रायः आगे क्षेत्र (१६८-८१ पृ०), स्पर्शन (१८१ उ०-२००), काल (२०१-४२), अन्तर (२४३-६४), भाव (२६५-७०) और अल्पबहुत्व (२७१-८४) की भी प्ररूपणा में अपनाई गई है।

भावानुगम के प्रसंग में वहाँ औपशमिकादि पाँच भावों के साथ सांनिपातिक भाव को भी ग्रहण करके उसके छह भेद प्रकट किये गये हैं तथा आगे त० सूत्र (२, ३-७) के समान उनके अवान्तर भेदों का भी उल्लेख किया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल को पारिणामिक भाव तथा स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु को परिणामोदय से उत्पन्न होनेवाले कहा गया है। इस कथन के साथ भावानुगम अनुयोगद्वार को समाप्त कर दिया गया है (२६५-७०)।

इसके पूर्व वहाँ कालानुगम के प्रसंग में एक और नाना जीवों की अपेक्षा आयु, कायस्थिति और गुणविभाग काल की प्ररूपणा कुछ विस्तार से की गई है। अन्त में वहाँ जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, सूक्ष्म कालविभाग को अनुमानपूर्वक जान लेने के लिए निपुणमतियों को सूचना कर दी गई है (२४०)।

इस प्रकार ष० ख० में जहाँ उक्त सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में प्रसंगप्राप्त विषय की प्ररूपणा विशदतापूर्वक विस्तार से की गई है वहाँ जीवसमास में उन्हीं अनुयोगद्वारों में प्रतिपाद्य विषय का विवेचन प्रायः संक्षेप में किया गया है। फिर भी कहीं-कहीं पर वहाँ अन्य प्रासंगिक विषयों का विवेचन ष० ख० की अपेक्षा अधिक हो गया है। यह पीछे द्रव्यप्रमाणुगम के प्रसंग में स्पष्ट किया ही जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'जीवसमास' यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो अनेक विषयों की प्ररूपणा में प्रस्तुत षट्खण्डागम से समानता रखता हुआ कुछ विशेषता भी रखता है। इन दोनों ग्रन्थों के पूर्वापर कालवर्तित्व का निश्चय यद्यपि नहीं है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें किसी एक का प्रभाव दूसरे पर अवश्य रहा है, अन्यथा समान रूप में उस प्रकार की विषय विवेचन की पद्धति व प्रतिपाद्य की क्रमबद्ध प्ररूपणा सम्भव नहीं दिखती।

९. षट्खण्डागम और पण्णवणा (प्रज्ञापना)

श्यामार्य विरचित प्रज्ञापना को चौथा उपांग माना जाता है। श्यामार्य का ग्रन्थकर्तृत्व व समय प्रायः अनिर्णीत है।[1] वह एक आगमानुसारी ग्रन्थ है। 'महावीर जैन विद्यालय' से प्रकाशित उसके संस्करण में सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठिनमस्कारात्म मंगलगाथा को कोष्ठक [ ] के भीतर रखा गया है।[2] उसे कोष्ठक में रखने का कारण वहाँ टिप्पण में यह प्रकट किया गया

---

१. गुजराती प्रस्तावना पृ० २२-२५

२. यह पंचपरमेष्ठि नमस्कारात्मक गाथासूत्र षट्खण्डागम के प्रारम्भ में मंगलगाथा के रूप में उपलब्ध होता है। धवलाकार ने उसे सकारण मंगलआदि छह का प्ररूपक बतलाया है।—धवला पु० १, पृ० ८ पर मंगलसूत्र की उत्थानिका।

है कि वह यद्यपि मूल सूत्रादर्श सभी प्रतियों में उपलब्ध है, किन्तु उसकी व्याख्या हरिभद्र सूरि और मलयगिरि सूरि के द्वारा अपनी अपनी वृत्ति में नहीं की गई है। तत्पश्चात् सिद्धों के अभिनन्दनपूर्वक महावीर जिनेन्द्र की वन्दना की गई है। आगे कहा गया है कि 'भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा समस्त भावों की प्रज्ञापना दिखलायी गई है। दृष्टिवाद से निकले हुए इस अध्ययन का वर्णन जिस प्रकार से भगवान् ने किया है उसी प्रकार से मैं भी उसका वर्णन करूँगा' (गाथा १-३)। आगे ग्रन्थकार ने उसमें यथाक्रम से चर्चित इन छत्तीस पदों का निर्देश किया है—

(१) प्रज्ञापना, (२) स्थान, (३) बहुवक्तव्य, (४) स्थिति, (५) विशेष, (६) व्युत्क्रान्ति, (७) उच्छ्वास, (८) संज्ञा, (९) योनि, (१०) चरम, (११) भाषा, (१२) शरीर, (१३) परिणाम, (१४) कषाय, (१५) इन्द्रिय, (१६) प्रयोग, (१७) लेश्या, (१८) कायस्थिति, (१९) सम्यक्त्व, (२०) अन्तःक्रिया, (२१) अवगाहना संस्थान, (२२) क्रिया, (२३) कर्म, (२४) कर्मबन्धक, (२५) कर्मवेदक, (२६) वेदबन्धक, (२७) आहार, (२८) वेदवेदक. (२९) उपयोग, (३०) स्पर्शन, (३१) संज्ञी, (३२) संयम, (३३) अवधि, (३४) प्रवीचार, (३५) वेदना और (३६) समुद्घात (४-७)।

आगे वहाँ यथाक्रम से उन ३६ पदों के अन्तर्गत विषय का विवेचन किया गया है। परन्तु विवक्षित पद में वर्णनीय विषय का दिग्दर्शन कराते हुए उसके अन्तर्गत भेद-प्रभेदों का जिस क्रम से उल्लेख किया गया है उनकी प्ररूपणा में कहीं-कहीं क्रमभंग भी हुआ है।[1] इसका कारण उन भेद-प्रभेदों की अल्पवर्णनीयता व बहुवर्णनीयता रहा है। तदनुसार निर्दिष्ट क्रम की उपेक्षा करके वहाँ कहीं-कहीं अल्पवर्णनीय की प्ररूपणा पूर्व में की गई है और तत्पश्चात् बहुवर्णनीय की प्ररूपणा की गई है। यथा—

सूत्र ३ में प्रज्ञापना के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जीव-प्रज्ञापना और अजीव प्रज्ञापना। इनमें अल्पवर्णनीय होने से प्रथमतः अजीव-प्रज्ञापना की प्ररूपणा की गई है (सूत्र ४-१३) और तत्पश्चात् जीव-प्रज्ञापना की प्ररूपणा है (१४-१४७)। इसी प्रकार रूपी अजीव-प्ररूपणा (६-१३) और अरूपी अजीवप्ररूपणा (५) में भी क्रम का भंग हुआ है। आगे और भी कितने ही ऐसे स्थल हैं जहाँ क्रमभंग हुआ है।

यह विशेष स्मरणीय है कि ष० ख० और प्रज्ञापना दोनों ही ग्रन्थ लक्षणप्रधान नहीं रहे हैं, उनमें विवक्षित किसी विषय के स्वरूप को न दिखलाकर केवल उससे सम्बन्धित अनुयोगद्वारों अथवा भेद-प्रभेदों का ही उल्लेख है।

प्रज्ञापना में विवक्षित विषय की प्ररूपणा गौतम के प्रश्न पर भगवान् (महावीर) के द्वारा किये गये उसके समाधान के रूप में की गई है। पर उसके प्रथम पद 'प्रज्ञापन' में वह

---

१. क्रमभंग की यह पद्धति कहीं ष० ख० में भी देखी जाती है, पर वहाँ उसकी सूचना कर दी गई है। जैसे—जा सा कम्मपयडी णाम सा थप्पा (सूत्र ५,५,१६)। जा सा थप्पा कम्मपयडी णाम सा अट्ठविहा—णाणावरणीय कम्मपयडी ···(सूत्र ५.५, १९)। सूत्र ५,५,१६ की व्याख्या में धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है—'स्थाप्या। कुदो? बहुवण्णणिज्जत्तादो।' पु० १३, पृ० २०४। आगे सूत्र ५,६,१० व २४; ५,६,२७ व ३८; ५,६,२९ व ३२ तथा ५,६,३९ व ६४ आदि।

प्रश्नोत्तर की पद्धति नहीं उपलब्ध होती है। वहाँ प्राय: गौतम और भगवान् महावीर के उल्लेख के बिना सामान्य से ही प्रश्न व उसका उत्तर देखा जाता है। यथा—"से किं तं पण्णवणा ? पण्णवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—जीवपण्णवणा य ? अजीवपण्णवणा य"।[1]

यही पद्धति इस पद में सर्वत्र अपनाई गई है। आगे 'स्थान' आदि पदों में गौतम द्वारा प्रश्न और भगवान् के द्वारा किये गये उसके समाधान के रूप में वह पद्धति देखी जाती है।

इस प्रकार संक्षेप में प्रज्ञापनासूत्र का परिचय कराकर अब आगे उसकी षट्खण्डागम के साथ कहाँ कितनी समानता है और कितनी विशेषता है, इसका विचार किया जाता है—

१. षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड 'जीवस्थान' में विभिन्न जीवों में चौदह मार्गणाओं के आश्रय से चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) का अन्वेषण करना अभीष्ट रहा है। इसके लिए वहाँ प्रारम्भ में गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के नामों का निर्देश ज्ञातव्य के रूप में किया गया है (सूत्र १,१,२-४)।

प्रज्ञापना में 'बहुवक्तव्य' नाम का तीसरा पद है। उसमें दिशा व गति आदि छब्बीस द्वारों के आश्रय से जीव-अजीवों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है। उन द्वारों के नामों में प्रस्तुत षट्खण्डागम में निर्दिष्ट १४ मार्गणाओं के नाम गर्भित है। यथा—

षट्खण्डागम सूत्र १,१,४	प्रज्ञापना सूत्र २१२ (गाथा १८०-८१)
१. गति	१. दिशा
२. इन्द्रिय	२. गति (१)
३. काय	३. इन्द्रिय (२)
४. योग	४. काय (३)
५. वेद	५. योग (४)
६. कषाय	६. वेद (५)
७. ज्ञान	७. कषाय (६)
८. संयम	८. लेश्या (१०)
९. दर्शन	९. सम्यक्त्व (१२)
१०. लेश्या	१०. ज्ञान (७)
११. भव्यत्व	११. दर्शन (९)
१२. सम्यक्त्व	१२. संयत (८)
१३. संज्ञी	१३. उपयोग
१४. आहार	१४. आहार (१४)
	१५. भाषक
	१६. परीत
	१७. पर्याप्त
	१८. सूक्ष्म
	१९. संज्ञी (१३)

१. सूत्र ८२ व ८३ इसके अपवाद हैं।

२०. भव (भवसिद्धिय-
अभवसिद्धिय) (११)
२१. अस्तिकाय
२२. चरम
२३. जीव
२४. क्षेत्र
२५. बन्ध
२६. पुद्गल

इस प्रकार षट्खण्डागम के अन्तर्गत उन १४ मार्गणाओं की अपेक्षा ये १२ द्वार प्रज्ञापना में अधिक हैं—दिशा (१), उपयोग (१३), भाषक (१५), परीत (१६), पर्याप्त (१७), सूक्ष्म (१८), अस्तिकाय (२१), चरम (२२), जीव (२३), क्षेत्र (२४), बन्ध (२५) और पुद्गल (२६)।

इस प्रकार प्रज्ञापना में जो इन द्वारों के आश्रय से जीवों, अजीवों और जीव-अजीवों में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है उसमें षट्खण्डागम की अपेक्षा अधिक विकास हुआ है।

आगे प्रज्ञापना में १८वें 'कायस्थिति' पद के प्रारम्भ में जिन २२ द्वारों का निर्देश किया गया है उनमें भी षट्खण्डागम में निर्दिष्ट उन गति-इन्द्रियादि १४ मार्गणाओं के नाम उपलब्ध होते हैं। ये २२ द्वार प्रज्ञापना के पूर्वोक्त 'बहुवक्तव्य' पद के २६ द्वारों में भी गर्भित हैं। यहाँ उन २६ द्वारों में से दिशा (१), क्षेत्र (२४), बन्ध (२५) और पुद्गल (२६) ये चार द्वार नहीं हैं। उन २२ द्वारों का नाम निर्देश करते हुए वहाँ कहा गया है कि इन पदों की कायस्थिति ज्ञातव्य है। (प्रज्ञापनासूत्र १२५९, गाथा २११-१२)

२. षट्खण्डागम में चौदह जीवसमासों की प्ररूपणा में प्रयोजनीभूत सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों का उल्लेख करते हुए (१,१,७) आगे यथाक्रम से उनकी प्ररूपणा है।

प्रज्ञापना में जैसाकि ऊपर ग्रन्थपरिचय में कहा जा चुका है, षट्खण्डागम के समान आगे जिन ३६ पदों के आश्रय से जीव-अजीवों की प्ररूपणा की जानेवाली है उनका निर्देश प्रारम्भ में कर दिया गया है। (गाथा ४-७)

इस प्रसंग में इन दोनों ग्रन्थों में विशेषता यह रही है कि षट्खण्डागम में जहाँ उन सत्प्ररूपणा आदि अधिकारों का उल्लेख 'अनुयोगद्वार' के नाम से करते हुए उनकी 'आठ' संख्या का भी निर्देश कर दिया गया है (१ १,५-७) वहाँ प्रज्ञापना में उन द्वारों का उल्लेख न तो 'पद' इस नाम से किया गया है और न उनकी उस 'छत्तीस' संख्या का भी निर्देश किया गया है (४-७)।

३. षट्खण्डागम में आगे कृत प्रतिज्ञा के अनुसार यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में वर्तमान जीवविशेषों के सत्व को दिखाकर उनमें गुणस्थानों का मार्गण किया गया है। (सूत्र १,१,२४-१७७, पु० १)

प्रज्ञापना में जो प्रथम 'प्रज्ञापना' पद है उसके अन्तर्गत जीवप्रज्ञापना और अजीवप्रज्ञापना में से जीवप्रज्ञापना की प्ररूपणा करते हुए उसके ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना और असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। उनमें संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना के प्रसंग में संसारी जीवों के एकेन्द्रियादि भेद-प्रभेदों को प्रकट किया गया है। (सूत्र १८-१४७)

दोनों ग्रन्थगत तद्विषयक समानता को प्रकट करने के लिए यहाँ यह उदाहरण दिया जाता है—षट्खण्डागम में कायमार्गणा के प्रसंग में वनस्पतिकायिक जीवों के भेद-प्रभेदों का उल्लेख इस प्रकार से है—

"वणप्फइकाइया दुविहा—पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा—वादरा सुहुमा। वादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।" —सूत्र १,१,४१

प्रज्ञापना में एकेन्द्रियजीवप्रज्ञापना के प्रसंग में इन भेदों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"से किं तं वणस्सइकाइया? वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—सुहुमवणस्सइ-काइया य वादर-वणस्सतिकाइया य। से किं तं सुहुमवणस्सइकाइया? सुहुमवण्णस्सइकाइया दुविहा पन्नत्ता। तं जहा—पज्जत्तसुहुमवणस्सइकाइया य अपज्जत्तसुहुमवणस्सइकाइया य। से तं सुहुमवणस्सइकाइया। से किं तं वादर-वणस्सइकाइया? वादरवणप्फइकाइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पत्तेयसरीरवादरवणप्फइकाइया य साहारणसरीर-वादरवणप्फइकाइया य। से किं तं पत्तेयसरीरवादरवणप्फइकाइया? पत्तेयसरीरवादरवणप्फइकाइया दुवालसविहा पन्नता।" तं जहा—

रुक्खा गुच्छा गुम्मा लता य वल्ली य पव्वगा चेय।
तण वलय हरिय ओसहि जलरुह कुहणा य बोधव्वा॥

—प्रज्ञापना सूत्र ३५-३८, गाथा १२

आगे प्रसंगप्राप्त इन बारह वादर प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जीवभेदों को स्पष्ट करके (सूत्र३९-५३) तत्पश्चात् साधारण शरीर वादर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। (सू०५४-५५ गाथा ४७-१०९)

इस प्रकार षट्खण्डागम में वनस्पतिकायिक जीवों के जिन प्रत्येकशरीर, साधारणशरीर, पर्याप्त-अपर्याप्त और वादर-सूक्ष्म भेदों का निर्देश किया गया है वे प्रज्ञापना में निर्दिष्ट उपर्युक्त भेदों के अन्तर्गत हैं। पर प्रज्ञापना में उन प्रत्येक व साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीवों के जिन अनेक जातिभेदों का उल्लेख है वह षट्खण्डागम में नहीं मिलता है। सम्भवतः प्रज्ञापना-कार द्वारा उन्हें पीछे विकसित किया गया है। उन भेदों का अधिकांश उल्लेख गाथाओं में ही किया गया है।

सम्भवतः उपर्युक्त वे सब भेद निर्युक्तियों में भी नहीं निर्दिष्ट किये गये। उदाहरण के रूप में आचारांगनिर्युक्ति को लिया जा सकता है। उसमें ये दो गाथाएँ उपलब्ध होती हैं—

रुक्खा गुच्छा गुम्मा लया य वल्ली य पव्वगा चेव।
तण वलय हरित ओसहि जलरुह कुहणा य बोद्धव्वा॥

अग्गबीया मूलबीया खंधबीया चेव पोरबीयाय।
बीयरुहा सम्मुच्छिम समासओ वयस्सई जीवा॥

—आचा० नि० १२९-३०

इनमें प्रत्येकशरीर वादर वनस्पतिकायिकों के बारह भेदों की निर्देशक प्रथम गाथा प्रज्ञापना (गा० १२) में उपलब्ध होती है, यह पहिले कहा जा चुका है। पर आगे प्रज्ञापना में जिन अन्य गाथाओं (१३-४७) के द्वारा उन बारह भेदों के अन्तर्गत अन्य भेद-प्रभेदों का

उल्लेख किया गया है वे गाथाएँ आचारांग निर्युक्ति में नहीं उपलब्ध होती हैं।

दूसरी गाथा के समकक्ष एक गाथा प्रायः समान रूप में मूलाचार (५-१६) दि० पंचसंग्रह (१-८१) और जीवसमास (३४) में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

मूलग्ग-पोरबीजा कंदा तह खंदबीज-बीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥

इसके आगे इसी प्रसंग में आचारांगनिर्युक्ति (१३८) में एक अन्य गाथा इस प्रकार उपलब्ध होती है—

जीणिब्भूए बीए जीवो वक्कमइ सोव अण्णो वा।
जो वि य मूले जीवो सोच्चिय पत्ते पढमयाए ॥[1]

यह गाथा (सूत्र ५४, गा० ९७) प्रज्ञापना में भी उपलब्ध होती है।

इसके अतिरिक्त आचारांगनिर्युक्ति में आगे ये दो गाथाएँ और भी देखी जाती हैं—

गूढसिर-संधि समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥१४०॥
सेवाल पणग किण्हग कवया कुहुणा य वायरो काओ।
सव्वो य सुहुमकाओ सव्वत्थ जलत्थलागासे ॥१४१॥

ये दोनों गाथाएँ 'मूलाचार' (५-१९ व १८) और 'जीवसमास' (३७ व ३६) में भी विपरीत क्रम से उपलब्ध होती हैं।

'प्रज्ञापना' में ये दोनों गाथाएँ तो दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किन्तु उपर्युक्त गाथा १४० में जो साधारणकाय की पहिचान तोड़ने पर 'समानभंग' निर्दिष्ट की गई है उसकी व्याख्या-स्वरूप (भाष्यगाथात्मक) १० गाथाएँ (सूत्र ५४, गा० ५६-६५) वहाँ अवश्य देखी जाती हैं। इसी प्रकार उक्त गाथा में आगे उसी साधारण-शरीर की पहिचान 'अहीरुह—समच्छेद' शब्दान्तर से भी प्रकट की गई है। उसके विपरीत 'प्रज्ञापना' में प्रत्येकशरीर के स्वरूप को प्रकट करनेवाली १० गाथाओं (सूत्र ५४, गा० ६६-७५) में से एक में 'हीरो—विषमच्छेद' को ग्रहण कर उसके आधार से प्रत्येकशरीर को स्पष्ट किया गया है। इन गाथाओं को भी भाष्य-गाथा जैसी समझना चाहिए।

आगे 'प्रज्ञापना' में पर्याप्त जीवों के आश्रित अपर्याप्त जीवों की उत्पत्ति को दिखलाते हुए कहा है—"एएसिं णं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ। तं जहा"—और फिर आगे तीन गाथाएँ (१०७-९) और दी गई हैं।

इस कथन से इतना तो स्पष्ट है कि प्रज्ञापनाकार ने इन गाथाओं को कहीं अन्यत्र से उद्धृत किया है। पर किस ग्रन्थ से उन्हें उद्धृत किया है, यह अन्वेषणीय है। इन गाथाओं में कन्द आदि उन्नीस वनस्पति-भेदों को स्पष्ट किया गया है (सूत्र ५५, [३])। इनमें पूर्वोक्त आचारांग निर्युक्ति (१४१) के अन्तर्गत 'सेवाल, पणग, किण्हग' ये भेद समाविष्ट हैं।

ऐसा ही एक प्रसंग वहाँ आगे वानव्यन्तरों की स्थानप्ररूपणा में भी देखा जाता है। वहाँ

---

१. यह गाथा "बीजे जोणीभूदे जीवो" इस रूप में 'वुत्तं च' कह कर धवला में उद्धृत की गई है। (पु० १४, पृ० २३२); इसी रूप में उसे गो० जीवकाण्ड (१८९) में आत्मसात् किया गया है।

'संगहणिगाहा' ऐसा निर्देश करते हुए तीन (१५१-५३) गाथाओं को उद्धृत किया गया है।
(सूत्र १६४)

४. ष० ख० में आगे पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'वन्धन' अनुयोगद्वार में पुनः वह प्रसंग प्राप्त हुआ है। वहाँ शरीरिशरीर-प्ररूपणा के प्रसंग में प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर जीवों का निर्देश करते हुए सात गाथासूत्रों (१२२-२८) द्वारा साधारणशरीर जीवों की विशेषता प्रकट की गयी है।[1]

इन गाथासूत्रों में तीन गाथाएँ (१२२-२४) ऐसी हैं जो प्रज्ञापना में भी विपरीत क्रम से उपलब्ध होती हैं।[2] इनमें एक गाथा का पाठ कुछ भिन्न है। यथा—

एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स॥
—ष० ख० १२३ (पु० १४)

एक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि एगस्स॥ —प्रज्ञा० १००

प्रज्ञापनागत इस गाथा का पाठ ष०ख० की अपेक्षा सुबोध है।

इस प्रसंग में वहाँ एक गाथा धवला टीका में भी 'वुत्तं च' निर्देश के साथ इस प्रकार उद्धृत की गई है—

वीजे जोणीभूदे जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए॥ —पु० १४, पृ० २३२

यह गाथा आचारांगनिर्युक्ति (१३८) और दशवैकालिक-निर्युक्ति (२३२) में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होती है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

उक्त गाथा 'प्रज्ञापना' (९७) में भी देखी जाती है। उसका पाठ आचारांग नि० के समान है।

इस गाथा के उत्तरार्ध का पाठ भेद विचारणीय है।

ष० ख० में इसी प्रसंग में आगे इतना विशेष कहा गया है कि ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने मिथ्यात्वादिरूप अतिशय भावकलंक से कलुषित रहने के कारण कभी त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं किया है व जो निगोदवास को नहीं छोड़ रहे हैं। अनन्तर वहाँ एक निगोदशरीर में अवस्थित जीवों के द्रव्यप्रमाण का निर्देश करते हुए उसे अतीत काल में सिद्ध हुए जीवों से अनन्तगुणा कहा गया है।[3]

'प्रज्ञापना' में इस प्रकार का उल्लेख कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की वर्णन शैली के भिन्न होने पर भी जिस प्रकार ष० ख० के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में क्रम से गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में जीवों के भेद-प्रभेदों

---

१. ष०ख०, पु० १४, पृ० २२५-३३
२. इनमें पूर्व की दो गाथाएँ (१२२-२३) आचारांगनिर्युक्ति में भी उपलब्ध होती हैं। क्रम उनका वहाँ ष० ख० के समान (१३६-३७) है।
३. पु० १४ पृ० २३३-३४; ये दोनों गाथाएँ मूलाचार के 'पर्याप्ति' अधिकार (१६२-६३) में तथा दि० पंचसंग्रह में भी विपरीत क्रम (१-८५ व ८४) से उपलब्ध होती हैं।

को दिखलाया गया है उसी प्रकार प्रज्ञापना के अन्तर्गत प्रथम 'प्रज्ञापना' पद में भी एकेन्द्रियादि जीवों के भेद-प्रभेदों को दिखलाया गया है। विशेषता यह रही है कि प्रज्ञापना में विवक्षित जीवों में उनके अन्तर्गत विविध जातिभेदों को भी प्रकट किया गया है, जिनका उल्लेख ष० ख० में नहीं है—यह पीछे वनस्पतिकायिक जीवों के प्रसंग में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

दूसरा उदाहरण मनुष्यों का लिया जा सकता है। ष० ख० में आध्यात्मिक दृष्टि की प्रमुखता से उक्त सत्प्ररूपणा में मनुष्यगति के प्रसंग में मोक्ष-महल के सोपानस्वरूप चौदह गुणस्थानों में मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि आदि चौदह प्रकार के मनुष्यों का अस्तित्व प्रकट किया गया है। (सूत्र १,१, २७)

किन्तु प्रज्ञापना में मनुष्यजीव-प्रज्ञापना के प्रसंग में मनुष्यों के सम्मूर्च्छन व गर्भोपक्रान्तिक इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके अन्तर्गत अनेक अवान्तर जाति-भेदों को तो प्रकट किया गया है, पर गुणस्थानों व उनके आश्रय से होनेवाले उनके चौदह भेदों का कोई उल्लेख नहीं है। (सूत्र ९२-१३८)

५. ष० ख० के दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत जो ग्यारह अनुयोगद्वार हैं उनमें तीसरा 'एक जीव की अपेक्षा कालानुगम' है। उसमें गति-इन्द्रियादि के क्रम से चौदह मार्गणाओं में जीवों के काल की प्ररूपणा है।

उधर प्रज्ञापना के पूर्वोक्त ३६ पदों में चौथा 'स्थिति' पद है। उसमें नारक आदि विविध जीवों की स्थिति (काल) की प्ररूपणा है। दोनों ग्रन्थगत इस प्ररूपणा में बहुत कुछ समानता देखी जाती है। यथा—

"एगजीवेण कालाणुगमेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइया केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण दसवाससहस्साणि। उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि। पढमाए पुढवीए णेरइया केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण दसवाससहस्साणि। उक्कस्सेणं सागरोवमं।"

—ष०ख०, सूत्र २,२,१-६ (पु० ७)

"नेरइयाणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? गोयमा! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।······रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते? केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? गोयमा! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं सागरोवमं।"

—प्रज्ञापना सूत्र ३३५ [१] व ३३६ [१]

इसी क्रम से आगे भी दोनों ग्रन्थों में अपनी-अपनी पद्धति से कुछ हीनाधिकता के साथ जीवों के काल की प्ररूपणा की गई है।

६. ष० ख० में इसी क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत उन ग्यारह अनुयोगद्वारों में से छठे और सातवें अनुयोगद्वारों में क्रम से जीवों के वर्तमान निवास (क्षेत्र) और कालत्रयवर्ती क्षेत्र (स्पर्शन) की प्ररूपणा गति-इन्द्रिय आदि मार्गणाओं के क्रम से की गई है।

इसी प्रकार प्रज्ञापना में उन ३६ पदों के अन्तर्गत दूसरे 'स्थान' नामक ·द में बादर पृथिवीकायिकादि जीवों के स्थानों की प्ररूपणा कुछ अधिक विस्तार से की गई है।

दोनों ग्रन्थों की इस प्ररूपणा में बहुत कुछ समानता दिखती है। इसके लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

"मणुसगदीए मणुसा मणुसपज्जत्ता मणुसिणी सत्थाणेण उववादेण केवडिखेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभागे। समुग्घादेण केवडिखेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभागे। असंखेज्जेसु वा भाएसु

सव्वलोगे वा। मणुसअपज्जत्ता सत्थाणेण समुग्घादेण उववादेण केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्ज-दिभागे।" —ष०ख०, सूत्र २,६, ८-१४ (पु० ७)

"कहिणं भंते ! मणुस्साणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते पणतालीसजोयणसतसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्म-भूमीसु[1] छप्पण्णाए अंतरदीवेसु, एत्थ णं मणुस्साणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णेत्ता। उववाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे।[2]

—प्रज्ञापना सूत्र १७६

इस प्रकार कुछ शब्द-साम्य के साथ दोनों ग्रन्थों का अभिप्राय समान है। विशेषता यह रही है कि ष० ख० में जहाँ सामान्य से लोक का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है वहाँ पण्णवणा में उसके स्थान में विशेष रूप से मनुष्यक्षेत्र व अढाई द्वीप-समुद्रों आदि का निर्देश किया गया है जो लोक के असंख्यातवें भागरूप ही है। इसके अतिरिक्त ष० ख० में प्रतरसमुद्घातगत केवली को लक्ष्य करके 'लोक के असंख्यात बहुभागों' (असंखेज्जेसु वा भाएसु) का जो उल्लेख किया गया है वह प्रज्ञापना में उपलब्ध नहीं है।

७. ष० ख० के प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में जो अन्तिम अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार है उसमें गुणस्थानों की प्रमुखता से क्रमशः गति आदि चौदह मार्गणाओं में विस्तारपूर्वक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। गुणस्थानों की प्रमुखता के कारण यद्यपि उससे प्रज्ञापना में प्ररूपित अल्पबहुत्व की विशेष समानता नहीं है फिर भी उसके दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में जो अन्तिम अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार है उसमें गुणस्थानों की अपेक्षा न करके यथाक्रम से केवल गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में भी उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। उससे प्रज्ञापना में प्ररूपित अल्पबहुत्व की अधिक समानता है। इसके लिए यहाँ एक-दो उदाहरण दे-देना ठीक होगा।

(१) "अप्पाबहुगाणुगमेण गदियाणुवादेण पंच गदीओ समासेण। सव्वत्थोवा मणुसा। णेरइया असंखेज्जगुणा। देवा असंखेज्जगुणा। सिद्धा अणंतगुणा। तिरिक्खा अणंतगुणा।"

—ष०ख०, सूत्र २, ११,१-६ (पु० ७)

"एएसि णं भंते ! नेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं······? गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा १, नेरइया असंखेज्जगुणा २, देवा असंखेज्जगुणा ३, सिद्धा अणंतगुणा ४, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ५।"

—प्रज्ञापना सूत्र २२५

(२) "अट्ठ गदीओ समासेण। सव्वत्थोवा मणुस्सिणीओ। मणुस्सा असंखेज्जगुणा। णेरइया असंखेज्जगुणा। पंचिदियतिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्ज गुणाओ। देवा संखेज्जगुणा।[3] देवीओ

---

१. ष० ख० में अढाई द्वीप-समुद्रों व पन्द्रह कर्मभूमियों का उल्लेख सूत्र १,९-८,११ (पु०६) में तथा कम्मभूमि और अकम्मभूमि शब्दों का उपयोग सूत्र ४,२, ६,८ (पु० ११, पृ० ८८) में हुआ है।

२. यहाँ ष०ख० सूत्र ३,६,८-१४ व उनकी धवला टीका द्रष्टव्य है (पु० ११, पृ० ८८-११९)।

३. धवलाकारने देवों के इस संखेज्जगुणत्व की संगति इस प्रकार बैठायी है—"एत्थ गुणगारो तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाणि। कुदो ? देवअवहारकालेण तेत्तीसरूवगुणिदेण पंचिंदियतिरिक्ख-

(शेष पृष्ठ २३७ पर देखिए)

संखेज्जगुणाओ । सिद्धा अणंतगुणा । तिरिक्खा अणंतगुणा ।"

—प०ख०, सूत्र २,११,७-१५ (पु० ७)

"एतेसि णं भंते ! नेरइयाणं······अट्ठ गति समासेणं कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मणुस्सीओ १, मणुस्सा असंखेज्जगुणा २, नेरइया असंखेज्जगुणा ३, तिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ ४, देवा असंखेज्जगुणा ५, देवीओ संखेज्जगुणाओ ६, सिद्धा अणंतगुणा ७, तिरिक्ख जोणिया अणंतगुणा ८ ।"

—प्रज्ञापना सूत्र २२६

(३) "इंदियाणुवादेण सव्वत्थोवा पंचिंदिया । चउरिंदिया विसेसाहिया । तीइंदिया विसेसाहिया । बीइंदिया विसेसाहिया । अणिंदिया अणंतगुणा । एइंदिया अणंतगुणा ।"

—प०ख०, सूत्र २,११,१६-२१ (पु० ७)

"एतेसि णं भंते ! सइंदियाणं एइंदियाणं ····? गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया १, चउरिंदिया विसेसाहिया २, तेइंदिया विसेसाहिया ३, बेइंदिया विसेसाहिया ४, अणिंदिया अणंतगुणा ५, एइंदिया अणंतगुणा ६ ।" —प्रज्ञापना सूत्र २२७

इस प्रकार दोनों ग्रन्थगत उपर्युक्त तीनों सन्दर्भ क्रमबद्ध व शब्दशः समान हैं । इतना विशेष है कि प० ख० में जहाँ देवों को तिर्यंचयोनिमतियों से संख्यातगुणा कहा गया है वहाँ प्रज्ञापना में उन्हें उन तिर्यंच योनिमतियों से असंख्यातगुणा कहा गया है ।

दूसरी विशेषता यह है कि इन्द्रियाश्रित इस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा में प० ख० में सामान्य तिर्यंचों को नहीं ग्रहण किया है, पर प्रज्ञापना में आगे सामान्य तिर्यंचों को भी ग्रहण करके उन्हें एकेन्द्रियों से विशेष अधिक कहा गया है ।

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि प० ख० में जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत जो दूसरा द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार है उसमें गुणस्थान सापेक्ष गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में जीवों की संख्या की प्ररूपणा की गई है तथा आगे उसके दूसरे क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत पाँचवें द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वार में भी गुणस्थान निरपेक्ष उन गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में जीवों की संख्या की प्ररूपणा है । संख्या की यह प्ररूपणा ही उक्त अल्पबहुत्व की प्ररूपणा का आधार रही है। पर जहाँ तक हम खोज सके हैं, प्रज्ञापना में कहीं भी उन जीवों की संख्या की प्ररूपणा नहीं की गई जिसे उक्त अल्पबहुत्व का आधार समझा जाय ।

८. प० ख० में उपर्युक्त अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के अन्त में 'महादण्डक' प्रकरण है । उसकी सूचना ग्रन्थकार द्वारा इस प्रकार की गई है—

"एत्तो सव्वजीवेसु महादंडओ कादव्वो भवदि ।" —सूत्र २, ११-२,१ (पु० ७)

इसी प्रकार का 'महादण्डक' प्रज्ञापना में तीसरे 'बहुवक्तव्य' पद के अन्तर्गत २७ द्वारों में अन्तिम है । उसकी सूचना वहाँ भी ग्रन्थकार द्वारा इन शब्दों में की गई है—

"अह भंते ! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि ।" —सूत्र ३३४

जोणिणीणमवहारकाले भागे हिदे संखेज्जरूवोवलंभादो ।" —धवला पु० ७, पृ० ५२३

इसके अतिरिक्त यहीं पर 'महादण्डक' सूत्र ३९-४० में स्पष्टतया पंचेन्द्रियतिर्यंच योनिमतियों से वानव्यन्तर देवों को संख्यातगुणा कहा गया है । प्रज्ञापना में निर्दिष्ट उनका असंख्यातगुणत्व कैसे घटित होता है यह अन्वेषणीय है ।

यहाँ 'भंते' यह संबोधन किसके लिए किया गया है तथा 'वत्तइस्सामि' क्रिया का कर्ता कौन है, यह विचारणीय है। पूर्व प्रक्रिया को देखते हुए उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग कुछ असंगत-सा दिखता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इसके पूर्व जिस प्रकार ष० ख० में उस अल्पबहुत्व को पृथक् पृथक् गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में दिखलाया गया है उसी प्रकार प्रज्ञापना में भी उसे उसके पूर्व पूर्वनिर्दिष्ट दिशा व गति आदि २७ द्वारों में पृथक्-पृथक् दिखलाया गया है।[1]

तत्पश्चात् ष० ख० और प्रज्ञापना दोनों में ही इस महादण्डक द्वारा सब जीवों में सम्मिलित रूप से उस अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है। ष० ख० के टीकाकार वीरसेनाचार्य ने इस महादण्डक को क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत ११ अनुयोगद्वारों की चूलिका कहा है।[2]

तदनुसार प्रज्ञापना में प्ररूपित उस महादण्डक को भी यदि पूर्वनिर्दिष्ट उन दिशा आदि २६ अनुयोग की चूलिका कहा जाय तो वह असंगत न होगा।

अब यहाँ संक्षेप में दोनों ग्रन्थगत इस प्रसंग की समानता को प्रकट किया जाता है—

"सव्वत्थोवा मणुसपज्जत्ता गब्भोवक्कंतिया। मणुसणीओ संखेज्जगुणाओ।"

—ष०ख०, सूत्र २,११-२,२-३

"सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतिया मणुस्सा। मणुस्सीओ संखेज्जगुणाओ।"

—प्रज्ञापना १, पृ० १०६

ष० ख० में इसके आगे मनुष्यणियों से सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवों को संख्यातगुणे, उनसे बादर तेजस्कायिक पर्याप्तकों को असंख्यातगुणे और उनसे अनुत्तर-विजयादि विमान वासी देवों को असंख्यातगुणे कहा गया है।

प्रज्ञापना में आगे सर्वार्थसिद्धिविमानवासी देवों का उल्लेख न करके मनुष्यणियों से बादर तेजस्कायिक पर्याप्तकों को असंख्यातगुणे और उनसे अनुत्तरोपपादिक देवों को असंख्यातगुणे कहा गया है। इस प्रकार यहाँ प्रज्ञापना में एक (सर्वार्थसिद्धि) स्थान कम हो गया है।

आगे जाकर ष०ख० में अनुदिशविमानवासी देवों को अनुत्तर विमानवासी देवों से संख्यात-गुणे कहा गया है।

प्रज्ञापना में इस स्थान का उल्लेख नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नौ अनुदिश विमानों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।

आगे ष० ख० में जहाँ उपरिम-उपरिम आदि नौ ग्रैवेयकों में पृथक्-पृथक् नौ स्थानों में उस अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है वहाँ प्रज्ञापना में उपरिम, मध्यम व अधस्तन इन तीन ग्रैवेयकों का ही उल्लेख है।

इस प्रकार ष०ख० में यहाँ तक १५ स्थान होते हैं, किन्तु प्रज्ञापना में आठ (१+१+६) स्थानों के कम हो जाने से ७ स्थान ही उस अल्पबहुत्व के रहते हैं।

इसी प्रकार आगे १६ व १२ कल्पों के मतभेद के कारण भी उस अल्पबहुत्व के स्थानों में

---

१. ष० ख० सूत्र १-२०५ (पु० ७, पृ० ५२०-७४ तथा प्रज्ञापना सूत्र २१२-३३३

२. समत्तेसु एक्कारसअणिओगद्दारेसु किमट्ठमेसो महादंडओ वोत्तुमाढत्तओ? वुच्चदे—खुद्दाबंधस्स एक्कारस अणिओगद्दारणिबद्धस्स चूलियं काऊण महादंडओ वुच्चदे। (पु० ७, पृ० ५७५)

हीनाधिकता हुई है।

आगे इन दोनों ग्रन्थों में जितने स्थान उस अल्पवहुत्व के विषय में समान हैं उसका निर्देश किया जाता है—

समान स्थान	ष० ख०	प्रज्ञापना
१६ सातवीं पृथिवी से सौ० कल्प की देवियों तक	१६-३४	१२-२७
४ वानव्यन्तर देवों से ज्योतिष देवियों तक	४०-४३	३८-४१
२७ चतुरिन्द्रिय पर्याप्त से सूक्ष्मवायु पर्याप्त	४४-७०	४५-७१
४७ स्थान		

इस तरह समस्त समान स्थान सैंतालीस हुए। इतने स्थानों में यथाक्रम से दोनों ही ग्रन्थों में उस अल्पवहुत्व की प्ररूपणा समान रूप में की गई है।

इस प्रकार ष० ख० में जहाँ उस अल्पवहुत्व की प्ररूपणा ७८ स्थानों में की गई है वहाँ प्रज्ञापना में उसकी प्ररूपणा कुछ हीनाधिकता के साथ ६८ स्थानों में हुई है।

विशेषता

प्रज्ञापना में इस स्थानवृद्धि का कारण यह है कि वहाँ अच्युत (८), आरण (९), प्राणत (१०) और आनत (११) इन चार स्थानों में पृथक्-पृथक् उस अल्पबहुत्व का उल्लेख किया गया है, जबकि ष० ख० में उसका उल्लेख आरण-अच्युत (१७) और आनत-प्राणत (१८) इन दो स्थानों में किया गया है।

इसी प्रकार प्रज्ञापना में खगचर, स्थलचर और जलचर जीवों में पृथक्-पृथक् पुरुष, योनिमती और नपुंसक के भेद से उसका उल्लेख है। (३२-३७ व ४२-४४)

ष० ख० में इन ६ स्थानों का उल्लेख पृथक् से नहीं किया गया है। वहाँ मार्गणाश्रित जीव भेदों की प्ररूपणा में कहीं खगचर, स्थलचर और जलचर इन तीन भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। पर प्रसंगवश जलचर स्थलचर और खगचर इन तीन प्रकार के जीवों का निर्देश वहाँ वेदनाकाल-विधान में काल की अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना के प्रसंग में अवश्य किया गया है।[1]

प्रज्ञापना में आगे सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त (७२), पर्याप्त (७३), अभवसिद्धिक (७४), परिपतित सम्यक्त्वी (७५), तथा वादर पर्याप्त सामान्य (७८), बादर अपर्याप्त सामान्य (८०), वादर सामान्य (८१), सूक्ष्म अपर्याप्त सामान्य (८३), सूक्ष्म पर्याप्त सामान्य (८५), सूक्ष्म सामान्य (८६), भवसिद्धिक (८७), निगोदजीव सामान्य (८८), वनस्पति जीव सामान्य (८९), एकेन्द्रिय सामान्य (९०), तिर्यंच सामान्य (९१), मिथ्यादृष्टि (९२), अविरत (९३), सकषायी (९४), छद्मस्थ (९५), सयोगी (९६), संसारस्थ (९७) और सर्वजीव (९८) इन अल्पबहुत्व के स्थानों को वृद्धिगत किया गया है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में 'महादण्डक' के प्रसंग में समस्त जीवों के आश्रय से उस अल्पवहुत्व की प्ररूपणा कुछ मतभेदों को छोड़कर प्रायः समान रूप में की गई है। ष० ख०

---

१. ष०ख०, सूत्र ४,२,६,८ (पु० ११, पृ० ८८)

में जहाँ उस अल्पबहुत्व के स्थान ७७ (प्रथम सूत्रांक को छोड़कर) हैं वहाँ प्रज्ञापना में वे ९८ है। इनमें जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, उस अल्पबहुत्व के सैंतालीस स्थान (१६+४+२७) सर्वथा समान हैं। प्रज्ञापना में जो कुछ स्थान अधिक हैं उनकी अधिकता के कारणों का निर्देश भी ऊपर किया जा चुका है।

९. ष० ख० के प्रथम खण्ड जीवस्थान से सम्बद्ध नौ चूलिकाएँ हैं। उनमें प्रथम 'प्रकृति समुत्कीर्तन' चूलिका है। इसमें ज्ञानावरणीयादि आठ मूलप्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है।[1] (सूत्र ३-४६ पु० ६)

प्रज्ञापना में २३ वें पद के अन्तर्गत जो दो उद्देश हैं उनमें से दूसरे उद्देश में मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियों का उल्लेख किया गया है। (सूत्र १६८७-९६)

उन मूल और उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख दोनों ग्रन्थों में समान रूप से ही किया गया है।

१०. ष०ख० में उपर्युक्त नौ चूलिकाओं में जो छठी चूलिका है उसमें इन मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति की तथा आगे की सातवीं चूलिका में जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है। (पु० ६)

प्रज्ञापना में इस उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा उपर्युक्त २३वें पद के अन्तर्गत दूसरे उद्देश में साथ-साथ की गई है। (सूत्र १६९७-१७०४)

दोनों ग्रन्थों में स्थिति की वह प्ररूपणा अपनी अपनी पद्धति से प्रायः समान है। विशेषता यह रही है कि ष० ख० में जहाँ समान स्थितिवाले कर्मों की स्थिति का उल्लेख एक साथ किया गया है वहाँ प्रज्ञापना में उसका उल्लेख पृथक्-पृथक् ज्ञानावरणदि के क्रम से किया गया है। यथा—

(१) "पंचण्हं णाणावरणीयाणं णवण्हं दंसणावरणीयाणं असादावेदणीयं पंचण्हं अंतराइयाण-मुक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तीसं सागरोवम कोडाकोडीओ। तिण्णि सहस्साणि आबाधा। आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ"।[2] —सूत्र १, ९-३, ४-६

इसी प्रकार जघन्य स्थिति प्ररूपणा भी वहाँ उसी पद्धति से १,९-७, ३-५ सूत्रों में की गई है।

"णाणावरणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तो उक्कोसेणं तीसं सागरोकोडाकोडीओ, तिण्णि य वाससहस्साइं अवाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगो।" —प्रज्ञापना सूत्र १६९७

(२) पाँच दर्शनावरणीय प्रकृतियों की जघन्य स्थिति के लिए देखिए ष० ख० सूत्र १, ९-७,६-८ और प्रज्ञापना सूत्र १६९८ [१]।

इसी प्रकार से दोनों ग्रन्थों में कर्मों की उस उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा आगे पीछे समान रूप में की गई है।

११. ष०ख० में जीवस्थान की उपर्युक्त नौ चूलिकाओं में अन्तिम 'गति-आगति' चूलिका

---

१. इन मूल-उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख आगे ष०ख० के पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में थोड़ी-सी विशेषता के साथ पुनः किया गया है। (पु० १३)
२. निषेकक्रम का विचार ष० ख० में आगे वेदनाकालविधान में किया गया है। सूत्र ४,२,६, १०१-१० (पु० ११)

हैं। उसमें गति के क्रम से जीव किस गति से निकलकर किन गतियों में जाता है और वहाँ उत्पन्न होकर वह किन-किन गुणों को प्राप्त करता है, इसका विस्तार से विशद विचार किया गया है।

प्रज्ञापना में उसका विचार बीसवें 'अन्तःक्रिया' पद के अन्तर्गत उद्वर्तन (४), तीर्थंकर (५), चक्री (६), बलदेव (७), वासुदेव (८), माण्डलिक (९) और रत्न (१०) इन द्वारों में पृथक्-पृथक् किया गया है।

इस स्थिति में यद्यपि दोनों ग्रन्थों में यथाक्रम से समानता तो नहीं दिखेगी, पर आगे-पीछे उस प्ररूपणा में अभिप्राय समान अवश्य दिखेगा। इसके लिए उदाहरण—

ष० ख० में उक्त आगति का विचार अन्तर्गत भेदों के साथ यथाक्रम से नरकादि गतियों में किया गया है। यहाँ हम चतुर्थ पृथिवी से निकलते हुए मिथ्यादृष्टि नारकी का उदाहरण ले लेते हैं। उसके विषय में वहाँ कहा गया है कि वह उस पृथिवी से निकलकर तिर्यंच और मनुष्य इन दो गतियों में जाता है। यदि वह तिर्यंच गति में जाता है तो गर्भोपक्रान्तिक, संज्ञी, पंचेन्द्रिय व पर्याप्त तिर्यंचों में उत्पन्न होकर आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और संयमासंयम इन छह को उत्पन्न कर सकता है। (सूत्र १,९-९,७९-८२ और १,९-९,२१३-१५)

'यदि वह मनुष्यगति में जाता है तो वहाँ गर्भोपक्रान्तिक संख्यातवर्षायुष्क पर्याप्त मनुष्य होकर आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम इन नौ को उत्पन्न करता हुआ मुक्ति को भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु वह उस पृथिवी से निकलकर बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं हो सकता है।' (सूत्र १,९-९,८३-८५ और १,९-९,२१६)

प्रज्ञापना में यह अभिप्राय सूत्र १४२० [१-८], १४२१ [१-५] और १४४४-४६ में व्यक्त किया गया है।

इस प्रसंग में समान परम्परा से आनेवाले इन शब्दों का उपयोग भी देखने योग्य है—

"केइमंतयडा होदूण सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणव्वाणयंति, सव्वदुक्खाणमंतं परिविजाणंति।" —षट्खण्डागम सूत्र १,९-९,२१६ व २२० आदि

"जे णं भंते! केवलणाणं उप्पाडेज्जा से णं सिज्झेज्झा, बुज्झेज्झा, मुच्चेज्जा, सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा? गोयमा! सिज्झेज्झा जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा।"

—प्रज्ञापना सूत्र १४२१ [५]

विशेषता

इस प्रकार एक समान मौलिक परम्परा पर आधारित होने से दोनों ग्रन्थों में जहाँ सैद्धान्तिक विषयों के विवेचन व उनकी रचनापद्धति में समानता रही है वहाँ उनमें अपनी-अपनी अपरिहार्य कुछ विशेषता भी दृष्टिगोचर होती है। यथा—

१. षट्खण्डागम के रचयिताओं का प्रमुख ध्येय आत्महितैषी जीवों को आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट करके उन्हें मोक्षमार्ग में अग्रसर करना रहा है। इसीलिए उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आध्यात्मिक पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए उसके सोपानस्वरूप चौदह गुणस्थानों का विचार गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से क्रमबद्ध व अतिशय व्यवस्थित रूप में किया है।

यह विचार वहाँ प्रमुखता से उसके प्रथम खण्ड जीवस्थान में सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में यथाक्रम से किया गया है।

परन्तु प्रज्ञापना में आध्यात्मिक उत्कर्ष को लक्ष्य में रखकर उसका कुछ भी विचार नहीं किया गया। यहाँ तक कि उसमें गुणस्थान का कहीं नामोल्लेख भी नहीं है।

२. जीव अनादि काल से कर्मबद्ध रहकर उसके उदयवश निरन्तर जन्म-मरण के कष्ट को सहता रहा है। वह कर्म को कब किस प्रकार से बांधता है, वह कर्म उदय में प्राप्त होकर किस प्रकार का फल देता है, तथा उसका उपशम व क्षय करके जीव किस प्रकार से मुक्ति प्राप्त करता है, इत्यादि का विशद विवेचन षट्खण्डागम में किया गया है।[1]

प्रज्ञापना में यद्यपि कर्मप्रकृतिपद (२३), कर्मबन्धपद (२४), कर्मबन्धवेदपद (२५), कर्म-वेदबन्धपद (२६), कर्मवेदवेदकपद (२७) और वेदनापद (३५) इन पदों में कर्म का विचार किया गया है; पर वह इतना संक्षिप्त, क्रमविहीन और दुरूह-सा है कि उससे लक्ष्य की पूर्ति कुछ असम्भव-सी दिखती है।

उदाहरण के रूप में 'कर्मप्रकृति' (२३) पद को लिया जा सकता है। उसके अन्तर्गत दो उद्देशों में से प्रथम उद्देश में ये पाँच द्वार हैं—(१) प्रकृतियाँ कितनी हैं, (२) जीव कैसे उन्हें बांधता है, (३) कितने स्थानों के द्वारा उन्हें बांधता है, (४) कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है और (५) किसका कितने प्रकार का अनुभव करता है। इन द्वारनामों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कर्म के बन्ध आदि का पर्याप्त विचार किया गया होगा। पर ऐसा नहीं रहा। वहाँ जो थोड़ा-सा विचार किया गया है, विशेषकर मूलप्रकृतियों को लेकर, वह प्रायः अधूरा है। उससे कर्म की विविध अवस्थाओं पर—जैसे बन्ध, वेदन व उपशम-क्षयादि पर—कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।[2] उदाहरणार्थ, 'कैसे बांधता है' इस द्वार को ले लीजिए! इस द्वार में इतना मात्र विचार किया गया है—

"कहण्णं भंते ! जीवे अट्ठ पयडीओ वंधइ ? गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं णियच्छति, दरिसणावरणिज्जस्स कमस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं णियच्छति, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छति, मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं गोयमा ! एवं खलु जीवे अट्ठ कम्मपयडीओ वंधइ।" —सूत्र १६६७

"कहण्णं भंते ! णेरइए अट्ठकम्मपगडीओ वंधति ? गोयमा ! एवं चेव। एवं जाव वेमा-णिए।"[3] —सूत्र १६६८

---

१. कर्मबन्ध का विचार बन्धस्वामित्वविचय (पु० ८) में व उसके वेदना का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि के आश्रय से 'वेदना' अनुयोगद्वार में विविध अधिकारों द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त बन्ध, बन्धक, बन्धनीय व बन्धनीयविधान का विचार 'वन्धन' अनुयोगद्वार (पु० १४) एवं महाबन्ध (सम्पूर्ण ७ जिल्दों) में विस्तार से किया गया है।

२. कर्म की इन विविध अवस्थाओं के विवेचन के लिए शिवशर्म सूरि विरचित कर्मप्रकृति द्रष्टव्य है।

३. प्रज्ञापनागत इस कर्म के विवेचन को गुजराती प्रस्तावना (पृ० १३१ व १३२ तथा पीछे के पृ० १२५-२६) में प्राचीन स्तर का बतलाया गया है, पर उस पर विशेष प्रकाश कुछ नहीं डाला गया है कि किस प्रकार वह प्राचीन स्तर का है।

आगे वहाँ 'कितने स्थानों के द्वारा बाँधता है' इस द्वार में इतना मात्र अभिप्राय प्रकट किया गया है कि जीव राग और द्वेष इन दो स्थानों के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृतियों को बाँधता है। उनमें माया और लोभ के भेद से दो प्रकार का राग तथा क्रोध और मान के भेद से द्वेष भी दो प्रकार का है। इन चार स्थानों के द्वारा सभी जीव कर्मप्रकृतियों को बाँधते हैं। (सूत्र १६७०-७४)

यही स्थिति प्रायः अन्य पदों में भी रही है।

३. पट्खण्डागम में जो विषय का विवेचन है वह जीव की प्रमुखता से किया गया है। अजीव के विषय में जो कुछ भी वहाँ वर्णन हुआ है वह जीव से सम्बद्ध होने के कारण ही किया गया है। उदाहरणार्थ, पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार (पु० १४) में बन्धनीय के प्रसंग से तेईस प्रकार की परमाणुपुद्गल-वर्गणाओं की प्ररूपणा की गई है। वहाँ इस अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदनात्मक पुद्गल हैं जो स्कन्धस्वरूप हैं और वे स्कन्ध वर्गणाओं से उत्पन्न होते हैं (सूत्र ५,६,६,८)। इस प्रकार से यहाँ पुद्गलद्रव्यवर्गणाओं के निरूपण का प्रयोजन स्पष्ट कर दिया गया है। तत्पश्चात् वर्गणा के निरूपण में सोलह अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए उनकी प्ररूपणा की गई है।[1] उनमें भी औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरस्वरूप परिणत होने के योग्य परमाणुपुद्गलस्कन्धरूप आहारवर्गणा, तथा तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा इन पाँच ग्राह्य वर्गणाओं की विशेष विवक्षा रही है।

परन्तु प्रज्ञापना में 'जीवप्रज्ञापना' के साथ 'अजीवप्रज्ञापना' को भी स्वतन्त्र रूप में स्थान प्राप्त है (सूत्र ४-१३)। इसी प्रकार तीसरे 'बहुवक्तव्य' पद के अन्तर्गत २६ द्वारों में से २१वें द्वार में अस्तिकायों के अल्पबहुत्व (सूत्र २७०-७३) की, २३वें द्वार में सम्मिलित रूप से जीव-पुद्गलों के अल्पबहुत्व (सूत्र २७५) की और २६वें पुद्गल-द्वार में क्षेत्रानुवाद और दिशानुवाद आदि के क्रम से पुद्गलों के भी अल्पबहुत्व (सूत्र ३२६-३३) की प्ररूपणा की गई है। पाँचवें 'विशेष' पद में अजीवपर्यायों (सूत्र ५००-५८) का तथा १०वें 'चरम' पद में लोक-अलोक का चरम-अचरम विभाग व अल्पबहुत्व का निरूपण है (सूत्र ७७४-८०६), इत्यादि।

४. पट्खण्डागम में प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा प्रायः निक्षेप व नयों की योजनापूर्वक मार्गणाक्रम के अनुसार की गई है। साथ ही वहाँ विवक्षित विषय की प्ररूपणा के पूर्व उन अनुयोगद्वारों का भी निर्देश कर दिया गया है, जिनके आश्रय से उसकी प्ररूपणा वहाँ की जाने-वाली है। इस प्रकार से वहाँ विवक्षित विषय की प्ररूपणा अतिशय व्यवस्थित, सुसंबद्ध एवं निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही रही है।

परन्तु प्रज्ञापना में प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा में इस प्रकार का कोई क्रम नहीं रहा है। वहाँ निक्षेप और नयों को कहीं कोई स्थान नहीं प्राप्त हुआ तथा मार्गणाक्रम का भी अभाव रहा है। इससे वहाँ विवक्षित विषय की प्ररूपणा योजनाबद्ध व्यवस्थित नहीं रह सकी है। वहाँ प्रायः प्रतिपाद्य विषय की चर्चा पाँच इन्द्रियों के आश्रय से की गई है। इसके लिए 'प्रज्ञापना' और 'स्थान' पदों को देखा जा सकता है।

---

१. उनमें से अन्तिम १२ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा धवलाकार ने की है। देखिए पु० १४, पृ० १३४-२२३

५. षट्खण्डागम में प्रतिपाद्य विषय का निरूपण प्रारम्भ में निर्दिष्ट अनुयोगद्वारों के क्रम से किया गया है। पर विवक्षित विषय से सम्बद्ध जिन प्रासंगिक विषयों की चर्चा उन अनुयोगद्वारों में नहीं की जा सकी है उनकी चर्चा वहाँ अन्त में चूलिकाओं को योजित कर उनके द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ, षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में क्षेत्र, काल और अन्तर इन अनुयोगद्वारों में जो विविध जीवों के क्षेत्र व काल आदि का निरूपण किया गया है वह जीवों की गति-आगति और कर्मबन्ध पर निर्भर है, अतः जिज्ञासु जन की जिज्ञासापूर्ति के लिए कर्मप्रकृति के भेद व उनकी उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति आदि का भी विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ है। इससे उस जीवस्थान खण्ड के अन्त में नौ चूलिकाओं को योजित कर उनके द्वारा उक्त आठ अनुयोगद्वारों से सूचित अनेक आवश्यक विषयों की चर्चा है। इस सव की सूचना वहाँ प्रारम्भ में ही इस प्रकार कर दी गई है—

"कदि काओ पयडीओ बंधदि, केवडिकालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्तं लब्भदि वा, ण लब्भदि वा, केवचिरेण कालेण वा कदि भाए वा करेदि मिच्छत्तं, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दंसणमोहणीयं कम्मं खवेंतस्स चारित्तं वा संपुण्णं पडिवज्जंतस्स।[1]"

—सूत्र १,९-१,१ (पु० ६)

इन प्रश्नों का समाधान वहाँ यथाक्रम से जीवस्थान की उन नौ चूलिकाओं द्वारा किया गया है।

प्रकृत सूत्र की स्थिति, शब्दरचना और प्रसंग को देखते हुए यही निश्चित प्रतीत होता है कि उन नौ चूलिकाओं की रचना षट्खण्डागमकार आचार्य भूतवलि के द्वारा ही की गई है। इससे यह कहना कि चूलिकाएँ ग्रन्थ में पीछे जोड़ी गई हैं, उचित नहीं होगा। सर्वार्थसिद्धि के कर्ता आचार्य पूज्यपाद ने उसकी रचना में जिस प्रकार षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान का भरपूर उपयोग किया है उसी प्रकार उस जीवस्थान खण्ड की इन नौ चूलिकाओं में से ८वीं सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका और ९वीं गति-आगति चूलिका का भी उन्होंने पूरा उपयोग किया है। यह पीछे 'षट्खण्डागम व सर्वार्थसिद्धि' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रज्ञापना में इस प्रकार की कोई चूलिका नहीं रही है। उसके अन्तर्गत ३६ पदों में १९वाँ 'सम्यक्त्व' नाम का एक स्वतन्त्र पद है। उसमें सम्यक्त्व का विशद विवेचन विस्तार से किया जा सकता था। परन्तु जिस प्रकार उसके १५वें 'इन्द्रिय' पद में प्रथम उद्देश के अन्तर्गत २४ द्वारों के आश्रय से तथा द्वितीय उद्देशगत १२ द्वारों के आश्रय से इन्द्रिय सम्बद्ध विषयों की विस्तार से प्ररूपणा की गई है, उस प्रकार प्रकृत 'सम्यक्त्व' पद में सम्यक्त्व के विषय में विशेष कुछ विचार नहीं किया गया। वहाँ केवल सामान्य से जीव, नारक, असुरकुमार, पृथिवीकायिकादि, द्वीन्द्रियादिक, पंचेन्द्रिय मनुष्यादिक और सिद्धों के विषय में पृथक्-पृथक् क्या वे सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं, इस प्रकार के प्रश्नों को उठाकर मात्र उसका ही समाधान किया गया है। इस प्रकार यह सम्यक्त्व का प्रकरण वहाँ आधे पृष्ठ (३१९) में ही समाप्त हो गया है।[2] (सूत्र १३९९-१४०५)

---

१. विशेष जानकारी के लिए धवला (पु० ६) में पृ० २-४ द्रष्टव्य हैं।

२. इस प्ररूपणा में वहाँ पूर्व के समान इन्द्रियादि का भी क्रम नहीं रहा।

यदि यहाँ उस सम्यक्त्व का सर्वांगपूर्ण विचार प्रकृत 'सम्यक्त्व' पद में अथवा चूलिका-जैसे किसी अन्य प्रकरण को जोड़कर किया गया होता तो वह आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत उपयोगी प्रमाणित होता।

६. प्रस्तुत दोनों गन्थ सूत्रात्मक, विशेषकर गद्यसूत्रात्मक हैं। फिर भी उनमें कुछ गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं। यह अवश्य है कि षट्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना में ये गाथाएँ अधिक है। षट्खण्डागम में ये गाथाएँ जहाँ केवल ३६ हैं वहाँ प्रज्ञापना में ये २३१ हैं।[1]

षट्खण्डागम के अन्तर्गत उन गाथाओं में अधिकांश परम्परा से कण्ठस्थ रूप में प्रवाहित होकर आचार्य भूतवलि को प्राप्त हुई हैं और उन्होंने उन्हें सूत्रों के रूप में ग्रन्थ का अंग बना लिया है, ऐसा प्रतीत होता है।

परन्तु प्रज्ञापनागत गाथाओं मे सभी परम्परागत प्रतीत नहीं होतीं। इसका कारण है कि उनमें अधिकांश गाथाएँ विवरणात्मक दिखती हैं। जिस प्रकार भाष्यकार जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण आदि ने निर्युक्तिगत गाथाओं की व्याख्या भाष्यगाथाओं के द्वारा की है उसी प्रकार की यहाँ भी कुछ गाथाएँ उपलब्ध होती है। जैसे—गाथा १३ में प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक के जिन १२ भेदों का निर्देश किया गया है उनको स्पष्ट करनेवाली १३-४६ गाथाएँ। ऐसी प्रचुर गाथाएँ वहाँ उपलब्ध होती हैं, जो प्रज्ञापनाकार के द्वारा रची गई नहीं दिखतीं। किन्तु उन्हें कहीं अन्यत्र से लेकर ग्रन्थ मे समाविष्ट किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। वे अन्यत्र कहाँ से ली गई, यह अन्वेषणीय है। इसका संकेत कहीं-कहीं स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा भी किया गया है। यथा----

(१) "एएसि णं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ। तं जहा--" ऐसी सूचना करते हुए आगे साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीवों के कंदादि भेदों की प्ररूपक १०७-९ गाथाओं को उद्धृत किया गया है। (सूत्र ५५ [३])

(२) "नवरं भवणनाणत्तं इंदणाणत्तं वण्णणाणत्तं परिहाणणाणत्तं च इमाहि गाहाहि अणुगंतव्वं' ऐसी सूचना करते हुए आगे १३८-४४ गाथाओं को उद्धृत किया गया है। (सूत्र १८७)

(३) 'संगहणिगाहा' ऐसा निर्देश करते हुए आगे गाथा १५१-५३ को उद्धृत किया गया है। (सूत्र १९४)

(४) गाथा १५४-५५ के पूर्व कुछ विशेष संकेत न करके ठीक उनके आगे 'सामाणिय-संगहणीगाहा' ऐसा निर्देश करते हुए गाथा १५६ को उद्धृत किया गया है। (सूत्र २०६)

(५) "एवं निरंतरं जाव वेमाणिया। संगहणिगाहा" ऐसी सूचना करते हुए गाथा १९१ को उद्धृत किया गया है। (सूत्र ८२९ [२])

---

१. जिस प्रकार षट्खण्डागम के प्रारम्भ में पंचपरमेष्ठिनमस्कारात्मक मंगलगाथा उपलब्ध होती है उसी प्रकार प्रज्ञापना के प्रारम्भ में भी वही पंचपरमेष्ठिनमस्कारात्मक मंगल गाथा उपलब्ध होती है। धवलाकार आ० वीरसेन के अभिमतानुसार वह आ० पुष्पदन्त द्वारा विरचित सिद्ध होती है। देखिए पु० ९, पृ० १०३-५ में मंगल के निवद्ध-अनिबद्ध भेदविषयक प्ररूपणा। धवला पु० २ की प्रस्तावना में इस प्रसंग से सम्बन्धित १९-२१ पृष्ठ और पु० १ (द्वि० संस्करण) का 'सम्पादकीय' पृ० ५-६ भी द्रष्टव्य है।

(६) "इमाओ संगहणिगाओ" इस सूचना के साथ आगे गाथा २१५-१६ को उद्धृत किया गया है। (सूत्र १५१२)

७. प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों की रचना प्रायः प्रश्नोत्तर पद्धति के अनुसार हुई है। पर ष०ख० में जहाँ वह प्रश्नोत्तर की पद्धति सर्वत्र समान रही है वहाँ प्रज्ञापना में उस की पद्धति में एकरूपता नहीं रही है। जैसे—

"ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता।" —ष०ख० सूत्र १,२,२ (पु० ३)

इस प्रकार षट्खण्डागम में सामान्य से प्रश्न करके उसी सूत्र में उसका उत्तर भी दे दिया गया है। यह अवश्य है कि वहाँ 'अनन्त' के रूप में जो उत्तर दिया गया है उसे स्पष्ट करने के लिए आगे तीन सूत्र (१,२,३-५) और रचे गए हैं। यही पद्धति प्रायः षट्खण्डागम में सर्वत्र रही है। कहीं एक ही प्रश्न के समाधान में वहाँ आवश्यकतानुसार अनेक सूत्र भी रचे गये हैं जैसे—

"सामित्तेण उक्कस्सपदे णाणावरणीयवेयणा दव्वदो उक्कस्सिया कस्स ?"

—सूत्र ४,२,४,६ (पु० १०)

ज्ञानावरणीय के उत्कृष्ट द्रव्यवेदनाविषयक इस प्रश्न के उत्तर में वहाँ उस ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी गुणितकर्मांशिक के विविध लक्षणों से गर्भित छब्बीस सूत्र (४,२,४,७-३२) रचे गये हैं। यही स्थिति ज्ञानावरणीय के जघन्य द्रव्यवेदनाविषयक प्रश्न के उत्तर की भी रही है। वहाँ पृच्छासूत्र (४,२,४,४८) के समाधान में क्षपित कर्मांशिक के लक्षणों से गर्भित २७ सूत्र (४,२,४,४९-७५) रचे गये हैं। विशेष इतना है कि कहीं-कहीं षट्खण्डागम में प्रश्नोत्तर के विना भी विवक्षित विषय का विवेचन किया गया है। जैसे—उसके प्रथम खण्ड के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में से प्रथम सत्प्ररूपणा नामक अनुयोगद्वार में (पु० १)।

यह सब होते हुए भी वहाँ प्रश्नोत्तर पद्धति के स्वरूप में भेद नहीं हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के पूर्व व उस समय भी साधु-संघ में जो तत्त्व का व्याख्यान हुआ करता था उसमें यथावसर शिष्यों के द्वारा प्रश्न और आचार्य अथवा उपाध्याय के द्वारा उनका उत्तर दिया जाता था। इसी पद्धति पर आ० भूतवलि के द्वारा प्रस्तुत षट्खण्डागम की रचना की गई है। इसमें उन्होंने आचार्य धरसेन से प्राप्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के ज्ञान को पूर्णतया सुरक्षित रखा है।

परन्तु प्रज्ञापना में उस प्रश्नोत्तर की पद्धति में एकरूपता नहीं रही है। जैसे—

(१) उसके प्रथम 'प्रज्ञापना' पद को ही ले लें। वहाँ सूत्र ३-८१ तक "से किं तं पण्णवणा, से किं तं अजीवपण्णवणा" इत्यादि प्रकार से सामान्यरूप में प्रश्न उठाया गया है और तदनुसार ही उत्तर दिया गया है, वहाँ विशेषरूप में गौतम के द्वारा प्रश्न और भगवान् महावीर के द्वारा उत्तर की अपेक्षा नहीं की गई है।

(२) आगे वहीं पर सूत्र ८२ में सामान्य से प्रश्न इस प्रकार किया गया है—"से किं तं आसालिया? कहिं णं भंते ! आसालिया सम्मुच्छत्ति ?"

इसका उत्तर 'गोयमा !' इस प्रकार से गौतम को सम्बोधित करते हुए दिया गया है व अन्त में उसे समाप्त करते हुए यह कह दिया गया है—"से तं आसालिया।"

इस प्रकार से यहाँ प्रथमतः भगवान् महावीर को सम्बोधित न करके सामान्य से ही

आसालिया का स्वरूपविषयक प्रश्न किया गया है और तत्पश्चात् वहीं श्रमण महावीर को 'भंते' इस रूप में सम्बोधित करते हुए आसालिया के विषय में यह पूछा गया है कि वह सम्मूर्च्छनजन्म से कहाँ उत्पन्न होती है। उत्तर 'गोयमा' इस प्रकार के सम्बोधन के साथ दिया गया है।

इस प्रकार यहाँ प्रश्न के दो रूप हो गये हैं—एक किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य न करके सामान्य रूप से और दूसरा महावीर को लक्ष्य करके विशेष रूप से।

(३) पश्चात् सूत्र ८३-९२ में पूर्ववत् सामान्य रूप में ही प्रश्नोत्तर की स्थिति रही है, पर आगे सूत्र ९३ में पुनः ८२ वें सूत्र के समान प्रश्न के दो रूप हो गये हैं—

"से किं तं सम्मुच्छिममणुस्सा? कहि णं भंते! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति? गोयमा! ······से तं सम्मुच्छिममणुस्सा।"

आगे प्रकृत प्रथम 'प्रज्ञापना' पद के अन्त (१४७) तक तथा दूसरे 'स्थान' पद में भी पूर्ववत् सामान्यरूप में ही प्रश्नोत्तर की अवस्था रही है।

(४) तीसरे 'बहुवक्तव्य' पद के अन्तर्गत २६ द्वारों से प्रथम 'दिशा' द्वार में (सूत्र २१३-२४) में प्रश्नोत्तर की पद्धति नहीं रही है। वहाँ "दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जीवा पच्चत्थिमेणं······"इत्यादि रूप से सामान्य जीवों, पृथिवीकायिकादिकों, नारक-देवादिकों और अन्त में सिद्धों के अल्पबहुत्व को दिशाविभाग के अनुसार दिखलाया गया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार षट्खण्डागम में 'गदियाणुवादेण' (सूत्र १,१,२४), 'इंदियाणुवादेण' (सूत्र १,१,३३) इत्यादि प्रकार से प्रकरण का निर्देश करते हुए तदनुसार वहाँ प्रतिपाद्य विषय का निरूपण किया गया है उसी प्रकार से प्रज्ञापना के इस द्वार में भी सर्वत्र (सूत्र २१३-२४) 'दिसाणुवाएणं' या 'दिसाणुवातेण' इस प्रकार से प्रकरण का स्मरण कराते हुए उपर्युक्त जीवों में उस अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

(५) आगे इसी तीसरे पद में 'गति' द्वार से लेकर २३वें 'जीव' द्वार (सूत्र २२५-७५) तक गति आदि प्रकरणविशेष का प्रारम्भ में स्मरण न कराकर गौतम-महावीर कृत प्रश्नोत्तर के रूप में प्रकृत अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

(६) यहीं पर आगे २४वें 'क्षेत्र' द्वार में पुनः 'खेत्ताणुवाएणं' इस प्रकार से प्रकरण का स्मरण कराते हुए क्षेत्र के आश्रय से प्रकृत अल्पबहुत्व का विचार किया गया है व प्रश्नोत्तर-पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है (सूत्र २७६-३२४)।

(७) तत्पश्चात् २५वें 'बन्ध' द्वार (सूत्र ३२५) में गौतम के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर के रूप में 'बन्ध' प्रकरण का स्मरण न कराकर बन्धक-अबन्धक के साथ पर्याप्त-अपर्याप्त एवं सुप्त-जागृत आदि जीवों में अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

(८) अनन्तर २६ वें 'पुद्गल' द्वार में 'खेत्ताणुवाएणं' व 'दिसाणुवाएणं' ऐसा निर्देश करते हुए पुद्गलों (सूत्र ३२६-२७) और द्रव्यों (सूत्र ३२८-२९) के अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है।

(९) आगे सूत्र ३३०-३३ में गौतमकृत प्रश्न और महावीर द्वारा दिये गए उत्तर के रूप में विविध पुद्गलों के अल्पबहुत्व को दिखलाया गया है।

(१०) प्रकृत 'बहुवक्तव्य' द्वार के अन्तिम 'महादण्डक' द्वार को प्रारम्भ करते हुए यह सूचना की गई है—"अह भंते! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि।"

यहाँ 'भंते' यह संबोधन किसके लिए व किसके द्वारा किया गया है तथा 'वत्तइस्सामि' क्रिया का कर्ता कौन है, यह विचारणीय है। क्या गौतम गणधर भगवान् महावीर को सम्बोधित कर उस महादण्डक के कहने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं अथवा प्रज्ञापनाकार ही अपने बहुमान्य गुरु आदि को सम्बोधित कर उक्त महादण्डक के कहने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं ? वाक्य विन्यास कुछ असंगत-सा दिखता है।

(११) शेष पदों में प्रायः प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा गौतम के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर के रूप में ही की गई है है। अपवाद के रूप में एक सूत्र और (१०८६वां) भी देखा जाता है। वहाँ सामान्य से प्रश्न इस प्रकार किया गया है—

"से किं तं पओगगती ? पओगगती पण्णरसविहा पण्णत्ता। तं जहा…।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रज्ञापना में प्रश्नोत्तर की पद्धति समान रूप में नहीं रही है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में प्राचीन कौन ?

महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित प्रज्ञापना के संस्करण की प्रस्तावना में प्रज्ञापना को षट्खण्डागम की अपेक्षा प्राचीन ठहराया गया है।[1] इसके लिए वहाँ जो कारण दिए गए हैं उनके विषय में यद्यपि स्व० डॉ० हीरालाल जी जैन और डॉ० आ० ने० उपाध्ये के द्वारा षट्खण्डागम पु० १ की प्रस्तावना मे विचार किया जा चुका है,[2] फिर भी प्रसंग पाकर यहाँ भी उसके विषय में कुछ विचार कर लिया जाए—

१. उक्त प्रज्ञापना की प्रस्तावना में यह कहा गया है कि षट्खण्डागम में अनुयोगद्वार और निर्युक्ति की पद्धति से प्रतिपाद्य विषय को अनुयोगद्वारों में विभाजित कर निक्षेप आदि के आश्रय से उसकी व्याख्या की गई है। वहाँ अनुगम, संतपरूवणा, णिद्देस और विहासा जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु प्रज्ञापना में ऐसा नहीं किया गया, वह मौलिक सूत्र के रूप में देखा जाता है। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम प्रज्ञापना से पीछे रचा गया या संकलित किया गया है।

यहाँ हम यह देखना चाहेंगे कि भगवान् महावीर के द्वारा अर्थरूप से उपदिष्ट और गौतम गणधर के द्वारा ग्रन्थ रूप से ग्रथित जिस मौलिक श्रुत की परम्परा पर ये दोनों ग्रन्थ आधारित हैं उस मौलिक श्रुत का क्या स्वरूप रहा है। यहाँ हम आचारादि प्रत्येक अंगग्रन्थ को न लेकर उस चौथे समवायांग के स्वरूप पर विचार करेंगे जिसका उपांग उस प्रज्ञापनासूत्र को माना जाता है। नन्दिसूत्र में समवायांग का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

समवायांग में जीव, अजीव, जीव-अजीव; लोक, अलोक, लोकालोक; स्वसमय, परसमय और स्वसमय-परसमय; इनका संक्षेप किया जाता है। उसमें एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक के क्रम से वृद्धिगत सौ भावों की प्ररूपणा की जाती है। द्वादशांगरूप गणि-पिटक के पल्लवाग्रों को संक्षिप्त किया जाता है। उसमें परीत वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढा, संख्यातश्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात प्रतिपत्तियाँ और संख्यात संग्रहणियाँ

---

१. गुजराती प्रस्तावना में 'प्रज्ञापना और षट्खण्डागम' शीर्षक। पृ० १६-२२

२. ष० ख० पु० १ (द्वि० आवृत्ति) के 'सम्पादकीय' में 'षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र' शीर्षक। पृ० ६-१३

हैं। आगे जाकर उसके पदों का प्रमाण एक लाख चवालीस हजार बतलाया गया है (नन्दि-सूत्र ९०)। धवला में उसके पदों का प्रमाण एक लाख चौंसठ हजार बतलाया गया है। (पु० १, पृ० १०१)

धवला में आगे मध्यम पद के रूप में प्रसिद्ध उन पदों में प्रत्येक पद के अक्षरों का प्रमाण एक प्राचीन गाथा को उद्धृत कर उसके आश्रय से सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४,८३,०७,८८८) निर्दिष्ट है। (पु० १३, पृ० २६६)

उपर्युक्त समवायांग के लक्षण से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के द्वारा अर्थरूप से प्ररूपित और गौतमादि गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित प्रकृत समवायांग में परीत वाचनाएँ और संख्यात अनुयोगद्वार आदि रहे हैं। उसके पदों का प्रमाण एक लाख चवालीस हजार (१४४०००) रहा है।[1]

अब विचार करने की बात है कि जब मूल अंगग्रन्थों में अनुयोगद्वार रहे हैं तब षट्खण्डा-गम में अनुयोगद्वारों का निर्देश करके प्रतिपाद्य विषय का वर्गीकरण करते हुए यदि कृति व वेदना आदि शब्दों की व्याख्या निक्षेप व नयों के आधार से की गई है तो इससे उसकी प्राचीनता कैसे समाप्त हो जाती है?

प्रज्ञापना में यदि वैसे अनुयोगद्वार नहीं हैं तथा वहाँ यदि नय व निक्षेप आदि के आश्रय से विशिष्ट शब्दों की व्याख्या नहीं की गई है तो यह उसकी प्राचीनता का साधक नहीं हो सकता। किन्तु वहाँ अनुयोगद्वार आदि न होने के अन्य कारण हो सकते हैं, जिन्हें आगे स्पष्ट किया जाएगा।

भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट और गौतमादि गणधरों द्वारा ग्रथित उसी मौलिक श्रुत की परम्परा के आश्रय से षट्खण्डागम और प्रज्ञापना दोनों ग्रन्थों की रचना हुई है। इसका उल्लेख दोनों ग्रन्थों में किया गया है। यथा—

बारहवें दृष्टिवाद अंग का चौथा अर्थाधिकार 'पूर्वगत' है। वह उत्पादादि के भेद से चौदह प्रकार का है। उनमें दूसरा अग्रायणीय पूर्व है। उसके अन्तर्गत चौदह 'वस्तु' अधिकारों में पाँचवाँ चयनलब्धि अधिकार है। उसके अन्तर्गत बीस प्राभृतों में चौथा 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' है। वह अविच्छिन्न परम्परा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने गिरिनगर की चन्द्रगुफा में आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को पूर्णतया समर्पित कर दिया। आचार्य भूतबलि ने श्रुत-नदी के प्रवाह के व्युच्छिन्न हो जाने के भय से उस महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपसंहार कर छह खण्ड किये—षट्खण्ड स्वरूप प्रस्तुत षट्खण्डागम की रचना की। यह षट्खण्डागम की रचना का इतिहास है।[2]

उधर प्रज्ञापना में इस सम्बन्ध में इतना मात्र कहा गया है कि भगवान् जिनेन्द्र ने समस्त भावों की प्रज्ञापना दिखलायी है। भगवान् ने दृष्टिवाद से निकले हुए श्रुत-रत्नस्वरूप इस

---

१. यह केवल समवायांग के ही स्वरूप के प्रसंग में नहीं कहा गया है, अन्य आचारादि अंगों में भी इसी प्रकार परीत वाचनाओं और संख्यात अनुयोगद्वारों आदि के रहने का उल्लेख है। देखिए नन्दिसूत्र ८७-९८

२. ष० ख० सूत्र ४,१,४५ (पु० ९, पृ० १३४) तथा धवला पु० ९, पृ० १२६-३४ में ग्रन्थ-कर्त्ता की प्ररूपणा। धवला पु० १. पृ० ६०-७६ व आगे पृ० १२३-३० भी द्रष्टव्य हैं।

चित्र अध्ययन का जिस प्रकार से वर्णन किया है मैं भी उसी प्रकार से वर्णन करूँगा।[1] दृष्टिवाद के पाँच भेदों में से किस भेद से उक्त प्रज्ञापना अध्ययन निकला है[2], इसकी कुछ विशेष सूचना वहाँ नहीं की गई है, जैसी कि उसकी स्पष्ट सूचना षट्खण्डागम में की गई है।

षट्खण्डागम के समान नन्दिसूत्र में भी दृष्टिवाद के ये पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं— (१) परिकर्म, (२) सूत्र, (३) पूर्वगत, (४) अनुयोग और (५) चूलिका। विशेषता इतनी रही है कि ष०ख० में जहाँ तीसरा भेद 'प्रथमानुयोग' निर्दिष्ट किया गया है वहाँ नन्दिसूत्र में चौथा भेद 'अनुयोग' कहा गया है।[3] तीसरे चौथे भेद में क्रम-व्यत्यय है।

इस प्रकार नन्दिसूत्र में निर्दिष्ट समवायांग के स्वरूप को देखते हुए वर्तमान में उपलब्ध 'समवायांग' ग्रन्थ को मौलिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। कारण यह कि उसमें न तो परीत वाचनाएँ हैं और न संख्यात अनुयोगद्वार आदि भी हैं। उसके पदों का प्रमाण भी उतना (१४४०००) सम्भव नहीं है। वह तो वर्तमान में उपलब्ध आचारांग ग्रन्थ से भी, जिसके पदों का प्रमाण नन्दिसूत्र (८७) में केवल १८००० हजार ही निर्दिष्ट किया गया है, ग्रन्थ-प्रमाण में हीन है। उसका संकलन देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण (विक्रम सं० ५१०-५२३ के लगभग) के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई वलभी वाचना के पश्चात् किया गया है। उसके उपांगभूत प्रज्ञापना की रचना उसके बाद ही सम्भव है।

मौलिक श्रुत का वह प्रवाह भगवान् महावीर और गौतम गणधर से प्रवाहित होकर अविच्छिन्न धारा के रूप में आचार्य भद्रबाहु तक चला आया। आ० भद्रबाहु ही ऐसे एक श्रुत-केवली हैं जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। वे द्वादशांग श्रुत के पारंगत रहे हैं। उनके समय में ही वह अखण्ड श्रुत का प्रवाह दो धाराओं में संकुचित हो गया था। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, दिगम्बर मुनिजन उस श्रुत को उत्तरोत्तर लुप्त होता मानते रहे हैं। इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर श्रुत के हीन होते जाने पर जो उसके एक देशरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृत आचार्य भूतबलि को प्राप्त हुआ उसका उपसंहार कर उन्होंने अपने बुद्धिबल से गुणस्थान और मार्गणाओं के आश्रय से प्रतिपाद्य विषय-को यथासम्भव अनुयोगद्वारों में विभक्त किया और नय-निक्षेप के अनुसार उसका योजनाबद्ध सुव्यवस्थित व्याख्यान किया है। इससे आ० पुष्पदन्त के साथ उनके द्वारा विरचित षट्खण्डागम में व्याख्येय विषय के विवेचन में कहीं कुछ अव्यवस्था नहीं हुई है।

इसके विपरीत श्वेताम्बर मुनिजन वर्तमान में उपलब्ध अंगश्रुत में बँधकर उसी के संरक्षण व संवर्धन में लगे रहे, अपने बुद्धिबल से उन्होंने उसका क्रमबद्ध व्यवस्थित व्याख्यान नहीं किया।

---

१. सुय-रयणनिहाणं जिणवरेण भवियजणणिव्वुइकरेण।
उवदंसिया भगवया पण्णवणा सव्वभावाणं॥
अज्झयणमिणं चित्तं सुय-रयणं दिट्ठिवायणीसंदं।
जह वण्णियं भगवया अहमवि तह वण्णइस्सामि॥ —प्रज्ञापना गा० २-३

२. प्रस्तावना के लेखक भी इस विषय में कुछ निर्णय नहीं कर सके हैं। गुजराती प्रस्तावना पृ० ६

३. ष० ख० (धवला) पु० १, पृ० १०९ तथा पु० ६, पृ० २०५ और नन्दिसूत्र ९८; नन्दि-सूत्र (११०) में अनुयोग के दो भेद निर्दिष्ट हैं— मूलप्रथमानुयोग और गणिकानुयोग।

इससे प्रतिपाद्य विषय के विवेचन में क्रमबद्धता नहीं रही व अव्यवस्था भी हुई है। प्रज्ञापना को इसी कोटि का ग्रन्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि प्रज्ञापना में प्रतिपाद्य विषय का ठीक से वर्गीकरण न करके उसका व्याख्यान अथवा संकलन किया गया है। उसमें विवक्षित विषय का विवेचन क्रमबद्ध व व्यवस्थित नहीं हो सका है।

जिन ग्रन्थकारों ने उपलब्ध श्रुत की सीमा में न बँधकर अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन शैली से प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान किया है उनके द्वारा रचे गये ग्रन्थों में कहीं कोई अव्यवस्था नहीं हुई है। इसके लिए 'जीवसमास' का उदाहरण है। उसमें समस्त गाथाओं की संख्या केवल २८६ है। वहाँ जो विवक्षित विषय का व्याख्यान किया गया है वह क्रमबद्ध व अतिशय व्यवस्थित रहा है। वहाँ प्रारम्भ में ही विवक्षित जीवसमासों को निक्षेप, नय, निरुक्ति तथा छह अथवा आठ अनुयोगद्वारों से अनुगन्तव्य कहा गया है और तत्पश्चात् चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओं के नामनिर्देशपूर्वक सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में क्रम से गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं[1] के आश्रय से उन जीवसमासों की प्ररूपणा की गई है। उसकी बहु-अर्थ-गर्भित उस संक्षिप्त प्ररूपणा को देखकर आश्चर्य उत्पन्न होता है।

जीवसमास के अन्तर्गत २७-२८, २९ का पूर्वार्ध और उसी २९ का उत्तरार्ध ये गाथाएँ प्रज्ञापना में क्रम से ८-९, १० का पूर्वार्ध और ११ का उत्तरार्ध इन गाथांकों में उपलब्ध होती हैं। दोनों ग्रन्थों में इन गाथाओं के द्वारा पृथिवीभेदों का उल्लेख किया गया है। यह यहाँ स्मरणीय है कि जीवसमास ग्रन्थ में जहाँ पृथिवी के ३६ भेदों का उल्लेख है वहाँ प्रज्ञापना में उसके ४० भेदों का उल्लेख किया गया है। इससे दोनों ग्रन्थगत इस प्रसंग की अन्य गाथाओं में कुछ भेद हो गया है। आगे प्रज्ञापना में जीवसमास की अपेक्षा अप्कायिकादिकों के भेदों को भी विकसित कर उनका उल्लेख वहाँ अधिक संख्या में किया गया है।[2]

आगे जीवसमास की गाथा ३५ का भी प्रज्ञापनागत गाथा १२ से मिलान किया जा सकता है, दोनों में पर्याप्त शब्दसाम्य है। विशेषता यह है कि प्रज्ञापना में वनस्पतिकायिकभेदों को अधिक विकसित किया गया है।

जीवसमासगत विषय-विवेचन की शैली, रचनापद्धति और संक्षेप में अधिक अर्थ की प्ररूपणाविषयक पटुता को देखते हुए यह निश्चित प्रतीत होता है कि वह किसी अनिर्ज्ञात बहुश्रुतशाली प्राचीन आचार्य के द्वारा रचा गया है व सम्भवतः प्रज्ञापना से प्राचीन है।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में प्रथम अध्याय के अन्तर्गत सूत्र ७ और ८ की आधारभूत कदाचित् जीवसमास की ये गाथाएँ हो सकती हैं—

> किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कइविहो उ भावो त्ति।
> छह अणुयोगद्दारेहि सव्वे भावाऽणुगंतव्वा ॥४॥
> संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्त-फुसणा य।
> कालंतरं च भावो अप्पाबहुअं च दाराइं ॥५॥

प्रज्ञापना की रचना तो सम्भवतः सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के पश्चात् हुई है। कारण यह है कि सर्वार्थसिद्धि में अंगबाह्य श्रुत के प्रसंग में दशवैकालिक और

---

१. जीवसमास, गाथा २-९

२. जीवसमास गाथा ३१, ३२,३३ और प्रज्ञापनासूत्र २८ (१), ३१ (१) व ३४ (१)

उत्तराध्ययन का तो उल्लेख किया गया है, पर प्रज्ञापना का कहीं उल्लेख नहीं किया गया।[1] इसी प्रकार त० भाष्य में भी उसी अंगबाह्य श्रुत के प्रसंग में सामायिकादि छह आवश्यकों, दशवैकालिक, उत्तराध्याय, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का तो उल्लेख है, पर प्रज्ञापना का वहाँ भी उल्लेख नहीं किया गया।[2]

यह भी ध्यातव्य है कि इसी प्रसंग में आगे त० भाष्य में 'उपांग'[3] का भी निर्देश किया गया है। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि प्रज्ञापना को चौथा उपांग माना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि 'प्रज्ञापना' ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार के समक्ष रहा होता तो कोई कारण नहीं कि वे दशवैकालिकादि के साथ प्रज्ञापना का भी उल्लेख न करते।

२. षट्खण्डागम में यदि प्रत्येक मार्गणा के प्रारम्भ में 'गदियाणुवादेण', इंदियाणुवादेण, कायाणुवादेण इत्यादि शब्दों का निर्देश करते हुए प्रकरण के प्रारम्भ करने की सूचना की गई है तो प्रज्ञापना में भी 'दिसाणुवाएण' और 'खेत्ताणुवाएण'[4] इन शब्दों के द्वारा दिशा और क्षेत्र के आश्रय से अल्पबहुत्व के कथन की सूचना की गई है। 'बहुवक्तव्य' पद के अन्तर्गत २७ द्वारों में दिशा (१) और क्षेत्र (२४) द्वारों को छोड़कर यदि अन्य गति आदि द्वारों में वहाँ इस 'गइअणुवाएणं' आदि की प्रक्रिया का आश्रय नहीं लिया गया है तो यह षट्खण्डागम की अपेक्षा उस प्रज्ञापना की प्राचीनता का साधक तो नहीं हो सकता, बल्कि इससे तो प्रज्ञापना में विषय विवेचन की पद्धति में विरूपता ही सिद्ध होती है। समरूपता तो उसमें तभी सम्भव थी, जब उन सब द्वारों में से किसी भी द्वार में वैसे शब्दों का उपयोग न किया जाता या फिर 'दिशा' और 'क्षेत्र' द्वारों के समान अन्य द्वारों में भी प्रसंग के अनुरूप वैसे शब्दों का उपयोग किया जाता।

यहाँ एक विशेषता और भी देखी गई है। वह यह कि सूत्र २१६ (१-८) में दिशाक्रम से सामान्य नारकों और फिर क्रम से सातों पृथिवियों के नारकों के अल्पबहुत्व को दिखलाकर आगे सूत्र २१७ (१-६) में 'दिसाणुवाएणं' शब्द का निर्देश न करके क्रम से दक्षिणदिशागत सातवीं आदि पृथिवियों के नारकों से छठी आदि पृथिवियों के नारकों के अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है, किन्तु वहाँ पूर्वादि दिशागत सातवीं आदि पृथिवियों के नारकों से छठी आदि पृथिवियों के नारकों के अल्पबहुत्व को नहीं प्रकट किया गया है। इस प्रकार से यहाँ प्रकृत अल्पबहुत्व की प्ररूपणा अधूरी रह गई है।

इसके अतिरिक्त यहाँ जीवभेदों में जिन जीवों का उल्लेख किया गया है उन सब में यदि

---

१. "अङ्गबाह्यमनेकविधं दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि। ×× आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात् संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहाय दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्, तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।" —स०सि० १-२०

२. "अङ्गबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः दशाः कल्प-व्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि।" —त० भाष्य १-२०

३. "तस्य च महाविषयत्वात् तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम्।" —त० भाष्य १-२०

४. प्रज्ञापनासूत्र २१३-२४, २७६-३२४ व ३२६-२९

उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई होती तो उसे परिपूर्ण कहा जाता। किन्तु वहाँ वैसा नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, मनुष्यों को ले लीजिए। सूत्र २१९ में मनुष्यों के अल्पबहुत्व दिखलाते हुए वहाँ इतना मात्र कहा गया है—

'दिशा के अनुवाद से मनुष्य दक्षिण-उत्तर की ओर सबसे स्तोक हैं, उनसे पूर्व की ओर संख्यातगुणे हैं, उनसे पश्चिम की ओर विशेष अधिक हैं।'

यह स्मरणीय है कि वहाँ मनुष्यजीवप्रज्ञापना में मनुष्यों के अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है (सूत्र ९२-१३८)। उन सब में विशेष रूप से उस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा क्यों नहीं की गई?

इसी प्रकार से आगे सूत्र २२० आदि में सामान्य से ही भवनवासी व वानव्यन्तर देवादि के अल्पबहुत्व दिखलाया गया है, जब कि पीछे प्रज्ञापना (सूत्र १४० आदि) में उनके-अनेक भेदों का उल्लेख हुआ है। स्थान भी उनके पृथक्-पृथक् दिखलाये गये हैं (सूत्र १७७-८७) आदि।

इस प्रकार इस 'बहुवक्तव्य' पद में केवल जीवों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है, वह भी कुछ अपूर्ण ही रही है।

३. षट्खण्डागम (पु० १४) में शरीरिशरीर प्ररूपणा के प्रसंग में "तत्थ इमं साहारण-लक्खणं भणिदं" (सूत्र १२१) ऐसी सूचना करते हुए आगे तीन (१२२-२४) गाथाओं को उद्धृत किया गया है। ये तीनों गाथाएँ विपरीत क्रम (९९,१००,१०१) से प्रज्ञापना में भी उपलब्ध होती हैं। उपर्युक्त सूत्र में 'यह साधारण जीवों का लक्षण कहा गया है' ऐसी सूचना करते हुए षट्खण्डागमकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये परम्परागत गाथाएँ हैं।

यदि प्रज्ञापना में वैसी कुछ सूचना न करके उन गाथाओं को ग्रन्थ में आत्मसात् किया गया है तो वे गाथाएँ प्रज्ञापनाकार के द्वारा रची गई हैं, यह तो सिद्ध नहीं होता। वे गाथाएँ निश्चित ही प्राचीन व परम्परागत हैं। ऐसी परम्परागत बहुत-सी गाथाएँ प्रज्ञापना के अन्तर्गत हैं जो उत्तराध्ययन एवं आचारांग व दशवैकालिक आदि निर्युक्तियों में उपलब्ध होती हैं।

षट्खण्डागम गत उन गाथाओं में गाथा १२३ (प्रज्ञापना १००) का पाठ अवश्य कुछ दुरूह है, जबकि प्रज्ञापना में उसी का पाठ सुबोध है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वह परम्परागत गाथा षट्खण्डागमकार को उसी रूप में प्राप्त हुई है, भले ही उसका पाठ कुछ अव्यवस्थित या अशुद्ध रहा हो। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि षट्खण्डागमकार के समक्ष प्रकृत प्रज्ञापना ग्रन्थ नहीं रहा, अन्यथा वे उसे वहाँ देखकर उसका पाठ तदनुसार ही प्रस्तुत कर सकते थे।

यह भी सम्भव है कि षट्खण्डागमकार को तो उक्त गाथा का पाठ कुछ भिन्न रूप में उपलब्ध हुआ हो और तत्पश्चात् धवलाकार के पास तक आते आते वह कुछ भ्रष्ट होकर उन्हें उस रूप में प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार जिस रूप में उन्हें वह प्राप्त हुआ, उसी की संगति धवला में बैठाने का उन्होंने प्रयत्न किया हो। इससे यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि धवलाकार के समक्ष भी वह प्रज्ञापना ग्रन्थ नहीं रहा, अन्यथा वे उससे उक्त गाथा के उस सुबोध पाठ को ले लेते और तब वैसी कष्टप्रद संगति को बैठाने का परिश्रम नहीं करते।[1]

---

१. धवला पु० १४, पृ० २२८-२९

धवलाकार के समक्ष प्रज्ञापना के न रहने का दूसरा भी एक कारण है। वह यह कि श्रुतावतार के प्रसंग में अंगबाह्य या अनंगश्रुत के चौदह भेदों का उल्लेख करते हुए धवला में जहाँ दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और निशीथ जैसे ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है वहाँ प्रज्ञापना के समक्ष रहते हुए भी उसका उल्लेख न किया जाय; यह कैसे सम्भव है? यदि धवलाकार प्रज्ञापना से परिचित रहे होते वे वहाँ दशवैकालिक आदि के साथ उसका भी उल्लेख अवश्य करते।[1]

उन तीन गाथाओं में षट्खण्डागमगत गाथा १२४ और प्रज्ञापनागत गाथा ६६, दोनों एक ही हैं। उसमें जो 'समगं च अणुग्गहणं' और 'समयं आणुग्गहणं' यह पाठभेद है उसका कुछ विशेष महत्त्व नहीं है। ष० ख० में उसके पाठभेद में जो 'च' है वह समुच्चय का बोधक होने से सार्थक ही दिखता है। प्रज्ञापनागत पाठभेद में यदि 'च' नहीं रहा तो वहाँ छन्द की दृष्टि से 'अ' के स्थान में 'आ' का उपयोग करना पड़ा है।

४. ष० ख० में 'महादण्डक' शब्द का उपयोग सात स्थलों में किया गया है[2], जबकि प्रज्ञापना में 'महादण्डक' शब्द का उपयोग एक ही स्थान में किया गया है। उसकी सूचना ष० ख० में प्रायः सर्वत्र 'कादव्वो भवदि' या 'कायव्वो भवदि' के रूप में की गई है। पर प्रज्ञापना (सूत्र ३३४) में उसका निर्देश 'वत्तइस्सामि' इस भविष्यत्कालीन क्रियापद के साथ किया गया है।

ष० ख० में वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार में बन्धक जीवों की प्ररूपणा करते हुए "गति के अनुवाद से नरकगति में नारक बन्धक हैं, तिर्यंच बन्धक हैं, देव बन्धक हैं, मनुष्य बन्धक भी हैं और अबन्धक भी हैं, तथा सिद्ध अबन्धक हैं, इस प्रकार क्षुद्रकबन्ध (द्वि० खण्ड) के ग्यारह अनुयोगद्वारों की यहाँ प्ररूपणा करना चाहिए" ऐसी सूचना करते हुए आगे यह भी कह दिया गया है कि *"इस प्रकार से महादण्डक की भी प्ररूपणा करना चाहिए"*[3]। (पु० १४, सूत्र ६६-६७)

यह संकेत उसी महादण्डक की ओर किया गया है, जिसका उल्लेख प्रज्ञापना की प्रस्तावना (पृ० १८) में किया गया है।

५. ष० ख० में द्वि० खण्ड क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में जो छठा क्षेत्रानुगम और सातवाँ स्पर्शनानुगम अनुयोगद्वार हैं उनमें क्रम से जीवों के वर्तमान निवास रूप क्षेत्र

---

१. अंगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तं जहा—सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणापडिकमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसिहियं चेदि।" —धवला पु० १, पृ० ९६ तथा पु० ९, पृ० १८७-८८ (त०भाष्य में निर्दिष्ट अंगबाह्य के अनेक भेदों में जिनका उल्लेख किया गया है उनमें प्रारम्भ के चार तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और निशीथ ये सात दोनों में समान हैं। धवला में जहाँ 'कप्पववहारो' पाठ है वहाँ त० भाष्य में 'कल्प-व्यवहारौ' पाठ है। श्वे० सम्प्रदाय में कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र ये दो पृथक् ग्रन्थ उपलब्ध हैं)।

२. पु० ६, पृ० १४० व १४२; पु० ७, पृ० ५७५; पु० ११, पृ० ५६; पु० १२, पृ० ४४ व ६५; पु० १४, पृ० ४७ व ५०१

३. महादण्डक के विषय में पीछे तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

और कालत्रय सम्बन्धी अवस्थानरूप स्पर्शन की प्ररूपणा की गई है। (पु० ७)

प्रज्ञापना में ३६ पदों के अन्तर्गत जो दूसरा 'स्थान' पद है उसमें एकेन्द्रियों (पृथिवी-कायिक आदि), द्वीन्द्रियों, त्रीन्द्रियों, चतुरिन्द्रियों, पंचेन्द्रियों (नारक व तिर्यंच आदि) और सिद्ध जीवों के स्थानों की प्ररूपणा की गई है। यह बहुत विस्तृत है। विस्तार का कारण यह है कि वहाँ स्थानों के प्रसंग में ऐसे अनेक स्थानों को गिनाया गया है जो पर्याप्त नहीं हैं—उनसे भी वे अधिक सम्भव हैं। जैसे—बादर पृथिवीकायिक पर्याप्तकों के स्थानों का निर्देश करते हुए रत्न-शर्करादि आठ पृथिवियों का नामोल्लेख, अधोलोक, पातालों, भवनों, भवनप्रस्तारों, नरकों और नारकश्रेणियों आदि का उल्लेख (सूत्र १४८)। पर इतने स्थानों से भी उनके वे अधिक सम्भव हैं, ऐसी अवस्था में उनकी सीमा का निर्धारण करना संगत नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त यह सूत्रग्रन्थ है और सूत्र का लक्षण है—

अप्पगंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि गुणेहि उववेयं॥ —आव० नि० ८८०

इस सूत्रलक्षण के अनुसार सूत्रग्रन्थ को ग्रन्थप्रमाण से हीन होकर विस्तीर्ण अर्थ से गर्भित होना चाहिए। वह बत्तीस दोषों से रहित होकर लक्षण से युक्त और आठ गुण से सम्पन्न होता है।

इस सूत्र के लक्षण को देखते हुए यहाँ इतना विस्तार अपेक्षित नहीं था, फिर जो विस्तार किया भी गया है वह अपने आप में अपूर्ण भी रह गया है।

आगे सामान्य नारकियों के और फिर विशेष रूप में क्रम से रत्नप्रभादि सातों पृथिवियों के नारकियों के स्थानों की पृथक्-पृथक् चर्चा है जिसमें उनकी बीभत्सता के प्रकट करने में पुनरुक्ति अधिक हुई है। (सूत्र १६८-७४)

इसी प्रकार का विस्तार वहाँ आगे भवनवासी और वानव्यन्तर देवों के स्थानों की भी प्ररूपणा में हुआ है। (सूत्र १७७-९४)

अब तुलनात्मक दृष्टि से ष० ख० में की गई इस स्थानप्ररूपणा पर विचार कीजिये—

(१) वहाँ प्रश्नोत्तरपूर्वक यह कहा गया है कि बादर पृथिवीकायिकों, अप्कायिकों, तेजस्-कायिकों, वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीरियों और उन सब अपर्याप्तों का स्थान स्वस्थान की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग तथा समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक है। (सूत्र २,६,३४-३७ पु० ७)

बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, बादर अप्कायिक पर्याप्त, बादर तेजस्कायिक पर्याप्त और बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्त जीवों का क्षेत्र स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग है।[1] (सूत्र २,६,३८-३९)

इस प्रकार ष० ख० में उपर्युक्त जीवों के क्षेत्र की प्ररूपणा छह (३४-३९) सूत्रों में ही कर दी गई है। इसमें प्रज्ञापना में निर्दिष्ट वे सब स्थान तो गर्भित हैं ही, साथ ही प्रज्ञापना में अनिर्दिष्ट जो अन्यत्र उनके स्थान सम्भव हैं वे भी उसमें आ जाते हैं।

इस प्रकार विभिन्न मार्गणाओं में जिन जीवों का क्षेत्र समान है उन सबके क्षेत्र की प्ररूपणा ष० ख० में एक साथ कर दी गई है।

---

१. आगे सूत्र २,७,७२-८१ भी द्रष्टव्य हैं।

(२) इसके पूर्व गतिमार्गणा में सामान्य से देवों के क्षेत्र की प्ररूपणा करते हुए उनका क्षेत्र स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है। (सूत्र २,६,१५-१६)

आगे भवनवासियों से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवों तक देवों के क्षेत्रप्रमाण को सामान्य से देवगति (सूत्र २,६,१५-१६) के समान कह दिया गया है। (सूत्र २,६,१७)

इस प्रकार ष० ख० में मार्गणाक्रम से जो उस क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है वह प्रज्ञापना की अपेक्षा कितनी क्रमबद्ध, सुगठित, संक्षिप्त और विषय विवेचन की दृष्टि से परिपूर्ण है; यह उपर्युक्त दो उदाहरणों से भलीभाँति समझा जा सकता है।

६. प्रज्ञापना में मंगल के पश्चात् जो दो गाथाएँ उपलब्ध होती हैं वे प्रक्षिप्त हैं। उनकी व्याख्या हरिभद्र सूरि और मलयगिरि सूरि ने की तो है, पर उन्हें प्रक्षिप्त मानकर ही वह व्याख्या उनके द्वारा की गई है। इन गाथाओं में भगवान् आर्यश्याम को नमस्कार किया गया है जिन्होंने श्रुत-सागर से चुनकर शिष्यगण के लिए उत्तम श्रुत-रत्न दिया है। उनमें से पूर्व की गाथा में उन मुनि आर्यश्याम को वाचक वंश से तेईसवी पीढ़ी का धीर पुरुष निर्दिष्ट किया गया है।[1]

इन प्रक्षिप्त गाथाओं के आधार पर श्यामार्य को प्रज्ञापना का कर्ता माना जाता है। पर मूल ग्रन्थ में कर्ता के रूप में कहीं श्यामार्य का उल्लेख नहीं किया गया है। उन गाथाओं में भी उनके द्वारा उत्तम श्रुत-रत्न के दिये जाने मात्र की सूचना की गई है। पर वह श्रुत-रत्न प्रस्तुत प्रज्ञापना उपांग था, इसे तो वहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है—सम्भव है वह दूसरा ही कोई उत्तम ग्रन्थ रहा हो। इस परिस्थिति में प्रक्षिप्त गाथाओं के आधार से भी श्यामार्य को प्रज्ञापना का कर्ता कैसे माना जाय, यह विचारणीय है। हरिभद्र सूरि के द्वारा यदि उन गाथाओं की व्याख्या की गई है तो उससे इतना मात्र सिद्ध होता है कि श्यामार्य हरिभद्र सूरि के समय (८वी शती) में प्रसिद्ध हो चुके थे, पर वे प्रज्ञापना के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध थे, यह सिद्ध नहीं होता।

उन गाथाओं में श्यामार्य को वाचकवंश की तेईसवी पीढ़ी का जो कहा गया है उसके विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि वाचकवंश कब से प्रारम्भ हुआ और उसकी तेईसवी पीढ़ी कब पड़ी।

इसके विपरीत नन्दिसूत्र की स्थविरावली में श्यामार्य को हारितगोत्रीय कहा गया है।[2] यह परस्पर विरोध क्यों?

७. प्रज्ञापना की प्राचीनता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि पट्टावलियों में तीन कालकाचार्यों का उल्लेख है। उनमें धर्मसागरीय पट्टावलि के अनुसार एक कालक की मृत्यु वीरनिर्वाण सं० ३७६ में हुई। खरतरगच्छीय पट्टावलि के अनुसार वीरनिर्वाण सं० ३७६ में

---

१. वायगवरवंसाओ तेवीसइएण धीरपुरिसेण।
दुद्धरधरेण मुणिणा पुव्वसुयसमिद्धवुद्धीण॥
सुय-सागरा विणेऊण सुय-रयणमुत्तमं दिन्नं।
सीसगणस्स भगवओ तस्स नमो अज्जसामस्स॥ —पक्खित्तं गाहाजुयलं।

२. हारियगोत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं। —नन्दिसूत्र गाथा २६ पू०।

उनका जन्म हुआ। उनका दूसरा नाम श्यामाचार्य था। दूसरा गर्दभिल्ल का उच्छेदक कालक वीरनिर्वाण सं० ४५३ (विक्रम पूर्व १७) में हुआ और तीसरा वीरनि० सं० ९९३ (वि० सं० ५२३) में हुआ। इनमें प्रथम कालक ही श्यामाचार्य हैं, जिन्होंने प्रज्ञापना की रचना की है।[1]

उनमें 'कालक' और 'श्याम' इन समानार्थक शब्दों के आश्रय से जो कालकाचार्य और श्यामाचार्य को अभिन्न दिखलाया गया है वह काल्पनिक ही है, इसके लिए ठोस प्रमाण कुछ भी नहीं दिया गया है।

दूसरे, इन पट्टावलियों का लेखनकाल भी अनिश्चित है। इसके अतिरिक्त उनमें परस्पर विरोध भी है। इस प्रकार परम्परा के आधार से निगोदव्याख्याता कालकाचार्य को ही श्यामाचार्य मानकर[2] उनके द्वारा विरचित प्रज्ञापना का रचनाकाल वीरनिर्वाण सं० ३३५-७६ (विक्रमपूर्व १३५-९४ व ईसवी पूर्व ७९-३८) मानना संगत नहीं माना जा सकता।

उपसंहार

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना ये दोनों सैद्धान्तिक ग्रन्थ हैं, जो समान मौलिक श्रुत की परम्परा के आधार से रचे गये हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर अर्थश्रुत के प्रणेता और गौतमादि गणधर ग्रन्थश्रुत के प्रणेता रहे हैं।[3]

इस प्रकार समान मौलिक परम्परा पर आधारित होने से प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों में रचना-शैली, विषयविवेचन की पद्धति और पारिभाषिक शब्दों आदि की समानता का रहना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, परम्परागत उस मौलिक श्रुत के आधार से मौखिक रूप में आनेवाली कितनी ही ऐसी गाथाएँ हैं जो दोनों ही ग्रन्थों में यथाप्रसंग समान रूप में देखी जाती हैं। इतना विशेष है कि षट्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना में वे अधिक हैं। उनमें कुछ भाष्यात्मक गाथाएँ भी हैं, जो सम्भवतः ग्रन्थ में पीछे जोड़ी गई हैं। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में अनेक समानताओं के होने पर भी उनकी कुछ अपनी अलग विशेषताएँ भी हैं जैसे—

(१) प्रज्ञापना के प्रारम्भ में मंगल के पश्चात् यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् जिनेन्द्र ने मुमुक्षुजनों को मोक्षप्राप्ति के निमित्त प्रज्ञापना का उपदेश किया था। परन्तु वर्तमान प्रज्ञापना ग्रन्थ में उस मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य में नहीं रखा गया दिखता। कारण यह है कि मोक्षप्राप्ति के उपायभूत जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं उनका उत्कर्ष गुणस्थानक्रम के अनुसार होता है। परन्तु प्रज्ञापना में उन गुणस्थानों का कहीं कोई विचार नहीं किया गया। इतना ही नहीं, गुणस्थान का तो वहाँ नाम भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसके विपरीत षट्खण्डागम में, विशेषकर उसके प्रथम खण्ड जीवस्थान में, मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों का यथायोग्य गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से पर्याप्त विचार

---

१. गुजराती प्रस्तावना पृ० २२-२३

२. परम्परा के अनुसार कालकाचार्य को निगोद का व्याख्याता माना जाता है। प्रकृत प्रज्ञापना (सूत्र ५४-५५, गाथा ४७-१०९) में निगोद (साधारणकाय) की विस्तृत प्ररूपणा की गई है। इसी आधार से समानार्थक नामों के कारण सम्भवतः प्रथम कालक और श्यामाचार्य को अभिन्न मान लिया गया है, जिसके लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

३. धवला पु० १, पृ० ६०-६१ व ६४-६५ तथा आव० नि० ९२

किया गया है।

(२) दोनों ग्रन्थों का उद्गम बारहवें दृष्टिवाद अंग से हुआ है, इतना तो दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट है। परन्तु आगे जिस प्रकार उस दृष्टिवाद के अन्तर्गत दूसरे अग्रायणीयपूर्व तथा उसके पाँचवें 'वस्तु' अधिकार के अन्तर्गत चौथे कर्मप्रकृतिप्राभृत के साथ षट्खण्डागम में उस परम्परा को प्रकट किया गया है और तदनुसार ही आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि का उसके कर्ता के रूप में उल्लेख हुआ है उस प्रकार प्रज्ञापना में वह आगे की परम्परा दृष्टिगोचर नहीं होती। वहाँ दृष्टिवाद के अन्तर्गत उसके भेद-प्रभेदों में किस भेद व किस क्रम से आकर वह प्रज्ञापना के कर्ता श्यामार्य तक आयी, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। वहाँ तो कर्ता के रूप में श्यामार्य के नाम का उल्लेख भी नहीं है।

श्यामार्य के कर्ता होने की कल्पना तो उन दो प्रक्षिप्त गाथाओं के आधार से की गई है जिनमें श्यामार्य के द्वारा श्रुत-सागर से निकालकर शिष्यगण के लिए श्रुत-रत्न के दिये जाने का उल्लेख है। इस प्रकार से श्यामार्य को प्रज्ञापना का कर्ता मानना काल्पनिक है। कारण यह है कि प्रथम तो वे दोनों गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, मूल ग्रन्थ की नहीं हैं। दूसरे, उन गाथाओं में भी उनके द्वारा किसी श्रुत-रत्न के देने का ही तो उल्लेख किया गया है। पर वह श्रुत-रत्न प्रज्ञापना है, यह कैसे समझा जाए ? वह दूसरा भी कोई ग्रन्थ हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे गाथाएँ टीकाकार हरिभद्रसूरि के पूर्व कब और किसके द्वारा ग्रन्थ में योजित की गई हैं, यह भी अन्वेषणीय है।

(३) प्रज्ञापना को षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती ठहराते हुए जिन धर्मसागरीय और खरतर-गच्छीय पट्टावलियों के आधार से तीन कालकाचार्यों में प्रथम कालकाचार्य को पर्यायवाची 'कालक' शब्द के आश्रय से श्यामाचार्य मान लिया गया है तथा उसका रचनाकाल वीरनिर्वाण ३३५-३७६ (ईसवी पूर्व ७९-३८) बतलाया गया है उन पट्टावलियों में प्रामाणिकता नहीं है। कारण यह है कि उनका लेखनकाल निश्चित नहीं है तथा उनमें परस्पर विरोध भी है। जब तक कोई ठोस प्रमाण न हो, 'कालक' का पर्यायवाची होने से कालकाचार्य को श्यामाचार्य मान लेना प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

(४) उत्तराध्ययन के आधार से भी प्रज्ञापना का रचनाकाल निश्चित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विद्वान् उत्तराध्ययन को किसी एक आचार्य की कृति नहीं मानते हैं, इसे उस प्रस्तावना के लेखक भी स्वीकार करते हैं।[1]

(५) प्रज्ञापना की अपेक्षा षट्खण्डागम में विषय का विवेचन क्रमबद्ध व अतिशय व्यवस्थित है, प्रज्ञापना में वह अव्यवस्थित, असम्बद्ध व क्रमविहीन है। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम में विषय का वर्गीकरण कर उसे अनुयोगद्वारों में विभक्त किया गया है और निक्षेप आदि के आश्रय से प्रतिपाद्य विषय का विशद विवेचन किया गया है। इन कारणों से षट्खण्डागम को जो प्रज्ञापना से पश्चात्कालवर्ती ठहराया गया है[2] उचित नहीं है। ऐसा क्यों हुआ, इसे हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं।

उस प्रस्तावना के लेखकों ने स्वयं भी अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि केवल

---

१. प्रज्ञापना की गुजराती प्रस्तावना पृ० २२-२५ व नन्दिसूत्र की प्रस्तावना पृ० २१

२. वही, प्रस्तावना पृ० २५

विषय के निरूपण की सरल या जटिल प्रक्रिया अथवा विषय की सूक्ष्म या गम्भीर चर्चा के आधार से किसी ग्रन्थ के पौर्वापर्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है; क्योंकि इस प्रकार की रचना का आधार लेखक के प्रयोजन पर निर्भर होता है, न कि उसमें की गई चर्चा की सूक्ष्मता या स्थूलता पर। इसलिए इन दोनों ग्रन्थों में चर्चित विषय की सूक्ष्मता या स्थूलता के आधार से उनके पौर्वापर्य के निर्णय में गम्भीर भूल होना सम्भव है।[1]

(६) प्रज्ञापना को चौथा उपांग माना जाता है। उपांग यह नाम प्राचीन नहीं है, उसका प्रचार बहुत पीछे हुआ है। नन्दिसूत्र (विक्रम ५२३ के लगभग) में, जहाँ श्रुत का विस्तार से वर्णन किया गया है, उपांग नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। वहाँ श्रुत के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें अंगबाह्य को आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इनमें भी आवश्यक को सामायिक आदि के भेद से छह प्रकार का और आवश्यकव्यतिरिक्त को कालिक और उत्कालिक के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। आगे उत्कालिक को अनेक प्रकार का बतलाते हुए प्रकृत में उसके जिन २९ भेदों का उल्लेख है उनमें ८वां प्रज्ञापना है। (नन्दिसूत्र ७९-८३)

इस प्रकार नन्दिसूत्र में प्रज्ञापना को उत्कालिक श्रुत में सम्मिलित किया गया है, न कि उपांगश्रुत में। नन्दिसूत्र में उसका उल्लेख होने से इतना निश्चित है कि उसकी रचना नन्दिसूत्र के पूर्व हो चुकी थी। किन्तु उससे कितने समय पूर्व वह रचा गया है, यह निर्णेय है। उसका रचनाकाल जो प्रस्तावना लेखकों द्वारा वीरनिर्वाण सं० ३३५-७६ निर्दिष्ट किया गया है वह प्रामाणिक नहीं है, यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।

साथ ही षट्खण्डागम का रचना-काल जो वीरनिर्वाण ६८३ वर्ष के पश्चात् विक्रम सं० की दूसरी शती के लगभग निर्धारित किया गया है उसे प्रज्ञापना की उस प्रस्तावना के लेखक भी स्वीकार करते हैं।

प्रस्तावना में यह भी कहा गया है कि आचार्य मलयगिरि के मतानुसार समवायांग में जो विषय वर्णित हैं उन्हीं का वर्णन प्रज्ञापना में है। इसलिए वह प्रज्ञापना का उपांग है।[2] पर इस मत से स्वयं प्रस्तावना के लेखक भी सहमत नहीं दिखते। इसलिए आगे उसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

परन्तु ग्रन्थकर्ता ने स्वयं वैसी कुछ सूचना नहीं की है, उन्होंने तो स्पष्टतया उसका सम्बन्ध दृष्टिवाद अंग के साथ बतलाया है। और वह उचित भी है, क्योंकि दृष्टिवाद में प्रमुखता से दृष्टि (दर्शन) का वर्णन है। इसलिए जैन दर्शन द्वारा मान्य पदार्थों का निरूपण करनेवाले ग्रन्थ प्रज्ञापना का सम्बन्ध यदि दृष्टिवाद से हो तो वह अधिक उचित है।[3]

---

१. प्रज्ञापना की गुजराती प्रस्तावना, पृ० २१

२. उसका सम्बन्ध समयांग से घटित नहीं होता, इसे भी पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।

३. प्रस्तावना में इसके पूर्व उसका सम्बन्ध दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों में ज्ञानप्रवाद, आत्मप्रवाद और कर्मप्रवाद के साथ जोड़ा जा सकता है, यह भी अभिप्राय प्रकट किया गया है। अन्त में, जिस प्रकार धवला में षट्खण्डागम का सम्बन्ध अग्रायणीय पूर्व से जोड़ा गया है, उसी प्रकार दोनों ग्रन्थों में चर्चित विषय की समानता से प्रज्ञापना का सम्बन्ध अग्रायणीय-पूर्व के साथ रहना सम्भव है, यह अभिप्राय प्रकट किया गया है। (गु० प्रस्तावना पृ० ९-१०)

(७) षट्खण्डागम में मूल ग्रन्थकर्ता के समक्ष कुछ मतभेद नहीं रहा। पर प्रज्ञापना में भगवान् महावीर के समक्ष भी मतभेद रहा है, ऐसा अभिप्राय प्रकट किया गया है। यथा—

प्रज्ञापना में १८वां 'कायस्थिति' पद है। उसमें निर्दिष्ट २२ अर्थाधिकार में छठा अर्थाधिकार 'वेद' है। वहाँ वेद के प्रसंग में गौतम प्रश्न करते हैं कि "भगवन्! स्त्रीवेद का कितना काल है?" उत्तर में महावीर कहते हैं, "हे गौतम! एक आदेश से उसका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक एक सौ दस (११०) पल्योपम है।

एक आदेश से वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक अठारह पल्योपम है।

एक आदेश से वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक चौदह पल्योपम है।

एक आदेश से वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक सौ पल्योपम है।

एक आदेश से वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक पल्योपमपृथक्त्व है।" (सूत्र १३२७)

यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि क्या भगवान् महावीर के समक्ष भी स्त्रीवेद के काल-विषयक उपर्युक्त पाँच मतभेद सम्भव हैं, जब कि वे सर्वज्ञ व वीतराग थे। यदि उस विषय में उस समय कुछ मतभेद भी रहा हो तो सर्वज्ञ महावीर उनमें से किसी एक मत को यथार्थ बतलाकर शेष चार को असमीचीन व अग्राह्य घोषित कर सकते थे।

इस प्रकार का यह प्रसंग गौतम और भगवान् महावीर के संवादस्वरूप प्रज्ञापना में कैसे निबद्ध हुआ? इसके विषय में उस प्रस्तावना के लेखक भी टीका की ओर संकेत मात्र करके अपना कुछ भी अभिप्राय व्यक्त नहीं कर सके।[1]

षट्खण्डागम में स्त्री-वेद का काल बिना किसी मतभेद के जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपमशतपृथक्त्व कहा गया है।[2]

क्या इससे यह समझा जाय कि षट्खण्डागमकार के समय तक स्त्रीवेद विषयक किसी प्रकार का मतभेद नहीं रहा, वे मतभेद पीछे उत्पन्न हुए हैं जिन्हें प्रज्ञापना में निबद्ध किया गया है?

(८) प्रज्ञापना के अन्तर्गत २३-२७ और ३५ इन छह पदों में जो कर्म की प्ररूपणा की गई है वह षट्खण्डागम की अपेक्षा स्थूल व अतिशय संक्षेप में की गई है। उदाहरणस्वरूप वहाँ २३वें पदगत ५ अर्थाधिकारों में जीव कितने स्थानों के द्वारा कर्म को बाँधता है, इस तीसरे अर्थाधिकार में इतना मात्र अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि वह माया व लोभस्वरूप

---

१. गुजराती प्रस्तावना, पृ० ११०

२. वेदाणुवादेण इत्थिवेदा। केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण एगसमओ। उक्कस्सेण पलिदोवम सदपुधत्तं। सूत्र २,२,११४-१६ (पु० ७)। यही काल इसके पूर्व जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत कालानुगम अनुयोगद्वार में भी मिथ्यात्व गुणस्थान के आश्रय से निर्दिष्ट किया गया है। सूत्र १,५,२२७-२९ (पु० ५)। यहाँ उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त रहा है।

राग तथा क्रोध व मानस्वरूप द्वेष इन दो या चार स्थानों के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म को बाँधता है।

यही प्रक्रिया वहाँ नारक व नारकों से लेकर वैमानिक देव व देवों तक तथा अन्य दर्शनावरणीय आदि कर्मों के विषय में भी अपनाई गई है। (सूत्र १६७०-७४)

षट्खण्डागम में जो कर्मबन्ध के कारणों का विचार किया गया है उसकी अपनी अलग विशेषता है। वहाँ 'वेदनाप्रत्ययविधान' नाम का एक स्वतंत्र अनुयोगद्वार है। उसमें नैगम, व्यवहार और संग्रह इन तीन नयों के आश्रय से प्राणातिपात आदि अनेक कारणों के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि का बन्ध निर्दिष्ट किया गया है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उक्त ज्ञानावरणीय आदि की प्रकृति व प्रदेशपिण्डरूप वेदना योग के निमित्त से कही गई है। शब्दनय की अपेक्षा उसे अवक्तव्य कहा गया है। सूत्र ४,२,८,१-१६ (पु० १२)

इस प्रसंग में प्रज्ञापना की प्रस्तावना में यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि प्रज्ञापना में उक्त प्रकार से जो राग व द्वेष को बन्ध का कारण निर्दिष्ट किया गया है वह प्राचीन स्तर का है। कर्मबन्ध के कारणविषयक इस सर्वमान्य सिद्धान्त को हृदयंगम कर पीछे उन कर्मबन्ध के कारणों का विचार श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में पृथक् भूमिका में किया गया है। उसके दर्शन प्रज्ञापना में नहीं होते। इससे प्रज्ञापना की विचारणा का स्तर प्राचीन है। (गुजराती प्रस्तावना पृ० १२५)

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि पीछे श्वेताम्बर व दिगम्बर साहित्य में जिस पद्धति से उन कर्मबन्ध के कारणों का विचार किया गया है उनका दर्शन षट्खण्डागम में नहीं होता, अतः षट्खण्डागम की उस कर्मबन्धविषयक विचारणा का स्तर प्राचीन है।

वस्तुतः इस आधार से किसी ग्रन्थगत विवक्षित विषय की विचारणा के स्तर को प्राचीन या अर्वाचीन ठहराना उचित नहीं प्रतीत होता।

इसके पूर्व प्रज्ञापना के उपर्युक्त ५ अर्थाधिकारों में जो 'जीव कैसे उन्हें बाँधता है' यह दूसरा अर्थाधिकार है उसमें 'जीव आठ कर्मप्रकृतियों को कैसे बाँधता है' गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में इतना मात्र कहा गया है कि ज्ञानावरणीय के उदय से दर्शनावरणीय, दर्शनावरणीय के उदय से दर्शनमोहनीय, दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व आता है (णियच्छति[1])। उदय प्राप्त मिथ्यात्व से (?) हे गौतम! इस प्रकार जीव आठ कर्मप्रकृतियों को बाँधता है (१६६८)।

प्रज्ञापना की प्रस्तावना में पाँच अर्थाधिकार युक्त इस २३वें पदगत प्रथम उद्देश को प्राचीन स्तर का तथा उसी के दूसरे उद्देश के साथ आगे के कर्म से सम्बद्ध अन्य (२४-२७ व ३५) पदों को प्रज्ञापना में पीछे प्रक्षिप्त किया गया कहा गया है। प्रथम उद्देश प्राचीन स्तर का है, इसकी पुष्टि में वहाँ ये कारण दिये गये हैं[2]—

१. बन्ध के प्रकृति आदि चार भेदों का निर्देश करके उनका क्रम के बिना निरूपण करना।

---

१. मूल में जो "णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं णियच्छति" यह कहा गया है उसमें 'णियच्छति' का टीका में आगमन अर्थ अभिप्रेत रहा दिखता है। इस विवेचन का क्या आधार रहा है, यह ज्ञातव्य है।

२. गुजराती प्रस्तावना, पृ० १२५-२६

२. प्रदेशबन्ध की चर्चा न करना।

३. योग के कर्मबन्ध का कारण होने का निर्देश न करना।

४. कर्मप्रदेश की चर्चा का अभाव।

इस विषय में यह पूछा जा सकता है कि प्रज्ञापना में प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा में जो यह अव्यवस्था हुई है वह किस कारण से हुई। वहाँ प्रारम्भ में ही दृष्टिवाद से प्रज्ञापना के उद्‌गम को बतलाते हुए यह प्रतिज्ञा की गई है कि जिनेन्द्रदेव ने यथा दृष्टभावों की प्रज्ञापना का जैसा वर्णन किया है वैसा ही मैं उसका वर्णन करूँगा। तदनुसार प्रज्ञापनाकार के समक्ष साक्षात् दृष्टिवाद के न रहते हुए भी कुछ तो पूर्वपरम्परागत श्रुत उनके पास रहना ही चाहिए, जिसके आधार से उन्होंने उसकी रचना या संकलन किया है। ऐसी अवस्था में वहाँ प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा मे असम्बद्धता, क्रमविहीनता और शिथिलता नहीं रहनी चाहिए थी। मौलिक श्रुत में तो वैसी कुछ कल्पना नहीं की जा सकती है। इसका विचार करते हुए प्रज्ञापना में जो विषय के प्रतिपादन मे शिथिलता, क्रमविहीनता व अनावश्यक विस्तार हुआ है वह उसके प्राचीन स्तर के ग्रन्थ होने का अनुमापक नहीं हो सकता।

उसका कारण तो यही सम्भव है कि वर्तमान में जो अंगश्रुत उपलब्ध है, प्रज्ञापनाकार उसी की सीमा में बँधे रहे। इससे उन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा के बल पर प्रतिपाद्य विषय का वर्गीकरण न कर नय-निक्षेप आदि के आश्रय से उसका प्रतिपादन नहीं किया। यही कारण है कि वहाँ जहाँ-तहाँ अक्रमबद्धता व अनावश्यक विस्तार देखा जाता है।

इसके विपरीत षट्‌खण्डागम के रचयिताओं ने मौलिक श्रुत का लोप होते देख परम्परागत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का छह खण्डों में उपसंहार कर अपने बुद्धि वैभव से प्रतिपाद्य विषय का वर्गीकरण किया व उसे यथाप्रसंग अनुयोगद्वारों आदि में विभक्त करते हुए गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं के क्रम से उसका प्रतिपादन किया है। इससे वह योजनाबद्ध सुगठित रहा है व उसमें क्रमविहीनता व असंगति नहीं हुई है इसे हम इसके पूर्व भी स्पष्ट कर चुके हैं।

इस सब विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि प्रज्ञापना की रचना तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य के पश्चात् और नन्दिसूत्र के पूर्व किसी समय में हुई है।

१०. षट्‌खण्डागम और अनुयोगद्वारसूत्र

श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से 'नन्दिसूत्र' के साथ प्रकाशित 'अनुयोगद्वारसूत्र' के संस्करण में उसे आर्यरक्षित स्थविर द्वारा विरचित सूचित किया गया है। उसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि प्रस्तुत प्रकाशन में जो हमने 'सिरिअज्जरक्खियविरइयाइं' यह उल्लेख किया है वह केवल प्रवाद के आधार से किया है। आगे उस प्रवाद को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस प्रवाद में कितना तथ्य है यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख भी नहीं है कि जिससे आर्यरक्षित स्थविर को अनुयोगद्वार सूत्र का कर्ता माना जाय। यदि कदाचित् आर्यरक्षित के द्वारा अनुयोगद्वार सूत्र की रचना नहीं की गई है तो यह तो सम्भावना है ही कि उनकी परम्परा के किसी शिष्य-प्रशिष्य ने उसकी रचना की होगी। यह तो निश्चित है कि अनुयोगप्रक्रिया का विशेष ज्ञान आर्यरक्षित को रहा है। यदि अनुयोगद्वार आर्यरक्षित की रचना है तो वि० सं० ११४ से १२७ के मध्य किसी समय वह

रचा गया है।[1]

आगे प्रकारान्तर से उसकी रचना के विषय में ऊहापोह करते हुए कहा गया है कि ईसवी सन् की दूसरी शती में किसी समय उसके रचे जाने में बाधा आती नहीं दिखती है। किसी भी हालत में पूर्व में बतलाये गये प्रमाण के अनुसार विक्रम सं० ३५७ के पीछे की तो वह रचना अथवा संकलन हो ही नहीं सकता।[2]

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में प्रकृत अनुयोगद्वार के रचयिता और उसके रचनाकाल के विषय में सम्पादकों का क्या अभिप्राय रहा है, इसे स्पष्ट करके आगे उसमें चर्चित विषय का दिग्दर्शन कराया जाता है—

प्रस्तुत अनुयोगद्वारसूत्र गद्यात्मक सूत्रों में रचा गया है; बीच-बीच में कुछ गाथाएँ भी उसमें हैं। समस्त सूत्र संख्या ६०६ और गाथा संख्या १४३ है। सर्वप्रथम यहाँ पाँच ज्ञानों का उल्लेख करके उनमें स्थापनीय चार ज्ञानों को स्थगित कर श्रुतज्ञान के उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोगविषयक प्रवर्तन की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोगविषयक कथन की सूचना करते हुए प्रथमतः उत्कालिक अंगबाह्य स्वरूप आवश्यक के अनुयोगों का विचार किया गया है। तदनुसार आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन इनका निक्षेप करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए उन चारों में से प्रथम तीन के विषय में निक्षेप की योजना की गई है। (सूत्र १-७२)

आगे चलकर आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छह अध्ययनों का उल्लेख करते हुए प्रथम 'सामायिक' अध्ययन के विषय में उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इन चार अनुयोग-द्वारों का निर्देश किया गया है और तत्पश्चात् यथाक्रम से उनके भेद-प्रभेदों की चर्चा इन सूत्रों में की गई है—

१. उपक्रम—सूत्र ७६-९१, प्रकारान्तर से भी सूत्र ९२-५३३
२. निक्षेप—सूत्र ५३४-६००
३. अनुगम—सूत्र ६०१-६०५
४. नय—सूत्र ६०६ (गाथा १३६-४१)

इस प्रकार संक्षेप में अनुयोगद्वार के विषय का परिचय कराया। आगे यहाँ यह विचार किया जाता है कि विषयविवेचन की दृष्टि से षट्खण्डागम के साथ उसकी कहाँ कितनी समानता है तथा कहाँ कितनी उससे विशेषता भी है—

१. षट्खण्डागम के चौथे वेदना खण्ड के अन्तर्गत दो अनुयोगद्वारों में प्रथम 'कृति' अनुयोगद्वार है। उसमें कृति के नामकृति, स्थापनाकृति आदि सात भेदों का निर्देश है। उनमें प्रथम नामकृति का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा, अजीवस्स वा, जीवाणं वा, अजीवाणं वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च, अजीवाणं च, जीवाणं च अजीवस्स च, जीवाणं च अजीवाणं च जस्स णामं कीरदि कदि त्ति सा सव्वा णामकदी णाम।" —पु०, ९, सूत्र ५१

अनुयोगद्वार में इसी प्रकार का सूत्र नाम-अवश्य के प्रसंग में इस प्रकार कहा गया है—

---

१. गुजराती प्रस्तावना, पृ० ४९-५०
२. वही, ५०-५१

"से किं तं नामावस्सयं ? जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सये त्ति नामं कीरए। से तं नामावस्सयं।" —अनु० सूत्र १०

इन दोनों सूत्रों में शब्द और अर्थ दोनों से समानता है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ जीव-अजीव विषयक आठ भंगों का उल्लेख है वहाँ अनुयोगद्वार सूत्र में जीव-अजीव से सम्बन्धित एक वचन व बहुवचन सम्बन्धी दो संयोगी भंगों को छोड़कर शेष छह का उल्लेख किया गया है।

२. इसी प्रकार स्थापना के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के इन सूत्रों को देखिए—

"जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवणकदी णाम।" —ष०ख० सूत्र ५२०

"से किं ठवणावस्सयं ? जण्णं कट्ठकम्मे वा चित्तकम्मे वा पोत्थकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगा वा सब्भावठवणाए वा असब्भावठवणाए वा आवस्सए त्ति ठवणा ठविज्जति। से तं ठवणावस्सयं।"

—अनु० सूत्र ११

इन दोनों में भी अर्थ की अपेक्षा तो समानता है ही, शब्द भी वे ही हैं। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ 'कट्ठकम्म' आदि के साथ बहुवचन प्रयुक्त हुआ है वहाँ अनुयोगद्वार में एक वचन प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त ष० ख० में 'लेण्ण' कर्म आदि कुछ अन्य कर्मों का भी निर्देश है। उधर अनुयोगद्वार में 'गंथिम-वेढिम'[1] आदि का उल्लेख ष०ख० की अपेक्षा अधिक हुआ है।

३. ष० ख० में आगमद्रव्यकृति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

"जा सा आगमदो दव्वकदी णाम तिस्से इमे अट्ठाहियारा भवंति—ट्ठिदं जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं। जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेक्खणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया।"

—ष० ख० सूत्र ४, १, ५४-५५

लगभग इन्हीं शब्दों में आगम-द्रव्य-आवश्यक का स्वरूप अनुयोगद्वार में इस प्रकार कहा गया है—

"से किं तं आगमतो दव्वावस्सयं ? जस्स णं आवस्सये त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं णामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं। से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए णो अणुप्पेहाए। कम्हा ? अणुओगो दव्वमिदि कट्टु।"—सूत्र १४

दोनों ग्रन्थगत इन सूत्रों में उपयुक्त अनेक शब्द प्रायः उसी रूप में आगे पीछे व्यवहृत हुए हैं। अभिप्राय समान ही है। इस प्रकार शब्द व अर्थ की समानता के साथ यह एक विशेषता

१. गंथिम, वेढि (दि) म, पूरिम और संघादिम ये शब्द ष० ख० सूत्र ४,१,६५ (पु० ६) में प्रयुक्त हुए हैं।

रही है कि ष०ख० में जहाँ उन आगम विषयक उपयोगों में 'अनुप्रेक्षा' को ग्रहण किया गया है वहाँ अनुयोगद्वार में अनुपयोग को द्रव्य मानकर उसका निषेध किया है।

४. ष० ख० में नैगम और व्यवहार इन दो नयों की अपेक्षा एक अनुपयुक्त और अनेक अनुपयुक्तों को आगम से द्रव्यकृति कहा गया है। (सूत्र ५६, पु० ९)

अनुयोगद्वार में भी इसी प्रकार से नैगम नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त को एक, दो अनुपयुक्तों को दो और तीन अनुपयुक्तों को तीन आगम से द्रव्यावश्यक बतलाते हुए यह कह दिया गया है कि इस प्रकार जितने भी हैं वे नैगम नय की अपेक्षा आगम से द्रव्यावश्यक हैं। आगे यह सूचना कर दी गई है कि नैगम नय के समान व्यवहार नय से भी इसी प्रकार जान लेना चाहिए। (सूत्र १५)

इस प्रकार आगम द्रव्यकृति और आगम द्रव्यावश्यक के स्वरूप विषयक दोनों ग्रन्थों का अभिप्राय सर्वथा समान है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ नैगम और व्यवहार इन दोनों नयों की विवक्षा को एक साथ प्रकट कर दिया गया है वहाँ अनुयोगद्वार में प्रथमतः नैगम नय की विवक्षा को दिखलाकर तत्पश्चात् व्यवहारनय से भी उसी प्रकार जान लेने की सूचना कर दी गई है।

इसी प्रकार ष० ख० में जहाँ एक-दो-तीन आदि अनुपयुक्तों का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके दो-तीन आदि अनुपयुक्तों को अनेक अनुपयुक्तों के रूप में ग्रहण कर लिया गया है वहाँ अनुयोगद्वार में एक, दो व तीन अनुपयुक्तों का निर्देश करके आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस प्रकार से जितने भी अनुपयुक्त हों उन सबको आगम से द्रव्यावश्यक जान लेना चाहिए।

आगे दोनों ग्रन्थों में संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द नय की अपेक्षा जहाँ क्रम से आगम द्रव्यकृति और आगम द्रव्यावश्यक के स्वरूप का निर्देश है वहाँ भी थोड़ी विशेषता के साथ लगभग समान अभिप्राय ही प्रकट किया गया है।[1]

५. षट्खण्डागम में आगे उक्त नोआगमद्रव्यकृति के तीन भेदों में दूसरे भेदरूप भावी द्रव्यकृति के विषय में कहा गया है कि जो जीव भविष्य में कृतिअनुयोगद्वारों के उपादान-कारणस्वरूप से स्थित है, वर्तमान में कर नहीं रहा है उसका नाम भावी द्रव्यकृति है। (सूत्र ६४)

अनुयोगद्वार में भाविशरीर-द्रव्यावश्यक प्रसंग में कहा गया है कि योनिजन्म से निष्क्रान्त जो जीव ग्रहण किये गये इसी शरीरोत्सेध से जिनोपदिष्ट भाव से 'आवश्यक' इस पद को भविष्य काल में सीखेगा, वर्तमान में सीख नहीं रहा है, उसे भाविशरीर-द्रव्यावश्यक जानना चाहिए। यहाँ दृष्टान्त दिया गया है—'यह मधुकुम्भ होगा, यह घृतकुम्भ होगा।' (सूत्र १८)

इस प्रसंग में दोनों ग्रन्थों का अभिप्राय प्रायः समान है। विशेष इतना है कि अनुयोगद्वार में उसके स्पष्टीकरण में मधुकुम्भ और घृतकुम्भ का दृष्टान्त भी दिया गया है, जो ष० ख० में उपलब्ध नहीं है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि ष० ख० में जहाँ यह प्ररूपणा 'कृति' को लक्ष्य में रखकर की गई है वहाँ अनुयोगद्वार में 'आवश्यक' को लक्ष्य में रखा गया है।

---

१. ष० ख० सूत्र ५७-५९ (पु० ९) और अनु० सूत्र १५ [३-५], ५७ [५] व ४८३ [५]।

विशेषता

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में की गई इस निक्षेपविषयक प्ररूपणा आदि के विषय में शब्द व अर्थ की अपेक्षा बहुत कुछ समानता के होने पर भी उनमें कुछ अपनी-अपनी विशेषता भी देखी जाती है। यथा--

१. षट्खण्डागम में जहाँ नामनिक्षेप के प्रसंग में उसके आधारभूत जीव व अजीव विषयक आठ भंगों का निर्देश है वहाँ अनुयोगद्वार में छह भंगों का ही निर्देश किया गया है। वहाँ 'जीवस्स च अजीवाणं च' और 'जीवाणं च अजीवस्स च' इन दो (६-७) भंगों का निर्देश नहीं किया गया।[1]

२. स्थापनानिक्षेप के प्रसंग में अनुयोगद्वार की अपेक्षा षट्खण्डागम में काष्ठ कर्मादि चार के साथ लेण्णकम्म, सेलकम्म, गिहकम्म, भित्तिकम्म, दंतकम्म और भेंडकम्म इन छह कर्म-विशेषों का उल्लेख भी है। उधर अनुयोगद्वार में ष०ख० की अपेक्षा गंथिम, वेढिम, पूरिम और संघाइम इन क्रियाविशेषों का उल्लेख अधिक किया गया है।[2]

इसके अतिरिक्त इसी प्रसंग में षट्खण्डागम में जहाँ सामान्य से 'ठवणाए' इतना मात्र निर्देश किया गया है वहाँ अनुयोगद्वार में उस स्थापना के भेदभूत सद्भावस्थापना और असद्-भावस्थापना को ग्रहण करके 'सब्भावठवणाए वा असब्भावठवणाए वा' ऐसा स्पष्ट कर दिया गया है।[3]

इसके अतिरिक्त ष० ख० की अपेक्षा अनुयोगद्वार में एक यह भी विशेषता रही है कि वहाँ 'नाम-ट्ठवणाणं को पइविसेसो' ऐसा प्रश्न उठाकर उसके समाधान में 'णामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा होज्जा आवकहिया वा' यह विशेष स्पष्ट किया गया है।[4]

३. नोआगम-भावनिक्षेप के प्रसंग में दोनों ग्रन्थों में स्थित, जित, परिजित, नामसम और घोषसम इन शब्दों का समान रूप में उपयोग करने पर भी अनुयोगद्वार में प०ख० की अपेक्षा 'अहीनाक्षर' आदि नौ शब्दों का उपयोग अधिक है।

इसके अतिरिक्त ष० ख० में जहाँ 'वायणोवगदं' है वहाँ अनुयोगद्वार में 'गुरु' के साथ 'गुरुवायणोवगयं' है।

ष० ख० में उक्त 'स्थित-जित' आदि नौ का निर्देश आगम के अर्थाधिकारों के रूप में किया गया है, साथ ही आगे के सूत्र में निर्दिष्ट वाचना व पृच्छना आदि को आगम-विषयक उपयोग कहा गया है।

किन्तु अनुयोगद्वार में उक्त 'स्थित-जित' आदि का उल्लेख आगम के अर्थाधिकार रूप में नहीं हुआ है। वाचना-पृच्छना आदि का उल्लेख भी वहाँ आगमविषयक उपयोग के रूप

---

१. ष० ख० सूत्र ५१ (पु० ६) और अनु० सूत्र १०

२. ष० ख० में गंथिम, वेढि [दि] म, पूरिम और संघादिम इन शब्दों का उपयोग तद्व्यति-रिक्त नोआगम द्रव्यकृति के प्रसंग (सूत्र ६५) में हुआ है। इनके अतिरिक्त वहाँ 'वाइम' व 'आहोदिम' आदि कुछ अन्य शब्द भी व्यवहृत हुए हैं।

३. ष० ख० सूत्र ६५२ और अनुयोगद्वार सूत्र ११ (ष० ख० में स्थापना के इन दो भेदों का उल्लेख मूल में कहीं भी नहीं किया गया है)।

४. अनु० सूत्र १२,२३,५५ और ४८०

में किया गया है।

एक विशेषता यह भी है कि ष० ख० में 'कृति' अनुयोगद्वार के प्रसंग में आगमद्रव्यकृति का विचार करते हुए पूर्वोक्त 'वाचना' आदि के साथ 'अनुप्रेक्षा' को भी उपयोग के रूप में ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार 'प्रकृति' अनुयोगद्वार के प्रसंग में आगमद्रव्यप्रकृति का विचार करते हुए भी 'अनुप्रेक्षा' को उपयोग के रूप में ही ग्रहण किया गया है। इतना विशेष है कि यहाँ 'अणुव जोगा दव्वेत्ति कट्टु' ऐसा निर्देश करते हुए सभी अनुपयुक्तों को आगम से द्रव्यप्रकृति कहा गया है।[1] पर अनुयोगद्वार में 'णो अणुप्पेहाए। कम्हा? अणुव जोगो दव्वमिदि कट्टु' ऐसा निर्देश करते हुए उस अनुप्रेक्षा का उपयोग के रूप में निषेध किया गया है।[2]

दोनों ग्रन्थों में 'अणुवजोगा दव्वे त्ति कट्टु' और 'अणुवजोगो दव्वमिदि कट्टु' वाक्यांश सर्वथा समान है। भेद केवल वहुवचन व एकवचन का है।

४. षट्खण्डागम में इसी प्रसंग में नैगम और व्यवहार इन दो नयों की अपेक्षा एक अनुपयुक्त को और अनेक अनुपयुक्तों को आगम से द्रव्यकृति कहा गया है, संग्रह नय की अपेक्षा भी एक अथवा अनेक अनुपयुक्तों को आगम से द्रव्यकृति कहा गया है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त को आगम से द्रव्यकृति, तथा शब्दनय की अपेक्षा अवक्तव्य कहा गया है।[3]

अनुयोगद्वार में नैगम नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त को आगम से एक द्रव्यावश्यक, दो-तीन अनुपयुक्तों को आगम से दो-तीन द्रव्यावश्यक कहकर आगे यह सूचना कर दी गई है कि इसी प्रकार से जितने भी अनुपयुक्त हों उतने ही उनको आगम से द्रव्यावश्यक जानना चाहिए। आगे नैगमनय के समान ही व्यवहार नय से भी इसी प्रकार जान लेने की प्रेरणा कर दी गई है।

संग्रह नय की अपेक्षा एक अथवा अनेक अनुपयुक्तों को आगम से एक द्रव्यावश्यक अथवा अनेक द्रव्यावश्यक कहते हुए एक द्रव्यावश्यक कह दिया गया है।

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त आगम से द्रव्यावश्यक है, क्योंकि वह पृथक्त्व को स्वीकार नहीं करता है।

तीन शब्द नयों की अपेक्षा ज्ञायक अनुपयुक्त अवस्तु है, क्योंकि यदि ज्ञायक है तो अनुपयुक्त नहीं होता।[4]

यहाँ षट्खण्डागम की अपेक्षा अनुयोगद्वार में यह विशेषता रही है कि ष० ख० में जहाँ नैगम और व्यवहार इन दोनों नयों की विषयता को एक साथ दिखला दिया गया है वहाँ अनुयोगद्वार में प्रथमतः नैगमनय की अपेक्षा निरूपण करके तत्पश्चात् 'एवमेव ववहारस्स वि' ऐसी सूचना करते हुए व्यवहारनय की नैगमनय से समानता प्रकट की गई है। (१५ [२])

ऋजुसूत्रनय के प्रसंग में ष० ख० की अपेक्षा अनुयोगद्वार में 'क्योंकि वह पृथक्त्व को

---

१. ष० ख० सूत्र ४,१, ५४-५५ (पु० ९) व ५,५, १२-१४ (पु० १३)

२. अनु० सूत्र १४ व ४८२

३. ष० ख० सूत्र ५६-६० (पु० ९)

४. अनु० सूत्र १५ [१-५]।

स्वीकार नहीं करता' यह हेतु भी दे दिया गया है। (१५[४])

शब्द नय के प्रसंग में ष० ख० में जहाँ 'अवक्तव्य' कहा गया है वहाँ अनुयोगद्वार में 'अवस्तु' कहकर उसका कारण यह दिया है कि इस नय की दृष्टि में जो ज्ञायक होता है वह अनुपयुक्त नहीं होता, वह उपयोग सहित ही होता है। (१५[५])

नयों के विषय में एक ध्यान देने योग्य विशेषता दोनों ग्रन्थों में यह रही है कि षट्खण्डागम में सर्वत्र नैगम, व्यवहार, संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द इन पांच नयों का ही उल्लेख हुआ है।[1] परन्तु अनुयोगद्वार में उक्त पाँच नयों के साथ समभिरूढ़ और एवंभूत इन दो नयों को भी ग्रहण करके सात नयों का निर्देश किया गया है। यद्यपि प्रकृत में शब्दशः समभिरूढ और एवंभूत इन दो नयों का उल्लेख नहीं किया गया, फिर भी 'तिण्हं सद्दनयाणं' ऐसा कहकर उनकी सूचना कर दी गई है।[2]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डागम के रचनाकाल तक सम्भवतः समभिरूढ और एवम्भूत ये दो नय प्रचार में नहीं आये थे।

५. षट्खण्डागम में नोआगम द्रव्यनिक्षेप के तीन भेदों में दूसरे भेद का उल्लेख 'भवियदव्व' के रूप में हुआ है।[3] वहाँ कहीं पर भी उसके साथ 'सरीर' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। पर अनुयोगद्वार में सर्वत्र उसका उल्लेख 'भवियसरीरदव्व' के रूप में हुआ है।[4]

---

१. आगे भी सूत्र ४,२,२,२-४; ४,२,३,१-४; ४,२,८,२ तथा १२ व १५; ४,२,९, २ और ११ व १४; ४,२,१०,२ और ३०,४८,५६ व ५८; ४,२,११,२ और ९ व १२; ४,२,१२,४ और ७,९ व ११; ५,३,७-८; ५,४,६-८; ५,५, ६-८; ५,६, ४-६ और ७२-७४। यहाँ यह एक अपवादसूत्र अवश्य देखा जाता है—सद्दादओ णामकदिं भावकदिं च इच्छंति (पु० ९, सूत्र ५०)। यहाँ सूत्र में 'शब्द' के साथ जो 'आदि' शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे क्या विवक्षित रहा है, यह स्पष्ट नहीं है। समस्त ष०ख० में कहीं पर भी समभिरूढ और एवम्भूत इन दो नयों का उल्लेख नहीं किया गया। धवलाकार ने अन्यत्र कुछ स्थानों पर सूत्रपोथियों में पाठान्तर की सूचना की है। सम्भव है उपर्युक्त सूत्र में 'सद्दणओ' के स्थान पर 'सद्दादओ' और 'इच्छदि' के स्थान पर 'इच्छंति' पाठभेद हो गया हो।

२. अनु० सूत्र १५ [५]. ४७४, ४७५, ४८३ [५], ४९१ और ५२५ [३]। आगे जाकर सूत्र ६०६ में तो स्पष्टतया उन सात नयों का निर्देश इस प्रकार कर दिया गया है—

"से किं तं णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा—णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूते।"

यहाँ संग्रह और व्यवहार इन दो नयों का क्रमव्यत्यय भी हुआ है। आगे गाथा १३७ में इसी क्रम से प्रथमतः संग्रह नय के लक्षण का और तत्पश्चात् व्यवहारनय के लक्षण का निर्देश है।

षट्खण्डागम में सर्वत्र नैगम, व्यवहार, संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द—यही क्रम पांच नयों के उल्लेख का रहा है।

३. ष० ख० सूत्र ४,१,६१ व ६४ आदि।

४. अनु० सूत्र १६ व १८ आदि।

उपसंहार

षट्खण्डागम और अनुयोगद्वार में संक्षेप से विषयविवेचन की पद्धति में समानता इस प्रकार देखी जा सकती है—

विषय	ष० ख० सूत्र			अनु० सूत्र	
१. नामनिक्षेप	पु० ६, सूत्र ५१ (कृति से सम्बद्ध)			१० (आवश्यक से सम्बद्ध)	
२. स्थापनानिक्षेप	,,	५२	,,	११	,,
३. आगमद्रव्यनिक्षेप	,,	५४-५५	,,	१४	,,
४. आगमद्रव्यनिक्षेप से सम्बद्ध नैगम और व्यवहारनय	,,	५६	,,	१५ [१-२]	,,
५. संग्रहनय	,,	५७	,,	१५ [३]	,,
६. ऋजुसूत्र	,,	५८	,,	१५]४]	,,
७. शब्दनय	,,	५९	,,	१५ [५]	,,
८. नोआगम द्रव्यनिक्षेप के तीन भेद	,,	६१	,,	१६	,,
९. नोआगम ज्ञायकशरीर-द्रव्यनिक्षेप	,,	६३	,,	१७	,,

विशेषता

जिसका स्पष्टीकरण मूल ष० ख० में नहीं किया गया है उसका स्पष्टीकरण मूल अनुयोग-द्वार सूत्र में किया गया तथा प्रसंग के अनुरूप दृष्टान्त भी दिया गया है। जैसे—

१. नाम व स्थापना निक्षेपों में भेद को प्रकट करना। (सूत्र १२,३३,५५ और ४८०)

२. नैगम व व्यवहार नय से आगमद्रव्य के प्रसंग में अनुप्रेक्षा का निषेधपूर्वक स्पष्टीकरण। (सूत्र १४ व ४८२)

३. तीन शब्द नयों का निर्देश। (सूत्र १५ [५], ५७ [५], ४७४,४७५ व ५२५ [३])

४. समभिरूढ और एवम्भूत नयों का नामोल्लेख (सूत्र ६०६ और गाथा १३७) जबकि षट्खण्डागम में इन दो नयों का नामोल्लेख कहीं भी नहीं किया गया है।

५. ज्ञायकशरीर व भव्यशरीर-द्रव्यनिक्षेप में मधुकुम्भ और घृतकुम्भ का दृष्टान्त। (सूत्र १७,१८,३८,६०,४८५,४८६,५४१,५४२ व ५८६)

६. ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक के प्रसंग में 'च्युत-च्यावित-त्यक्त देह से व्यपगत' इत्यादि विवरण। (सूत्र १७,३६,५४१,५४२,५६३ व ५८५)

(षट्खण्डागम में इस प्रसंग में 'च्युत-च्यावित-त्यक्त शरीर से युक्त' ऐसा कहा गया है। (सूत्र ६३, पु० ९)

७. भव्यशरीरद्रव्यनिक्षेप में षट्खण्डागम की अपेक्षा 'शरीर' शब्द की अधिकता। (सूत्र १८,३६,३८,५८,६०,५४०-४२,५६२ व ५९५)

८. लौकिक और लोकोत्तरिक भावश्रुत का स्पष्टीकरण। (सूत्र ४९-५०)

षट्खण्डागम सूत्र ४,१,६७ (पु० ९) में व्यवहृत लोक, वेद व समय तथा सूत्र ५,५,५१ (पु० १३) में लौकिकवाद और लोकोत्तरीयवाद इन शब्दों का निर्देश करके भी मूल में उनका कहीं कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

९. अनुयोगद्वार (सूत्र ४९) में भारत-रामायण आदि जैसे कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। मूल षट्खण्डागम में इनका उल्लेख कहीं नहीं है।

१०. षट्खण्डागम की अपेक्षा अनुयोगद्वार में व्यवहार और संग्रह इन दो नयों के उल्लेख में क्रमव्यत्यय है। (अनु० सूत्र ६०६ व गाथा १३६-३९)

११. अनुयोगद्वार में जो १४१ गाथाएँ हैं[1] वे प्रायः सभी संकलित की गई हैं, ग्रन्थकार के द्वारा रची गई नहीं दिखती। स्वयं ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ किये गये संकेतों से भी यही प्रतीत होता है। यथा—

एत्थ संगहणिगाहाओ (८६-८८)। (सूत्र २८५)
एत्थं पि य संगहणिगाहाओ (८९-९०)। तं जहा—(सूत्र २८६)
एत्थं संगहणिगाहाओ (१०१-२) भवंति। तं जहा—(सूत्र ३५१ [५])
एत्थ एतेसिं संगहणिगाहाओ (१०१-२) भवंति। तं जहा—(सूत्र ३८७ [५])
एत्थ संगहणिगाहा (१२४)। (सूत्र ५३३)
इमाहिं दोहिं गाहाहिं (१३३-३४) अणुगंतव्वे। तं जहा-(सूत्र ६०४)

निष्कर्ष

दोनों ग्रन्थों की इस स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अनुयोगद्वार सूत्र की रचना अथवा संकलना षट्खण्डागम के पश्चात् हुई है। कदाचित् अनुयोगद्वारकार के समक्ष षट्खण्डागम भी रहा हो।

षट्खण्डागम की टीका धवला व अनुयोगद्वार

अनुयोगद्वार में आवश्यक के छह अध्ययनों में से प्रथम सामायिक अध्ययन के प्रसंग में इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। इनमें प्रथमतः उपक्रम के नामउपक्रम, स्थापनाउपक्रम, द्रव्यउपक्रम, क्षेत्रउपक्रम, कालउपक्रम और भावउपक्रम इन छह भेदों का निर्देश करते हुए क्रम से उनकी प्ररूपणा ७६-९१ सूत्रों में की गई है। तत्पश्चात् प्रकारान्तर से उसके आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार इन छह भेदों का निर्देश करते हुए यथाक्रम से उनकी प्ररूपणा ९२-५३३ सूत्रों में की गई है। इस प्रकार ग्रन्थ का बहुभाग इस उपक्रम की प्ररूपणा में गया है। (पृ० ७२-१९५)

तत्पश्चात् निक्षेप की प्ररूपणा ५३४-६०० सूत्रों में, अनुगम की प्ररूपणा ६०१-५ सूत्रों में ...र नय की प्ररूपणा एक ही सूत्र (६०६) में की गई है।

अनुयोगद्वार में की गई विवक्षित विषय की प्ररूपणा की धवला में प्ररूपित विषय के साथ कहाँ कितनी समानता है, यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

१. धवला में षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान के अवतार को दिखलाते हुए उसे

---

१. इनमें गाथा १२७-२८ मूलाचार (७,२४-२५) और आचा० नि० (७९६-९७) में भी थोड़े पाठभेद के साथ उपलब्ध होती हैं।

उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम के भेद से चार प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त उपक्रम आदि चार भेदों का उल्लेख धवला और अनुयोगद्वार दोनों में सर्वथा समान है।[1]

२. धवला में यहीं पर आगे उपक्रम के इन पाँच भेदों का निर्देश किया गया है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार।[2]

अनुयोगद्वार में उपक्रम के जो छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें पाँच तो वे ही हैं जिनका उल्लेख धवला में किया गया है, छठा 'समवतार' यह एक भेद वहाँ अधिक है[3] जो धवला में नहीं उपलब्ध होता।

विशेष इतना है कि धवला में यहाँ इस प्रसंग में 'उक्तं च' इस सूचना के साथ कहीं अन्यत्र से यह एक प्राचीन गाथा उद्धृत की गई है[4]—

तिविहा य आणुपुव्वी दसहा णामं च छव्विहं माणं।
वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि॥

यह गाथा और इसमें निर्दिष्ट आनुपूर्वी आदि के भेदों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार के समक्ष ऐसा कोई प्राचीन ग्रन्थ रहा है, जिसमें उपर्युक्त आनुपूर्वी आदि का विशद विचार किया गया है।

३. उक्त गाथा के अनुसार आगे धवला में आनुपूर्वी के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी। इन तीनों को वहाँ उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया गया है।[5]

अनुयोगद्वार में आनुपूर्वी के नामानुपूर्वी आदि दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। (सूत्र ९३) उनका क्रम से निरूपण करते हुए आगे उनमें औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के तीन भेद किये गये हैं—पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और अनानुपूर्वी।

इनमें पूर्व के दो भेद तो वे ही हैं, जिनका ऊपर धवला में उल्लेख है। तीसरा भेद यथा-तथानुपूर्वी के स्थान में यहाँ अनानुपूर्वी है।[6]

४. पूर्वानुपूर्वी और पश्चादानुपूर्वी के स्पष्टीकरण में जिस प्रकार धवला में ऋषभादि तीर्थंकरों का उदाहरण दिया गया है उसी प्रकार अनुयोगद्वार में भी आगे उत्कीर्तनानुपूर्वी के तीन भेदों के अन्तर्गत पूर्वानुपूर्वी और पश्चादानुपूर्वी के स्पष्टीकरण में उन्हीं ऋषभादि तीर्थंकरों का उदाहरण दिया गया है।

---

१. धवला पु० १, पृ० ७२ (आगे पु० ९, पृ० १३४ पर भी ये भेद द्रष्टव्य हैं) और अनु० सूत्र ७५ पृ० ७२
२. धवला पु० १, पृ० ७२ व पु० ९, पृ० १३४
३. अनुयोगद्वार, सूत्र ९२
४. धवला पु० १, पृ० ७२ और पु० ९, पृ० १४०, पु० (९ में 'तिविहो' के स्थान में 'विविहो' पाठ है, तदनुसार वहाँ 'अत्थाहियारो अणेयविहो' ऐसा कहा भी गया है।)
५. धवला पु० १, पृ० ७३
६. अनुयोगद्वार सूत्र १३१ (आगे इन तीन भेदों का उल्लेख यथाप्रसंग कई सूत्रों में किया गया है। जैसे—सूत्र १३५,१६०,१९८,१७२,१७६,२०१ [१], २०२[१], २०३[१] इत्यादि।

विशेषता यह रही है कि धवला में जहाँ उदाहरण उद्धृत गाथाओं के आश्रय से दिए गये हैं वहाँ अनुयोगद्वार में वे सूत्र के ही द्वारा दिये गये हैं।[1]

५. धवला में नाम के ये दस भेद प्रकट किये गये हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद।[2]

इन दस नामों का उल्लेख अनुयोगद्वार में भी थोड़े-से क्रमभेद के साथ किया गया है।[3]

विशेष इतना है कि अनुयोगद्वार में नाम-उपक्रम के प्रसंग में एक-नाम, दो-नाम व तीन-नाम आदि का क्रम से विचार करते हुए (सूत्र २०८-६३) अन्तिम दस-नाम के प्रसंग में उन दस नामों का निर्देश किया गया है, जिनका उल्लेख धवला में ऊपर नाम के दस भेदों के रूप में हुआ है। अनुयोगद्वारगत उन एक-दो आदि नामों का विचार धवला में नहीं किया गया है।

इन दस नामों का स्पष्टीकरण धवला और अनुयोगद्वार दोनों ग्रन्थों में उदाहरणपूर्वक किया गया है।[4]

इनमें कुछ के उदाहरण भी दोनों ग्रन्थों में समान हैं। जैसे—प्राधान्यपद और अनादि-सिद्धान्तपद आदि में।

दोनों ग्रन्थों में समान रूप से संयोगपद के ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और भावसंयोग।[5]

६. धवला में प्रमाणउपक्रम के ये पाँच भेद बतलाये हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, काल-प्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाण।[6]

अनुयोगद्वार में उसके ये चार ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण। इनके साथ वहाँ पाँचवें भेदभूत नयप्रमाण को नहीं ग्रहण किया गया है।[7]

धवला में उन प्रमाणभेदों का विवेचन जहाँ संक्षेप से किया गया है वहाँ अनुयोगद्वार में उनमें प्रत्येक के अन्तर्गत अनेक भेदों के साथ उनकी प्ररूपणा विस्तार से की गई है।[8]

७. वक्तव्यता के तीन भेद जैसे धवला में निर्दिष्ट किये गये हैं वैसे ही उक्त तीन भेदों का निर्देश अनुयोगद्वार में भी उसी रूप में है। यथा—स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभय (स्व-परसमय) वक्तव्यता।[9]

८. अर्थाधिकारउपक्रम के विषय में दोनों ग्रन्थों में कुछ भिन्नता रही है यथा—

---

१. धवला पु० १, पृ० ७३ और अनुयोगद्वार सूत्र २०३ [१-३]
२. धवला पु० १, पृ० ७४ व पु० ६, पृ० १३५
३. अनुयोगद्वार, सूत्र २६३
४. धवला पु० १, पृ० ७४-७६ व पु० ६, पृ० १३५-३८ और अनुयोगद्वार सूत्र २६४-३१२
५. धवला पु० १, पृ० ७७-७८ और पु० ६, पृ० १३७-३८ तथा अनुयोगद्वार सूत्र २७२-८१
६. धवला पु० १, पृ० ८०
७. अनुयोगद्वार, सूत्र ३१३
८. धवला पु० १, पृ० ८० व अनुयोगद्वार सूत्र ३१४-५२०
९. धवला पु० १, पृ० ८२ व पु० ६, पृ० १४० तथा अनुयोगद्वार सूत्र ५२१-२४

धवला में अर्थाधिकार के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रमाण, प्रमेय और तदुभय।[1]

परन्तु अनुयोगद्वार में उसके भेदों को न दिखाकर 'अर्थाधिकार क्या है' इस प्रश्न के उत्तर में यह कह दिया गया कि 'जो जिस अध्ययन का अर्थाधिकार है'। आगे 'तं जहा' इस निर्देश के साथ वहाँ यह गाथा उपस्थित की गई है[2]—

सावज्जजोगविरती उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स णिंदणा वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव॥

९. धवला मे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेप-भेदों का निर्देश करते हुए उन्हें 'जीवस्थान' के साथ योजित किया गया है।[3]

अनुयोगद्वार में 'निक्षेप' अनुयोगद्वार के प्रसंग में सर्वप्रथम उसके इन तीन भेदों का निर्देश इस प्रकार है—ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न। तत्पश्चात् ओघनिष्पन्न के अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा इन चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें अध्ययन को नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का कहा है। आगे उनका स्पष्टीकरण किया गया है।[4]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में प्रसंग के अनुसार कुछ विशेषता के होने पर भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन निक्षेप-भेदों की अपेक्षा समानता रही है।

१०. धवला में जीवस्थानविषयक अवतार के जिन उपक्रम आदि चार भेदों का निर्देश किया गया है उनमें चौथा भेद नय रहा है। उसके विषय में विचार करते हुए धवला में प्रथमतः उसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भेदों का निर्देश किया गया है। पश्चात् द्रव्यार्थिक को नैगम, संग्रह और व्यवहार के भेद से तीन प्रकार का तथा पर्यायार्थिक को अर्थनय और व्यंजन-नय के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। आगे उनके विषय में कुछ और स्पष्ट करते हुए अर्थनय के नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार भेद तथा व्यंजननय के शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये तीन भेद बतलाये हैं।[5]

अनुयोगद्वार में 'सामायिक' अध्ययन के विषय में जिन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश है उनमें अन्तिम नय-अनुयोगद्वार है। उसके विषय में विचार करते हुए वहाँ ये सात मूलनय कहे गये हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत।[6]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में उन सात नयों का उल्लेख समान रूप में ही किया गया है।

---

१. धवला, पु० १, पृ० ८२। इनमें से 'जीवस्थान' में प्रमेय प्ररूपणा के आश्रय से एक ही अर्थाधिकार कहा गया है। पर आगे उसी उपक्रमादि चार प्रकार के अवतार की प्ररूपणा के प्रसंग में पूर्वोक्त 'तिविहा य आणुपुव्वी' आदि गाथागत 'विविहो' पाठान्तर के अनुसार अर्थाधिकार को अनेक प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। (पु० ९ पृ० १४०)

२. अनुयोगद्वार सूत्र ५२६ (यह गाथा इसके पूर्व आवश्यक के अर्थाधिकार के प्रसंग में भी आ चुकी है—सूत्र ७३, गाथा ६)

३. धवला, पु० १, पृ० ८३

४. अनुयोगद्वार, सूत्र ५३४-४६

५. धवला, पु० १, पृ० ८३-९१ द्रष्टव्य हैं।

६. अनुयोगद्वार, सूत्र ६०६ व गाथा १३६-३९

विशेषता यह रही है कि धवला में मूल में नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भेदों का निर्देश किया गया है। इनमें द्रव्यार्थिक को नैगम, संग्रह और व्यवहार के भेद से तीन प्रकार का तथा पर्यायार्थिक को अर्थनय और व्यंजननय के भेद से दो प्रकार का कहा है। इनमें ऋजुसूत्र को अर्थनय तथा शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत को व्यंजन नय कहा गया है। इस प्रकार धवला में जहाँ उपर्युक्त नैगमादि सात नयों का उल्लेख नय के अवान्तर भेदों में हुआ है वहाँ अनुयोगद्वार में उन्हीं सात नयों का उल्लेख मूलनय के रूप में हुआ है।

शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये तीन नय अनुयोगद्वार के कर्ता को भी शब्दनय के रूप में अभिप्रेत रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने अनेक प्रसंगों पर 'तिण्हं सद्दणयाणं' या 'तिण्णि सद्दणया' ऐसा संकेत किया है। जैसे—सूत्र १५ (५), ५७ (५), ४७४, ४७५, ४८३ (५), ४९१ व ५२५ (३)।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, यहाँ यह स्मरणीय है कि मूल षट्खण्डागम में सर्वत्र नैगम, व्यवहार, संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय ही व्यवहृत हुए हैं तथा उनकी प्ररूपणा का क्रम भी यही रहा है।

११. 'अनुगम' यह विवक्षित ग्रन्थविषयक अवतार का तीसरा या चौथा भेद रहा है। जीवस्थान के अवतार के प्रसंग में उसके चौथे भेदभूत अनुगम के अन्तर्गत 'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं……' इस सूत्र (१,१,४) के प्रारम्भ के पूर्व उसकी उत्थानिका के रूप में 'अणुगमं वत्त इस्सामो' इतना मात्र धवला में कहा गया है, वहाँ उसका और कुछ विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।[1] किन्तु आगे जाकर सभी ग्रन्थों के अवतार को उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय के भेद से चार प्रकार का निर्दिष्ट किया है।[2] आगे उसे स्पष्ट करते हुए धवला-में कहा गया है कि जिसमें अथवा जिसके द्वारा वक्तव्य की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम अनुगम है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि 'अधिकार' संज्ञावाले अनुयोगद्वारों के जो अधिकार होते हैं उनको अनुगम कहा जाता है। उदाहरण के रूप में वहाँ कहा गया है कि जैसे वेदना अनुयोगद्वार में पदमीमांसा आदि अधिकार।[3] आगे कहा गया है कि यह अनुगम अनेक प्रकार का है, क्योंकि इसकी संख्या का कुछ नियम नहीं है। इसी प्रसंग में वहाँ प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है—'अथवा अनुगम्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेत्यनुगमः। किम्? प्रमाणम्।' इस निरुक्ति के अनुसार अनुगम को प्रमाण बतलाते हुए उसकी वहाँ प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि भेद-प्रभेदों में विस्तार से प्ररूपणा है।[4]

इसी सिलसिले में आगे प्रसंगप्राप्त एक शंका के समाधान में प्रकारान्तर से 'अथवा अनुगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति अनुगमाः' इस निरुक्ति के अनुसार छह द्रव्यों को अनुगम कहा गया है।[5]

---

१. धवला पु० १, पृ० ९१
२. धवला पु० ९, पृ० १३४
३. इन अधिकारों के लिए ये सूत्र द्रष्टव्य हैं—४,२,४,१ (पु० १०) तथा सूत्र ४,२,५,१-२ और ४, २, ६, १-२ (पु० ११)।
४. धवला पु० ९, पृ० १४१-४२ व आगे प्रमाणप्ररूपणा के लिए पृ० १४२-६२ द्रष्टव्य हैं।
५. धवला पु० ९, पृ० १६२

अनुयोगद्वार में अनुगम के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सूत्रानुगम और निर्युक्त्यनुगम। इनमें निर्युक्त्यनुगम निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, उपघातनिर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम को 'अनुगत' कहकर 'उपघातनिर्युक्त्यनुगम इन दो गाथाओं के द्वारा अनुगन्तव्य है' ऐसी सूचना करते हुए दो गाथाओं में उसके २६ भेदों का निर्देश है। तत्पश्चात् सूत्र स्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम की चर्चा की गई है।[1] (धवला पु० ६)

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में जो अनुगमविषयक चर्चा है उसमें कुछ समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। तद्विषयक दोनों ग्रन्थों की वह विवेचन-पद्धति भिन्न है।

उपसंहार

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में विषय-विवेचन की दृष्टि से बहुत कुछ समानता देखी जाती है, फिर भी उनमें अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

धवला में जो पूर्वोक्त 'तिविहा य आणुपुव्वी' आदि गाथा उद्धृत की गई है वह अनुयोगद्वार की अपेक्षा भिन्न परम्परा की रही प्रतीत होती है। उसके कारण ये हैं—

(१) पूर्वनिर्दिष्ट गाथा में आनुपूर्वी के जिन तीन भेदों का निर्देश है उनका उल्लेख धवला में इस प्रकार किया गया है—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चादानुपूर्वी और ३. यथातथानुपूर्वी।

अनुयोगद्वार में सर्वप्रथम उसके नामानुपूर्वी आदि दस भेदों का निर्देश किया गया है। उन दस भेदों में तीसरा भेद जो द्रव्यानुपूर्वी के ज्ञायकशरीर आदि तीन भेदों में तीसरे भेदभूत ज्ञायकशरीर-भवियशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्यानुपूर्वी के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—औपनिधिकी और अनौपनिधिकी। इनमें औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के भी तीन भेद प्रकट किये गये हैं—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चादानुपूर्वी और ३. अनानुपूर्वी।

इनमें पूर्व के दो भेद तो धवला और अनुयोगद्वार दोनों में समान हैं। किन्तु तीसरा भेद धवला में जहाँ यथातथानुपूर्वी निर्दिष्ट है वहाँ अनुयोगद्वार में उसका उल्लेख 'अनानुपूर्वी' के रूप में किया गया है। अनानुपूर्वी का उल्लेख अनुयोगद्वार में प्रसंगानुसार अनेक बार करने पर भी[2] वहाँ 'यथातथानुपूर्वी' का उल्लेख कहीं भी नहीं है। उधर धवला में 'अनानुपूर्वी' का उल्लेख भी जहाँ कहीं हुआ।

धवला में यथातथानुपूर्वी के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा है कि अनुलोम और प्रतिलोम क्रम के विना जो जिस किसी भी प्रकार से कथन किया जाता है उसका नाम यथातथानुपूर्वी है। इसके लिए वहाँ एक गाथा के द्वारा शिवादेवी माता के वत्स (नेमिजिनेन्द्र) का उदाहरण दिया गया है। यहाँ नेमि जिनेद्र का जयकार न तो ऋषभादि के अनुलोम क्रम से किया गया है और न वर्धमान आदि के प्रतिलोमक्रम से ही।

अनुयोगद्वार में प्रकृत अनानुपूर्वी का स्वरूप प्रसंग के अनुसार इस प्रकार कहा गया है—

---

१. अनुयोगद्वार, सूत्र ६०१-५

२. सूत्र १३५,१६०,१७२,१७६,२०१ (१), २०२ (१), २०३ (१), २०४ (१), २०५ (१), २०६ (१), २०७ (१) इत्यादि।

एक को आदि करके उत्तरोत्तर एक अधिक के क्रम से गच्छ (प्रकृत में ६) प्रमाणगत श्रेणि में उनको परस्पर गुणित करने पर जो प्राप्त हो उसमें दो (२) अंक कम। (सूत्र १३४ आदि)

(२) उक्त गाथा में मान के छह भेदों की सूचना की गई है। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार मान के छह भेद ये हैं—मान, उन्मान, अवमान, गणना, प्रतिमान और तत्प्रमाण। वहाँ सामान्य से मान के जो लौकिक और लोकोत्तर-मान ये दो भेद निर्दिष्ट किये हैं उनमें उपर्युक्त छह भेद लौकिक मान के हैं।[1]

अनुयोगद्वार में प्रमाण को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का कहा गया है।[2] इनमें द्रव्य-प्रमाण के प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न इन दो भेदों में से विभाग निष्पन्न द्रव्यप्रमाण के पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—मान, उन्मान, अवमान, गणिम और प्रतिमान।[3]

ये पाँच भेद तत्त्वार्थवार्तिक में निर्दिष्ट लौकिक मान के छह भेदों के अन्तर्गत हैं। पर उसका छठा भेद 'तत्प्रमाण' अनुयोगद्वार में नहीं है।

यह ज्ञातव्य है कि धवलाकार ने तत्त्वार्थवार्तिक का अनुसरण अनेक प्रसंगों में किया है।

इस प्रकार धवला और अनुयोगद्वार में की गई यह मानविषयक प्ररूपणा भी भिन्न परम्परा का अनुसरण करती है।

(३) धवला में पूर्वोक्त गाथा के अनुसार अर्थाधिकार के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रमाण, प्रमेय और तदुभय। इनमें से 'जीवस्थान' में एक प्रमेय अधिकार ही कहा गया है, क्योंकि उसमें प्रमेय की ही प्ररूपणा है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, अनुयोगद्वार में अर्थाधिकार के किन्हीं भेदों का निर्देश न करके इतना मात्र कहा गया है कि जो जिस अध्ययन का अर्थाधिकार है।[4]

(४) षट्खण्डागम और अनुयोगद्वार में यथाक्रम से जो पाँच और सात नयों का उल्लेख है वह भिन्न परम्परा का सूचक है।

धवला में जो मूल में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा अर्थनय और व्यंजननय इन दो भेदों के उल्लेखपूर्वक सात नयों का विचार किया गया है उसका आधार तत्त्वार्थसूत्र[5] व उसकी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्याएँ रही हैं।

---

१. त० वा० ३,३८,२-३

२. त० वा० में ये चार भेद लोकोत्तर मान के कहे गये हैं (३,३८,४)। वहाँ आगे द्रव्यप्रमाण के संख्या और उपमान इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है। (३,३८,५-८)

३. अनुयोगद्वार सूत्र ३१३-१६ (आगे इनके भेद-प्रभेदों की जो वहाँ चर्चा की गई है वह भी तत्त्वार्थवार्तिक से भिन्न है)।

४. अनुयोगद्वार, सूत्र ५२६

५. त० सूत्र १-३३, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सम्मत सूत्रपाठ के अनुसार मूल में नय पाँच प्रकार का है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी के भेद से नैगमनय दो प्रकार का तथा साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत के भेद से शब्दनय तीन प्रकार का है। (त० भाष्य १, ३४-३५)

११. षट्खण्डागम और नन्दिसूत्र

नन्दिसूत्र को चूलिकासूत्र माना जाता है। उसके रचयिता आचार्य देवर्द्धि का समय विक्रम संवत् ५२३ के पूर्व अनुमानित है।[1]

इसमें सर्वप्रथम तीन गाथाओं के द्वारा भगवान् महावीर का गुणकीर्तन किया गया है। पश्चात् १४ (४-१७) गाथाओं में संघचक्र को नमस्कार करते हुए उसका गुणानुवाद किया गया है। अनन्तर चौबीस तीर्थकरों (१८-१९) और भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों के नामों का उल्लेख (२०-२१) करते हुए वीर शासन का जयकार किया गया है (२२)। तत्पश्चात् इक्कीस (२३-४३) गाथाओं में सुधर्मादि दूष्यगणि पर्यन्त स्थविरों के स्मरणपूर्वक अन्य कालिकश्रुतानुयोगियों को प्रणाम करते हुए ज्ञान की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की गई है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इस स्थविरावलि में आर्यमंगु (आर्यमंक्षु, गा० २८) और आर्य नागहस्ती (३०) के अनेक गुणों का उल्लेख करते हुए उनका स्मरण किया गया है। इन दोनों आचार्यप्रवरों को दिगम्बर सम्प्रदाय में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[2]

आगे वहाँ १४ प्रकार से श्रोताओं का निर्देश करते हुए ज्ञिका, अज्ञिका और दुर्विदग्धा के भेद से तीन प्रकार की परिषद् का उल्लेख है। (सू० ७, गा० ४४)

इस नन्दिसूत्र में जो ज्ञान की प्ररूपणा की गई है उसकी प्रस्तुत षट्खण्डागम में की गई ज्ञान की प्ररूपणा के साथ कहाँ कितनी समानता-असमानता है, इसका यहाँ विचार किया जाता है—

१. षट्खण्डागम के पूर्वनिर्दिष्ट 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय की प्रकृतियों का निरूपण करते हुए वहाँ सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय के इन पाँच भेदों का निर्देश किया गया है— आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।[3]

नन्दिसूत्र में उक्त पाँच ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के द्वारा आव्रियमाण इन पाँच ज्ञानों का निर्देश किया गया है—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[4]

---

१. महावीर जैन विद्यालय से प्रकाशित संस्करण की गुजराती प्रस्तावना, पृ० ३२-३३

२. धवला पु० २, पृ० २३२; पु० १५, पृ० ३२७ और पु० १६, पृ० ५१८ व ५२२।
जयधवला के प्रारम्भ में उन दोनों आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है —

गुणहरवयणविणिग्गयगाहाणत्थोऽवहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ ।।७।।
जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ।।८।।

(विशेष जानकारी के लिए जयपुर, 'महावीर स्मारिका' (१९८३) में प्रकाशित 'आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ती' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है)।

३. ष० ख० सूत्र ५,५,२०-२१ (पु० १३)

४. नन्दिसूत्र ८

यहाँ यह स्मरणीय है कि ष० ख० में जहाँ प्रसंगवश उन उन ज्ञानों की आवारक ज्ञानावरणीय प्रकृतियों का निर्देश है वहाँ नन्दिसूत्र में ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के द्वारा आव्रियमाण ज्ञानों का निर्देश हुआ है।

नन्दिसूत्र में आगे ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनमें प्रत्यक्ष के ये दो भेद प्रकट किये गये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें भी नोइन्द्रियप्रत्यक्ष को अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।[1]

ष० ख० में इस प्रकार से इन ज्ञानभेदों या उनकी आवारक कर्मप्रकृतियों का कुछ भी उल्लेख नहीं है।

२. षट्खण्डागम में आगे उक्त पाँच ज्ञानावरणीय प्रकृतियों में से आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय के चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेदों को ज्ञातव्य कहते हुए उनमें चार भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—अवग्रहावरणीय, ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय। इनमें अवग्रहावरणीय अर्थावग्रहावरणीय और व्यंजनावग्रहावरणीय के भेद से दो प्रकार का है। आगे अर्थावग्रहावरणीय को स्थगित करके व्यंजनावग्रहावरणीय के ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रहावरणीय, घ्राणेन्द्रियव्यंजनावग्रहावरणीय, जिह्वेन्द्रिय-व्यंजनावग्रहावरणीय और स्पर्शनेन्द्रियव्यंजनावग्रहावरणीय। तत्पश्चात् स्थगित किये गये उस अर्थावग्रहावरणीय के इन छह भेदों का निर्देश है—चक्षुइन्द्रियअर्थावग्रहावरणीय, श्रोत्रेन्द्रियअर्थावग्रहावरणीय, घ्राणेन्द्रियअर्थावग्रहावरणीय, जिह्वेन्द्रिय अर्थावग्रहावरणीय, स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रहावरणीय और नोइन्द्रिय अर्थावग्रहावरणीय। आगे इसी क्रम से ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय इनमें से प्रत्येक के भी छह-छह भेदों का निर्देश किया गया है।

नन्दिसूत्र में पूर्वोक्त पाँच ज्ञानभेदों में से आभिनिबोधिकज्ञान के श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ये दो भेद प्रकट किये गये हैं। इनमें अश्रुतनिःसृत चार प्रकार का है—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि।[3]

ष० ख० में इन श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत आभिनिबोधिकज्ञानभेदों या उनके आवारक ज्ञानावरणीय भेदों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार अश्रुतनिःसृत के औत्पत्तिकी आदि चार भेदों के विषय में भी वहाँ कुछ भी निर्देश नहीं है।

ष० ख० की धवला टीका में प्रज्ञाऋद्धि के भेदभूत उन औत्पत्तिकी आदि चारों के स्वरूप को अवश्य स्पष्ट किया गया है।[4]

नन्दिसूत्र में आगे इसी प्रसंग में पूर्वोक्त श्रुतनिःसृत आभिनिबोधिकज्ञान के ये चार भेद

---

१. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष या अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के नामान्तर हैं। नन्दिसूत्र हरि० वृत्ति (पृ० २८) और अनु० हेम० वृत्ति (पृ० २१२) द्रष्टव्य हैं।

२. ष० ख० सूत्र ५,५,२२-३३

३. नन्दिसूत्र ४६-४७ (इनका स्वरूप गाथा ५८,५९,६०-६३, ६४-६६ और ६७-७१ में निर्दिष्ट किया गया है)।

४. धवला पु० ९, पृ० ८१-८३

निर्दिष्ट हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनमें अवग्रह दो प्रकार का है—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह चार प्रकार का है—श्रोत्रेन्द्रियव्यंजनावग्रह, घ्राणेन्द्रियव्यंजनावग्रह, जिह्वेन्द्रियव्यंजनावग्रह और स्पर्शेन्द्रियव्यंजनावग्रह। अर्थावग्रह के ये छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—श्रोत्रेन्द्रियअर्थावग्रह, चक्षुइन्द्रियअर्थावग्रह, घ्राणेन्द्रियअर्थावग्रह, जिह्वेन्द्रियअर्थावग्रह, स्पर्शेन्द्रियअर्थावग्रह और नोइन्द्रियअर्थावग्रह। आगे इसी क्रम से ईहा, अवाय और धारणा इनमें से प्रत्येक के भी इन छह भेदों का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया गया है।[1]

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में आवारक ज्ञानावरणीय के और आव्रियमाण ज्ञान के उपर्युक्त भेदों में पूर्णतया समानता देखी जाती है। प्ररूपणा का क्रम भी दोनों ग्रन्थों में समान है।

षट्खण्डागम में आगे इसी प्रसंग में उस आभिनिबोधिक ज्ञानवरणीय के ४,२४,२८,३२,४८, १४४,१६८,१९२,२८८,३३६ और ३८४ इन भेदों का ज्ञातव्य के रूप निर्देशमात्र है।[2]

नन्दिसूत्र में षट्खण्डागम में निर्दिष्ट आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के भेदों के समान आभिनिबोधिक ज्ञान के भेदों का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

३. षट्खण्डागम में आगे 'उसी आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म की प्ररूपणा की जाती है' ऐसी सूचना करते हुए उक्त अवग्रहादि चार ज्ञानों के पृथक्-पृथक् समानार्थक शब्दों का यथाक्रम से निर्देश है।

नन्दिसूत्र में भी अवग्रहादि चार के समानार्थक शब्दों का निर्देश पृथक्-पृथक् उसी प्रकार से किया गया है।

तुलना के लिए दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट समानार्थक शब्दों का उल्लेख यहाँ साथ-साथ किया जाता है—

(१) अवग्रह—

अवग्रह, अवदान, सान, अवलम्बना और मेधा। (ष०ख० ५,५,३७; पु० १३)
अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा। (नन्दिसूत्र ५१ [२])

(२) ईहा—

ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा। (ष०ख० ५,५,३८)
आभोगनता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता और विमर्श। (नन्दिसूत्र ५२ [२])

(३) अवाय—

अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञानी (विज्ञप्ति), आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा। (ष०ख० ५,५,३९)
अवार्तनता, प्रत्यावर्तनता, अपाय, बुद्धि और विज्ञान। (नन्दिसूत्र ५३ [२])

(४) धारणा—

धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा। (ष०ख० ५,५,४०)
धरणा, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा और कोष्ठा। (नन्दिसूत्र ५४ [२])

---

१. नन्दिसूत्र, पृ० ४८-५४
२. षट्खण्डागम सूत्र ५,५,३५, (पु० १३)। इन भेदों का स्पष्टीकरण धवला में किया गया है। पृ० २३४-४१

(५) सामान्य मतिज्ञान—

संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता। (प०ख० ५,५,४१)

ईहा, अपोह, मीमांसा, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा। (नन्दिसूत्र ६०, गाथा ७७)

दोनों ग्रन्थगत इन शब्दों में कितनी अधिक समानता है, यह इन विशेष शब्दों के देखने से स्पष्ट हो जाता है।

नन्दिसूत्रगत सामान्य आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय शब्दों में जो ईहा, अपोह, मीमांसा, मार्गणा और गवेषणा ये पाँच शब्द हैं वे प०ख० में ईहा के समानार्थक शब्दों के अन्तर्गत हैं। नन्दिसूत्रगत ईहा के एकार्थक शब्दों में भी उनमें से मार्गणता, गवेषणता और विमर्श (मीमांसा) ये तीन शब्द हैं ही।

इसके अतिरिक्त प्रतिलिपि करते समय में भी शब्दों में कुछ भेद का हो जाना असम्भव नहीं है। विशेषकर प्राकृत शब्दों के संस्कृत रूपान्तर में भी भेद हो जाया करता है।

दोनों ग्रन्थों में आगे जो श्रुतज्ञान की प्ररूपणा की गई है उसमें कुछ समानता नहीं है। षट्खण्डागम में जहाँ श्रुतज्ञान के प्रसंग में उनके पर्याय व पर्यायसमास आदि बीस भेदों का उल्लेख है वहाँ नन्दिसूत्र में उसके प्रसंग में आचारादि भेदों में विभक्त श्रुत की विस्तार से प्ररूपणा की गई है।

४. षट्खण्डागम में अवधिज्ञानावरणीय के प्रसंग में अवधिज्ञान के भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। आगे इनके स्वामियों का उल्लेख करते हुए वहाँ कहा गया है कि भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देवों और नारकियों के तथा गुणप्रत्ययिक तिर्यंचों और मनुष्यों के होता है। तत्पश्चात् उस अवधिज्ञान को अनेक प्रकार का बतलाते हुए उनमें से कुछ भेदों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाति, अप्रतिपाति, एकक्षेत्र और अनेक क्षेत्र।[1]

नन्दिसूत्र में भी अवधिज्ञान के भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनमें भवप्रत्ययिक देवों और नारकियों के तथा क्षायोपशमिक मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के होता है, यह स्पष्ट किया गया है। आगे वहाँ प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है—अथवा गुणप्रत्ययिक अनगार के जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह छह प्रकार का होता है—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति और अप्रतिपाति।[2]

आगे वहाँ उपसंहार करते हुए यह भी कहा है कि भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक इस दो प्रकार के अवधिज्ञान का वर्णन किया जा चुका है। उसके द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रय से अनेक भेद हैं।[3]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में प्रकृत अवधिज्ञान के भेदों और उनके स्वामियों के निर्देश में

---

१. ष० ख०, सूत्र ५,५,५१-५६

२. नन्दिसूत्र १३-१५

३. 'ओही भवपच्चइओ गुणपच्चइओ य वण्णिओ एसो।
तस्स य बहूवियप्पा दव्वे खेत्ते य काले य॥'—नन्दिसूत्र २६, गा० ५३

पूर्णतया समानता है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ उसके दूसरे भेद का उल्लेख गुण-प्रत्ययिक के नाम से किया गया है वहाँ नन्दिसूत्र में उसका निर्देश प्रथमतः क्षायोपशमिक के नाम से और तत्पश्चात् प्रसंग का उपसंहार करते हुए गुणप्रत्ययिक के नाम से भी किया गया है।

इसी प्रकार षट्खण्डागम में जहाँ उसके देशावधि आदि कुछ भेदों का निर्देश करते हुए उसे अनेक प्रकार का कहा गया है वहाँ नन्दिसूत्र मे उसके निश्चित छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं।

ष० ख० में उसके जिन कुछ भेदों का निर्देश किया गया है, नन्दिसूत्र में निर्दिष्ट उसके वे छहों भेद समाविष्ट हैं।

ष० ख० में निर्दिष्ट देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, अवस्थित, अनवस्थित, एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र इन अन्य भेदों का निर्देश नन्दिसूत्र में नही है।

क्षायोपशमिक और गुणप्रत्ययिक इन दोनों में यह भेद समझना चाहिए कि क्षायोपशमिक जहाँ व्यापक है वहाँ गुणप्रत्ययिक व्याप्य है। कारण यह कि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम विभंगज्ञान के स्वामी मिथ्यादृष्टियों और अवधिज्ञान के स्वामी सम्यग्दृष्टियों दोनों के होता है, परन्तु अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाला गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टियों के ही होता है; मिथ्यादृष्टियों के वह सम्भव नहीं है। 'गुण' शब्द से यहाँ सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रत अभिप्रेत हैं।[1]

नन्दिसूत्र में उस छह प्रकार के गुणप्रत्ययिकअवधिज्ञान के स्वामी के रूप में जो अनगार का निर्देश है उसका भी यही अभिप्राय है।

५. षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र को प्रकट करते हुए कहा गया है कि सूक्ष्म निगोद जीव की नियम से जितनी अवगाहना होती है उतने क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञान होता है।

नन्दिसूत्र में भी यही कहा गया है कि तीन समयवर्ती सूक्ष्म निगोद जीव की जितनी जघन्य अवगाहना होती है उतना अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है।

दोनों ग्रन्थों में इस अभिप्राय की सूचक जो गाथा उपलब्ध होती हैं उनमें बहुत कुछ समानता है। यथा—

ओगाहणा जहण्णा णियमा दु सुहुमणिगोदजीवस्स।
जद्देही तद्देही जहण्णिया खेत्तदो ओही॥

—ष० ख० गाथा सूत्र ३, पु० १३, पृ० ३०१

जावतिया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना ओहीखेत्तं जहन्नं तु॥

—नन्दिसूत्र गाथा ४५, सूत्र २४

ष० खं० के उस गाथासूत्र में यद्यपि 'तिसमयाहारगस्स' पद नहीं है, पर उसके अभिप्राय को व्यक्त करते हुए धवलाकार ने 'तदियसमयआहार-तदियसमयतब्भवत्थस्स' ऐसा कहकर

१. अणुव्रत-महाव्रतानि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद्गुणप्रत्ययकम्।
—धवला पु० १३, पृ० २९१-९२

यह स्पष्ट कर दिया है कि तृतीय समयवर्ती आहारक और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ हुए सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना के प्रमाण अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है।

६. आगे षट्खण्डागम में अवधि के विषयभूत क्षेत्र से सम्बद्ध काल की अथवा काल से सम्बद्ध क्षेत्र की प्ररूपणा में जो चार गाथाएँ आयी हैं वे नन्दिसूत्र में भी समान रूप में उसी क्रम से उपलब्ध होती हैं।[1]

विशेष इतना है कि उन चार गाथाओं में जो दूसरी गाथा है उसमें शब्दसाम्य के होने पर भी शब्दक्रम के विन्यास में भेद होने से अभिप्राय में भेद हो गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

आवलियपुधत्तं घणहत्थो तह गाउअं मुहुत्तंतो।
जोयण भिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णवीसं तु॥

—ष०ख० पु० १३, पृ० ३०६, गा० ५

हत्थम्मि मुहुत्तंतो दिवसंतो गाउयम्मि बोद्धव्वो।
जोयण दिवसपुहुत्तं पक्खंतो पण्णवीसाओ॥

—नन्दिसूत्र, गाथा ४८

यहाँ ष० ख० में जहाँ घनहस्त प्रमाण क्षेत्र के साथ काल आवलिपृथक्त्व, घनगव्यूति के साथ अन्तर्मूहूर्त, घनयोजन के साथ भिन्नमुहूर्त और पच्चीस योजन के साथ काल दिवसान्त—कुछ कम एक दिन—निर्दिष्ट किया गया है वहाँ नन्दिसूत्र में हस्तप्रमाण क्षेत्र के साथ काल अन्तर्मूहूर्त, गव्यूति के साथ दिवसान्त, योजन के साथ दिवसपृथक्त्व और पच्चीस योजन के साथ काल पक्षान्त कहा गया है।

इस विषय में परस्पर मतभेद ही रहा है या प्रतियों में कुछ पाठ-भेद हो जाने के कारण वैसा हुआ है, कुछ कहा नहीं जा सकता।

आगे की दो गाथाओं में भरतादि प्रमाण क्षेत्र के साथ जिस अर्धमास आदिरूप काल-क्रम का निर्देश है वह दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समान है।

७. ठीक इसके अनन्तर दोनों ग्रन्थों में यथायोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी वृद्धि की सूचक जो "कालो चदुण्ण वुड्ढी" गाथा[2] उपलब्ध होती है वह शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा प्रायः समान है।[3]

षट्खण्डागम में आगे एक गाथा के द्वारा यह बतलाया गया है कि जहाँ अवधिज्ञान का विषयभूत द्रव्य तैजस शरीर, कार्मणशरीर, तैजसवर्गणा और भाषावर्गणा होता है वहाँ अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल असंख्यात वर्षप्रमाण होता है। तत्पश्चात् वहाँ कुछ गाथाओं में व्यन्तरादि देवों, तिर्यंचों, नारकियों और मनुष्यों में यथासम्भव अवधिज्ञान के विषय को दिखलाया गया है।[4]

---

१. ष०ख० पु० १३, पृ० ३०४-८ में गा० ४-७ तथा नन्दिसूत्र २४, गा० ४७-५०। मूल में ये गाथाएँ महाबन्ध (१, पृ० २१) में भी रही हैं।

२. यह गाथा महाबन्ध में उपलब्ध होती है। भा० १, पृ० २१

३. ष० ख० पु० १३, पृ० ३०९, गा० ८ और नन्दिसूत्र २४, गा० ५१

४. ष० ख० पु० १३, पृ० ३१०-२७, गाथा ९-१७

नन्दिसूत्र में द्रव्य-क्षेत्रादि से सम्बन्धित अवधिज्ञान के विषय की प्ररूपणा इस प्रकार से नहीं की गई है। वहां व्यन्तर देवों आदि के आश्रय से भी अवधिज्ञान के उस विषय को नहीं प्रकट किया गया है।

नन्दिसूत्र में वर्धमान अवधिज्ञान के इस प्रसंग को समाप्त करते हुए आगे हीयमान, प्रतिपाति और अप्रतिपाति अवधिज्ञान के स्वरूप को क्रम से दिखलाकर वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा कितने विषय को जानते हैं, इसका विचार किया गया है।[1]

षट्खण्डागम मूल में अवधिज्ञान के इन भेदों के स्वरूप आदि का कुछ विचार नहीं किया गया जबकि धवला में उनके स्वरूपादि विषयों का उल्लेख है।[2]

८. ष० ख० (धवला) में पूर्वोक्त एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान के भेदों का स्वरूप दिखलाते हुए उस प्रसंग में यह कहा गया है कि तीर्थंकर, देव और नारकियों का अवधिज्ञान अनेक क्षेत्र ही होता है, क्योंकि वे शरीर के सभी अवयवों के द्वारा अपने उस अवधिज्ञान के विषयभूत अर्थ को ग्रहण किया करते हैं।[3] आगे धवला में 'वुत्तं च' ऐसा संकेत करते हुए यह गाथा उद्धृत की गई है—

णेरइय-देव-तित्थयरोहि खेत्तस्स बाहिरं एदे।
जाणंति सव्वदो खलु सेसा देसेण जाणंति॥ —पु० १३, पृ० २९५

नन्दिसूत्र में कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ इसी प्रकार की एक गाथा इस प्रकार उपलब्ध होती है—

नेरइय-देव-तित्थंकरा य ओहिस्सऽबाहिरा होंति।
पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति॥
—नन्दिसूत्र २७, गाथा ५४

अन्य ज्ञातव्य

नन्दिसूत्र में आगे अवग्रहादि के स्वरूप व उनके विषय को प्रकट करते हुए जो छह गाथाएँ (सूत्र ६०, गा० ७२-७७) उपलब्ध होती हैं उनमें "पुट्ठं सुणेइ सद्दं" इत्यादि गाथा थोड़े से शब्दव्यत्यय के साथ 'आगमस्तावत्' इस सूचना के साथ सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में भी उद्धृत की गई है।[4]

यह गाथा नन्दिसूत्र व सर्वार्थसिद्धि के पूर्व और कहां उपलब्ध होती है, यह अन्वेषणीय है।[5]

ऊपर निर्दिष्ट इन छह गाथाओं में दूसरी "भाषा समसेढीओ" आदि गाथा व्यंजनावग्रह

---

१. नन्दिसूत्र २५-२८
२. धवला पु० १३, पृ० २९३-९६
३. इस प्रसंग से सम्बद्ध ष० ख० के ये दो सूत्र द्रष्टव्य हैं—खेत्तदो ताव अणेयसंठाणसंठिदा। सिरिवच्छ-कलस-संख-सोत्थिय-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवंति।
—सूत्र ५,५, ५७-५८ (पु० १३)
४. स० सि० १-१९; त० वा० १,१९,३
५. यह गाथा० दि० पंचसंग्रह (१-६८) में भी उपलब्ध होती है।

के प्रसंग में श्रोत्रेन्द्रिय के विषय का विचार करते हुए धवला में 'उक्तं च' के निर्देश पूर्वक उद्धृत है। विशेषावश्यक भाष्य में भी यह उपलब्ध होती है।[1]

दोनों ग्रन्थों में आगे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान की जो प्ररूपणा है वह कुछ भिन्न पद्धति से की गई है, अतः उसमें विशेष समानता नहीं है।[2]

विशेषता यह है कि षट्खण्डागम में जहाँ मनःपर्ययज्ञान के स्वामी प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ तक बतलाये गये हैं वहाँ नन्दिसूत्र में उसके स्वामी अप्रमत्तसंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्षायुष्क कर्मभूमिज गर्भोपक्रान्तिक ऋद्धिप्राप्त मनुष्य बतलाये गये हैं।[3]

१२. षट्खण्डागम (धवला) और दि० प्राकृत पंचसंग्रह

'पंचसंग्रह' नाम से प्रसिद्ध अनेक ग्रन्थ हैं, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में रचे गये हैं। उनमें यहाँ 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित दि० सम्प्रदाय मान्य पंचसंग्रह अभिप्रेत है। यह किसके द्वारा रचा गया है या संकलित किया गया है, यह अभी तक अज्ञात ही बना हुआ है। पर इसकी रचना-पद्धति और विषय-विवेचन की प्रक्रिया को देखते हुए यह प्राचीन ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। इसमें ये पाँच प्रकरण हैं—१. जीवसमास, २. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३. कर्मस्तव, ४. शतक और ५. सत्तरी। इनकी गाथा-संख्या क्रम से इस प्रकार है—२०६+१२+७७+५२२+५०७=१३२४। इनमें मूल गाथाओं के साथ उनमें से बहुतों के स्पष्टीकरण में बहुत-सी भाष्य-गाथाएँ भी रची गई हैं, जिनकी संख्या लगभग ८६४ है। प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक दूसरे प्रकरण में कुछ गद्यभाग भी है। इन पाँच प्रकरणों में क्रम से कर्म के बन्धक (जीव), बध्यमान (कर्म), बन्धस्वामित्व, बन्ध के कारण और बन्ध के भेद; इनकी प्ररूपणा की गई है। प्रसंग के अनुसार वहाँ अन्य विषयों का—जैसे उदय व सत्त्व आदि का—भी निरूपण किया गया है।

मूल षट्खण्डागम से प्रभावित

प्रस्तुत पंचसंग्रह का दूसरा प्रकरण प्रकृतिसमुत्कीर्तन है। उसमें केवल दस ही गाथाएँ हैं, शेष गद्यभाग है। गाथाओं में प्रथम गाथा के द्वारा मंगलस्वरूप वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए आगे दूसरी व तीसरी-गाथा में क्रम से मूल प्रकृतियों के नामोल्लेखपूर्वक उनके विषय में पृथक्-पृथक् दृष्टान्त दिये गये हैं। चौथी गाथा में उन मूलप्रकृतियों के अन्तर्गत उत्तर-प्रकृतियों की गाथासंख्या का क्रम से निर्देश है।

आगे गद्यभाग में जो यथाक्रम से मूलप्रकृतियों का उल्लेख किया गया है वह मूल षट्खण्डागम के प्रथम खण्डस्वरूप जीवस्थान की दूसरी चूलिका से प्रभावित है। इतना ही नहीं, इन दोनों ग्रन्थगत उस प्रकरण का नाम समान रूप में 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' ही उपलब्ध होता है। पंचसंग्रह के इस प्रकरण में जो गद्यभाग है उसमें अधिकांश पूर्वोक्त जीवस्थान की

---

१. धवला-पु० १३, पृ० २२४ व विशेषा० भाष्य ३५१

२. ष० ख० सूत्र ५,५, ६०-७८ (पु० १३) और नन्दिसूत्र ३०-४२

३. ष० ख० सूत्र १,१, १२१ (पु० १) व नन्दिसूत्र ३३, विशेषकर सूत्र ३० [९]

प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका से प्रायः जैसा का तैसा ले लिया गया है। उदाहरण स्वरूप दोनों की शब्दशः समानता इस प्रकार देखी जा सकती है—

"दंसणावरणीयस्स कम्मस्स णव पयडीओ। णिद्दाणिद्दा पयलापयला थीणगिद्धी णिद्दा पयला य चक्खुदंसणावरणीयं अचक्खुदंसणावरणीयं ओहिदंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेदि।"

—ष०ख० सूत्र १,१,१५-१६ (पु० ६)

"जं दंसणावरणीयं कम्मं तं णवविहं—णिद्दाणिद्दा पयला-पयला थीणगिद्धी णिद्दा य पयला य। चक्खु दंसणावरणीयं अचक्खुदंसावरणीयं ओहिदंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेदि।"

—पंचसंग्रह, पृ० ४५

जीवसमास व जीवस्थान

पंचसंग्रह का प्रथम प्रकरण 'जीवसमास' है। उधर षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड 'जीवस्थान' है। जीवस्थान का अर्थ है जीवों के स्थानों--उनके ऐकेन्द्रियादि भेद-प्रभेदों व उनकी जातियों का वर्णन करनेवाला प्रकरण।

'जीवसमास' का भी अभिप्राय वही है। पंचसंग्रहकार ने उसे स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि जिन विशेष धर्मों के आश्रय से अनेक जीवों और उनकी विविध जातियों का परिज्ञान हुआ करता है उन सबके संग्राहक प्रकरण का नाम जीवसमास है। आगे संग्रहकर्ता ने उसका दूसरा नाम स्वयं 'जीवस्थान' भी निर्दिष्ट किया है।[1]

उन सब जीवस्थानों का वर्णन जिस प्रकार षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान में सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक किया गया है उसी प्रकार उनका वर्णन इस पंचसंग्रह के 'जीवसमास' प्रकरण में भी विस्तार से हुआ है।

षट्खण्डागम की टीका धवला में जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत विवक्षित विषयों को स्पष्ट करते हुए प्रसंगानुसार जिन पचासों प्राचीन गाथाओं को उद्धृत किया है उनमें अधिकांश उसी रूप में व उसी क्रम से पंचसंग्रह के इस जीवसमास नामक अधिकार में उपलब्ध होती हैं।[2] जैसे—

क्रम संख्या	गाथांश	धवला पु०	धवला पृ०	पंचसंग्रह गाथा (जीवसमास)
१.	अट्ठविहकम्मविजुदा	१	२००	३१
२.	अणुलोभं वेदंतो	"	३७३	१३२
३.	अत्थादो अत्थंतर	"	३५९	१२२
४.	अत्थि अणंता जीवा	"	२७१	८५
५.	अप्प-परोभयबाधण	"	३५१	११६

१. जीवाणं ट्ठाणवण्णणादो जीवट्ठाणमिदि गोण्णपदं। —धवला पु० १, पृ० ७९

२. जेहि अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासे त्ति विण्णेया॥
जीवट्ठाणवियप्पा चोद्दस इगिवीस तीस बत्तीसा।
छत्तीस अट्ठतीसाऽडयाल चउवण्ण सयवण्णा॥ —पंचसं० १,३२-३३

क्रम संख्या	गाथांश	धवला पु०	धवला पृ०	पंचसंग्रह गाथा (जीवसमास)
६.	अप्पप्पवुत्तिसंचिद	१	१३९	७५
७.	अभिमु-हणियमियबोहण	"	३५९	१२१
८.	अवहीयदि त्ति ओही	"	३५९	१२३
९.	असहायणाण-दंसण	"	१९२	२९
१०.	अंतोमुहुत्तमज्झं[1]	"	२९१	९४
११.	अंतोमुहुत्तमज्झं	"	२९२	९६
१२.	आभीयमासुरक्खा	"	३५८	११९
१३.	आहरदि अणेण मुणी	"	२९४	९७
१४.	आहारदि सरीराणं	"	१५२	१७६
१५.	आहारयमुत्तत्थं[2]	"	२९४	९८
१६.	इंगाल-जाल-अच्ची	"	२७३	७९
१७.	उवसंते खीणे वा	"	३७३	१३३
१८.	एक्कम्मि कालसमए	"	१८३	२०
१९.	एयक्खेत्तो गाढं	४	३२७	४९४
२०.	एयणिगोदसरीरे	१	२७०	८४
२१.	एयम्मि गुणट्ठाणे	"	१८३	१८
२२.	ओसा य हिमो धूमरि	"	२७३	७८
२३.	कम्मेव च कम्मभवं	"	२९५	९९
२४.	कारिस-तणिट्ठिवागग्गि	"	३४२	१०८
२५.	किण्हादिलेस्सरहिदा	"	३९०	१५३
२६.	कुंथु-पिपीलिय-मक्कुण	"	२४३	७१
२७.	केवलणाण-दिवायर	"	१९१	२७
२८.	खीणे दंसणमोहे	"	३९५	१६०
२९.	गुण-जीवा पज्जत्ती	२	४११	२
३०.	चक्खूण जं पयासदि	१	३८२	१३९
	" "	७	१००	"
३१.	चंडो ण मुयदि वेरं	१	३८८	१४४
	" "	१६	४९०	"
३२.	चागी भद्दो चोक्खो	१	३९०	१५१
	" "	१६	४९०	"
३३.	चिंतियमचिंतियं वा	१	३६०	१२५
३४.	छप्पंच-णवविहाणं	"	३९५	१५९

---

१. 'ओरालियमुत्तत्थं (धवला)=अंतोमुहुत्तज्झं (पंचसंग्रह)' प्रथम चरण भिन्न।

२. पंचसंग्रह—'अंतोमुहुत्तमज्झं' (प्रथम चरण)

क्रम संख्या	गाथांश	धवला पु०	पृ०	पंचसंग्रह गाथा (जीवसमास)
३५.	छादेदि सयं दोसेण	१	३४१	१०५
३६.	छेत्तूण य परियायं	"	३७२	१३०
३७.	जत्थेक्कु मरइ जीवो	"	२७०	८३
३८.	जह कंचणमग्गिगयं	"	२६६	८७
३९.	जह भारवहो पुरिसो	"	१३९	७६
४०.	जं सामण्णं गहणं	"	१४९	१३८
४१.	जाणइ कज्जमकज्जं	"	३८९	१५०
	" "	१६	४९१	"
४२.	जाणइ तिकालसहिए	१	१४४	११७
४३.	जाणदि पस्सदि भुंजदि	"	२३९	६९
४४.	जीवा चोद्दसभेया	"	३७३	१३७
४५.	जेसिं ण संति जोगा	"	२८०	१००
४६.	जेहिं दु लक्खिज्जंते	"	१६१	३
४७.	जोणेव सच्च-मोसो	"	२८६	९२
४८.	जो तसवहा उविरदो	"	१७५	१३
४९.	ण उ कुणइ पक्खवायं	७	३९०	१५२
	" "	१६	४९२	"
५०.	णट्ठासेसपमाओ	१	१७९	१६
५१.	ण य पत्तियइ परं	"	३८९	१४८
	" "	१६	४९१	"
५२.	ण य सच्च-मोसजुत्तो	१	२८२	९०
५३.	ण रमंति जदो णिच्चं	"	२०२	१-६०
५४.	णिद्दा-वंचणवहुलो	"	३८९	१४६
	" "	१६	४९१	"
५५.	णिस्सेसखीणमोहो	१	१९०	२५
५६.	णेवित्थी णेव पुमं	"	३४२	१०७
५७.	णो इंदिएसु विरदो	"	१७३	११
५८.	तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं	"	१६३	७
५९.	तारिसपरिणामट्ठिय	"	१८३	१९
६०.	तिरियंति कुडिलभावं	"	२०२	१-६१
६१.	दसविहसच्चे वयणे	"	२८६	९१
६२.	दहि-गुडवामिस्सं	"	१७०	१०
६३.	दंसण वय सामाइय	"	३७३	१३६
६४.	परमाणुआदियाइं	"	३८२	१४०
	" "	७	१००	"

क्रम संख्या	गाथांश	धवला पु०	धवला पृ०	पंचसंग्रह गाथा (जीवसमास)
६५.	पंच-ति-चउव्विहेहिं	१	३७३	१३५
६६.	पंचसमिदो-तिगुत्तो	"	३७२	१३१
६७.	पुढवी य सक्करा वालुया	"	२७२	७७
६८.	पुरुगुणभोगे सेदे	"	३४१	१०६
६९.	पुरुमहमुदारुरालं	"	२९१	९३
७०.	पुव्वापुव्वयफड्डय	"	१८८	२३
७१.	वहुविहवहुप्पयारा	"	३८२	१४१
	" "	७	१००	"
७२.	वाहिरपाणेहि जहा	१	२५६	१-४५
७३.	भविया सिद्धी जेसिं	"	३९४	१५६
७४.	भिण्णसमयट्ठिएहि	"	१८३	१७
७५.	मणसा वचसा काएण	"	१४०	८८
७६.	मण्णंति जदो णिच्चं	"	२०३	१-९२
७७.	मरणं पत्थेइ रणे	"	३८९	१४९
	" "	१६	४९१	"
७८.	मंदो बुद्धिविहीणो	१	३८८	१४५
	" "	१६	४९०	"
७९.	मिच्छत्तं वेदंतो	१	१६२	६
८०.	मिच्छाइट्ठी णियमा[1]	६	२४२	८
८१.	मूलग्ग-पोर-वीया	१	२७३	८१
८२.	रूसदि णिंददि अण्णे	"	३८९	१४७
	" "	१६	४९१	"
८३.	लिंपदि अप्पी कीरदि	१	१५०	१४२
८४.	वत्तावत्तपमाए	"	१७८	१४
८५.	वयणे हिं वि हेऊहि वि	"	३९५	१६१
८६.	वय-समिइ-कसायाणं	"	१४५	१२७
८७.	वाउब्भामो उक्कलि	"	२७३	८०
८८.	विकहा तहा कसाया	"	१७८	१५
८९.	विग्गहगइमावण्णा	"	१५३	१७७
९०.	विवरीयमोहिणाणं	"	३५९	१२०
९१.	विविहगुण-इद्धिजुत्तं	"	२९१	९५
९२.	विस-जंत-कूड-पंजर	"	३५८	११८
९३.	विहि तीहि चउहि पंचहि	"	२७४	१-८६

१. 'णियमा' = पंच० 'जीवो'

क्र०सं०	गाथांश	धवला पु०	धवला पृष्ठ	पंचसंग्रह गाथा (जीवसमास)
९४.	वेगुव्विमुत्तत्थं[1]	१	२९२	१-९६
९५.	वेदण-कसाय-वेउव्विय	४	२९	१-१९६
९६.	वेदस्सुदीरणाए	१	१४१	१०१
९७.	सकयाहलं जलं वा	"	१८९	२४
९८.	सब्भावो सच्चमणो	"	२८१	८९
९९.	संपुण्णं तु समग्गं	"	३६०	१२६
१००.	सम्मत्त-रयण-पव्वय	"	१६६	९
१०१.	सम्माइट्ठी जीवो	"	१७३	१२
	" "	६	२४२	"
१०२.	संगहियसयलसंजम	१	३७२	१२९
१०३.	साहारणमाहारो	"	२७०	८२
१०४.	सिक्खा-किरियुवदेसा	"	१५२	१७३
१०५.	सिद्धत्तणस्स जोग्ग	"	१५०	१५४
१०६.	सुह-दुक्ख-सवहुसस्सं	"	१४२	१०९
१०७.	सेलेसिं संपत्तो	"	१९९	३०
१०८.	होंति अणियट्ठिणो ते	"	१८३	२१

इनके अतिरिक्त ये गाथाएँ पंचसंग्रह के चौथे 'शतक' प्रकरण में उपलब्ध होती हैं—

क्र०सं०	गाथांश	धवला पु०	धवला पृष्ठ	पंचसंग्रह गाथा
१०९.	आउवभागो थोवो	१०	५१२	४-४९६
११०.	उवरिल्लपंचए पुण	८	२४	४-७९
१११.	एयक्खेत्तो गाढं	१२	२७७	४-४९४
	" "	१४	४३९	"
	" "	१५	३५	"
११२.	चदुपच्चइगो बंधो	८	२४	४-७८
११३.	दस अट्ठारस दसयं	८	२८	४-१०१
११४.	पणवण्णा इर वण्णा	८	२४	४-८०
११५.	सव्वुवरि वेयणीए	१०	५१२	४-४९७

अन्य दो गाथाएँ—

क्र०सं०	गाथांश	धवला पु०	धवला पृष्ठ	पंचसंग्रह गाथा
११६.	किण्णं भमरसवण्णा	१६	४८५	१-१८३
११७.	पम्मा पउमसवण्णा	"	"	१-१८४

धवला में उद्धृत प्रचुर गाथाओं में से इतनी गाथाएँ यथासम्भव खोजने पर पंचसंग्रह में उपलब्ध हुई हैं। विशेष खोजने पर और भी कितनी ही गाथाएँ पंचसंग्रह में उपलब्ध हो सकती हैं। यह ध्यातव्य है कि पंचसंग्रह के प्रथम 'जीवसमास' प्रकरण में समस्त गाथाएँ २०६ हैं जिनमें ये ११७ गाथाएँ धवला में उद्धृत देखी गई हैं।

---

1. पंचसंग्रह प्रथम चरण—अंतोमुहुत्तमज्झं।

क्या प्रस्तुत पंचसंग्रह धवलाकार के समक्ष रहा है ?

उपर्युक्त स्थिति को देखते हुए स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ऐसी प्रचुर गाथाओं को धवलाकार ने क्या प्रस्तुत पंचसंग्रह से लेकर अपनी धवला टीका में उद्धृत किया है ? इस पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ये गाथाएँ प्रस्तुत पंचसंग्रह से लेकर धवला में नहीं उद्धृत की गई हैं। कारण इसका यह है कि धवलाकार के समक्ष प्रस्तुत पंचसंग्रह इस रूप में रहा हो, इसकी सम्भावना नहीं है। यदि वह उनके समक्ष रहा होता तो जैसे उन्होंने आचारांग (मूलाचार), कर्मप्रवाद, कसाय पाहुड, तच्चट्ठ (तत्त्वार्थसूत्र), तत्त्वार्थभाष्य (तत्त्वार्थ वार्तिक), पंचत्थिपाहुड, पेज्जदोस और सम्मइसुत्त आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नाम निर्देशपूर्वक उनके अन्तर्गत वाक्यों को यथाप्रसंग प्रमाण के रूप में धवला में उद्धृत किया है वैसे ही वे प्रस्तुत पंचसंग्रह से इतनी अधिक गाथाओं को धवला में उद्धृत करते हुए किसी-न-किसी रूप में उसका भी उल्लेख अवश्य करते। पर उन्होंने उसका कहीं उल्लेख नहीं किया। इससे यही प्रतीत होता है कि उनके समक्ष इस रूप में पंचसंग्रह नहीं रहा है।

यह सम्भव है कि प्रस्तुत पंचसंग्रह में जो पूर्वोक्त जीवसमास आदि पाँच अधिकार विशेष हैं वे पृथक्-पृथक् मूल रूप में धवलाकार के समक्ष रहे हों व उन्होंने उनसे प्रसंगानुसार उपयुक्त गाथाओं को लेकर उन्हें धवला में उद्धृत किया हो। पश्चात् संग्रहकार ने उन मूल प्रकरण-ग्रन्थों में विवक्षित विषय के स्पष्टीकरणार्थ आवश्यकतानुसार भाष्यात्मक या विवरणात्मक गाथाओं को रचकर व उन्हें यथास्थान उन प्रकरण-ग्रन्थों में योजित कर उन पाँचों प्रकरणों का प्रस्तुत 'पंचसंग्रह' के रूप में संग्रह कर दिया हो।

दूसरी एक सम्भावना यह भी है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतमादि गणधरों व अंग-पूर्वों के समस्त व एक देश के धारक अन्य आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा से जो श्रुत का—विशेषकर गाथात्मक श्रुत का—प्रवाह दीर्घकाल तक मौखिक रूप में चलता रहा है उसका कुछ अंश धवलाकार वीरसेन स्वामी के भी कण्ठगत रहा हो और उन्होंने अपनी स्मृति के आधार पर उससे उन प्रचुर गाथाओं को प्रसंगानुसार अपनी धवला टीका में जहाँ-तहाँ उद्धृत किया हो।

अन्य एक सम्भावना यह भी है कि धवलाकार के समक्ष ऐसा कोई गाथाबद्ध प्राचीन ग्रन्थ रहना चाहिए जिसमें विविध विषयों से सम्बद्ध प्रचुर गाथाओं का संग्रह रहा हो और जो वर्तमान में उपलब्ध न हो। इसका कारण यह है कि धवला में ऐसी अन्य भी पचासों गाथाएँ उद्धृत की गई हैं जो वर्तमान में उपलब्ध किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होती हैं। जैसे—

१. सिद्धों में विद्यमान केवलज्ञानादि गुण किस-किस कर्म के क्षय से उत्पन्न होते हैं, इसकी प्ररूपक नौ गाथाएँ। (पु० ७, पृ० १४-१५)

२. क्रम से नैगमादि नयों के आश्रय से 'नारक' नाम की प्ररूपक छह गाथाएँ। यहाँ संग्रह नय की अपेक्षा 'नारक' किसे कहा जाता है, इसकी सूचक गाथा सम्भवतः प्रतियों में स्खलित हो गई है। देखिए पु० ७, पृ० २८-२९। (इसके पूर्व इसी पु० ७ में पृ० ९ पर भी तीन गाथाएँ द्रष्टव्य हैं)

३. मार्गणास्थानों में बन्ध और बन्धविधि आदि पाँच अनुयोगद्वारों की निर्देशक गाथा के साथ बन्ध पूर्व में है या उदय पूर्व में, इत्यादि की सूचक अन्य तीन गाथाएँ। देखिए पु० ८,

पृ० ८। (यहीं पर आगे पृ० ११-१६ में उद्धृत १४ (६-१६) गाथाएँ भी दृष्टव्य हैं)

४. यहीं पर आगे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार मूल बन्धप्रत्ययों में तथा इनके उत्तर ५७ बन्धप्रत्ययों में से क्रम से मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में कितने मूल व उत्तर प्रत्ययों के आश्रय से कर्मबन्ध होता है, इसकी निर्देशक ३ गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। देखिए पु० ८, पृ० २४। (आगे पृ० २८ पर भी एक गाथा द्रष्टव्य है।)

ये यहाँ कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं। वैसे अन्यत्र भी कितनी ही ऐसी गाथाएँ धवला में—जैसे पु० १ में पृ० १०, ११,५५,५७,५६,६१ व ६८ आदि पर—उद्धृत हैं जो उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं।

धवलाकार के समक्ष प्रस्तुत पंचसंग्रह के न रहने के कारण

१. षट्खण्डागम के प्रथम खण्डभूत जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में पाँचवें कालानुगम अनुयोगद्वार में 'जीवसमाए वि उत्तं' ऐसी सूचना करते हुए धवलाकार ने "छप्पंच-णवविहाणं" इत्यादि गाथा को उद्धृत किया है।[1] यह गाथा प्रस्तुत पंचसंग्रह के जीवसमास प्रकरण (१-१५६) में भी उपलब्ध होती है। पर उसे वहाँ से लेकर धवला में उद्धृत किया गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है,[2] 'जीवसमास' नाम का एक ग्रन्थ श्वे० सम्प्रदाय में उपलब्ध है और वह ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था रतलाम से प्रकाशित हो चुका है। पूर्वोक्त गाथा इस 'जीवसमास' में यथास्थान ८२ गाथांक के रूप में अवस्थित है। धवलाकार ने सम्भवतः उसे वहीं से लेकर 'जीवसमास' नामनिर्देश के साथ धवला में उद्धृत कर दिया है।

२. प्रस्तुत पंचसंग्रह के अन्तर्गत 'जीवसमास' प्रकरण में गाथा १०२ व १०४ के द्वारा द्रव्य-भाववेदविषयक विपरीतता को भी प्रकट किया गया है।[3] किन्तु धवला में यह स्पष्ट कहा गया है कि कषाय के समान वेद अन्तर्मुहूर्तकाल रहनेवाला नहीं है, क्योंकि उनका उदय जन्म से लेकर मरणपर्यन्त रहता है।[4]

यही अभिप्राय आचार्य अमितगति विरचित पंचसंग्रह में भी प्रकट किया गया है।[5]

पंचसंग्रहगत जीवसमास प्रकरण में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव नीचे की छह पृथिवियों व ज्योतिषी, व्यन्तर एवं भवनवासी देवों में; समस्त स्त्रियों में और बारह प्रकार के

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३१५; इसके पूर्व यह गाथा सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार (पु० १, पृ० ३६५) में भी धवला में उद्धृत की जा चुकी है।

२. देखें 'षट्खण्डागम और जीवसमास' शीर्षक।

३. "इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्व-भावदो होंति।
ते चेव य विपरीया हवंति सव्वे जहाकमसो॥"

४. कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। (धवला पु० १, पृ० ३४६)

५. नान्तर्मौहूर्तिका वेदास्ततः सन्ति कषायवत्।
आजन्म-मृत्युतस्तेषामुदयो दृश्यते यतः॥ १-१९३॥

मिथ्यावाद (एकेन्द्रिय ४, द्वीन्द्रिय २, त्रीन्द्रिय २, चतुरिन्द्रिय २, और असंज्ञीपंचेन्द्रिय २, इन बारह प्रकार के तिर्यंचों) में भी नहीं उत्पन्न होता है।[1]

यहाँ बारह प्रकार के जिस मिथ्यावाद का उल्लेख किया गया है वह भी धवला में नहीं मिलता है। प्रसंगवश वहाँ तिर्यंचों में प्रथम पाँच गुणस्थानों के सद्भाव के प्ररूपक सूत्र (१,१,२६) की व्याख्या करते हुए प्रसंग प्राप्त एक शंका के समाधान में असंयत सम्यग्दृष्टियों के उत्पन्न होने का निषेध किया गया है। वहाँ यह पूछे जाने पर कि वह कहाँ से जाना जाता है, इसके उत्तर में वहाँ इस गाथा को उद्धृत करते हुए कहा है कि वह इस आर्ष (आगमवचन) से जाना जाता है—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो॥ पु० १, पृ० २०९

इस गाथा का पूर्वार्ध और पंचसंग्रहगत उस गाथा का पूर्वार्ध सर्वथा समान है, केवल उत्तरार्ध ही भिन्न है। यदि धवलाकार के समक्ष प्रस्तुत पंचसंग्रह रहा होता तो वे उसी रूप में उस गाथा को प्रस्तुत कर सकते थे। साथ ही वे कदाचित् 'आर्ष' के स्थान में किसी रूप में पंचसंग्रह का भी संकेत कर सकते थे।

रत्नकरण्डक (३५) में भी बारह प्रकार के उस मिथ्यावाद का उल्लेख नहीं है, वहाँ सामान्य से 'तिर्यंच' का ही निर्देश किया गया है।

अमितगति विरचित पंचसंग्रह में भी उस मिथ्यावाद का उल्लेख नहीं किया गया। यही नहीं, वहाँ तो 'तिर्यंच' का उल्लेख भी नहीं किया है। सम्भवतः यहाँ भोगभूमिज तिर्यंचों को लक्ष्य में रखकर 'तिर्यंच' का उल्लेख नहीं किया गया है।[2]

जीवसमास की प्राचीनता

संग्रहकर्ता ने प्रस्तुत पंचसंग्रह के अन्तर्गत पूर्वनिर्दिष्ट 'जीवसमास' नामक अधिकार का उपसंहार करते हुए यह कहा है—

[3]णिक्खेवे एयट्ठे णयप्पमाणे णिरुत्ति अणियोगे।
मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं॥१-१८२॥

इस गाथा का मिलान 'ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था' से प्रकाशित जीवसमास ग्रन्थ की इस गाथा से कीजिए, जो मंगलगाथा के अनन्तर ग्रन्थ के प्रारम्भ में दी गई है—

णिक्खेव-णिरुत्तीहि य छहि अट्ठहि अणुयोगद्दारेहि।
गइआइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतव्वा॥—गाथा २

इस गाथा में ग्रन्थकार द्वारा निक्षेप, निरुक्ति, निर्देश-स्वामित्व आदि छह अथवा

---

१. छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
वारस मिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो॥ १-१९३॥

२. निकायत्रितये पूर्वं श्वभ्रभूमिषु षट्स्वधः।
वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते॥

३. यह गाथा गो० जीवकाण्ड में भी बीस प्ररूपणाओं का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ के अन्त में उपलब्ध होती है। (गा० ७३३)

सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों और गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासो के जानने की प्रेरणा की गई है, जो इस 'जीवसमास' ग्रन्थ की सार्थकता को प्रकट करती है।

उपर्युक्त दोनों गाथाओं के अभिप्राय में पर्याप्त समानता दिखती है। विशेषता यह है कि 'जीवसमास' के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत गाथा में जैसी सूचना की गई है तदनुसार ही आगे ग्रन्थ में यथाक्रम से निक्षेप, निरुक्ति आदि छह व विशेषकर सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोग-द्वारों तथा गति आदि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासों की प्ररूपणा की गई है। इस प्रकार उपर्युक्त गाथा जो वहाँ प्रारम्भ में दी गयी है वह सर्वथा उचित व संगत है।

किन्तु पंचसंग्रहगत वह गाथा 'जीवसमास' नामक उसके प्रथम प्रकरण के अन्त में दी गई है और उसके द्वारा यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि जो निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगद्वारों के आश्रय से बीस भेदों का मार्गण करता है वह जीव के सद्भाव को जानता है। इस प्रकार उस गाथा में जिन निक्षेप व एकार्थ आदि का निर्देश किया गया है उन सब की चर्चा यथाक्रम से इस प्रकरण में की जानी चाहिए थी, पर उनका विवेचन वहाँ कहीं भी नहीं किया गया है।

इस परिस्थिति में 'जीवसमास' ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रयुक्त उस गाथा की जैसी संगति रही है वैसी पंचसंग्रहगत उस गाथा की संगति नहीं रही। इससे यही प्रतीत होता है कि पंच-संग्रहकार ने 'जीवसमास' की उस गाथा को हृदयंगम कर इस गाथा को रचा है। इस प्रकार इस पंचसंग्रह ग्रन्थ से वह जीवसमास ग्रन्थ प्राचीन सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त यह भी यहाँ ध्यातव्य है कि प्रस्तुत पंचसंग्रह में पूर्वनिर्दिष्ट क्रम से गुण-स्थान व जीवसमास आदि रूप उन बीस प्ररूपणाओं का वर्णन करके प्रसंग के अन्त में उस गाथा को प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि उस गाथा में संकेत किया गया है, यदि संग्रहकार चाहते तो उसके आगे भी वहाँ गाथोक्त निक्षेप व एकार्थ आदि का विचार कर सकते थे। पर आगे भी वहाँ उनकी कुछ चर्चा न करके पूर्व प्ररूपित लेश्याओं की विशेष प्ररूपणा की गई है (१८३-९२)। पश्चात् सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए मनः-पर्ययज्ञान व परिहारविशुद्धिसंयम आदि जो एक साथ नहीं रहते हैं उनका उल्लेख किया गया है (१९३-९४)। आगे सामायिक-छेदोपस्थापनादि संयमविशेष किन गुणस्थानों में रहते हैं, इसका निर्देश करते हुए केवलिसमुद्घात (१९६-२००), सम्यक्त्व व अणुव्रत-महाव्रतों की प्राप्ति का नियम एवं दर्शनमोह के क्षय-उपशम आदि के विषय में विचार किया गया है (२०१-६)।

यह विवेचन यहाँ अप्रासंगिक व क्रमशून्य रहा है। इस सबकी प्ररूपणा वहाँ पूर्वप्ररूपित उस मार्गणा के प्रसंग में की जा सकती थी।

इस परिस्थिति को देखते हुए यही फलित होता है कि धवलाकार वीरसेन स्वामी के समक्ष प्रस्तुत पंचसंग्रह इस रूप में नहीं रहा। यथाप्रसंग धवला में उद्धृत जो सैकड़ों गाथाएँ प्रस्तुत पंचसंग्रह और गोम्मटसार में उपलब्ध होती हैं उनका, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, इस पंचसंग्रह व गोम्मटसार से उद्धृत करना सम्भव नहीं है। किन्तु धवला से पूर्व जो वैसे कुछ प्रकरण विशेष अथवा ग्रन्थविशेष रहे हैं उनमें उन गाथाओं को वहाँ उद्धृत किया जाना चाहिए।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, धवलाकार के समक्ष विशाल आगमसाहित्य रहा है व

उसमें वे पारंगत भी रहे हैं। उस पूर्ववर्ती साहित्य का उन्होंने अपनी धवला और जयधवला टीकाओं की रचना में पर्याप्त उपयोग किया है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने इन टीकाओं में नामोल्लेखपूर्वक कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय और सन्मतिसूत्र आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों से प्रसंग के अनुरूप गाथाओं को व सूत्र को लेकर उद्धृत किया है, यह स्पष्ट हो चुका है।

परन्तु उन्होंने कहीं प्रस्तुत पंचसंग्रह का उल्लेख नहीं किया। धवला से पूर्ववर्ती किसी अन्य ग्रन्थ में भी उसका उल्लेख देखने में नहीं आया। इससे यही निश्चित होता है कि प्रस्तुत पंचसंग्रह इस रूप में धवलाकार के समक्ष नहीं रहा।

पंचसंग्रह के अन्य प्रकरणों से भी धवला की समानता

प्रस्तुत पंचसंग्रह का तीसरा प्रकरण 'कर्मस्तव' है। उसकी चूलिका में क्या बन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, क्या उदय पूर्व में व्युच्छिन्न होता है और क्या दोनों साथ-साथ व्युच्छिन्न होते हैं; इन तीन प्रश्नों को प्रथम उठाया गया है। इसी प्रकार आगे स्वोदय, परोदय व स्व-परोदय तथा सान्तर, निरन्तर व सान्तर-निरन्तर बन्ध के विषय में भी तीन-तीन प्रश्न उठाए गये हैं। इस प्रकार नौ प्रश्नों को उठाकर उनके विवरण की प्रतिज्ञा की गई है।[1]

षट्खण्डागम के तीसरे खण्ड 'बन्धस्वामित्वविचय' में 'पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इनका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है' इस पृच्छासूत्र (५) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उसे देशामर्शक कहकर उससे सूचित 'क्या बन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, क्या उदय पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, क्या दोनों एक साथ व्युच्छिन्न होते हैं' इत्यादि २३ प्रश्नों को उस पृच्छासूत्र के अन्तर्गत बतलाया है। इन २३ प्रश्नों में उपर्युक्त पंचसंग्रह में निर्दिष्ट वे ६ प्रश्न सम्मिलित हैं।

ठीक इसके अनन्तर धवला में 'एत्थुवउज्जंतीओ आरिसगाहाओ' ऐसी सूचना करते हुए चार गाथाओं को उद्धृत किया है। उनमें भूमिकास्वरूप यह प्रथम गाथा है—

> बंधो बन्धविही पुण सामित्तद्धाण पच्चयविही य।
> एदे पंचणिओगा मग्गणठाणेसु मग्गेज्जा ॥ —पु० ८, पृ० ८

इस गाथा में जिस प्रकार से बन्ध, बन्धविधि, स्वामित्व, बन्धाध्वान और प्रत्ययविधि इन पाँच अनुयोगद्वारों के मार्गणास्थानों में अन्वेषण की सूचना की गई है, तदनुसार ही धवला में उपर्युक्त २३ प्रश्नों के अन्तर्गत यहाँ और आगे इस खण्ड के सभी सूत्रों की व्याख्या में उन बन्ध व बन्धविधि आदि पाँच का विचार किया गया है।

यहाँ यह अनुमान किया जा सकता है कि उपर्युक्त गाथा में जिन बन्ध व बन्धविधि आदि पाँच के अन्वेषण की प्रेरणा की गई है उनका प्ररूपक कोई प्राचीन आर्ष ग्रन्थ धवलाकार के समक्ष रहा है, जहाँ सम्भवतः उन पाँचों की विस्तार से प्ररूपणा की गई होगी।

---

१. छिज्जइ पढमो बंधो किं उदओ किं च दो वि जुगवं किं।
किं सोदएण बंधो किं वा अण्णोदएण उभएण ॥३-६५॥
संतर णिरंतरो वा किं वा बंधो हवेज्ज उभयं वा।
एवं णवविहपण्हं कमसो वोच्छामि एयं तु ॥३-६६॥
ये ही नौ बन्धविषयक प्रश्न गो० कर्मकाण्ड में भी उठाये गये हैं। (गाथा ३६६)

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित गो० कर्मकाण्ड में चौथा 'त्रिचूलिका' अधिकार है। वहाँ तीन चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका में उन्हीं नौ प्रश्नों को उठाया गया है जो प्रस्तुत पंचसंग्रह में उठाये गये हैं। विशेषता यह रही है कि पंचसंग्रह में जहाँ उन नौ प्रश्नों को दो गाथाओं द्वारा उद्भावित किया गया है वहाँ कर्मकाण्ड में उन नौ का निर्देश इस एक ही गाथा में कर दिया गया है—

किं बंधो उदयादो पुव्वं पच्छा समं विणस्सदि सो।
स-परोभयोदयो वा णिरंतरो सांतरो उभयो ॥३६६॥

आचार्य नेमिचन्द्र की यह पद्धति रही है कि उन्होंने पूर्ववर्ती षट्खण्डागम व उसकी टीका धवला आदि में विस्तार से प्ररूपित विषयों में यथाप्रसंग विवक्षित विषय का स्पष्टीकरण अतिशय कुशलता के साथ संक्षेप में कर दिया है। यही नहीं, आवश्यकतानुसार उन्होंने उनके अन्तर्गत कुछ गाथाओं को ज्यों-का-त्यों भी अपने इन ग्रन्थों में आत्मसात् कर लिया है।

इस प्रकार धवला में पूर्णवर्ती किसी आगमग्रन्थ के आधार से जिन २३ प्रश्नों को उठाया गया है और यथाक्रम से उनका स्पष्टीकरण भी किया गया है उनमें से पूर्वोक्त नौ प्रश्नों को पंचग्रहण और कर्मकाण्ड में भी उठाकर स्पष्ट किया गया है।[1]

विवशेता

इस प्रसंग में धवला में मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन दस प्रकृतियों के उदयव्युच्छेद को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में दिखलाते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि यह कथन महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपदेशानुसार किया गया है। चूर्णिसूत्रकर्ता (यतिवृषभ) के उपदेशानुसार उक्त दस प्रकृतियों में से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पाँच प्रकृतियों का ही उदयव्युच्छेद होता है, क्योंकि उनके द्वारा एकेन्द्रियादि चार जातियों और स्थावर प्रकृति का उदयव्युच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि के स्वीकार किया गया है।[2]

आगे वहाँ 'एत्थ उवसंहारगाहा' यह कहकर जिस "दस चदुरिगि सत्तारस" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है वह कर्मकाण्ड (२६३) में उपलब्ध है।

इस मतभेद का उल्लेख जिस प्रकार धवलाकार ने स्पष्टतया कर दिया है उस प्रकार से उसका कुछ उल्लेख पंचसंग्रह में नहीं किया गया है। वहाँ मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पाँच प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में तथा अनन्तानुबन्धी चार, एकेन्द्रियादि जातियाँ चार और स्थावर इन नौ प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में कहा गया है।[3]

पंचसंग्रह में जिस मूलगाथा (३-१८) के द्वारा गुणस्थानों में उदयव्युच्छित्ति की प्ररूपणा है वह भी कर्मकाण्ड में उपलब्ध होती है (२६४)।

१. गो० कर्मकाण्ड में सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव बन्ध की भी यथाप्रसंग चर्चा की गई है। (गाथा ६० व १२२-२६)
२. धवला पु० ८, पृ० ६
३. पंचसंग्रह गाथा ३,१६-२० (भाष्यगाथा ३,३०-३१)

कर्मकाण्ड में उक्त मतभेद के अनुसार मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में उदयव्युच्छित्ति की भिन्नता को दिखलाकर भी वह किनके उपदेशानुसार है, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है।[1]

२. धवला में पूर्वोक्त २३ प्रश्नों में 'क्या बन्ध सप्रत्यय (सकारण) होता है या अप्रत्यय' ये दो (१०-११) प्रश्न भी रहे हैं। इनके स्पष्टीकरण में वहाँ धवलाकार ने विस्तार से बन्ध-प्रत्ययों की प्ररूपणा की है।[2]

वहाँ सामान्य से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन चार मूल प्रत्ययों का तथा ५ मिथ्यात्व, १२ असंयम, २५ कषाय और १५ योग इन ५७ उत्तर प्रत्ययों का पृथक्-पृथक् रूप में विचार किया गया है।[3]

पंचसंग्रह के 'शतक' प्रकरण ४ में इन प्रत्ययों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

मिच्छासंजम हुंति हु कसाय-जोगा य बंधहेऊ ते।
पंच दुवालस भेया कमेण पणुवीस पण्णरसं ॥४-७७॥

धवला में आगे उन ५७ प्रत्ययों में से जघन्य व उत्कृष्टरूप में कितने प्रत्यय किस गुण-स्थान में सम्भव हैं, इसे स्पष्ट किया गया है।[4]

इस प्रसंग में धवला में 'एत्थ उवसंहारगाहाओ' ऐसी सूचना करते हुए जिन तीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है उनमें दो गाथाओं द्वारा गुणस्थान क्रम से मूलप्रत्ययों का और तीसरी गाथा द्वारा उत्तरप्रत्ययों का निर्देश है। वह तीसरी गाथा इस प्रकार है[5]—

पणवण्णा इर वण्णा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
चउवीस दु बावीसा सोलस एऊण जाव णव सत्ता ॥४-८०॥

यही गाथा कुछ ही शब्द परिवर्तन के साथ पंचसंग्रह में भी इस प्रकार प्रयुक्त हुई है—

पणवण्णा पण्णासा तेयाल छयाल सत्ततीसा य।
चउवीस दु बावीसा सोलस एऊण जाव णव सत्ता[6] ॥४-८०॥

इन प्रत्ययों का स्पष्टीकरण कर्मकाण्ड में दो (७८९-९०) गाथाओं द्वारा किया गया है।

धवला में उन ५७ प्रत्ययों में जघन्य व उत्कृष्ट रूप से मिथ्यादृष्टि आदि तेरह गुणस्थानों में वे जहाँ जितने सम्भव हैं उन्हें यथाक्रम से स्पष्ट करते हुए अन्त में 'एत्थ उवसंहारगाहा' ऐसी सूचना करते हुए यह गाथा उद्धृत की गई है[7]—

दस अट्ठारस दसयं सत्तरह णव सोलसं च दोण्णं तु।
अट्ठ य चोद्दस पणयं सत्त तिए तु ति दु एयमेयं च[8] ॥

---

१. क० का० गाथा २६५ (पूर्व गाथा २६३-६४ भी द्रष्टव्य है)
२. धवला पु० ८, १९-२८
३. वही, १९-२४
४. वही, २४-२८
५. वही, २४
६. यह गाथा कर्मकाण्ड (७८९) में भी उपलब्ध होती है (च० चरण भिन्न है)।
७. धवला पु० ८, पृ० २८
८. यह गाथा पंचसंग्रह (४-१०१) और कर्मकाण्ड (७९२) में भी उपलब्ध होती है।

आगे धवला में यथाप्रसंग गति आदि मार्गणाओं में भी इन प्रत्ययों की प्ररूपणा संक्षेप में की गई है।

पंचसंग्रह में यह प्ररूपणा एक साथ विस्तार से १७ (८४-१००) गाथाओं में की गई है। समस्त प्रत्ययप्ररूपणा १४० (४,७७-२१६) गाथाओं में हुई है।

३. षट्खण्डागम में जीवस्थान से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में छठी 'उत्कृष्टस्थिति' और सातवीं 'जघन्यस्थिति' चूलिका है। इन दोनों में क्रम से पृथक्-पृथक् उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है। इस प्रसंग में वहाँ यथासम्भव विभिन्न कर्मों की स्थिति प्रकट करते हुए उनमें किन का कितना आबाधाकाल और निषेकस्थिति सम्भव है, स्पष्ट किया गया है। उस प्रसंग में वहाँ सर्वत्र सामान्य से यह सूत्र उपलब्ध होता है—

"आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ[1]।" सूत्र १,९-६,६ आदि। आयुकर्म के आबाधाकाल और निषेकस्थिति में अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों की अपेक्षा विशेषता है, अतः उसका विचार अलग से किया गया है।[2]

पंचसंग्रह में प्रायः यही अभिप्राय इस गाथा के द्वारा प्रकट किया गया है—

आबाधूणट्ठिदी कम्मणिसेओ होइ सत्तकम्माणं।
ठिदिमेव णिया सव्वा कम्मणिसेओ य आउस्स[3] ॥४-३९५०

४. वेदनाद्रव्य विधान की चूलिका में सूत्रकार ने योगस्थानों को ही प्रदेशबन्धस्थान बतलाते हुए विशेष रूप में उन प्रदेशबन्धस्थानों को प्रकृतिविशेष से विशेष अधिक कहा है। सूत्र ४,२,४,२१३ (पु० १०)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवला में कहा गया है कि समान कारणता के होने पर भी प्रकृति विशेष से कर्मों के प्रदेशबन्धस्थान प्रदेशों की अपेक्षा विशेष अधिक हैं। इसी प्रसंग में आगे एक योग से आये हुए एक समयप्रबद्ध में आठ मूल प्रकृतियों में किसको कितना भाग प्राप्त होता है, इसे स्पष्ट करते हुए 'वुत्तं च' इस निर्देश के साथ ये दो गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं—

आउअभागो थोवो णामा-गोदे समो तदो अहिओ।
आवरणमंतराए भागो अहिओ दु मोहेवि ॥
सव्वुवरि वेयणीए भागो अहिओ दु कारणं किंतु।
पयडिविसेसो कारण णो अण्णं तदणुवलंभादो ॥

—पु० १०, पृ० ५११-१२

ये दोनों गाथाएँ इसी रूप में पंचसंग्रह में भी उपलब्ध हैं।[4] विशेष इतना है कि दूसरी गाथा का उत्तरार्ध वहाँ इस प्रकार है—

सुह-दुक्खकारणत्ताट्ठिदिविसेसेण सेसाणं ॥४-८९ उत्त०

---

१. सूत्र ६,९-६,६ व आगे १२,१५,१८,२१ आदि (उत्कृष्ट स्थिति) तथा आगे सूत्र १,९-७,५ व ८,११,१४,१७,२० आदि (जघन्य स्थिति)। पु० ६

२. ष० ख० पु० ६, सूत्र १, ९-६, २२-२६ तथा १,९-७, २७-३४

३. यह गाथा कर्मकाण्ड (१६०) में भी कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है।

४. मूल गाथा ४, ८८-८९ व भाष्य गाथा ४,४९६-९७

इसी अभिप्राय को कर्मकाण्ड में भी दो गाथाओं (१९२-९३) द्वारा प्रगट किया गया है, जिनमें प्रथम गाथा का पूर्वार्ध तीनों ग्रन्थों में समान है।

५. यह पूर्व में कहा जा चुका है कि मूल षट्खण्डागम में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अन्तर्गत जो २४ अनुयोगद्वार रहे हैं उनमें से प्रारम्भ के कृति-वेदनादि छह अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की गई है, शेष निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वहाँ नहीं हुई है। उनकी प्ररूपणा धवलाकार वीरसेनाचार्य के द्वारा की गई है।

उन २४ अनुयोगद्वारों में १३वाँ 'लेश्या' अनुयोगद्वार है। इसमें 'लेश्या' का निक्षेप करते हुए उस प्रसंग में धवलाकार ने चक्षुइन्द्रिय से ग्राह्य पुद्गलस्कन्ध को तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य लेश्या कहा है तथा उसे कृष्ण-नीलादि के भेद से छह प्रकार का निर्दिष्ट किया है। उनमें किन के कौन-सी लेश्या होती है, इसे स्पष्ट करते हुए भ्रमर व अंगार आदि के कृष्ण-लेश्या, नीम व कदली आदि के पत्तों के नीललेश्या, क्षार व कबूतर आदि के कापोत लेश्या, कुंकुम व जपाकुसुम आदि के तेजोलेश्या, तप्तवट व पद्मकुसुम आदि के पद्मलेश्या तथा हंस व बलाका आदि के शुक्ललेश्या कही गई है। आगे वहाँ 'वुत्तं च' कहकर जिन "किण्हं भमर सवण्णा" आदि दो गाथाओं को उद्धृत किया गया है[1] वे प्रस्तुत पंचसंग्रह में 'जीवसमास' अधिकार के अन्तर्गत १८३-८४ गाथांकों में उपलब्ध होती हैं।[2]

आगे धवला में शरीराश्रित छहों लेश्याओं की प्ररूपणा है। जैसे—

तिर्यंच योनिवाले जीवों के शरीर छहों लेश्याओं से युक्त होते हैं—कितने ही कृष्णलेश्या वाले व कितने ही नीललेश्यावाले, इत्यादि। इसी प्रकार आगे तिर्यंच योनिमतियों, मनुष्य-मनुष्यनियों, देवों, देवियों, नारकियों और वायुकायिकों में यथासम्भव उन लेश्याओं की प्ररूपणा की गई है।

आगे वहाँ चक्षुइन्द्रिय से ग्राह्य द्रव्य के अल्पबहुत्व को भी प्रकट किया गया है। जैसे—कापोतलेश्यावाले द्रव्य के शुक्लगुण स्तोक, हारिद्रगुण अनन्तगुणे, लोहित अनन्तगुणे, नील अनन्तगुणे और श्याम अनन्तगुणे होते हैं, इत्यादि।[3]

इस प्रकार का लेश्याविषयक विवरण पंचसंग्रह में दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि वहाँ 'जीवसमास' अधिकार के उपसंहार में तिर्यंच-मनुष्यों आदि में सम्भव लेश्याएँ आदि स्पष्ट की गयी हैं, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है।[4]

धवला में आगे १४वाँ अनुयोगद्वार 'लेश्याकर्म' है। इसमें उक्त छहों लेश्यावाले जीवों के कर्म—मारण-विदारण आदि क्रियाविशेष—की यथाक्रम से प्ररूपणा है। उस प्रसंग

---

१. धवला पु० १६, पृ० ४८४-८५

२. गाथा १८४ का चतुर्थ चरण भिन्न है।

३. धवला पु० १६, पृ० ४८५-८८

४. पंचसंग्रह गाथा १,१८६-९२; इस प्रकार का विचार गो० जीवकाण्ड (४९५-९७) में भी किया गया है। लेश्याविषयक विशेष प्ररूपणा तत्त्वार्थवार्तिक में 'निर्देश' आदि १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की गई है (तत्त्वार्थवार्तिक ४,२२,१०)। जीवकाण्ड में जो उन्हीं १६ अनुयोगद्वारों में लेश्याविषयक प्ररूपणा की गई है (४९०-५५४), सम्भव है उसका आधार यही तत्त्वार्थवार्तिक का प्रकरण रहा हो।

में यहाँ क्रम से प्रत्येक लेश्या के सम्बन्ध में 'वुत्तं च' कहकर कुछ प्राचीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। उनकी संख्या क्रम से १+२+३+१+१+१=९ है।[1]

ये गाथाएँ उसी क्रम से पंचसंग्रह (१,१४४-५२) और गो० जीवकाण्ड (५०८-१६) में उपलब्ध होती हैं।

विशेष प्ररूपणा

लेश्या की विशेष प्ररूपणा आ० भट्टाकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक (४,२२,१०) में निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामित्व, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों में की गई है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि धवलाकार ने लेश्या (१३), लेश्याकर्म (१४) और लेश्यापरिणाम (१५) अनुयोगद्वारों में लेश्याविषयक विशेष प्ररूपणा क्यों नहीं की; जबकि उनके पूर्ववर्ती आ० भट्टाकलंकदेव ने उसके उपर्युक्त १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विशद विवेचन किया है।

इसके समाधान में कहा जा सकता है उसका विवेचन चूंकि षट्खण्डागम में प्रसंगानुसार यत्र-तत्र हुआ है, इसीलिए उन्होंने उसकी विशेष प्ररूपणा यहाँ नहीं की है। उदाहरण के रूप में उन निर्देश आदि १६ अनुयोगद्वारों में प्रथम 'निर्देश' है। तदनुसार जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत प्रथम सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में उसका निर्देश कर दिया गया है। (सूत्र १,१,१३६)

दूसरा 'वर्ण' अनुयोगद्वार है। तदनुसार धवलाकार ने द्रव्यलेश्यागत वर्णविशेष की प्ररूपणा 'लेश्या' अनुयोगद्वार (१३) में की है।

तीसरे परिणाम अनुयोगद्वार के अनुसार उसकी प्ररूपणा धवला के अन्तर्गत यहीं पर 'लेश्या-परिणाम' अनुयोगद्वार (१५) में की गई है। स्वस्थान-परस्थान में कृष्णादि लेश्याओं का संक्रमण किस प्रकार से होता है, इसका स्पष्टीकरण जिस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक[2] में संक्रम अधिकार के आश्रय से किया गया है उसी प्रकार धवला में इस 'लेश्यापरिणाम' अनुयोग-द्वार में किया गया है।

इसी प्रकार वह लेश्याविषयक विशेष प्ररूपणा हीनाधिक रूप में कहीं मूल षट्खण्डागम में और कहीं उसकी इस धवला टीका में की गई है। मूल ष० ख० में जैसे—

गतिविषयक प्ररूपणा 'गति-आगति' चूलिका में (सूत्र १,९-९, ७६-२०२), स्वामित्व-विषयक सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में (सूत्र १,१,१३७-४०), संख्याविषयक क्षुद्रकबन्ध के द्रव्य प्रमाणानुगम में (सूत्र २,५,१४७-५४), क्षेत्रविषयक इसी क्षुद्रकबन्ध के क्षेत्रानुगम में (सूत्र २,६,१०१-६), स्पर्शनविषयक स्पर्शनानुगम में (सूत्र २,७,१९३-२१६), कालविषयक कालानुगम में (सूत्र २,२,१७७-८२), अन्तरविषयक अन्तरानुगम में (सूत्र २,३,१२५-३०), भाव-विषयक स्वामित्वानुगम में (सूत्र २,१,६०-६३) व अल्पबहुत्वविषयक अल्पबहुत्वानुगम में। (सूत्र २,११,१७९-८५)

---

१. इसके पूर्व भी उन गाथाओं को 'सत्प्ररूपणा' के अन्तर्गत लेश्यामार्गणा के प्रसंग में (पु० १, पृ० ३८८-९०) उद्धृत किया जा चुका है।

२. तत्त्वार्थवार्तिक ४,२२,१०, पृ० १७०-७२

तत्त्वार्थवार्तिक का यह प्रसंग कहीं-कहीं पर तो षट्खण्डागम सूत्रों का छायानुवाद जैसा दिखता है। उदाहरण के रूप में लेश्याविषयक 'स्पर्श' को लिया जा सकता है—

"लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय-णीललेस्सिय-काउलेस्सिणं असंजदभंगो।[1] तेउलेस्सिण सत्थाणेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। अट्ठ चोद्दस भागा वा देसूणा। समुग्घादेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। अट्ठचोद्दस भागा वा देसूणा। उववादेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। दिवड्ढचोद्दस भागा वा।"

—ष० ख० सूत्र २,७,१९२-२०१ (पु० ७)

इसका त० वा० के उस प्रसंग से मिलान कीजिये—

"कृष्ण-नील-कापोतलेश्यैः स्वस्थान-समुद्घातोपपादैः सर्वलोकः स्पृष्टः।[2] तेजोलेश्यैः स्वस्थानेन लोकस्यासंख्येयभागः, अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः। समुद्घातेन लोकस्यासंख्येय भागः अष्टौ नव (?) चतुर्दशभागा वा देशोनाः। उपपादेन लोकस्यासंख्येयभागः अध्यर्ध-चतुर्दश भागा वा देशोनाः।"

—त० वा० ४,२२,१०, पृ० १७२

इस प्रकार ष० ख० और त० वा० में इस प्रसंग की बहुत कुछ समानता देखी जाती है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ उसकी प्ररूपणा आगमपद्धति के अनुसार विभिन्न अनुयोगद्वारों में पृथक्-पृथक् हुई है वहाँ त० वा० में वह 'पीत-पद्म-शुक्लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु' इस सूत्र (४-२२) की व्याख्या में पूर्वोक्त निर्देश-वर्णादि १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से एक ही स्थान में कर दी गई है।

सिद्धान्तग्रन्थों के मर्मज्ञ आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी लेश्याविषयक निरूपण उसी प्रकार से गो० जीवकाण्ड में किया है।[3] उसका आधार षट्खण्डागम और कदाचित् तत्त्वार्थवार्तिक का वह प्रसंग भी रहा हो।

१३. षट्खण्डागम (धवला) और गोम्मटसार

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (विक्रम की ११ वीं शती) विरचित गोम्मटसार एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त के पारगामी रहे हैं। प्रस्तुत षट्खण्डागम में जिन प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन आगम पद्धति के अनुसार बहुत विस्तार से किया गया है प्रायः उन सभी विषयों का विवेचन गोम्मटसार में अतिशय कुशलता के साथ व्यवस्थित रूप में संक्षेप से किया है। प्रस्तुत षट्खण्डागम आ० नेमिचन्द्र के समक्ष रहा है व उन्होंने उसका गम्भीर अध्ययन करके सिद्धान्तविषयक अगाध पाण्डित्य को प्राप्त किया था। उन्होंने स्वयं यह कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती ने चक्ररत्न के द्वारा विना किसी विघ्न-बाधा के छह खण्डों में विभक्त समस्त भरतक्षेत्र को सिद्ध किया था उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धिरूप चक्र के द्वारा षट्खण्ड को—छह खण्डों में विभक्त षट्खण्डागम परमागम को—समीचीनतया सिद्ध किया है—उसमें मैं पारंगत हुआ हूँ।[4] षट्खण्डागम के अन्तर्गत जीवस्थानादि रूप छह खण्डों

---

१. इसके लिए ष० ख० सूत्र २,७,१७७ और २,७, १३८-३९ द्रष्टव्य हैं।

२. ष० ख० सूत्र २,७,१,७७ व २, ७, १३८-३९ दृष्टव्य हैं।

३. जीवकाण्ड गा० ४८८-५५५

४. जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइ-चक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं।।—गो० क० ३९७

में अपूर्व पाण्डित्य को प्राप्त करने के कारण ही उन्हें 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' की सम्मान्य उपाधि प्राप्त थी।

व्यवस्थित रूप में समस्त सैद्धान्तिक विषयों के प्ररूपक उस सुगठित, संक्षिप्त व सुबोध गोम्मटसार के सुलभ हो जाने से प्रस्तुत षट्खण्डागम का प्रचार-प्रसार प्रायः रुक गया था। उसके अधिक प्रचार में न आने का दूसरा एक कारण यह भी रहा है कि कुछ विद्वानों ने गृहस्थों, आर्यिकाओं और अल्पबुद्धि मुनिजनों को उसके अध्ययन के लिए अनधिकारी घोषित कर दिया था।[1]

इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण यह भी रहा है कि इन सिद्धान्त-ग्रन्थों की प्रतियाँ एक मात्र मूडबिद्री में रही हैं व उन्हें बाहर आने देने के लिए रुकावट भी रही है। इससे भी उनका प्रचार नहीं हो सका।

यह गोम्मटसार ग्रन्थ जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागों में विभक्त है। उनमें जीव-काण्ड में जीवों की और कर्मकाण्ड में कर्मों की विविध अवस्थाओं का विवेचन है। दोनों का आधार प्रायः प्रस्तुत षट्खण्डागम व उसकी धवला टीका रही है। इसी को यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

जीवकाण्ड

यहाँ सर्वप्रथम मंगलस्वरूप सिद्ध परमात्मा और जिनेन्द्रवर नेमिचन्द्र को प्रणाम करते हुए जीव[2] की प्ररूपणा के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। आगे जीव की वह प्ररूपणा किन अधिकारों द्वारा की जायगी, इसे स्पष्ट करते हुए (१) गुणस्थान, (२) जीवसमास, (३) पर्याप्ति, (४) प्राण, (५) संज्ञा, (६-१९) चौदह मार्गणा और (२०) उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं का निर्देश किया है। इन्हीं बीस प्ररूपणाओं का यहाँ विवेचन किया गया है। वह षट्खण्डागम से कितना प्रभावित है, इसका यहाँ विचार किया जाता है—

जैसा कि ष० ख० के पूर्वोक्त परिचय से ज्ञात हो चुका है, उसके प्रथम खण्डस्वरूप जीवस्थान में जो सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वार हैं उनमें १७७ सूत्रात्मक सत्प्ररूपणा अनुयोग-द्वार की रचना आ० पुष्पदन्त द्वारा की गई है। आ० वीरसेन ने अपनी धवलाटीका में उन सब सूत्रों की व्याख्या करने के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की है कि अब हम उन सत्प्ररूपणा सूत्रों का विवरण समाप्त हो जाने पर उनकी प्ररूपणा कहेंगे। आगे 'प्ररूपणा' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि ओघ और आदेश से गुणस्थानों, जीवसमासों, पर्याप्तियों, प्राणों, संज्ञाओं, गति-इन्द्रियादि १४ मार्गणाओं और उपयोगों में पर्याप्त व अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जो जीवों की परीक्षा की जाती है उसका नाम प्ररूपणा है।[3] यह कहते हुए

---

१. दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेमु णत्थि अहियारो।
सिद्धान्तरहस्साण वि अज्झयणे देसविरदाणं ॥—वसुन० श्रा० ३१२
आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचार-पुस्तकम् ॥—नीतिसार ३२

२. इस मंगलगाथा में उपयुक्त सिद्ध व जिनेन्द्रवर आदि अनेकार्थक शब्दों के आश्रय से संस्कृत टीका में अनेक प्रकार से इस मंगल गाथा का अर्थ प्रकट किया गया है।

३. धवला पु० २, पृ० ४११

उन्होंने आगे 'उक्तं च' के निर्देश के साथ इस प्राचीन गाथा को उद्धृत किया है—

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवजोगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया[1]॥

जीवकाण्ड में यह गाथा मंगलगाथा के पश्चात् दूसरी गाथा के रूप में ग्रन्थ का अंग बना ली गई है।

२. जीवकाण्ड में आगे कहा गया है कि संक्षेप व ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा है जो मोह और योग के निमित्त से होती है तथा विस्तार और आदेश यह मार्गणा की संज्ञा है जो अपने कर्म के अनुसार होती है।[2]

ष०ख० में प्रायः सर्वत्र ही विवक्षित विषय का विवेचन ओघ और आदेश के क्रम से किया गया है। धवलाकार ने 'ओघ' और 'आदेश' को स्पष्ट करते हुए ओघ का अर्थ सामान्य व अभेद और आदेश का अर्थ विशेष व विस्तार किया है। तदनुसार ओघ से गुणस्थान और आदेश से मार्गणास्थान ही विवक्षित रहे हैं।

इस प्रकार जीवकाण्ड में इस मूल षट्खण्डागम और धवला का पूर्णतया अनुसरण किया गया है।

ष० ख० में प्रायः प्रत्येक अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में ओघ और आदेश से विवक्षित विषय की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा करते हुए तदनुसार ही उसका विवेचन प्रथमतः गुणस्थानों के आश्रय से और तत्पश्चात् गत्यादि मार्गणाओं के आश्रय से किया है।[3]

इसी प्रकार जीवकाण्ड में भी प्रथमतः ओघ के अनुसार गुण स्थानों के स्वरूप को प्रकट किया गया है और तत्पश्चात् जीवसमास आदि का निरूपण करते हुए आगे उन गति आदि

---

१. यह गाथा पंचसंग्रह में इसी रूप में उपलब्ध होती है (१-२)। तिलोयपण्णत्ती (गा० २-२७२,४-४१० व ८-६६२) में भी वह उपलब्ध होती है। विशेषता यह रही है कि वहाँ प्रसंग के अनुसार उसके उत्तरार्ध में कुछ शब्दपरिवर्तन कर दिया गया है। यथा—

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो।
उवजोगा कहिदव्वा णारइयाणं जहाजोगं ॥२-२७२

२. संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोह-जोगभवा।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा॥—गो०जी० ३

इसका मिलान धवला के इस प्रसंग से कीजिए—

"ओघेण सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः। अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। धवला पु० १, पृ० १६०; ओघेन—ओघं वृन्दं समूहः संघातः समुदयः पिण्डः अवशेषः अभिन्नः सामान्यमिति पर्यायशब्दाः। गत्यादिमार्गणस्थानैरविशेषितानां चतुर्दशगुणस्थानानां प्रमाण-प्ररूपणमोघनिर्देशः। धवला पु० ३, पृ० ९ (यह द्रव्यप्रमाण के प्रसंग में कहा गया है)। आदेशः पृथग्भावः पृथक्करणं विभजनं विभक्तीकरणमित्यादयः पर्यायशब्दाः। गत्यादिविभिन्नचतुर्दशजीवसमासप्ररूपणमादेशः।"—पु० ३, पृ० १०

३. गुणस्थानों व गुणस्थानातीत सिद्धों का अस्तित्व १५ (९-२३) सूत्रों में दिखलाकर आगे समस्त सूत्रों (२४-१७७) में मार्गणाओं का निर्देश है (पु० १)

चौदह मार्गणाओं का निरूपण किया गया है।[1]

विशेषता यह रही है कि ष० ख० में जहाँ "ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी" आदि सूत्रों के द्वारा पृथक्-पृथक् क्रम से मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों के अस्तित्वमात्र की सूचना है वहाँ जीवकाण्ड में प्रथमतः दो (९-१०) गाथाओं में उन चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया गया है और तत्पश्चात् यथाक्रम से उनके स्वरूप का निरूपण है।

यह यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है कि मूल षट्खण्डागम सूत्रों में केवल नामोल्लेखपूर्वक मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि आदि चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों के सत्त्व को प्रकट किया गया है। उन सूत्रों की यथाक्रम से व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उनके स्वरूप आदि को स्पष्ट किया है। इस स्पष्टीकरण में उन्होंने प्रत्येक गुणस्थान के प्रसंग में प्रमाणस्वरूप जो प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की हैं वे प्रायः सब ही बिना किसी प्रकार की सूचना के यथा प्रसंग जीवकाण्ड में उपलब्ध होती हैं, यह आगे धवला में उद्धृत गाथाओं की सूची के देखने से स्पष्ट हो जावेगा।

३. जीवकाण्ड में अयोगकेवली गुणस्थान का स्वरूप दिखलाकर तत्पश्चात् गुणश्रेणि-निर्जरा के क्रम को प्रकट करते हुए "सम्मत्तुप्पत्तीये" आदि जिन दो (६६-६७) गाथाओं का उपयोग किया गया है वे षट्खण्डागम के चौथे वेदना खण्ड के अन्तर्गत 'वेदनाभाव विधान' अनुयोगद्वार की प्रथम चूलिका में सूत्र के रूप में अवस्थित हैं।[2]

४. जी०का० में गुणस्थान प्ररूपणा के अनन्तर जीवसमासों का विवेचन किया गया है। वहाँ जीवसमास के ये चौदह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—बादर व सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय; ये सातों पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। इस प्रकार इन चौदह जीवभेदों को वहाँ जीवसमास कहा गया है (गाथा ७२)।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, ष० ख० में 'जीवसमास' शब्द से गुणस्थानों की विवक्षा रही है।[3] फिर भी जी० का० में चौदह जीवसमास के रूप में जिन चौदह जीवभेदों का उल्लेख किया गया है उनका निर्देश ष० ख० में सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत इन्द्रिय व काय मार्गणाओं के प्रसंग में किया गया है।[4]

जी० का० में यद्यपि 'जीवसमास' अधिकार में जीवसमास के रूप में उपर्युक्त चौदह जीवभेद अभीष्ट रहे हैं फिर भी ष० ख० में जिस प्रकार 'जीवसमास' शब्द से गुणस्थानों की विवक्षा रही है उसी प्रकार जी० का० में भी गुणस्थानों का उल्लेख 'जीवसमास' शब्द से

---

१. जीवकाण्ड में पूर्व प्रतिज्ञात बीस प्ररूपणाओं में प्रथमतः गुणस्थानों के स्वरूप को दिखाकर (गा० ८-६९) आगे जीवसमास (७०-११६), पर्याप्ति (११७-२७), प्राण (१२८-३२) और संज्ञा (१३३-३८) इन प्ररूपणाओं का वर्णन है। तत्पश्चात् यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं का विचार किया गया है। (गा० १३९-६७०)

२. ष० ख० पु० १२, पृ० ७८

३. जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः, तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः।—धवला पु० १, पृ० १३१

४. ष० ख० सूत्र १,१, ३४-३५ (आगे सूत्र १,१,३९-४१ में इनके अवान्तर भेदों का भी निर्देश किया गया है)। प्र० १

किया गया है। यथा—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य॥ —गा० ९
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदह जीवसमासा कमेण सिद्धा य णायव्वा[1]॥—गा० १०

५. जी० का० के इस जीवसमास अधिकार में संक्षेप से शरीर की अवगाहना के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है (गा० ९७-१०१)।

ष० ख० में चतुर्थ वेदना खण्ड के अन्तर्गत दूसरे वेदना नामक अनुयोगद्वार में जो १६ अवान्तर अनुयोगद्वार हैं उनमें पाँचवाँ 'वेदनाक्षेत्रविधान' है। उसमें प्रसंगवश सब जीवों में शरीरावगाहनाविषयक अल्पबहुत्व की विस्तार से प्ररूपणा हुई है।[2]

सम्भवतः ष० ख० के इसी अवगाहनामहादण्डक के आधार से जी० का० में उपर्युक्त अवगाहनाविकल्पों की प्ररूपणा हुई है।

६. जी०का० के इसी 'जीवसमास' अधिकार में कुलों की भी प्ररूपणा की गई है।
(११३-१६)

ष० ख० में यद्यपि कुलों की प्ररूपणा नहीं है, पर मूलाचार में उनकी विवेचना की गई है। मूलाचार में की गई उस विवेचना से सम्बद्ध गाथा ५-२४ तथा गाथा ५-२६ ये दो गाथाएँ जी० का० में ११३-१४ गाथा संख्या में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती हैं। मूलाचार में उन दो गाथाओं के मध्य में जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और हरितकाय जीवों के कुलों की निर्देशक २५वीं गाथा है वह जी० का० में नहीं उपलब्ध होती। वहाँ मूलाचार की इस गाथा में निर्दिष्ट द्वीन्द्रिय आदि जीवों के कुलों की संख्या का उल्लेख भी अन्य किसी गाथा में नहीं है।

आगे मूलाचार (५-२७) में क्रम से देवों, नारकियों और मनुष्यों के कुलों की संख्या छव्वीस, पच्चीस और चौदह कुलकोटिशतसहस्र निर्दिष्ट की गई है। कुलों की संख्या का यह उल्लेख जी० का० (११५) में भी किया गया है। पर वहाँ विशेषता यह रही है कि मूलाचार में जहाँ मनुष्यों के कुलों की संख्या चौदह कुल कोटिशतसहस्र निर्दिष्ट की गई है वहाँ जी०का० में उनकी वह संख्या बारह कुलकोटिशतसहस्र है।

अन्त में मूलाचार में जो समस्त कुलों की सम्मिलित संख्या निर्देश किया है वह उन सबके जोड़ने पर ठीक बैठता है (५-२८),[3] पर जी० का० (११६) में निर्दिष्ट समस्त कुल-

---

१. श्वे० संस्था रतलाम से प्रकाशित 'जीवसमास' में भी दो गाथाओं में गुणस्थानों के नामों का उल्लेख किया गया है (गा० ९-१०)। वहाँ दूसरी गाथा के चतुर्थ चरण में इस प्रकार का पाठ भेद है—कमेण एएऽणुगंतव्वा।

२. ष० ख० पु० ११, सूत्र ३०-९९ (पृ० ५६-७०)।

३. मूलाचार में आगे 'पर्याप्ति' अधिकार (१२) में उन कुलों की संख्या उन्हीं गाथाओं में फिर से भी निर्दिष्ट की गई है (१६६-६९)। विशेषता यह है कि वहाँ उनकी सम्मिलित संख्या का उल्लेख नहीं किया है। (कुलों की यह प्ररूपणा जीवसमास (४०-४४) में भी

(शेष पृष्ठ ३०५ पर देखिए)

संख्या जोड़ने पर ठीक नहीं बैठती ।[1]

जीवकाण्ड में उपर्युक्त द्वीन्द्रियादि जीवों के कुलों की संख्या का निर्देश करनेवाली गाथा सम्भवतः प्रतिलिपि करनेवाले की असावधानी से छूट गई है। उन द्वीन्द्रियादि के कुलों की संख्या के सम्मिलित कर देने पर जी० का० में निर्दिष्ट वह समस्त कुलसंख्या भी ठीक बैठ जाती है।

७. जीवकाण्ड के 'पर्याप्ति' अधिकार में आहारादि छह पर्याप्तियों का निर्देश करते हुए उनमें से एकेन्द्रियों के चार, विकलेन्द्रियों के पाँच और संज्ञियों के छहों पर्याप्तियों का सद्भाव दिखलाया गया है (११८)।

ष० ख० में 'सत्प्ररूपणा' अनुयोगद्वार के अन्तर्गत योगमार्गणा के प्रसंग में नामनिर्देश के बिना क्रम से छह पर्याप्तियों व अपर्याप्तियों का सद्भाव संज्ञी मिथ्यादृष्टि आदि असंयतसम्यग्दृष्टि तक, पाँच पर्याप्तियों व अपर्याप्तियों का सद्भाव द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक और चार पर्याप्तियों व अपर्याप्तियों का सद्भाव एकेन्द्रियों के प्रकट किया गया है।

(सूत्र १,१,७०-७५)

इस प्रकार ष० ख० और जी० का० दोनों ग्रन्थों में पर्याप्तियों का यह उल्लेख समान रूप से किया गया है। विशेष इतना है कि ष० ख० में जहाँ उनका उल्लेख संज्ञियों को आदि लेकर किया गया है वहाँ जी० का० में विपरीत क्रम से एकेन्द्रियों को आदि लेकर किया गया है। पर्याप्तियों के नामों का उल्लेख मूल में नहीं किया गया है, पर धवला में इसके पूर्व इन्द्रिय मार्गणा के प्रसंग में उनके नामों का निर्देश करते हुए स्वरूप आदि को भी स्पष्ट कर दिया गया है।[2]

धवला में वहाँ इस प्रसंग में 'उक्तं च' कहकर 'बाहिरपाणेहि जहा' आदि जिस गाथा को उद्धृत किया गया है वह बिना किसी प्रकार की सूचना के जी० का० में गाथा १२८ के रूप में ग्रन्थ का अंग बना ली गई है। विशेषता यह रही है कि वहाँ 'जीवंति' के स्थान में 'पाणंति' और 'बोद्धव्वा' के स्थान में 'णिद्दिट्ठा' पाठभेद हो गया है।

८. आगे जी० का० में 'मार्गणा' महाधिकार को प्रारम्भ करते हुए जिस 'गइ-इंदियेसु-काये' (१४१) आदि गाथा के द्वारा चौदह मार्गणाओं के नामों का उल्लेख किया गया है वह

की गई है। वहाँ पूर्व की दो गाथाएँ मूलाचार से शब्दशः समान हैं। संख्याविषयक मतभेद जी० का० के समान है)

कुलों की यह प्ररूपणा तत्त्वार्थसार (२,११२-१६) में भी उपलब्ध है। वह सम्भवतः मूलाचार के आधार से ही की गई है।

१. मूलाचार की उस गाथा से जी० का० की गाथा कुछ अंश में समान भी है, पर समस्त संख्या में भेद हो गया है। यथा—

एया य कोडिकोडी णवणवदी-कोडिसदसहस्साइं ।
पण्णासं च सहस्सा संवग्गीणं कुलाण कोडीओ ॥—मूला० गाथा ५-२८
एया य कोडिकोडी सत्ताणवदी य सदसहस्साइं ।
वण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ॥—जी०का० ११६

२. धवला पु० १, पृ० २५३-५६

ष० ख० में गद्यात्मक सूत्र के रूप में अवस्थित है।[1]

९. जी० का० में आठ सान्तर मार्गणाओं का निर्देश करते हुए उनके अन्तरकाल के प्रमाण को भी प्रकट किया गया है। (१४२-४३)

ष० ख० में उन आठ सान्तरमार्गणाओं के अन्तर काल का उल्लेख प्रसंगानुसार इस प्रकार किया गया है—

सान्तरमार्गणा	अन्तरकाल	पु० ७, सूत्र
१. मनुष्य अपर्याप्त	जघन्य एक समय उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	२,६,८-१०
२. वैक्रियिक मिश्र का० योग	जघन्य एक समय उत्कृष्ट बारह मुहूर्त	२,६,२४-२६
३. आहार-काययोग	जघन्य एक समय उत्कृष्ट वर्षपृथक्त्व	२,६,२७-२६
४. आहार-मिश्रकाययोग	,,	,,
५. सूक्ष्म साम्परायिकसंयत	जघन्य एक समय उत्कृष्ट ६ मास	२,६,४२-४४
६. उपशमसम्यग्दृष्टि	जघन्य एक समय उत्कृष्ट ७ रात-दिन	२,६,५७-५६
७. सासादनसम्यग्दृष्टि	जघन्य एक समय उत्कृष्ट प० का असंख्यातवाँ भाग	२,६,६०-६२
८. सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,,	,,

इस प्रकार ष० ख० में जो मार्गणाक्रम से नाना जीवों की अपेक्षा उन आठ सान्तर-मार्गणाओं के अन्तरकाल का प्रमाण कहा गया है उसी का उल्लेख जी० का० में किया गया है। विशेषता यह रही है कि ष० ख० में जहाँ यह उल्लेख मार्गणा के अनुसार किया है वहाँ जीवकाण्ड में गत्यादि मार्गणाओं के नामनिर्देश के अनन्तर दो गाथाओं में एक साथ प्रकट कर दिया गया है, इसी लिए उनमें क्रमभेद भी हुआ है।

१०. जीवकाण्ड के इस 'मार्गणा महाधिकार' में जो यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं की प्ररूपणा की गई है उसका आधार प्रायः ष० ख० की धवला टीका रही है। यही नहीं, प्रसंगानुसार वहाँ धवला में उद्धृत सभी गाथाओं को जीवकाण्ड में ग्रन्थ का अंग बना लिया गया है। इसके अतिरिक्त कषायप्राभृत व मूलाचार की भी कुछ गाथाएँ वहाँ उपलब्ध होती हैं। ऐसी गाथाओं की सूची आगे दी गई है। उसके लिए कुछ उदाहरण यहाँ भी दिये गये हैं—

(१) जीवकाण्ड में कायमार्गणा के अन्तर्गत वनस्पतिकायिक जीवों की प्ररूपणा के प्रसंग

---

१. सूत्र १,१,४ (पु० १) व २,१,२ (पु० ७)। यह गाथा के रूप में मूलाचार (१२-१५६) विशेषावश्यकभाष्य (४०६ नि०) और प्रवचनसारोद्धार (१३०३) में भी उपलब्ध होता है।

में जो १६१,१६२,१६४ और १६६ ये गाथाएँ उपलब्ध होती हैं वे ष०ख० के 'बन्धन' अनुयोगद्वार में गाथासूत्र १२३,१२५,१२७ और १२८ के रूप में अवस्थित हैं।[1]

(२) जीवकाण्ड में इसी प्रसंग के अन्तर्गत १८५ व १८६ ये दो गाथाएँ मूलाचार के पंचाचाराधिकार में १६ और १६ गाथांकों के रूप में अवस्थित हैं।

(३) जीवकाण्ड के अन्तर्गत गाथाएँ १८ व २७ क्रम से कषायप्राभृत में १०७ व १०८ गाथांकों के रूप में अवस्थित हैं।[2]

(४) जीवकाण्ड में प्रमत्तसंयत गुणस्थान के प्रसंग में प्रमाद का निरूपण करते हुए जिन ३६-३८, ४० और ४२ इन पाँच गाथाओं का उपयोग किया गया है वे मूलाचार के 'शील-गुणाधिकार' में यथाक्रम से २०-२२, २३ और २५ इन गाथांकों में अवस्थित हैं। विशेषता यह रही है कि मूलाचार की गाथा २१ में जहाँ प्रसंग के अनुरूप 'सील' शब्द का उपयोग हुआ है वहाँ जीवकाण्ड की गाथा ३७ में उसके स्थान में प्रमाद का प्रसंग होने से 'पमद' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार मूलाचार की गाथा २५ में जहाँ प्रसंग के अनुरूप चतुर्थ चरण में 'कुज्जा पढमंति याचेव' ऐसा पाठ रहा है वहाँ जीवकाण्ड की गाथा ४२ में उसके स्थान में 'कुज्जा एमेव सव्वत्थ' ऐसा पाठ परिवर्तित हुआ है।

(५) जीवकाण्ड में ज्ञानमार्गणा के प्रसंग में प्रयुक्त ४०३-६,४११,४२६ और ४२६-३१ ये ६ गाथाएँ ष० ख० के पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में ४-८ और ११-१४ गाथासूत्रों के रूप में अवस्थित हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आ० नेमिचन्द्र ने अपने से पूर्वकालीन कषायप्राभृतादि अन्य ग्रन्थों से भी प्रसंगानुरूप गाथाओं को लेकर अपने ग्रन्थों का अंग बनाया है।

११. जीवकाण्ड में यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं का निरूपण करते हुए प्रत्येक मार्गणा के अन्त में प्रसंग प्राप्त उन जीवों की संख्या को भी प्रकट किया गया है। इस संख्या प्ररूपणा का आधार ष० ख० के प्रथम खण्ड स्वरूप जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में जो दूसरा 'द्रव्यप्रमाणानुगम' अनुयोगद्वार है, रहा है। विशेष इतना है कि जीवकाण्ड में जहाँ गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में यथाक्रम से स्वरूप आदि का विचार करते हुए अन्त में उन जीवों की संख्या का उल्लेख है वहाँ षट्खण्डागम के अन्तर्गत इस अनुयोगद्वार में प्रथमतः ओघ की अपेक्षा क्रम से मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों की और तत्पश्चात् गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में प्रसंगप्राप्त जीवों की संख्या का उल्लेख हुआ है। यह 'द्रव्यप्रमाणानुगम' उस संख्या का प्ररूपक स्वतंत्र अनुयोगद्वार है, जो ष०ख० की पु० ३ में प्रकाशित है।

इस प्रसंग में धवला में उद्धृत कुछ गाथाओं को भी यथाप्रसंग जीवकाण्ड में आत्मसात् कर लिया गया है।

इसी प्रकार धवला में जीवस्थान के अन्तर्गत क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम और भावानुगम इन अन्य अनुयोगद्वारों में तथा चूलिका में भी यथाप्रसंग जो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं वे जीवकाण्ड में यथास्थान उपलब्ध होती हैं। उन सब की सूची एक साथ आगे दी गई है।

---

१. ष० ख० पु० १४, पृ० २२६-३४

२. कसायसुत्त, पृ० ६३७

१२. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीवकाण्ड में जो गुणस्थानों आदि की प्ररूपणा की गई है वह प्रस्तुत ष० ख० व उसकी धवला टीका से बहुत कुछ प्रभावित है। पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त जीवकाण्ड में प्रसंगानुसार कुछ ऐसा भी विवेचन किया गया है जो ष० ख० और धवला में नहीं उपलब्ध होता। वहाँ ज्ञानमार्गणा, लेश्यामार्गणा और सम्यक्त्व-मार्गणा के प्रसंग में कुछ अन्य प्रासंगिक विषयों की भी चर्चा की गई है। यथा—

जीवकाण्ड में ज्ञानमार्गणा के प्रसंग में जो पर्याय व पर्यायसमास और अक्षर व अक्षर-समास आदि वीस प्रकार के श्रुतज्ञान की प्ररूपणा की गई है वह पूर्णतया ष०ख० से प्रभावित है क्योंकि वहाँ वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में यह एक गाथासूत्र है—

पज्जय-अक्खर-पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइं।
पाहुडपाहुड-वत्थू पुव्व समासा य बोद्धव्वा ॥ —पु० १३, पृ० २६०

इस गाथासूत्र का स्वयं मूलग्रन्थकार द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए पर्यायावरणीय और पर्यायसमासावरणीय आदि श्रुतज्ञानावरणीय के जिन वीस भेदों का निर्देश किया गया है (सूत्र ५,५,४८), तदनुसार ही उनके द्वारा यथाक्रम से आवृत उन पर्याय व पर्यायसमास आदि रूप वीस श्रुतज्ञानभेदों का निर्देश जीवकाण्ड में किया गया है (३१६-१७)। आगे जीव-काण्ड में जो उक्त श्रुतज्ञान भेदों के स्वरूप आदि के विषय में विचार किया गया है (गाथा ३१८-४८) उसका आधार उस सूत्र की धवला टीका रही है। (पु० १३, पृ० २६१-७६)

इस प्रकार उक्त ष० ख० सूत्र और उसकी धवला टीका का अनुसरण करते हुए भी यहाँ जीवकाण्ड में अनन्तभागवृद्धि आदि छह वृद्धियों की क्रम से ऊर्वंक, चतुरंक, पंचांक, षडंक, सप्तांक और अष्टांक इन संज्ञाओं का उल्लेख है (गा० ३२४) व तदनुसार ही आगे यथावसर उनका उपयोग भी किया गया है। यह पद्धति ष० ख० व धवला टीका में नहीं अपनाई गई है।[1]

१३. जीवकाण्ड में जो ६४ अक्षरों के आश्रय से श्रुतज्ञान के अक्षरों के उत्पादन की प्रक्रिया का निर्देश है (३५१-५२) उसका विवेचन धवला में विस्तार से किया है। (पु० १३, पृ० २४७-६०)

इस प्रसंग में धवला में संयोगाक्षरों की निर्देशक जो 'एयट्ठ च' आदि गाथा उद्धृत है वह जीवकाण्ड में गाथांक ३५३ में उपलब्ध है।

आगे धवला में मध्यम पद सम्बन्धी अक्षरों के प्रमाण की प्ररूपक जो 'सोलससद चोत्तीसं' आदि गाथा उद्धृत है (पु० १३, पृ० २६६) वह भी जीवकाण्ड में गाथा ३३५ के रूप में उपलब्ध होती है।

१४. जीवकाण्ड में इस प्रसंग में यह एक विशेषता देखी गई है कि वहाँ आचारादि ग्यारह अंगों और बारहवें दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत परिकर्म आदि के पदों का प्रमाण संकेतात्मक अक्षरों में प्रकट किया गया है। (गाथा ३५९ व ३६२-६३)

जैसे—आचारादि ११ अंगों के समस्त पदों का प्रमाण ४१५०२००० है। इसका संकेत 'वापणनरनोनानं' इन अक्षरों में किया है। साधारणतः इसके लिए यह नियम है कि क से

---

१. पंचांक, ऊर्वंक व अष्टांक संज्ञाओं का उल्लेख धवला में 'वृद्धिप्ररूपणा' के प्रसंग में देखा जाता है। पु० १२, पृ० २१७, २१८ व २२० आदि।

लेकर क्ष तक क्रम से १,२,३ आदि नौ अंक, ट से ध तक नौ अंक; प से म तक क्रम से १,२, ३,४,५ अंक और य से ह तक आठ अंक ग्रहण किये जाते हैं। अकारादि स्वर, ञ और न से शून्य (०) को ग्रहण किया जाता है। छन्द आदि की दृष्टि से उपयुक्त मात्राओं से किसी अंक को नहीं ग्रहण किया जाता है। इसी नियम के अनुसार ऊपर संकेताक्षरों में ग्यारह अंगों के पदों का प्रमाण प्रकट किया गया है।

यह पद्धति धवला में नहीं देखी जाती है। वहाँ उन सबके पदों का प्रमाण संख्यावाचक शब्दों के आश्रय से ही प्रकट किया गया है। (पु० १, १०७ व १०९ आदि तथा पु० ९, पृ० २०३ व २०५ आदि।)

१५. जीवकाण्ड में संयममार्गणा के प्रसंग में जिस गाथा (४५६) के द्वारा संयम के स्वरूप को प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि व्रतों के धारण, समितियों के पालन, कषायों के निग्रह, दण्डों के त्याग और इन्द्रियों के जय का नाम संयम है[1] वह गाथा धवला में संयम-मार्गणा के ही प्रसंग में 'उक्तं च' इस निर्देश के साथ उदधृत की गई है।[2] वहीं से सम्भवतः उसे जीवकाण्ड में ग्रहण किया गया है।

१६. जीवकाण्ड के आगे इसी संयममार्गणा के प्रसंग में सामान्य से परिहारविशुद्धिसंयत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि जो जन्म से ३० वर्ष तक यथेष्ट भोगों का अनुभव करता हुआ सुखी रहा है, जिसने तीर्थंकर के पादमूल में पृथक्त्ववर्ष तक रहकर प्रत्याख्यान पूर्व को पढ़ा है, और जो संध्याकाल को छोड़कर दो गव्यूति विहार करता है उसके परिहारविशुद्धि संयम होता है। वहाँ जिस गाथा के द्वारा यह विशेषता प्रकट की गई, वह इस प्रकार है—

तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउअविहारो ॥४७२॥

यहाँ गाथा में स्पष्टतया सुखी रहने का उल्लेख नहीं किया गया है, वहाँ 'तीसं वासो जम्मे' इतना मात्र कहा गया है। पर धवला में उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसका उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है। साथ ही, वहाँ यह विशेष रूप से कहा गया है कि परिहारविशुद्धि-संयत सामान्य रूप से या विशेषरूप से—सामायिकछेदोपस्थापनादि के भेदपूर्वक—संयम को ग्रहण करके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्धित परिमित-अपरिमित प्रत्याख्यान के प्ररूपक प्रत्याख्यानपूर्व को समीचीनतया पढ़ता हुआ सब प्रकार के संशय से रहित हो जाता है, उसके विशिष्ट तप के आश्रय से परिहारविशुद्धि ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है व वह तीर्थंकर के पादमूल में परिहारविशुद्धिसंयम को ग्रहण करता है। यहाँ 'पृथक्त्ववर्ष' का उल्लेख नहीं किया गया है, जिसका उल्लेख जीवकाण्ड की उपर्युक्त गाथा में है।[2] इस प्रकार से वह गमना-गमनादि रूप सब प्रकार की प्रवृत्ति में प्राणिहिंसा के परिहार में कुशल होता है।[3]

यहाँ यह विशेष स्मरणीय है कि धवला में संयममार्गणा के प्रसंग में जिन आठ गाथाओं

---

१. संयम का यही स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में भी निर्दिष्ट किया गया है।
—९,७,१२, पृ० ३३०

२. धवला पु० १, पृ० १४५

३. धवला पु० १, पृ० ३७०-७१

(१८७-६४) को 'उक्तं च' कहकर उद्धृत किया है वे उसी रूप में व उसी क्रम से जीवकाण्ड में ४६६-७७ गाथाओं में भी उपलब्ध होती हैं।[1]

विशेषता यह रही है कि ऊपर जीवकाण्ड की जिस 'तीसं वासो जम्मे' (४७२) गाथा का उल्लेख है वह धवला में उद्धृत गाथाओं में नहीं है।

इस प्रकार अधिक सम्भावना तो यही है कि जीवकाण्ड में संयम की प्ररूपणा धवला के ही आधार से की गई है। 'तीसं वासो जम्मे' आदि गाथा आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा ही रची गई दिखती है, वह पूर्ववर्ती किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पायी जाती।

१७. जीवकाण्ड में लेश्यामार्गणा के प्रसंग में इन १६ अधिकारों के द्वारा लेश्या से सम्बन्धित कुछ प्रासंगिक चर्चा भी है[2]—(१) निर्देश, (२) वर्ण, (३) परिणाम, (४) संक्रम, (५) कर्म, (६) लक्षण, (७) गति, (८) स्वामी, (९) साधन, (१०) संख्या, (११) क्षेत्र, (१२) स्पर्श, (१३) काल, (१४) अन्तर, (१५) भाव और (१६) अल्पबहुत्व।

ष० ख० में इस प्रकार से कहीं एक स्थान पर लेश्या से सम्बन्धित उन सब विषयों की चर्चा नहीं की गई है, वहाँ यथाप्रसंग विभिन्न स्थानों पर उसका विचार किया गया है। जैसे—

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि वहाँ जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में लेश्यामार्गणा के प्रसंग में लेश्या के छह भेदों का निर्देश करते हुए उनके स्वामियों का भी उल्लेख किया गया है (सूत्र १३६-४०)। वहाँ छह लेश्यावाले जीवों के प्ररूपक सूत्र (१३२) की व्याख्या करते हुए धवला में 'उक्तं च' ऐसा निर्देश करके क्रम से उन छह लेश्याओं के लक्षणों की प्ररूपक नौ गाथाओं को तथा आगे अलेश्य जीवों की प्ररूपक एक अन्य गाथा को उद्धृत किया गया है।[3]

जीवकाण्ड में उन गाथाओं को उसी रूप में व उसी क्रम से ग्रन्थ का अंग बना लिया गया है। विशेषता केवल यह रही है कि उन गाथाओं में अलेश्य जीवों की प्ररूपक गाथा को जीवकाण्ड में लेश्यामार्गणा को समाप्त पर लिया गया है।[4]

१८. ष० ख० में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अन्तर्गत कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में जिन निबन्धन आदि अठारह (७-२४) अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा ग्रन्थकर्ता द्वारा नहीं की गई है उनकी प्ररूपणा वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में कर दी है।

उन २४ अनुयोगद्वारों में १३वाँ लेश्या-अनुयोगद्वार, १४वाँ लेश्याकर्म और १५वाँ लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार है। इनमें से लेश्या-अनुयोगद्वार में शरीराश्रित द्रव्यलेश्या (शरीरगत वर्ण) की प्ररूपणा करते हुए किन जीवों के कौन-सा वर्ण होता है, इसे स्पष्ट किया गया

---

१. धवला पु० १, पृ० ३७२-७३

२. जैसा कि पीछे 'ष० ख० व पंचसंग्रह' शीर्षक में संकेत किया गया है, जी० का० में इस लेश्याविषयक विशेष प्ररूपणा का आधार सम्भवतः 'तत्त्वार्थवार्तिक' का वह प्रसंग रहा है।

३. धवला पु० १, पृ० ३८८-९०; इन गाथाओं को आगे धवला में १४वें 'लेश्याकर्म' अनुयोगद्वार में भी उद्धृत किया गया है। पु० १६, पृ० ४९०-९२ (यहाँ मार्गणा का अधिकार न होने से 'अलेश्य' जीवों से सम्बन्धित गाथा उद्धृत नहीं है)

४. गा० ५०८-१६ व आगे गा० ५५५

है। साथ ही, एक ही शरीर में प्रमुख वर्ण के साथ जो अन्य वर्ण रहते हैं उनके अल्पबहुत्व को भी दिखलाया गया है।[1]

जीवकाण्ड में पूर्वोक्त निर्देशादि १६ अनुयोगद्वारों में दूसरा 'वर्ण' अनुयोगद्वार है। उस में लगभग ष० ख० के लेश्या अनुयोगद्वार के ही समान द्रव्यलेश्या की प्ररूपणा की गई है (४९३-९७)।

१९. उपर्युक्त कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में १४वाँ 'लेश्याकर्म' अनुयोगद्वार है। इसमें क्रम से कृष्णादि लेश्यावाले जीवों की प्रवृत्ति (कर्म या कार्य) को दिखलाते हुए 'उक्तं च' इस सूचना के साथ ९ गाथाओं को उद्धृत किया गया है।[2] ये वे ही गाथाएँ है जिनका उल्लेख पीछे सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत लेश्यामार्गणा के प्रसंग में किया जा चुका है तथा जो जीवकाण्ड के छठे 'लक्षण' अधिकार में ५०८-१६ गाथांकों में उपलब्ध होती हैं।

२०. लेश्यापरिणाम नामक १५वें अनुयोगद्वार में कौन-सी लेश्या षट्स्थानपतित संक्लेश अथवा विशुद्धि के वश किस प्रकार से स्वस्थान और परस्थान में परिणत होती है, इसे धवला में स्पष्ट किया गया है।[3]

जीवकाण्ड में तीसरे 'परिणाम' अधिकार के द्वारा लेश्या के परिणमन की जो व्याख्या हुई है वह धवला की उपर्युक्त प्ररूपणा के ही समान है।[4]

२१. ष० ख० के दूसरे क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत ११ अनुयोगद्वारों में ५वाँ द्रव्य-प्रमाणानुगम है। उसमें यथा क्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में जीवों की संख्या दिखलायी गयी है। वहाँ लेश्यामार्गणा के प्रसंग में कृष्णादि छह लेश्यावाले जीवों की संख्या की विवेचना की गई है।[5]

जीवकाण्ड में पूर्वनिर्दिष्ट १६ अधिकारों में १०वाँ संख्या अधिकार है। उसमें प्रायः धवला के ही समान कृष्णादि छह लेश्यावाले जीवों की संख्या को दिखलाया गया है।[6]

२२. षट्खण्डागम के उसी दूसरे खण्ड में जो छठा क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वार है उसमें लेश्या-मार्गणा के प्रसंग में उक्त छहों लेश्यावाले जीवों के वर्तमान निवासरूप क्षेत्र की प्ररूपणा हुई है।[7]

जीवकाण्ड के पूर्वनिर्दिष्ट 'क्षेत्र' अधिकार में उन छह लेश्यावाले जीवों के क्षेत्र की प्ररूपणा धवला के ही समान है। (गा० ५४२-४४)

२३. षट्खण्डागम में इसी खण्ड के ७वें स्पर्शनानुगम, दूसरे 'एक जीव की अपेक्षा काला-नुगम' और तीसरे 'एक जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम' इन तीन अनुयोगद्वारों में जिस प्रकार से छह लेश्यायुक्त जीवों के क्रम से स्पर्श, काल और अन्तर की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार

---

१. पु० १६, पृ० ४८४-८९
२. पु० १६, पृ० ४९०-९२
३. वही, ४९३-९७
४. गा० ४९८-५०२
५. सूत्र २,५,१४७-५४ (पु० ७, पृ० २९२-९४)
६. गाथा ५३६-४१
७. सूत्र २,६,१०१-६ (पु० ७)

से जीवकाण्ड में स्पर्श (१२), काल (१३) और अन्तर (१४) इन तीन अधिकारों में उन कृष्णादि छह लेश्यावाले जीवों के क्रम से स्पर्श, काल और अन्तर की प्ररूपणा है।[1]

२४. भाव की प्ररूपणा के प्रसंग में जिस प्रकार षट्खण्डागम में छहों लेश्याओं को भाव से औदयिक कहा गया है उसी प्रकार जीवकाण्ड में भी भाव की अपेक्षा उन्हें औदयिक कहा गया है।[2]

२५. षट्खण्डागम के इसी क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत ११वें अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में उक्त कृष्णादि लेश्या युक्त जीवों के अल्पबहुत्व की विवेचना है। जीवकाण्ड में अल्पबहुत्व अधिकार के प्रसंग में इतना मात्र कहा गया है कि उनका अल्पबहुत्व द्रव्यप्रमाण से सिद्ध है।[3]

मूलाचार

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जी० का० में पूर्वोक्त १६ अधिकारों के आश्रय से जो लेश्या की प्ररूपणा की गई है उसका बहुत-सा विषय यथाप्रसंग षट्खण्डागम में चर्चित है। जो कुछ विषय षट्खण्डागम में नहीं उपलब्ध होता है वह अन्यत्र मूलाचार और तत्त्वार्थवार्तिक आदि में उपलब्ध होता है जैसे—

जीवकाण्ड के अन्तर्गत सोलह अधिकारों में से ८वें 'स्वामी' अधिकार में चारों गतियों के विभिन्न जीवों में किनके कौन-सी लेश्या होती है, इसका विचार किया गया है (५२८-३४)।

मूलाचार के अन्तिम 'पर्याप्ति' अधिकार में उक्त कृष्णादि लेश्याओं के स्वामियों का विचार किया गया है। जीवकाण्ड में जो लेश्याओं का स्वामीविषयक विचार किया गया है वह मूलाचार की उस स्वामीविषयक प्ररूपणा से प्रभावित रहा दिखता है। इतना ही नहीं, उस प्रसंग में प्रयुक्त मूलाचार की कुछ गाथाएँ भी जीवकाण्ड में उसी रूप में उपलब्ध होती हैं। जैसे—

गाथांश	मूलाचार	जीवकाण्ड
काऊ काऊ तह काउ-	१२-६३	५२८
तेऊ तेऊ तह तेऊ	१२-६४	५३४
तिण्हं दोण्हं दोण्हं	१२-६५	५३३

ये तीन गाथाएँ दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान हैं। विशेष इतना है कि मूलाचार गाथा ६३ के चतुर्थ चरण में जहाँ 'रयणादिपुढवीसु' पाठ है वहाँ जीवकाण्ड में उसके स्थान में 'पढमादि-पुढवीणं' पाठ है। यह शब्दभेद ही हुआ है, अभिप्राय में भेद नहीं है। आगे की गाथा के चतुर्थ चरण में जहाँ मूलाचार में 'लेस्साभेदो मुणेयव्वो' पाठ है वहाँ जीवकाण्ड में उसके स्थान में 'भवणतियापुण्णगे असुहा' पाठभेद है।

---

१. सूत्र २,७,१९३-२१६ (स्पर्श), सूत्र २,२,१७७-८२ (काल) और सूत्र २,३,१२५-३० तथा जी० का० गा० ५४४-४६ (स्पर्श), ५५०-५५१ (काल) और गाथा ५५२-५३ (अन्तर)।

२. ष०ख०, सूत्र २,१,६०-६३ और जी०का० गाथा ५५४ (पूर्वार्ध)।

३. ष०ख०, सूत्र २,११,१७६-८५ तथा जी०का० गाथा० ५५४

यहाँ यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त तीन गाथाओं में पूर्व की दो गाथाएँ श्वे० 'जीवसमास' ग्रन्थ में भी प्रायः उसी रूप में उपलब्ध होती हैं (गाथा ७२-७३)। यहाँ विशेषता यह है कि दूसरी गाथा के चतुर्थ चरण में जहाँ मूलाचार में 'लेस्साभेदो मुणेयव्वो' पाठ है व जीवकाण्ड में 'भवणतियापुण्णगे' पाठ है वहाँ जीवसमास में उसके स्थान में 'सक्कादिविमाणवासीणं' पाठभेद है।

यह पाठभेद व तदनुसार जो कुछ अभिप्रायभेद भी हुआ है उसका कारण सम्भवतः १२ और १६ कल्पों की मान्यता रही है।

तत्त्वार्थसूत्र में देवों में लेश्याविषयक स्वामित्व का प्ररूपक यह सूत्र है—"पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु"। वह सर्वार्थसिद्धिसम्मत (४-२२) और त० भाष्यसम्मत (४-२३) दोनों ही सूत्रपाठों में समान है। पर १६ और १२ कल्पों की मान्यता के अनुसार उसका अर्थ भिन्न रूप में किया गया है।

यहाँ तत्त्वार्थवार्तिक में यह शंका की गई है कि सूत्र में जो 'द्वि-त्रि-शेषेषु' पाठ है तदनुसार पूर्वोक्त लेश्या की वह व्यवस्था नहीं बनती है। उसके समाधान में प्रथम तो वहाँ यह कहा गया है कि इच्छा के अनुसार सम्बन्ध बैठाया जाता है, इससे उस व्यवस्था में कुछ दोष नहीं है। तत्पश्चात् प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है—अथवा सूत्र में 'पीत-मिश्र-पद्म-मिश्र-शुक्ल-लेश्या' ऐसे पाठान्तर का आश्रय लेने से आगमविरोध सम्भव नहीं है।

जीवकाण्ड में गाथा ५२६-३२ के द्वारा लेश्याविषयक कुछ और भी विशेष प्ररूपणा की गई है। उनमें गाथा ५२६-३० का अभिप्राय प्रायः मूलाचारगत गाथा ६६ के समान है।

जीवकाण्ड में अन्य भी ऐसी कितनी ही गाथाएँ हो सकती हैं, जो यथास्थान मूलाचार में उपलब्ध होती हैं। जैसे—

गाथांश	जीवकाण्ड	मूलाचार
संखावत्तयजोणी	८१	१२-६१
कुम्मुण्णयजोणीये	८२	१२-६२
णिच्चिदरधातु सत्त य	८९	५-२९ व १२-६३
बावीस सत्त तिण्णि य	११३	५-२४ व १२-१६६
अद्धत्तेरस बारस	११४	५-२६ व १२-१६८
छप्पंचाधियवीसं	११५	५-२७ व १२-१६९
एया य कोडिकोडी	११६	५-२८
(गाथा ११५-१६ में कुछ शब्दभेद व अभिप्रायभेद भी हुआ है)		
पंच वि इंदियपाणा		१२-१५०

तत्त्वार्थवार्तिक

जीवकाण्ड में पूर्वोक्त १६ अधिकारों के आश्रय से जो लेश्या की प्ररूपणा की गई है उसके साथ यदि पूर्णतया मेल बैठता है तो तत्त्वार्थवार्तिक में प्ररूपित लेश्या की प्ररूपणा के साथ बैठता है। वहाँ उसी क्रम से उन निर्देशादि १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से लेश्या की प्ररूपणा है जो इन दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समानरूपता को प्राप्त है। उदाहरणस्वरूप 'लेश्याकर्म' को ले लीजिए। तत्त्वार्थवार्तिक में उस के विषय में कहा गया है—

"लेश्याकर्म उच्यते—जम्बूफलभक्षणं निदर्शनं कृत्वा स्कन्ध-विटप-शाखानुशाखा-पिण्डिका-

छेदनपूर्वकं फलभक्षणं स्वयं पतितफलभक्षणं चोद्दिश्य कृष्णलेश्यादय: प्रवर्तन्ते।"

—तत्त्वार्थवार्तिक ४,२२,१०, पृ० १७१

इसी अभिप्राय को जीवकाण्ड में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता विचिंतंति ॥५०६॥
णिम्मूल-खंध-साहुवसाहं छित्तुं चिणुत्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥५०७॥

इस प्रकार दोनों ही ग्रन्थों में कृष्णादि छह लेश्यावाले जीवों की जैसी कुछ मानसिक प्रवृत्ति हुआ करती है उसका चित्रण यहाँ उदाहरण द्वारा प्रकट किया गया है। इसी प्रकार की समानता दोनों ग्रन्थों में अन्य अधिकारों में भी रही है।

'गति' अधिकार के प्रसंग में समान रूप से दोनों ग्रन्थों में यह कहा गया है कि लेश्या के २६ अंशों में ८ मध्यम अंश आयुबन्ध के कारण तथा शेष १८ अंश तदनुरूप गति के कारण हैं।[1] यह कहते हुए आगे किस लेश्यांश से जीव देव व नरकगति में कहाँ-कहाँ जाता है, इसे स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार देवों व नारकियों में जानेवालों के क्रम को दिखा करके भी जीवकाण्ड में मनुष्यों व तिर्यंचों में जानेवाले देव-नारकियों के विषय में विशेष कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। उनके विषय में तत्त्वार्थवार्तिक में यह सूचना की गई है—

"देव-नारका: स्वलेश्याभि: तिर्यङ्मनुष्यानुयोग्यानां यान्ति।"

—त०वा० ४,२२,१०, पृ० १७२

इसी प्रकार की सूचना जीवकाण्ड में भी इस प्रकार की गई है—

"सुर-णिरया सगलेस्साहिं णर-तिरियं जंति सगजोग्गं॥" —गाथा ५२७ उत्त०

इस प्रकार की उल्लेखनीय समानता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जीवकाण्ड में जो लेश्या की प्ररूपणा की गई है वह सम्भवत: तत्त्वार्थवार्तिक में प्ररूपित लेश्या के आधार पर की गई है।

२६. जीवकाण्ड में आगे सम्यक्त्व मार्गणा के प्रसंग में सम्यक्त्व का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट छह (द्रव्य), पांच (अस्तिकाय) और नौ प्रकार के पदार्थों का जो आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान होता है उसका नाम सम्यक्त्व है। इस प्रकार छह द्रव्यों के विषय में इन सात अधिकारों का निर्देश किया गया है—नाम, उपलक्षणानुवाद, अवस्थानकाल (स्थिति), क्षेत्र, संख्या, स्थानस्वरूप और फल। आगे इन सात अधिकारों के आश्रय से क्रमश: छह द्रव्यों की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार वहाँ यह सम्यक्त्वमार्गणा ६६ (५६०-६५८) गाथाओं में समाप्त हुई है।

यहाँ स्थानस्वरूप अधिकार के प्रसंग में तेईस परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणाओं का नामनिर्देश करते हुए उनमें अपने जघन्य व उत्कृष्ट भेदों के गुणकार व प्रतिभाग को भी प्रकट किया गया है (५९३-६००)।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक २,२२,१० पृ० १७१ तथा जीवकाण्ड गाथा ५१७-१८

ष० ख० में पाँचवें वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'वन्धन' अनुयोगद्वार में बन्धनीय (वर्गणा) के प्रसंग में उन वर्गणाओं की प्ररूपणा की गई है।[1]

दोनों ग्रन्थों में उन २३ पुद्गलवर्गणाओं के नामों का निर्देश समान रूप में ही किया गया है। विशेषता यह रही है ष० ख० में जहाँ उनका उल्लेख क्रम से पृथक्-पृथक् सूत्र के द्वारा किया गया है वहाँ जीवकाण्ड में उनका उल्लेख दो गाथाओं (५९३-९४) में ही संक्षेप से कर दिया गया है। उदाहरणस्वरूप आहार, तैजस, भाषा, मन और कार्मण ये पाँच वर्गणाएँ अग्रहणद्रव्यवर्गणाओं से अन्तरित हैं। इनका उल्लेख ष० ख० में जहाँ पृथक्-पृथक् ९ सूत्रों (८०-८८) में हुआ है वहाँ जी० का० में 'अगेज्जगेहिं अंतरिया। आहार-तेज-भासा-मण-कम्मइया' (५९३) इतने मात्र में कर दिया गया है। वहाँ पृथक्-पृथक् 'आहार-द्रव्यवर्गणा के आगे अग्रहणवर्गणा, उसके आगे तैजसवर्गणा, फिर अग्रहणवर्गणा' इत्यादि-क्रम से निर्देश नहीं किया गया। यह जी० का० में संक्षेपीकरण का उदाहरण है।

ष० ख० में यद्यपि मूल में जघन्य से उत्कृष्ट भेद के गुणकार और भागहार के प्रमाण का उल्लेख नहीं है, पर धवला में प्रत्येक वर्गणा के प्रसंग में उसे पृथक्-पृथक् स्पष्ट कर दिया गया है। उदाहरणस्वरूप जघन्य आहार द्रव्यवर्गणा से उत्कृष्ट कितनी है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में यह कहा गया है—

"जहण्णादो उक्कस्सिया विसेसाहिया। विसेसो पुण अभवसिद्धिएहि अणंतगुणो सिद्धाणमणंतभागमेत्तो होंतो वि आहारउक्कस्स दव्ववग्गणाए अणंतिमभागो।"[2]

जीवकाण्ड में संक्षेप से ग्राह्य आहारादि वर्गणाओं के प्रतिभाग का और उनके मध्यगत चार अग्राह्य वर्गणाओं के गुणकार का निर्देश इस प्रकार एक साथ कर दिया गया है—

सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठट्ठं।—गा० ५९६ पू०
चत्तारि अगेज्जेसु वि सिद्धाणमणंतिमो भागो॥—गा० ५९७ उत्त०

इस प्रकार यह गुणकार व भागहार की प्ररूपणा धवला के उक्त विवरण से प्रभावित है।

२७. जीवकाण्ड में आगे इसी प्रसंग में फलाधिकार की प्ररूपणा करते हुए छह द्रव्यों के उपकार को दिखलाया गया है। उस प्रसंग में आहारादि पाँच ग्राह्य वर्गणाओं के कार्य को प्रकट किया गया है।

ष० ख० में उसका स्पष्टीकरण यथाप्रसंग धवलाकार के द्वारा किया गया है।

उदाहरण के रूप में दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट आहार वर्गणा के कार्य को देखिये—

"ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरपाओग्गपोग्गलक्खंधाणं आहारदव्ववग्गणा त्ति सण्णा।"

—पु० १४, पृ० ५९

आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।
णिस्सासो वि य × ×॥ —जी० का० गाथा ६०६

जी० का० में इसी प्रसंग में स्निग्धता और रूक्षता के आश्रय से परस्पर परमाणुओं में

---

१. सूत्र ५,६,७६-९७ (पु० १४)

२. पु० १४, पृ० ५९; इसी प्रकार आगे अग्रहणवर्गणा और तैजस वर्गणा आदि के विषय में पृथक्-पृथक् गुणकार व भागहार का निर्देश किया गया है। इसके लिए सूत्र १०-८१ आदि की धवला टीका द्रष्टव्य है।

होने वाला बन्ध किस प्रकार से होता है, इसे स्पष्ट किया गया है (६०८-१८)।

ष० ख० में परमाणुओं में होने वाले इस बन्ध का विचार पूर्वोक्त बन्धनअनुयोगद्वार के अन्तर्गत सादिविस्रसाबन्ध के प्रसंग में किया गया है (सूत्र ३२-३६)।

जीवकाण्ड में बन्ध की वह प्ररूपणा ष० ख० में की गई परमाणुविषयक बन्ध की प्ररूपणा के ही समान है। यही नहीं, जीवकाण्ड में ष० ख० के प्रसंगप्राप्त दो गाथासूत्रों को ग्रन्थ का अंग भी बना लिया गया है। वे गाथासूत्र हैं—

गाथांश	ष०ख० (पु० १४)	जी०का० गाथा
णिद्धणिद्धा ण बज्झंति	सूत्र ३४	६११
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण	,, ३६	६१४

प्रथम गाथासूत्र के अनुसार स्निग्ध-स्निग्ध परमाणुओं में और रूक्ष-रूक्ष परमाणुओं में बन्ध के अभाव को प्रकट करते हुए विजातीय (स्निग्ध-रूक्ष) परमाणुओं में बन्ध का सद्भाव प्रकट किया गया है। इस प्रसंग में गाथा में प्रयुक्त 'रूपारूपी' का अर्थ प्रकट करते हुए धवला में कहा गया है कि जो स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल गुणाविभागप्रतिच्छेदों से समान हैं उनका नाम रूपी है तथा जो पुद्गल गुणाविभागप्रतिच्छेदों से समान नहीं हैं उनका नाम अरूपी है। इन दोनों ही अवस्थाओं में उनमें बन्ध सम्भव है।[1]

इसी अभिप्राय को जीवकाण्ड में आगे गाथा ६१२ व ६१३ के द्वारा प्रकट किया गया है।

परमाणुविषयक बन्ध की यह प्ररूपणा तत्त्वार्थसूत्र (५, ३२-३६) में भी उपलब्ध होती है। पर ष० ख० से उसमें कुछ अभिप्रायभेद रहा है, यह ष० ख० की टीका धवला और तत्त्वार्थ की व्याख्या सर्वार्थसिद्धि और विशेषकर तत्त्वार्थवार्तिक से स्पष्ट है।

पूर्वोक्त दो गाथासूत्रों में दूसरा 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण' आदि गाथासूत्र 'उक्तं च' कहकर सर्वार्थसिद्धि (५-३५) और तत्त्वार्थवार्तिक (५, ३५,१) में उद्धृत भी किया गया है, पर उसके चतुर्थचरण में प्रयुक्त 'विसमे समे' पदों के अभिप्राय में परस्पर मतभेद रहा है।

२८. जीवकाण्ड में आगे इसी सम्यक्त्वमार्गणा के प्रसंग में पाँच अस्तिकायों और नौ पदार्थों का निर्देश करते हुए प्रसंगप्राप्त पुण्य-पाप के आश्रय से प्रथमतः पापी मिथ्यादृष्टियों व सासादनसम्यग्दृष्टियों की संख्या प्रकट की गयी है और तत्पश्चात् अन्य मिश्र आदि गुणस्थान-वर्ती जीवों की संख्या का उल्लेख किया गया है (६१९-२८)। आगे क्षपकों में बोधितबुद्ध आदि की संख्या दिखलाते हुए चारों गतियों में भागहार का क्रम प्रकट किया गया है तथा अन्त में यह सूचना कर दी गई है कि अपने-अपने अवहार से पल्य के भाजित करने पर अपनी अपनी राशि का प्रमाण प्राप्त होता है (६२९-४१)।

ष० ख० में जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में दूसरा द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार है। उसमें प्रथमतः ओघ की अपेक्षा चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या की और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा क्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में यथासम्भव उन-उन गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या की प्ररूपणा हुई है। इसके लिए पु० ३ द्रष्टव्य है।

इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम के दूसरे क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत पाँचवें द्रव्यप्रमाणा-

---

१. धवला पु० १४, पृ० ३१-३२

नुगम अनुयोगद्वार में गुणस्थान निरपेक्ष सामान्य से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में यथाक्रम से जीवों की संख्या की प्ररूपणा हुई है। (पु० ७, पृ० २४४-९८)

जीवकाण्ड में जो उस संख्या की प्ररूपणा हुई है वह सम्भवतः ष० ख० के उक्त द्रव्य-प्रमाणानुगम अनुयोगद्वार के आधार से ही की गई है। वहाँ उपशामकों और क्षपकों की संख्या के विषय में जो मतभेद प्रकट किया गया है (गाथा ६२५) वह धवला टीका के अनुसार है। इन मतभेदों को धवलाकार ने उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति के रूप में दिखलाया है। (देखिये पु० ३, पृ० ९३-९४ व ९७-१००)

जीवकाण्ड में समस्त संयतों, अप्रमत्तसंयतों (६२४ पू०) और प्रमत्तसंयतों (६२४ उत्तरार्ध) की जो संख्या निर्दिष्ट की गई है वह दक्षिणप्रतिपत्ति के अनुसार है। उत्तर प्रतिपत्ति के अनुसार वहाँ उनकी संख्या का कुछ उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि धवला में स्पष्टतया उसका उल्लेख हुआ है (पु० ३, पृ० ९९)। इस सम्बन्ध में धवला में यह गाथा उद्धृत की गई है—

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
णिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु॥ पु० ३, पृ० ९८

इसके उत्तरार्ध में परिवर्तन कर उसे जी० का० में इस प्रकार आत्मसात् किया गया है—

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमौलियहत्थो तिरयणसुद्धे णमंसामि ॥६३५॥

उत्तरप्रतिपत्ति के अनुसार उनकी संख्या का निर्देश करते हुए धवला में जो गाथा उद्धृत की गई है वह इस प्रकार है—

छक्कादी छक्कंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु॥

—धवला पु० ३, पृ० १०१

धवला में वहाँ प्रसंगवश जो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं वे कुछ पाठभेद के साथ जीवकाण्ड में आत्मसात् कर ली गई हैं।[1]

जीवकाण्ड में यह संख्या की प्ररूपणा इसके पूर्व प्रथम 'गुणस्थान' अधिकार में की जा सकती थी, जैसी कि प्रत्येक मार्गणा में उसकी प्ररूपणा की गई है। पर उसकी प्ररूपणा वहाँ न करके पुण्य-पाप के प्रसंग से सम्यक्त्व मार्गणा में की गई है।

यह भी स्मरणीय है कि गोम्मटसार में पूर्ववर्ती ग्रन्थों से कितनी ही गाथाओं को लेकर उन्हें ग्रन्थ का अंग बनाया गया है और वहाँ ग्रन्थकार अथवा 'उक्तं च' आदि के रूप में किसी प्रकार की सूचना नहीं की गई है।

इसके विपरीत सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और धवला आदि प्रमाण के रूप में अथवा विषय के विशदीकरण के लिए ग्रन्थान्तरों से गाथा व श्लोक आदि को उद्धृत करते हुए प्रायः ग्रन्थ आदि का कुछ न कुछ संकेत अवश्य किया गया है।

---

१. धवला पु० ३, पृ० ९०-९८ (गा० ४१-४३,४५,४८ व ५१) और जीवकाण्ड गाथा ६२४-२८ और ६३२

जी० का० में इस सम्यक्त्वमार्गणा के प्रसंग में अन्य भी जो जीव-अजीव आदि के विषय में विवेचन किया गया है उसका आधार कषायप्राभृत,[1] पंचास्तिकाय तथा तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्यास्वरूप सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्तिक आदि हो सकते हैं। जैसे—

कषायप्राभृत में दर्शनमोह की क्षपणा के प्रसंग में यह गाथासूत्र आया है—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥११०॥

यह गाथासूत्र जीवकाण्ड में ६४७ गाथांक में उपलब्ध होता है। विशेषता वहाँ यह रही है कि 'णियमा मणुसगदीए' के स्थान में 'मणुसो केवलिमूले' ऐसा पाठ परिवर्तित कर दिया गया है। ष० ख० में 'जम्हि जिणा केवली तित्थयरा' (सूत्र १,९-८, ११) ऐसा उल्लेख है। तदनुसार ही पाठ में वह परिवर्तन किया गया है। यद्यपि उसे धवला (पु० ६, पृ० २४५) में भी उद्धृत किया गया है, पर वहाँ पाठ में कुछ परिवर्तन नहीं किया गया।

(१) पंचास्तिकाय में सामान्य से पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु इन चार भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप इस गाथा द्वारा प्रकट किया गया है—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी[2]॥७५॥

यह गाथा जी० का० में इसी रूप में उपलब्ध होती है (६०३)।

(२) पंचास्तिकाय में बादर और सूक्ष्मरूपता को प्राप्त स्कन्धों को पुद्गल बतलाते हुए उनके छह भेदों का उल्लेख मात्र किया गया है (७६)।

यद्यपि उस गाथा में उन छह भेदों के नामों का निर्देश नहीं किया गया, फिर भी उसकी व्याख्या में अमृतचन्द्र सूरि और जयसेनाचार्य ने उन भेदों को इसप्रकार स्पष्ट कर दिया है—(१) बादर-बादर, (२) बादर, (३) बादरसूक्ष्म, (४) सूक्ष्मबादर, (५) सूक्ष्म और (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म।

जी०का० में इन भेदों की प्ररूपक गाथा इस प्रकार उपलब्ध होती है—

बादरबादर बादर बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धरादियं होदि छब्भेयं ॥६०२॥

(३) पंचास्तिकाय में आगे इसी प्रसंग में जिस प्रकार से धर्मास्तिकायआदिकों के स्वरूप (मूर्तामूर्तत्व और सक्रिय-अक्रियत्व) आदि का विचार किया गया है लगभग उसी प्रकार से जी० का० में भी उस सबका विचार हुआ है।[3]

(४) पंचास्तिकाय में काल द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह गाथा कही गई है—

---

१. कषायप्राभृत के १०८ व ११० ये दो गाथासूत्र जी० का० में यहाँ क्रम से ६५५ (इसके पूर्व गा० १८ भी) और ६४७ गाथांकों में उपलब्ध होते हैं।

२. यह गाथा मूलाचार (५-३४) और ति० प० (१-९५) में भी उसी रूप में उपलब्ध होती है। जीवसमास में उसका पूर्वार्ध (९४) मात्र उपलब्ध होता है।

३. पं० का० गाथा ८३-९९ और जी० का० गाथा ५६२-६६ और ६०४ आदि।

कालो त्ति य ववएसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥ १०१ ॥

यह गाथा जी० का० में उसी रूप में ग्रन्थ का अंग बन गई है (५७९)।

जीवकाण्ड में 'कालो त्ति' के स्थान में 'कालो वि य' पाठ है, जो सम्भवतः लिपि के दोष से हुआ है।

इस प्रकार पंचास्तिकाय और तत्त्वार्थ सूत्र (५वां अध्याय) आदि में जिस प्रकार से छह द्रव्यों के विषय में चर्चा है उसी प्रकार से आगे पीछे जी० का० में भी सम्यक्त्वमार्गणा के प्रसंग में उनके विषय में विचार किया गया है।

२९. जी० का० के आलापाधिकार में जो गुणस्थान और मार्गणाओं से सम्बन्धित आलापों की प्ररूपणा की गई है उसके बीज ष० ख० में सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् प्रत्येक मार्गणा में पाये जाते हैं। पर्याप्त-अपर्याप्त गुणस्थानों का विचार वहाँ योगमार्गणा के प्रसंग में विशेष रूप से किया गया है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है, आचार्य वीरसेन ने धवला में उक्त सत्प्ररूपणा सूत्रों की 'प्ररूपणा' के रूप में पूर्वोक्त बीस प्ररूपणाओं का विचार बहुत विस्तार से किया है, जो एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में ष०ख० की दूसरी पुस्तक में निबद्ध है।

बीस प्ररूपणाओं का अन्तर्भाव

षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान में प्रमुखता से गुणस्थान (ओघ) और मार्गणा (आदेश) इन दो की ही प्ररूपणा की गई है। ष० ख० के अन्तर्गत सत्प्ररूणासूत्रों से सूचित बीस प्ररूपणाओं की जो व्याख्या धवलाकार के द्वारा की गई है उसमें एक शंका के समाधान में धवलाकार ने जीवसमास व पर्याप्तियों आदि का अन्तर्भाव मार्गणाओं में कहाँ-कहाँ किस प्रकार होता है, इसे स्पष्ट कर दिया है।

जीवकाण्ड में भी वस्तुतः ओघ और आदेश की प्रमुखता से (गाथा ३) ही बीस प्ररूपणाओं का विवेचन किया गया है। वहाँ भी धवला के समान जीवसमास व पर्याप्तियों आदि का अन्तर्भाव मार्गणाओं में व्यक्त किया है, जो धवला से पूर्णतया प्रभावित है।[1]

इसके लिए उदाहरण के रूप में दोनों ग्रन्थों का थोड़ा-सा प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

"पर्याप्ति-जीवसमासाः कायेन्द्रियमार्गणयोर्निलीनाः, एक-द्वि-त्रि-चतुःपंचेन्द्रिय-सूक्ष्म-बादर-पर्याप्तापर्याप्तभेदानां तत्र प्रतिपादितत्वात्। उच्छ्वास-भाषा-मनोबल प्राणाश्च तत्रैव निलीनाः, तेषां पर्याप्तिकार्यत्वात्। कायबल-प्राणोऽपि योगमार्गणातो निर्गतः, बललक्षणत्वाद्योगस्य" (पु० २, पृ० ४१४)। इत्यादि।

इसका जी० का० की इस गाथा से मिलान कीजिये—

इंदिय-काये लीणा जीवा पज्जत्ति-आण-भास-मणो।
जोगे काओ णाणे अक्खा गदि मग्गणे आऊ ॥—गाथा ५

उपसंहार

गोम्मटसार के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती सिद्धान्त के मर्मज्ञ रहे हैं।

उन्होंने अपने समक्ष उपस्थित समस्त आगमसाहित्य—जैसे षट्खण्डागम व कषायप्राभृत आदि का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था। उसका उपयोग उन्होंने प्रकृत गोम्मटसार की रचना में पर्याप्त रूप में किया है। इससे उनकी यह कृति निःसन्देह अतिशय लोकप्रिय हुई है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, कषायप्राभृत व षट्खण्डागम आदि में जो गाथा-सूत्र रहे हैं तथा ष० ख० की टीका धवला आदि में यथा प्रसंग विवक्षित विषय की पुष्टि के लिए अथवा उसे विशद व विकसित करने के लिए जो ग्रन्थान्तरों से [ग्रन्थनामोल्लेखपूर्वक अथवा 'उक्तं च' आदि का निर्देश करते हुए गाथाएँ ली गई हैं, जीवकाण्ड में उन्हें बड़ी कुशलता से उसी रूप में ग्रन्थका अंग बना लिया गया है। ऐसी गाथाओं को ग्रन्थ में समाविष्ट करते हुए ग्रन्थ के नाम आदि का कोई संकेत नहीं किया गया है। ऐसी गाथाओं की यहाँ सूची दी जा रही है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है उनमें अधिकांश गाथाएँ दि० पचसंग्रह में भी उपलब्ध होती हैं।

क्रम संख्या	गाथांश	धवला		जीवकाण्ड	पंचसंग्रह
		पु०	पृ०	गाथा	गाथा
१.	अट्ठत्तीसद्धलवा	३	६६	५७४	
२.	अट्ठविहकम्मविजुदा	१	२००	६८	१-३१
३.	अट्ठेव सयसहस्सा	३	६६	६२८	
४.	अणुलोहं वेदंतो	१	३७३	४७३	
५.	अत्थादो अत्थंतर	"	३५९	३१४	१-१२२
६.	अत्थि अणंता जीवा	"	२७१	१९६	१-८५
	" "	१४	२३३	"	"
७.	अप्प-परोभयवाधण	१	३५१	२८८	१-११६
८.	अभिमुहणियमियवोहण	"	३५९	३०५	१-१२१
९.	अवहीयदि त्ति ओही	"	"	३६९	१-१२३
१०.	असहायणाण-दंसण	"	१९२	६४	१-२९
११.	आभीयमासुरक्खा	"	३९८	३०३	१-११९
१२.	आवलि असंखसमया	३	६५	५७३	
१३.	आहरदि अणेण मुणी	१	२९४	२३८	१-९७
१४.	आहारयमुत्तत्थं	"	"	२३९	१-९८
१५.	उवसंते खीणे वा	"	३७३	४७४	१-१३३
१६.	एइंदियस्स फुसणं	"	२५८	१६६	
१७.	एक्कम्हि काल-समए	"	१८६	५६	१-२०
१८.	एदम्हि गुणट्ठाणे	"	१८३	५१	१-१८
१९.	एयणिगोदसरीरे	१	२७०	१९४	१-८४
२०.	एयणिगोदसरीरे	"	३९४	"	"
	"	१४	२३४	"	"
२१.	एयदवियम्मि जे	१	३९६	५८१	

क्र०सं०	गाथांश	धवला पु०	धवला पृष्ठ	जीवकाण्ड गाथा	पंचसंग्रह गाथा
२२.	ओरालियमुत्तत्थं	१	२९१	२३०	
२३.	कम्मेव च कम्मभवं	,,	२९५	२४०	१-९९
२४.	कारिस-तणिट्ठिवागग्गि	,,	३४२	२७५	१-१०८
२५.	किण्हादिलेस्सरहिदा	,,	३९०	५५५	१-१५३
२६.	किमिराय-चक्क-तणुमल	,,	३५०	२८६	
२७.	केवलणाण-दिवायर	,,	१९१	६३	१-२७
२८.	खवए य खीणमोहे	५	१८६	६७	
	,, ,,	१२	७८	,,	
२९.	खीणे दंसणमोहे	१	३९५	६४५	१-१६०
३०.	गुण-जीवा-पज्जत्ती	२	४११	२	१-२
३१.	चक्खूण जं पयासदि	१	३८२	४८३	१-१३९
	,, ,,	७	१००	,,	,,
३२.	चत्तारि वि छेत्ताइं	१	३२६	६५२	१-२०१
३३.	चंडो ण मुयदि वेरं	,,	३८८	५०८	१-१४४
	,, ,,	१६	४९०	,,	,,
३४.	चागी भद्दो चोक्खो	१	३९०	५१५	१-१५१
	,, ,,	१६	४९०	,,	,,
३५.	चिंतियमचिंतियं वा	,,	३६०	४३७	१-१२५
३६.	छप्पंच-णवविहाणं	,,	३९५	५६०	१-१५९
	,, ,,	४	३१५	,,	,,
३७.	छादेदि सयं दोसेण	१	३४१	२७३	१-१०५
३८.	छेत्तूण य परियायं	,,	३७२	४७०	१-१३०
३९.	जत्थेक्कु मरइ जीवो	,,	२७०	१९२	१-८३
	,, ,,	१४	२३०	,,	,,
४०.	जह कंचणमग्गिगय	१	२६६	२०२	१-८७
४१.	जह भारवहो पुरिसो	,,	१३९	२०१	१-७६
४२.	जं सामण्णं गहणं	,,	१४९	४८२	१-१३८
	,, ,,	७	१००	,,	,,
४३.	जाइ-जरा-मरण-भया	१	२०४	१५१	१-६४
४४.	जाणइ कज्जमकज्जं	,,	३८४	५१४	१-१५०
४५.	जाणइ तिकालसहिए	,,	१४४	२९८	१-११७
४६.	जीवा चोदस भेया	१६	३७३	४७७	१-१३३
४७.	जेसिं ण संति जोगा	,,	२८०	२४२	१-१००
४८.	जेहिं दु लक्खिज्जंते	,,	१६१	८	१-३
४९.	जो णेव सच्चमोसो	,,	२८६	२२०	१-९२

क्रम संख्या	गाथांश	धवला पु०	धवला पृ०	जीवकाण्ड गाथा	पंचसंग्रह गाथा
५०.	जो तसवहाउ विरओ	१	१७५	३१	१-१३
५१.	ण उ कुणइ पक्खवायं	"	३९०	५१६	१-१५२
	"	१६	४९२	"	"
५२.	णट्ठासेसपमाओ	१	१७९	४६	१-१६
५३.	ण य पत्तियइ परं सो	"	३८९	५१२	१-१४८
	"	१६	४९१	"	"
५४.	ण य परिणमइ सयं सो	४	३१५	५६९	
५५.	ण य सच्चमोसजुत्तो	१	२८२	२१८	१-९०
५६.	ण रमंति जदो णिच्चं	"	२०२	१४६	१-६०
५७.	ण वि इंदियकरणजुदा	"	२४८	१७३	
५८.	णिद्दा-वंचण वहुलो	"	३८९	५१०	१-१४६
	"	१६	४९१	"	"
५९.	णिस्सेसखीणमोहो	१	१९०	६२	१-२५
६०.	णेवित्थी णेव पुमं	"	३४२	२७४	१-१०७
६१.	णो इंदिएसु विरदो	"	१७३	२९	१-११
६२.	तारिसपरिणामट्ठिय	"	१८३	५४	१-१९
६३.	तिगहिय-सद-णवणउदी	३	९०	६२४	
६४.	तिण्णिसया छत्तीसा	४	३९०	१२२	
६५.	तिरियंति कुडिलभावं	१	२०२	१४७	१-६१
६६.	तिसदिं वदंति केई	३	९४	६२५	
६७.	तेरस कोडी देसे	"	२४४	६४१	
६८.	दसविहसच्चे वयणे	१	२८६	२१९	१-९१
६९.	दहि-गुडमिव वामिस्सं	"	१७०	२२	१-१०
७०.	दंसणमोहुदयादो	"	३९६	६४८	
७१.	दंसणमोहुवसमदो	"	"	६४९	
७२.	दंसण-वय-सामाइय	"	१०२	४७६	
	"	"	३७३	"	
७३.	दिव्वंति जदो णिच्चं	"	२०३	१५०	१-६३
७४.	परमाणु आदियाइं	७	३८२	४८४	१-१४०
	"	"	१००	"	"
७५.	पंच-ति-चउव्विहेहि	१	३७३	४७५	१-१३२
७६.	पंचसमिदो तिगुत्तो	"	३७२	४७१	१-१३१
७७.	पुढवी जलं च छाया	३	३	६०१	
७८.	पुरु-गुणभोगे सेदे	१	३४१	२७२	१-१०६
७९.	पुरु-महमुदारुरालं	"	२९१	२२९	१-९३

क्रम संख्या	गाथांश	धवला पु०	पृ०	जीवकाण्ड गाथा	पंचसंग्रह गाथा
८०.	वत्तीसमट्ठदालं	३	६३	६२७	
८१.	बहुविह-वहुप्पयारा	१	३८२	४८५	१-१४१
८२.	वाहिरपाणेहि जहा	"	२५६	१२८	१-४५
८३.	बीजे जोणीभूदे	४	२५१	१८६	
	"	१४	२३२	"	
८४.	भविया सिद्धी जेसिं	१	३९४	५५६	१-१५६
८५.	भिण्णसमयट्ठिएहि	"	१८३	५२	१-१७
८६.	मण्णंति जदो णिच्चं	"	२०३	१४८	१-६२
८७.	मरणं पत्थेइ रणे	"	३८९	५१३	१-१४९
	"	१६	४९१	"	"
८८.	मंदो वुद्धिविहीणो	१	३८८	५०९	१-१४५
	"	१६	४९०	"	"
८९.	मिच्छत्तं वेयंतो	१	१६२	१७	१-६
९०.	मिच्छाइट्ठी णियमा	६	२४२	१८	१-७
९१.	मूलग्ग-पोरवीया	१	२७३	१८५	१-८१
९२.	रुसदि णिंददि अण्णे	"	३८९	५११	१-१४७
	"	१६	४९१	"	"
९३.	लोयायासपदेसे	४	३१५	५८८	
९४.	वत्तावत्तपमाए	१	१७८	३३	१-१४
९५.	वयणेहि वि हेउहि वि	"	३९५	६४६	१-१६१
९६.	विकहा तहा कसाया	"	१७८	३४	१-१५
९७.	विवरीयमोहिणाणं	"	३५९	३०४	१-१२०
९८.	विविहगुणइड्ढिजुत्तं	"	२९१	२३१	१-९५
९९.	विस-जंत-कूड-पंजर	"	३५८	३०२	१-११८
१००.	विहि तीहि चउहि पंचहि	"	२७४	१९७	१-८६
१०१.	वेगुव्वियमुत्तत्थं[1]	"	२९२	२३३	१-९६
१०२.	वेदण-कसाय-वेउव्विय	४	२९	६६६	१-१९६
१०३.	वेलुवमूलोरब्भय	१	३५०	२८५	
१०४.	सकयाहलं जलं वा	'	१८९	६१	१-२४
१०५.	सत्तादी अट्ठंता[2]	३	९८	६३२	
१०६.	सब्भावो सच्चमणो	"	२८१	२१७	१-८९
१०७.	सम्मत्त-रयणपव्वय	"	१६६	२०	१-९

१. पंचसं० प्रथम चरण—अंतोमुहुत्तमज्झं।

२. उत्तरार्ध भिन्न—अंजलिमौलियहत्थो तिरयणसुद्धे णमंसामि ।।

		धवला		जीवकाण्ड	पंचसंग्रह
क्रम संख्या	गाथांश	पु०	पृ०	गाथा	गाथा
१०८.	सम्मत्तुपत्तीय वि	५	१८६	६६	-
	"	१२	७८	"	
१०९.	सम्माइट्ठी जीवो	१	१७३	२७	१-१२
	"	६	२४२	"	"
११०.	संगहियसयलसंजम	१	३७२	४६९	१-१३१
१११.	संपुण्णं तु समग्गं	"	३६०	४५९	१-१२६
११२.	साहारणमाहारो	"	२७०	१९१	१-८२
	"	१४	२२६	"	"
	"	"	४८७	"	"
११३.	सिल-पुढविभेद-धूली	१	३५०	२८३	
११४.	सुत्तादो तं सम्मं	"	२६२	२८	
११५.	सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्तं	"	३५०	२८४	
११६.	सेलेसिं संपत्तो	"	१९९	६५	१-३०
११७.	सोलसयं चउवीसं	३	९१	६२६	
११८.	होंति अणियट्टिणो ते	१	१८६	५७	१-२१

षट्खण्डागम के प्रथम खण्डस्वरूप जीवस्थान में प्रतिपाद्य विषय का विवेचन यथाक्रम से सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में ओघ और आदेश की अपेक्षा अतिशय व्यवस्थित रूप में किया गया है। जिस विषय का विवेचन मूल ग्रन्थ में नहीं किया गया है उसका विवेचन उसकी महत्त्वपूर्ण टीका में यथाप्रसंग विस्तार से कर दिया गया है। धवलाकार आचार्य वीरसेन ने पचासों सूत्रों को 'देशामर्शक' घोषित करके उनसे सूचित अर्थ की प्ररूपणा परम्परागत व्याख्यान के आधार से धवला में विस्तार से की है। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे 'धवला टीका' के प्रसंग में किया जायेगा।

जीवकाण्ड में गुणस्थानों और मार्गणास्थानों को महत्त्व देखकर भी आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा गुणस्थान, जीवसमास व पर्याप्ति आदि बीस प्ररूपणाओं के क्रम से की है। इससे दोनों ग्रन्थों में यद्यपि विषयविवेचन का क्रम समान नहीं रहा है, फिर भी जीवस्थान में प्ररूपित प्रायः सभी विषयों की प्ररूपणा आगे-पीछे यथाप्रसंग जीवकाण्ड में की गई है। इस प्रकार जीवस्थान में चर्चित सभी विषयों के समाविष्ट होने से को यदि उसे षट्खण्डागम के जीवस्थान खण्ड का संक्षिप्त रूप कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

कर्मकाण्ड

कर्मकाण्ड ग्रह गोम्मटसार का उत्तर भाग है। इसकी समस्त गाथासंख्या ९७२ है। वह इन नौ अधिकारों में विभक्त है—प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धोदय-सत्त्व, सत्त्वस्थानभंग, त्रिचूलिका, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका, त्रिकरणचूलिका और कर्मस्थितिरचना। इन अधिकारों के द्वारा उसमें कर्म की बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्त्व, उदय और उपशम आदि विविध अवस्थाओं की अतिशय व्यवस्थित प्ररूपणा की गई है। उसका भी

प्रमुख आधार प्रस्तुत षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका रही है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१. षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से सम्बद्ध नौ चूलिकाओं में प्रथम 'प्रकृति-समुत्कीर्तन' चूलिका है। उसमें यथाक्रम से कर्म की ज्ञानवरणीयादि आठ मूलप्रकृतियों और उनमें प्रत्येक की उत्तरप्रकृतियों का निर्देश किया गया है। मूल में यद्यपि केवल उनके नामों का ही निर्देश है, पर उसकी धवला टीका में उनके स्वरूप आदि के विषय में विस्तार से विचार किया गया है।[1]

कर्मकाण्ड के पूर्वोक्त नौ अधिकारों में भी प्रथम अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' ही है। उसमें मंगलपूर्वक प्रकृतिसमुत्कीर्तन के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए[2] प्रकृति के स्वरूप, कर्म-नोकर्म के ग्रहण और निर्जरा के क्रम को प्रकट किया गया है। यहाँ प्रकृति के स्वरूप का निर्देश करते हुए उसके प्रकृति, शील और स्वभाव इन समानार्थक नामों का उल्लेख किया गया है (गाथा २)।

२. षट्खण्डागम के पाँचवें वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत जो 'प्रकृति' अनुयोगद्वार है उसके प्रारम्भ में उसकी सार्थकता को दिखलाते हुए धवला में भी उसके इन्हीं समानार्थक नामों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"प्रकृतिः स्वभावः शीलमित्यनर्थान्तरम्, तं परुवेदि त्ति अणियोगद्दारं पि 'पयडी'णाम उवयारेण।" —पु० १३, पृ० १९७

३. कर्मकाण्ड में आगे इस अधिकार में मूल व उत्तरप्रकृतियों की प्ररूपणा करते हुए उनके घाती-अघाती व पुद्गलविपाकी-जीवविपाकी आदि भेदों का उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग में वहाँ कर्म के आठ, एक सौ अड़तालीस और असंख्यात लोकप्रमाण भेदों का निर्देश भी किया गया है (गाथा ७)।

षट्खण्डागम के पूर्वनिर्दिष्ट 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में एक आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय के ही ४,२४,२८,३२,४८,१४४,१६८,१९२,२२८,३३६ और ३८४ भेदों का निर्देश किया गया है (सूत्र ५,५,३५)। आगे वहाँ श्रुतज्ञानावरणीय के संख्यात भेदों का निर्देश है (सूत्र ५,५,४५)। अनन्तर आनुपूर्वी के प्रसंग में अवगाहनाभेदों के आश्रय से गणितप्रक्रिया के अनुसार नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी आदि के असंख्यात भेदों को प्रकट करते हुए उनमें परस्पर अल्पवहुत्व को भी दिखलाया गया है (सूत्र ५,५,११४-३२)।

कर्मकाण्ड में कर्मभेदों का जो निर्देश है उसका षट्खण्डागम के प्रकृतिअनुयोगद्वार में निर्दिष्ट उन भेदों की प्ररूपणा से प्रभावित होना सम्भव है।

४. कर्मकाण्ड में गोत्रकर्म के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि सन्तानक्रम से आये हुए जीव के आचरण का नाम गोत्र है (गाथा १३)।

यह धवला के इस कथन पर आधारित होना चाहिए—

---

१. धवला पु० ६ में 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' चूलिका पृ० ५-७८

२. यह प्रकृतिसमुत्कीर्तन की प्रतिज्ञा समान रूप से इन दोनों ग्रन्थों में की गई है। यथा—
इदाणिं पयडिसमुक्कित्तणं कस्सामो।—(ष०ख०, सूत्र १,९-१,३ पु० ६, पृ० ५)
पणमिय सिरसा णेमि··· पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं॥—गाथा १

"दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम् ।" —पु० १३, पृ० १८२

५. स्त्यानगृद्धि के उदय से जीव की कैसी प्रवृत्ति होती है, इसका उल्लेख दोनों ग्रन्थों में समान रूप से इस प्रकार किया गया है—

"थीणगिद्धीए तिव्वोदएण उट्ठाविदो वि पुणो सोवदि सुत्तो वि कम्मं कुणदि, सुत्तो वि झंखइ, दंते कडकडावेइ ।" धवला पु० ६, पृ० ३२, पु० १३, पृ० ३५४ पर भी उसका स्वरूप द्रष्टव्य है ।

"थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य ।" —कर्मकाण्ड गाथा २३ पू०

६. जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में दूसरी 'स्थानसमुत्कीर्तन' चूलिका है। उसमें एक जीव के यथासम्भव एक समय में बांधनेवाली प्रकृतियों के समूहरूप स्थान का विचार किया गया है।

उदाहरणस्वरूप दर्शनावरणीय के नौ, छह और चार प्रकृतियोंरूप तीन स्थान हैं। इनमें नौ प्रकृतिरूप प्रथम बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि के सम्भव है। उनमें से निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि को छोड़कर शेष छह प्रकृतियोंरूप दूसरा स्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण के सात भागों में प्रथम भाग तक सम्भव है। चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार प्रकृतियोंरूप तीसरा स्थान अपूर्वकरण के द्वितीय भाग से लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत तक सम्भव है (सूत्र १,९-२,७-१६)।

कर्मकाण्ड में उपर्युक्त नौ अधिकारों में पाँचवां 'स्थानसमुत्कीर्तन' अधिकार भी है। उसमें भी बन्धस्थानों आदि की प्ररूपणा की गई है। उदाहरणस्वरूप, जिस प्रकार उपर्युक्त षट्खण्डागम की दूसरी चूलिका में दर्शनावरणीय के तीन स्थानों का उल्लेख किया गया है ठीक उसी प्रकार क० का० में भी संक्षेप से दर्शनावरणीय के उन तीन स्थानों की प्ररूपणा की गई है (गाथा ४५९-६०)। विशेषता वहाँ यह रही है कि संक्षेप में उनकी प्ररूपणा करते हुए भी उसके साथ भुजकार, अल्पतर और अवस्थित बन्ध का भी निर्देश कर दिया गया है।

७. जीवस्थान की उन नौ चूलिकाओं में छठी 'उत्कृष्टस्थिति' और सातवीं 'जघन्यस्थिति' चूलिका है। इनमें यथाक्रम से कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है।

कर्मकाण्ड में कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति की प्ररूपणा दूसरे 'बन्धोदयसत्त्व' अधिकार के अन्तर्गत स्थितिबन्ध के प्रसंग में कुछ विशेषता के साथ की गई है।

(गाथा १२७-६२)

विशेषता यह रही है कि षट्खण्डागम में जहाँ शाब्दिक दृष्टि से विस्तार हुआ है वहाँ कर्मकाण्ड में संक्षेप से थोड़े ही शब्दों में उसका व्याख्यान दिया है। यथा—

"पंचण्णं णाणावरणीयाणं णवण्हं दंसणावरणीयाणं असादावेदणीयं पंचण्हमंतराइयाणमुक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ। तिण्णिसहस्साणि आबाधा। आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। सादावेदणीय-इत्थिवेद-मणुसगति-मणुसगदिपाओग्गाणुपुव्विणामाणमुक्कसओ ट्ठिदिबंधो पण्णारस सागरोवमकोडाकोडीओ पण्णारस वाससदाणि आबाधा। आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। मिच्छत्तस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ।

सत्तवाससहस्साणि आबाधा। आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ।"

—ष०ख०, सूत्र १,९-७,४-१२ (पु० ६)

कर्मकाण्ड में इस सम्पूर्ण अभिप्राय को तथा आगे के सूत्र १३-१५ के भी अभिप्राय को संक्षेप से इन गाथाओं में व्यक्त कर दिया गया है—

दुक्ख-तिघादीणोघं सादिच्छी-मणुदुगे तदद्धं तु।
सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे य चत्तालं॥१२८॥

उदयं पडि सत्तण्हं आबाहा कोडिकोडिउवहीणं।
वाससयं तप्पडिभागेण य सेसट्ठिदीणं च॥१५६॥

आबाहूणियकम्मट्ठिदि णिसेगो दु सत्तकम्माणं।
आउस्स णिसेगो पुण सगट्ठिदी होदि णियमेण॥१६०॥

इस प्रसंग से सम्बद्ध दोनों ग्रन्थों में अर्थसाम्य तो है ही, साथ ही शब्दसाम्य भी बहुत कुछ है।

आयुकर्म की आबाधा से सम्बन्धित धवलागत इस प्रसंग का भी कर्मकाण्ड के प्रसंग से मिलान कीजिए—

"जधा णाणावरणादीणमाबाधा णिसेयट्ठिदिपरतंता, एवमाउअस्स आबाधा णिसेयट्ठिदी अण्णोण्णायत्ताओ ण होंति त्ति जाणावणट्ठं णिसेयट्ठिदी चेव परूविदा। पुव्वकोडितिभागमादिं कादूण जाव असंखेपद्धा त्ति एदेसु आबाधावियप्पेसु देव-णेरइयाणं आउअस्स उक्कस्स णिसेय-ट्ठिदी संभवदि त्ति उक्तं होदि।" —धवला पु० ६, पृ० १६६-६७

पुव्वाणं कोडितिभागादासंखेयअद्धवोत्ति हवे।
आउस्स य आबाधा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स॥—कर्मकाण्ड, १५८

उपर्युक्त धवलागत सभी अभिप्राय इस गाथा में समाविष्ट हो गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कर्मकाण्ड (गा० १५६) में किस कर्मस्थिति की कितनी आबाधा होती है, इसके लिए इस साधारण नियम का निर्देश किया गया है कि एक कोड़ा-कोडि प्रमाण स्थिति की आबाधा सौ वर्ष होती है। तदनुसार शेष कर्मस्थितियों की आबाधा को त्रैराशिक क्रम से ले आना चाहिए। जैसे—

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ि सागरोपम प्रमाण है। उसकी आबाधा त्रैराशिक विधि से इस प्रकार प्राप्त होती है—यदि एक कोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति की आबाधा सौ वर्ष होती है तो सत्तर कोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति की कितनी आबाधा होगी, इस त्रैराशिक क्रम के अनुसार फलराशि (१०० वर्ष) को इच्छाराशि (७० कोड़ाकोड़ि सागरोपम) से गुणित करके प्रमाणराशि (१ कोड़ाकोड़ि सागरोपम) का भाग देने पर ७००० वर्ष प्राप्त होते हैं। यही उस मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति की आबाधा जानना चाहिए।

धवला में भी विवक्षित कर्मस्थिति की आबाधा को जानने के लिए उसी त्रैराशिक नियम का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"तेरासियकमेण पण्णारसवाससदमेत्तआबाधाए आगमणं उच्चदे—तीसं सागरोवम कोडाकोडिमेत्तकम्मट्ठिदीए जदि आबाधा तिण्णि वाससहस्साणि मेत्ताणि लब्भदि तो पण्णारस-सागरोवमकोडाकोडिमेत्तट्ठिदीए किं लभामो त्ति फलेण इच्छं गुणिय पमाणेणोवट्ठिदे पण्णारस-

वाससदमेत्ता आवाधा होदि।" —पु० १, पृ० १५१

विशेष इतना है कि क० का० में जहां प्रमाणराशि एक कोड़ाकोड़ि रही है वहाँ धवला में वह तीस कोड़ाकोड़ी रही है।

अन्त:कोड़ाकोड़ि सागरोपम प्रमाण स्थिति के आवाधाकाल का निर्देश समान रूप से दोनों ग्रन्थों में अन्तर्मुहूर्त मात्र किया गया है।[1]

आवाधा का उपर्युक्त नियम आयुकर्म के लिये नहीं है, इसका संकेत पूर्व में किया जा चुका है। उसका आवाधाकाल दोनों ही ग्रन्थों में पूर्वकोटि के त्रिभाग से लेकर असंक्षेपाद्धा काल तक निर्देश किया गया है।[2]

८. षट्खण्डागम के तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्वविचय में क्रम से ओघ और आदेश की अपेक्षा विवक्षित प्रकृतियों का बन्ध किस गुणस्थान से कहाँ तक होता है, इसका विचार किया गया है। जैसे—

पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का कौन बन्धक है और कौन अवन्धक है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्परायिक संयत उपशमक और क्षपक तक उनके बन्धक हैं, सूक्ष्मसाम्परायिककाल के अन्तिम समय में उनके बन्ध का व्युच्छेद होता है। ये बन्धक हैं, शेष जीव उनके अवन्धक हैं (सूत्र ३, ५-६ पु० ८)।

कर्मकाण्ड में भी उस बन्धव्युच्छित्ति का विचार प्रथमतः क्रम से गुणस्थानों में और तत्पश्चात् गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में किया गया है तथा बन्ध से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों का भी उल्लेख किया गया है। (गाथा ९४-१२१)

ष० ख० में ऊपर जिन पाँच ज्ञानावरणीय आदि १६ प्रकृतियों के बन्ध और उनकी व्युच्छिति का निर्देश दसवें सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान तक किया गया है कर्मकाण्ड में उनका उल्लेख दसवें गुणस्थान के प्रसंग में इस प्रकार किया है—

"पढमं विग्घं दंसणचउ जस उच्चं च सुहुमंते॥"—गाथा १०१ उत्तरार्ध

इस विषय में दोनों ग्रन्थों का अभिप्राय समान रहा है, पर प्ररूपणा की पद्धति दोनों ग्रन्थों में भिन्न रही है। ष० ख० में जहाँ ओघ और आदेश के अनुसार बन्ध और उसकी व्युच्छित्ति की प्ररूपणा ज्ञान-दर्शनावरणीयादि प्रकृतियों के क्रम से गई है वहाँ कर्मकाण्ड में उसकी प्ररूपणा ज्ञानावरणादि कर्मों के क्रम से न करके गुणस्थानक्रम से की गई है। यह अवश्य है कि ष० ख० में ज्ञानावरणादि के क्रम से उसकी प्ररूपणा करते हुए भी क्रमप्राप्त विवक्षित ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के साथ विवक्षित गुणस्थान तक बंधनेवाली अन्य प्रकृतियों का भी उल्लेख एक साथ कर दिया गया है। जैसे—ऊपर ज्ञानावरणीय को प्रमुख करके उसके साथ दसवें गुणस्थान तक बंधनेवाली अन्य दर्शनावरण आदि का भी उल्लेख कर दिया गया है।

इस प्रकार ष० ख० में जहाँ ज्ञानावरण की प्रमुखता से प्रथमतः दसवें गुणस्थान तक बँधने वाली प्रकृतियों का सर्वप्रथम निर्देश किया गया है वहाँ क० का० में प्रथमतः प्रथम गुणस्थान में बन्ध से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है और तत्पश्चात्

---

१. ष०ख०, सूत्र १,९-६,३३ व ३४ (पु० ६, पृ० १७४ व १७७) तथा क०का० गाथा १५७

२. वही सूत्र १,९-६,२२-२७ व धवला पृ० १६६-६७ (पु० ६) तथा क०का० गाथा १५८

यथाक्रम से सासादनादि अन्य गुणस्थानों में बन्ध से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है (गाथा ६४-१०१)।

इसी प्रकार आगे भी दोनों ग्रन्थों में अपनी अपनी पद्धति के अनुसार वन्ध व उसकी व्युच्छित्ति की प्ररूपणा की गई है।

उदाहरण के रूप में, ज्ञानावरणीय के वाद दर्शनावरणीय क्रमप्राप्त है। अत एव आगे ष० ख० में दर्शनावरणीय की निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन प्रकृतियों की प्रमुखता से उनके साथ सासादन गुणस्थान तक बँधनेवाली अनन्तानुवन्धी क्रोध आदि अन्य प्रकृतियों को भी लेकर पच्चीस प्रकृतियों के वन्ध को मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानों में दिखलाकर आगे उनके बन्ध का निषेध कर दिया गया है। सूत्र ३,७-८

क० का० में उन पच्चीस प्रकृतियों की वन्धव्युच्छित्ति क्रमप्राप्त आगे के दूसरे गुणस्थान में निर्दिष्ट की गई है। इससे प्रथम दोनों गुणस्थानवर्ती जीव उन पच्चीस प्रकृतियों के वन्धक हैं, यह स्वयंसिद्ध हो जाता है (गाथा ९६)।

९. ष० ख० के इसी वन्धस्वामित्वविचय खण्ड में पूर्वोक्त पाँचवें पृच्छासूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उसे देशामर्शकसूत्र बतलाकर उससे सूचित इन अन्य २३ पृच्छाओं को उसके अन्तर्गत निर्दिष्ट किया है— (१) क्या वन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, (२) क्या उदय पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, (३) क्या दोनों साथ ही व्युच्छिन्न होते हैं, (४) क्या उनका वन्ध अपने उदय के साथ होता है, (५) क्या पर के उदय के साथ होता है, (६) क्या अपने और पर के उदय के साथ वह होता है, (७) क्या वन्ध सान्तर होता है, (८) क्या निरन्तर होता है, (९) क्या सान्तर-निरन्तर होता है, (१०) क्या वन्ध सनिमित्तक होता है, (११) क्या अनिमित्तक होता है. (१२) क्या गतिसंयुक्त वन्ध होता है, (१३) क्या गतिसंयोग से रहित होता है, (१४) कितनी गतियों के जीव उनके वन्ध के स्वामी हैं, (१५) कितनी गतियों के जीव उनके वन्ध के स्वामी नहीं हैं, (१६) वन्धाध्वान कितना है, (१७) क्या वन्ध चरम समय में व्युच्छिन्न होता है, (१८) क्या वह प्रथम समय में व्युच्छिन्न होता है, (१९) क्या अप्रथम-अचरम समय में व्युच्छिन्न होता है (२०) क्या उनका वन्ध सादि है, (२१) क्या अनादि है, (२२) क्या उनका वन्ध ध्रुव है, (२३) और क्या वह अध्रुव होता है। इस प्रकार धवला में यथा प्रसंग इन २३ प्रश्नों का समाधान भी किया गया है।[1]

क० का० में चौथा 'त्रिचूलिका' अधिकार है। ऊपर ष० ख० की धवला टीका में जिन २३ प्रश्नों को उठाया गया है उनमें प्रारम्भ के नौ प्रश्नों को क० का० के इस अधिकार में उठाया है तथा उनका उसी क्रम से समाधान भी किया गया है (गाथा ३९८-४०७)।

क० का० का यह विवेचन उपर्युक्त धवला के उस प्रसंग से प्रभावित होना चाहिए। विशेषता यह रही है कि धवला में जहाँ सूत्रनिर्दिष्ट ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के क्रमानुसार उन नौ प्रश्नों का समाधान किया गया है वहाँ क०का० में एक साथ वन्धयोग्य समस्त १२० प्रकृतियों को लेकर उन नौ प्रश्नों का समाधान कर दिया गया है। तद्विषयक अभिप्राय में दोनों ग्रन्थों में कुछ भिन्नता नहीं रही है।

१०. धवला में उठाये गये उपर्युक्त २३ प्रश्नों में से १०वाँ व ११वाँ ये दो वन्धप्रत्यय

---

१. धवला पु० ८, पृ० ७-८ व १३-३०

से सम्बन्धित हैं। वहाँ सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत गुणस्थान में व्युच्छिन्न होनेवाली पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों के आश्रय से विस्तार पूर्वक मूल (४) और उत्तर (५७) प्रत्ययों का गुणस्थानादि के क्रम से विचार किया गया है।[1] इसी प्रकार आगे प्रसंग के अनुसार विवक्षित अन्य प्रकृतियों के भी प्रत्ययों का विचार किया गया है।

क० का० में छठा स्वतंत्र 'प्रत्यय' अधिकार है। वहाँ धवला के समान ही गुणस्थानादि के क्रम से मूल और उत्तर प्रत्ययों का विचार किया गया है (गाथा ७८५-६०)।

दोनों ग्रन्थों में प्रत्ययों की यह प्ररूपणा समान रूप में ही की गई है। उदाहरणस्वरूप ५७ उत्तरप्रत्ययों में से मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में कहाँ कितने प्रत्ययों के आश्रय से वन्ध होता है, इसे धवला में यथाक्रम से गुणस्थानों में स्पष्ट करते हुए उपसंहार के रूप में यह गाथा उद्धृत की है[2]—

पणवण्णा इर वण्णा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
चदुवीस दुवावीसा सोलस एगूण जाव णव सत्त ॥

क० का० में उन प्रत्ययों की यह प्ररूपणा जिन दो गाथाओं के द्वारा की गई है उनमें प्रथम गाथा प्रायः धवला में उद्धृत इस गाथा से शब्दशः समान है। यथा—

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
चदुवीसा वावीसा वावीसमपुव्वकरणो त्ति ॥
थूले सोलस पहुदी एगूणं जाव होदि दसठाणं।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्हि सत्तेव ॥७६०॥

विशेप इतना है कि धवला में उद्धृत उस गाथा का उत्तरार्ध कुछ दुरूह है। उसके अभिप्राय को क० का० में दूसरी गाथा के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। यथा—उक्त गाथा में 'दुवावीसा' कहकर दो वार 'वाईस' संख्या का संकेत किया गया है। वह क० का० की दूसरी गाथा में स्पष्ट हो गया है, साथ ही वहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान का भी निर्देश कर दिया गया है। आगे स्थूल अर्थात् वादरसाम्पराय (अनिवृत्तिकरण) में १६ प्रत्ययों की सूचना करके १० तक १-१ कम करने (१५,१४,१३,१२,११,१०) की ओर संकेत कर दिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि अनिवृत्तिकरण के सात भागों में नपुंसकवेद आदि एक-एक प्रत्यय के कम होते जाने से १६,१५,१४,१३,१२,११ और १० प्रत्यय रहते हैं। पश्चात् 'सुहमादिसु' से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सूक्ष्मसाम्पराय में १०, उपशान्त कपाय में ६, क्षीणकपाय में ६ और सयोगकेवली गुणस्थान में ७ प्रत्यय रहते हैं।

आगे धवला में यह भी स्पष्ट किया गया है कि मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में इन ५७ प्रत्ययों में से एक समय में जघन्य से कितने और उत्कर्प से कितने प्रत्यय सम्भव हैं। इसे वतलाते हुए वहाँ अन्त में 'एत्थ उवसंहारगाहा' ऐसी सूचना करते हुए एक गाथा उद्धृतकी गई है[3]—

---

१. धवला पु० ८, पृ० १६-२८
२. वही ,, पृ० २२-२४
३. धवला पु० ८, २४-२८

दस अट्ठारस दसयं सत्तरह णव सोलसं च दोण्णं तु।
अट्ठ य चोद्दस पणयं सत्त तिए दु ति दु एगमेयं च ॥

यह गाथा प्रायः इसी रूप में क० का० में गाथा संख्या ७९२ में उपलब्ध होती है। विशेषता यही है कि धवला में उसे 'एत्थ उवसंहारगाहा' कहकर उद्धृत किया गया है, पर क० का० में वैसी कुछ सूचना न करके उसे ग्रन्थ का अंग बना लिया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि धवलाकार ने उक्त 'बन्ध स्वामित्वविचय' के सूत्र ६ की व्याख्या के प्रसंग में पूर्वोक्त २३ प्रश्नों में 'क्या बन्ध सप्रत्यय है या अप्रत्यय' इसके स्पष्टीकरण में मूल और उत्तर प्रत्ययों की प्ररूपणा की है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र (८-१) में निर्देश किया गया है, उन्होंने मिथ्यात्व, असंयम, कपाय और योग को मूलप्रत्यय कहा है। प्रमाद को उन्होंने कपाय के अन्तर्गत ले लिया है। इन मूल प्रत्ययों के उत्तर प्रत्यय सत्तावन (५+१२+२५+१५=५७) हैं। इन बन्धप्रत्ययों में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में कहाँ कितने सम्भव हैं, इत्यादि का विचार यथाक्रम से धवला में किया गया है।[1]

मूल षट्खण्डागम में कहीं भी इस प्रकार से इन बन्धप्रत्ययों का उल्लेख नहीं किया गया है। वहाँ वेदना खण्ड में दूसरे 'वेदना' अनुयोगद्वार के अन्तर्गत जो ८वाँ 'वेदना प्रत्ययविधान' अनुयोगद्वार है उसमें नैगम-व्यवहार आदि नयों के आश्रय से प्राणातिपातादि अनेक प्रत्ययों को बन्ध का कारण कहा गया है। धवलाकार ने इन सब बन्धप्रत्ययों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि चार बन्धप्रत्ययों में किया है।[2]

दि० पंचसंग्रह के चौथे 'शतक' प्रकरण में इन मूल और उत्तर बन्ध प्रत्ययों की प्ररूपणा १४० (७७-२१६) गाथाओं में बहुत विस्तार से की गई है।[3]

एक विशेषता यह भी है कि जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र (६,१०-२३) में पृथक्-पृथक् ज्ञानावरणादि के प्रत्ययों की प्ररूपणा की गई है उस प्रकार से वह षट्खण्डागम और उसकी टीका धवला में नहीं की गई है, पर क० का० में उनकी प्ररूपणा तत्त्वार्थसूत्र के समान की गई है (गाथा ८००-१०)।

यहाँ यह स्मरणीय है कि षट्खण्डागम के पूर्वोक्त 'बन्धस्वामित्वविचय' खण्ड में विशेष रूप से तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक सोलह कारणों का उल्लेख किया गया है तथा उसके उदय से होनेवाले केवली के माहात्म्य को भी प्रकट किया गया है। सूत्र ३९-४२ (पु० ८)

इन तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक कारणों का निर्देश तत्त्वार्थसूत्र (६-२४) में भी किया गया है, पर कर्मकाण्ड में उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

११. धवला में पूर्वोक्त २३ प्रश्नों के विषय में विचार करते हुए 'क्या बन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है' इसे स्पष्ट करने के पूर्व वहाँ गुणस्थानों में यथाक्रम से उदयव्युच्छित्ति की की प्ररूपणा की गयी है (पु० ८, पृ० ९-११)।

इस प्रसंग में वहाँ प्रथमतः महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अनुसार मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में इन दस प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति दिखलाई गई है—मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

---

१. धवला पु० ८, पृ० १९-२८
२. वही, पु० १२, पृ० २७५-९३
३. पंचसंग्रह पृ० १०५-७४

चतुरिन्द्रिय, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण। तत्पश्चात् विकल्प के रूप में चूर्णिसूत्रों के कर्ता (यतिवृषभाचार्य) के उपदेशानुसार उसी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में उदयव्युच्छित्ति को प्रकट करते हुए मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पांच प्रकृतियों की ही उदयव्युच्छित्ति दिखलायी गयी है। इसके कारणों का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि चूर्णिसूत्रों के कर्ता के मतानुसार एकेन्द्रियादि चार जातियों और स्थावर इन पांच प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में होती है।[1]

क० का० में भी उसी प्रकार से उस उदयव्युच्छित्ति दिखलाई की गई है। सर्वप्रथम वहाँ क्रम से मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार से निर्दिष्ट है—दस, चार, एक, सत्तरह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, दो व चौदह (१६), उनतीस और तेरह। तत्पश्चात् विकल्प रूप में उन्ही की संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की गयी है —पांच, नौ, एक, सत्तरह, आठ, पांच, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस और बारह (गा० २६३-६४)।

कर्मकाण्ड में यद्यपि उदयव्युच्छित्ति के संख्याविषयक मतभेद को गाथा में स्पष्ट नहीं किया गया है, फिर भी जैसी कि धवला में स्पष्ट सूचना की गई है, पूर्व दस संख्या का निर्देश महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (आ० भूतवलि) के उपदेशानुसार और उत्तर पांच संख्या का उल्लेख यतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार समझना चाहिए।

सत्प्ररूपणासूत्रों के रचयिता स्वयं आचार्य पुष्पदन्त ने भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का अवस्थान एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही निर्दिष्ट किया है। यदि एकेन्द्रियादि चार जातियों का उदय सासादनसम्यग्दृष्टियों के सम्भव था तो यहाँ उनके मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानों का सद्भाव प्रगट करना चाहिए था, पर वैसा वहाँ निर्देश नहीं किया गया है।[2]

इन दोनों मतों का उल्लेख करते हुए धवलाकारने सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका के प्रसंग में भी यह स्पष्ट कहा है कि प्राभृतचूर्णि के कर्ता के अभिमतानुसार उपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियों के शेष रहनेपर जीव सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है। पर भूतवलि भगवान् के उपदेशानुसार, उपशमश्रेणि से उतरता हुआ जीव सासादन गुणस्थान को नहीं प्राप्त होता है।[3]

इस प्रकार कर्मकाण्ड में प्रथमतः उक्त दोनों मतों के अनुसार उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों की संख्या का निर्देश है। आगे यथाक्रम से मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों का उल्लेख दूसरे मत के अनुसार भी कर दिया है (२६५-७२)।

दोनों ग्रन्थगत इस उदयव्युच्छित्ति की प्ररूपणा में विशेषता यह रही है कि धवलाकार ने जहाँ उन दोनों मतों का उल्लेख करके भी गुणस्थान क्रम से उदयव्युच्छित्ति को प्राप्त होनेवाली प्रकृतियों का निर्देश प्रथम मत के अनुसार किया है वहाँ कर्मकाण्ड में उनका उल्लेख दूसरे (यतिवृषभाचार्य के) मत के अनुसार किया गया है।

---

१. धवला पु० ८, पृ० ९
२. सूत्र १, १, ३६ (पु० १, पृ० २६१)
३. धवला पु० ६, पृ० ३३१ तथा क० प्रा० चूर्णि ५४२-४५ (क० पा० सुत्त, पृ० ७२६-२७)

दि० पंचसंग्रह में मतभेद का उल्लेख न करके उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों का निर्देश है, जो यतिवृषभाचार्य के मत का अनुसरण करनेवाला है (गा०३-२७)। यह गाथा कर्मकाण्ड में भी उसी रूप में उपलब्ध होती है (२६४)।

धवला में इस उदयव्युच्छिति के प्रसंग को समाप्त करते हुए 'एत्थ उवसंहारगाहा' ऐसी सूचना करते हुए इस गाथा को उद्धृत किया गया है—

दस चदुरिगि सत्तारस अट्ठ य तह पंच चेव चउरो य।
छ-छक्क एग दुग दुग चोद्दस उगुतीस तेरसुदयविही॥

—धवला पु० ८, पृ० ९-१०

यह गाथा कर्मकाण्ड में इसी रूप में ग्रन्थ का अंग बना ली गयी है (गा० २६३)।

१२. धवला में उठाये गये उन २३ प्रश्नों में चार (२०-२३) प्रश्न सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव बन्ध से सम्बन्धित हैं। धवलाकार ने यथाप्रसंग सूत्रनिर्दिष्ट विभिन्न प्रकृतियों के विषय में इन चारों बन्धों को स्पष्ट किया है। जैसे—

सूक्ष्मसाम्परायसंयत के बन्ध से व्युच्छिन्न होनेवाली पूर्वोक्त १६ प्रकृतियों में पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अन्तराय इन १४ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि के आदि हैं, क्योंकि उपशमश्रेणि में उनका बन्ध व्युच्छेद करके नीचे उतरते हुए मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर उनका सादिबन्ध देखा जाता है। वह अनादि भी हैं, जो मिथ्यादृष्टि जीव उपशम श्रेणि पर कभी आरूढ़ नहीं हुए हैं उनके उस बन्ध का आदि नहीं है। अभव्य मिथ्यादृष्टियों के उनका ध्रुवबन्ध है, क्योंकि उनके उस बन्ध की व्युच्छिति कभी होनेवाली नहीं है। वह अध्रुव भी है, क्योंकि उपशम अथवा क्षपक श्रेणि पर चढ़ने योग्य मिथ्यादृष्टियों के उस बन्ध की ध्रुवता (शाश्वतिकता) रहनेवाली नहीं है। यही स्थिति यशःकीर्ति और उच्च गोत्र की है। इतना विशेष है कि उनका अनादि और ध्रुवबन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके प्रतिपक्षभूत अयशःकीर्ति और नीचगोत्र के बन्ध का होना सम्भव है। शेष सासादन आदि गुणस्थानों में उन १४ प्रकृतियों का सादि, अनादि और अध्रुव तीन प्रकार का बन्ध सम्भव है। उनका ध्रुवबन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि भव्य जीवों के बन्ध की व्युच्छित्ति नियम से होने वाली है। यशःकीर्ति और उच्च गोत्र इन दो प्रकृतियों का बन्ध सभी गुणस्थानों में सादि और अध्रुव दो प्रकार का होता है।[1]

कर्मकाण्ड में इस प्रसंग में प्रथमतः मूल प्रकृतियों में इस चार प्रकार के बन्ध को स्पष्ट करते हुए वेदनीय और आयु को छोड़ शेष ज्ञानावरणादि छह कर्मो के बन्ध को चारों प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। वेदनीय कर्म का सादि के बिना तीन प्रकार का और आयु का अनादि व ध्रुव से रहित दो प्रकार का बन्ध कहा गया है। आगे इस चार प्रकार के बन्ध का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

बन्ध का अभाव होकर जो पुनः बन्ध होता है वह सादि बन्ध कहलाता है। श्रेणि पर न चढ़नेवालों के जो विवक्षित प्रकृति का बन्ध होता है उसे अनादि बन्ध कहा जाता है, क्योंकि तब तक कभी उस बन्ध का अभाव नहीं हुआ है। जो बन्ध अविश्रान्त चालू रहता है उसका नाम ध्रुवबन्ध है, जैसे अभव्य का कर्मबन्ध। भव्य जीव के जो कर्मबन्ध होता है उसे अध्रुवबन्ध

१. धवला पु० ८, पृ० २९-३०.

जानना चाहिए, क्योंकि उसके उस बन्ध का अन्त होने वाला है (गा० १२२-२३)।

आगे इसी प्रकार से उत्तर प्रकृतियों में भी इस चार प्रकार के बन्ध का उल्लेख किया गया है (१२४-२६)।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में समान रूप से इस चार प्रकार के बन्ध की प्ररूपणा की गयी है। केवल पद्धति में भेद रहा है।

१३. षट्खण्डागम की टीका धवला में उपपादादि योगों के अल्पबहुत्व की जिस प्रकार से प्ररूपणा है ठीक उसी प्रकार से उसकी प्ररूपणा कर्मकाण्ड में भी की गई है जैसे—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य उपपादयोग सबसे स्तोक है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृत्त्यपर्याप्त का जघन्य उपपादयोग असंख्यातगुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोग असंख्यातगुणा है। उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य उपपादयोग असंख्यातगुणा है। (पु० १०,पृ० ४१४)

इसी अल्पबहुत्व को कर्मकाण्ड की इस गाथा में प्रकट किया गया है—

सुहुमगलद्धिजहण्णं तण्णिवत्तीजहण्णयं तत्तो।
लद्धिअपुण्णुक्कस्सं बादरलद्धिस्स अवरमदो ॥२३३॥

उसकी यह समानता आगे भी दोनों ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।[1]

१४. धवला में प्रसंगप्राप्त एक शंका के समाधान में यह स्पष्ट किया गया है कि एक योग से आये हुए एक समान प्रबद्ध में आयु का भाग सबसे स्तोक होता है। नाम और गोत्र दोनों का भाग समान होकर आयु से विशेष अधिक होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का भाग परस्पर समान होकर उससे विशेष अधिक होता है। उससे मोहनीय का भाग विशेष अधिक होता है। वेदनीय का भाग उससे अधिक होता है। इस स्पष्टीकरण के साथ वहाँ 'वुत्तं च' ऐसा निर्देश करते हुए इन दो गाथाओं को उद्धृत किया गया है—

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।
आवरणमंतराए भागो अहिओ दु मोहे वि ॥
सव्वुवरि वेयणीए भागो अहिओ दु कारणं किंतु।
पयडिविसेसो कारण णो अण्णं तदणुवलंभादो ॥—पु० १०, पृ ५११-१२

कर्मकाण्ड में कुछ परिवर्तित रूप में ये गाथाएँ इस प्रकार उपलब्ध होती हैं—

आउगभागो थोवो णामा-गोदे समो तदो अहियो।
घादितिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥१९२॥
सुह-दुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगो त्ति वेयणीयस्स।
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदि त्ति णिद्दिट्ठं ॥१९३॥

१५. महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अन्तर्गत कृति-वेदनादि पूर्वोक्त २४ अनुयोगद्वारों में १२वाँ 'संक्रम' अनुयोगद्वार है। इसमें धवलाकार आचार्य वीरसेन के द्वारा संक्रम के नामसंक्रम, स्थापनासंक्रम, द्रव्यसंक्रम, कालसंक्रम और भावसंक्रम इन भेदों का निर्देश करते हुए संक्षेप में उनका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उनमें नोआगमद्रव्यसंक्रम के तीन भेदों में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य को कर्मसंक्रम और नोकर्मसंक्रम के भेद से दो प्रकार का बतलाकर कर्मसंक्रम को

---

१ धवला पु० १०,४१४-१७ और कर्मकाण्ड गाथा ४३३-४०

प्रसंगप्राप्त कहा गया है। यह प्रकृतिसंक्रम आदि के भेद से चार प्रकार का है। इन चारों का धवला में यथाक्रम से स्वामित्व व एक जीव की अपेक्षा काल आदि अनेक अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक निरूपण है।

कर्मकाण्ड में तीसरे 'त्रिचूलिका' अधिकार के अन्तर्गत पाँच भागद्वारों की प्ररूपणा की गई है। उस पर धवलागत उपर्युक्त 'संक्रम' अनुयोगद्वार का बहुत कुछ प्रभाव रहा दिखता है। उसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक दो उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) धवला के उस प्रसंग में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण व समाचारणीय आदि ३६ प्रकृतियों का एकमात्र अधःप्रवृत्तसंक्रम होता है, ऐसा कहा गया है। (पु० १६, पृ० ४१०)

कर्मकाण्ड में इस अभिप्राय को संक्षेप में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

> सुहुमस्स बंधघादी सादं संजलणलोह-पंचिंदी।
> तेज-दु-सम-वण्णचऊ अगुरुग-परघाद-उस्सासं ॥४१९॥
> सत्थगदी तसदसयं णिमिणुगुदाले अधापवत्तोदु। ४२० पू०

(२) धवला में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियों के कौन-से संक्रम होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है—

"मिच्छत्तस्स विज्झादसंकमो गुणसंकमो सव्वसंकमो चेदि तिण्णि संकमा। × × × वेदग-सम्मत्तस्स चत्तारि संकमा—अधापवत्तसंकमो उव्वेल्लणसंकमो गुणसंकमो सव्वसंकमो चेदि।"

—पु० १६, पृ० ४१५-१६

इस अभिप्राय को कर्मकाण्ड में निश्चित पद्धति के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

> × × × मिच्छत्ते। विज्झाद-गुणे सव्वं सम्मे विज्झादपरिहीणा ॥४२३॥

धवला में प्रसंग के अनुसार बहुत-सी प्राचीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। ऐसी गाथाओं को कर्मकाण्ड में उसी रूप में या थोड़े-से परिवर्तन के साथ आत्मसात् कर लिया गया है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

	धवला		कर्मकाण्ड
गाथांश	पु०	पृष्ठ	गाथा
१. आउअभागो थोवो	१०	५१२	१९२
२. उगुदाल तीस सत्त य	१६	४१०	४१८
३. उदये संकम उदये	६	२९५	४४०
	९	२३६	,,
	१५	२७६	,,
४. उव्वेलण विज्झादो	१६	४०८-९	४०९
	४	१२७	,,
५. एयक्खेत्तोगाढं	१२	२७७	१८५
	१४	४३९	,,
	१५	३५	,,
६. णलया बाहू य तहा	६	४४	२८
७. दस अट्ठारस दसयं	८	२८	७९२

८. दस चदुरिगि सत्तारस	८	११	२६३
९. पणवण्णा इर वण्णा	८	२४	७८९
१०. बंधे अधापवत्तो	१६	४०६	४१६

उपसंहार

गोम्मटसार के रचियता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती निःसन्देह अपार सिद्धान्त-समुद्र के पारगामी रहे हैं। उन्होंने अपने समय में उपलब्ध समस्त आगमसाहित्य को—जैसे षट्खण्डागम और उसकी टीका धवला, कषायप्राभृत व उस पर निर्मित चूर्णिसूत्र एवं जयधवला टीका, पंचस्तिकाय, मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र व उसकी व्याख्यारूप सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थ-वार्तिक आदि का—गम्भीर अध्ययन किया था; जिसका उपयोग प्रकृत ग्रन्थ की रचना में किया गया है। उनकी इस कृति में षट्खण्डागम व कषायप्राभृत में प्ररूपित प्रायः सभी विषय समाविष्ट हैं। यही नहीं, उन्होंने उक्त षट्खण्डागम की टीका धवला और कषायप्राभृत की टीका जयधवला के अन्तर्गत प्राप्त गाथाओं को उसी रूप में या प्रसंगानुरूप यत्किंचित् परिवर्तन के साथ इस ग्रन्थ में सम्मिलित कर लिया है। साथ ही, उन्होंने अपने बुद्धिबल से विवक्षित विषय को प्रसंग के अनुरूप विकसित व वृद्धिगत भी किया है। इस प्रकार यह सर्वांगपूर्ण आ० नेमिचन्द्र की कृति विद्वज्जगत् में सर्वमान्य सिद्ध हुई है।

पर आश्चर्य इस बात का है कि जिस षट्खण्ड को सिद्ध करके उन्होंने अगाध सिद्धान्त विषयक पाण्डित्य को प्राप्त किया उस षट्खण्डागम के मूलाधार आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त व भूतबलि तथा गुणधर और यतिवृषभ आदि का कहीं किसी प्रकार से स्मरण नहीं किया। यह आश्चर्य विशेष रूप में इसलिए होता है, जबकि उन्होंने अपनी इस कृति में गौतम स्थविर (जीवकाण्ड गाथा ७०५), इन्द्रनन्दी, कनकनन्दी (क० का० ३९६), वीरनन्दी, अभयनन्दी (क० का० ४३६) और पुनः अभयनन्दी, इन्द्रनन्दी, वीरनन्दी (क० का० ७८५ व ८९६) आदि का स्मरण अनेक बार किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अजितसेन के शिष्य गोम्मटराय चामुण्डराय श्रावक को महत्त्व देते हुए उसका जयकार भी किया है (जीवकाण्ड ७३३ व क० का० ९६६-९८)।

षट्खण्डागम पर टीकाएँ

आचार्य इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में षट्खण्डागम पर निर्मित कुछ टीकाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

१. पद्मनन्दी विरचित परिकर्म

इन्द्रनन्दी विरचित श्रुतावतार में कहा गया है कि इस प्रकार गुरुपरिपाटी से आते हुए द्रव्यभावपुस्तकगत दोनों प्रकार के सिद्धान्त (षट्खण्डागम व कषायप्राभृत) का ज्ञान कुण्डकुन्द-पुर में पद्मनन्दी को प्राप्त हुआ। उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार प्रमाण ग्रन्थ 'परिकर्म' को रचा। इस प्रकार वे 'परिकर्म' के कर्ता हुए।

यहाँ आचार्य इन्द्रनन्दी का 'पद्मनन्दी' से अभिप्राय सम्भवतः उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य का रहा है, जिन्होंने समयप्राभृत आदि अनेक अध्यात्म-ग्रन्थों की रचना की है। कारण यह कि कुन्द-कुन्दाचार्य का दूसरा नाम पद्मनन्दी भी रहा है। यह पद्मनन्दी के साथ कुन्दकुन्दपुर के उल्लेख से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि कुन्दकुन्दपुर से सम्बन्ध उन्हीं का रहा है।

यह 'परिकर्म' वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, पर वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में उसका उल्लेख बीसों बार किया है। उन उल्लेखों में प्रायः सभी सन्दर्भ गणित से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे—

धवला में उसका उल्लेख एक स्थान पर विवक्षित विषय की पुष्टि के लिए किया गया है। जैसे—द्रव्यप्रमणानुगम में मिथ्यादृष्टियों के द्रव्यप्रमाण के प्रसंग में अनन्तानन्त के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम अनन्तानन्त। इनमें जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तानन्त को छोड़कर प्रकृत में अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्तानन्त विवक्षित है। उसकी पुष्टि में 'परिकर्म' का उल्लेख धवला में इस प्रकार किया गया है—

"जम्हि जम्हि अणंताणंतयं मग्गिज्जदि तम्मि तम्हि अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणं तस्सेव,' इदि परियम्मवयणादो जाणिज्जदि अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणं तस्सेव गहणं होदि त्ति।"

—पु० ३, पृ० १९

२. एक अन्य स्थल पर उसका उल्लेख असंगत मान्यता के साथ विरोध प्रकट करने के लिए किया गया है। जैसे—

---

१. एवं द्विविधो द्रव्य-भावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥१६०॥
श्रीपद्मनन्दिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः [ण-]।
ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा [र्त्ता] षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥१६१॥

एक उपदेश के अनुसार तिर्यग्लोक को एक लाख योजन वाहल्यवाला और एक राजु विस्तृत गोल माना गया है। उसे असंगत ठहराते हुए धवला में कहा गया है कि ऐसा मानने पर लोक के प्रमाण में ३४३ घनराजु की उत्पत्ति घटित नहीं होती। दूसरे, वैसा मानने पर समस्त आचार्यसम्मत परिकर्मसूत्र के साथ विरोध का प्रसंग भी प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ ऐसा कहा गया है—

"रज्जु सत्तगुणिदा जगसेढी, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिदजगपदरं घणलोगो होदि, त्ति परियम्मसुत्तेण सव्वाइरियसम्मदेण विरोहप्पसंगादो च।" —पु० ४, पृ० १८३-८४

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि धवलाकार ने उक्त परिकर्म का उल्लेख सूत्र के रूप में किया है। साथ ही, उसे उन्होंने सब आचार्यों से सम्मत भी बतलाया है।

३. अन्यत्र, सूत्र के विरुद्ध होने से धवलाकार ने उसे अप्रमाण भी ठहरा दिया है जैसे—

आचार्य वीरसेन के अभिमतानुसार स्वयम्भूरमण समुद्र के आगे भी राजू के अर्धच्छेद पड़ते हैं। इस मान्यता की पुष्टि में उन्होंने दो सौ छप्पन सूच्यंगुल के वर्ग प्रमाण जगप्रतर का भागहार बतलानेवाले सूत्र[1] को उपस्थित किया है। इस पर शंकाकार ने उक्त मान्यता के साथ परिकर्म का विरोध दिखलाते हुए कहा है कि "जितने द्वीप-सागर रूप हैं तथा जितने जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद हैं, रूप (एक) अधिक उतने ही राजू के अर्धच्छेद होते हैं" इस परिकर्म के साथ उस व्याख्यान का विरोध क्यों न होगा? इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उसके साथ अवश्य विरोध होगा, किन्तु सूत्र के साथ नहीं होगा। इसलिए इस व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिए, न कि उस परिकर्म को, क्योंकि वह सूत्र के विरुद्ध जाता है।[2]

प्रसंगवश यहाँ ये तीन उदाहरण दिये गये हैं। इस सम्बन्ध में विशेष विचार आगे 'ग्रन्थोल्लेख' के अन्तर्गत 'परिकर्म' के प्रसंग में विस्तार से किया जाएगा।

'परिकर्म' का क्या आचार्य कुन्दकुन्द विरचित टीका होना सम्भव है?

'परिकर्म' कुन्दकुन्दाचार्य विरिचित षट्खण्डागम की टीका रही है, इस सम्बन्ध में कुछ विचारणीय प्रश्न उत्पन्न होते हैं जो ये हैं—

१. जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, धवला में जहाँ-जहाँ परिकर्म का उल्लेख किया गया है वहाँ सर्वत्र परिकर्म का प्रमुख वर्णनीय विषय गणितप्रधान रहा है। उधर आचार्य कुन्दकुन्द आध्यात्म के मर्मज्ञ रहे हैं, यह उनके द्वारा विरचित समयप्राभृतादि ग्रन्थों से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव है कि वे षट्खण्डागम पर गणितप्रधान परिकर्म नामक टीका लिख सकते हैं?

२. ऊपर परिकर्म से सम्बन्धित जो तीन उदाहरण दिये गये हैं उनमें से दूसरे उदाहरण में परिकर्म का उल्लेख सूत्र के रूप में किया गया है। क्या धवलाकार उस परिकर्म टीका का उल्लेख सूत्र के रूप में कर सकते हैं?

३. आचार्य कुन्दकुन्द विरचित जितने भी समयप्राभृत आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब गाथाबद्ध ही हैं, कोई भी उनकी कृति गद्यरूप में उपलब्ध नहीं है। तब क्या गाथाबद्ध समय-

---

१. वह सूत्र है—"खेत्तेण पदरस्स वेछप्पण्णंगुलसयवग्गपडिभागेण। —पु० ३, पृ० २६८
२. धवला पु० ४, पृ० १५५-५६

प्राभृतादि विविध मूल ग्रन्थों के रचियता आचार्य कुन्दकुन्द किसी ग्रन्थ विशेष पर गद्यात्मक टीका भी लिख सकते हैं ?

४ इन्द्रनन्दिश्रुतावतार के अनुसार परिकर्म नाम की यह टीका षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर लिखी गई है। किन्तु धवला में उसका उल्लेख चौथे वेदनाखण्ड और पाँचवें वर्गणाखण्ड में भी अनेक बार किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त उसका तीसरा खण्ड जो 'बन्ध-स्वामित्व विचय' है, जिस पर टीका लिखे जाने का निर्देश इन्द्रनन्दी द्वारा किया गया है, उसमें कहीं भी धवलाकार द्वारा परिकर्म का उल्लेख नहीं किया गया। वह पूरा ही खण्ड गणित से अछूता रहा है, वहाँ ज्ञानावरणादि मूल और उत्तर प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों का विचार किया गया है।

५. समयसार में वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसानस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्ध-स्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ये जीव के नहीं हैं, ये सब पुद्गल के परिणाम हैं, ऐसा कहा गया है। (गा० ५०-५५)

आगे इतना मात्र वहाँ स्पष्ट किया गया है कि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थानपर्यन्त ये सब भाव निश्चय नय की अपेक्षा जीव के नहीं हैं, व्यवहार की अपेक्षा वे जीव के होते हैं। जीव के साथ इनका सम्बन्ध दूध और पानी के समान है, इसलिए वे जीव के नहीं हैं, क्योंकि जीव उपयोग गुण से अधिक है (गाथा ५६-५७)।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि षट्खण्डागम में उपर्युक्त वर्ग-वर्गणादिकों को प्रमुख स्थान प्राप्त है, गुणस्थान और मार्गणास्थानों पर तो वह पूर्णतया आधारित है।

ऐसी परिस्थिति में यदि कुन्दकुन्दाचार्य उस पर टीका लिखते हैं तो क्या वे समयसार में ही या पंचास्तिकाय आदि अपने अन्य किसी ग्रन्थ में यह विशेष स्पष्ट नहीं कर सकते थे कि वे सब भाव भी ज्ञातव्य हैं व प्रथम भूमिका में आश्रयणीय हैं ? अमृतचन्द्र सूरि ने भी 'समयसार-कलश' (१-५) में यही स्पष्ट किया है कि जो पूर्व भूमिका में अवस्थित हैं उनके लिए व्यवहार-नय हस्तावलम्बन देनेवाला है, पर जो परमार्थ का अनुभव करने लगे हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी नहीं है, वह सर्वथा हेय है।

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः आचार्य कुन्दकुन्द ने ने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नाम की कोई टीका नहीं लिखी है। परिकर्म का उल्लेख धवला को छोड़कर अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।[2] यह भी आश्चर्यजनक है कि धवला में जितने बार भी परिकर्म का उल्लेख किया गया है उनमें कहीं भी उसका उल्लेख षट्खण्डागम की टीका या उसकी व्याख्या के रूप में नहीं किया गया। इसके विपरीत एक-दो बार तो वहाँ उसका उल्लेख सूत्र के रूप में किया गया है। अनेक बार उल्लेख करते हुए भी कहीं भी उसके

---

१. पु० ६, पृ० ४८ व ५६; पु० १०, पृ० ४८३; पु० १२, पृ० १५४; पु० १३, पृ० १८, २६२,२६३ व २९९ तथा पु० १४, पृ० ५४,३७४ व ३७५

२. उसका उल्लेख तिलोयपण्णत्ती के जिस गद्यभाग में किया गया है वह धवला और तिलोयपण्णत्ती में समान रूप से पाया जाता है। वह सम्भवतः धवला से ही किसी के द्वारा पीछे तिलोयपण्णत्ती में योजित किया गया है। देखिए धवला पु० ४, पृ० १५२ और ति० प० २, पृ० ७६४-६६

कर्ता की ओर वहाँ संकेत नहीं किया गया है, जबकि धवलाकार ने 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे' ऐसा निर्देश करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य विरचित पंचास्तिकाय की १०० व १०७ गाथाओं को धवला में उद्धृत किया है।[1] इसके अतिरिक्त धवला में गुणधर, समन्तभद्र, यतिवृषभ, पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र भट्टारक आदि के नामों का उल्लेख करते हुए भी वहाँ परिकर्म के कर्ता के रूप में कहीं किसी का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि धवलाकार ने परिकर्म को षट्खण्डागम की टीका, और वह भी कुन्दकुन्दाचार्य विरचित, नहीं समझा।

धवला के अन्तर्गत परिकर्म के उल्लेखों को देखने से यह निश्चित है कि 'परिकर्म' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है और उसका सम्बन्ध गणित से विशेष रहा है। उसे धवला में एक-दो प्रसंग में जो 'सर्व आचार्यसम्मत' कहा गया है उससे भी ज्ञात होता है कि वह पुरातन आचार्यों में एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ रहा है। पर वह किसके द्वारा व कब रचा गया है, यह ज्ञात नहीं होता।

'परिकर्म' का उल्लेख अंगश्रुत में किया गया है। अंगों में १२वाँ दृष्टिवाद अंग है। उसके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अर्थाधिकारों में 'परिकर्म' प्रथम है। उसके ये पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, दीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। इन प्रज्ञप्तियों पर गणित का प्रभाव होना चाहिए। वर्तमान में ये चन्द्र-सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि श्वे० सम्प्रदाय में उपलब्ध हैं, पर जैसा उनका पदप्रमाण आदि निर्दिष्ट किया गया है उस रूप में वे नहीं हैं।

इस 'परिकर्म' का धवलाकार के समक्ष रहना सम्भव नहीं है।

२. शामकुण्डकृत पद्धति

श्रुतावतार में आगे कहा गया है कि तत्पश्चात् कुछ काल के बीतने पर शामकुण्ड नामक आचार्य ने पूर्ण रूप से दोनों प्रकार के आगम का ज्ञान प्राप्त किया और तब उन्होंने विशाल महाबन्ध नामक छठे खण्ड के बिना दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर बारह हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत, संस्कृत और कर्नाटक भाषा मिश्रित 'पद्धति' की रचना की।[2]

इस 'पद्धति' का अन्यत्र कहीं कुछ उल्लेख नहीं देखा गया है। वर्तमान में वह भी अनुपलब्ध है।

३. तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि

श्रुतावतार में आगे कहा गया है कि उपर्युक्त 'पद्धति' की रचना के पश्चात् कितने ही काल के बीतने पर तुम्बुलूर ग्राम में तुम्बुलूर नामक आचार्य हुए। उन्होंने छठे खण्ड के बिना

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३१५

२. काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन।
आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः [मं] कार्त्स्न्यात् ॥१६२॥
द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः।
षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबन्धसंज्ञेन ॥१६३॥
प्राकृत-संस्कृत-कर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता। १६४ पू०।

दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर, 'चूडामणि' नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी। यह ग्रन्थरचना से चौरासी हजार श्लोक प्रमाण रही है। उसकी भाषा कर्नाटक रही है। इसके अतिरिक्त छठे खण्ड पर उन्होंने सात हजार श्लोक प्रमाण 'पंजिका' की।[1]

यह 'चूडामणि' और 'पंजिका' भी वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। उनका कहीं और उल्लेख भी नहीं दिखता।

४. समन्तभद्र विरचित टीका

तत्पश्चात् श्रुतावतार में तार्किकार्क आचार्य समन्तभद्र विरचित संस्कृत टीका का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि तुम्बुलूराचार्य के पश्चात् कालान्तर में तार्किकार्क समन्तभद्र स्वामी हुए। उन्होंने उन दोनों प्रकार के सिद्धान्त का अध्ययन करके षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर एक टीका लिखी। ग्रन्थ-रचना से वह अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण थी। भाषा उसकी अतिशय सुन्दर मृदु संस्कृत रही है।[2] 'समन्तभद्र' से अभिप्राय इन्द्रनन्दी का उन स्वामी समन्तभद्र से ही रहा है जिन्होंने तर्कप्रधान देवागम (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र आदि स्तुतिपरक ग्रन्थों को रचा है। वे 'स्वामी' के रूप में विशेष प्रसिद्ध रहे हैं। इन्द्रनन्दी ने उन्हें तार्किकार्क कहा है। अष्टसहस्री के टिप्पणकार ने भी उनका उल्लेख तार्किकार्क के रूप में किया है (अष्टस० पृ० १ का टिप्पण)।

धवलाकार ने भी उनका उल्लेख समन्तभद्रस्वामी के रूप में किया है।[3] धवला में समन्तभद्राचार्य द्वारा विरचित देवागम, स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन आदि के अन्तर्गत पद्यों के उद्धृत करने पर भी उनके द्वारा विरचित इस टीका का कहीं कोई उल्लेख क्यों नहीं किया गया, यह विचारणीय है।

---

१. तस्मादारात् पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च ।। १६४ उत्त० ।।
अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे ।
षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ।।१६५।।
चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम् ।
कर्णाटभाषयाऽकृत महती चूडमणि व्याख्याम् ।।१६६।।
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पञ्जिकां पुनरकार्षीत् ।।१६७ पू० ।।

२. कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यांपलरि (?) तार्किकार्कोऽभूत् ।।१६७ उत्त० ।।
श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम् ।
सिद्धान्तमतः षट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुनः ।।१६८।।
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम् ।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ।।१६९।।

३. क—तहा समंतभद्दसामिणा वि उत्तं—विधिर्विषक्त······(स्वयम्भू० ५२)। धवला पु० ७, पृ० ६६
ख—तथा समन्तभद्रस्वामिनाप्युक्तम्—स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः (देवागम १०६) ।।धवला पु० ६, पृ० १६७
ग—उत्तं च—नानात्मतामप्रजहत्······(युक्त्यनु० ५०) धवला पु० ३, पृ० ६

यह टीका भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है तथा उसका अन्य कहीं किसी प्रकार का उल्लेख भी नहीं देखा गया है।

इन्द्रनन्दी ने इसी प्रसंग में आगे यह भी कहा है स्वामी समन्तभद्र द्वितीय सिद्धान्तग्रन्थ की व्याख्या लिख रहे थे, किन्तु द्रव्यादिशुद्धि के करने के प्रयत्न से रहित होने के कारण उन्हें अपने सधर्मा ने रोक दिया था।[1]

५. वप्पदेवगुरु विरचित व्याख्या

इन्द्रनन्दिश्रुतावतार में आगे एक व्याख्या का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार परम गुरुओं की परम्परा से दोनों प्रकार के सिद्धान्त के व्याख्यान का यह क्रम चलता रहा। उसी परम्परा से आते हुए उसे अतिशय तीक्ष्णबुद्धि शुभनन्दी और रविनन्दी मुनियों ने प्राप्त किया। उन दोनों के पास में, भीमरथी और कृष्णमेखा नदियों के मध्यगत देश में रमणीय उत्कलिका ग्राम के समीप प्रसिद्ध मगणवल्ली ग्राम में विशेष रूप से सुनकर वप्पदेव गुरु ने छह खण्डों में से महाबन्ध को अलग कर शेष पाँच खण्डों में छठे खण्ड व्याख्याप्रज्ञप्ति को प्रक्षिप्त किया। इस प्रकार निष्पन्न हुए छह खण्डों और कषायप्राभृत की उन्होंने साठ हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत भाषारूप पुरातन व्याख्या लिखी। साथ ही, महाबन्ध पर उन्होंने पाँच अधिक आठ हजार ग्रन्थ प्रमाण व्याख्या लिखी।[2]

ऊपर निर्दिष्ट 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' से क्या अभिप्रेत रहा है, यह ज्ञात नहीं होता। श्लोक १७४-७५ के अन्तर्गत "व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च तत (?) संक्षिप्य। षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां" इन पदों का परस्पर सम्बन्ध भी विचारणीय है। 'तत' यह अशुद्ध भी है, उसके स्थान में 'ततः' रहा है या अन्य ही कुछ पाठ रहा है, यह भी विचारणीय है। इसी प्रकार श्लोक

---

१. विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन।
   द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात् प्रतिनिषिद्धम् ॥१७०॥
   (सम्भव है इस प्रतिषेध का कारण भस्मक व्याधि के निमित्त से उनके द्वारा कुछ समय के लिए किया गया जिनलिंग का परित्याग रहा हो।)

२. एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया।
   आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम् ॥१७१॥
   शुभ-रविनन्दिमुनिभ्यां भीमरथि-कृष्णमेखयोः सरितोः।
   मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥१७२॥
   विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण।
   श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं वप्पदेवगुरुः ॥१७३॥
   अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपञ्चखण्डे तु।
   व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च तत (?) संक्षिप्य ॥१७४॥
   षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य-
   प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम् ॥१७५॥
   व्यलिखत् प्राकृतभाषारूपां सम्यक् पुरातनव्याख्याम्।
   अष्टसहस्रग्रन्थां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे ॥१७६॥

१७१ के अन्तर्गत 'अवाप्तवान्' का कर्ता कौन है, यह भी ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार इस प्रसंग से सम्बद्ध उन १७१-७६ श्लोकों में निहित अभिप्राय को समझना कठिन प्रतीत हो रहा है।

आचार्य वीरसेन ने धवला में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का उल्लेख दो बार किया है। यथा—

(१) "कम्मि तिरियलोगस्स पज्जवसाणं? तिण्णं वादवलयाणं बाहिरभागे। तं कधं जाणिज्जदि? 'लोगो वादपदिट्ठिदो' त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो।" —पु० ३, पृ० ३४-३५

यहाँ तिर्यग्लोक का अन्त तीन वातवलयों के बाह्य भाग में है, इस अभिप्राय की पुष्टि में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के उक्त प्रसंग को प्रस्तुत किया गया है।

(२) "जीवा णं भंते! कदिभागावसेसयंसि याउगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिवंधंता वंधंति? गोदम! जीवा दुविहा पण्णत्ता संखेज्जवस्साउआ चेव असंखेज्जवस्साउआ चेव। तत्थ ······।" एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कधं ण विरोहो? ण, एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आइरियभेएण भेदभावण्णस्स एयत्ताभावादो। —पु० १०, पृ० २३७-३८

यहाँ शंकाकार ने 'परभविक आयु के वँध जाने पर भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता है' इस अभिमत के विषय में उपर्युक्त व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के विरुद्ध होने की आशंका प्रकट की है। उसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र आचार्यभेद से भिन्नता को प्राप्त है, अतः उसकी इसके साथ एकरूपता नहीं हो सकती।

उपर्युक्त व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के शब्दविन्यास को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह वर्तमान में उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में कहीं होना चाहिए। पर षटखण्डागम के अन्तर्गत उस प्रसंग का अनुवाद करते समय वहाँ खोजने पर भी वह मुझे उपलब्ध नहीं हुआ था।

आचार्य भट्टाकलंकदेव ने एक प्रसंगप्राप्त शंका के समाधान में अपने तत्त्वार्थवार्तिक में व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"···इत्यत्रोच्यते—न, अन्यत्रोपदेशात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभंगे वायोरौदारिक-वैक्रियिक-तैजस-कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि मनुष्याणां च। ······व्याख्याप्रज्ञप्ति-दण्डकेष्वस्तित्वमात्रमभिप्रेत्योक्तम्।" —त०वा० २,४६,८

इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव के समक्ष कोई व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थ रहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त व्याख्याप्रज्ञप्तिगत उस प्रसंग के समान प्रज्ञापनासूत्र (६,४५-४६) और बृहत्-संग्रहणीसूत्र (३२७-२८) में भी उसी प्रकार का आयुवन्ध विषयक प्रसंग उपलब्ध होता है। वहाँ गौतम द्वारा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के विषय में प्रश्न किया गया है कि वे आयु के कितने भाग शेष रहने पर परभविक आयु को बाँधते हैं। उसका उत्तर उपर्युक्त व्याख्याप्रज्ञप्ति के ही समान दिया गया है।

यह सुविदित है कि बारह अंगों में पाँचवाँ अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति रहा है। इसके अतिरिक्त बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेदों में अन्तिम भेद भी व्याख्याप्रज्ञप्ति रहा है।

पर ऊपर इन्द्रनन्दिश्रुतावतार में निर्दिष्ट व्याख्याप्रज्ञप्ति से वहाँ किसका अभिप्राय रहा है, यह ज्ञात नहीं होता।

जैसा कि आगे 'धवला टीका' के प्रसंग में स्पष्ट किया जाएगा, धवलाकार ने व्याख्या-प्रज्ञप्ति को पाकर आगे के निवन्धनादि अठारह (७-२४) अनुयोगद्वारों के आश्रय से षट्खण्ड

नामक छठे खण्ड की रचना की है।[1]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वप्पदेव गुरु और आचार्य वीरसेन के समक्ष कोई व्याख्या-प्रज्ञप्ति ग्रन्थ रहा है, जिसे षट्खण्डागम में छठे खण्ड के रूप में जोड़ा गया है और महाबन्ध को उससे अलग किया गया है। उसी व्याख्याप्रज्ञप्ति के आधार से आचार्य वीरसेन ने संक्षेप में निबन्धन आदि अठारह अनुयोगद्वार में विभक्त 'सत्कर्म' को लिखा व उसे षट्खण्डागम का छठा खण्ड बनाया। वह सत्कर्म प्रस्तुत षट्खण्डागम की १६ जिल्दों में से १५ व १६वीं दो जिल्दों में प्रकाशित है। इस प्रकार षट्खण्डागम को इन १६ जिल्दों में समाप्त समझना चाहिए। छठा खण्ड जो महाबन्ध था वह अलग पड़ गया है।

इन्द्रनन्दिश्रुतावतार के अनुसार वीरसेनाचार्य ने जिस व्याख्याप्रज्ञप्ति के आश्रय से 'सत्कर्म' की रचना की है तथा जिस व्याख्याप्रज्ञप्ति का उल्लेख पीछे आयु के प्रसंग में धवला में किया गया हैं, वे दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। कारण कि आयु के प्रसंग में उल्लखित उस व्याख्याप्रज्ञप्ति को स्वयं धवलाकार ने ही आचार्यभेद से भिन्न घोषित किया है।

श्रुतावतार में निर्दिष्ट वप्पदेवगुरु विरचित वह साठ हजार ग्रन्थ प्रमाण व्याख्या भी उपलब्ध नहीं है और न ही कहीं और उसका उल्लेख भी देखा गया है।

६. आ० वीरसेन विरचित धवला टीका

इन्द्रनन्दी ने आगे अपने श्रुतावतार में प्रस्तुत धवला टीका के सम्बन्ध में यह कहा है कि वप्पदेव विरचित उस व्याख्या के पश्चात् कुछ काल के बीतने पर सिद्धान्त के तत्त्वज्ञ एलाचार्य हुए।[2] उनका निवास चित्रकूटपुर रहा है। उनके समीप में वीरसेनगुरु ने समस्त सिद्धान्त का अध्ययन करके ऊपर के आठ अधिकारों को लिखा। तत्पश्चात् वीरसेन गुरु की अनुज्ञा प्राप्त करके वे चित्रकूटपुर से आकर वाटग्राम में आनतेन्द्रकृत जिनालय में स्थित हो गये। वहाँ उन्होंने पूर्व छह खण्डों में व्याख्याप्रज्ञप्ति को प्राप्त कर उसमें उपरितम बन्धन आदि अठारह अधिकारों से 'सत्कर्म' नामक छठे खण्ड को करके संक्षिप्त किया। इस प्रकार उन्होंने छह खण्डों की बहत्तर हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत-संस्कृत मिश्रित धवला नाम की टीका लिखी। साथ ही, उन्होंने कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर बीस हजार प्रमाण समीचीन ग्रन्थ रचना से संयुक्त जयधवला टीका भी लिखी। इस बीच वे स्वर्गवासी हो गये। तब जयसेन (जिनसेन) गुरु नामक उनके शिष्य ने उसके शेष भाग को चालीस हजार ग्रन्थ प्रमाण में समाप्त किया। इस प्रकार जयधवला टीका ग्रन्थ-प्रमाण में साठ हजार हुई।[3]

---

१. इ० श्रुतावतार १८०-८१

२. वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में 'एलाचार्य का वत्स' कहकर स्वयं भी गुरु के रूप में एलाचार्य का उल्लेख किया है। धवला पु० ९, पृ० १२६

३. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट (?) च लिलेख ॥१७८॥

(शेष पृष्ठ ३४५ पर देखें)

इस प्रकार इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में षट्खण्डागम पर निर्मित जिन छह टीकाओं का उल्लेख किया है उनमें एक यह धवला टीका ही उपलब्ध है जो प्रकाशित हो चुकी है। यह प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में लिखी गई है।

विचारणीय समस्या

इन्द्रनन्दिश्रुतावतार में निर्दिष्ट 'परिकर्म' आदि षट्खण्डागम की छह टीकाओं में एक यह छठी धवला टीका ही उपलब्ध है, शेष परिकर्म आदि पाँच टीकाओं में से कोई भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। वे कहाँ गयीं व उनका क्या हुआ ?

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत मूल तथा उनकी धवला व जयधवला टीकाएँ दक्षिण (मूडबिद्री) में सुरक्षित रहीं हैं। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, दक्षिण में भट्टारकों के नियन्त्रण में इन ग्रन्थों की सुरक्षा रही है, भले ही ये किन्हीं दूसरों के उपयोग में न आ सके हों। ऐसी स्थिति में उन पाँच टीकाओं का लुप्त हो जाना आश्चर्यजनक है। श्रुतावतार में निर्दिष्ट नामों के अनुसार इन टीकाओं के रचियता दक्षिणात्य आचार्य ही रहे दिखते हैं।

ये टीकाएँ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के समय में उपलब्ध रही या नहीं, यह भी कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, धवला व जयधवला टीकाएँ तथा आचार्य यतिवृषभ विरचित चूर्णिसूत्र अवश्य ही उनके समक्ष रहे हैं और उनका उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना में भरपूर उपयोग भी किया है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

श्रुतावतार के रचियता आचार्य इन्द्रनन्दी के समक्ष भी वे पाँच टीकाएँ रही हैं और उनका अवलोकन करके ही उन्होंने परिचय कराया है, यह भी सन्देहास्पद है। यदि वे उनके समक्ष रही होतीं तो वे, जैसा कि उन्होंने धवला और जयधवला का स्पष्ट रूप में परिचय कराया है, उनका भी विस्तार से परिचय करा सकते थे। पर वैसा नहीं हुआ, उनके परिचय में उन्होंने जिन पद्यों को रचा है उनके अन्तर्गत पदों का विन्यास कुछ असम्बद्ध-सा रहा है। इससे अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सका है। जैसे—

(१) 'परिकर्म' के परिचय के प्रसंग में प्रयुक्त १६१वें पद्य में 'सोऽपि द्वादशसहस्रपरि-

---

आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।
वाटग्रामे चात्राऽऽनतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥१७९॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन् (?)।
उवरितमवन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत-संस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥१८२॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम्।
यातस्ततः पुनस्तच्छिश्यो जय [जिन] सेनगुरुनामा ॥१८३॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्।
जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥१८४॥

णामः। ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा' यह सन्दर्भ असम्बद्ध प्रतीत हो रहा है। हो सकता है कि लिपि के दोष से 'परिमाणः' के स्थान में 'परिणामः' और 'कर्ता' के स्थान में 'कर्त्रा' हो गया हो। वैसी स्थिति में 'परिमाणः' का सम्बन्ध तीसरे चरण में प्रयुक्त 'ग्रन्थ' के साथ तथा 'कर्ता' का सम्बन्ध 'सोऽपि' के साथ बैठाया जा सकता है। फिर भी अन्तिम क्रियापद की अपेक्षा बनी ही रहती है। 'अपि' शब्द भी कुछ अटपटा-सा दिखता है। यद्यपि पादपूर्ति के लिए ऐसे कुछ शब्दों का उपयोग किया भी जाता है, पर ऐसे प्रसंग में उसका प्रयोग किसी अन्य की भी सूचना करता है। इसके अतिरिक्त 'परिकर्म' के साथ टीका या व्याख्या जैसे किसी शब्द का उपयोग नहीं किया गया है, जिसकी अपेक्षा अधिक थी।

(२) वप्पदेव गुरु के द्वारा लिखी जानेवाली पुरातन (?) व्याख्या के प्रसंग में जिन छह (१७१-७६) पद्यों का उपयोग हुआ है उनमें से प्रथम (१७१) पद्य में प्रयुक्त 'अवाप्तवान्' क्रिया-पद के कर्ता के रूप में सम्बन्ध किससे अपेक्षित रहा है? तृतीयान्त 'शुभ-रविनन्दिमुनिभ्याम्' से सूचित शुभनन्दी और रविनन्दी के साथ तो उसका सम्बन्ध जोड़ना असंगत रहता है (१७२)। इसके अतिरिक्त इन्हीं दोनों के लिए आगे (१७३) 'तयोश्च' इस सर्वनाम पद का भी उपयोग किया गया है। यदि 'अवाप्तवान्' के स्थान में 'अवाप्तः' रहा होता तो उपर्युक्त तृतीयान्त पद से उसका सम्बन्ध घटित हो सकता था। आगे का पद्य (१७४) तो पूरा ही असम्बद्ध दिखता है। छह खण्डों में से महाबन्ध को अलग करके व्याख्याप्रज्ञप्ति को छठे खण्ड के रूप में यदि शेष पाँच खण्डों में जोड़ने का अभिप्राय रहा है तो वह 'संक्षिप्य' पद से तो स्पष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त इसके पूर्व में जो 'तत' है वह स्पष्टतया अशुद्ध है। पर उसके स्थान में क्या पाठ रहा है, इसकी कल्पना करना भी अशक्य दिख रहा है।

(३) शामकुण्ड के द्वारा दोनों सिद्धान्तों पर बारह हजार ग्रन्थप्रमाण 'पद्धति' के लिखे जाने की सूचना की गई है (१६३), पर उसमें पटखण्डागम पर वह कितने प्रमाण में लिखी गई और कषायप्राभृत पर कितने प्रमाण में, यह स्पष्ट नहीं है।

इसी प्रकार तुम्बुलूराचार्य द्वारा दोनों सिद्धान्तों पर चौरासी हजार ग्रन्थप्रमाण 'व्याख्या' के लिखे जाने की सूचना है, पर वह उन दोनों में से किस पर कितने प्रमाण में लिखी गई, यह स्पष्ट नहीं है (१६५-६६)।

(४) श्लोक १७८ में वीरसेन गुरु के द्वारा 'निबन्धन' आदि उपरितम आठ अधिकारों के लिखे जाने की सूचना है, और फिर आगे श्लोक १८० में 'बन्धन' आदि उपरितम अठारह अधिकारों के लिखे जाने की सूचना की गई है। इससे क्या यह समझा जाय कि आ० वीरसेन ने निबन्धन आदि आठ अधिकारों को चित्रकूटपुर में रहते हुए लिखा और आगे के दस अधि-कारों को उन्होंने वाटग्राम में आकर लिखा? पर यह अभिप्राय निकालना भी कठिन दिखता है, क्योंकि आगे (१८०) बन्धन आदि उपरितम अठारह अधिकारों का उल्लेख किया गया है, जब-कि उनमें 'बन्धन' नाम का कोई अधिकार रहा ही नहीं है। 'बन्धन' अनुयोगद्वार तो मूल षट्खण्डागम में वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत अन्तिम रहा है।

'व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्' (१८० पू०) का अभिप्राय समझना भी कठिन प्रतीत हो रहा है। क्या वप्पदेव के द्वारा महाबन्ध को अलग करके व छठे खण्ड-स्वरूप व्याख्याप्रज्ञप्ति को जोड़कर बनाये गये पूर्व के छह खण्डों में से, वीरसेनाचार्य द्वारा व्याख्याप्रज्ञप्ति को अलग करके छठे खण्डस्वरूप 'सत्कर्म' को उसमें जोड़ा गया है? पर 'अवाप्य'

से 'अलग करके' ऐसा अर्थ तो नहीं निकलता है। 'अवाप्य' का अर्थ तो 'प्राप्त करके' यही सम्भव है। यदि इस अर्थ को भी ग्रहण कर लिया जाय तो वीरसेनाचार्य ने उस व्याख्याप्रज्ञप्ति को पाकर उसका क्या किया, इसे किसी पद के द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया। उन्होंने उसके आधार से 'सत्कर्म' की रचना की है, यह अभिप्राय भी उन पदों से स्पष्ट नहीं होता।

इसी पद्यांश में उपयुक्त 'तस्मिन्' पद का सम्बन्ध किसके साथ रहा है, यह भी ज्ञातव्य है। क्या उससे व्याख्याप्रज्ञप्ति को अलग कर शेष रहे पाँच खण्डों की विवक्षा रही है व उसमें छठे खण्डस्वरूप 'सत्कर्म' को जोड़ा गया है? यदि यह अभिप्राय रहा है तो उसे स्पष्ट करने के लिए कुछ वैसे ही पदों का उपयोग किया जाना चाहिए था। वहाँ जो यह कहा गया है कि 'सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय' उसका तो यही आशय निकलता है कि 'सत्कर्म' को छठा खण्ड किया गया। आगे जो 'संक्षिप्य' पूर्वकालिक क्रिया का उपयोग हुआ है उसका अर्थ 'संक्षिप्त करके' यही हो सकता है, 'प्रक्षेप करके' नहीं। इस अर्थ को भी यदि ग्रहण करें तो भी वाक्य-पूर्ति के लिए अन्तिम किसी क्रियापद की अपेक्षा बनी ही रहती है, जो वहाँ नहीं है।

आगे १८३वें पद्य में 'जिनसेन' के स्थान में 'जयसेन' नाम का उल्लेख कैसे किया गया है, यह भी विचारणीय है। लिपि दोष से भी वैसे परिवर्तन की सम्भावना नहीं है।

जैसी कि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सम्भावना की है, प्रस्तुत श्रुतावतार के कर्ता वे इन्द्र-नन्दी सम्भव नहीं दिखते, जिनका उल्लेख नेमिचन्द्राचार्य ने अपने गुरु के रूप में किया है। ये उनके बाद के होना चाहिए। श्रुतावतारगत उस प्रसंग को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता कि श्रुतावतार के रचयिता स्वयं उन टीकाओं से परिचित नहीं रहे और सम्भवतः वे टीकाएँ उनके समय में उपलब्ध भी नहीं रही हैं। लगता है, उन्होंने जो भी उनके परिचय में लिखा है वह अपने समय में वर्तमान कुछेक मुनिजनों से सुनकर लिखा है। उन्होंने गुणधर और धरसेन के पूर्वापरक्रम के विषय में अपनी अजानकारी व्यक्त करते हुए वैसा ही कुछ अभिप्राय इस प्रकार से प्रकट किया है—

गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात् ॥१५१॥

वे टीकाएँ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के समय में रहीं या नहीं रहीं, यह अन्वेष-णीय है। हाँ, धवला और जयधवला टीकाएँ उनके समक्ष अवश्य रही हैं व उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना में उनका भरपूर उपयोग भी किया है, यह पूर्व में कहा जा चुका है।

वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में बहुत से मतभेदों को प्रकट किया है व उनमें कुछ को असंगत भी ठहराया है। पर उन्होंने उन मतभेदों के प्रसंग में कहीं किसी आचार्य विशेष या व्याख्या विशेष का उल्लेख नहीं किया। ऐसे प्रसंगों पर उन्होंने केवल 'के वि आइरिया' या 'केसिं च' आदि शब्दों का उपयोग किया है। जैसे—

(१) "एदं च केसिंचि आइरियवक्खाणं पंचिंदियतिरिक्खमिच्छाइट्ठिजोणिणी अवहारकाल-पडिवद्धं ण घडदे। कुदो ? पुरदो वाणवेंतर देवाणं तिण्णि जोयणसद अंगुलवग्गमेत्त अवहारकालो होदि त्ति वक्खाणदंसणादो।"

—पु० ३, पृ० २३१

(२) "के वि आइरिया सलागरासिस्स अद्धे गदे तेउक्काइयरासी उप्पज्जदि त्ति भणंति। के वि तं णेच्छंति।"

—पु० ३, पृ० ३३७

(३) "के वि आइरिया 'देवा णियमेण मूलसरीरं पविसिय मरंति' त्ति भणंति।"

—पु० ४, पृ० १६५

(४) "के वि आइरिया कम्मट्ठिदीदो बादरट्ठिदी परियम्मे उप्पण्णा त्ति कज्जे कारणोवयार-मवलंबिय बादट्ठिदीए चेय कम्मट्ठिदिसण्णमिच्छंति। तन्न घटते......।" —पु० ४, पृ० ३२

(५) एत्थ वे उवदेसा। तं जहा—तिरिक्खेसु वेमास-मुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। × × × तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवस-अंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिपवज्जदि।...एसा उत्तरपडिवत्ती।"

—पु०५, पृ०३२

(६) "के वि आइरिया सत्तरिसागरोवमकोडाकोडिमावलियाए असंखेज्जदिभागेण गुणिदे बादरपुढविकाइयादीणं कम्मट्ठिदी होदि त्ति भणंति।" —पु० ७, पृ० १४५

(७) "जे पुण जोयणलक्खबाहल्लं रज्जुविक्खंभं झल्लरीसमाणं तिरियलोगं त्ति भणंति तेसिं मारणंतिय-उववादखेत्ताणि तिरियलोगादो सादिरेयाणि होंति। ण चेदं घडदे,......।"

—पु० ७, ३७२

(८) "अण्णेसु सुत्तेसु सव्वाइरियसंमदेसु एत्थेव अप्पाबहुगसमत्ती होदि, पुणो उवरिमअप्पा-बहुगपयारस्स पारंभो। एत्थ पुण सुत्तेसु अप्पाबहुगसमत्ती ण होदि।" —पु० ७, पृ० ५३६

(९) "अण्णे के वि आइरिया पंचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरिवासाणि त्ति वड्ढमाणजिणिदाउअं परुवेंति।" —पु० ९, पृ० १२१

(१०) "जो एसो अण्णइरियाण वक्खाणकमो परुविदो सो जुत्तीए ण घडदे।"

—पु० ९, पृ० ३६

यहाँ मतभेदविषयक ये कुछ थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं। ऐसे मतभेद धवला में बहुत पाये जाते हैं। उनके विषय में विशेष विचार आगे 'वीरसेनाचार्य की व्याख्यान पद्धति' के प्रसंग में किया गया है।

आचार्य वीरसेन और उनकी धवला टीका

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विस्तृत धवला टीका के रचयिता वीरसेनाचार्य हैं। दुर्भाग्य की बात है कि उनके जीवनवृत्त के विषय में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। टीका के अन्त में स्वयं वीरसेनाचार्य के द्वारा जो प्रशस्ति लिखी गयी है वह बहुत अशुद्ध है। फिर भी उससे उनके विषय में जो थोड़ी-सी जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

गुरु आदि का उल्लेख तथा रचनाकाल

इस प्रशस्ति में उन्होंने सर्वप्रथम अपने विद्यागुरु एलाचार्य का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि जिनके पादप्रसाद से मैंने इस सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया है वे एलाचार्य मुझ वीरसेन पर प्रसन्न हों।[1]

---

१. जस्स से [प] साएण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुदं।
महु सो एलाइरिओ पसियउ वरवीरसेणस्स ॥प्रशस्ति गा० १॥

इससे स्पष्ट है कि वीरसेनाचार्य के विद्यागुरु का नाम एलाचार्य रहा है।

आगे उन्होंने अपने को आर्य आर्यनन्दी का शिष्य और चन्द्रसेन का नातू (प्रशिष्य) बतलाते हुए अपने कुल का नाम 'पंचस्तूपान्वय' प्रकट किया है।[1]

इससे ज्ञात होता है कि उनके गुरु (सम्भवतः दीक्षागुरु) आर्यनन्दी और दादागुरु चन्द्रसेन रहे हैं। उनका कुल पंचस्तूपान्वय रहा है।

तत्पश्चात् इस प्रशस्ति में उन्होंने अपने को (वीरसेन को) इस टीका का लेखक बतलाते हुए सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण (न्याय) शास्त्र में निपुण घोषित किया है।[2]

आगे की गाथाओं में, जो बहुत कुछ अशुद्ध हैं, ये पद स्पष्ट हैं—अट्टत्तीसम्हि, विक्कम-रायम्हि, सुतेरसीए, धवलपक्खे, जगतुंगदेवरज्जे, कुंभ, सूर, तुला, गुए, सुक्क, कत्तियमासे और वोद्दणरायणरिंद।

इनमें अट्टत्तीस (अड़तीस) के साथ 'शती' का उल्लेख नहीं दिखता। कार्तिक मास, धवल (शुक्ल) पक्ष और त्रयोदशी इनके बोधक शब्द स्पष्ट हैं। कुंभ, सूर व तुला आदि शब्द ज्योतिष से सम्बन्धित हैं।

जैसा कि षट्खण्डागम की पु० १ की प्रस्तावना में विस्तार से विचार किया गया है,[3] तदनुसार 'शती' के लिए 'शक संवत् सात सौ' की कल्पना की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरसेनाचार्य के द्वारा वह धवला टीका शक संवत् सात सौ अड़तीस में कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन समाप्त की गयी है।

टीका का नाम 'धवला' रहा है व उसे गुरु के प्रसाद से सिद्धान्त का मथन करके वोद्दणराय के शासनकाल में रचकर समाप्त किया गया है, यह भी प्रशस्ति से स्पष्ट है।[4]

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि वीरसेनाचार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी अधूरी जय-धवला' टीका की पूर्ति उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने की है। यह निश्चित है कि वह जयधवला टीका आचार्य जिनसेन द्वारा शक संवत् ७५९ में फाल्गुण शुक्ला दशमी को पूर्ण की गयी है।[5]

यह भी पूर्व में कहा जा चुका है कि जयधवला का ग्रन्थप्रमाण साठ हजार श्लोक रहा है। उसमें बीस हजार श्लोक प्रमाण वीरसेनाचार्य के द्वारा और चालीस हजार श्लोक प्रमाण जिनसेनाचार्य के द्वारा लिखी गयी है। इस सबके लिखने में २०-२२ वर्ष का समय लग सकता है। इससे जैसा कि षटखण्डागम पु० १ की प्रस्तावना (पृ० ४४) में निष्कर्ष निकाला गया है,

---

१. अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुएण पंचत्थुहण्णयंमाणुणा मुणिणा ॥४॥

२. सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥

३. पु० १, प्रस्तावना पृ० ३५-४५

४. कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिया धवला ॥८ उत्तरार्ध॥
वोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंथ मत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता (?) सा ॥९॥

५. जयधवला प्रशस्ति, श्लोक ६-९

जयधवला से पूर्व लिखी गयी धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त हो सकती है।

वीरसेन का व्यक्तित्व

बहुश्रुतशालिता—जैसा कि उपर्युक्त धवला की प्रशस्ति से स्पष्ट है, आचार्य वीरसेन सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और न्याय आदि अनेक विषयों के ख्यातिप्राप्त विद्वान् रहे हैं। इसका प्रमाण उनकी यह धवला टीका ही है। इसमें यथाप्रसंग इन सभी विषयों का उपयोग हुआ है, इसे आगे स्पष्ट किया गया है।

आचार्य जिनसेन ने भट्टारक वीरसेन की स्तुति करते हुए जयधवला की प्रशस्ति में उन्हें साक्षात् केवली जैसा कहा है। स्वयं को उनका शिष्य घोषित करते हुए जिनसेन ने कहा है कि समस्त विषयों में संचार करनेवाली उनकी भारती (वाणी) भारती—भरत चक्रवर्ती की आज्ञा—के समान षट्खण्ड में—भरतक्षेत्रगत छह खण्डों के समान छह खण्ड स्वरूप षट्खण्डागम के विषय में—निर्बाध गति से चलती रही। उनकी सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर बुद्धिमान् सर्वज्ञ के सद्भाव में निःशंक हो गये थे। विद्वज्जन उनके प्रकाशमान ज्ञान के प्रसार को देखकर उन्हें श्रुतकेवली प्रज्ञाश्रमण[1] कहते थे। वे प्राचीन सूत्रपुस्तकों का गहन अध्ययन करके गुरुभाव को प्राप्त हुए थे, अतएव अन्य पुस्तकपाठी उनके समक्ष शिष्य जैसे प्रतीत होते थे।[2]

महापुराण के प्रारम्भ में भी उनका स्मरण करते हुए आचार्य जिनसेन ने कहा है कि 'जिन वीरसेन भट्टारक में लोकज्ञता और कवित्व दोनों अवस्थित रहे हैं तथा जो बृहस्पति के समान वाग्मिता को प्राप्त थे वे पुण्यात्मा मेरे गुरु वीरसेन मुनि हमें पवित्र करें। सिद्धान्तोपनिबन्धों के विधाता उन गुरु के चरण-कमल मेरे मन रूपी सरोवर में सदा स्थित रहें।' इस प्रकार उनकी प्रशंसा करते हुए अन्त में जिनसेनाचार्य ने उनकी धवला भारती—षट्खण्डागम पर रची गयी धवला नामक टीका—को और समस्त लोक को धवलित करने वाली निर्मल कीर्ति को नमस्कार किया है।[3]

इस प्रकार उनके शिष्य जिनसेनाचार्य द्वारा जो उनकी प्रशंसा की गई है वह कोरी स्तुति ही नहीं रही है, यथार्थता भी उसमें निश्चित रही है। यहाँ हम उनकी उस धवला टीका के आश्रय से ही उनके इन गुणों पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

सिद्धान्तपारिगामिता—उन्होंने अपनी इस धवला टीका में अनेक सैद्धान्तिक गूढ़ विषयों का विश्लेषण कर उन्हें विशद व विकसित किया है। यह उनकी सिद्धान्तविषयक पारिगामिता का प्रमाण है। इसकी पुष्टि में यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) आ० वीरसेन ने सत्प्ररूपणासूत्रों की व्याख्या को समाप्त करके उनके विवरणस्वरूप १ गुणस्थान, २ जीवसमास, ३ पर्याप्ति, ४ प्राण, ५ संज्ञा, ६-१९ गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाएँ और २० उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं का विस्तार से वर्णन किया है। उसके विस्तार को देखकर उसे एक स्वतन्त्र जिल्द (पु० २) में प्रकाशित किया गया है।

(२) जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत सम्यक्त्वोत्पत्ति नाम की ८वीं चूलिका में सूत्र १४

१. प्रज्ञाश्रमण अथवा प्रश्रवण के लिए धवला पु० ९ में पृ० ८१-८४ द्रष्टव्य हैं।

२. जयधवला की प्रशस्ति, श्लोक १९-२४

३. महापुराण १, ५५-५८

को देशामर्शक बतलाकर धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि वह एक देश का प्ररूपक होकर अपने में गर्भित समस्त अर्थ का सूचक है। इतना स्पष्ट करते हुए आगे वहाँ धवला में संयमा-संयम व संयम की प्राप्ति आदि के विधान की विस्तार से प्ररूपणा की गई है।[1]

इसी चूलिका में आगे वहाँ सूत्र १५-१६ को भी देशामर्शक प्रकट करके उनसे सूचित अर्थ की प्ररूपणा धवला में बहुत विस्तार से की गई है। अन्त में यह स्पष्ट किया गया है कि इस प्रकार दो सूत्रों से सूचित अर्थ की प्ररूपणा करने पर सम्पूर्ण चारित्र की प्राप्ति का विधान प्ररूपित होता है। इस प्रकार से धवलाकार ने इस आठवीं चूलिका को महती चूलिका कहा है।[2]

यहाँ ये दो उदाहरण दिये गये हैं। वैसे तो धवला में बीसों सूत्रों को देशामर्शक बतलाकर उनमें गर्भित अर्थ की विस्तार से व्याख्या की गई है। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे 'धवला-गत विषय का परिचय' और 'ग्रन्थोल्लेख' आदि के प्रसंग में किया जायगा। वस्तुतः आचार्य वीरसेन के सैद्धान्तिक ज्ञान के महत्त्व को शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता है।

ज्योतिर्विरव—आ० वीरसेन का ज्योतिषविषयक ज्ञान कितना बढ़ा चढ़ा रहा है, यह उनके द्वारा धवला की प्रशस्ति में निर्दिष्ट सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों के योग की सूचना से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कालानुगम के प्रसंग में जो दिन व रात्रिविषयक १५-१६ मुहूर्तो का उल्लेख किया है तथा नन्दा-भद्रा आदि तिथि विशेषों का भी निर्देश किया है वह भी उनके ज्यो-तिष शास्त्रविषयक विशिष्ट ज्ञान का बोधक है।[3]

आगे 'कृति' अनुयोगद्वार में आगमद्रव्य कृति के प्रसंग में वाचना के इन चार भेदों का निर्देश किया गया है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। अनन्तर उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो तत्त्व का व्याख्यान करते हैं अथवा उसे सुनते हैं उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक ही तत्त्व का व्याख्यान अथवा श्रवण करना चाहिए। इन शुद्धियों के स्वरूप को दिखलाते हुए कालशुद्धि के प्रसंग में कब स्वाध्याय करना चाहिए और कब नहीं करना चाहिए, इसका धवला में विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रसंग में आगे 'अत्रोपयोगिश्लोकाः' ऐसी सूचना करते हुए लगभग २५ श्लोकों को कहीं से उद्धृत किया गया है। उक्त शुद्धि के बिना अध्ययन-अध्यापन से क्या हानि होती है, इसे भी वहाँ बताया गया है।[4]

१. पु० ६, पृ० २७०-३४२
२. वही, ३४३-४१८
३. धवला पु० ४, पृ० ३१८-१९; इस प्रसंग में वहाँ धवला में जिन चार श्लोकों को किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है वे उसी रूप में वर्तमान लोकविभाग (६, १९७-२००) में उपलब्ध होते हैं। पर वह धवला से पश्चात्कालीन है, यह निश्चित है।

मलयगिरि सूरि ने ज्योतिष करण्डक की टीका (गा० ५२-५३) में 'उक्तं च जम्बू-द्वीपप्रज्ञप्तौ' इस सूचना के साथ तीन गाथाओं को उद्धृत करते हुए ३० मुहूर्तों का उल्लेख किया है, जिनमें कुछ नाम समान और कुछ असमान हैं।

इसी प्रकार मलयगिरि सूरि ने उक्त ज्यो०क० की टीका (१०३-४) में 'तथा चोक्तं चन्द्रप्रज्ञप्तौ' ऐसी सूचना करते हुए नन्दा-भद्रादि तिथियों का उल्लेख किया है। साथ ही वहाँ उग्रवती भोगवती आदि रात्रितिथियों का भी उल्लेख है।
४. धवला पु० ९, २५२-५९

यह सब वीरसेनाचार्य के ज्योतिर्विस्त्व का परिचायक है।

गणितज्ञता—आ० वीरसेन जिस प्रकार सिद्धान्त के पारगामी रहे हैं उसी प्रकार वे माने हुए गणितज्ञ भी रहे हैं। यह भी उनकी धवला टीका से ही प्रमाणित होता है। उदाहरण के रूप में यहाँ 'कृति' अनुयोगद्वार को लिया जा सकता है। वहाँ कृति के नाम कृति आदि सात भेदों के अन्तर्गत चौथी गणना कृति के प्रसंग में सूत्र ६६ को देशमर्शक बतलाकर धवला में धन, ऋण और धन-ऋण गणित सबको प्ररूपणीय कहा गया है। तदनुसार आगे उन तीनों के स्वरूप को प्रकट करते हुए संकलना, वर्ग, वर्गावर्ग, घन, घनाघन, कलासवर्ण, त्रैराशिक, पंच-राशिक, व्युत्कलना, भागहार, क्षयक और कुट्टाकार आदि का उल्लेख करते हुए उन तीनों को यहाँ वर्णनीय कहा गया है।

प्रकारान्तर से यहाँ 'अथवा' कहकर यह निर्देश किया गया है कि 'कृति' यह उपलक्षण है, अत: यहाँ गणना, संख्यात और कृति का लक्षण भी कहना चाहिए। तदनुसार एक को आदि लेकर उत्कृष्ट अनन्त तक गणना, दो को आदि लेकर उत्कृष्ट अनन्त तक संख्येय और तीन को आदि लेकर उत्कृष्ट अनन्त तक कृति कहा गया है। आगे 'वुत्तं च' कहकर प्रमाण के रूप में यह गाथा उद्धृत की है—

एयादीया गणणा दोआदीया वि जाव संखे त्ति।
तीयादीया णियमा कदि त्ति सण्णा दु बोद्धव्वा ॥

तत्पश्चात् 'यहाँ कृति, नोकृति और अवक्तव्य-कृति इनके उदाहरणों के लिए यह प्ररूपणा की जाती है' ऐसी प्रतिज्ञा करके उसकी प्ररूपणा में ओघानुगम, प्रथमानुगम, चरमानुगम और संचयानुगम इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है। उनमें ओघानुगम के मूलओघानु-गम और आदेशओघानुगम इन दो भेदों का निर्देश और उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। पश्चात् प्रसंगप्राप्त चौथे संचयानुगम के विषय में सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए यथाक्रम से उनके आश्रय से संचयानुगम की विस्तार-पूर्वक व्याख्या की है।[1]

इसके पूर्व जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में जो दूसरा द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार है वह पूरा ही गणित से सम्बद्ध है। उसके अन्तर्गत सूत्रों की व्याख्या दुरूह गणित प्रक्रिया के आश्रय से ही की गई है। उदाहरणस्वरूप, वहाँ मिथ्यादृष्टि जीवराशि की प्ररूपणा द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा विस्तार से की गई है। भाव की अपेक्षा उसकी प्ररूपणा करते हुए धवलाकार कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि राशि के प्रमाण के विषय में श्रोताओं को निश्चय उत्पन्न कराने के लिए हम मिथ्यादृष्टिराशि के प्रमाण की प्ररूपणा वर्गस्थान में खण्डित भाजित, विरलित, अवहित, प्रमाण, कारण और निरुक्ति इन विकल्पों के आधार से करते हैं।

इस पर वहाँ यह शंका की गई है कि सूत्र के विना यह प्ररूपणा यहाँ कैसे की जा रही है। समाधान में उन्होंने कहा है कि वह सूत्र से सूचित है।[2]

आगे कृतप्रतिज्ञा के अनुसार वीरसेनाचार्य ने धवला में यथाक्रम से उन खण्डित-भाजित

१. धवला पु० ९, पृ० २७६-३२१
२. धवला पु० ३, पृ० ४०

आदि विकल्पों के आश्रय से मिथ्यादृष्टि राशि के प्रमाण को दिखाया है।[1]

इससे सिद्ध है कि आ० वीरसेन गणित के अधिकारी विद्वान् रहे हैं, क्योंकि गणितविषयक गम्भीर ज्ञान के बिना उक्त प्रकार से विशद प्ररूपणा करना सम्भव नहीं है। उन्होंने गणित से सम्बद्ध अनेक विषयों को स्पष्ट करते हुए प्रसंगानुसार जिन विविध करणसूत्रों व गाथाओं आदि को उद्धृत किया है उनकी अनुक्रमणिका यहाँ दी जाती है—

		धवला	
क्रमांक	अवतरणांश	पु०	पृष्ठ
१.	अच्छेदनस्य राशेः	११	१२४
२.	अर्द्धे शून्यं रूपेषु गुणम्	,,	३६०
३.	अवणयणरासिगुणिदो	३	४८
४.	अवहारवड्ढिरूवाणव-	,,	४६
५.	अवहारविसेसेण य	,,	,,
६.	अवहारेणोवट्टिद	१०	८४
७.	आदिं त्रिगुणं मूलाद-	९	८८
८.	आवलियाए वग्गो	३	३५५
९.	इच्छं विरलिय दुगुणिय	१४	१९६
१०.	इच्छिदणिसेयभत्तो	६	१७३
११.	इट्ठसलागाखुत्तो	४	२०१
१२.	उत्तरगुणिते तु धने	९	८७
१३.	उत्तरगुणिदं इच्छं	१४	१९७
१४.	उत्तरगुणिदं गच्छं	१०	४७५
१५.	उत्तरदलहयगच्छे	३	९४
१६.	एकोत्तरपदवृद्धो	५	१९३
१७.	गच्छकदी मूलजुदा	१३	२५४,२५८
१८.	जगसेढीए वग्गो	३	३५६
१९.	जत्थिच्छसि सेसाणं	१०	४५८
२०.	जे अहिया अवहारे	३	४९
२१.	जे ऊणा अवहारे	,,	,,
२२.	णिक्खित्तु विदियमेत्तं	७	४५
२३.	दो-दो रूवक्खेवं	१०	४६०
२४.	धणमट्ठुत्तरगुणिदे	,,	१५०

१. धवला पु० ३, पृ० ४०-६६ (प्रकृत 'द्रव्यप्रमाणानुगम' के गणित भाग को आ० वीरसेन द्वारा कितना स्पष्ट किया गया है व उस गणित का कितना महत्त्व रहा है, इसके लिए पु० ४ की प्रस्तावना पृ० १-२४ में 'मैथमेटिक्स ऑफ धवला' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है। यह लेख लखनऊ विश्वविद्यालय के गणिताध्यापक डॉ० अवधेशनारायणसिंह के द्वारा लिखा गया है। उसका हिन्दी अनुवाद भी पु० ५ की प्रस्तावना में पृ० १-२८ पर प्रकाशित है।

क्रमांक	अवतरणांश	धवला पु०	पृष्ठ
२५.	पक्खेवरासिगुणिदो	३	४६
२६.	पढमं पयडिपमाणं	७	४५
२७.	पढमिच्छसलागगुणा	१०	४५७
२८.	प्रक्षेपसंक्षेपेण	६	१५८
		१०	४८५
२९.	फालिसलागब्भहिया-	१०	९०
३०.	बाहिरसूईवग्गो	४	१९५
३१.	बिदियादिवग्गणा पुण	१०	४५९
३२.	मिच्छत्ते अप्पगुणो	६	८८
३३.	मुहतलसमास अद्धं	४	२०,५१
३४.	मुह-भूमिविसेसम्हि दु	४	५७
३५.	मुह-भूमीण विसेसो	७	११७
३६.	मूलं मज्झेण गुणं	४	२१,५१
३७.	रासिविसेसेणवहिद	३	३४२
३८.	रूपेषु गुणमर्थेषु वर्गितं	४	२००.
३९.	रूपोनमादिसंगुण	४	१५९
		११	३६०
४०.	रूवूणिच्छागुणिदं	१०	९१
४१.	लद्धविसेसच्छिण्णं	३	४६
४२.	लद्धंतरसंगुणिदे	३	४७
४३.	विक्खंभवग्गदसगुण	४	२०९
४४.	विरलिदइच्छं विगुणिय	१०	४७५
४५.	विसमगुणादेगूणं	१०	४६२
४६.	व्यासं तावत् कृत्वा	४	३५
४७.	व्यासं षोडशगुणितं	४	४२,२२१
४८.	व्यासार्धकृतित्रिकं	४	१६९
४९.	सगमाणेण विहत्ते	७	४६
५०.	संकलनरासिमिच्छे	१३	२५६
५१.	संजोगावरणट्ठं	१३	२४८
५२.	संठाविदूण रूवं	७	४६
५३.	सोलस सोलसहि गुणे	४	१९९
५४.	हारान्तरहृतहारा-	३	४७

व्याकरणपटुता—आ० वीरसेन की शब्दशास्त्र में भी अबाध गति रही है। उन्होंने अपनी इस धवला टीका में यथाप्रसंग अनेक शब्दों के निरुक्तार्थ को प्रकट करते हुए आवश्यकतानुसार उन्हें व्याकरणसूत्रों के आश्रय से सिद्ध भी किया है। यथा—

(१) सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में आचार्य पुष्पदन्त द्वारा किये गये पंच-परमेष्ठि-नमस्कारात्मक मंगल के प्रसंग में धवलाकार ने धातु, निक्षेप, नय, निरुक्ति और अनुयोगद्वार के आश्रय से मंगल के निरूपण की प्रतिज्ञा की है। इनमें धातु क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि सत्तार्थक 'भू' धातु को आदि लेकर जो समस्त अर्थवस्तुओं के वाचक शब्दों की मूल कारणभूत हैं उन्हें धातु कहा जाता है। प्रकृत में 'मंगल' शब्द को 'मगि' धातु से निष्पन्न कहा गया है। यहाँ यह शंका की गई है कि धातु की प्ररूपणा यहाँ किस लिए की जा रही है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि जो शिष्य धातुविषयक ज्ञान से रहित होता है उसे उसके विना अर्थ का वोध होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार शिष्य को शब्दार्थ का वोध हो, इसके लिए धातु की प्ररूपणा की जा रही है। आगे अपने अभिप्राय की पुष्टि में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि पदों की सिद्धि शब्दशास्त्र से हुआ करती है[1]—

शब्दात् पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥[2]

अभिप्राय यह है शब्द (व्याकरण) से पदों की सिद्धि होती है, पदों की सिद्धि से अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ से वस्तु-स्वरूप का वोध होता है, और वस्तु-स्वरूप का वोध होने से उत्कृष्ट कल्याण होता है। इस प्रकार इस सवका मूल कारण धातु-ज्ञान है जो व्याकरण सापेक्ष है।

आगे धवला में मंगल (पु०१, पृ०३२-३४), अरिहन्त (पृ०४२-४४), आचार्य (पृ०४८) साधु (पृ०५१), जीवसमास (पृ०१३१) और मार्गणार्थता (पृ०१३१) आदि शब्दों की निरुक्ति की गयी है।

(२) जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वारों में दूसरा 'द्रव्यप्रमाणानुगम' अनुयोगद्वार है। उसमें उसके शब्दार्थ को स्पष्ट करते हुए धवला में प्रथमतः 'द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रवत्, पर्यायान् इति द्रव्यम्। अथवा द्रूयते, द्रोष्यते, अद्रावि पर्याय इति द्रव्यम्' इस प्रकार 'द्रव्य' शब्द की निरुक्ति की गई है। तत्पश्चात् द्रव्यभेदों को प्रकट करते हुए उनमें जीवद्रव्य को प्रसंगप्राप्त वतलाकर 'प्रमाण' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है—प्रमीयन्ते अनेन अर्थाः इति प्रमाणम्। अनन्तर 'द्रव्य' और 'प्रमाण' इन दोनों शब्दों मे 'द्रव्यस्य प्रमाणं द्रव्यप्रमाणम्' इस प्रकार से 'तत्पुरुप' समास किया गया है।

इस पर यहाँ यह शंका उपस्थित हुई है कि 'देवदत्तस्य कम्वलः' ऐसा समास करने पर जिस प्रकार देवदत्त से कम्वल भिन्न रहता है उसी प्रकार 'द्रव्यस्य प्रमाणम्' ऐसा यहाँ तत्पुरुष समास करने पर द्रव्य से प्रमाण के भिन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इस शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि ऐसा नही है, वह तत्पुरुष समास अभेद में भी देखा जाता है। जैसे—'उत्पलगन्धः' इत्यादि में। यहाँ उत्पल से गन्ध के भिन्न न होने पर भी 'उत्पलस्य गन्धः उत्पलगन्धः' इस प्रकार से तत्पुरुप समास हुआ है। प्रकारान्तर से

---

१. धवला पु० १; पृ० ९-१०
२. यह श्लोक 'शाकटायनन्यास, में उपलब्ध होता है। विशेष इतना है कि वहाँ 'शब्दात् पद-प्रसिद्धिः' के स्थान में 'व्याकरणात् पदसिद्धिः' पाठ भेद है।

यहाँ यह भी कह दिया है कि अथवा प्रमाण द्रव्य से किसी स्वरूप से भिन्न भी है, क्योंकि इसके बिना उनमें विशेषण-विशेष्यभाव घटित नहीं होता है। इसलिए भी उनमें तत्पुरुष समास सम्भव है।

विकल्परूप में उपर्युक्त शंका के समाधान में 'अथवा' कहकर यह भी कहा गया है कि 'दव्वमेव पमाणं दव्वपमाणं' इस प्रकार से उनमें कर्मधारय समास करना चाहिए। इस प्रकार के समास में भी उन द्रव्य और प्रमाण में सर्वथा अभेद नहीं समझना चाहिए, क्योंकि एक अर्थ में (अभेद में) समास का होना सम्भव नहीं है।

आगे पुनः 'अथवा' कहकर वहाँ विकल्प रूप में 'दव्वं च पमाणं दव्वपमाणं' इस द्वन्द्व समास को भी विधेय कहा गया है। इस प्रकार शंका उत्पन्न हुई है कि द्वन्द्व समास में अवयवों की प्रधानता होती है। तदनुसार यहाँ द्वन्द्व समास के करने पर द्रव्य और प्रमाण इन दोनों की प्ररूपणा का प्रसंग प्राप्त होता है। पर सूत्र में उन दोनों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा नहीं की गई है। यदि उस द्वन्द्व समास में समुदाय की प्रधानता को भी स्वीकार किया जाय तो भी अवयवों को छोड़कर समुदाय कुछ शेष रहता नहीं है, इस प्रकार से भी अवयवों की ही प्ररूपणा का प्रसंग प्राप्त है। किन्तु सूत्र में अवयवों की अथवा समुदाय की प्ररूपणा की नहीं गई है इसलिए उनमें द्वन्द्व समास करना उचित नहीं है।

इस शंका में शंकाकार द्वारा उद्भावित दोष का निराकरण करते हुए आगे धवला में स्पष्ट किया गया है कि सूत्र में द्रव्य के प्रमाण की प्ररूपणा करने पर द्रव्य की भी प्ररूपणा हो हो जाती है, क्योंकि द्रव्य को छोड़कर प्रमाण कुछ है ही नहीं। कारण यह कि त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों का जो परस्पर में एक-दूसरे को न छोड़कर अभेद रूप से अस्तित्व है उसी का नाम द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य और उसकी प्रमाणभूत संख्यारूप पर्याय में पर्याय-पर्यायी रूप में कथंचित् भेद के सम्भव होने पर भी सूत्र में चूंकि द्रव्य के गुणस्वरूप प्रमाण की प्ररूपणा की गई है, अतः उसकी प्ररूपणा से द्रव्य की प्ररूपणा स्वयंसिद्ध है। कारण यह कि गुण की प्ररूपणा से ही द्रव्य की प्ररूपणा सम्भव है, क्योंकि उसके बिना द्रव्य की प्ररूपणा का दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

इस प्रकार उन दोनों में उपर्युक्त रीति से द्वन्द्व समास करने पर भी कुछ विरोध नहीं रहता।

इसी प्रसंग में आगे 'वे सब समास कितने हैं' यह पूछने पर एक श्लोक को उद्धृत करते हुए उसके आश्रय से बहुव्रीहि, अव्ययीभाव, द्वन्द्व, तत्पुरुष, द्विगु और कर्मधारय इन छह समासों का उल्लेख किया गया है। अनन्तर दूसरे एक श्लोक को उद्धृत करते हुए उसके द्वारा इन छह समासों के स्वरूप का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है।[1]

(३) धवला में आगे यथाप्रसंग इन समासों का उपयोग भी किया गया है। उदाहरणस्वरूप भावानुगम में यह सूत्र आया है—

"लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय-णीललेस्सिय-काउलेस्सिएसु चदुट्ठाणी ओघं।"

—सूत्र १,७,५६

१. इस सब के लिए धवला पु० ३, पृ० ४-७ द्रष्टव्य हैं। (एवम्भूतनय की दृष्टि में समास और वाक्य सम्भव नहीं हैं, यह प्रसंग भी धवला पु० १, पृ० ६०-६१ में द्रष्टव्य है)।

इसमें प्रयुक्त 'चदुट्ठाणी' पद में 'चदुण्हं ठाणाणं समाहारो चदुट्ठाणी' इस प्रकार से धवला में 'द्विगु' समास का उल्लेख करते हुए सूत्रोक्त कृष्णादि तीन लेश्याओं में से प्रत्येक में ओघ के समान पृथक्-पृथक् चार गुणस्थानों का सद्भाव प्रकट किया गया है।[1]

(४) विभक्तिलोप—सूत्र १,१,४ (पु० १) में 'गइ' और 'लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि' इन पदों में कोई विभक्ति नहीं है। इस सम्बन्ध में धवला में यह स्पष्ट किया गया है कि 'आईमज्झंतवण्ण-सरलोवो[2]' सूत्र के अनुसार यहाँ इन पदों में विभक्ति का लोप हो गया है। आगे 'अहवा' कहकर विकल्प के रूप में यह भी कह गया है कि 'लेस्सा-भविय-सम्मत्त-सण्णि-आहारए' यह एक पद है, इसीलिए उसके अवयव पदों में विभक्तियाँ नहीं सुनी जाती हैं।[3]

(५) वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में जो विस्तार से मंगल किया गया है उसमें यह एक सूत्र है—णमो आमोसहिपत्ताणं (२,१,३०)। इसकी व्याख्या करते हुए धवला में 'आमर्षः औषधत्वं प्राप्तो येषां ते आमर्षौषधप्राप्ताः' इस प्रकार से बहुव्रीहि समास किया है। इस प्रसंग में वहाँ यह शंका उठायी गई है कि सूत्र में सकार क्यों नहीं सुना जाता। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'आई-मज्झंतवण्ण-सरलोवो' इस सूत्र के अनुसार यहाँ सकार का लोप हो गया है। पश्चात् वहीं दूसरी शंका यह की गई कि 'ओसहि' में इकार कहाँ से आ गया। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'एए छच्च समाणा'[4] इस सूत्र के आधार से यहाँ हकारवर्ती अकार के स्थान में इकार हो गया है।[5]

(६) वेदना अधिकार के अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वारों में जो ८वाँ 'वेदनाप्रत्ययविधान' अनुयोगद्वार है उसमें नैगमादि नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणादि वेदनाओं के प्रत्ययों का विचार किया गया है। उस प्रसंग में शब्दनय की अपेक्षा ज्ञानावरणवेदना के प्रत्यय का विचार करते हुए उसे अवक्तव्य कहा गया है। उसका कारण शब्दनय की अपेक्षा समास का अभाव कहा है। समास के अभाव को सिद्ध करते हुए धवला में पदों का समास 'क्या अर्थगत है, क्या पदगत है अथवा उभयगत है' इन तीन विकल्पों को उठाकर क्रमशः उन तीनों में ही समास के अभाव को सिद्ध किया गया है।[6]

(७) वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'स्पर्श' अनुयोगद्वार में सर्वस्पर्श का प्ररूपक यह एक सूत्र आया है—

"जं दव्वं सव्वं सव्वेण फुसदि, जहा परमाणुदव्वमिदि, सो सव्वो सव्वफासो णाम।"

—सूत्र ५,३,२२

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार परमाणु द्रव्य सर्वात्मस्वरूप से अन्य परमाणु का स्पर्श करता है उसी प्रकार जो द्रव्य सर्वात्मस्वरूप से अन्य द्रव्य का स्पर्श करता है उसका नाम

---

१. धवला पु० ५, पृ० २२६
२. कीरइ पयाण काण वि आई-मज्झंतवण्ण-सरलोवो।—जयधवला १,१३३
३. धवला पु० १, पृ० १३३
४. एए छच्च समाण दोण्णिय संझक्खरा अट्ठ॥
अण्णोण्णस्स परोप्परमुवेंति सव्वे समावेसं॥—धवला पु० १२, पृ० २८६
५. धवला पु० ६, पृ० ६५-६६
६. धवला पु० १२, पृ० २९०-९१

सर्वस्पर्श है।

यहाँ शंकाकार ने एक परमाणु के दूसरे परमाणु में प्रवेश को एकदेश और सर्वात्मस्वरूप से भी असम्भव सिद्ध करते हुए सूत्रोक्त परमाणु के दृष्टान्त को असंगत ठहराया है। उसके द्वारा उद्भावित इस असंगति के प्रसंग का निराकरण करते हुए धवला में शंकाकार से यह पूछा गया कि परमाणु सावयव है या निरवयव। इन दो विकल्पों में परमाणु के सावयव होने का निषेध करते हुए यह कहा गया है कि अवयवी ही अवयव नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य पदार्थ के बिना बहुव्रीहि समास सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सम्बन्ध के बिना उस सम्बन्ध का कारणभूत 'इन्' प्रत्यय भी घटित नहीं होता है।[1]

(८) यहीं पर 'कर्म' अनुयोगद्वार में 'प्रयोगकर्म' के प्रसंग में संसारस्थ जीवों और सयोग-केवलियों को प्रयोगकर्मस्वरूप से ग्रहण किया गया है। इस स्थिति में यहाँ यह शंका उठायी गई है कि जीवों की 'प्रयोगकर्म' यह संज्ञा कैसे हो सकती है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि 'पओअं करेदि त्ति पओअकम्मं' इस प्रकार कर्ता कारक में 'प्रयोगकर्म' शब्द सिद्ध हुआ है। इसलिए उसके जीवों की संज्ञा होने में कुछ विरोध नहीं है।

इसी प्रसंग में सूत्र (५,४,१८) में उक्त बहुत से संसारी और केवलियों के ग्रहणार्थ 'तं' इस एकवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है। इसके विषय में भी शंका की गई है कि बहुत से संसारस्थ जीवों के लिए सूत्र में 'तं' इस प्रकार से एकवचन का निर्देश कैसे किया गया। उत्तर में कहा गया है कि 'प्रयोगकर्म' इस नामवाले जीवों की जाति के आश्रित एकता को देखकर एकवचन का निर्देश घटित होता है।[2]

(९) यहीं पर आगे 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में यह एक सूत्र आया है—

"तस्सेव सुदणाणावरणीयस्स अण्णं परूवणं कस्सामो।" —५,५,४९

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि आगे प्ररूपणा तो श्रुतज्ञान के समानार्थक शब्दों की की जा रही है और सूत्र में प्रतिज्ञा यह की गई है कि आगे उसी श्रुतज्ञानावरणीय की अन्य प्ररूपणा की जा रही है, इसे कैसे संगत कहा जाय। इस दोष का निराकरण करते हुए धवला में तो यह कहा गया है कि आवरणीय के स्वरूप की प्ररूपणा चूँकि उसके द्वारा आव्रियमाण ज्ञान के स्वरूप की अविनाभाविनी है, इसलिए उक्त प्रकार से प्रतिज्ञा करके भी श्रुतज्ञान के समानार्थक शब्दों की प्ररूपणा करने में कुछ दोष नहीं है।

तत्पश्चात् प्रकारान्तर से भी उस शंका का समाधान करते हुए यह कहा गया है कि अथवा कर्मकारक में 'आवरणीय' शब्द के सिद्ध होने से भी सूत्र में वैसी प्रतिज्ञा करने पर कुछ विरोध नहीं है।[3]

ये जो कुछ ऊपर थोड़े-से उदाहरण दिए गये हैं उनसे सिद्ध है कि आचार्य वीरसेन एक प्रतिष्ठित वैयाकरण भी रहे हैं। कारण यह कि व्याकरणविषयक गम्भीर ज्ञान के बिना शब्दों की सिद्धि और समास आदि के विषय में उपर्युक्त प्रकार से ऊहापोह करना सम्भव नहीं है।

न्यायनिपुणता—धवला में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं जहाँ आचार्य वीरसेन ने प्रसंगप्राप्त

---

१. धवला पु० १३, पृ० २१-२३

२. वही, ४४-४५

३. धवला, पु० १३, पृ० २७९

विषय का विचार गम्भीरतापूर्वक युक्ति-प्रयुक्ति के साथ दार्शनिक दृष्टि से किया है। यह उनके मंजे हुए तार्किक होने का भी प्रमाण है। जैसे—

(१) सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में दर्शनमार्गणा के प्रसंग में चक्षुदर्शन के लक्षण का निर्देश करते हुए धवला में कहा गया है कि चक्षु के द्वारा जो सामान्य अर्थ का ग्रहण होता है उसे चक्षुदर्शन करते हैं।

इस पर वादी ने कहा है कि विषय और विषयी के सम्पात के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहा जाता है। वह बाह्य अर्थगत विधिसामान्य को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि वह अवस्तु रूप है इसलिए वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो ज्ञान प्रतिषेध को विषय नहीं करता है उसके विधि में प्रवृत्त होने का विरोध है। यदि वह विधि को विषय करता है तो वह क्या प्रतिषेध से भिन्न उसे ग्रहण करता है या उससे अभिन्न ? यदि उनमें प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाता है तो वह उचित न होगा, क्योंकि प्रतिषेध के विना विधिसामान्य का ग्रहण असम्भव है। तब दूसरे विकल्प को स्वीकार कर यदि यह कहा जाए कि वह ज्ञान प्रतिषेध से अभिन्न विधि को ग्रहण करता है तो यह कहना भी संगत नहीं होगा, क्योंकि वैसी अवस्था में विधि-प्रतिषेध दोनों के ग्रहण में अन्तर्भूत होने से वह स्वतन्त्र विधिसामान्य का ग्रहण नहीं हो सकता। आगे वादी पुनः यह कहता है कि उक्त प्रकार से विधिसामान्य के ग्रहण के सम्भव न होने पर यदि बाह्यार्थगत प्रतिषेधसामान्य को उस ज्ञान का विषय माना जाय तो यह भी सम्भव न होगा, क्योंकि जो दोप विधिसामान्य के ग्रहण में दिये गये हैं वे अनिवार्यतः इस पक्ष में भी प्राप्त होनेवाले हैं। इसलिए विधिप्रषेधात्मक वाह्य अर्थ के ग्रहण को अवग्रह कहना चाहिए। सो इस प्रकार के अवग्रह को दर्शन नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो सामान्य को ग्रहण करता है उसका नाम दर्शन है, ऐसा उपदेश है। इस प्रकार वादी ने अपने पक्ष को स्थापित कर दर्शन का अभाव सिद्ध करना चाहा है।

वादी के उपर्युक्त पक्ष का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि दर्शन के विषय में जिन दोपों को उद्भावित किया गया वे उसके विषय में लागू नहीं होते, क्योंकि वह बाह्य पदार्थ को विषय ही नहीं करता है, उसका विषय तो अन्तरंग अर्थ है। वह अन्तरंग अर्थ भी सामान्य-विशेपात्मक है। और चूंकि उपयोग की प्रवृत्ति विधिसामान्य या प्रतिषेधसामान्यों में क्रम से बनती नहीं है, इसलिए उनमें उसकी प्रवृत्ति को एक साथ स्वीकार करना चाहिए।

इस पर वादी पुनः कहता है कि वैसा मानने पर अन्तरंग अर्थ के विषय करनेवाले उस उपयोग को भी दर्शन नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसका विषय सामान्य-विशेष माना गया है, जबकि दर्शन सामान्य को ही विषय करनेवाला है।

इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि 'सामान्य' शब्द से सामान्य-विशेपात्मक आत्मा को ही कहा जाता है। आगे सामान्य-विशेपात्मक उस आत्मा को कैसे सामान्य कहा जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए में कहा है कि चक्षु इन्द्रिय का क्षयोपशम रूप के विषय में ही नियमित है, क्योंकि उसके द्वारा रूपविशिष्ट पदार्थ का ही ग्रहण देखा जाता है। इस प्रकार रूपविशिष्ट अर्थ के ग्रहण करने में भी वह रूपसामान्य में ही नियमित है, क्योंकि नील-पीतादिकों में किसी एक रूप से ही विशिष्ट अर्थ का ग्रहण नहीं देखा जाता है। इस प्रकार चक्षु-इन्द्रिय का क्षयोपशम रूपविशिष्ट पदार्थ के प्रति समान है, और चूंकि आत्मा को छोड़कर क्षयोपशम कुछ सम्भव है नहीं, इसीलिए आत्मा भी समान है। इस समान आत्मा के भाव

को ही सामान्य कहा जाता है। इस प्रकार से दर्शन का विषय सामान्य सिद्ध है।

इसी दार्शनिक पद्धति से आगे भी यहाँ धवला में उस दर्शन के विषय में ऊहापोह किया गया है।[1]

इस दर्शनविषयक तर्कणापूर्ण ऊहापोहात्मक विचार धवला में आगे भी प्रसंगानुसार किया गया है।[2]

(२) धवलाकार ने वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में अर्थकर्ता भगवान् महावीर की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्ररूपणा करते हुए द्रव्यप्ररूपणा के प्रसंग में महावीर के शरीरगत निरायुधत्व आदि रूप विशेषता को प्रकट किया है तथा उसे ग्रन्थ की प्रमाणता का हेतु सिद्ध किया है।[3]

आगे तीर्थ की प्रमाणता को प्रकट करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा के प्रसंग में समवसरण और उसके मध्यगत गन्धकुटी की विशेषता दिखलाते हुए उसे युक्तिप्रत्युक्तिपूर्वक भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का हेतु बतलाया है।[4]

इस प्रसंग में यह शंका की गई है कि जिन जीवों ने भगवान् जिनेन्द्र के दिव्य शरीर और समवसरणादिरूप जिनमहिमा को देखा है उनके लिए भले ही वह जिन की सर्वज्ञता का हेतु हो सके, किन्तु जिन जीवों ने उसे नहीं देखा है उनके लिए वह उनकी सर्वज्ञता का अनुमापक हेतु नहीं हो सकती है। और हेतु के बिना सर्वज्ञतारूप साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस शंका को हृदयंगम करते हुए आगे धवला में भावप्ररूपणा की गई है।

इस भावप्ररूपणा में जीव के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए उसकी जडस्वभावता के निराकरणपूर्वक उसे सचेतन और ज्ञान-दर्शनादि स्वभाववाला सिद्ध किया गया है। इसी प्रसंग में कर्मों की नित्यता का निराकरण करते हुए उन्हें मिथ्यात्व, असंयम और कपाय के निमित्त से सकारण सिद्ध किया गया है। साथ ही, इनके प्रतिपक्षभूत सम्यक्त्व, संयम और कपाय के अभाव को उन कर्मों के क्षय का कारण सिद्ध किया गया है।

इस प्रसंग में आगे धवला में यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार सुवर्णपापाण में स्वभाविक निर्मलता की वृद्धि की तरतमता देखी जाती है व इस प्रकार से अन्त में वह सोलहवें ताव में पूर्णरूप से निर्मलता को प्राप्त हुआ देखा जाता है तथा जिस प्रकार शुक्लपक्ष के चन्द्रमण्डल में वृद्धि की तरतमता को देखते हुए अन्त में पूर्णिमा के दिन वह अपनी सम्पूर्ण कलाओं से वृद्धि को प्राप्त हुआ देखा जाता है उसी प्रकार जीवों के चूँकि स्वाभाविक ज्ञान-दर्शनादि गुणों में वृद्धि की तरतमता देखी जाती है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि किन्हीं विशिष्ट जीवों के वे ज्ञानादि गुण काष्ठागत वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस स्वभावोपलब्धि हेतु से जीव की सर्वज्ञता भी सिद्ध होती है।

इसी प्रकार जीवों में चूँकि कपाय की हानि की तरतमता भी देखी जाती है, इसीलिए

---

१. धवला, पु० १, ३७९-८२

२. इसके लिए पु० ६ में ३२-३४ पृ० तथा पु० ७ में पृ० ९६-१०२ द्रष्टव्य हैं।

३. धवला, पु० ९, पृ० १०७-८

४. वही, १०९-१४

किसी जीव में उसका पूर्णतया अभाव भी सिद्ध होता है।[1]

(३) पीछे 'व्याकरणविषयक वैदुष्य' के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि सर्वस्पर्श के स्वरूप को प्रकट करते हुए सूत्र (५,३,२२) में परमाणु का दृष्टान्त दिया गया है :

इस प्रसंग में उस परमाणु के दृष्टान्त को असंगत बतलाते हुए वादी ने एक परमाणु के दूसरे परमाणु में प्रविष्ट होने का निषेध किया है। इसके लिए उसने परमाणु क्या दूसरे परमाणु में प्रविष्ट होता हुआ एक देश से उसमें प्रविष्ट होता है या सर्वात्मना, इन दो विकल्पों को उठाकर कहा है कि वह दूसरे परमाणु में एक देश से प्रविष्ट होता है, इस प्रथम पक्ष को तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण यह कि प्रसंगप्राप्त सूत्र में ही सर्वात्मना प्रवेश का विधान है। तब ऐसी परिस्थिति में उस प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर सूत्र से विरोध अनिवार्य है। इसलिए यदि सर्वात्मना प्रवेश रूप दूसरे पक्ष को स्वीकार किया जाता है तो उस अवस्था में द्रव्य का द्रव्य में, गन्ध का गन्ध में, रूप का रूप में, रस का रस में और स्पर्श का स्पर्श में प्रविष्ट होने पर परमाणु द्रव्य कुछ शेष नहीं रहता है, उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। पर परमाणु का अभाव होना सम्भव नही है, क्योंकि द्रव्य के अभाव का विरोध है। इत्यादि युक्ति-प्रयुक्ति के साथ वादी ने अपने पक्ष को स्थापित कर परमाणु के दृष्टान्त को असंगत सिद्ध करना चाहा है।

वादी के इस पक्ष का निराकरण करते हुए धवलाकार ने परमाणु क्या सावयव है या निरवयव, इन दो विकल्पों को उठाया है व उनमें उसके सावयव होने का निषेध करते हुए उसे निरवयव सिद्ध किया है। इस प्रकार से उन्होंने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि अवयव से रहित अखण्ड परमाणुओं का जो देशस्पर्श है वही द्रव्यार्थिक दृष्टि से उनका सर्वस्पर्श है। कारण यह कि देशरूप से स्पर्श करने योग्य उनके अवयवों का अभाव है। विकल्प के रूप में वहाँ यह भी कहा गया है—अथवा दो परमाणुओं का देशस्पर्श भी होता है, क्योंकि उसके बिना स्थूल स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं बनती। साथ ही उनका सर्वस्पर्श भी है, क्योंकि एक परमाणु में दूसरे परमाणु के सर्वात्मस्वरूप से प्रविष्ट होने में कोई विरोध नहीं है। इत्यादि प्रकार से यहाँ धवलाकार ने दार्शनिक पद्धति से ऊहापोह कर सूत्रोक्त परमाणु के दृष्टान्त की असंगति का निराकरण किया है और उसे सार्थक सिद्ध किया है।[2]

(४) इसी वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में ४३वें सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रुतज्ञान के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—शब्दलिंगज और अशब्दलिंगज। इनमें अशब्द-

---

१. धवला पु० ६, पृ० ११४-१८; इसके लिए निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।।—आ० मी०, ४

धियां तर-तमार्थवद्गतिसमन्वयान्वीक्षणाद्
भवेत् ख-परिमाणवत् क्वचिदिह प्रतिष्ठा परा।
प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निमूलात् क्वचित्
तथायमपि युज्यते ज्वलनवत् कषायक्षयः ।।—पात्रकेसरिस्तोत्र, १८

२. धवला पु० १३, पृ० २१-२४

लिंगज श्रुत के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि धूमलिंग से जो अग्नि का ज्ञान होता है वह अशब्दलिंगज श्रुत कहलाता है। शब्दलिंगज श्रुत इससे विपरीत लक्षण वाला है।

इस प्रसंग में लिंग का लक्षण पूछने पर धवला में कहा गया है कि उसका लक्षण अन्यथानुपपत्ति है। यहाँ बौद्धों के द्वारा पक्षधर्मत्व, सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व इन तीन लक्षणों से उपलक्षित वस्तु को जो लिंग माना गया है उसका निराकरण करते हुए उसे अनेक उदाहरणों द्वारा सदोष सिद्ध किया गया है। यथा--

(१) ये आम के फल पके हुए हैं, *क्योंकि वे एक शाखा में उत्पन्न हुए हैं*; जैसे उपयोग में आये हुए आम के फल।

(२) वह साँवला है, क्योंकि तुम्हारा पुत्र है; जैसे तुम्हारे दूसरे पुत्र।

(३) वह भूमि समस्थल है, क्योंकि भूमि है; जैसे समस्थल रूप से वादी-प्रतिवादी के सिद्ध प्रसिद्ध भूमि।

(४) लोहलेख्य वज्र है, क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे घट।

इन उदाहरणों में क्रम से एक शाखा में उत्पन्न होना, तुम्हारा पुत्रत्व, भूमित्व और पार्थिवत्व; ये हेतु (लिंग) उपर्युक्त पक्षधर्मत्व आदि तीन लक्षणों से सहित होकर भी अभीष्ट साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं है, क्योंकि वे व्यभिचरित हैं।

इसके विपरीत इन अनुमानों में प्रयुक्त सत्त्वादि हेतु उक्त तीन लक्षणों से रहित होकर भी व्यभिचार से रहित होने के कारण अपने अनेकान्तात्मकत्व आदि साध्य के सिद्ध करने में समर्थ हैं—

(१) विश्व अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह सत्स्वरूप है।

(२) समुद्र बढ़ता है, क्योंकि उसके बिना चन्द्र की वृद्धि घटित नहीं होती है।

(३) चन्द्रकान्त पाषाण से जल बहता है, क्योंकि उसके बिना चन्द्र का उदय घटित नहीं होता।

(४) रोहिणी नक्षत्र का उदय होनेवाला है, क्योंकि उसके बिना शकट का उदय सम्भव नहीं है।

(५) राजा की मृत्यु होनेवाली है, क्योंकि उसके बिना रात में इन्द्रधनुष की उत्पत्ति नहीं बनती।

(६) राष्ट्र का विनाश अथवा राष्ट्र के अधिपति का मरण होनेवाला है, क्योंकि उसके बिना प्रतिमा का रुदन घटित नहीं होता।

इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरणों में वादी के द्वारा निर्दिष्ट तीन लक्षणों के रहते हुए भी वहाँ साध्यसिद्धि के लिए प्रयुक्त एकशाखाप्रभवत्व आदि हेतु अपने साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हैं। इसके विपरीत उपर्युक्त सत्त्व आदि हेतु उन तीन लक्षणों के बिना भी अपने *अनेकान्तात्मकता* आदि साध्य की सिद्धि में समर्थ हैं।

इस प्रकार धवला में उक्त तीन लक्षणों के रहते हुए भी साध्यसिद्धि की असमर्थता और उन तीन लक्षणों के न रहने पर भी साध्यसिद्धि की समर्थता को दोनों प्रकार के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करके अन्त में यह कहा गया है कि इसलिए 'इसके (साध्य के) बिना यह (साधन) घटित नहीं होता है' इस प्रकार के अविनाभावरूप 'अन्यथानुपपत्ति' को हेतु का लक्षण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वही व्यभिचार से रहित होकर अपने साध्य की सिद्धि में सर्वथा समर्थ

है। आगे वहाँ 'अत्र श्लोक:' ऐसा निर्देश करते हुए इस श्लोक को उद्धृत किया गया है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥[1]

इसी प्रसंगमें आगे धवला में तादात्म्य और तदुत्पत्ति में[2] से किसी एक के नियम को भी सदोष बतलाते हुए यह कह दिया गया है कि 'वह सुगम है', इसलिए उसका यहाँ विस्तार नहीं करते हैं। शेष को हेतुवादों—हेतु के प्ररूपक न्यायग्रन्थों—में देखना चाहिए।[3]

(५) इसी 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में आगे गोत्रकर्म के प्रसंग में शंकाकार द्वारा दार्शनिक दृष्टि से गोत्र के अभाव को प्रकट करने पर धवलाकार ने आगमिक दृष्टि से उसका सद्भाव सिद्ध किया है।[4]

(६) धवलाकार का द्वारा प्ररूपित 'प्रक्रम' अनुयोगद्वार में कर्मप्रक्रम के प्रसंग में वादी के द्वारा अकर्म से कर्म की उत्पत्ति को असम्भव बतलाया गया है। उस प्रसंग में आचार्य वीरसेन ने कार्य की सर्वथा कारणानुसारिता का निराकरण कर सत्-असत्कार्यवाद विषयक एकान्तता के विषय में दार्शनिक दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया है। वहाँ उन्होंने कार्य कथंचित् सत् उत्पन्न होता है, कथंचित् वह असत् उत्पन्न होता है, इत्यादि रूप से सात भंगों की भी योजना की है तथा प्रसंग के अनुरूप सांख्यकारिका (९) और आप्तमीमांसा की ३७, ३९-४०, ४१,४२, ५७,५९-६०, और ९-१४ इन कारिकाओं को भी उद्धृत किया है।[5]

ऊपर जो दार्शनिक प्रसंग से सम्बद्ध ये कुछ उदाहरण दिये गये हैं उन्हें देखते हुए आ० वीरसेन की न्यायनिपुणता में सन्देह नहीं रहता।

काव्यप्रतिभा—आ० वीरसेन की काव्यविषयक प्रतिभा भी स्तुत्य रही है। प्रस्तुत षटखण्डागम के सिद्धान्तग्रन्थ होने से उसकी व्याख्या में काव्यविषयक कुशलता के प्रकट करनेवाले प्रसंग प्राय: नहीं रहे हैं, फिर भी जो कहीं पर इस प्रकार का कुछ प्रसंग प्राप्त हुआ है वहाँ धवलाकार ने जिस लम्बे समासोंवाली सुललित संस्कृत व प्राकृत भाषा में विवक्षित विषय का वर्णन किया है उसके देखने से उनकी कार्यकुशलता भी परिलक्षित होती है।[6]

इसके अतिरिक्त, उनकी काव्यपटुता का दर्शन उनके द्वारा धवला के प्रारम्भ में छह गाथाओं द्वारा किये गये मंगल-विधान में भी होता है। वहाँ उपमा, रूपक और अनुप्रास

---

१. इस श्लोक को अनेक न्यायग्रन्थों में उद्धृत किया गया है (देखिए, न्यायदीपिका पृ० ८४-८५ का टिप्पण ६)। इस विषय में विशेष जानकारी 'न्यायकुमुदचन्द्र' की प्रस्तावना में 'पात्रकेसरी और अकलंक' शीर्षक से प्राप्त होती है। भा० १, पृ० ७३-७६।

२. 'तादात्म्य' और 'तदुत्पत्ति' के विषय में प्र०क०मा० पृ० ११०, २ और न्या०कु०च० २; पृ० ४४४-४५ द्रष्टव्य हैं।

३. धवला पु० १३, पृ० २४५-४६

४. वही, पृ० ३८८-८९

५. धवला पु० १५, पृ० १६-३५

६. उदाहरण के रूपमें देखिए पु० १, पृ० ६०-६१ में भगवान् महावीर का वर्णन तथा पु० ९; पृ० १०९-१३ में समवसरण का वर्णन।

अलंकार तो अन्तर्हित हैं ही, साथ ही वहाँ विरोधाभास और यमक अलंकार भी स्पष्ट दिखते हैं। उदाहरणार्थ, विरोधाभास इस मंगलगाथा में निहित है—

सयलगण-पउम-रविणो विविहद्धिविराइया विणिस्संगा।
णीराया वि कुराया गणहरदेवा पसीयंतु ॥२॥

यहाँ गणधरदेवों की प्रसन्नता की प्रार्थना करते हुए उन्हें नीराग होकर भी कुराग कहा गया है। इसमें आपाततः विरोध का आभास होता है, क्योंकि जो नीराग —रागसे रहित— होगा वह कुराग—कुत्सित राग से अभिभूत—नहीं हो सकता। परिहार उसका यह है कि वे वीतराग होकर भी कुराग—जनानुरागी—रहे हैं। 'कु' का अर्थ पृथिवी होता है। उससे लोक व जन अपेक्षित है। अभिप्राय यह कि वे धर्मवत्सलता से प्रेरित होकर उन्हें सदुपदेश द्वारा मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त करते हैं। रूपक भी यहाँ है।

यमकालंकार का उदाहरण—

पणमह कयभूयबलिं भूयबलिं केसवासपरिभयबलिं।
विणिहयवम्महपसरं वड्ढावियविमलणाण-वम्महपसरं ॥६॥

यहाँ प्रथम और द्वितीय पदके अन्त में 'भूयबलि' की तथा तृतीय और चतुर्थ पद के अन्त में 'वम्महपसरं' की पुनरावृत्ति हुई है। यमकालंकारमें शब्दश्रुति के समान होने पर भी अर्थ भिन्न हुआ करता है। तदनुसार यहाँ प्रथम 'भूतबलि' का अर्थ भूतों द्वारा पूजा का किया जाना तथा द्वितीय 'भूतबलि' का अर्थ केशपाश के द्वारा बलि का पराभव किया जाना अपेक्षित है। इसी प्रकार 'वम्महपसर' का अर्थ वम्मह अर्थात् मन्मथ (काम) का निग्रह करना तथा निर्मलज्ञान के द्वारा ब्रह्मन् (आत्मा) के प्रसार को बढ़ाना अपेक्षित रहा है।

आ० वीरसेन की बहुश्रुतशालिता को प्रकट करनेवाले जो प्रसंग उनकी धवला टीका से ऊपर दिये गये हैं उनसे उनकी अनुपम सैद्धान्तिक कुशलता के साथ यह भी निश्चित होता है कि उनकी गति ज्योतिष, गणित, व्याकरण, न्यायशास्त्र आदि अनेक विषयों में अस्खलित रही है।

जैसाकि उन्होंने पूर्वोक्त प्रशस्ति में संकेत किया है, छन्दशास्त्रमें भी उन्हें निष्णात होना चाहिए, पर धवला में ऐसा कोई प्रसंग प्राप्त नहीं हुआ है।

यद्यपि धवला और जयधवला टीकाओं के अतिरिक्त वीरसेनाचार्य की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है, पर यह सम्भव है कि उनकी 'स्तुति' आदि के रूप में कोई छोटी-मोटी पद्यात्मक कृति रही हो, जिसमें अनेक छन्दों का उपयोग हुआ हो।

धवलागत विषय का परिचय

१. जीवस्थान-सत्प्ररूपणा

मूल ग्रन्थगत विषय का परिचय पूर्व में कराया जा चुका है। अतः यहाँ उन्हीं विषयों का परिचय कराया जाएगा जिनकी प्ररूपणा मूल सूत्रों में नहीं की गई है, फिर भी उनसे सूचित होने के कारण धवलाकार ने अपनी इस टीका में यथाप्रसंग उनका निरूपण विस्तार से किया है।

मूल ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य पुष्पदन्त ने पंचपरमेष्ठि-नमस्कारात्मक जिस मंगल को किया है उसकी उत्थानिका में धवलाकार ने एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हुए कहा है— "आचार्य परम्परागत इस न्याय को मन से अवधारण करके 'पूर्व आचार्यों का अनुसरण रत्नत्रय का हेतु है' ऐसा मानते हुए पुष्पदन्ताचार्य सकारण मंगल आदि छह की प्ररूपणा हेतु सूत्र कहते हैं"।[1]

मंगलादि छह की सूचक वह गाथा इस प्रकार है—

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो॥

अर्थात् १ मंगल, २ निमित्त, ३ हेतु, ४ परिमाण, ५ नाम और ६ कर्ता इन छह का व्याख्यान करके तत्पश्चात् आचार्य को अभीष्ट शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए।

—धवला पु० १, पृ० ७

इस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि यह सूत्र ('णमो अरिहंताणं' आदि) सकारण उन मंगल आदि छह का प्ररूपक कैसे है। उसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह सूत्र 'तालप्रलम्ब' सूत्र के समान देशामर्शक है—विवक्षित अर्थ के एक देश की प्ररूपणा करके उससे सम्बद्ध शेष समस्त अर्थ का सूचक है।

तालप्रलम्ब सूत्र से क्या अभिप्रेत है, इसका कुछ स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है—

साधु के लिए क्या कल्प्य (ग्राह्य) है और क्या अकल्प्य (अग्राह्य) है, इस प्रकार कल्प्याकल्प्य के प्रसंग में वह सूत्र कहा गया है। 'ताल' शब्द वनस्पति के एक देशभूत वृक्षविशेष का परामर्शक होकर उपलक्षण से वह हरितकाय तृण, औषधि, गुच्छा, लता आदि अन्य सभी वनस्पतियों का बोधक है। जैसे—साधु के लिए जब यह कहा जाता है कि 'तालपलंबं ण कप्पदि' तब उसका अभिप्राय यह होता है कि ताल के समान समस्त हरितकाय औषधि आदि (अग्रप्रलम्ब) और मूलप्रलम्बरूप कन्दमूलादि अकल्प्य हैं—उनका उपभोग करना निषिद्ध है।

'भगवती आराधना' में इसका उदाहरण इस प्रकार देखा जाता है—

देसामासियसुत्तं आचेलक्कं ति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोऽयवाऽऽदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि॥११२३॥

दस प्रकार के स्थितिकल्प में 'आचेलक्य' यह प्रथम है। यहाँ 'अचेलकता' में 'चेल' शब्द से उपलक्षण रूप में समस्त बाह्य परिग्रह का ग्रहण होने से वस्त्रादि समस्त बाह्य परिग्रह का परित्याग अभीष्ट रहा है।

प्रकारान्तर से यह भी कहा गया—अथवा यहाँ 'आदि' शब्द का लोप हो गया समझना चाहिए। इस प्रकार उक्त स्थितिकल्प में चेल (वस्त्र) आदि समस्त बाह्य परिग्रह के परित्याग का विधान है।

इसी प्रकार प्रकृत में धवलाकार ने उस तालप्रलम्बरूप सूत्र को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करके उक्त पंचपरमेष्ठि-नमस्कारात्मक मंगलगाथा को देशामर्शक कहा है और उससे सूचित मंगल-निमित्तादि छह को धवला में क्रम से प्ररूपित किया है। यथा—

---

१. धवला पु० १; पृ० ७-८

(१) धातु—धातु के प्रसंग में धवलाकार ने 'मंगल' शब्द को 'मगि' धातु से निष्पन्न कहा है। आवश्यकसूत्र (पृ० ४) और दशवैकालिक-निर्युक्ति (१, पृ० ३) की हरिभद्र विरचित वृत्ति के अनुसार 'मंगि' धातु का अर्थ अधिगमन अथवा साधन होता है। तदनुसार 'मङ्ग्यते हित-मनेनेति मङ्गलम्, मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति यावत्' इस निर्युक्ति के अनुसार अभिप्राय यह हुआ कि जिसके आश्रय से हित का अधिगम अथवा उसकी सिद्धि होती है उसका नाम मंगल है।[1]

(२-३) निक्षेप व नय—निक्षेप के प्रसंग में धवला में मंगल के ये छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मंगल। इनके विषय में वहाँ प्रथमतः नयकी योजना की गयी है और तत्पश्चात् क्रम से अन्य प्रासंगिक चर्चा के बाद उक्त नामादिस्वरूप छह प्रकार के मंगल की विस्तार से विवेचना की है।[2]

अन्त में एक गाथा उद्धृत कर उसके आश्रय से निक्षेप का प्रयोजन, अप्रकृत का निराकरण, प्रकृत का प्ररूपण, संशय का विनाश और तत्त्वार्थ का अवधारण कहा गया है। निष्कर्ष के रूप में वहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जो वक्ता निक्षेप के बिना सिद्धान्त का व्याख्यान करता है अथवा जो श्रोता उसे सुनता है वह कुमार्ग में प्रस्थित हो सकता है।

(४) एकार्थ—एकार्थ के प्रसंग में मंगल के ये समानार्थक नाम निर्दिष्ट किये गये हैं—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य आदि। साथ ही, वहाँ समानार्थक शब्दों के कथन प्रयोजन को भी स्पष्ट कर दिया गया है।[3]

(५) निरुक्ति—निरुक्ति के प्रसंग में 'मंगल' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—'मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम्।' इस प्रसंग में मल के अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है।[4]

प्रकारान्तर से 'अथवा मङ्ग सुखम्, तल्लाति आदत्ते इति वा मङ्गलम्'-इस प्रकार से भी 'मंगल' शब्द की निरुक्ति की गई है।[5]

तीसरे प्रकार से भी उसकी निर्युक्ति इस प्रकार की गई है—'अथवा मंगति गच्छति कार्य-सिद्धिमनेनास्मिन् वेति मंगलम्।'[6]

(६) अनुयोगद्वार—इसी प्रसंग में 'मंगलस्यानुयोग उच्यते' ऐसी सूचना के साथ धवला में यह गाथा उद्धृत है—

> किं कस्स केण कत्थ य केवचिरं कदिविधो य भावो त्ति।
> छहि अणिओगद्दारेहि सव्वेभा वाणुगंतव्वा ॥[7]

---

१. धवला पु० १, पृ० ६-१०
२. वही, १०-३१
३. वही, ३१-३२
४. वही, ३२-३३
५. वही, ३३
६. धवला पु० १, पृ० ३४
७. यह गाथा मूलाचार (८-१५), जीवसमास (४) और आव० नि० (८६४) में भी उपलब्ध होती है। त० सूत्र में इन ६ अनुयोगद्वारों का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है—निर्देशस्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः। (सूत्र १-८)

इसमें जिन प्रश्नों को उठाते हुए यह कहा गया है कि इन छह अनुयोगद्वारों के आश्रय से समस्त पदार्थों का मनन करना चाहिए। उनसे क्रमशः ये छह अनुयोगद्वार फलित होते हैं—१ निर्देश, २ स्वामित्व, ३ साधन (कारण), ४ अधिकरण, ५ काल और ६ विधान (भेद)।

धवला में क्रम से इन छह अनुयोगद्वारों के आधार से उक्त मंगल की व्याख्या की गई है।

मंगल की प्ररूपणा के बाद धवला में प्रकारान्तर से यह कहा गया है—अथवा उस मंगल के विषय में इन छह अधिकारों का कथन करना चाहिए—१ मंगल, २ मंगलकर्ता, ३ मंगल-करणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगलविधान ६ मंगलफल। धवला में आगे इन छह के अनुसार भी मंगल का विधान है।[1]

तत्पश्चात् धवला में यह स्पष्ट करते हुए कि मंगल को सूत्र के आदि, अन्त और मध्य में करना चाहिए; आगे 'उत्तं च' के साथ यह गाथा उद्धृत की गई है[2]—

आदीवसाण-मज्झे पण्णत्तं मंगलं जिणिदेहि ।
तो कयमंगलविणओ वि णमोसुत्तं पवक्खामि ॥

यह गाथा कहाँ की है, किसके द्वारा रची गयी है तथा उसके उत्तरार्ध में जो यह निर्देश किया गया है कि 'इसलिए मंगलविनय करके मैं नमस्कार-सूत्र कहूँगा' यह अन्वेषणीय है। क्या 'णमोसुत्तं' से यहाँ प्रकृत पंचपरमेष्ठि-नमस्कारात्मक मंगलगाथासूत्र की विवक्षा हो सकती है?

इसी प्रसंग में आगे आदि, अन्त और मध्य में मंगल के करने का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार धवला में विस्तार से मंगल की प्ररूपणा करके आगे 'इदाणिं देवदाणमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे' ऐसी सूचना करते हुए उक्त नमस्कारसूत्र के विषयभूत अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों के स्वरूप आदि का यथाक्रम से विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।[3]

पूर्व में शास्त्रव्याख्यान के पूर्व जिन मंगल व निमित्त आदि छह को व्याख्येय कहा गया था उनमें यहाँ तक धवला में प्रथम मंगल के विषय में ही विचार किया गया है। तत्पश्चात् आगे वहाँ निमित्त (पृ० ५४-५५), हेतु (५५-५६), परिमाण (पृ० ६०) और ५ नाम (पृ० ६०) के विषय में भी स्पष्टीकरण है।[4]

प्रसंगवश प्रकारान्तर से भी निमित्त और हेतु को स्पष्ट करते हुए धवला में जिनपालित को निमित्त और मोक्ष को हेतु कहा गया है।[5]

(७) **कर्ता**—आगे कर्ता के प्रसंग में उसके अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता इन दो भेदों का निर्देश कर अर्थकर्ता भगवान् महावीर की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार प्ररूपणा है।

द्रव्यप्ररूपणा में वहाँ महावीर के दिव्य शरीर की विशेषता को प्रकट किया गया है। क्षेत्र-प्ररूपणा के प्रसंग में कुछ गाथाओं को उद्धृत करते हुए उनके आश्रय से 'राजगृह (पंचशैलपुर)

---

१. धवला पु० १, पृ० ३८
२. वही, पु० १, पृ० ४०
३. वही, पु० १, पृ० ४२-५४
४. वही, ५५-६०
५. वही, पु० १, पृ० ६०

में अवस्थित विपुलाचल पर महावीर ने भव्यजनों के लिए अर्थ कहा—भावश्रुत के रूप में उपदेश किया', ऐसा अभिप्राय प्रकट किया गया है। पश्चात् ऋषिगिरि, वैभार, विपुलाचल, छिन्न और पाण्डु इन पाँच पर्वतों की स्थिति भी दिखलायी गयी है।

इसी प्रकार कालप्ररूपणा के प्रसंग में भी चार गाथाओं को उद्धृत कर उनके आश्रय से नक्षत्र आदि की कुछ विशेषता को दिखलाते हुए श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पूर्वाह्न में तीर्थ की उत्पत्ति हुई, यह अभिप्राय प्रकट किया गया है। भावकर्ता के रूप में महावीर की प्ररूपणा करते हुए उन्हें ज्ञानावरणीय आदि के क्षय से प्राप्त हुईं अनन्तज्ञानादि रूप नौ केवललब्धियों स परिणत कहा गया है। इस प्रसंग में भी तीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है।[1]

ग्रन्थकर्ता के प्रसंग में कहा गया है कि केवलज्ञानी उन महावीर द्वारा उपदिष्ट अर्थ का अवधारण उसी क्षेत्र एवं उसी काल में इन्द्रभूति ने किया। गौतमगोत्रीय वह इन्द्रभूति ब्राह्मण समस्त दुःश्रुतियों (चारों वेद आदि) में पारंगत था। उसे जब जीव-अजीव के विषय में सन्देह हुआ तो वह वर्धमान जिनेन्द्र के पादमूल में आया। उसी समय वह विशिष्ट क्षयोपशम के वश बीजबुद्धि आदि चार निर्मल बुद्धि-ऋद्धियों से सम्पन्न हो गया। यहाँ 'उक्तं च' कहकर यह गाथा उद्धृत की गयी है, जिसके द्वारा उस इन्द्रभूति को गोत्र से गौतम, चारों वेदों व षडंग में विशारद, शीलवान् और ब्राह्मणश्रेष्ठ कहा गया है—

गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंगवि ।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ।।

भावश्रुतपर्याय से परिणत उस इन्द्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रन्थों की रचना क्रम से एक ही मुहूर्त में कर दी। इसलिए भावश्रुत और अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर हैं तथा तीर्थंकर के आश्रय से गौतम श्रुतपर्याय से परिणत हुए, अतः गौतमद्रव्य श्रुत के कर्ता हैं। इस प्रकार गौतम गणधर के द्वारा ग्रन्थरचना हुई।[2]

षट्खण्डागम की रचना कैसे हुई ?

इस प्रकार कर्ता की प्ररूपण करके आगे धवला में उस श्रुत का प्रवाह किस प्रकार से प्रवाहित हुआ, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि उन गौतम गणधर ने दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को लोहार्य (सुधर्म) के लिए और उन लोहार्य ने उसे जम्बूस्वामी के लिए संचारित किया। इस प्रकार परिपाटी क्रम से ये तीनों ही समस्त श्रुत के धारक कहे गये हैं। किन्तु परिपाटी के बिना समस्त श्रुत के धारक संख्यात हजार हुए हैं। गौतमदेव, लोहार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों सात प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न होकर समस्त श्रुत के पारंगत हुए और अन्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए हैं।

पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये परिपाटीक्रम से चौदह पूर्वों के धारक श्रुतकेवली हुए। तत्पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य पुरुषपरम्परा के क्रम से ग्यारह अंगों व उत्पादादि दस पूर्वों के धारक हुए। शेष चार पूर्वों के वे एकदेश के

---

१. धवला पु० १, पृ० ६०-६४
२. वही, पु० १, पृ० ६४-६५

धारक रहे हैं। अनन्तर नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवषेण और कंसाचार्य ये पाँचों आचार्य परिपाटीक्रम से ग्यारह अंगों के धारक हुए। चौदह पूर्वों के वे एकदेश के धारक रहे हैं। पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए। शेष अंग-पूर्वों के वे एक देश के धारक रहे हैं। तत्पश्चात् सभी अंग-पूर्वों का एकदेश आचार्य-परम्परा से होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।[1]

अष्टांग-महानिमित्त के पारगामी वे धरसेनाचार्य सौराष्ट्र देश के अन्तर्गत गिरिनगर पट्टन की चन्द्रगुफा में स्थित थे। उन्हें 'ग्रन्थ का व्युच्छेद होने वाला है' इस प्रकार का भय उत्पन्न हुआ। इसलिए उन्होंने प्रवचनवत्सलता के वश महिमा (नगरी अथवा कोई महोत्सव) में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास लेख भेजा। लेख में निबद्ध धरसेनाचार्य के वचन का अवधारण कर—उनके अभिप्राय को समझकर—उन आचार्यों ने आन्ध्रदेशस्थित वेण्णानदी के तट से दो साधुओं को धरसेनाचार्य के पास भेज दिया। वे दोनों साधु ग्रहण-धारण में समर्थ, विनय से विभूषित, गुरुजनों के द्वारा भेजे जाने से संतुष्ट तथा देश, कुल व जाति से शुद्ध थे। इस प्रकार प्रस्थान कर वे दोनों वहाँ पहुँचनेवाले थे कि तभी रात्रि के पिछले भाग में धरसेनाचार्य ने स्वप्न में देखा कि समस्त लक्षणों से सम्पन्न दो धवलवर्ण बैल तीन प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवों में गिर रहे हैं। स्वप्न से सन्तुष्ट धरसेनाचार्य के मुख से सहसा 'जयउ सुद-देवदा' यह वाक्य निकल पड़ा। पश्चात् उन दोनों के वहाँ पहुँच जाने पर धरसेनाचार्य ने परीक्षापूर्वक उन्हें उत्तम तिथि, नक्षत्र और वार में ग्रन्थ को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह अध्यापन आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाह्न में समाप्त हुआ। इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।[2]

जीवस्थान का अवतार

आगे 'जीवस्थान' खण्ड के अवतार के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए धवला में उसे उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। उनमें से प्रथम उपक्रम के ये पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार।

(१) आनुपूर्वी—यह पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी के भेद से तीन प्रकार की है।

(२)नाम—इसके दस स्थान हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादि-सिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद। धवला में आगे इनके स्वरूप आदि को भी विशद किया गया है। इन दस नामपदों में प्रकृत 'जीवस्थान' को जीवों के स्थानों का प्ररूपक होने से गौण्यपद (गुणसापेक्ष) कहा गया है।[4]

(३) प्रमाण—यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नय के भेद से पाँच प्रकार का है। इनके अन्तर्गत अन्य भेदों का भी निर्देश धवला में कर दिया गया है।

---

१. धवला पु० १, ६५-६७
२. वही, पृ० ६७-७०
३. वही, पृ० ७२-७३
४. धवला पु० १, ७४-७८

प्रसंगवश वहाँ एक यह शंका की गयी है कि नयों को प्रमाण कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि प्रमाण के कार्यरूप नयों को उपचार से प्रमाण मानने में कुछ भी विरोध नहीं है। उक्त पाँच प्रकार के प्रमाण में 'जीवस्थान' को भावप्रमाण कहा गया है। वह भावप्रमाण मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है। उनमें 'जीवस्थान' श्रुतभावप्रमाण के रूप में निर्दिष्ट है।

यहीं पर आगे प्रसंगप्राप्त एक अन्य शंका का समाधान करते हुए प्रकारान्तर से प्रमाण ये छह भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावप्रमाण। इनका सामान्य स्पष्टीकरण करते हुए आगे भावप्रमाण के मतिभावप्रमाण आदि उपर्युक्त पाँच भेदों का पुनः उल्लेख किया है एवं जीवस्थान को भाव की अपेक्षा श्रुतभावप्रमाण तथा द्रव्य की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात व अनन्तरूप शब्दप्रमाण कहा गया है।[1]

(४) वक्तव्यता—यह स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता के भेद से तीन प्रकार की है। प्रकृत जीवस्थान में अपने ही समय की प्ररूपणा होने से स्वसमय-वक्तव्यता कही गई है।[2]

(५) अर्थाधिकार—यह प्रमाण, प्रमेय और तदुभय के भेद से तीन प्रकार का है। यहाँ जीवस्थान में एकमात्र प्रमेय की प्ररूपणा के होने से एक ही अर्थाधिकार कहा गया है।[3]

इस प्रकार यहाँ पूर्वोक्त चार प्रकार के अवतार में से प्रथम 'उपक्रम' अवतार की चर्चा समाप्त हुई।

२. निक्षेप—अवतार के उक्त चार भेदों में यह दूसरा है। यह नामजीवस्थान, स्थापनाजीव-स्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थान के भेद से चार प्रकार का है। इनमें भावजीवस्थान के दो भेदों में जो दूसरा नोआगमभावजीवस्थान है उसे यहाँ प्रसंगप्राप्त निर्दिष्ट किया गया है। वह मिथ्यादृष्टि, सासादन आदि चौदह जीवसमास (गुणस्थान) स्वरूप है।[4]

३. नय—अवतार का तीसरा भेद नय है। नयों के बिना चूंकि लोकव्यवहार घटित नहीं होता है, इसीलिए धवलाकार ने नयों के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए प्रथमतः नयसामान्य के लक्षण में यह कहा है कि प्रमाण द्वारा परिगृहीत पदार्थ के एक देश में जो वस्तु का निश्चय होता है उसका नाम नय है। उसके मूल में दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। इनमें द्रव्यार्थिक नैगम, संग्रह और व्यवहार नय के भेद से तीन प्रकार का तथा पर्यायार्थिकनय सामान्य से अर्थनय और व्यंजननय के भेद से दो प्रकार का है।

यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों में भेद को स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि जिन नयों का मूल आधार ऋजुसूत्रवचन का विच्छेद है वे पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं। ऋजुसूत्रवचन से अभिप्राय वर्तमानवचन का है। तात्पर्य यह है कि जो नय ऋजुसूत्रवचन के विच्छेद से लेकर एक समय पर्यन्त वस्तु की स्थिति का निश्चय कराते हैं उन्हें पर्यायार्थिक नय

---

१. वही, पृ० ८०-८२
२. धवला पु० १, पृ० ८८
३. वही, ,,
४. वही, पृ० ८३

समझना चाहिए।

इन पर्यायार्थिक नयों को छोड़कर दूसरे शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय हैं।

आगे अर्थनयों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है, तदनुसार जो नय अर्थ और व्यंजन पर्यायों से भेद को प्राप्त तथा लिंग, संख्या. काल पुरुष और उपग्रह के भेद से भेद को न प्राप्त होने वाले केवल वर्तमानकालीन पदार्थ का निश्चय कराते हैं उन्हें अर्थनय कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि अर्थनयों में शब्द के भेद से अर्थ का भेद नहीं हुआ करता है।

जो शब्द के भेद से वस्तु के भेद को ग्रहण किया करते हैं वे व्यंजननय कहलाते हैं।

प्रकृत में ऋजुसूत्र को अर्थनय कहा गया है। कारण यह है कि वह 'ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति सूचयति' इस निरुक्ति के अनुसार वर्तमानकालवर्ती सरल अर्थ का सूचक है। इस प्रसंग में यह शंका की गयी है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय भी तो अर्थनय है। इसके उत्तर में कहा गया है कि अर्थ में व्याप्त होने से वे भले ही अर्थनय हों, किन्तु वे पर्यायार्थिकनय नहीं हो सकते; क्योंकि उनका प्रमुख विषय द्रव्य है।

व्यंजननय शब्द, समभिरूढ और एवम्भूतनय के भेद से तीन प्रकार का है। इनका स्वरूप जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि में प्ररूपित है, लगभग धवला में भी यहाँ उनके स्वरूप की प्ररूपणा उसी प्रकार की गयी है।

एवम्भूतनय के सम्बन्ध में यहाँ यह विशेष स्पष्ट किया गया है कि इस नय की दृष्टि में पदों का समास सम्भव नहीं है, क्योंकि भिन्न कालवर्ती और भिन्न अर्थ के वाचक पदों के एक होने का विरोध है। उनमें परस्पर अपेक्षा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वर्ण, अर्थ, संख्या और काल आदि से भेद को प्राप्त पदों की अन्य पदों के साथ अपेक्षा नहीं हो सकती। इससे सिद्ध है कि इस नय की दृष्टि में पदों का समुदायरूप वाक्य भी नहीं घटित नहीं होता है। अभिप्राय यह हुआ कि एक पद एक ही अर्थ का वाचक है, इस प्रकार से जो निश्चय कराता है उसे एवम्भूतनय समझना चाहिए। इस नय की अपेक्षा एक गो' शब्द अनेक अर्थों में वर्तमान नहीं रहता, क्योंकि एक स्वभाववाले एक पद के अनेक अर्थों में वर्तमान रहने का विरोध है।

प्रकारान्तर से यहाँ पुनः एवम्भूतनय के लक्षण को प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि जो पदगत वर्णों के भेद से अर्थभेद का निश्चायक होता है वह एवम्भूतनय कहलाता है, क्योंकि वह शब्दनिरुक्ति (एवं भेदे भवनादेवम्भूतः) के अनुसार 'इस प्रकार (भेद में) हुआ है' उसी में उत्पन्न है; अर्थात् उसी को विषय करता हैं।

आगे धवला में नयों के विषय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संक्षेप में वे नय सात हैं, पर अवान्तर भेदों से वे असंख्यात हैं। व्यवहर्ता जनों को उनके विषय में जानकारी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि उनके जाने बिना न तो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया जा सकता है और न उसे समझा भी जा सकता है। इस अभिप्राय की पुष्टि आगे वहाँ दो गाथाओं को उद्धृत करते हुए उनके आश्रय से की गई है।

इस प्रकार इस प्रसंग में धवलाकार द्वारा नयों के विषय में विशद चर्चा की गयी है।[1]

---

१. धवला पु० १, पृ० ८३-९१ (धवला में ग्रन्थावतार के प्रसंग में उपक्रम के भेदभूत इन नयों के विषय में पुनः विस्तारपूर्वक विचार किया गया है—देखिए पु० ९, पृ० १६२-८३)

४. अनुगम—नय प्ररूपणा के समाप्त होने पर जीवस्थान के अवतारविषयक उन उपक्रमादि चार भेदों में से चौथा भेद 'अनुगम' शेष रहता है। उसके विषय में धवलाकार ने 'अनुगमं वत्तइस्सामो' ऐसी सूचना करते हुए अवसरप्राप्त "एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं" आदि सूत्र (१,१,२) की ओर संकेत किया है।[1]

इतना संकेत करके यहाँ धवला में उसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है। पर आगे पुनः प्रसंगप्राप्त उस अनुगम के लक्षण को प्रकट करते हुए धवलाकार ने यह कहा है—"जम्हि जेण वा वत्तव्वं परुविज्जदि सो अणुगमो।" अर्थात् जहाँ पर या जिसके द्वारा विवक्षित विषय की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम अनुगम है। निष्कर्ष के रूप में आगे यह बतलाया गया है कि 'अधिकार' संज्ञावाले अनुयोगद्वारों के जो अधिकार होते हैं उन्हें अनुगम कहा जाता है। जैसे—'वेदना' अनुयोगद्वार में 'पदमीमांसा' आदि अधिकार (देखिए पु० १०, पृ० १८ व पु० ११, पृ० १-३, ७५-७७ आदि)। यह अनुगम अनेक प्रकार का है, क्योंकि इसकी संख्या नियत नहीं है।

प्रकारान्तर से वहाँ 'अथवा अनुगम्यन्ते जीवदय: पदार्था: अनेनेत्यनुगम:' ऐसी निरुक्ति करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया है कि जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं उसका नाम अनुगम है।[2]

जीवस्थानगत सत्प्ररूपणादि ८ अनुयोगद्वारों व ९ चूलिकाओं का उद्गम

ऊपर धवलाकार ने 'अनुगम' के प्रसंग में जिस सूत्र की ओर संकेत किया है वह पूरा सूत्र इस प्रकार है—

"एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेय ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवंति।"

—सूत्र २, पृ० ६१

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने सूत्र में प्रयुक्त 'एत्तो' (एतस्मात्) पद से प्रमाण को ग्रहण किया है। इस पर वहाँ यह शंका की है कि यह कैसे जाना जाता है कि 'एत्तो' इस सर्वनाम पद से प्रमाण विवक्षित है। उत्तर में यह कहा गया है कि प्रमाणभूत 'जीवस्थान' का चूँकि अप्रमाण से अवतार होने का विरोध है, इसी से जान लिया जाता है कि सूत्र में प्रयुक्त 'एत्तो' पद से प्रमाण अभीष्ट रहा है। इस प्रसंग में यहाँ प्रमाण के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—द्रव्यप्रमाण और भावप्रमाण। इनमें द्रव्यप्रमाण से संख्यात, असंख्यात और अनन्तरूप द्रव्य जीवस्थान का अवतार हुआ है।

भावप्रमाण पाँच प्रकार का है—आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल भावप्रमाण। इनमें ग्रन्थ की अपेक्षा श्रुतभावप्रमाण को और अर्थ की अपेक्षा केवल भावप्रमाण को प्रकृत कहा गया है।[3]

अर्थाधिकार के प्रसंग में उस (श्रुत) के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ये दो अर्थाधिकार निर्दिष्ट किये गये है। उनमें अंगबाह्य के ये चौदह अर्थाधिकार कहे गये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव,

---

१. धवला पु० १, पृ० ६१
२. धवला पु० ६, पृ० १४१
३. धवला पु० १, पृ० ६२-६५

वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषेधिका। धवला में आगे इन सबके स्वरूप को भी प्रकट किया गया है।[1]

अंगप्रविष्टका अर्थाधिकार बारह प्रकार का निर्दिष्ट है—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृतदशा, अनुत्तरौपपादिदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। आगे इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रकृत में दृष्टिवाद को प्रयोजनीभूत कहा गया है।

पूर्व पद्धति के समान उक्त दृष्टिवाद के प्रसंग में भी आनुपूर्वी, नाम प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार इन पाँच उपक्रमभेदों का विचार करते हुए नाम के प्रसंग में दृष्टिवाद को गुणनाम कहा गया है, क्योंकि वह दृष्टियों (विविध दर्शनों) का निरूपण करनेवाला है।

अर्थाधिकार के ये पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें परिकर्म के चन्द्रप्रज्ञति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीप-सागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इन पाँच उपभेदों का निर्देश कर उनके प्रतिपाद्य विषय का भी क्रमशः विवेचन है।[2]

परिक्रमादि उपर्युक्त पाँच भेदों में चौथा पूर्वगत है। उसे यहाँ प्रसंगप्राप्त कहा गया है।[3] अर्थाधिकार के प्रसंग में उसके ये चौदह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामध्येय, विद्यानुवाद, कल्याणनामध्येय. प्राणावाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।

इनमें से प्रत्येक में वर्णित विषय का परिचय कराते हुए उनमें कितने 'वस्तु' व 'प्राभृत' नाम के अधिकार हैं तथा प्रत्येक के पदों का प्रमाण कितना है, इस सबका विवेचन है।[4]

इन चौदह पूर्वों में यहाँ दूसरे अग्रायणीयपूर्व को अधिकार प्राप्त बतलाते हुए उसके भी चौदह अर्थाधिकार निर्दिष्ट किये गये हैं—पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अर्धोपम, प्रणिधिकल्प, अर्थ, भौम, व्रतादि, सर्वार्थ, कल्पनिर्याण, अतीत काल मे सिद्ध व बद्ध और अनागत काल में सिद्ध व बद्ध। इन्हें 'वस्तु' नाम का अधिकार कहा गया है। इन चौदह में यहाँ पाँचवाँ चयनलब्धि नाम का वस्तु अधिकार प्रसंगप्राप्त है।

अर्थाधिकार के प्रसंग में प्रकृत चयनलब्धि में बीस अर्थाधिकार निर्दिष्ट किये गये हैं, पर उन के नामों का यहाँ उल्लेख नहीं है। उन बीस को प्राभृत नामक अधिकार समझना चाहिए। उनमें यहाँ चतुर्थ प्राभृत अधिकार प्रसंगप्राप्त है।

नाम के प्रसंग में यहाँ यह कहा गया है कि वह चूंकि कर्मों की प्रकृति-स्वरूप का वर्णन करनेवाला है, इसलिए उसका 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' यह गुण नाम. (गौण्यपद नाम) है। उसका

---

१. धवला पु० १, पृ० ९६-९८
२. वही, पृ० १०८-१०
३. दृष्टिवाद के ही समान आगे पूर्वगत व अग्रायणीय पूर्व आदि प्रत्येक के विषय में पृथक्-पृथक् उन पाँच उपक्रम भेदों का प्रसंगानुसार विचार किया गया है, व्याख्या की यही पद्धति रही है।
४. धवला पु० १, पृ० ११४-२२

दूसरा नाम 'वेदनाकृत्स्नप्राभृत' भी है। वेदना का अर्थ कर्मों का उदय है, उसका वह चूंकि कृत्स्न—पूर्ण रूप से—वर्णन करता है, इसलिए उसका 'वेदनाकृत्स्नप्राभृत' यह दूसरा नाम भी गुणनाम (सार्थक नाम) है।[1]

अर्थाधिकार के प्रसंग में उसके ये चौवीस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्या-परिणाम, सात-असात, दीर्घ-ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्त, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कन्ध और सर्वत्र (पूर्व के सभी अनुयोगद्वारों से सम्बद्ध) अल्प-बहुत्व। इन चौवीस अधिकारों में यहाँ छठा 'बन्धन' अनुयोगद्वार प्रसंगप्राप्त है।[2]

प्रसंग में उस बन्धन अनुयोगद्वार को भी चार प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमें से प्रकृत में बन्धक और बन्धविधान ये दो अर्था-धिकार प्रसंगप्राप्त हैं।[3]

इनमें बन्धक अर्थाधिकार में ये ग्यारह अनुयोगद्वार हैं - एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इनमें यहाँ पाँचवाँ द्रव्यप्रमाणा-नुगम प्रकृत है। उससे पूर्वनिर्दिष्ट जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों में से दूसरा द्रव्यप्रमाणानुगम अनयोगद्वार निकला है।[4]

बन्धविधान चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें प्रकृतिबन्ध मूल और उत्तर प्रकृतिबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। उनमें दूसरा उत्तर-प्रकृतिबन्ध भी दो प्रकार का है—एक-एक उत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ प्रकृतिबन्ध। इनमें भी एक-एक उत्तरप्रकृतिबन्ध के चौवीस अनुयोगद्वार हैं—समुत्कीर्तना, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिकबन्ध, अनादिकबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धअन्तर, बन्धसंनिकर्ष, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानु-गम, भावानुगम और अल्पबहुत्व।[5]

जीवस्थानगत प्रकृति समुत्कीर्तनादि पाँच चूलिकाओं का उद्गम

उपर्युक्त २४ अनुयोगद्वारों में से प्रथम समुत्कीर्तना अनुयोगद्वार से प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक—जीवस्थान की ९ चूलिकाओं में ये पाँच चूलिकाएँ

---

१. धवला पु० १, पृ० १२३-२५

२. वही, पृ० १२५ तथा पु० ९, पृ० २३१-३६ (यहाँ उक्त कृति व वेदना आदि २४ अनुयोग-द्वारों में प्ररूपित विषय को भी प्रकट किया गया है।)

३. धवला पु० १, पृ० १२६ (ष० ख० पु० १४, पृ० ५६४ में सूत्र ५, ६, ७९७ भी द्रष्टव्य हैं)

४. वही, पृ० १२६ (ष०ख० पु० ७, पृ० २४ में सूत्र २,१,१-२ द्रष्टव्य हैं)

५. धवला पु० १, पृ० १२७

निकली हैं।[1]

जीवस्थानगत भावानुगम

उन्हीं २४ अनुयोगद्वारों में जो २३वाँ भावानुगम अनुयोगद्वार है उससे जीवस्थान के सत्प्ररूपणादि ८ अनुयोगद्वारों में से ७वाँ भावानुगम अनुयोगद्वार निकला है।[2]

जीवस्थानगत शेष छह (१,३-६ व ८) अनुयोगद्वार

अन्वोगाढ-उत्तरप्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। इनमें से दूसरे प्रकृतिस्थानबन्ध में ये आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारों में से जीवस्थानगत ये छह अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररूपणा (१), क्षेत्रप्ररूपणा (३), स्पर्शनप्ररूपणा (४), कालप्ररूपणा (५), अन्तरप्ररूपणा (६) और अल्पबहुत्वप्ररूपणा (८)। इन छह में पूर्वोक्त द्रव्यप्रमाणानुगम और भावानुगम इन दो को मिलाने पर जीवस्थान के आठ अनुयोगद्वार हो जाते हैं। प्रकृतिस्थानबन्ध के उक्त आठ अनुयोगद्वारों से जीवस्थानगत छह अनुयोगद्वार कैसे निकले हैं तथा उनसे द्रव्यप्रमाणानुगम और भावानुगम ये दो अनुयोगद्वार क्यों नहीं निकले, इसे भी धवला में शंका-समाधानपूर्वक स्पष्ट किया है।[3]

जघन्यस्थिति (७) व उत्कृष्टस्थिति (६) चूलिकाओं का उद्गम

स्थितिबन्ध दो प्रकार का है—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। इनमें दूसरे उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध में ये २४ अनुयोगद्वार हैं—अर्धच्छेद, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धअन्तर, बन्धसंनिकर्ष, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इनमें अर्धच्छेद दो प्रकार का है—जघन्यस्थिति-अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थितिअर्धच्छेद। इनमें जघन्यस्थितिअर्धच्छेद से जीवस्थान की ७वीं जघन्यस्थिति चूलिका और उत्कृष्टस्थितिअर्धच्छेद से उसकी छठी उत्कृष्टस्थिति चूलिका निकली है।[4]

सम्यक्त्वोत्पत्ति (८) व गति-आगति (६) चूलिकाएँ

बारहवें दृष्टिवाद अंग के परिकर्म आदि पाँच भेदों में दूसरा भेद सूत्र है। उससे ८वीं 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका निकली है। इसी दृष्टिवाद के उन पाँच भेदों में जो प्रथम भेद परिकर्म है वह चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। उनमें पाँचवें भेदभूत व्याख्याप्रज्ञप्ति

---

१. वही, पृ० १२७
२. वही,
३. वही, पृ० १२७-२६
४. धवला पु० १, पृ० १३०

से ९वीं 'गति-आगति' चूलिका निकली है।[1]

जैसा कि पूर्व में निर्देश किया जा चुका है, धवलाकार ने 'एत्तो इमेसिं' आदि सूत्र (२) की व्याख्या करते हुए उसमें प्रयुक्त 'एत्तो' पद से प्रमाण को ग्रहण किया है। सूत्रकार भगवान् पुष्पदन्त को उससे क्या अभिप्रेत रहा है, इसे यहाँ तक धवला में विस्तार से स्पष्ट किया गया है।[2]

ऊपर के इस विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रस्तुत जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वार और प्रकृतिसमुत्कीर्तनादि (७) चूलिकाएँ बारहवें दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत दूसरे अग्रायणीय पूर्व के कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में चयन-लब्धि नामक चौथे कर्मप्रकृतिप्राभृत से निकली हैं।

आठवीं 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका दृष्टिवाद अंग के दूसरे भेदस्वरूप 'सूत्र' से और गति-आगति नाम की ९वीं चूलिका उसी के पाँचवें भेदभूत व्याख्याप्रज्ञप्ति से निकली हैं।

आगे के क्षुद्रकवन्ध आदि शेष पाँच खण्ड भी उपर्युक्त कर्मप्रकृतिप्राभृत के यथासम्भव भेद-प्रभेदों से निकले हैं।

उन सबके उद्गम स्थानों को संक्षेप से षट्खण्डागम पु० १ की प्रस्तावना पृ० ७२-७४ की तालिकाओं में देखा जा सकता है।

दर्शनविषयक विचार

"गइ इंदिए" आदि सूत्र (१,१,२) में निर्दिष्ट गति व इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के स्वरूप आदि को स्पष्ट करते हुए धवला में दर्शनमार्गणा के प्रसंग में दर्शनविषयक विशेष विचार किया गया है। वहाँ सर्वप्रथम 'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' इस निरुक्ति के अनुसार 'जिसके द्वारा देखा जाता है उसका नाम दर्शन है', इस प्रकार से दर्शन का स्वरूप निर्दिष्ट किया है।

इस पर यहाँ यह शंका हो सकती थी कि चक्षु इन्द्रिय और प्रकाश के द्वारा भी तो देखा जाता है, अतः उपर्युक्त दर्शन का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित क्यों न होगा। इस प्रकार की शंका को हृदयंगम करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि चक्षु इन्द्रिय और प्रकाश चूँकि आत्मधर्म नहीं है—पुद्गलस्वरूप हैं, जब कि दर्शन आत्मधर्म है; इसलिए उनके साथ प्रकृत लक्षण के अतिव्याप्त होने की सम्भावना नहीं है।

इस पर भी शंकाकार का कहना है कि 'दृश्' धातु का अर्थ जानना-देखना है। तदनुसार 'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' ऐसा दर्शन का लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शन इन दोनों में कुछ भी भेद नहीं रहता है। इस शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि वैसा लक्षण करने पर भी ज्ञान और दर्शन में अभेद का प्रसंग नहीं प्राप्त होता। कारण यह है कि दर्शन जहाँ अन्तर्मुख चित्प्रकाश स्वरूप है, वहाँ ज्ञान बहिर्मुख चित्प्रकाश स्वरूप है। इस प्रकार जब उन दोनों का लक्षण ही भिन्न है तब वे एक कैसे हो सकते हैं—भिन्न ही रहनेवाले हैं। इसके अतिरिक्त 'यह घट है और यह पट है' इस प्रकार की प्रतिकर्मव्यवस्था जिस प्रकार ज्ञान

---

१. धवला पु० १, पृ० १३०

२. एदं सव्वमवि मणेण अवहारिय 'एत्तो' इदि उत्तं भयवदा पुप्फयंतेण। पु० १, पृ० १३० (पृ० ९१-१३० भी द्रष्टव्य हैं।)

के द्वारा सम्भव है वसी वह दर्शन के द्वारा सम्भव नहीं है। इससे भी उन दोनों में भिन्नता निश्चित है।

अन्तरंग और बहिरंग सामान्य के ग्रहण को दर्शन तथा अन्तरंग और बहिरंग विशेष के ग्रहण को ज्ञान मानकर यदि उन दोनों में भेद माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, अतः सामान्य का ग्रहण अलग और विशेष का ग्रहण अलग हो; यह घटित नहीं होता है—दोनों का ग्रहण एक साथ होनेवाला है। ऐसा न मानने पर "दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं" इस आगमवचन के साथ विरोध आता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को तथा दर्शन सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करता है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि दर्शन का वैसा लक्षण मानने पर "सामान्य का जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं"[1] इस आगमवचन के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त आगमवचन में सामान्य ग्रहण से आत्मा का ग्रहण ही विवक्षित है। कारण यह कि वह आत्मा समस्त पदार्थों में साधारण है। उसी आगम वचन में आगे 'बाह्य पदार्थों के आकार को अर्थात् प्रतिकर्मव्यवस्था को न करके' जो यह कहा गया है उससे भी यह स्पष्ट है कि 'सामान्य' शब्द से आत्मा ही अपेक्षित है। आगे उक्त आगम-वचन में 'पदार्थों की विशेषता को न करके' और भी जो यह कहा गया है उससे भी उपर्युक्त अभिप्राय की पुष्टि होती है।

प्रकारान्तर से आगे अवलोकनवृत्ति को जो दर्शन कहा गया है वह भी उपर्युक्त अभिप्राय का पोषक है। कारण यह कि 'आलोकते इति आलोकनम्' इस निरुक्ति के अनुसार आलोकन का अर्थ अवलोकन करनेवाला (आत्मा) होता है, उसके आत्मसंवेदन रूप वर्तन को यहाँ दर्शन कहा है।

आगे जाकर विकल्परूप में प्रकाशवृत्ति को भी दर्शन कहा गया है। यह लक्षण भी उसका पूर्वोक्त लक्षणों से भिन्न नहीं है, क्योंकि प्रकाश का अर्थ ज्ञान है, उसके लिए आत्मा की वृत्ति (प्रवृत्ति या व्यापार) होती है, यह दर्शन का लक्षण है। अभिप्राय यह है कि विषय और विषयी (इन्द्रिय) के सम्बन्ध के पूर्व जो अवस्था होती है उसका नाम दर्शन है। यह विषय और विषयी के सम्पात की पूर्व अवस्था आत्मसंवेदनस्वरूप ही है। अतः इसका अभिप्राय भी पूर्वोक्त लक्षणों से भिन्न नहीं है।[2]

इस प्रकार प्रसंगवश यहाँ दर्शनविषयक कुछ विचार किया गया। अनन्तर क्रमप्राप्त दर्शन मार्गणा में चक्षुदर्शनी आदि चार के अस्तित्व के प्ररूपक सूत्र (१,१,१३१) की व्याख्या करते हुए धवला में दर्शन के विषय में प्रकारान्तर से विचार किया गया है। वहाँ चक्षु-दर्शन के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि चक्षु से जो सामान्य अर्थ का ग्रहण होता

---

१. जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥
धवला पु० १, पृ० १४६ तथा पु० ७, पृ० १०० में उद्धृत। अनुयोगद्वार की हरिभद्र विरचित वृत्ति (पृ० १०३) में भी यह उद्धृत है।

२. इस सबके लिए धवला पु० १, पृ० १४५-४६ द्रष्टव्य हैं।

है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

यहाँ शंकाकार ने इस चक्षुदर्शन की असम्भावना को प्रकट करते हुए अपना पक्ष इस प्रकार स्थापित किया है—विषय और विषयी के सम्पात के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह माना जाता है। प्रश्न है कि वह अवग्रह विधिसामान्य को ग्रहण करता है या प्रतिषेधसामान्य को ? वह बाह्य पदार्थगत विधिसामान्य को तो ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि प्रतिषेध से रहित विधिसामान्य अवस्तुरूप है; अतएव वह उसका विषय नहीं हो सकता है। जो ज्ञान प्रतिषेध को विषय नहीं करता है उसकी प्रवृत्ति विधि में सम्भव नहीं है। इसी प्रसंग में आगे प्रतिषेध से उस विधि के भिन्नता-अभिन्नता विषयक विकल्पों को उठाते हुए उसके ग्रहण का निषेध किया गया है। इस प्रकार अवग्रह द्वारा विधिसामान्य के ग्रहण का निराकरण कर आगे वादी ने उसके द्वारा प्रतिषेध सामान्य के ग्रहण का भी निषेध विधिपक्ष में दिये गये दूषणों की सम्भावना के आधार पर किया है। अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए उसने कहा है कि इससे निश्चित है कि जो विधि-निषेधरूप बाह्य अर्थ को ग्रहण करता है उसे अवग्रह कहना चाहिए और वह दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य ग्रहण का नाम दर्शन है। इसलिए चक्षु-दर्शन घटित नहीं होता है।

इस प्रकार वादी के द्वारा चक्षुदर्शन के अभाव को सिद्ध करने पर उसके इस पक्ष का निराकरण करते हुए धवला में कहा गया है कि दर्शन के विषय में जो दोष दिये गये हैं वे वहाँ चरितार्थ नहीं होते। कारण यह है कि वह दर्शन अन्तरंग पदार्थ को विषय करता है, न कि बाह्य पदार्थ को; जिसके आश्रय से उन दोषों को उद्भावित किया गया है। वह जिस अन्तरंग अर्थ को विषय करता है वह सामान्य-विशेषरूप है, वह न केवल सामान्य रूप है और न केवल विशेष रूप भी है। इस प्रकार जब विधि-सामान्य और प्रतिषेध-सामान्य में उपयोग की प्रवृत्ति क्रम से घटित नहीं होती है तब उन दोनों में उसकी प्रवृत्ति को युगपत् स्वीकार कर लेना चाहिए।

इस पर पुनः यह शंका की गयी है कि वैसा स्वीकार करने पर वह अन्तरंग उपयोग भी दर्शन नहीं ठहरता है, क्योंकि आपके कथनानुसार वह अन्तरंग उपयोग सामान्य-विशेष को विषय करता है, जबकि दर्शन सामान्य को विषय करता है। समाधान में कहा गया है कि 'सामान्य' शब्द से सामान्य-विशेष रूप आत्मा को ही ग्रहण किया जाता है।

'सामान्य' शब्द से आत्मा का ग्रहण कैसे सम्भव है, इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि चक्षुइन्द्रियावरण का क्षयोपशम रूपसामान्य में नियमित है, क्योंकि उसके आश्रय से रूपविशिष्ट अर्थ का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार चक्षुइन्द्रियावरण का वह क्षयोपशम रूप-विशिष्ट अर्थ के प्रति समान है, और चूंकि वह क्षयोपशम आत्मा से भिन्न सम्भव नहीं है, इस-लिए उससे अभिन्न आत्मा भी समान है। इस प्रकार समान के भावरूप वह सामान्य आत्मा ही सम्भव है और चूंकि दर्शन उसे ही विषय करता है, इसलिए अन्तरंग उपयोग के दर्शन होने में कुछ भी विरोध नहीं आता।

इस प्रकार से यहाँ अन्य शंका-समाधान पूर्वक प्रकृत चक्षुदर्शन आदि के विषय में विचार किया गया है।[1]

---

१. धवला पु० १, पृ० ३७८-८२

दर्शनविषयक कुछ विचार पीछे 'वीरसेन की न्यायनिपुणता' शीर्षक में भी हम कर आये हैं।

आगे प्रकृति समुत्कीर्तन चूलिका में दर्शनावरणीय के प्रसंग में भी दर्शन के स्वरूप का निर्देश है। तदनुसार ज्ञान के उत्पादक प्रयत्न से अनुविद्ध स्वसंवेदन को दर्शन कहा गया है। वह भी आत्मविषयक उपयोग ही है।

इसे कुछ और भी स्पष्ट करते हुए आगे धवला में उल्लेख है कि चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान के उत्पादक प्रयत्न से सम्बद्ध आत्मसंवेदन के होने पर 'मैं रूप के देखने में समर्थ हूँ' इस प्रकार की सम्भावना का जो कारण है उसे चक्षुदर्शन समझना चाहिए।

कितने ही विद्वान् बाह्य पदार्थ के सामान्य ग्रहण को दर्शन मानते हैं। उनके इस अभिमत का निराकरण करते हुए पूर्व के समान समस्त पदार्थों में साधारण होने से आत्मा को सामान्य मानकर तद्विषयक उपयोग को ही दर्शन कहा गया है।

अन्य कितने ही आचार्य 'केवलज्ञान ही एक आत्मा और बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है' यह कहते हुए केवलदर्शन के अभाव को प्रकट करते हैं। उनके इस अभिप्राय का निराकरण करते हुए यहाँ धवला में यह कहा गया है कि केवलज्ञान पर्याय है, अतः उसके अन्य पर्याय सम्भव नहीं है। इस कारण उसके आत्मा और बाह्य पदार्थ दोनों के ग्रहण रूप दो प्रकार की शक्ति सम्भव नहीं है, अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग अनिवार्यतः प्राप्त होगा।[1]

प्रस्तुत षट्खण्डागम के द्वितीय क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में प्रथम स्वामित्व अनुयोगद्वार है। उसमें दर्शनमार्गणा के प्रसंग में चक्षुदर्शनी व अचक्षुदर्शनी आदि किस कारण से होते हैं, इस पर विचार किया गया है। उस प्रसंग में वादी ने दर्शन के अभाव को सिद्ध करने के लिए अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए यह कहा है कि दर्शन है ही नहीं, क्योंकि उसका कुछ भी विषय नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वह बाह्य अर्थगत सामान्य को विषय करता है तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर केवलदर्शन के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इसे स्पष्ट करते हुए वादी कहता है कि तीनों काल सम्बन्धी अर्थ और व्यंजनपर्यायोंरूप समस्त द्रव्यों को केवलज्ञान जानता है। वैसी अवस्था में केवलदर्शन का कुछ भी विषय शेष नहीं रह जाता। तथा केवलज्ञान द्वारा जाने गये विषय को ही यदि केवलदर्शन ग्रहण करता है तो गृहीत के ग्रहण से कुछ प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं। यह कहना भी उचित नहीं कि केवलज्ञान जब समस्त पदार्थगत विशेष मात्र को ग्रहण करता है और केवलदर्शन समस्त पदार्थगत सामान्य को ग्रहण करता है तब केवलदर्शन निर्विषय कहाँ रहा? ऐसा न कह सकने का कारण यह है कि वैसा स्वीकार करने पर संसार अवस्था में आवरण के वश क्रम से प्रवृत्त होनेवाले ज्ञान और दर्शन द्वारा द्रव्य के न जानने का प्रसंग प्राप्त होगा। कारण यह कि आपके ही मतानुसार केवलज्ञान का व्यापार तो सामान्य से रहित केवल विशेषों में है और दर्शन का व्यापार विशेष से रहित केवल सामान्य में है। इस प्रकार वे दोनों ही द्रव्य को नहीं जान सकते। यही नहीं, केवली के द्वारा भी द्रव्य का ग्रहण न हो सकेगा, क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप में स्वीकृत सामान्य और विशेष के विषय में क्रम से व्याप्त रहने वाले केवलदर्शन और केवलज्ञान की द्रव्य के विषय में प्रवृत्ति का विरोध है। इसके अति-

---

१. धवला पु० ६, पृ० ३२-३४

रिक्त एक-दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष रहनेवाले उन सामान्य और विशेष का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है जिन्हें केवलदर्शन और केवलज्ञान विषय कर सकें। और जो असत् है वह प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इस परिस्थिति में प्रमेय के अभाव में उसको विषय करनेवाला प्रमाण भी सम्भव नहीं है। इससे उस दर्शन का अभाव ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार वादी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त अभिमत का निराकरण करते हुए धवला में कहा गया है कि दर्शन का अभाव नहीं हो सकता। कारण यह कि सूत्र में आठ कर्मों का निर्देश किया गया है। पर आवरणीय (दर्शन) के अभाव में आवरक (दर्शनावरणीय कर्म) का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इससे उस दर्शन का अस्तित्व सिद्ध है। इस पर यदि यह कहा जाय कि आवरणीय भी न रहे, तो ऐसा कहना उचित न होगा, क्योंकि "चक्षुदर्शिनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी क्षयोपशमलब्धि से तथा केवलदर्शनी क्षायिकलब्धि से होते हैं" इस प्रकार उनके अस्तित्व का प्रतिपादक जिनवचन[1] देखा जाता है। आगे वहाँ जीव के लक्षणभूत ज्ञान-दर्शन का निर्देश करनेवाली दो गाथाओं को उद्धृत करते हुए कहा है कि इत्यादि उपसंहार सूत्र भी देखा जाता है।

इस प्रकार धवलाकार द्वारा दर्शन के अभावविषयक उपर्युक्त अभिमत का निराकरण आगम के आधार पर किया गया है। इससे वहाँ यह शंका उठायी गयी है कि भले ही आगम प्रमाण से दर्शन का अस्तित्व सिद्ध होता हो, किन्तु उसका अस्तित्व युक्ति से तो सिद्ध नहीं होता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि जिस आगमवचन के आश्रय से उस दर्शन के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है वह युक्तियों से बाधित नहीं होता। इस पर शंकाकार ने भी कहा है कि यथार्थ युक्ति आगम से भी बाधित नहीं होना चाहिए। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह ठीक है, यथार्थ युक्ति आगम से बाधित नहीं होती। पर आपकी वह युक्ति यथार्थ नहीं है, इसलिए वह आगम से अवश्य बाधित है। इसे और स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि ज्ञान केवल विशेष को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि द्रव्य के सामान्य-विशेषात्मक होने से वह जात्यन्तर रूपता को प्राप्त देखा जाता है। ज्ञान जब तक दोनों नयों के विषय को न ग्रहण करे तब तक वह साकार नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति के होते हुए दर्शन का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसका व्यापार बाह्य पदार्थ को छोड़कर अन्तरंग अर्थ में है।

धवला में एक बार फिर से यहाँ केवल ज्ञान के द्वारा अन्तरंग और बहिरंग अर्थ के जानने का निषेध करते हुए अन्तरंग उपयोगरूप दर्शनविषयक मान्यता का "जं सामण्णग्गहणं" आदि सूत्र के साथ सम्भावित विरोध का परिहार भी कर दिया गया है।

इसी प्रसंग में आगे शंकाकार ने कहा है कि उक्त प्रकार से सामान्य दर्शन और केवल दर्शन के सिद्ध हो जाने पर भी शेष चक्षुदर्शन आदि का सद्भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वे बाह्य अर्थ को ही विषय करते हैं। इसकी पुष्टि शंकाकार ने "चक्खूण जं पयासदि" आदि दो गाथाओं द्वारा की है।

इस पर धवलाकार ने 'इन गाथाओं के परमार्थ को नहीं समझा है' ऐसा कहते हुए पदच्छेद-

१. ष०ख० सूत्र २,१,५६-५६ (पु०७, पृ०६६-१०३)

पूर्वक उन दोनों गाथाओं के यथार्थ अर्थ को प्रकट किया है जो ध्यान देने योग्य है।[1]

इस प्रकार धवलाकार ने अनेक प्रसंगों पर[2] प्रकृत दर्शन उपयोग के विषय में ऊहापोह-पूर्वक विशद विचार किया है और निष्कर्ष के रूप में सर्वत्र स्वरूप संवेदन को दर्शन सिद्ध किया है।

उपशामन-विधि और क्षपण-विधि

प्रकृत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में मनुष्यगति के आश्रय से मनुष्यों में निर्दिष्ट चौदह गुण-स्थानों के प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि इस सूत्र (१,१,२७) का अर्थ पूर्व में—ओघ के प्रसंग में—कहा जा चुका है। पर पूर्व में कहीं उपशामन-विधि और क्षपण-विधि का प्ररूपण नहीं हुआ है, इसलिए हम यहाँ उससे सम्बद्ध उपशामक और क्षपक के स्वरूप के ज्ञापनार्थ उसकी संक्षेप में प्ररूपणा करते हैं। ऐसी सूचना करते हुए उन्होंने प्रथमतः धवला में उपशामन-विधि की प्ररूपणा इस प्रकार की है—

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों को असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत तक—इनमें से कोई भी उपशमा सकता है। अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृति के रूप में रहना, यह अनन्तानुबन्धियों का उपशम है। सम्यक्त्व आदि तीन दर्शनमोह प्रकृतियों का उदय में नहीं रहना, यह उनका उपशम है। इसका कारण यह है कि उनके उपशान्त होने पर भी उनमें अपकर्षण, उत्कर्षण और प्रकृतिसंक्रमण सम्भव है।

अपूर्वकरण में एक भी कर्म का उपशम नहीं होता। किन्तु अपूर्वकरणसंयत प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिगत होता हुआ अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त के क्रम से एक-एक स्थिति-काण्डक का घात करता है। इस प्रकार से वह संख्यात हजार स्थितिखण्डों का घात करता है। वह उतने ही स्थितिबन्धापसरणों को भी करता है। एक-एक स्थितिकाण्डक काल के भीतर वह संख्यात हजार अनुभागखण्डों का घात करता है। प्रत्येक समय में वह असंख्यातगुणित श्रेणि के क्रम से प्रदेश निर्जरा को करता है। वह जिन अप्रशस्त कर्मों को नहीं बाँधता है उनके प्रदेशपिण्ड को असंख्यात गुणित के क्रम से अन्य बँधनेवाली प्रकृतियों में संक्रान्त करता है।

इस प्रकार वह अपूर्वकरणकाल को बिताकर अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होता हुआ अन्तर्मुहूर्त तक उसी विधि के साथ स्थित रहता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि बारह कषायों और नौ नोकषायों के अन्तरकरण को[3] करता है। अन्तरकरण के समाप्त होने पर वह प्रथम समय से लेकर आगे अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसक वेद का उपशम करता

---

१. धवला पु० ७, पृ० ९६-१०२

२. जैसे—पु० १, १४५-४९ व आगे पृ० ३७९-८२; पु० ६, पृ० ३२-३४; पु० ७, पृ० ९६-१०२; और पु० १३, पृ० ३५४-५६

३. अन्तर, विरह और शून्यता ये समानार्थक शब्द हैं; इस प्रकार के अन्तर को करना अन्तर-करण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि नीचे और ऊपर की कितनी ही स्थितियों को छोड़कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बीच की स्थितियों को शून्य या उनका अभाव कर देना, अन्तरकरण कहा जाता है।—पु० १, पृ० २१२ का टिप्पण २

है। उपशम का अर्थ है कर्म का उदय, उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डक घात और अनुभागकाण्डक घात के बिना सत्ता में स्थित रहना।

तत्पश्चात् वह अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसकवेद की उपशामन विधि के अनुसार स्त्रीवेद को उपशमाता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधि से वह पुरुषवेद के चिरकालीन सत्त्व को और हास्यादि छह नोकषायों को एक साथ उपशमाता है। आगे एक समय कम दो आवलियाँ जाकर वह पुरुषवेद के नवीन बन्ध को उपशमाता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रत्येक समय में असंख्यात गुणित श्रेणि के क्रम से संज्वलन क्रोध के चिरसंचित सत्त्व के साथ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण दोनों प्रकार के क्रोध को एक साथ उपशमाता है। तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलियाँ जाकर संज्वलन-क्रोध के नवीन बन्ध को उपशमाता है। इसी पद्धति से वह आगे दो प्रकार के मान, माया आदि के साथ संज्वलनमान व माया आदि के चिरकालीन सत्त्व को एक साथ व एक समय कम दो आवलियाँ जाकर संज्वलन मान आदि के नवीन बन्ध को उपशमाता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया बादर-संज्वलन-लोभ तक चलती है। अनन्तर समय में वह सूक्ष्म कृष्टिरूप संज्वलन लोभ का वेदन करता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को छोड़ सूक्ष्मसाम्परायिक संयत हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपने अन्तिम समय में उस सूक्ष्म कृष्टिरूप संज्वलन लोभ को पूर्ण रूप में उपशमा कर उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ हो जाता है। इस प्रकार से यहाँ धवला में मोहनीय के उपशमाने की विधि की प्ररूपणा की गई है।[1]

आगे कृतप्रतिज्ञा के अनुसार मोह की क्षपणा के विधान की भी प्ररूपणा करते हुए सर्वप्रथम धवलाकार द्वारा क्षपणा के स्वरूप में यह कहा गया है कि जीव से आठों कर्मों का सर्वथा विनष्ट या पृथक् हो जाने का नाम क्षपणा या क्षय है। ये आठों कर्म मूल व प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से अनेक प्रकार के हैं। असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत में से कोई भी तीनों करणों को करके अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में प्रथमतः अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार का एक साथ क्षय करता है। पश्चात् क्रम से पुनः उन तीन करणों को करके अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग को बिताकर मिथ्यात्व का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर सम्यग्मिथ्यात्व का और फिर अन्तर्मुहूर्त जाकर सम्यक्त्व का क्षय करता है। इस प्रकार क्षायिकसम्यग्दृष्टि होकर वह क्रम से अधःकरण को करके अन्तर्मुहूर्त में अपूर्वकरण हो जाता है।

अपूर्वकरणसंयत होकर वह इस गुणस्थान में एक भी कर्म का क्षय नहीं करता है। पर प्रत्येक समय में वह असंख्यात गुणित श्रेणि से प्रदेशनिर्जरा को करता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त क्रम से इस गुणस्थान में स्थितिकाण्डक घात आदि को करता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट होता है। इस अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग को अपूर्वकरण में निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार बिताकर उसका संख्यातवाँ भाग शेष रह जाने पर वह निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है और तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्या-

---

१. धवला पु० १, पृ० २१०-१४

स्त्यानावरण क्रोधादिरूप आठ कषायों का एक साथ क्षय करता है।

इस प्रसंग में यहाँ धवलाकार ने सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत के अनुसार दो भिन्न मतों का उल्लेख किया है और अनेक शंका-समाधानपूर्वक उनके विषय में विचार करते हुए उन दोनों को ही संग्राह्य कहा है। उस सबकी चर्चा आगे 'मतभेद' के प्रसंग में हम करेंगे।

उक्त दोनों उपदेशों के अनुसार आगे-पीछे उन सोलह प्रकृतियों और आठ कषायों के क्षय को प्राप्त हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त जाकर वह चार संज्वलन और नौ नोकषायों के अन्तरकरण को करता है। उन चार संज्वलन कषायों में जो भी एक उदय को प्राप्त हो उसकी तथा नौ नोकषायों के अन्तर्गत तीन वेदों में भी जो एक उदय को प्राप्त हो उसकी प्रथम स्थिति को अन्तर्मुहूर्त मात्र तथा शेष ग्यारह प्रकृतियों की प्रथम स्थिति को एक आवली मात्र करता है।

अन्तरकरण करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर यह नपुंसकवेद का क्षय करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्रीवेद का क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त जाकर सवेद रहने के द्विचरम समय में पुरुषवेद के चिरसंचित सत्त्व के साथ छह नोकषायों का एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् दो आवली मात्र काल जाकर पुरुषवेद का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त जाकर वह क्रम से संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में वह सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान को प्राप्त होता है। वह सूक्ष्मसाम्परायिक संयत भी अपने अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का क्षय करता है।

अनन्तर समय में वह क्षीणकषाय होकर अन्तर्मुहूर्त काल के बीतने पर अपने क्षीणकषाय काल के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दोनों ही प्रकृतियों का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद के समय में वह पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का क्षय अपने क्षीणकषाय काल के अन्तिम समय में करता है। इन साठ कर्मों के क्षीण हो जाने पर वह सयोगी जिन हो जाता है। वह सयोगकेवली किसी कर्म का क्षय नहीं करता है, वह क्रम से विहार करके योगों का निरोध करता हुआ अयोगकेवली हो जाता है। वह भी अपने द्विचरम समय में अनुदय प्राप्त कोई एक वेदनीय और देवगति आदि बहत्तर प्रकृतियों का क्षय करता है। तत्पश्चात् अनन्तर समय में वह उदयप्राप्त वेदनीय और मनुष्यगति आदि तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है। अथवा मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी के साथ वह अयोगकेवली द्विचरम समय में तिहत्तर और अन्तिम समय में बारह प्रकृतियों का क्षय करता है।

मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी के क्षय के विषय में कुछ मतभेद रहा है। आचार्य पूज्यपाद आदि के मतानुसार अनुदय प्राप्त उस मनुष्यगत्यानुपूर्वी का क्षय अयोगकेवली के अन्तिम समय में होता है[1], किन्तु अन्य आचार्यों के मतानुसार उस का क्षय अयोगकेवली के द्विचरम समय में होता है।[2]

उपर्युक्त विधि से समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर जीव नीरज होता हुआ सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार धवला में प्रसंग पाकर मोहनीय कर्म के क्षय की विधि का निरूपण किया गया है।

---

१. स०सि० १०-२

२. कर्मप्रकृति की उपा० यशोवि० टीका पृ० ६४

एकेन्द्रियादि जीवों की व्यवस्था

इसी सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में आगे इन्द्रियमार्गणा के प्रसंग में एकेन्द्रियादि जीवों के अस्तित्व के प्ररूपक सूत्र (१,१,३३) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने प्रथमतः 'इन्द्रनात् इन्द्रः आत्मा, तस्य लिंगम् इन्द्रियम्। इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्' इस निरुक्ति के अनुसार इन्द्र का अर्थ आत्मा करके उसके अर्थज्ञान में कारणभूत लिंग को अथवा उसके अस्तित्व के साधक लिंग को इन्द्रिय कहा है। प्रकारान्तर से इन्द्र का अर्थ नामकर्म करके उसके द्वारा जो रची गयी है उसे इन्द्रिय कहा गया है। इसका आधार सम्भवतः सर्वार्थसिद्धि (१-१४) रही है।

तत्पश्चात् मूल में उसके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके भेद-प्रभेदों को भी धवला में स्पष्ट किया गया है।

इस प्रसंग में यहाँ यह शंका की गयी है कि चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम स्पर्शन इन्द्रिय के समान समस्त आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होता है अथवा प्रतिनियत आत्मप्रदेशों में। इन दोनों विकल्पों में उस क्षयोपशम की असम्भावना को व्यक्त करते हुए आगे शंकाकार कहता है कि समस्त आत्मप्रदेशों में उनका क्षयोपशम होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर समस्त अवयवों के द्वारा रूप-रसादि की उपलब्धि होना चाहिए, पर वैसा देखा नही जाता है। प्रतिनियत आत्मप्रदेशों में भी उनका क्षयोपशम नही हो सकता है। इसका कारण यह है कि आगे वेदनासूत्रों में जो कर्मवेदनाओं को यथासम्भव स्थित, अस्थित और स्थित-अस्थित कहा गया है[1] उससे जीवप्रदेशों की परिभ्रमणशीलता निश्चित है। तदनुसार जीवप्रदेशों के संचरमाण होने पर सब जीवों के अन्धता का प्रसंग प्राप्त होता है।

इस शंका के समाधान में धवला में कहा गया है कि उपर्युक्त दोष की सम्भावना नहीं है। कारण यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियों का क्षयोपशम तो समस्त जीवप्रदेशों में उत्पन्न होता है. किन्तु उन सब जीवप्रदेशों के द्वारा जो रूपादि की उपलब्धि नहीं होती है उसका कारण उस रूपादि की उपलब्धि में सहायक जो बाह्य निर्वृत्ति है वह समस्त जीवप्रदेशों में व्याप्त नहीं है। इस प्रकार धवलाकार ने अन्य शंका-समाधानपूर्वक इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह किया है।

आगे स्वरूप निर्देशपूर्वक धवला में चक्षुरादि बाह्य निर्वृत्ति, इन्द्रियों के आकार और उनके प्रदेश प्रमाण को प्रकट करते हुए उपकरणेन्द्रिय के बाह्य व अभ्यन्तर भेदों के साथ भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग भेदों को भी स्पष्ट किया गया है। अन्त में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों के स्वरूप को दिखलाते हुए उसी सिलसिले में स्पर्शनादि इन्द्रियों के स्वरूप को भी स्पष्ट कर दिया गया है।[2]

इसी प्रकार आगे भी इस सत्प्ररूपणा में कायादि अन्य मार्गणाओं के प्रसंग में भी विवक्षित विषय का आवश्यकतानुसार धवला में विवेचन किया गया है। जैसे—योगमार्गणा के प्रसंग में केवलिसमुद्घात[3] का तथा ज्ञानमार्गणा के प्रसंग में मतिज्ञानादि ज्ञानभेदों का।[4]

---

१. सूत्र ४,२,११,१-१२, पृ० ३६४-६६
२. धवला पु० १, पृ० २३१-४६
३. वही, १,३००-४
४. वही, ३५३-६०

आलाप

प्रकृत सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के अन्तर्गत समस्त (१७७) सूत्रों की व्याख्या कर चुकने पर आगे धवलाकार ने उनकी प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की है।[1] यहाँ 'प्ररूपणा' से उनका क्या अभिप्राय रहा है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे उन्होंने कहा है कि ओघ और आदेश की अपेक्षा गुणस्थानों, जीवसमासों, पर्याप्तियों, प्राणों, संज्ञाओं, गत्यादि चौदह मार्गणाओं और उपयोगों के विषय में पर्याप्त-अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जो जीवों की परीक्षा की जाती है उसका नाम प्ररूपणा है।[2] यह कहते हुए उन्होंने आगे 'उक्तं च' निर्देश के साथ इस गाथा को उद्धृत किया है—

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवजोगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया ॥

इसके आश्रय से प्ररूपणा के इन वीस भेदों का निर्देश किया है—

१. गुणस्थान, २. जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६-१८. चौदह मार्गणायें और २०. उपयोग।

आगे धवला में यह सूचना की गई है कि शेष प्ररूपणाओं का अर्थ कहा जा चुका है, इससे उनकी पुनः प्ररूपणा न करके यहाँ प्राण, संज्ञा और उपयोग इन प्ररूपणाओं का अर्थ कहा जाना है। तदनुसार आगे धवला में प्राण, संज्ञा और उपयोग इनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनमें प्राण और संज्ञा के भेदों का भी निर्देश कर दिया गया है।[3]

यहाँ इस प्रसंग में यह शंका की गई है कि गाथा मे निर्दिष्ट यह वीस प्रकार की प्ररूपणा सूत्र के द्वारा कही गई है या नही। यदि सूत्र द्वारा वह नही कही गई है तो यह प्ररूपणा नही हो सकती, क्योंकि वह सूत्र मे अनुक्त अर्थ का प्रतिपादन करती है। और यदि वह सूत्र मे कही गई है तो जीवसमास, प्राण, पर्याप्ति, उपयोग और संज्ञा इनका मार्गणाओं मे जैसे अन्तर्भाव होता है वैसा कहना चाहिए।

इस शंका के समाधान में धवलाकार ने 'सूत्र में अनुक्त' रूप दूसरे पक्ष का निषेध करते हुए जीवसमास आदि का मार्गणाओं में जहाँ अन्तर्भाव सम्भव है वहाँ उसे दिखला दिया है।

आगे 'प्ररूपणा से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है' यह पूछने पर उसके उत्तर में कहा गया है कि सूत्र के द्वारा जिन अर्थों की सूचना की गई है उनके स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकरण के द्वारा वह वीस प्रकार की प्ररूपणा कही जा रही है।[4]

इस प्रकार सूत्र से सूचित होने के कारण धवलाकार ने उन वीस प्ररूपणाओं को वर्णनीय

---

१. संपहि संतसुत्तविवरणसमत्ताणंतरं तेसिं परूवणं भणिस्सामो।—धवला पु० २, पृ० ४११

२. परूवणा णाम किं उत्तं होदि? ओघादेसेहि गुणेसु जीवसमासेसु पज्जत्तीसु पाणेसु सण्णासु गदीसु इंदिएसु काएसु जोगेसु वेदेसु कसाएसु णाणेसु संजमेसु दंसणेसु लेस्सासु भविएसु अभविएसु सम्मत्तेसु सण्णि-असण्णीसु आहारि-अणाहारीसु उवजोगेसु च पज्जत्तापज्जत्त-विसेसणेहि विसेसिऊण जा जीवपरिक्खा सा परूवणा णाम। —धवला पु० २, पृ० ४११

३. धवला पु०२, पृ०४१२-१३

४. धवला पु० २, पृ० ४१३-१५

बतलाकर ओघ और आदेश की अपेक्षा गुणस्थानों और मार्गणाओं में उनके अस्तित्व को प्रकट किया है। यथा—

बीस प्ररूपणाएँ—धवलाकार ने इन बीस प्ररूपणाओं का वर्णन प्रथमतः ओघ (गुणस्थानों) में और तत्पश्चात् आदेश (गति इन्द्रिय आदि मार्गणाओं) में क्रम से सामान्य जीव, पर्याप्त जीव और अपर्याप्त जीव इन तीन के आश्रय से किया है। सर्वप्रथम यहाँ सामान्य से जीवों में इन बीस प्ररूपणाओं के अस्तित्व को प्रकट करते हुए सभी (१४) गुणस्थानों का और सभी (१४) जीवसमासों का अस्तित्व दिखाया गया है। सिद्धों की अपेक्षा अतीत गुणस्थान और अतीत जीवसमास के भी अस्तित्व को प्रकट किया गया है।

पर्याप्तियों में संज्ञी पंचेन्द्रियों में पर्याप्तता की अपेक्षा ६ पर्याप्तियों और अपर्याप्तता की अपेक्षा ६ अपर्याप्तियों के अस्तित्व को दिखाया गया है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि द्वीन्द्रिय पर्यन्त पर्याप्त-अपर्याप्तों में क्रम से ५ पर्याप्तियों और ५ अपर्याप्तियों के तथा एकेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्तों की अपेक्षा ४ पर्याप्तियों और ४ अपर्याप्तियों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है। सिद्धों की अपेक्षा अतीत पर्याप्ति के भी अस्तित्व को दिखलाया गया है। प्राणों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तों के १०, अपर्याप्तों के ७; असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तों के ९, अपर्याप्तों के ७; चतुरिन्द्रिय पर्याप्तों के ८, अपर्याप्तों के ६; त्रीन्द्रिय पर्याप्तों के ७, अपर्याप्तों के ५; द्वीन्द्रिय पर्याप्तों के ६, अपर्याप्तों के ४; तथा एकेन्द्रिय पर्याप्तों के ४ व अपर्याप्तों के ३ प्राणों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है। सिद्धों की अपेक्षा अतीत प्राण को भी दिखलाया गया है।

इसी पद्धति से आगे की प्ररूपणाओं में संज्ञाओं, पृथक्-पृथक् गति इन्द्रियादि १४ मार्गणाओं और उपयोगों के अस्तित्व को बतलाया गया है। उपयोग के प्रसंग में साकार उपयोगयुक्त, अनाकार उपयोगयुक्त और एक साथ साकार-अनाकार उपयोगयुक्त (केवली व सिद्धों की अपेक्षा) जीवों के अस्तित्व को प्रकट किया गया है।[1]

इस प्रकार प्रथमतः धवला में जीवविशेष की विवक्षा न करके ओघ आलाप के रूप में सामान्य से जीवों में उपर्युक्त बीस प्ररूपणाओं के अस्तित्व को दिखलाकर आगे यथाक्रम से वहाँ पर्याप्त ओघआलाप, अपर्याप्त ओघआलाप, मिथ्यादृष्टि ओघआलाप, मिथ्यादृष्टि पर्याप्त ओघआलाप, मिथ्यादृष्टि अपर्याप्त ओघआलाप तथा इसी पद्धति से आगे सासादन सम्यग्दृष्टि आदि अन्य गुणस्थानों में सामान्य, पर्याप्त और अपर्याप्त ओघ आलापों में उक्त बीस प्ररूपणाओं के यथासम्भव अस्तित्व को प्रदर्शित किया गया है। उदाहरण के रूप में यहाँ पर्याप्त व अपर्याप्त ओघआलापों को स्पष्ट किया जाता है। पर्याप्त ओघआलाप जैसे—

सामान्य से पर्याप्त जीवों में (१) गुणस्थान चौदह पर अतीत गुणस्थान का अभाव; (२) जीवसमास सात (पर्याप्त) पर अतीत जीवसमास का अभाव; (३) पर्याप्तियाँ क्रम से संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि के क्रम से छह, पाँच व चार, अतीत पर्याप्ति का अभाव; (४) संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि के प्राण क्रम से दस, नौ, आठ, सात, छह व चार, अतीतप्राण का अभाव; (५) संज्ञाएँ चार व क्षीणसंज्ञा भी, (६) गतियाँ चार, गति का अभाव; (७) जातियाँ एकेन्द्रिय आदि पाँच, अतीत जाति का अभाव; (८) काय पृथिवी आदि छह, अतीतकाय का

---

१. धवला पु० २, पृ० ४१५-२०

अभाव; (९) योग औदारिक मिश्र, वैक्रियिक मिश्र, आहारक मिश्र और कार्मण इन चार के विना शेष ग्यारह व अयोग; (१०) वेद तीन, अपगत वेद भी; (११) कषाय चार, अकषाय भी; (१२) ज्ञान आठ (तीन अज्ञान के साथ); (१३) संयम सात (असंयम व संयमासंयम के साथ), संयम-असंयम-संयमासंयम का अभाव (सिद्धों की अपेक्षा); (१४) दर्शन चार, (१५) लेश्या द्रव्य व भाव की अपेक्षा छह, अलेश्य का अभाव; (१६) भव्यसिद्धिक व अभव्यसिद्धिक, न भव्यसिद्धिक न अभव्यसिद्धिकों का अभाव; (१७) सम्यक्त्व छह (मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि के साथ); (१८) संज्ञी व असंज्ञी, न संज्ञी न असंज्ञी का अभाव; (१९) आहारी व अनाहारी, (२०) साकार उपयोग युक्त, अनाकार उपयोग युक्त, तथा युगपत् साकार-अनाकार उपयोग युक्त।[1]

इसे एक दृष्टि में इस प्रकार देखा जा सकता है—

पर्याप्त सामान्य ओघ आलाप

(१) गुणस्थान—मिथ्यादृष्टि आदि १४
(२) जीवसमास—एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त आदि ७
(३) पर्याप्ति—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ६, असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि पर्याप्त ५ तथा एकेन्द्रिय पर्याप्ति ४
(४) प्राण—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त १०, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ९, चतुरिन्द्रिय प० ८, त्री० प० ७, द्वी० प० ६, एकेन्द्रिय प० ४
(५) संज्ञा—आहार, भय, मैथुन व परिग्रह
(६) गति—चारों गतियाँ
(७) इन्द्रिय—पाँचों इन्द्रियाँ
(८) काय—छहों काय
(९) योग—औ० मिश्र, वै० मिश्र, आ० मिश्र व कार्मण के विना ११
(१०) वेद—तीनों व अपगत वेद भी
(११) कषाय—चारों व अकषाय भी
(१२) ज्ञान—आठों ज्ञान
(१३) संयम—सामायिक, छेदो०, परि० वि०, सूक्ष्मसा०, यथाख्यात, संयतासंयत व असंयत।
(१४) दर्शन—४ चक्षुदर्शनादि
(१५) लेश्या—६ द्रव्यलेश्या व ६ भावलेश्या
(१६) भव्य—भव्य व अभव्य
(१७) सम्यक्त्व – क्षायिक, वेदक, औप०, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व व मिथ्यात्व
(१८) संज्ञी—संज्ञी व असंज्ञी
(१९) आहार—आहारक व अनाहारक
(२०) उपयोग—साकार, अनाकार, युगपत् साकार-अनाकार

---

१. धवला पु० २, पृ० ४२०-२१

अपर्याप्त सामान्य ओघ आलाप[1]

(१) गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, असंयतस०, प्रमत्तसं०, सयोगकेवली

(२) जीवसमास—७ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त आदि

(३) पर्याप्ति—सं०पं० अपर्याप्त ६, असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि द्वीन्द्रिय पर्यन्त अपर्याप्त ५, एकेन्द्रिय अप० ४

(४) प्राण—संज्ञी पं० ७, असंज्ञी पं० ७, चतुरिन्द्रिय ६, त्री० ५, द्वी० ४, एकेन्द्रिय ३

(५) संज्ञा—चारों, अतीतसंज्ञा भी

(६) गति—चारों गतियाँ

(७) इन्द्रिय—एकेन्द्रियादि ५

(८) काय—पृथिवी कायिकादि छहों

(९) योग —४ औ०मिश्र, वै०मिश्र, आ०मिश्र व कार्मण

(१०) वेद—तीनों, अपगत वेद भी

(११) कषाय—क्रोधादि चारों, अकषाय भी

(१२) ज्ञान—६ मनःपर्यय व विभंग के बिना

(१३) संयम—४ सामायिक, छेदो०, यथाख्यात व असंयम

(१४) दर्शन—चक्षुदर्शनादि ४

(१५) लेश्या—द्रव्यलेश्या कापोत व शुक्ल, भावलेश्या छहों

(१६) भव्य—भवसिद्धिक व अभवसिद्धिक

(१७) सम्यक्त्व—सम्यग्मिथ्यात्व के विना पाँच

(१८) संज्ञी—संज्ञी, असंज्ञी, अनुभय

(१९) आहार—आहारी व अनाहारी

(२०) उपयोग—साकार, अनाकार, युगपत् साकार-अनाकार

इसी पद्धति से आगे मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में ओघ आलापों और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा अवान्तर भेदों के साथ गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में आलापों का पृथक्-पृथक् विचार किया गया है।

इस विस्तृत आलापाधिकार को षट्खण्डागम की सोलह जिल्दों में से दूसरी जिल्द में प्रकाशित किया गया है। यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार ऊपर दो तालिकाओं द्वारा पर्याप्त व अपर्याप्त सम्बन्धी ओघ आलापों को स्पष्ट किया गया है उसी प्रकार दूसरी जिल्द में सभी आलापों को विविध तालिकाओं द्वारा हिन्दी अनुवाद में स्पष्ट किया गया है। ऐसी सब तालिकायें वहाँ ५४५ हैं।

२. द्रव्यप्रमाणानुगम

द्रव्य-प्रमाणानुगम का स्पष्टीकरण—जीवस्थानगत पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों में यह दूसरा अनुयोगद्वार है। यह 'द्रव्यप्रमाणानुगम' पद द्रव्य, प्रमाण और अनुगम इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है। उसकी सार्थकता को प्रकट करते हुए धवलाकार ने क्रम से उन तीनों शब्दों की व्याख्या की है। 'द्रव्य' शब्द के निरुक्तार्थ को प्रकट करते हुए धवला में

---

१. धवला पु० २, पृ० ४२२-२३

कहा गया है जो पर्यायों को प्राप्त होता है, भविष्य में प्राप्त होनेवाला है, अतीत में प्राप्त होता रहा है उसका नाम द्रव्य है। आगे मूल में उसके जीव और अजीव द्रव्य इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके भेद-प्रभेदों को स्वरूप निर्देशपूर्वक बतलाया गया है। साथ ही उन भेद-प्रभेदों में यहाँ जीवद्रव्य को प्रसंगप्राप्त कहा गया है, क्योंकि इस अनुयोगद्वार में अन्य द्रव्यों के प्रमाण को न दिखलाकर विभिन्न जीवों के ही प्रमाण को निरूपित किया गया है।

'प्रमाण' शब्द के निरुक्तार्थ को प्रकट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिसके द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं या जाने जाते हैं उसे प्रमाण कहते हैं। जैसाकि पूर्व में आ० वीरसेन की 'व्याकरणपटुता' के प्रसंग में कहा जा चुका है, कि द्रव्य और प्रमाण इन दोनों शब्दों में तत्पुरुष या कर्मधारय आदि कौन-सा समास अभिप्रेत रहा है, इसका ऊहापोह धवला में शंका-समाधानपूर्वक किया गया है।

वस्तु के अनुरूप जो बोध होता है उसे, अथवा केवली व श्रुतकेवली की परम्परा के अनुसार जो वस्तु स्वरूप का अवगम होता है उसे अनुगम कहते हैं।

अभिप्राय यह हुआ कि जिस अनुयोगद्वार के आश्रय से द्रव्य-क्षेत्रादि के अनुसार विभिन्न जीवों की संख्या का बोध होता है उसे 'द्रव्यप्रमाणानुगम' अनुयोगद्वार कहा जाता है।[1]

ओघ की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण

इस अनुयोगद्वार में प्रथमतः ओघ की अपेक्षा— मार्गणा निरपेक्ष सामान्य से—क्रमशः मिथ्यादृष्टि तथा सासादनसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा—गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं से विशेषित—गुणस्थानों में द्रव्य-क्षेत्रादि से भिन्न चार प्रकार के प्रमाण की प्ररूपणा की गयी है।

तदनुसार यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों के द्रव्यप्रमाण का निर्देश करते हुए उसे अनन्त बतलाया गया है। इस प्रसंग में धवला में अनन्त को अनेक प्रकार का बतलाते हुए एक प्राचीन गाथा के आधार से उस के इन भेदों का निर्देश किया है—(१) नामानन्त, (२) स्थापनानन्त, (३) द्रव्यानन्त, (४) शाश्वतानन्त, (५) गणनानन्त, (६) अप्रदेशिकानन्त, (७) एकानन्त, (८) उभयानन्त, (९) विस्तारानन्त, (१०) सर्वानन्त और (११) भावानन्त।

इन सबके स्वरूप का निर्देश करते हुए धवला में उनमें से प्रकृत में गणनानन्त को प्रसंग-प्राप्त कहा गया है। वह गणनानन्त तीन प्रकार का है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इन तीन में यहाँ अनन्तानन्त को ग्रहण किया गया है। अनन्तानन्त भी जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें किस अनन्तानन्त की यहाँ अपेक्षा है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि "जहाँ-जहाँ अनन्तानन्त का मार्गण किया जाता है वहाँ-वहाँ अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) अनन्तानन्त का ग्रहण होता है" इस परिकर्मवचन के अनुसार यहाँ अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्तानन्त का ग्रहण अभिप्रेत है। इस अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्तानन्त के अनन्त भेद हैं। उनमें से यहाँ उसका कौन-सा भेद अभीष्ट है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे धवला में कहा गया है कि जघन्य अनन्तानन्त से अनन्त वर्गस्थान ऊपर जाकर और उत्कृष्ट अनन्तान्त से अनन्त वर्गस्थान नीचे उतरकर मध्य में जिनदेव के द्वारा जो राशि देखी गयी है, उसे ग्रहण करना चाहिए। अथवा, तीन बार वर्गित-संवर्गित राशि से अनन्तगुणी और

१. धवला पु० ३, पृ० २-८

छह द्रव्यप्रक्षिप्त राशि से अनन्तगुणी हीन मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण मिथ्यादृष्टि जीवों की राशि होती है। यहाँ धवलाकार ने उस तीन वार वर्गित-संवर्गित राशि को स्पष्ट कर दिया है।[1]

'छह द्रव्यप्रक्षिप्त' राशि को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि उक्त तीन बार वर्गितसंवर्गित राशि में सिद्ध, निगोदजीव, वनस्पति, काल, पुदगल और समस्त लोकाकाश इन छह अनन्तप्रक्षेपों के मिलाने पर छह द्रव्यप्रक्षिप्त राशि होती है।[2]

मिथ्यादृष्टि जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा के पश्चात् कालप्रमाण की प्ररूपणा करते हुए सूत्र (१,२,३) में कहा गया है कि काल की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत नहीं होते हैं। इसकी व्याख्या के प्रसंग में काल से मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण कैसे जाना जाता है, यह पूछने पर धवला में कहा गया है कि अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों के समयों को और मिथ्यादृष्टि जीवराशि को पृथक्-पृथक् स्थापित करके काल में से एक समय को और मिथ्यादृष्टि जीवराशि में से एक जीव को अपहृत करना चाहिए, इस क्रम से उत्तरोत्तर अपहृत करने पर सब समय तो अपहृत हो जाते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीवराशि अपहृत नहीं होती है। अभिप्राय यह है कि उक्त क्रम से उन अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों के समयों के समाप्त हो जाने पर भी मिथ्यादृष्टि जीवों की राशि समाप्त नहीं होती है।

इसके विपरीत यहाँ शंका उठायी गयी है कि मिथ्यादृष्टि राशि समाप्त हो जाये किन्तु सब समय समाप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि काल की महिमा प्रकट करनेवाला सूत्र देखा जाता है।[3] इसके उत्तर में कहा है कि प्रकृत में अतीतकाल का ग्रहण होने से वह दोष सम्भव नहीं है। उदाहरण देते हुए धवलाकार ने कहा है कि जिस प्रकार लोक में प्रस्थ (माप विशेष) अनागत, वर्तमान और अतीत इन तीन भेदों में विभक्त है। उनमें अनिष्पन्न का नाम अनागत प्रस्थ, निष्पद्यमान का नाम वर्तमान प्रस्थ और निष्पन्न होकर व्यवहार के योग्य हुए प्रस्थ का नाम अतीत प्रस्थ है। इनमें अतीत प्रस्थ से सब बीजों (धान्यकणों) को मापा जाता है। उसी प्रकार काल भी तीन प्रकार का है—अनागत, वर्तमान और अतीत। इनमें अतीत के समयों से सब जीवों का प्रमाण किया जाता है। अभिप्राय यह है कि भले ही अनागत के समय मिथ्यादृष्टि जीवराशि से अधिक हो, किन्तु अतीत के समय मिथ्यादृष्टि जीवराशि से अधिक सम्भव नहीं हैं। इसीलिए मिथ्यादृष्टि जीवराशि समाप्त नहीं होती है और अतीत के सब समय समाप्त हो जाते हैं।[4]

यहाँ धवलाकार ने मिथ्यादृष्टि जीवराशि की अपेक्षा अतीतकाल के समयों की अल्पता सोलह पदवाले अल्पबहुत्व के आधार से की है।[5]

यहाँ धवला में यह शंका की गयी है कि कालप्रमाण की यह प्ररूपणा किस लिए की जा

---

१. धवला पु० ३, पृ० १०-२०

२. वही, २६

३. धम्माधम्मागासा तिण्णि वि तुल्लाणि होंति थोवाणि।
वड्ढीदु जीव-पोग्गल-कालागासा अणंतगुणा ॥—पु०३, पृ० २९

४. धवला पु०३, पृ० २७-३०

५. वही, ३०-३२

रही है। उसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि मोक्ष जानेवाले जीवों की 'अपेक्षा व्यय के होने पर भी मिथ्यादृष्टि जीवराशि का व्युच्छेद नहीं होता है, यह बतलाने के लिए यह कालप्रमाण की प्ररूपणा अपेक्षित है।[1]

आगे के सूत्र (१,२,४) में जो क्षेत्र की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण अनन्तानन्त लोक बतलाया गया है उसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिस प्रकार प्रस्थ द्वारा गेहूँ, जौ आदि धान्य मापा जाता है उसी प्रकार लोक के आश्रय से मिथ्यादृष्टि जीवराशि का भी माप किया जाता है। इस प्रसंग में यह गाथा उद्धृत की गयी है—

पत्थेण कोद्दवेण व जह कोइ मिणेज्ज सव्वबीजाणि।
एवं मिणिज्जमाणे हवंति लोगा अणंता दु ॥[2]

इस प्रसंग में यह शंका की गयी है कि प्रस्थ के वाहर स्थित पुरुष उस प्रस्थ के वाहर स्थित वीजों को मापता है, पर लोक के भीतर स्थित पुरुष लोक के भीतर स्थित उस मिथ्यादृष्टि जीवराशि को कैसे माप सकता है। उत्तर में कहा गया है कि चूँकि वुद्धि के द्वारा लोक से मिथ्यादृष्टि जीवों को मापा जाता है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। वुद्धि के द्वारा कैसे मापा जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में पुनः कहा गया है कि एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक मिथ्यादृष्टि जीव को रखने पर एक लोक होता है, ऐसी मन से कल्पना करना चाहिए। इस प्रक्रिया को पुनः पुनः करने पर मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तलोक प्रमाण हो जाती है। यहाँ भी यह एक गाथा उद्धृत की गयी है—

लोगागासपदेसे एक्कक्के णिक्खिवे वि तह दिट्ठं।
एवं गणिज्जमाणे हवंति लोगा अणंता दु ॥

लोकप्रमाण विषयक ऊहापोह

यहाँ लोक को जगश्रेणि के घनप्रमाण और उस जगश्रेणि को सात राजु आयत कहा गया है। इस प्रसंग में राजु के प्रमाण के विषय में पूछने पर उत्तर में यह कहा है कि तिर्यग्लोक का जितना मध्य में विस्तार है उतना प्रमाण राजु का है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे धवलाकार ने कहा है कि जितने द्वीप-सागरों के रूप (संख्या) हैं तथा रूप (एक) से अधिक, अथवा मतान्तर से संख्यात रूपों से अधिक, जितने जम्बूद्वीप अर्धच्छेद हैं उनको विरलित करके व प्रत्येक के ऊपर दो (२) का अंक रखकर उन्हें परस्पर गुणित करने पर जो राशि प्राप्त हो उससे छेद करने से शेष रही राशि को गुणित करने पर राजु का प्रमाण प्राप्त होता है। यह श्रेणि के सातवें भाग मात्र ही होता है।

यहाँ तिर्यग्लोक का अन्त कहाँ पर हुआ है, यह पूछे जाने पर उत्तर में कहा गया है कि उसका अन्त तीनों वातवलयों के वाह्य भाग में हुआ है। प्रमाण के रूप में "लोगो वादपदिट्ठिदो" व्याख्याप्रज्ञप्ति का यह वचन उपस्थित किया गया है। स्वयम्भूरमण समुद्र की वाह्य वेदिका के आगे कितना क्षेत्र जाकर तिर्यग्लोक समाप्त हुआ है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि असंख्यात द्वीप-समुद्रों के विस्तार से जितने योजन रोके गये हैं उनसे संख्यात गुणे योजन

---

१. धवला पु० ३, पृ० ३२
२. यह गाथा आचारांगनिर्युक्ति (८७) में उपलब्ध होती है। पृ० ६३

आगे जाकर तिर्यग्लोक समाप्त हुआ है। इस अभिप्राय की सिद्धि में कारणभूत ज्योतिषियों के दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्ग मात्र भागहार के प्ररूपक सूत्र[1] के साथ "दुगुणदुगुणो दुवग्गो[2]" तिलोयपण्णत्ति का यह सूत्र भी उपस्थित किया है और उसका समन्वय परिकर्मसूत्र के साथ किया गया है। साथ ही उसके विरुद्ध जानेवाले अन्य आचार्यों के व्याख्यान को सूत्र के विरुद्ध होने से व्याख्यानाभास भी ठहराया गया है।

अन्य आचार्यों के उस व्याख्यान के विरोध में दूसरी यह भी आपत्ति प्रकट की गयी है कि उस व्याख्यान का आश्रय लेने पर श्रेणि के सातवें भाग में आठ शून्य देखे जाते हैं, जिनके अस्तित्व का विधायक कोई सूत्र नहीं है। उन आठ शून्यों को नष्ट करने के लिए कुछ राशि अधिक होना चाहिए। वह अधिक राशि भी असंख्यातवें भाग अधिक अथवा संख्यातवें भाग अधिक नहीं हो सकती है, क्योंकि उसका अनुग्राहक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए द्वीप-सागरों से रोके गये क्षेत्र के आयाम से संख्यातगुणा बाहरी क्षेत्र होना चाहिए, अन्यथा पूर्वोक्त सूत्रों के साथ विरोध का प्रसंग अनिवार्यतः प्राप्त होता है।[3]

इस पर यहाँ फिर शंका की गयी है कि वैसा स्वीकार करने पर "एक हजार योजन अवगाहवाला जो मत्स्य स्वयम्भूरमणसमुद्र के बाह्य तट पर वेदनासमुद्घात से युक्त होता हुआ कापोतलेश्या (तनुवातवलय) से संलग्न है" यह जो वेदनासूत्र[4] है उसके साथ विरोध क्यों न होगा। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि स्वयम्भूरमणसमुद्र की बाह्य वेदिका से वहाँ उक्त समुद्र के परभाग में स्थित पृथिवी को बाहरी तट के रूप में ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार से धवला में पूर्वनिर्दिष्ट सूत्रों के आधार से विचार करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि यह अभिप्राय यद्यपि पूर्वाचार्यों के सम्प्रदाय के विरुद्ध है, फिर भी हमने आगम और युक्ति के बल से उसकी प्ररूपणा की है। इसलिए 'यह इसी प्रकार है' ऐसा यहाँ कदाग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि अतीन्द्रिय अर्थ के विषय में छद्मस्थों के द्वारा कल्पित युक्तियाँ निर्णय में हेतु नहीं हो सकती हैं। इसीलिए यहाँ उपदेश को प्राप्त करके विशेष निर्णय करना चाहिए।[5]

भावप्रमाण

धवला में "द्रव्यप्रमाण, कालप्रमाण और क्षेत्रप्रमाण इन तीनों का अधिगम भावप्रमाण है" इस सूत्र (१,२,५) की व्याख्या करते हुए 'अधिगम' शब्द को ज्ञान का समानार्थक बतलाकर उसके मतिज्ञानादि पाँच भेदों का निर्देश किया है। उनमें प्रत्येक को द्रव्य, क्षेत्र और काल के भेद से तीन प्रकार का कहा है। इस प्रकार से धवला में प्रकृत सूत्र का यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि द्रव्य के अस्तित्व विषयक ज्ञान को द्रव्यभावप्रमाण, क्षेत्रविशिष्ट द्रव्य के ज्ञान को

---

१. जोदिसिया देवा देवगदिभंगो। खेत्तेण कपदरस्स बेछप्पण्णं गुलसदवग्गपडिभाएण। सूत्र २, ५, ४४ व २, ५, ३३ (पु० ७); (सूत्र १, २, ६५ व १, २, ५५ (पु०३) द्रष्टव्य हैं)
२. यह सूत्र वर्तमान तिलोयपण्णत्ती में नहीं उपलब्ध होता।
३. धवला पु० ३, पृ० ३२-३८
४. ष०ख० सूत्र ४,२,५,८-१० (पु० ११)
५. धवला पु० ३, पृ० ३८

क्षेत्रभावप्रमाण और कालविशिष्ट द्रव्य के ज्ञान को कालभावप्रमाण जानना चहिए।[1]

यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्र में भावप्रमाण की प्ररूपणा क्यों नहीं की गयी। इसके उत्तर में कहा गया है कि सूत्र में उसकी प्ररूपणा न करने पर भी वह स्वयं सिद्ध है, क्योंकि भावप्रमाण के बिना उन तीन प्रमाणों की सिद्धि सम्भव नहीं है। कारण यह कि मुख्य प्रमाण के अभाव में गौण प्रमाणों की सम्भावना नहीं रहती है। प्रकारान्तर से यहाँ यह भी कहा गया है —अथवा भावप्रमाण के बहुवर्णनीय होने से हेतुवाद और अहेतुवाद का अवधारण करनेवाले शिष्यों का अभाव होने से उस भावप्रमाण की प्ररूपणा सूत्र में नहीं की गयी है।

अन्य विकल्प के रूप में धवला में यह भी कहा है—अथवा भावप्रमाण की प्ररूपणा में मिथ्यादृष्टि जीवराशि का समस्त पर्यायों में भाग देने पर जो लब्ध हो उसे भागहार मानकर सब पर्यायों के ऊपर खण्डित, भाजित, विरलित और अपहृत का कथन करना चाहिए। आगे इन खण्डित-भाजित आदि को भी धवला में स्पष्ट किया गया है।

इसी प्रसंग में धवलाकार ने "मिथ्यादृष्टि जीवराशि के विषय में श्रोताजनों को निश्चय उत्पन्न कराने के लिए यहाँ हम मिथ्यादृष्टि राशि के प्रमाण की प्ररूपणा खण्डित, भाजित, विरलित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति और विकल्प के द्वारा करते हैं"; ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए तदनुसार ही आगे प्ररूपणा की गयी है।

यहाँ शंका की गयी है कि सूत्र के न रहते हुए उसका कथन कैसे किया जाता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह सूत्र से सूचित है।[2]

सासादनसम्यग्दृष्टि आदि का द्रव्यप्रमाण

अगले सूत्र में सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयतपर्यन्त चार गुणस्थानवर्ती जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा की गयी है। (सूत्र १,२,६,)

इसकी व्याख्या के प्रसंग में यह शंका उठायी गयी है कि इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों की प्ररूपणा क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाण के द्वारा क्यों नहीं की गयी। इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि जिन कारणों से मिथ्यादृष्टियों की प्ररूपणा उन क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाण के द्वारा की गयी है वे कारण यहाँ सम्भव नहीं हैं।

वे कारण कौन से हैं, इसे स्पष्ट करते हुए आगे धवला में कहा गया है कि लोक असंख्यात प्रदेश वाला ही है, उसमें अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं; इस प्रकार के सन्देहयुक्त जीवों के उस सन्देह को दूर करने के लिए क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा की जाती है। इसी प्रकार समस्त जीवराशि आय से तो रहित है, पर सिद्धि को प्राप्त होनेवाले जीवों की अपेक्षा वह व्यय से सहित है। इस परिस्थिति में वह जीवराशि समाप्त क्यों नहीं होती है, इस प्रकार के सन्देह को नष्ट करने के लिए कालप्रमाण की प्ररूपणा की जाती है। इन दो कारणों में से प्रकृत में एक भी कारण सम्भव नहीं है। इसीलिए उपर्युक्त सासादन सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानवर्ती जीवों के क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाण की प्ररूपणा ग्रन्थ में नहीं की गयी है।[3]

---

१. धवला पु० ३, पृ० ३६
२. धवला पु० ३, पृ० ३६-६३
३. वही, ६३-६४

उपर्युक्त सूत्र में उन सासादन सम्यग्दृष्टि आदि के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा के प्रसंग में भागहार का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त कहा गया है। इस प्रसंग में धवलाकार का कहना है कि अन्तर्मुहूर्त तो अनेक प्रकार का है, उसमें यहां कितने प्रमाणवाले अन्तर्मुहूर्त की विवक्षा रही है, यह ज्ञात नहीं होता। इसलिए उसका निश्चय कराने के लिए यहां हम कुछ काल की प्ररूपणा करते हैं। ऐसी सूचना कर उन्होंने उस काल-प्ररूपणा के प्रसंग में कालविभाग का उल्लेख इस प्रकार किया है—

१. असंख्यात समयों को लेकर एक आवली होती है।

२. तत्प्रायोग्य संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है।

३. सात उच्छ्वासों को लेकर एक स्तोक होता है।

४. सात स्तोकों का एक लव होता है।

५. साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है।

धवला में आगे 'उक्तं च' ऐसा निर्देश करते हुए चार गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं। उनमें प्रथम दो गाथाओं में उपर्युक्त काल के विभागों का निर्देश है। दूसरी गाथा के उत्तरार्ध में इतना विशेष कहा गया है कि दो नालियों का मुहूर्त होता है। इस मुहूर्त में एक समय कम करने पर भिन्नमुहूर्त होता है।

तीसरी गाथा में कहा गया है कि हृष्ट-पुष्ट व आलस्य से रहित नीरोग पुरुष के उच्छ्वास निःश्वास को एक प्राण कहा जाता है।

चौथी गाथा में निर्देश किया है कि समस्त मनुष्यों के तीन हजार सात सौ तिहत्तर (३७७३) उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है।

इसी प्रसंग में आगे धवला में यह स्पष्ट किया गया है कि कितने ही आचार्य जो यह कहते हैं कि सात सौ बीस प्राणों का एक मुहूर्त होता है वह घटित नहीं होता, क्योंकि उसका केवली-कथित अर्थ की अपेक्षा प्रमाणभूत अन्य सूत्र के साथ विरोध आता है। धवला में इस प्रसंगप्राप्त विरोध को गणित प्रक्रिया के आधार से स्पष्ट भी कर दिया गया है।[1]

पश्चात् सूत्र-निर्दिष्ट सासादनसम्यग्दृष्टि आदि के यथायोग्य अवहारकाल सिद्ध करते हुए सासादनसम्यग्दृष्टियों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा वर्गस्थान में क्रम से खण्डित, भाजित, विर-लित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति और विकल्प के ही आधार से की गयी है।[2]

आगे यह भी सूचना कर दी है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टियों, असंयत सम्यग्दृष्टियों और संयता-संयतों के प्रमाण की प्ररूपणा सासादन-सम्यग्दृष्टियों के समान करना चाहिए। विशेषता इतनी मात्र है कि उक्त खण्डित-विरलित आदि का कथन अपने-अपने अवहार काल के द्वारा करना चाहिए।[3]

आगे धवला में 'हम इनकी संदृष्टि को कहते हैं' ऐसी सूचना करते हुए चार गाथाओं को उद्धृत कर उनके आधार से संदृष्टि के रूप में उनके अवहारकाल आदि की कल्पना इस प्रकार की गयी है—सासादन-सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल ३२, सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का

---

१. धवला पु० ३, पृ० ६३-६८

२. धवला पु० ३, पृ० ६८-८७

३. धवला पु० ३, पृ० ८७

१६, असंयत सम्यग्दृष्टियों का ४, और संयतासंयतों का १२८ है। पल्योपम की कल्पना ६५५३६ की गयी है। इस प्रकार संदृष्टि में सासादन-सम्यग्दृष्टियों आदि का प्रमाण निम्न-लिखित प्राप्त होता है[1]—

१. सासादन सम्यग्दृष्टि ६५५३६ ÷ ३२ = २०४८
२. सम्यग्मिथ्यादृष्टि ६५५३६ ÷ १६ = ४०९६
३. असंयत सम्यग्दृष्टि ६५५३६ ÷ ४ = १६३८४
४. संयतासंयत ६५५३६ ÷ १२८ = ५१२

प्रमत्तसंयतों का द्रव्यप्रमाण सूत्र में (१,२,७) कोटिपृथक्त्व निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रसंग में धवला में यह शंका की गयी है कि कोटिपृथक्त्व से तीन करोड़ के ऊपर और नौ करोड़ के नीचे जो संख्या हो उसे ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार इस संख्या के विकल्प बहुत हैं, उनमें यहाँ कौन-सी संख्या अभिप्रेत रही है, यह ज्ञात नहीं होता। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि वह संख्या परमगुरु के उपदेश से ज्ञात हो जाती है। आचार्य परम्परागत जिनोपदेश के अनुसार प्रमत्तसंयत पाँच करोड़ तेरानवै लाख अट्ठानवै हजार दो सौ छह (५९३९८२०६) हैं।[2]

अप्रमत्तसंयतों का प्रमाण सूत्र (१,२,८) में सामान्य से संख्यात कहा है। धवलाकार ने उसे स्पष्ट करते हुए दो करोड़ छयानवै लाख निन्यानवै हजार एक सौ तीन (२९६९९१०३) कहा है। प्रमाण के रूप वहाँ धवला में 'वुत्तं च' कहकर उपर्युक्त प्रमत्तसंयतों और अप्रमत्त-संयतों के निश्चित प्रमाण की सूचक एक गाथा भी उद्धृत कर दी गयी है।[3]

चार उपशामकों का प्रमाण सूत्र (१,२,८) में प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन अथवा उत्कर्ष से चौवन निर्दिष्ट किया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि इन चार उपशामक गुणस्थानों में से एक-एक गुणस्थान में एक समय में चारित्रमोह का उपशम करनेवाला जघन्य से एक जीव प्रविष्ट होता है तथा उत्कर्ष से चौवन तक जीव प्रविष्ट होते हैं। यह सामान्य स्थिति है। विशेष रूप में आठ समय अधिक वर्षपृथक्त्व के भीतर उपशम श्रेणि के योग्य आठ समय होते हैं। उनमें से आठ प्रथम समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कर्ष से सोलह तक जीव उपशमश्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। द्वितीय समय में एक जीव को आदि लेकर चौबीस जीव तक उपशमश्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। तृतीय समय में एक जीव को आदि लेकर तीस जीव तक उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। चतुर्थ समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कर्ष से छत्तीस जीव तक उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। पाँचवें समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कर्ष से व्यालीस जीव तक उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। छठे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कर्ष से अड़तालीस जीव तक उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। सातवें व आठवें इन दो समयों में एक जीव को आदि लेकर उत्कर्ष से चौवन-चौवन जीव तक उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। आगे इस अभिप्राय की पुष्टि हेतु धवला में 'उत्तं च' कहकर एक गाथा उद्धृत कर दी गयी है।

---

२. धवला पु० ३, पृ० ७८-८७
३. वही, ८८-८९
४. वही, ८९-९०

काल की अपेक्षा उन आठ समयों में एक-एक गुणस्थान में उत्कर्ष से संचय को प्राप्त हुए उन जीवों का समस्त प्रमाण सूत्र (१,२,१०) में संख्यात कहा गया है। वह पूर्वनिर्दिष्ट क्रम के अनुसार तीन सौ चार (१६+२४+३०+३६+४२+४८+५४+५४=३०४) होता है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार उपर्युक्त उत्कृष्ट प्रमाण में जीवों से सहित सब समय एक साथ नहीं पाये जाते हैं। अतः वे उक्त प्रमाण में पाँच कम करते हैं। धवलाकार ने इस व्याख्यान को आचार्य परम्परा से आने के कारण दक्षिणप्रतिपत्ति कहा है तथा पूर्वोक्त व्याख्यान को आचार्य परम्परागत न होने से उत्तरप्रतिपत्ति कहा है।[1]

आगे के सूत्र (१,२,११) में चार क्षपकों और अयोगिकेवलियों का जो द्रव्यप्रमाण प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन अथवा उत्कर्ष से एक सौ आठ कहा गया है उसको स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि आठ समय अधिक छह मास के भीतर क्षपक श्रेणि के योग्य आठ समय होते हैं। उन समयों में विशेष की विवक्षा न करके सामान्य से कथन करने पर जघन्य से एक जीव और और उत्कर्ष से एक सौ आठ जीव तक क्षपक गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। विशेष की अपेक्षा प्ररूपणा करने पर प्रथम समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कर्ष से बत्तीस जीव तक क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं। आगे द्वितीयादि समयों में क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ होनेवाले क्षपक जीवों के प्रमाण का क्रम पूर्वोक्त उपशामक जीवों के प्रमाण से क्रमशः दूना-दूना जानना चाहिए। यहाँ भी धवला में प्रमाण के रूप में इस अभिप्राय की पोषक एक गाथा उद्धृत की गयी है।

काल की अपेक्षा सूत्र (१,२,१२) में जो उन सब का प्रमाण संख्यात कहा गया है उसे उन आठ समयों में एक-एक गुणस्थान में उत्कर्ष से संचय को प्राप्त हुए सब जीवों को एकत्रित करने पर उपशामकों की अपेक्षा दूना अर्थात् छह सौ आठ (३२+४८+६०+७२+८४+९६+१०८+१०८=६०८) जानना चाहिए।

अन्य आचार्यों के अभिमतानुसार जहाँ उपशामकों के उस प्रमाण में पाँच कम किया गया था व उस व्याख्यान को धवला में दक्षिणप्रतिपत्ति तथा पूर्व व्याख्यान को उत्तरप्रतिपत्ति कहा गया था वहाँ उक्त आचार्यों के अभिमतानुसार इन क्षपकों के उस समस्त प्रमाण में दस कम किया गया है तथा इस व्याख्यान को दक्षिणप्रतिपत्ति तथा पूर्व व्याख्यान को उत्तरप्रतिपत्ति कहा गया है।

आगे 'एसा उवसमग-खवगपरूपणगाहा' ऐसी सूचना करते हुए धवला में दो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं व उनके आश्रय से यह कहा गया है कि कुछ आचार्य उपशामकों का प्रमाण तीन सौ, कुछ आचार्य तीन सौ चार और कुछेक आचार्य उसे पाँच कम तीन सौ (२९५) बतलाते हैं। क्षपकों का उनके मतानुसार उससे दूना (६००, ६०८, ५९०) जानना चाहिए। अन्य कुछ आचार्य उन उपशामकों का प्रमाण तीन सौ चार और कुछ उसी प्रमाण (३०४) को पाँच कम बतलाते हैं।

तत्पश्चात् धवला में "एगेगगुणट्ठाणम्हि उवसामगखवगाणं पमाणपरूवणगाहा" इस निर्देश के साथ एक अन्य गाथा उद्धृत की गयी है, जिसमें कहा गया है कि एक-एक गुणस्थान में आठ

---

१. धवला पु० ३, पृ० ९०-९२; दक्खिणं उज्जुवं आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो।···उत्तर-मणुज्जुवं आइरियपरंपराए अणागदमिदि एयट्ठो।—धवला पु० ५, पृ० ३२

समयों में संचित उपशामकों व क्षपकों का प्रमाण आठ सौ सत्तानवै है ।[1]

इस प्रकार उपशामकों और क्षपकों के प्रमाण के विषय में आचार्यों में परस्पर विशेष मतभेद रहा है ।

आगे सूत्र (१,२,१३) में जो सयोगिकेवलियों का द्रव्यप्रमाण प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन अथवा उत्कर्ष से एक सौ आठ कहा गया है उसे क्षपकों के द्रव्यप्रमाण के समान समझना चाहिए ।

काल की अपेक्षा उनका द्रव्यप्रमाण सूत्र (१,२,१४) में लक्षपृथक्त्व प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है। उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि आठ समय अधिक छह मास के भीतर यदि आठ सिद्धसमय प्राप्त होते हैं तो चालीस हजार आठ सौ इकतालीस मात्र आठ समय अधिक छह मास के भीतर कितने सिद्धसमय प्राप्त होंगे, इस प्रकार त्रैराशिक करने पर तीन लाख छब्बीस हजार सात सौ अट्ठाईस मात्र सिद्धसमय प्राप्त होते हैं । इस सिद्धकाल में संचित सयोगि जिनों का प्रमाण लाने के लिए कहा गया है कि उक्त आठ सिद्धसमयों में से छह समयों में तीन-तीन और दो समयों में दो-दो जीव यदि केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं तो आठ समयों में संचित सयोगिजिन बाईस [६ × ३ + (२ × २) = २२] होते हैं । अब आठ समयों में यदि बाईस सयोगिजिन होते हैं तो तीन लाख छब्बीस हजार सात सौ अट्ठाईस समयों में कितने सयोगिजिन होंगे, इस प्रकार त्रैराशिक करने पर वे आठ लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ दो (इच्छा ३२६७२८ × फल २२ ÷ प्रमाण ८ = ८९८५०२) प्राप्त होते हैं ।

आगे धवला में त्रैराशिक प्रक्रिया से प्राप्त सयोगिजिनों के इस प्रमाण को 'वुत्तं च' इस सूचना के साथ उद्धृत की गयी एक गाथा के द्वारा प्रमाणित किया गया है। पश्चात् यह सूचना कर दी गयी है कि इस दिशा के अनुसार कई प्रकार से सयोगि राशि का प्रमाण लाया जा सकता है ।

उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जहाँ पर पूर्वोक्त सिद्धकाल का आधा मात्र सिद्धकाल हो वहाँ पर इस प्रकार त्रैराशिक करना चाहिए—आठ सिद्धसमयों में यदि चवालीस मात्र सयोगिजिन होते हैं तो एक लाख तिरेसठ हजार तीन सौ चौसठ सिद्धसमयों में कितने सयोगिजिन होंगे, इस प्रकार त्रैराशिक करने पर पूर्वोक्त सयोगिकेवलियों का प्रमाण (इच्छा १६३३६४ × फल ४४ ÷ प्रमाण ८ = ८९८५०२) प्राप्त होता है ।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार (इच्छा ८१६८२ × फल ८८ ÷ प्रमाण ८ = ८९८५०२) भी वहाँ दिया गया है ।

आगे धवला में 'जहाक्खादसंजदाणं पमाणवण्णणा गाहा' ऐसी सूचना करते हुए एक गाथा को उद्धृत कर उसके द्वारा यथाख्यातसंयतों का प्रमाण आठ लाख निन्यानवै हजार नौ सौ सत्तानवै (८९९९९७) बतलाया गया है ।

इसी प्रसंग में आगे समस्त संयतों आदि का प्रमाण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

(१) समस्त संयतराशि ८९९९९९९७

(२) उपशामक-क्षपक प्रमाण ९०२९८८

---

१. धवला पु० ३, पृ० ९२-९५

२. वही, ९७

इसे समस्त संयतराशि में से घटाकर शेष में तीन का भाग देने पर अप्रमत्तसंयतराशि होती है—

(३) अप्रमत्तसंयत ८९९९९९९७—९०२६८८=८९०९७३०९;

८९०९७३०९ ÷ ३=२९६९९१०३

इसे दुगुणित करने से प्रमत्तसंयतराशि होती है—

(४) प्रमत्तसंयत २९६९९१०३×२=५९३९८२०६

धवला में एक गाथा को उद्धृत करके उसके द्वारा उपर्युक्त प्रमाण की पुष्टि भी की गई है। प्रमाणों के इस उल्लेख को धवलाकार ने दक्षिण-प्रतिपत्ति कहा है।[1]

यहाँ कितने ही आचार्य ऊपर धवला में उद्धृत संयतों आदि के प्रमाण की प्रतिपादक उस गाथा[2] को युक्ति के बल से असंगत ठहराते हैं। वे यह युक्ति देते हैं कि सब तीर्थंकरों में बड़ा शिष्य परिवार (३३००००) पद्मप्रभ भट्टारक का रहा है। यदि उसे एक सौ सत्तर (पाँच भरत क्षेत्रगत ५, पाँच ऐरावतक्षेत्रगत ५, पाँच विदेहक्षेत्रगत ३२×५=१६०) से गुणित करने पर उन संयतों का प्रमाण पाँच करोड़ इकसठ लाख (३३००००×१७०=५६१०००००) ही आता है। यह संयतसंख्या उस गाथा में उल्लिखित संयतसंख्या को प्राप्त नहीं होती, इसलिए वह गाथा संगत नहीं है।

इस दोषारोपण का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि सभी अवसर्पिणियों में हुण्डावसर्पिणी अधम (निकृष्ट) है। उसमें उत्पन्न तीर्थंकरों का शिष्य-परिवार युग के प्रभाव से दीर्घ संख्या से हटकर हीनता को प्राप्त हुआ है। इसलिए उस हीन संख्या को लेकर उक्त गाथासूत्र को दूषित नहीं ठहराया जा सकता है। कारण यह कि शेष अवसर्पिणियों में उत्पन्न तीर्थंकरों का शिष्य-परिवार बहुत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भरत और ऐरावत क्षेत्रों में मनुष्यों की संख्या बहुत नहीं है, इन क्षेत्रों की अपेक्षा विदेह क्षेत्रगत मनुष्यों की संख्या संख्यात गुणी है। इसलिए इन दो क्षेत्रों के एक तीर्थंकर का शिष्य-परिवार विदेहक्षेत्र के एक तीर्थंकर के शिष्य-परिवार के समान नहीं हो सकता। इस प्रसंग में आगे धवला में मनुष्यों के अल्पबहुत्व को भी इस प्रकार प्रकट किया गया है—

अन्तरद्वीपज मनुष्य सबसे स्तोक हैं। उत्तरकुरु तथा देवकुरु के मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं। हरि व रम्यक क्षेत्रों के मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं। हैमवत व हैरण्यवत क्षेत्रों के मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं। भरत व ऐरावत क्षेत्रों के मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं। विदेह क्षेत्रगत मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं।

बहुत मनुष्यों में चूँकि संयत बहुत होते हैं, इसीलिए यहाँ के संयतों के प्रमाण को प्रधान करके जो ऊपर दोष दिया गया है, वह वस्तुतः दूषण नहीं है; क्योंकि वह बुद्धिविहीन आचार्यों के मुख से निकला है।[3]

इस प्रकार धवला में प्रथमतः दक्षिणप्रतिपत्ति—आचार्य परम्परागत उपदेश—के अनुसार प्रमत्त संयतादिकों के प्रमाण को दिखाकर तत्पश्चात् उत्तर-प्रतिपत्ति—आचार्य परम्परा

---

१. धवला पु० ३, पृ० ९५-९८

२. धवला पु० ३, पृ० ९८

३. वही, पृ० ९८-९९

से अनागत उपदेश—के अनुसार भी उन प्रमत्तसंयतादिकों का प्रमाण बताया गया है। प्रमाण के रूप में यहाँ उस उपदेश की आधारभूत कुछ गाथाओं (५२-५६) को भी उद्धृत किया गया है।[1]

आगे धवला मे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती जीवों में तथा सिद्धों में भागाभाग और अल्पबहुत्व की भी प्ररूपणा की गयी है।[2]

आदेश की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण

इस प्रकार सामान्य से ओघ की अपेक्षा चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् विशेष रूप से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं मे यथाक्रम से जहाँ जितने गुणस्थान सम्भव हैं उनमें जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा की गयी है।

तदनुसार यहाँ सर्वप्रथम गति के अनुवाद से नरकगति मे वर्तमान मिथ्यादृष्टियो के द्रव्य-प्रमाण को सूत्र (१,२,१५) में असंख्यात कहा गया है। उसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने असंख्यात को अनेक प्रकार का कहकर उसके इन ग्यारह भेदों का उल्लेख किया है—नाम-असंख्यात, स्थापना असंख्यात, द्रव्य असंख्यात, शाश्वत असंख्यात, गणना असंख्यात, अप्रदेशिक असंख्यात, एक असंख्यात, उभय असंख्यात, विस्तार असंख्यात, सर्व असंख्यात और भाव असंख्यात। धवला में इनके स्वरूप का भी पृथक्-पृथक् संक्षेप मे निर्देश कर दिया गया है।[3]

इस प्रसंग में नोआगम द्रव्य असंख्यात के ज्ञायकशरीर आदि तीन भेदों में ज्ञायकशरीर नोआगम द्रव्य असंख्यात के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि असंख्यात प्राभृत के ज्ञाता का त्रिकालवर्ती शरीर नोआगम-ज्ञायकशरीर-द्रव्य-असंख्यात कहा जाता है।

यहाँ शंका की गयी है कि आगम से भिन्न शरीर को 'असंख्यात' नाम से कैसे कहा जा सकता है। उत्तर में कहा गया है कि आधार में आधेय के उपचार से वैसा कथन है। जैसे—असि (तलवार) के आधार से असि-धारकों को 'सौ तलवारें दौड़ती हैं' ऐसा कहा जाता है।

इस प्रसंग में धवलाकार ने 'घृतकुम्भ' के दृष्टान्त को असंगत ठहराया है। घृतकुम्भ और मधुकुम्भ इन दो का दृष्टान्त अनुयोगद्वार में उपलब्ध होता है।[4]

गणना-संख्यात के प्रसंग में धवलाकार ने उसके स्वरूप का स्वयं कुछ निर्देश न करके यह कह दिया है कि उसकी प्ररूपणा परिकर्म में की गयी है।

इन असंख्यात के भेदों में गणना-संख्यात को यहाँ प्रसंगप्राप्त कहा गया है। पीछे जिस प्रकार ओघप्ररूपणा में 'गणनानन्त' के प्रसंग में उसके परीतानन्त आदि के भेद-प्रभेदों की

---

१. धवला पु०३, पृ० ९९-१०१

२. वही, १०१-२१

३. धवला पु०३, पृ० १२१-२५ (इन्हीं शब्दों में पीछे (पृ०११) अनन्त के भी ११ भेदों का उल्लेख किया गया है। उन अनन्तभेदों की प्ररूपक और इन असंख्यात भेदों की प्ररूपक गाथा समान ही है। विशेष इतना है कि अनन्त के उन भेदों के उल्लेख के प्रसंग में जहाँ गाथा के द्वि० पाद में '—अणंतं' पाठ है वहाँ इन असंख्यात के भेदों के प्रसंग में तदनुरूप '—मसंखं' पाठभेद है।

४. अनुयोगद्वार, सूत्र १७

प्ररूपणा है उसी प्रकार यहाँ प्रसंगानुसार गणना-संख्यात के परीतासंख्यात आदि भेद-प्रभेदों का विवेचन है।[1]

सूत्र (१,२,१७) में उपर्युक्त नारक मिथ्यादृष्टियों के क्षेत्रप्रमाण को जगप्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात जगश्रेणि कहा गया है तथा उनकी विष्कम्भसूची को अंगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित उसी अंगुल के वर्गमूल प्रमाण कहा गया है।

उसकी व्याख्या में धवलाकार ने 'सब द्रव्य, क्षेत्र और काल प्रमाणों का निश्चय चूंकि विष्कम्भसूची से ही होता है, इसलिए यहाँ हम उसकी प्ररूपणा करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा कर उसकी प्ररूपणा वर्गस्थान में खण्डित, भाजित, विरलित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति और विकल्प द्वारा लगभग उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि पूर्व में ओघ के प्रसंग में की गयी है।[2]

नारक मिथ्यादृष्टियों के भागहार के उत्पादन की विधि को दिखलाते हुए धवला में कहा गया है कि जगप्रतर में एक जगश्रेणि का भाग देने पर एक जगश्रेणि आती है। उक्त जगप्रतर में जगश्रेणि के द्वितीय भाग का भाग देने पर दो जगश्रेणियां आती हैं। इसी क्रम से उसके तृतीय, चतुर्थ आदि भागों का भाग देने पर तीन, चार आदि जगश्रेणियाँ प्राप्त होती हैं। इस तरह उत्तरोत्तर उसके एक-एक अधिक भागहार को तब तक बढ़ाना चाहिए जब तक कि नारकियों की विष्कम्भसूची का प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता।

अनन्तर उस विष्कम्भसूची से जगश्रेणि के अपवर्तित करने पर जो लब्ध हो उनका जगप्रतर में भाग देने पर विष्कम्भसूची प्रमाण जगश्रेणियाँ आती हैं। इसी प्रकार से अन्यत्र भी विष्कम्भसूची से अवहारकाल के लाने का निर्देश यहाँ कर दिया गया है। भागहार से श्रेणि के ऊपर खण्डित-विरलित आदि पूर्वोक्त विकल्पों के आश्रय से अवहारकाल का कथन करना चाहिए, ऐसा निर्देश कर प्रकृत में उन सबका विस्तार से प्ररूपण किया गया है।[3]

तत्पश्चात् सूत्र (१,२,१८) में सासादन सम्यग्दृष्टियों से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टियों तक उनके द्रव्यप्रमाण का, जो ओघ के समान निर्दिष्ट किया गया है, स्पष्टीकरण धवला में विस्तार से मिलता है।[4]

आगे विशेष रूप में पृथिवी क्रम के अनुसार नारक मिथ्यादृष्टियों के प्रमाण की प्ररूपणा करते हुए सूत्रकार ने प्रथम पृथिवी के नारक मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण सामान्य नारक मिथ्यादृष्टियों के समान कहा है (१,२,१९)।

इस पर शंका उत्पन्न हुई है कि पूर्व में जो सामान्य नारक मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण कहा गया है वही यदि प्रथम पृथिवी के नारक मिथ्यादृष्टियों का है तो उस परिस्थिति में शेष द्वितीयादि पृथिवियों में नारक मिथ्यादृष्टियों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि आगे सूत्रों (१,२,२०-२३) में द्वितीयादि पृथिवियों में स्थित नारक मिथ्यादृष्टियों के प्रमाण का निर्देश किया गया है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह समानता केवल असंख्यात जगश्रेणियों, जगप्रतर के असंख्यातवें भाग, द्वितीयादि वर्गमूलों में

१. धवला पु० ३, पृ० १२३-२५ व पीछे पृ० ११-१६
२. वही, पृ० १३१-४१ व पीछे पृ० ४०-६३
३. धवला पु० ३, पृ० १४१-५६
४. वही, १५६-६०

गुणित अंगुल के वर्गमूल मात्र विष्कम्भसूची और पल्योपम के असंख्यातवें भाग की अपेक्षा है। सामान्य मिथ्यादृष्टि नारकों की अपेक्षा प्रथम पृथिवीस्थ मिथ्यादृष्टि नारकों की विष्कम्भसूची और अवहारकाल भिन्न है। धवलाकार ने इस भिन्नता की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। इस प्रकार की विशेषता के रहने पर द्वितीयादि पृथिवियों में मिथ्यादृष्टि नारकियों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रकार धवला में गणित-प्रक्रिया के आश्रय से उसे स्पष्ट करते हुए विविध अंक-संदृष्टियों द्वारा भी प्रथमादि पृथिवियों के मिथ्यादृष्टि नारकों के प्रमाण को स्पष्ट किया गया है।[1]

आगे धवला में इसी प्रकार से द्वितीयादि पृथिवियों के नारकों में सासादन सम्यग्दृष्टियों आदि के भी द्रव्यप्रमाण को स्पष्ट किया गया है।[2]

तत्पश्चात् वहाँ नारकों के इस द्रव्यप्रमाण के निर्णयार्थ भागाभाग और अल्पबहुत्व की भी प्ररूपणा की गयी है।[3]

इसी पद्धति से आगे धवला में तिर्यंच आदि शेष तीन गतियों तथा इन्द्रिय-कायादि अन्य मार्गणाओं में भी प्रकृत द्रव्यप्रमाण को आवश्यकतानुसार धवला में स्पष्ट किया गया है।

३. क्षेत्रानुगम

क्षेत्रानुगम का विशदीकरण—जीवस्थान के अन्तर्गत पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों में तीसरा क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वार है। यहाँ सर्वप्रथम धवलाकार ने प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए इस अनुयोगद्वार के प्रयोजन को दिखलाया है। उन्होंने कहा है कि जिन चौदह जीवसमासों के अस्तित्व का ज्ञान सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के आश्रय से कराया गया है तथा 'द्रव्यप्रमाणानुगम' के द्वारा जिनके द्रव्यप्रमाण का भी बोध कराया जा चुका है उन चौदह जीवसमासों के क्षेत्र का परिज्ञान कराने के लिए इस 'क्षेत्रानुगम' अनुयोगद्वार का अवतार हुआ है। प्रकारान्तर से उन्होंने उसका यह भी प्रयोजन बतलाया है कि जीवराशि तो अनन्त है और लोकाकाश असंख्यात प्रदेशवाला ही है, ऐसी अवस्था में समस्त जीवराशि उस लोक में कैसे समा सकती है, इस प्रकार के सन्देह से व्याकुल शिष्य के उस सन्देह को दूर करने के लिए इस अनुयोगद्वार का अवतार हुआ है।

आगे क्षेत्रविषयक निक्षेप के प्रसंग में उसके स्वरूप को प्रकट करते हुए धवला में कहा गया है कि जो संशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय में स्थित तत्त्व को उनसे हटाकर निश्चय में रखता है उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ के विकल्प को निक्षेप समझना चाहिए। अथवा जो अप्रकृत अर्थ का निराकरण करके प्रकृत अर्थ की प्ररूपणा करता है उसका नाम निक्षेप है। निक्षेप विषयक इस अभिप्राय की पुष्टि धवला में उद्धृत इस गाथा द्वारा इस प्रकार की गयी है—

> अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
> संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥

---

१. धवला पु० ३, पृ० १५६-९८

२. वही, १९८-२०७

३. वही, २०७-१४

इस प्रकार सामान्य से निक्षेप का स्वरूप दिखाकर क्षेत्र के विषय में चार प्रकार के निक्षेप को योजित किया गया है, तदनुसार अनेक प्रकार के क्षेत्र में से यहाँ नोआगम द्रव्यक्षेत्र को अधिकारप्राप्त कहा गया है। नोआगम द्रव्यक्षेत्र का अर्थ आकाश है।

इसी सिलसिले में धवलाकार ने क्षेत्रविषयक विचार तत्त्वार्थसूत्र (१-७) में निर्दिष्ट निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह अनुयोगद्वारों के आश्रय से भी संक्षेप में किया है। तदनुसार धवला में निर्देश के रूप में क्षेत्र के आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित, अवगाहन लक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि इन समानार्थक नामों का निर्देश किया गया है। स्वामित्व के प्रसंग में क्षेत्र किसका है, इस भंग को शून्य कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्षेत्र का स्वामी कोई नहीं है। साधन को लक्ष्य में रखकर उसका साधन या कारण पारिणामिक भाव निर्दिष्ट किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि क्षेत्रकारण अन्य कोई नहीं है—वह स्वभावतः ही है। वह क्षेत्र कहाँ है, इस प्रकार अधिकरण के प्रसंग में कहा गया है कि वह अपने आप में रहता है, अन्य आधार उसका कोई नहीं है। जिस प्रकार स्तम्भ और सार में भेद न होने से परस्पर आधार-आधेयभाव है उसी प्रकार क्षेत्र (आकाश) को भी स्वयं आधार और आधेय समझना चाहिए।

स्थिति या काल के प्रसंग में उसे अनादि-अपर्यवसित कहा गया है। विधान को अधिकृत कर उसे द्रव्यार्थिक नय से एक प्रकार का व प्रयोजनवश लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। अथवा देश के भेद से वह तीन प्रकार का है—अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक। सुमेरु के मूल से नीचे के भाग को अधोलोक, उसकी चूलिका से ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक और सुमेरु के प्रमाण एक लाख योजन ऊँचे भाग को मध्यलोक कहा जाता है।

आगे 'क्षेत्रानुगम' की सार्थकता को दिखलाते हुए जो वस्तुएँ जिस स्वरूप में अवस्थित हैं उनके उसी प्रकार के अवबोध को अनुगम कहा गया है। इस प्रकार का जो क्षेत्र का अनुगम है उसे क्षेत्रानुगम जानना चाहिए।[1]

ओघ की अपेक्षा क्षेत्र-विचार

इस प्रकार धवला में प्रसंगप्राप्त क्षेत्र का स्वरूपादि विषयक विचार करके तत्पश्चात् सूत्र (१,३,२) में जो ओघ की अपेक्षा मिथ्यादृष्टियों का सर्वलोक क्षेत्र कहा गया है उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि 'लोक' से यहाँ सात राजुओं के घन की विवक्षा रही है। इस अभिप्राय की पुष्टि में धवलाकार ने गाथा को उद्धृत करते हुए कहा है कि यहाँ क्षेत्रप्रमाण के अधिकार में इस गाथा में निर्दिष्ट लोक को ग्रहण किया जाता है—

पल्लो सायर सूई पदरो य घणंगुलो य जगसेढी।
लोयपदरो य लोगो अट्ठ दु माणा मुणेयव्वा ॥[2]

---

१. धवला पु० ४, में पृ० २-९ हैं।

२. यह गाथा मूलाचार (१२-८५) में उसी रूप में उपलब्ध होती है। त्रिलोकसार में (९२) 'अट्ठ दु माणा मुणेयव्वा' के स्थान में 'उवमपमा एवमट्ठविहा' पाठभेद है। तिलोयपण्णत्ती गा० १-९ में भी इन मानभेदों का निर्देश किया गया है।

इस पर यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि यदि लोक को सात राजुओं के घन प्रमाण ग्रहण किया जाता है तो पाँच द्रव्यों के आधारभूत आकाश का ग्रहण होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें उन सात राजुओं के घन प्रमाण क्षेत्र का अभाव है। और यदि उसमें उन सात राजुओं के घन का सद्भाव माना जाता है तो "हेट्ठा मज्झे उवरि" आदि जिन गाथासूत्रों[1] में लोक के आकार, विस्तार और आयाम आदि का उल्लेख किया गया है वह अप्रमाण ठहरता है।

इस शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा है कि पूर्वोक्त सूत्र में निर्दिष्ट उस लोक से पाँच द्रव्यों के आधारभूत आकाश का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। क्योंकि "लोगपूरणगदो केवली केवडिखेत्ते? सव्वलोगे"[2] ऐसा वचन है। यदि लोक सात राजुओं के घनप्रमाण न हो तो "लोगपूरणगदो केवली लोगस्स संखेज्जदिभागे" ऐसा कहना चाहिए था।

अभिप्राय यह है कि सूत्र में लोकपूरण समुद्घातगत केवली का क्षेत्र जो समस्त लोक बतलाया गया है वह सात राजुओं के घनप्रमाण लोक को स्वीकार करने पर ही सम्भव है। अन्य आचार्यों द्वारा प्ररूपित मृदंगाकार लोक का प्रमाण उसका संख्यातवाँ भाग ही रहता है, न कि सात राजुओं के घन प्रमाण तीन सौ तेतालीस (७ × ७ × ७) घन राजु।

मृदंगाकार लोक के प्ररूपक आचार्यों के मतानुसार लोक सर्वत्र गोलाकार है। वह चौदह राजु ऊँचा होकर नीचे सात राजु विस्तृत है। फिर क्रम से हीन होता हुआ सात राजु ऊपर जाकर एक राजु, साढ़े दस राजु ऊपर जाकर पाँच राजु और चौदह राजु ऊपर जाकर पुनः एक राजु विस्तृत रह गया है। आकार में वह नीचे वेत्रासन, मध्य में झालर और ऊपर मृदंग के समान है।

इस प्रसंग में धवलाकार का कहना है कि लोक को यदि इस रूप में माना जाता है तो सूत्र में जो लोकपूरणसमुद्घातगत केवली का क्षेत्र समस्त लोक कहा गया है वह नहीं बनता। वह तो लोक को सात राजु घन (७ × ७ × ७ = ३४३) प्रमाण मानने पर ही घटित होता है।

अन्य आचार्यों द्वारा कल्पित लोक सात राजुओं के घन प्रमाण न होकर उसका संख्यातवाँ भाग ही रहता है। उसका संख्यातवाँ भाग कैसे रहता है, इसे सिद्ध करते हुए धवलाकार ने आगे लोक को अनेक विभागों में विभक्त कर गणित की विधिवत् प्रक्रिया के आधार से उसका क्षेत्रफल और घनफल निकालकर दिखलाया है। तदनुसार, उसका घनफल केवल

$$१६४\frac{३२८}{१३५६} \text{ अर्थात् } \left(\text{अधोलोक } १०६\frac{२६१}{१३५६} + \text{ऊर्ध्वलोक } ५८\frac{६७}{१३५६}\right) \text{ घनराजु}$$

प्रमाण ही सिद्ध होता है।

---

१. धवला में शंका के रूप में उद्धृत इन गाथाओं में "हेट्ठा मज्झिम" आदि गाथा मूलाचार (८-२४) में और जं० दी० प्र० (११-१०६) में उसी रूप में उपलब्ध होती है। "लोगो अकट्टिमो" आदि गाथा भी मूलाचार में ८-२२ गाथांकों में उसी रूप में उपलब्ध है। यह गाथा त्रि०सा० (४) में भी है। वहाँ "तालरुक्खसंठाणो" के स्थान पर "सव्वागासावयवो" पाठभेद है। "लोयस्स य विक्खंभो" आदि गाथा जं०दी०प० में ११-१०७ गाथा के रूप में उपलब्ध होती है।

२. सजोगिकेवली केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभागे असंखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा। —सूत्र १,३,४ (पु० ४, पृ० ४८; आगे सूत्र २,६,१०-१२ (पु० ७, पृ० ३१०-११) भी द्रष्टव्य हैं।

लोक के संख्यातवें भाग को सिद्ध करने के बाद धवलाकार कहते हैं कि इसके अतिरिक्त सात राजुओं के घन प्रमाण अन्य कोई लोक नाम का क्षेत्र शेष नहीं रहता, जिसे छह द्रव्यों का आधारभूत प्रमाणलोक कहा जा सके।

धवलाकार ने दूसरी आपत्ति यह भी उठायी है कि सूत्र[1] में प्रतरसमुद्घातगत केवली का क्षेत्र जो असंख्यातवें भाग से हीन लोक (लोक का असंख्यात बहुभाग) कहा गया है वह अधो-लोक की अपेक्षा उसके साधिक चतुर्थ भाग से हीन दो अधोलोक १९६×२—१९६/४=३४३ प्रमाण ऊर्ध्वलोक की अपेक्षा उसके कुछ कम तृतीय भाग से अधिक दो ऊर्ध्वलोक के प्रमाण (१४७×२+१४७/३=३४३) में कुछ (वातवलयरुद्ध क्षेत्र से) कम है। यह भी सात राजुओं के घन प्रमाण लोक के स्वीकार करने के बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार से धवला-कार ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रमाणलोक (३४३ घनराजु) आकाशप्रदेशगणना की अपेक्षा छह द्रव्यों के समुदायरूप लोक के समान ही है, उससे भिन्न नहीं है।

लोक सात राजुओं के घन प्रमाण कैसे है, धवला में इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—समस्त आकाश के मध्य में स्थित लोक चौदह राजु आयत है। यह पूर्व और पश्चिम इन दो दिशाओं में मूल में (नीचे) सात राजु, अर्ध भाग में (सात राजु की ऊँचाई पर) एक राजु, तीन चौथाई पर (साढ़े दस राजु की ऊँचाई पर) पाँच राजु और अन्त में एक राजु विस्तारवाला है। उसका बाहल्य उत्तर-दक्षिण में सर्वत्र सात राजुप्रमाण है। वह पूर्व-पश्चिम दोनों पार्श्व-भागों में वृद्धि व हानि को प्राप्त है। उसके ठीक बीच में चौदह राजु आयत और एक राजु-वर्ग प्रमाण मुखवाली लोकनाली (त्रसनली) है। इसे पिण्डित करने पर वह सात राजुओं के घनप्रमाण होता है।

यह भी कहा गया है कि यदि इस प्रकार के लोक को नहीं ग्रहण किया जाता है तो प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्र को सिद्ध करने के लिए जो दो गाथाएँ[2] कही गयी हैं वे निरर्थक सिद्ध होंगी, क्योंकि इस प्रकार के लोक को स्वीकार करने के बिना उनमें जो घनफल निर्दिष्ट किया गया है वह सम्भव नहीं है। इनमें प्रथम गाथा द्वारा अधोलोक का घनफल इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

मुख १ राजु+तल ७ राजु=८ राजु; उसका आधा ८÷२=४; ४×उत्सेध ७=२८; २८×मोटाई ७=१९६ घनराजु।

ऊर्ध्वलोक का घनफल (दूसरी गाथा)—

मूलविस्तार १×मध्य विस्तार ५=५; ५+मुखविस्तार १=६, उसका आधा ३; ३×उत्सेध का वर्ग ४९ (७×७)=१४७ घनराजु।

समस्त लोक का प्रमाण १९६+१४७=३४३ घनराजु।

शंकाकार द्वारा पूर्व में कहा गया था कि यदि अन्य आचार्यो द्वारा प्ररूपित लोक को ग्रहण न करके उसे सात राजुओं के घन प्रमाण माना जाता है तो पाँच द्रव्यों के आधारभूत लोक का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि उसमें सात राजुओं का घनप्रमाण सम्भव नहीं है। तथा वैसा होने पर जिन तीन गाथासूत्रों को उससे अप्रमाण ठहराया था उनका अपनी उपर्युक्त मान्यता के

---

१. सूत्र १,३,४ व उसकी धवला टीका पु० ४, पृ० ४८-५६
२. पु० ४, पृ० २०-२१

साथ धवलाकार ने आगे समन्वय भी किया है।[1]

शंकाकार ने एक शंका यह भी की थी कि जीव तो अनन्त हैं, पर लोक असंख्यात प्रदेश-वाला ही है; ऐसी अवस्था में उस लोक में अनन्त जीवों का अवस्थान कैसे सम्भव है। इसका परिहार भी धवला (पु० ४, पृ० २२-२५)में विस्तार से किया गया है।

क्षेत्रप्ररूपणा के आधारभूत दस पद

धवलाकार ने क्षेत्रप्ररूपणा में जीवों की इन अवस्थाओं को आधार बनाया है—स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद। इनमें स्वस्थान दो प्रकार का है—स्वस्थानस्वस्थान और विहार-वत्स्वस्थान। अपने उत्पन्न होने के ग्राम-नगरादि में सोना, बैठना व गमनादि की प्रवृत्तिपूर्वक रहने का नाम स्वस्थानस्वस्थान है। अपने उत्पन्न होने के ग्राम-नगरादि को छोड़कर अन्यत्र सोना, बैठना व गमनादि की प्रवृत्तिपूर्वक रहने को विहारवत्स्वस्थान कहा जाता है। मूलशरीर को न छोड़कर जीवप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलकर जाने का नाम समुद्घात है। वह सात प्रकार का है—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, वैक्रियिकसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, तैजसशरीरसमुद्घात, आहारसमुद्घात और केवलीसमुद्घात। धवला में इन सब के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विवेचन है।

पूर्व पर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय की प्राप्ति के प्रथम समय में जो अवस्था होती है उसे उपपाद कहा जाता है। वह एक ही प्रकार का है।

इस तरह दो प्रकार के स्वस्थान, सात प्रकार के समुद्घात और एक उपपाद इन दस अवस्थाओं से विशेषित मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासों के क्षेत्र की प्ररूपणाविषयक प्रतिज्ञा कर धवलाकार ने प्रथमतः सूत्रनिर्दिष्ट मिथ्यादृष्टियों के समस्त लोकक्षेत्र को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि मिथ्यादृष्टि जीव स्वस्थानस्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषाय-समुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात और उपपाद इन पाँच अवस्थाओं के साथ समस्त लोक में रहते हैं। इसका कारण यह है कि समस्त जीवराशि के संख्यातवें भाग से हीन सब जीवराशि स्वस्थानस्वस्थान रूप है। वेदना व कषायसमुद्घातों में वर्तमान जीव भी समस्त जीवराशि के संख्यातवें भाग मात्र है। मारणान्तिकसमुद्घातगत जीव भी सब जीवराशि के संख्यातवें भाग मात्र हैं। इसका भी कारण यह है कि इन तीनों जीवराशियों का समुद्घातकाल अपने जीवित के संख्यातवें भाग मात्र है। उपपादराशि सब जीवराशि के असंख्यातवें भाग है, क्योंकि वह एक-समय संचित है। इस प्रकार ये पाँचों जीवराशियाँ अनन्त हैं, अतएव वे समस्त लोक में स्थित हैं।[2]

विहारवत्स्वस्थान में परिणत मिथ्यादृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि त्रसपर्याप्तराशि ही विहार करने के योग्य है। इसमें भी उसका संख्यातवाँ भाग ही विहार में परिणत होता है। कारण कि 'यह मेरा है' इस बुद्धि से जो क्षेत्र गृहीत है वह तो स्वस्थान है और उससे बाहर जाकर रहना, इसका नाम विहार-वत्स्वस्थान है। उस विहार में रहने का काल अपने निवासस्थान में रहने के काल के संख्यातवें भाग है।

---

१. धवला पु० ४, पृ० १०-२२
२. धवला पु० ४, पृ० २६-३१

इस प्रसंग में धवलाकार ने स्वयंप्रभ पर्वत के परभाग में अवस्थित दीर्घ आयु व विशाल अवगाहनावाली पर्याप्त राशि को प्रधान व उनकी अवगाहनाओं के घनांगुल आदि करके गणित प्रक्रिया के आधार से यह प्रकट किया है कि विहारवत्स्वस्थान की अपेक्षा मिथ्यादृष्टियों का क्षेत्र संख्यात सूच्यंगुल से गुणित जगप्रतर प्रमाण है जो लोक का असंख्यातवाँ भाग है। वह अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के असंख्यातवें भाग, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणा है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रस्तुत क्षेत्रप्रमाण के विशेष स्पष्टीकरण के लिए धवलाकार ने लोक को पाँच प्रकार से ग्रहण किया है—(१) सात राजुओं का घनप्रमाण सामान्यलोक, (२) एक सौ छ्यानवे (१९६) घनराजु प्रमाण अधोलोक, (३) एक सौ सैतालीस (१४७) घनराजु प्रमाण ऊर्ध्वलोक, (४) पूर्व-पश्चिम में एक राजु विस्तृत, दक्षिण-उत्तर में सात राजु आयत और एक लाख योजन ऊँचा तिर्यग्लोक या मध्यलोक, और (५) पैंतालीस लाख योजन विस्तार-वाला व एक लाख योजन ऊँचा गोल मनुष्यलोक अथवा अढ़ाई द्वीप।[1]

वैक्रियिकसमुद्घातगत मिथ्यादृष्टियों का क्षेत्र पूर्व पद्धति के अनुसार लोक का असंख्यातवाँ भाग, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक इन दो लोकों का असंख्यातवाँ भाग, तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणा कहा गया है। साथ ही यहाँ ज्योतिषी देवों की सात धनुषप्रमाण ऊँचाई प्रधान है।[2]

यद्यपि इस क्षेत्रप्रमाण के प्रसंग में मूल सूत्रों में स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद इन तीन अवस्थाओं का ही सामान्य से उल्लेख है; वहाँ स्वस्थान के पूर्वोक्त दो और समुद्घात के सात भेदों का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी धवलाकार ने इन भेदों के साथ दस अवस्थाओं को आधार बनाकर क्षेत्रप्रमाण की जो प्ररूपणा की है वह आचार्यपरम्परागत उपदेश के अनुसार तथा 'मिथ्यादृष्टि' इस सामान्य वचन से सूचित सात मिथ्यादृष्टिविशेषों को लक्ष्य बनाकर की है। इसी प्रकार सूत्रों में अनिर्दिष्ट शेष चार लोकों को भी सूत्रसूचित मानकर उनके आश्रय से प्रस्तुत क्षेत्रप्रमाण को निरूपित किया गया है।[3]

इस ओघ क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा में सूत्रकार ने एक ही सूत्र (१,३,३) में सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त सब का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग निर्दिष्ट किया है। लेकिन उसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन के, संयतासंयतों के तथा प्रमत्त-संयत से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त संयतों के क्षेत्र की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की है।[4]

इसी प्रकार सूत्र (१,३,४) में सयोगिकेवलियों के क्षेत्र का जो सामान्य से उल्लेख किया गया है उसे विशद करते हुए धवलाकार ने विशेष रूप से दण्डसमुद्घातगत, कपाटसमुद्घात,

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३१-३८

२. धवला पु० ४, पृ० ३८

३. मिच्छाइट्ठिस्स सत्थाणादी सत्त वि सेसा सुत्तेण अणुदिट्ठा अत्थि त्ति कधं णव्वदे? आइरिय-परंपरागदुवदेसादो। किं च × × × सेस चत्तारि वि लोगा सुत्तेण सूचिदा चेव × × × तम्हा सुत्तसंवद्धमेवेदं वक्खाणमिदि।—धवला पु० ४, पृ० ३८-३९

४. धवला पु० ४, पृ० ३९-४७

प्रतरसमुद्घातगत और लोकपूरणसमुद्घातगत केवलियों के क्षेत्र की प्ररूपणा पूर्व पद्धति के अनुसार पृथक्-पृथक् की है।[1]

प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्रप्रमाण के प्रसंग में उद्धृत दो गाथाओं के आधार से धवला में ऊर्ध्वलोक और अधोलोक का घनफल दिखलाया गया है। इसी प्रसंग में आगे लोकपर्यन्त अवस्थित वातवलयों से रोके गये क्षेत्र के प्रमाण को भी गणित-प्रक्रिया के आश्रय से निकाला गया है। तदनुसार समस्त वातवलयरुद्ध क्षेत्र इतना है—

$$\frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०} \text{ जगप्रतर}$$

इस वातवलयरुद्ध क्षेत्र को घनलोक में से कम कर देने पर प्रतरसमुद्घात केवली का क्षेत्र कुछ कम लोकप्रमाण सिद्ध होता है। इसे अधोलोक के प्रमाण से करने पर वह साधिक एक अधोलोक के चतुर्थ भाग से कम दो अधोलोक प्रमाण होता है। ऊर्ध्वलोक के प्रमाण से करने पर वह ऊर्ध्वलोक के कुछ कम तृतीय भाग से अधिक दो ऊर्ध्वलोक प्रमाण होता है।

आदेश की अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण

इस प्रकार ओघ की अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा के समाप्त हो जाने पर, आगे आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में जहाँ जितने गुणस्थान सम्भव हैं उनमें प्रस्तुत क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा की गयी है। प्ररूपणा की पद्धति प्रसंग के अनुसार पूर्ववत् ही रही है। यथा—

सर्वप्रथम गतिमार्गणा के आश्रय से नरकगति में वर्तमान नारकियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती नारकियों का क्षेत्र सूत्र (१,३,५) में लोक का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है। उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने स्वस्थानस्वस्थान व विहारवत्स्वस्थान तथा वेदना, कषाय व वैक्रियिक समुद्घातगत नारकमिथ्यादृष्टियों का सामान्यलोक, अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और तिर्यग्लोक इन चार का असंख्यातवाँ भाग तथा अढ़ाईद्वीप से असंख्यातगुणा बतलाया है। इसे विशद करते हुए उन्होंने गणित प्रक्रिया के अनुसार प्रथमादि पृथिवियों में यथाक्रम से सम्भव १३ व ११ आदि पाथडों में वर्तमान नारकियों के शरीरोत्सेध के प्रमाण को निकाला है। तत्पश्चात् अवगाहना में सातवीं पृथिवी को और द्रव्य की अपेक्षा प्रथम पृथिवी को प्रधान करके स्वस्थानस्वस्थान आदि उन पदों में परिणत कितनी जीवराशि सम्भव है, इत्यादि का विचार करते हुए मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि आदि चारों गुणस्थानों में क्षेत्रप्रमाण को व्यक्त किया है। विशेषता यह रही है कि सासादनसम्यग्दृष्टि के उपपादपद सम्भव नहीं है और सम्यग्मिथ्यादृष्टि के मारणान्तिकसमुद्घात सम्भव नहीं है।[2]

इस प्रकार सामान्य नारकियों के क्षेत्र को बतलाकर आगे सूत्र (१,३,६) में केवल यह सूचना कर दी है कि इसी प्रकार सातों पृथिवियों में इस क्षेत्रप्रमाण को जानना चाहिए।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि सूत्र में द्रव्यार्थिकनय की

---

१. धवला पु० ४, पृ० ४८-५६

२. वही, पृ० ५६-६५

अपेक्षा वैसा कहा गया है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा इन पृथिवियों में विशेषता भी है। धवला में उस विशेषता को भी स्पष्ट किया गया है (पु० ४, पृ० ६५-६६)।

क्षेत्रप्रमाणप्ररूपणा का यही क्रम आगे यथासम्भव तिर्यंच आदि शेष तीन गतियों में और इन्द्रिय आदि शेष तेरह मार्गणाओं में भी रहा है।

४. स्पर्शनानुगम

पूर्वोक्त जीवस्थानगत आठ अनुयोगद्वारों में स्पर्शनानुगम चौथा है। धवलाकार ने यहाँ प्रथम सूत्र की व्याख्या कर सर्वप्रथम स्पर्शन के ये छह भेद निर्दिष्ट किये हैं—नामस्पर्शन, स्थापनास्पर्शन, द्रव्यस्पर्शन, क्षेत्रस्पर्शन, कालस्पर्शन और भावस्पर्शन। आगे उन्होंने इन सब स्पर्शनभेदों के स्वरूप का भी विवेचन किया है। उनमें से यहाँ जीवक्षेत्रस्पर्शन अधिकृत है।[1]

पूर्व पद्धति के अनुसार धवला में इस स्पर्शन की प्ररूपणा भी प्रथमतः ओघ की अपेक्षा और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा की गयी है।

ओघप्ररूपणा--सूत्रकार ने यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टियों के स्पर्शनक्षेत्र को समस्त लोक बतलाया है। इस सूत्र की व्याख्या में धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि क्षेत्रानुयोगद्वार में जहाँ सभी मार्गणाओं का आश्रय लेकर सब गुणस्थानों के वर्तमान काल सम्बन्धी क्षेत्र की प्ररूपणा की गयी है वहाँ प्रकृत अनुयोगद्वार में उन सभी मार्गणाओं का आश्रय लेकर सभी गुणस्थानों के अतीत काल से सम्बन्धित क्षेत्र की प्ररूपणा की जाने वाली है। क्षेत्रानुयोगद्वार के समान स्पर्शन अनुयोगद्वार में स्वस्थानस्वस्थान और विहारवत्स्वस्थान तथा वेदनादि सात समुद्घात और उपपाद इन दस पदों के आश्रय से प्रकृत स्पर्शन की भी प्ररूपणा की गयी है तथा लोक से सामान्य लोक आदि वे ही पाँच लोक विवक्षित रहे हैं। लोक का प्रमाण ३४३ घनराजु यहाँ भी अभीष्ट रहा है।[2]

सूत्र (१,४,२) में जो मिथ्यादृष्टियों का स्पर्शनक्षेत्र सर्वलोक कहा गया है वह द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से कहा गया है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वह कितना है, इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा कि स्वस्थानस्वस्थान, वेदना, कषाय व मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपाद इन पदों से परिणत मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अतीत और वर्तमान काल में समस्त लोक का स्पर्श किया गया है। विहारवत्स्वस्थान व वैक्रियिक समुद्घात से परिणत उनके द्वारा वर्तमान में सामान्यलोक, अधोलोक और ऊर्ध्वलोक इन तीन का असंख्यातवाँ भाग, तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग और अढ़ाईद्वीप से असंख्यात गुणा क्षेत्र स्पर्श किया गया है। धवलाकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अपवर्तना का क्रम यहाँ क्षेत्र के ही समान है।

अतीत काल में उनके द्वारा चौदह भागों में कुछ कम आठ भाग स्पर्श किये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि लोक के मध्य में एक राजु के वर्गप्रमाण विस्तृत और चौदह राजु आयत जो त्रसनाली है उसके एक राजु लम्बे-चौड़े चौदह भागों में आठ भागों का उनके द्वारा स्पर्श किया गया है। वे आठ भाग हैं—मेरुतल के नीचे के दो भाग और उससे ऊपर के छह भाग। कारण

---

१. धवला पु० ४, पृ० १४१-४४

२. धवला पु० ४, पृ० १४५-४७

यह है कि वे मिथ्यादृष्टि नीचे तीसरी पृथिवी तक दो राजु और ऊपर सोलहवें कल्प तक छह राजु इस प्रकार उन चौदह भागों में से आठ भागों में विहार व विक्रिया करते हैं। कुछ कम करने का कारण यह है कि तीसरी पृथिवी के नीचे के एक हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में उनका विहार सम्भव नहीं है।[1]

सूत्र (१,४,३) में सासादनसम्यग्दृष्टियों का स्पर्शनक्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है। उनके इस क्षेत्रप्रमाण का उल्लेख इसके पूर्व क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वार सूत्र (१,३,३) में भी किया जा चुका है। इससे पुनरुक्ति दोष का प्रसंग प्राप्त होता है, इस शंका को हृदयंगम कर इसके परिहारस्वरूप धवलाकार ने कहा है कि प्रस्तुत सूत्र में जो क्षेत्रानुयोगद्वार में प्ररूपित क्षेत्र की पुनः प्ररूपणा की गयी है वह मन्दबुद्धि शिष्यों को स्मरण कराने के लिए है। अथवा चौदह गुणस्थानों से सम्बद्ध अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल से विशिष्ट क्षेत्र के विषय में पूछने पर शिष्य के सन्देह को दूर करने के लिए अतीत व अनागत इन दो कालों से विशिष्ट उस क्षेत्र की प्ररूपणा की जा रही है। तदनुसार स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान तथा वेदना, कषाय, वैक्रियिक व मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदों से परिणत उक्त सासादन-सम्यग्दृष्टियों के द्वारा चार लोकों का असंख्यातवाँ भाग और मानुषक्षेत्र से असंख्यातगुणा क्षेत्र स्पर्श किया गया है।

आगे के सूत्र (१,४,४) में सासादनसम्यग्दृष्टियों का स्पर्शनक्षेत्र कुछ कम आठ बटे चौदह भाग अथवा बारह बटे चौदह भाग का भी निर्देश है। उसकी व्याख्या में धवला में स्पष्ट किया गया है कि यह सूत्र अतीत काल से विशिष्ट उनके स्पर्शनक्षेत्र का प्ररूपक है। आगे इस सूत्र को देशामर्शक कहकर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उसकी प्ररूपणा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि स्वस्थानस्वस्थानगत उन सासादनसम्यग्दृष्टियों ने तीन लोकों के असंख्यातवें भाग, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग और अढाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र का स्पर्श किया है।

अतीत काल से सम्बद्ध उन सासादनसम्यग्दृष्टियों के इस स्वस्थान क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने प्रथमतः तिर्यंच सासादनसम्यग्दृष्टियों के क्षेत्र की प्ररूपणा में कहा है कि त्रसजीव त्रसनाली के भीतर ही होते हैं, इस प्रकार राजुप्रतर के भीतर सर्वत्र सासादनसम्यग्दृष्टियों की सम्भावना है। उस क्षेत्र को तिर्यग्लोक के प्रमाण से करने पर वह उसका संख्यातवाँ भाग होकर संख्यात अंगुल बाहल्यरूप जगप्रतर होता है।

तत्पश्चात् ज्योतिषी सासादनसम्यग्दृष्टियों के स्वस्थानस्वस्थान क्षेत्र के निकालने के लिए धवलाकार ने जम्बूद्वीप व लवणसमुद्र आदि असंख्यात द्वीप-समुद्रों में अवस्थित चन्द्र-सूर्यादि समस्त ज्योतिषी देवों की संख्या को गणित-प्रक्रिया के आधार से निकाला है। उस प्रसंग में धवलाकार ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि स्वयम्भूरमण समुद्र के आगे भी राजु के अर्धच्छेद हैं। इसका आधार उन्होंने ज्योतिषियों की संख्या के लाने में कारणभूत दो सौ छप्पन अंगुल के वर्गरूप भागहार के प्ररूपक सूत्र[2] को बतलाया है।

इस पर यह शंका की गयी कि "जितनी द्वीप-समुद्रों की संख्या है तथा जितने जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद हैं, एक अधिक उतने ही राजु के अर्धच्छेद हैं" ऐसा जो परिकर्म में कहा गया है

---

१. धवला पु० ४, पृ० १४८

२. खेत्तेण पदरस्स वेछप्पण्णंगुलसयवग्गपडिभागेण।—सूत्र १,२,५५ (पु० ३)

उससे उक्त कथन का विरोध क्यों न होगा। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उसके साथ तो विरोध होगा, किन्तु सूत्र के साथ उसका विरोध नहीं होगा। इसलिए उस व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिए, न कि परिकर्म के उस कथन को; क्योंकि वह सूत्र के विरुद्ध है। सूत्र के विरुद्ध व्याख्यान नहीं होता है, अन्यथा कुछ व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। तात्पर्य यह है कि स्वयम्भूरमण समुद्र के आगे राजु के अर्धच्छेद हैं, पर वहाँ ज्योतिषी देव नहीं हैं। इससे उक्त भागहार की उत्पत्ति के लिए तत्प्रायोग्य अन्य संख्यात रूपों को भी राजु के अर्धच्छेदों में से कम करना चाहिए।

आगे धवलाकार ने पूर्व निर्दिष्ट सूत्र की प्रामाणिकता को लक्ष्य में रखते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि हम(आ० वीरसेन) ने जो यह राजु के अर्धच्छेदों के प्रमाणविषयक परीक्षा का विधान किया है वह अन्य आचार्यों के उपदेश का अनुसरण न कर केवल तिलोयपण्णत्तिसुत्त का अनुसरण करता है। तदनुसार ज्योतिषी देवों के भागहार के प्ररूपक जिस सूत्र का पूर्व में निर्देश है उस पर आधारित युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ के साधनार्थ उसकी प्ररूपणा हमने की है। इसके लिए उन्होंने ये दो उदाहरण भी दिए हैं[1]—

(१) जिस प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि आदि के द्रव्यप्रमाण के प्रसंग में हमने अन्तर्मुहूर्त में प्रयुक्त 'अन्तर' शब्द को समीपार्थक मानकर उसके आधार से अन्तर्मुहूर्त का अर्थ 'मुहूर्त के समीप(मुहूर्त से अधिक)'किया है। इससे उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि का अवहारकाल असंख्यात आवली प्रमाण बन जाता है। इसके विपरीत यदि अन्तर्मुहूर्त को सर्वत्र संख्यात आवलियों प्रमाण ही माना जाय तो वह घटित नहीं होता है।[2]

(२) कुछेक पूर्व आचार्यों की मान्यता के अनुसार लोक का आकार चारों दिशाओं में गोल है। उसका विस्तार नीचे तलभाग में सात राजु है। पश्चात् वह ऊपर क्रम से हीन होता हुआ सात राजु ऊपर जाने पर एक राजु मात्र रह गया है। फिर क्रम से आगे वृद्धिगत होकर वह साढ़े दस राजु ऊपर जाने पर पाँच राजु हो गया है। तत्पश्चात् पुनः हानि को प्राप्त होता हुआ वह अन्त में चौदह राजु ऊपर जाने पर एक राजु रह गया है।

धवलाकार का कहना है कि यदि आचार्यों द्वारा प्ररूपित लोक को वैसा स्वीकार किया जाय तो जिन दो गाथासूत्रों के आधार से प्रतरसमुद्घातगत केवली का क्षेत्र कुछ कम (वातवलयरुद्ध क्षेत्र से हीन) ३४३ घनराजु प्रमाण कहा गया है वे गाथासूत्र[3] निरर्थक ठहरते हैं, क्योंकि उपर्युक्त लोक का घनफल १६४ $\frac{३२८}{१३५६}$ घनराजु ही आता है, जो ३४३ घनराजुओं से हीन है। इससे धवलाकार वीरसेनाचार्य ने लोक को गोलाकार न मानकर आयत चतुरस्र माना है। तदनुसार उसका आकार इस प्रकार रहता है—पूर्व-पश्चिम में नीचे सात राजु, ऊपर

---

१. धवला पु० ४, पृ० १५७;धवला के अन्तर्गत यह प्रसंगप्राप्त गद्य भाग प्रसंगानुरूप शब्द-परिवर्तन के साथ वर्तमान 'तिलोयपण्णत्ती' में उसी रूप में उपलब्ध होता है। देखिए, धवला पु० ४, पृ० १५२-५६ तथा ति०प० २, पृ० ६४-६६। (ति०प० में सम्भवतः उसे धवला से लिया गया होगा।)

२. धवला पु० ३, पृ० ६९-७०

३. धवला पु० ४, पृ० २०-२१

क्रम से हीन होकर सात राजु ऊपर जाने पर एक राजु, फिर वृद्धि को प्राप्त होकर साढ़े दस राजु ऊपर जाने पर पाँच राजु और पुनः हीन होता हुआ अन्त में चौदह राजु ऊपर जाने पर एक राजु मात्र विस्तृत है। दक्षिण-उत्तर में वह सर्वत्र सात राजु बाहल्यवाला है। इस प्रकार के लोक का प्रमाण ३४३ घनराजु प्राप्त हो जाता है। इससे न तो वे दो गाथासूत्र ही निरर्थक होते हैं और न ज्योतिषी देवों के द्रव्यप्रमाण के लाने में कारणभूत दो सौ छप्पन अंगुल के वर्गरूप भागहार का प्ररूपक सूत्र[1] भी असंगत ठहरता है।

इस प्रकार सूत्रों की प्रामाणिकता को सुरक्षित रखते हुए धवलाकार आ० वीरसेन ने उन सूत्रों पर आधारित युक्ति के बल से कुछ पूर्वाचार्यों के उपदेश के विरुद्ध होने पर भी मुहूर्त से अधिक (असंख्यात आवली प्रमाण) अन्तर्मुहूर्त को, आयत चतुरस्र लोक को और स्वयम्भूरमण-समुद्र के बाह्य भाग में तत्प्रायोग्य राजु के संख्यात अर्धच्छेदों को सिद्ध किया है।

उपर्युक्त गणित-प्रक्रिया के आधार से धवलाकार ने समस्त ज्योतिषी देवों की बिम्बशलाकाओं को निकाला है। तदनुसार उन्हें संख्यात घनांगुल से गुणित करने पर ज्योतिषी देवों का स्वस्थान क्षेत्र होता है। उस स्वस्थान क्षेत्र को संख्यात रूपों से गुणित करके संख्यात घनांगुल से अपवर्तित करने पर ज्योतिषी देवों की संख्या आती है। उसे ज्योतिषी देवों के उत्सेध से गुणित विमानों के अभ्यन्तर प्रतरांगुलों से गुणित करने पर ज्योतिषी देवों का स्वस्थान क्षेत्र तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग मात्र निर्धारित होता है।

इसी प्रकार से धवला में सासादनसम्यग्दृष्टि व्यन्तर देवों के भी स्वस्थानक्षेत्र को तिर्यग्-लोक के संख्यातवें भाग मात्र सिद्ध किया गया है।

उन सासादनसम्यग्दृष्टियों के द्वारा विहार, वेदना-समुद्घात, कषाय-समुद्घात और वैक्रियिक-समुद्घात इन पदों की अपेक्षा लोकनाली के चौदह भागों में से कुछ कम (तीसरी पृथिवी के नीचे के हजार योजनों से कम) आठ भागों का स्पर्श किया गया है।

मारणान्तिक समुद्घात से परिणत उनके द्वारा उन चौदह भागों में से कुछ कम बारह भागों का स्पर्श किया गया है जो इस प्रकार सम्भव है—

मेरुमूल से ऊपर ईषत्प्राग्भार पृथिवी तक सात राजु और नीचे छठी पृथिवी तक पाँच राजु, इन दोनों के मिलाने पर सासादनमारणान्तिक क्षेत्र का आयाम बारह (७ + ५) राजु हो जाता है। विशेष इतना है कि उसे छठी पृथिवी के नीचे के हजार योजन से कम समझना चाहिए।

उपपाद से परिणत उनके द्वारा उक्त चौदह भागों में से नीचे छठी पृथिवी तक पाँच राजु और ऊपर आरण-अच्युत कल्प तक छह राजु, इस प्रकार ग्यारह (६ + ५) भागों का स्पर्श किया गया है। यहाँ भी पूर्व के समान हजार योजन से उसे कम समझना चाहिए।

यहाँ मारणान्तिक समुद्घात के प्रसंग में कुछ विशेष ज्ञातव्य है। मारणान्तिक समुद्घात से परिणत सासादनसम्यग्दृष्टियों का स्पर्शन १२ बटे १४ भाग निर्दिष्ट है। इस पर वहाँ शंका उठायी गयी है कि यदि सासादनसम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते है तो उनके दो गुणस्थान होना चाहिए। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि सत्प्ररूपणा में उनके एकमात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का सद्भाव दिखलाया गया है।[2] आगे द्रव्यप्रमाणानुगम में भी उनमें एक मिथ्यादृष्टि गुण-

---

१. द्रव्यप्रमाणानुगम, सूत्र ५५ व ६५; (पु० ३, पृ० २६८ व २७५)

२. सूत्र १,१,३६ (पु० १, पृ० २६१)

स्थान से सम्बन्धित द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा की गयी है।[1] इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि कौन यह कहता है कि सासादनसम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं? वे वहाँ मारणान्तिक समुद्घात को करते हैं ऐसा हमारा निश्चय है। पर वे वहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि आयुकाल के समाप्त होने पर उनके सासादनगुणस्थान नहीं पाया जाता है।

इस पर यह शंका उत्पन्न हुई है कि जहाँ सासादनसम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है वहाँ भी यदि वे मारणान्तिक समुद्घात करते हैं तो सातवीं पृथिवी के नारकी भी सासादन गुणस्थान के साथ पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में मारणान्तिक समुद्घात कर सकते हैं, क्योंकि सासादन गुणस्थान की अपेक्षा दोनों में कुछ विशेषता नहीं है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि उन दोनों में जातिभेद के कारण उपर्युक्त दोष सम्भव नहीं है। और फिर नारकियों का स्वभाव जहाँ गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न होने का है वहाँ देवों का स्वभाव पंचेन्द्रियों में और एकेन्द्रियों में भी उत्पन्न होने का है; इसलिए दोनों समान जातिवाले नहीं हैं।

पुनः यह शंका की गयी है कि एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्घात को करनेवाले देव समस्त लोकगत एकेन्द्रियों में उसे क्यों नहीं करते हैं। इसके समाधान में कहा गया है कि ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि लोकनाली के बाहर उत्पन्न होने का उनका स्वभाव नहीं है, इत्यादि।

इसी प्रकार उनके उपपाद के प्रसंग में भी धवलाकार ने बतलाया है कि कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि देव नियम से मूल शरीर में प्रविष्ट होकर ही मरण को प्राप्त होते हैं। तदनुसार उपपाद की अपेक्षा उनका स्पर्शनक्षेत्र कुछ कम १० बटे १४ भाग होता है। इस मत का निराकरण करते हुए धवलाकार कहते हैं कि उनका यह कथन सूत्र के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि यहीं पर कार्मणशरीरवाले सासादनसम्यग्दृष्टियों का उपपाद सम्बन्धी स्पर्शनक्षेत्र ११ बटे १४ भाग कहा गया है।[2] अतः सूत्र के विरुद्ध होने से उनका वह व्याख्यान ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार जो आचार्य यह कहते हैं कि देव सासादनसम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं उनके अभिमतानुसार उनका उपपाद सम्बन्धी स्पर्शक्षेत्र कुछ कम १२ बटे १४ भाग होता है, यह व्याख्यान भी चूँकि पूर्वोक्त सत्प्ररूपणासूत्र और द्रव्यप्रमाणानुगमसूत्र के विरुद्ध पड़ता है, इसलिए वह भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।[3]

आगे इसी पद्धति से ओघ की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि शेष गुणस्थानों में तथा आदेश की अपेक्षा गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में यथाक्रम से प्रस्तुत स्पर्शन की प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार यह अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

५. कालानुगम

'कालानुगम' यह जीवस्थान का पांचवाँ अनुयोगद्वार है। यहाँ प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने काल के इन चार भेदों का निर्देश किया है—नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्य-

---

१. सूत्र १,२,७४-७६ (पु० ३ पृ० ३०५-७)

२. कम्मइयकायजोगीसु मिच्छादिट्ठी ओघं। सासणसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फासिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। एक्कारह चोद्दसभागा देसूणा।

—सूत्र १,४,९६-९८ (पु० ४, पृ० २६९-७०)

३. धवला पु० ४, पृष्ठ १४८-६५ द्रष्टव्य हैं।

काल और भावकाल। यथाक्रम से उनके स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने पल्लवित, अंकुरित, कुलित, करलित, पुष्पित, मुकुलित एवं कोयलों के मधुर आलाप से परिपूर्ण ऐसे वनखण्ड से प्रकाशित चित्र में लिखित वसन्त को सद्भावस्थापनाकाल और मणिभेद व मिट्टी के ठीकरों आदि में 'यह वसन्त है' इस प्रकार की बुद्धि से की जानेवाली स्थापना को असद्भावस्थापनाकाल कहा है।

नोआगमद्रव्यकाल के प्रसंग में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल का स्वरूप बतलाते हुए धवला में उल्लेख है कि दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श और पाँच वर्ण से रहित होकर जो कुम्हार के चाक के नीचे की शिल के समान वर्तनास्वरूप है उसे तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल कहा जाता है, तथा वह लोकाकाश के प्रमाण है।

उसी प्रसंग में विशेष रूप से यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जीवस्थानादि में चूँकि द्रव्यकाल की प्ररूपण नहीं की गयी है, इसलिए उसका सद्भाव ही नहीं है; ऐसा नहीं कहा जा सकता। जीवस्थानादि में उसकी प्ररूपणा न करने का कारण वहाँ छह द्रव्यों का प्ररूपणाविषयक अधिकार का न होना है। इसलिए 'द्रव्यकाल का अस्तित्व है', ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

नोआगमभावकाल के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि द्रव्यकाल के निमित्त से जो परिणाम (परिणमन) होता है उसे नोआगमभावकाल कहते हैं।

यहाँ नोआगमभावकाल को प्रसंगप्राप्त कहा गया है। यह नोआगमभावकाल समय, आवली व क्षण आदि स्वरूप है। समय के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि एक परमाणु जितने काल में दूसरे परमाणु का अतिक्रमण करता है उसका नाम समय है। पुनश्च परमाणु जितने काल में चौदह राजु प्रमाण आकाश प्रदेशों का अतिक्रमण कर सकता है, उतने ही काल में वह मन्दगति से एक परमाणु से दूसरे परमाणु का भी अतिक्रमण करता है। उसके इतने काल को समय कहा गया है।

यहाँ यह शंका की गयी है कि पुद्गलपरिणामस्वरूप इन समय, आवली आदि को काल कैसे कहा जा सकता है। इसके समाधान में 'कल्यन्ते संख्यायन्ते कर्म-भव-कायायुस्थितयोऽनेनेति कालशब्दव्युत्पत्तेः' ऐसी 'काल' शब्द की निरुक्ति के अनुसार कहा गया है कि उसके आश्रय से कर्म, भव, आयुस्थिति आदि की संख्या की जाती है, इसलिए उसे काल कहा जाता है। इसके पूर्व वहाँ यह भी कहा जा चुका है कि कार्य में कारण के उपचार से उसे काल कहा गया है। काल, समय और अद्धा ये समानार्थक शब्द हैं। आगे धवला में कुछ काल विभागों का स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया गया है—

असंख्यात समयों की एक आवली होती है। तत्प्रायोग्य असंख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास-निःश्वास होता है। सात उच्छ्वासों का स्तोक होता है। सात स्तोकों का लव होता है। साढ़ अड़तीस लवों की नाली होती है। दो नालियों का मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तो का दिवस होता है। पन्द्रह दिवसों का पक्ष होता है। दो पक्षों का मास होता है। बारह मासों का वर्ष और पाँच वर्षो का युग होता है। धवला में कल्पकाल तक इसी क्रम से काल-विभागों के प्रमाण के कहने की प्रेरणा कर दी गयी है।[1]

१. इस सबके लिए देखिए धवला पु० ४, पृ० ३१३-२०। (जिज्ञासुजन कल्पकाल तक के काल-विभागों को तिलोयपण्णत्ती ४; २८४-३०८ गाथाओं में देख सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययन के लिए ति० प० २, की प्रस्तावना पृ० ८० और परिशिष्ट पृ० ९९७-९८ द्रष्टव्य हैं।)

यहाँ प्रसंगप्राप्त मुहूर्त में दो श्लोकों के आश्रय से ३७७३ उच्छ्वासों का तथा ५,११० निमेषों का भी उल्लेख है।

तीस मुहूर्तों का दिवस होता है, यह पहले कहा जा चुका है। ये मुहूर्त कौन से हैं, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में किन्हीं प्राचीन श्लोकों के आधार से दिन के १५ और रात्रि के १५ मुहूर्त के नामों का निर्देश इस प्रकार किया गया है[1]—

दिनमुहूर्त—१. रौद्र, २. श्वेत, ३. मैत्र, ४. मारभट, ५. दैत्य, ६. वैरोचन, ७. वैश्वदेव, ८. अभिजित्, ९. रोहण, १०. बल, ११. विजय, १२. नैऋत्य, १३. वारुण, १४. अर्यमन् और १५. भाग्य।

रात्रिमुहूर्त—१. सावित्र, २. धुर्य, ३. दात्रक, ४ यम, ५. वायु, ६. हुताशन, ८. भानु, ७. वैजयन्त, ९. सिद्धार्थ, १०. सिद्धसेन, ११. विक्षोभ, १२. योग्य, १३. पुष्पदन्त, १४. सुगन्धर्व और १५. अरुण।

आगे एक अन्य श्लोक के आश्रय से यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि रात और दिन दोनों का समय और मुहूर्त समान माने गये हैं। पर कभी (उत्तरायण में) छह मुहूर्त दिन को प्राप्त होते हैं और कभी (दक्षिणायन में) वे रात को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उत्तरायण में दिन का प्रमाण अठारह (१२+६) मुहूर्त और रात का प्रमाण बारह मुहूर्त होता है। इसके विपरीत दक्षिणायन में रात का प्रमाण अठारह मुहूर्त और दिन का प्रमाण बारह मुहूर्त हो जाता है। इस प्रकार दिन के तीन मुहूर्त यदि कभी रात्रि में सम्मिलित हो जाते हैं तो कभी रात्रि के तीन मुहूर्त दिन में सम्मिलित हो जाते हैं।

इसी प्रसंग में आगे धवला में 'दिवसानां नामानि' ऐसी सूचनापूर्वक एक अन्य श्लोक के द्वारा तिथियों के इन पाँच नामों का निर्देश है—नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा। यथाक्रम से इनके ये देवता भी वहाँ निर्दिष्ट हैं—चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आकाश और धर्म। इन तिथियों का प्रारम्भ प्रतिपदा से होना है। जैसे—प्रतिपदा का नाम नन्दा, द्वितीया का नाम भद्रा, तृतीया का नाम जया, चतुर्थी का नाम रिक्ता, पंचमी का नाम पूर्णा, पुनः परिवर्तित होकर षष्ठी का नाम नन्दा, सप्तमी का जया, अष्टमी का भद्रा, इत्यादि। तदनुसार प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी इन तीन तिथियों को नन्दा; द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी को भद्रा, तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशी इन तीन को जया; चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी को रिक्ता; तथा पंचमी, दशमी और पूर्णिमा को पूर्णा तिथि कहा जाता है।[2]

निर्देश-स्वामित्व आदि के क्रम से कालविषयक विचार

धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त विषय का विचार प्रायः निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण,

---

१. ये चारों श्लोक सिंहसूरर्षि विरचित लोकविभाग में प्रायः उसी रूप में उपलब्ध होते हैं। देखिए लो०वि० ६; १९७-२००; ज्योतिष्करण्डक की मलयगिरि विरचित वृत्ति में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की तीन गाथाओं को उद्धृत करते हुए ३० मुहूर्तों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिनमें कुछ समान हैं। देखिए ज्यो०क०मलय०वृत्ति ५२-५३

२. इस मुहूर्त आदिरूप काल की विशेषता के परिज्ञानार्थ धवला पु० ४, पृ० ३१८-१९ द्रष्टव्य हैं।

स्थिति और विधान इन छह अधिकारों में किया है। तदनुसार ऊपर जो विवक्षित काल के स्वरूप को बतलाया है वह 'निर्देश' रूप है।

स्वामित्व—काल का स्वामी कौन है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा है कि वह जीव और पुद्गलों का है; क्योंकि वह इन दोनों के परिणामस्वरूप है। विकल्प रूप में आगे यह भी कहा गया है—अथवा वह परिभ्रमशील सूर्यमण्डल का है, क्योंकि उसके उदय और अस्तगमन से दिवस आदि उत्पन्न होते हैं।

साधन—काल किसके द्वारा निरूपित है, इस प्रकार उसके साधन या कारण को प्रकट करते हुए कहा है कि वह परमार्थकाल से उत्पन्न होता है, अर्थात् उसका कारण परमार्थ या निश्चयकाल है।

अधिकरण—वह काल कहाँ पर है, इस प्रकार आधार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों से परिपूर्ण मानुषक्षेत्रगत प्रत्येक सूर्यमण्डल में है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई कि यदि काल मानुषक्षेत्रगत सूर्यमण्डल में ही अवस्थित है तो तो यव (जौ) राशि के समान समय स्वरूप से अवस्थित और स्व-पर-प्रकाश का कारणभूत वह काल दीपक के समान छह द्रव्यों के परिणामों को कैसे प्रकाशित कर सकता है, जबकि वह समस्त पुद्गलों से अनन्तगुणा है। इस शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि जिस प्रकार प्रस्थ (मापविशेष) मापे जानेवाले धान्य आदि से पृथक् रहकर भी उनको मापता है उसी प्रकार काल भी छह द्रव्यों से पृथक् रहकर उनके परिणमन को प्रकाशित करता है। अभिप्राय यह है कि वह स्वयं अपने परिणमन का और अन्य पदार्थों के भी परिणमन का कारण है। जैसे दीपक स्वयं को प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं प्राप्त होता है,अन्यथा स्व-पर-प्रकाशक दीपक के साथ व्यभिचार अनिवार्य होगा।

देवलोक में काल के न होने पर भी यहीं के काल से वहाँ काल का व्यवहार होता है।

एक शंका वहाँ यह भी की गयी है कि काल जब जीवों और पुद्गलों का परिमाण है तब केवल मानुषक्षेत्रगत सूर्यमण्डल में स्थित न होकर उसे समस्त जीवों और पुद्गलों में स्थित होना चाहिए। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि लोक में व आगम में वैसा व्यवहार नहीं है। काल का व्यवहार केवल अनादिनिधन सूर्यमण्डल की क्रियाजनित द्रव्यों के परिणामों में ही प्रवृत्त है। अतः यहाँ किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं है।

स्थिति—काल कितने समय तक रहता है, इसका विचार करते हुए धवला में कहा है कि वह अनादि व अपर्यवसित है। इस प्रसंग में शंकाकार ने काल का काल उससे भिन्न है या अभिन्न, इन दो विकल्पों को उठाते हुए उनके निराकरणपूर्वक काल से काल का निर्देश असंगत ठहराया है। उसके इस अभिमत का निराकरण कर धवला में कहा है कि अन्य सूर्यमण्डल में स्थित काल द्वारा उससे पृथग्भूत सूर्यमण्डल में स्थित काल का निर्देश सम्भव है। अथवा उससे उसके अभिन्न होने पर भी काल से काल का निर्देश सम्भव है। जैसे—'घट का भाव' और 'शिलापुत्रक का शरीर' इन उदाहरणों में घट से अभिन्न उसके भाव में और शिलापुत्रक से अभिन्न उसके शरीर में भेद का व्यवहार देखा जाता है।

विधान—काल कितने प्रकार का है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सामान्य से काल एक ही प्रकार का है। वही अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है। अथवा गुणस्थितिकाल, भवस्थितिकाल, कर्मस्थितिकाल, कायस्थितिकाल, उपपादकाल और

भावस्थितिकाल के भेद से वह छह प्रकार का भी है। अथवा परिणामों के अनन्त होने से उन से अभिन्न वह अनेक प्रकार भी है (धवला ४, पृ० ३१३-३२२)।

ओघ की अपेक्षा काल-प्ररूपणा

सूत्रकार द्वारा प्रथमतः ओघ की अपेक्षा काल की प्ररूपणा की गयी है। तदनुसार यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टियों के काल की प्ररूपणा करते हुए नाना जीवों की अपेक्षा उनका काल समस्त काल निर्दिष्ट किया गया है। कारण यह कि नाना जीवों की अपेक्षा वे सदा विद्यमान रहते हैं—उनका कभी अभाव सम्भव नहीं है।

एक जीव की अपेक्षा उनका काल अनादि-अपर्यवसित, अनादि-सपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित कहा गया है (सूत्र १,५, २-३)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने अभव्य मिथ्यादृष्टियों के काल को अनादि-अपर्यवसित बतलाया है, क्योंकि उनके मिथ्यात्व का आदि, अन्त और मध्य नही है। भव्य मिथ्यादृष्टियों का मिथ्यात्व अनादि होकर भी विनष्ट हो जानेवाला है। उन्हें लक्ष्य में रखकर सूत्र में उस मिथ्यात्व का काल अनादि-सपर्यवसित भी निर्दिष्ट किया गया है। धवला में इसके लिए वर्धन-कुमार का उदाहरण दिया गया है। अन्य किन्ही भव्यों के मिथ्यात्व का काल सादि-सपर्यवसित भी कहा गया है; जैसे कृष्ण आदि के मिथ्यात्व का काल।

यह सादि-सपर्यवसित मिथ्यात्व का काल जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार का है। इनमें जघन्य काल उसका अन्तर्मुहूर्त मात्र है। धवला में यह उदाहरण भी दिया है—कोई एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा प्रमत्तसंयत परिणामवश मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। वह सबमे जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल उस मिथ्यात्व के साथ रहकर फिर से सम्यग्मिथ्यात्व, असंयम के साथ सम्यक्त्व, संयमासंयम अथवा अप्रमत्तभाव के साथ संयम को प्राप्त हो गया। इस प्रकार से उस मिथ्यात्व का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त हो जाता है।[1]

सूत्र (१,५,४) में उस मिथ्यात्व का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण कहा है। इसकी व्याख्या में धवलाकार ने पुद्गलपरिवर्तन के स्वरूप को बतलाते हुए परिवर्तन के ये पाँच भेद निर्दिष्ट किये हैं—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन। इनमें द्रव्यपरिवर्तन नोकर्मपुद्गलपरिवर्तन और कर्मपुद्गलपरिवर्तन के भेद से दो प्रकार का है। प्रकृत में इस नोकर्म व कर्मरूप पुद्गलपरिवर्तन की विवक्षा रही है। पुद्गलपरिवर्तनकाल तीन प्रकार का है—अगृहीतग्रहणकाल, गृहीतग्रहणकाल और मिश्रग्रहण-काल। विवक्षित पुद्गलपरिवर्तन के भीतर सर्वथा अगृहीत पुद्गलों के ग्रहण का जो काल है वह अगृहीतकाल कहलाता है। उसी विवक्षित पुद्गलपरिवर्तन के भीतर गृहीत पुद्गलों के ग्रहण-काल को गृहीतग्रहणकाल कहते हैं। यहीं पर कुछ गृहीत और कुछ अगृहीत दोनों प्रकार के पुद्गलों के ग्रहणकाल को मिश्रग्रहणकाल कहा गया है। इस पुद्गलपरिवर्तन को पूरा करने में जीव किस प्रकार से गृहीत, अगृहीत और मिश्र पुद्गलों को ग्रहण किया करता है, इसका धवला में विस्तार से विवेचन है। इसी प्रसंग में वहाँ अगृहीतग्रहणकाल आदि के अल्पबहुत्व का भी निरूपण है।[2]

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३२३-२५
२. वही, पृ० ३२५-३२

क्षेत्रपरिवर्तन आदि शेष चार परिवर्तनों के बाद धवला में कुछ गाथाओं को[1] उद्धृत करते हुए पुद्गलपरिवर्तन आदि के वारों और उनके कालविषयक अल्पबहुत्व का भी निरूपण है। यथा—अतीतकाल में एक जीव के भावपरिवर्तनवार सबसे स्तोक हैं, उनसे भवपरिवर्तनवार अनन्तगुणे हैं, उनसे कालपरिवर्तनवार अनन्तगुणे हैं, उनसे क्षेत्रपरिवर्तनवार अनन्तगुणे हैं, उनसे पुद्गलपरिवर्तनवार अनन्तगुणे हैं।

पुद्गलपरिवर्तन का काल सब में स्तोक है, क्षेत्रपरिवर्तन का काल उससे अनन्तगुणा है, कालपरिवर्तन का काल उससे अनन्तगुणा है, भवपरिवर्तन का काल उससे अनन्तगुणा है और भावपरिवर्तन का काल उससे अनन्तगुणा है।

उपर्युक्त पुद्गलपरिवर्तन का कुछ कम आधा उस सादि-सपर्यवसित मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल है। उसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा है कि कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीत (अपरिमित) संसारी जीव अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उस सम्यक्त्व के प्रभाव से उसने उसके ग्रहण करने के प्रथम समय में ही पूर्वोक्त अपरीत संसार को पुद्गलपरिवर्तन के अर्धभाग प्रमाण परिमित संसार कर दिया। अब वह अधिक-से-अधिक इतने काल ही संसारी रहनेवाला है। वैसे उसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त भी सम्भव है, पर प्रसंग यहाँ उत्कृष्टकाल का है। सम्यक्त्वग्रहण के प्रथम समय में उसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया। वह सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्तकाल उपशमसम्यग्दृष्टि रहकर मिथ्यात्व को पुनः प्राप्त हो गया। अब वह सम्यक्त्व पर्याय के नष्ट हो जाने से सादि मिथ्यादृष्टि हो गया। पश्चात् वह इस मिथ्यात्व पर्याय के साथ कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण परिभ्रमण करके अन्तिम भव में मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। अन्तर्मुहूर्तमात्र संसार के शेष रह जाने पर वह पुनः तीन कारणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ (२)। फिर वेदकसम्यग्दृष्टि हो गया (३)। अन्तर्मुहूर्त में उसने अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन किया (४)। तत्पश्चात् दर्शनमोहनीय का क्षय किया (५), अनन्तर वह अप्रमत्तसंयत होकर (६), तथा हजारों वार प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में परिवर्तन करके (७), क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होता हुआ अप्रमत्तगुणस्थान में अधःप्रवृत्त विशुद्धि से विशुद्ध हुआ (८)। तत्पश्चात् क्रम से अपूर्वकरण (९), अनिवृत्तिकरण, (१०), सूक्ष्मसाम्परायसंयत क्षपक (११), क्षीणकषाय (१२), सयोगिजिन (१३), और अयोगि-जिन होकर मुक्त हो गया (१४)। इस प्रकार सम्यक्त्व से सम्बद्ध इन चौदह अन्तर्मुहूर्तों से कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण सादि-सपर्यवसित मिथ्यात्व का उत्कृष्टकाल प्राप्त होता है।[2]

यहाँ यह शंका उठायी गयी है कि 'मिथ्यात्व' यह पर्याय है और पर्याय में उत्पाद और व्यय दो ही होते हैं, स्थिति उसकी सम्भव नहीं है। और यदि उसकी स्थिति को भी स्वीकार किया जाता है तो फिर उस मिथ्यात्व के द्रव्यरूपता का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि आगम के अनुसार उत्पाद, व्यय और स्थिति इन तीनों का रहना द्रव्य का लक्षण है। इस शंका का समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि जो एक साथ उन तीनों से युक्त होता है वह द्रव्य है,

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३३-३४; पाँच परिवर्तनों की प्ररूपक ये गाथाएँ उन परिवर्तनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि (२-१०) में भी उद्धृत की गयी हैं। भव और भाव परिवर्तनों से सम्बद्ध गाथाओं में थोड़ा-सा पाठभेद है।

२. धवला पु० ४, पृ० ३३-३६

किन्तु जो क्रम से उत्पाद, स्थिति और व्यय से संयुक्त होता है वह पर्याय है। इस पर पुनः यह शंका उत्पन्न हुई है कि ऐसा मानने पर पृथिवी, जल, तेज और वायु के भी पर्यायरूपता का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि वैसा मानने पर यदि उक्त पृथिवी आदि के पर्यायरूपता प्राप्त होती है तो हो, यह तो इष्ट ही है। इस पर यदि यह कहा जाय कि लोक में तो उनके विषय में द्रव्यरूपता का व्यवहार देखा जाता है तो इसमें भी कुछ विरोध नहीं है। कारण यह कि उनमें वैसा व्यवहार शुद्ध-अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयों से सापेक्ष नैगमनय के आश्रय से होता है। इसे भी स्पष्ट करते हुए आगे वहाँ कहा गया है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का आलम्बन करने पर तो जीवादि छह ही द्रव्य हैं। पर अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा पृथिवी आदि अनेक द्रव्य हैं, क्योंकि इस नय की विवक्षा में व्यंजन पर्याय को द्रव्य माना गया है। साथ ही, शुद्ध पर्यायार्थिकनय की प्रमुखता में पर्याय के उत्पाद और विनाश ये दो ही लक्षण हैं, पर अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेने पर क्रम से उत्पादादि तीनों भी उसके लक्षण हैं, क्योंकि वज्रशिला और स्तम्भ आदि में जो व्यंजन पर्याय है उसके उत्पाद और विनाश के साथ स्थिति भी पायी जाती है। प्रकृत में मिथ्यात्व भी व्यंजन पर्याय है, इसलिए उसके भी क्रम से उत्पाद, विनाश और स्थिति इन तीनों के रहने में कुछ विरोध नहीं है।

इसी प्रसंग में एक अन्य शंका यह भी उठायी गयी है कि भव्य के लक्षण में जो यह कहा गया है कि जिनके भविष्य में सिद्धि (मुक्तिप्राप्ति) होने वाली है वे भव्य सिद्ध हैं, तदनुसार सब भव्य जीवों का अभाव हो जाना चाहिए। और यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो फिर भव्य जीवों का वह लक्षण विरोध को प्राप्त होता है। व्यय से सहित राशि नष्ट नहीं होती है, यह कहना भी शक्य नहीं है, क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता है।

धवलाकार के अनुसार यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भव्य जीवराशि अनन्त है। अनन्त उसे ही कहा जाता है जो संख्यात व असंख्यात राशि का व्यय होने पर भी, अनन्त काल में भी समाप्त नहीं होता।[1] इस पर दोषोद्भावन करते हुए यह कहा गया है कि यदि व्यय सहित राशि समाप्त नहीं होती है तो व्यय से सहित जो अर्धपुद्गल परिवर्तन आदि राशियाँ हैं उनकी अनन्तरूपता नष्ट होती है। उत्तर में कहा है कि यदि अनन्तरूपता समाप्त होती है तो हो, इसमें कोई दोष नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि उनमें सूत्राचार्य के व्याख्यान से प्रसिद्ध अनन्तता का व्यवहार तो उपलब्ध होता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह उपचार के आश्रित है—यथार्थ नहीं है। आगे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्ध स्तम्भ को ही लोकव्यवहार में उपचार से प्रत्यक्ष कहा जाता है वैसे ही अवधिज्ञान की विषयता का उल्लंघन करके जो राशियाँ हैं उन्हें भी अनन्त केवलज्ञान की विषय होने के कारण उपचार से अनन्त कहा जाता है।

प्रकारान्तर से इस शंका के समाधान में धवलाकार ने यह भी कहा है—अथवा व्यय के होने पर भी कोई राशि अक्षय (न समाप्त होनेवाली) भी है, क्योंकि सबकी उपलब्धि अपने प्रतिपक्ष के साथ ही हुआ करती है। तदनुसार व्यय की उपलब्धि भी अपने प्रतिपक्षभूत अव्यय (अक्षय) के साथ समझना चाहिए। इस प्रकार यह भव्यराशि भी अनन्त है, इसीलिए व्यय के

---

१. संते वए ण णिट्ठदि कालेणाणंतएण वि।
जो रासी सो अणंतो त्ति विणिद्दिट्ठो महेसिणा॥—धवला पु० ४, पृ० ३३८(उद्धृत)

होने पर भी वह अनन्त काल में भी समाप्त नहीं होती।[1]

इसी पद्धति से आगे इस ओघप्ररूपणा में सासादनसम्यग्दृष्टि आदि शेष गुणस्थानों में तथा आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में प्रस्तुत काल की प्ररूपणा की गयी है।

६. अन्तरानुगम

अन्तर के छह भेद-- यह जीवस्थान का छठा अनुयोगद्वार है। पूर्व पद्धति के अनुसार यहाँ क्रम से ओघ और आदेश की अपेक्षा अन्तर की प्ररूपणा है। यहाँ धवलाकार ने प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए अन्तर के इन छह भेदों का निर्देश किया है—नाम-अन्तर, स्थापना-अन्तर, द्रव्य-अन्तर, क्षेत्र-अन्तर, काल-अन्तर और भाव-अन्तर। आगे क्रम से इनके स्वरूप और भेदों को बतलाते हुए उनमें यहाँ नोआगम भाव-अन्तर को प्रसंगप्राप्त निर्दिष्ट किया गया है। औपशमिक आदि पाँच भावों में दो भावों के मध्य में स्थित विवक्षित भावों को नोआगम भाव-अन्तर कहा जाता है। अन्तर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तरप्राप्ति, नास्तित्वगमन और अन्य-भावव्यवधान ये समानार्थक माने गये हैं। अभिप्राय यह है कि विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीव गुणस्थानान्तर को प्राप्त होकर जितने समय में पुनः उस गुणस्थान को प्राप्त करता है उतना समय उस विवक्षित गुणस्थान का अन्तर होता है। यह अन्तर कम से कम जितना सम्भव है उसे जघन्य अन्तर और अधिक-से-अधिक जितना संभव है उसे उत्कृष्ट अन्तर कहा जाता है। प्रस्तुत अन्तरानुगम अनुयोगद्वार में इसी दो प्रकार के अन्तर का विचार नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा से किया गया है (पु० ५, पृ० १-४)।

ओघ की अपेक्षा अन्तर

ओघ की अपेक्षा अन्तर की प्ररूपणा करते हुए सूत्रकार द्वारा सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टियों के अन्तर के प्रसंग में नाना जीवों की अपेक्षा उनके अन्तर का अभाव प्रकट किया गया है (सूत्र १, ६,२)। अभिप्राय यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव सदा विद्यमान रहते हैं, उनका कभी अन्तर नहीं होता।

एक जीव की अपेक्षा उनका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त मात्र और उत्कृष्ट कुछ कम दो छ्यासठ सागरोपम प्रमाण कहा गया है (१,६, ३-४)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा है कि कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम में अनेक बार परिवर्तित होकर परिणाम के वश सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। वहाँ वह सबसे हीन अन्तर्मुहूर्त काल उस सम्यक्त्व के साथ रहकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया। इस प्रकार मिथ्यात्व का सबसे जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है।

यहाँ शंकाकार मिथ्यात्व के अन्तर को असम्भव बतलाते हुए कहता है कि सम्यक्त्वप्राप्ति के पूर्व जो मिथ्यात्व रहा है वही मिथ्यात्व उस सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् सम्भव नहीं है, वह उससे भिन्न ही रहनेवाला है। अतः इन दोनों मिथ्यात्वों के भिन्न होने से मिथ्यात्व का अन्तर सम्भव नहीं है।

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३३६-३६

इस शका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कहना तब संगत हो सकता था जब शुद्ध पर्यायार्थिक नय का आलम्बन लिया जाता, पर वैसा नहीं है। यहाँ जो यह अन्तर की प्ररूपणा की जा रही है वह नैगमनय के आश्रय से की जा रही है। नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को विषय करता है इसलिए उक्त प्रकार से दोष देना उचित नहीं है। इसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रथम और अन्तिम ये दोनों मिथ्यात्व पर्यायरूप हैं जो भिन्न नहीं हैं; क्योंकि वे दोनों ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले आप्त, आगम और पदार्थविषयक विपरीत श्रद्धानस्वरूप हैं तथा दोनों का आधार भी वही एक जीव है। इस प्रकार से उन दोनों में समानता ही है, न कि भिन्नता। इसीलिए सूत्र में जो मिथ्यात्व का अन्तर निर्दिष्ट किया गया है उसमें कोई बाधा नहीं है।

यही अभिप्राय आगे भी इस अन्तर प्ररूपणा में सर्वत्र ग्रहण करना चाहिए।

उक्त मिथ्यात्व का जो उत्कृष्ट अन्तर दो छ्यासठ सागरोपम प्रमाण सूत्र में वर्णित है उसकी व्याख्या में धवलाकार ने उदाहरण देकर कहा है कि कोई एक तिर्यच अथवा मनुष्य चौदह सागरोपम प्रमाण आयुस्थिति वाले लान्तव अथवा कापिष्ठ कल्पवाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने एक सागरोपम काल बिताकर द्वितीय सागरोपम के प्रथम समय में सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया। वहाँ वह शेष तेरह सागरोपम काल तक उस सम्यक्त्व के साथ रहकर वहाँ से च्युत हुआ और मनुष्य उत्पन्न हुआ। वहाँ संयम या संयमासंयम का परिपालन कर अन्त में मनुष्यायु से कम बाईस सागरोपम आयुवाले आरण-अच्युत कल्प के देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर मनुष्य उत्पन्न हुआ। वहाँ संयम का परिपालन कर उपरिम ग्रैवेयक के देवों में इस मनुष्यायु से हीन इकतीस सागरोपम प्रमाण आयुस्थिति के साथ उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वोक्त छ्यासठ (१३+२२+३१=६६) सागरोपम के अन्त में परिणाम के वश सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उसमें अन्तर्मुहूर्त रहकर उसने पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया व विश्राम के पश्चात् वहाँ से च्युत होकर मनुष्य उत्पन्न हुआ। वहाँ संयम अथवा संयमासंयम का पालन कर वह मनुष्यायु से कम बीस सागरोपम आयुस्थिति वाले देवों में उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् यथाक्रम से वह मनुष्यायु से कम बाईस और चौबीस सागरोपम प्रमाण आयुवाले देवों में उत्पन्न हुआ। इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त कम दो छ्यासठ (६६+२०+२२+२४=१३२) सागरोपमों के अन्तिम समय में वह मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से मिथ्यात्व का वह उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त कम दो छ्यासठ सागरोपम प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

धवलाकार ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि यह उत्पत्ति का क्रम अव्युत्पन्न जनों के समझाने के लिए है। यथार्थ में तो जिस किसी भी प्रकार से दो छ्यासठ सागरोपमों को पूरा किया जा सकता है।[1]

इसी पद्धति से आगे इस ओघ प्ररूपणा में सासादनसम्यग्दृष्टि व सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि शेष गुणस्थानों में तथा आदेश की अपेक्षा क्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में भी प्रस्तुत अन्तर की प्ररूपणा की गयी है। आवश्यकतानुसार धवला में यथावसर उसका स्पष्टीकरण है।

---

१. धवला पु० ५, पृ० ५-७

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रस्तुत अन्तरानुगम अनुयोगद्वार में नाना जीवों की अपेक्षा जिन गुणस्थानवर्ती जीवों के अन्तर का अभाव निर्दिष्ट है उनका कभी अन्तर उपलब्ध नहीं होता— उनका सदा सद्भाव बना रहता है। जैसे, नाना जीवों की अपेक्षा उपर्युक्त मिथ्यादृष्टि जीवों के अन्तर का अभाव। ऐसे अन्य गुणस्थान ये भी हैं—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत (सूत्र ९) तथा सयोगिकेवली (सूत्र १९)।

मार्गणाओं में ये आठ सान्तर मार्गणाएँ हैं[1], जिनमें नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर उपलब्ध होता है—

१. गतिमार्गणा में लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र अन्तर होता है (सूत्र ७८-७९)।

२-४. योगमार्गणा में वैक्रियिकमिश्र (सूत्र १७०-७१) और आहारक-आहारकमिश्र (सूत्र १७४-७५)। नाना जीवों की अपेक्षा इनका जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर क्रम से एक समय व बारह मुहूर्त तथा एक समय व वर्षपृथक्त्व मात्र होता है।

५. संयममार्गणा में सूक्ष्मसाम्परायसंयत उपशामक (२७२-७३)। इनका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट वर्षपृथक्त्व मात्र अन्तर होता है।

६. सम्यक्त्व मार्गणा के अन्तर्गत उपशमसम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टियों का अन्तर जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से सात रात-दिन (सूत्र ३५६-५७), संयतासंयतों का यह अन्तर जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से चौदह रात-दिन (३६०-६१), प्रमत्त-अप्रमत्तसंयतों का जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से पन्द्रह रात-दिन (सूत्र ३६४-६५), तीन उपशामकों का जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से वर्षपृथक्त्व (सूत्र ३६८-६९) तथा उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थों का जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से वर्षपृथक्त्व (सूत्र ३७२-७३) होता है।

७-८. सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र होता है (सूत्र ३७५-७६)।

७. भावानुगम

यह जीवस्थान का सातवाँ अनुयोगद्वार है। जैसाकि नाम से ही जाना जाता है, इसमें औपशमिकादि पाँच भावों की प्ररूपणा की गयी है। प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने भाव के इन चार भेदों का निर्देश किया है—नामभाव, स्थापनाभाव, द्रव्यभाव और भावभाव। इनके स्वरूप व अवान्तर भेदों का उल्लेख करते हुए धवला में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य भाव सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। इनमें जीवद्रव्य को सचित्त, पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों को अचित्त और कथंचित् जात्यन्तररूपता को प्राप्त पुद्गल व जीव द्रव्यों के संयोग को मिश्रनोआगमद्रव्यभाव कहा है। भावभाव दो प्रकार का है—आगमभावभाव और नोआगमभावभाव। इनमें नोआगमभावभाव पाँच प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक,

---

१. उवसम-सुहुमाहारे वेगुव्वियमिस्स-णरअपज्जत्ते।
सासणसम्मे मिस्से सान्तरगा मग्गणा अट्ठ॥
सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्तं च वारस मुहुत्ता।
पल्लासंखं तिण्णं वरमवरं एगसमयो दु॥—गो०जी०, १४२-४३

क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। धवला में क्रम से इन पाँचों भावों के स्वरूप को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

उपर्युक्त नामादि चार भावों में यहाँ नोआगमभावभाव प्रसंगप्राप्त है। इस नोआगमभावभाव के जो यहाँ औदयिकादि पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उन्हीं का प्रकृत में प्रयोजन है। कारण यह है कि जीवों में वे पाँचों ही भाव पाये जाते हैं, शेष द्रव्यों में वे पाँच भाव नहीं हैं। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि शेष द्रव्यों में से पुद्गल द्रव्यों में औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव ही उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन चार द्रव्यों में एक पारिणामिक भाव ही पाया जाता है।[1]

पूर्व पद्धति के अनुसार धवला में प्रस्तुत भाव का व्याख्यान भी निर्देश-स्वामित्व आदि के क्रम से किया है।

निर्देश—यहाँ भाव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि द्रव्य के परिणाम को भाव कहते हैं, अथवा पूर्वापर कोटि से भिन्न वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव समझना चाहिए।

स्वामित्व—इस प्रसंग में प्रथम तो यह कहा गया है कि भाव के स्वामी छहों द्रव्य हैं। तत्पश्चात् प्रकारान्तर से यह भी कह दिया है—अथवा भाव का स्वामी कोई नहीं है, क्योंकि संग्रहनय की अपेक्षा परिणामी और परिणाम में कोई भेद नहीं है।

साधन—भावों के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि वे कर्मों के उदय, क्षय, क्षयोपशम, उपशम अथवा स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। जैसे—जीवद्रव्य के भाव तो उपर्युक्त पाँचों कारणों से उत्पन्न होते हैं, पर पुद्गलद्रव्य के भाव कर्मोदय से अथवा स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। शेष धर्मादि चार द्रव्यों के भाव स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

अधिकरण—इसके प्रसंग में कहा गया है कि वे भाव द्रव्य में ही रहते हैं, क्योंकि गुणी को छोड़कर गुणों का अन्यत्र कहीं रहना सम्भव नहीं है।

काल—भावों के काल को स्पष्ट करते हुए उसे अनादि-अपर्यवसित, अनादि-सपर्यवसित, सादि-अपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित कहा गया है। जैसे—अभव्य जीवों का असिद्धत्व, धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व, आकाश का अवगाहन-स्वभाव और काल-द्रव्य का परिणामहेतुत्व इत्यादि भाव अनादि-अपर्यवसित हैं। भव्य जीवों के असिद्धत्व, भव्यत्व, मिथ्यात्व और असंयम इत्यादि भाव अनादि-सपर्यवसित हैं। केवलज्ञान व केवलदर्शन आदि भाव सादि-अपर्यवसित हैं। सम्यक्त्व व संयम को प्राप्त करके पीछे पुनः मिथ्यात्व व असंयम को प्राप्त होनेवाले जीवों का मिथ्यात्व व असंयम भाव सादि-सपर्यवसित है।

विधान—इसके प्रसंग में यहाँ पूर्वोक्त औदयिक आदि पाँच भावों का उल्लेख पुनः किया गया है। आगे इनके अवान्तर भेदों का भी उल्लेख है। यथा—जीवद्रव्य का औदयिक भाव स्थान की अपेक्षा आठ प्रकार का और विकल्प की अपेक्षा इक्कीस प्रकार का है। स्थान का अर्थ उत्पत्ति का हेतु है। इसे स्पष्ट करते हुए धवला में एक गाथा उद्धृत की गयी है, जिसका अभिप्राय यह है—गति, लिंग, कषाय, मिथ्यादर्शन, असिद्धत्व, अज्ञान, लेश्या और असंयम ये आठ उदय के स्थान हैं। इनमें गति चार प्रकार की, लिंग तीन प्रकार का, कषाय चार प्रकार

---

१. धवला पु० ५, पृ० १८३-८६

की, मिथ्यादर्शन एक प्रकार का, असिद्धत्व एक प्रकार का, अज्ञान एक प्रकार का, लेश्या छह प्रकार की और असंयम एक प्रकार का है। ये सब मिलकर इक्कीस भेद हो जाते हैं।

इसी प्रकार आगे औपशमिक आदि शेष चार जीवभावों के भेदों का निर्देश भी स्थान और विकल्प की अपेक्षा किया गया है, जो प्रायः तत्त्वार्थसूत्र (२,२-७) के समान है। विशेषता यह रही है कि यहाँ स्थान की अपेक्षा भी भावों के निर्देश किया गया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य से ही उनके भेदों का उल्लेख है। यहाँ धवला में स्थान और विकल्प की अपेक्षा जो उन भावभेदों का उल्लेख है उनकी आधार प्राचीन गाथाएँ रही हैं, धवलाकार ने उन्हें यथाप्रसंग उद्धृत भी कर दिया है।

आगे वहाँ 'अथवा' कहकर सांनिपातिक की अपेक्षा छत्तीस भंगों का निर्देश है। सांनिपातिक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस गुणस्थान अथवा जीवसमास में जिन बहुत से भावों का संयोग होता है उन भावों का नाम सांनिपातिक है। आगे एक, दो, तीन, चार और पाँच भावों के संयोग से होनेवाले भंगों की प्ररूपणा की जाती है, ऐसी सूचना करते हुए एकसंयोगी भंग को इस प्रकार प्रकट किया गया है—मिथ्यादृष्टि और असंयत यह औदयिकभाव का एक संयोगी भंग है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ये दोनों भाव होते हैं। इनमें दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व होता है और संयमघाती कर्मों के उदय से असंयत भाव होता है। इस प्रकार ये दोनों औदयिक भाव हैं, जिनका संयोग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में देखा जाता है। इस प्रकार यह एकसंयोगी भंग है।

आगे धवला में यह सूचना कर दी गयी है कि इसी क्रम से सब विकल्पों की प्ररूपणा कर लेना चाहिए।[1]

ओघ की अपेक्षा भावप्ररूपणा

प्रस्तुत भावों की ओघ की अपेक्षा प्ररूपणा करते हुए सूत्र (१,७,२) में मिथ्यात्व को औदयिक भाव निर्दिष्ट किया गया है।

इसकी व्याख्या के प्रसंग में यह शंका उठायी गयी है कि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान, दर्शन, गति, लिंग, कषाय, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि अन्य भी कितने ही भाव होते हैं। उनका उल्लेख सूत्र में नहीं किया गया है, अतः उनके अभाव में संसारी जीवों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। शंकाकार ने दो गाथाओं को उद्धृत करते हुए उनके द्वारा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में सम्भव उन भावों के भंगों का भी निर्देश किया है।

इस शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के जो और भी भाव होते हैं सूत्र में उनका प्रतिषेध नहीं किया गया है। किन्तु मिथ्यात्व को छोड़कर जो अन्य गति-लिंग आदि उसके साधारण भाव रहते हैं वे मिथ्यादृष्टित्व के कारण नहीं हैं, मिथ्यात्व का उदय ही एक मिथ्यादृष्टित्व का कारण है, इसीलिए 'मिथ्यादृष्टि' यह औदयिक भाव है, ऐसी सूत्र में प्ररूपणा की गयी है (पु० ६, पृ० १९४-९६)।

आगे के सूत्र (१,७,३) में सासादन सम्यग्दृष्टि भाव को पारिणामिक बतलाया गया है।

---

१. धवला पु० ५,१८७-९३ (सांनिपातिक भावों का स्पष्टीकरण तत्त्वार्थवार्तिक (२,७,२१-२४) में विस्तार से किया गया है।)

इस प्रसंग में धवला में यह शंका उपस्थित हुई है कि भाव को पारिणामिक कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि अन्य कारणों से न उत्पन्न होनेवाले परिणाम के अस्तित्व का विरोध है। और यदि अन्य कारणों से उसकी उत्पत्ति मानी जाती है तो उसे पारिणामिक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जो पारिणामिक—कारण से रहित है—उसके सकारण होने का विरोध है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि जो भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के विना अन्य कारणों से उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहा जाता है, न कि अन्य कारणों से रहित को, क्योंकि कारण के विना उत्पन्न होनेवाले किसी भी परिणाम की सम्भावना नहीं है।

यहाँ दूसरी शंका यह उठायी गयी है कि सासादनसम्यग्दृष्टिपना भी सम्यक्त्व और चारित्र के विघातक अनन्तानुबन्धिचतुष्क के उदय के बिना नहीं होता, तब वैसी स्थिति में उसे औदयिक क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने लिखा है कि यह कहना सत्य है, किन्तु यहाँ वैसी विवक्षा नहीं रही है। आदि के चार गुणस्थानों के भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीय को छोड़कर शेष कर्मों की विवक्षा वहाँ नहीं रही है। चूंकि सासादन-सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम इनमें से किसी की अपेक्षा नहीं करता है, अतएव वहाँ दर्शनमोहनीय की अपेक्षा निष्कारण है। यही कारण है कि उसे पारिणामिक कहा जाता है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि इस न्याय से तो सभी भावों के पारिणामिक होने का प्रसंग प्राप्त होता है तो वैसा कहने में कुछ दोष नही है, क्योंकि वह विरोध से रहित है। अन्य भावों में जो पारिणामिकता का व्यवहार नही किया गया है उसका कारण यह है कि सासादनसम्यक्त्व को छोड़कर अन्य कोई ऐसा भाव नहीं है जो विवक्षित कर्म से उत्पन्न न हुआ हो।[1]

आगे सूत्र (१,७,४) में क्रमबद्ध सम्यग्मिथ्यात्व को क्षायोपशमिक भाव कहा गया है।

इस प्रसंग में धवला में यह शंका की गयी है कि प्रतिबन्धक कर्म का उदय होने पर भी जो जीवगुण का अंश प्रकट रहता है उसे क्षायोपशमिक कहा जाता है। कारण कि विवक्षित कर्म में जो पूर्णतः या जीवगुण के घात करने की शक्ति है उसके अभाव को क्षय कहा जाता है। इस क्षयरूप उपशम का नाम क्षयोपशम है। इस प्रकार के क्षयोपशम के होने पर जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक कहना चाहिए। परन्तु सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होने पर सम्यक्त्व का लेश भी नहीं पाया जाता है। इसी से तो उस सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा जाता है, इसके विना उसके सर्वघातीपना नहीं बनता है। ऐसी परिस्थिति में उस सम्यग्मिथ्यात्व को क्षायोपशमिक कहना संगत नहीं है।

इस शंका का परिहार करते हुए धवला में कहा गया है कि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होने पर श्रद्धान और अश्रद्धानस्वरूप जात्यन्तरभूत मिश्र परिणाम होता है। उसमें जो श्रद्धानात्मक अंश है वह सम्यक्त्व का अवयव है जिसे सम्यग्मिथ्यात्व का उदय नष्ट नहीं करता है। इसलिए उस सम्यग्मिथ्यात्व को क्षायोपशमिक कहना असंगत नही है।

इस पर शंकाकार पुनः कहता है कि अश्रद्धानरूप अंश के विना केवल श्रद्धानरूप अंश को 'सम्यग्मिथ्यात्व' नाम प्राप्त नही है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशिक भाव नहीं हो सकता

१. धवला पु० ५, १९६-९७

है। इसके समाधान में यह कहा गया है कि इस प्रकार की विवक्षा में सम्यग्मिथ्यात्व भले ही क्षायोपशमिक न हो, किन्तु पूर्ण सम्यक्त्वरूप अवयवी के निराकरण और अवयवभूत सम्यक्त्वांश के अनिराकरण की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक व सम्यग्मिथ्यारूप द्रव्यकर्म भी सर्वघाती हो सकता है, क्योंकि जात्यन्तरस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्व के सम्यक्त्वरूपता सम्भव नहीं है। किन्तु श्रद्धान का भाग कुछ अश्रद्धान का भाग तो नहीं हो सकता, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकरूप होने का विरोध है। उसमें जो श्रद्धान का भाग है वह कर्म के उदय से नहीं उत्पन्न हुआ है, क्योंकि उसमें विपरीतता सम्भव नहीं है। उसके विषय में 'सम्यग्मिथ्यात्व' यह नाम भी असंगत नहीं है, क्योंकि जिन नामों का प्रयोग समुदाय में हुआ करता है उनकी प्रवृत्ति उसके एक देश में देखी जाती है। इससे सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है, यह सिद्ध है।

किन्हीं आचार्यों का यह भी कहना है कि मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय-क्षय व उन्हीं के सदवस्थारूप उपमशम से, सम्यक्त्व के देशघाती स्पर्धकों के उदय-क्षय व उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम अथवा अनुदयरूप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से चूंकि वह सम्यग्मिथ्यात्व होता है, इसलिए उस सम्यग्मिथ्यात्व के क्षायोपशमिकरूपता है। इस मत का निराकरण करते हुए धवला में कहा गया है कि उनका उपर्यक्त कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर मिथ्यात्व के भी क्षायोपशमिकरूपता का प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह है कि सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय व उन्हीं के सद्वस्थारूप उपशम से, सम्यक्त्व के देशघाती स्पर्धकों के उदय-क्षय व उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम अथवा अनुदयरूप उपशम से तथा मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से मिथ्यात्व भाव की उत्पत्ति उपलब्ध होती है।[1]

इसी प्रकार से आगे सूत्रकार द्वारा जो असंयतसम्यग्दृष्टि आदि शेष गुणस्थानों और गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में प्रस्तुत भावों की प्ररूपणा की गयी है उन सबका स्पष्टीकरण धवला में प्रसंगानुसार उसी पद्धति से किया गया है।

प्रस्तुत भावानुगम के अनुसार किस गुणस्थान में कौन से भाव सम्भव हैं, इसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

गुणस्थान	भाव	सूत्र
१. मिथ्यादृष्टि	औदयिक	१,७,२
२. सासादनसम्यग्दृष्टि	पारिणामिक	१,७,३
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि	क्षायोपशमिक	१,७,४
४. असंयतसम्यग्दृष्टि	औपशमिक, क्षायिक, क्षायोप०	१,७,५
उसका असंयतत्व	औदयिक	१,७,६
५. संयतासंयत	क्षायोपशमिक	१,७,७
६. प्रमत्तसंयत	,,	,,
७. अप्रमत्तसंयत	,,	,,
८. अपूर्वकरण उपशामक	औपशमिक	१,७,८
अपूर्वकरण क्षपक	क्षायिक	१,७,९

१. धवला पु० ५, पृ० १९८-९९

गुणस्थान	भाव	सूत्र
९. अनिवृत्तिकरण उपशामक	औपशमिक	१,७,८
अनिवृत्तिकरण क्षपक	क्षायिक	१,७,९
१०. सूक्ष्मसाम्परायिक-संयत उपशामक	औपशमिक	१,७,८
सूक्ष्मसाम्परायिक-संयत क्षपक	क्षायिक	१,७,९
११. उपशान्तकषाय	औपशमिक	१,७,८
१२. क्षीणकषाय	क्षायिक	१,७,९
१३. सयोगिकेवली	"	"
१४. अयोगिकेवली	"	"

मार्गणाओं में गतिमार्गणा (नरकगति)

१. मिथ्यादृष्टि	औदयिक	१,७,१०
२. सासादनसम्यग्दृष्टि	पारिणामिक	१,७,११
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि	क्षायोपशमिक	१,७,१२
४. असंयतसम्यग्दृष्टि	औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक	१,७,१३
उसका असंयतत्व	औदयिक	१,७,१४

(द्वितीयादि पृथिवियों में क्षायिकभाव सम्भव नहीं है—सूत्र १,७,१७)

तिर्यंचगति

१. मिथ्यादृष्टि	औदयिक	१,७,१९
२. सासादनसम्यग्दृष्टि	पारिणामिक	"
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि	क्षायोपशमिक	"
४. असंयतसम्यग्दृष्टि	औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक	"
५. संयतासंयत	क्षायोपशमिक	"

(पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों के क्षायिकभाव सम्भव नहीं है।— १,७,२०)

मनुष्यगति

१-१४ गुणस्थान	गुणस्थान सामान्य के समान	१,७,२२

देवगति

१-४ गुणस्थान	गुणस्थान सामान्य के समान	१,७,२३

विशेष—१. भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव-देवियों तथा सौधर्म-ईशानकल्पवासिनी देवियों के क्षायिकभाव सम्भव नहीं है (सूत्र १,७,२४-२५)।

२. अनुदिशों से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमान तक देवों में एक असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान ही होता है (सूत्र १,७,२८)।

इसी पद्धति से आगे इन्द्रियादि शेष मार्गणाओं में जहाँ जितने गुणस्थान सम्भव हैं उनमें भी भावों को समझा जा सकता है।

८. अल्पबहुत्वानुगम

जीवस्थान का यह अन्तिम (८वाँ) अनुयोगद्वार है। यहाँ प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए धवला में अल्पबहुत्व के ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—नामअल्पबहुत्व, स्थापनाअल्पबहुत्व, द्रव्यअल्पबहुत्व और भावअल्पबहुत्व। आगे संक्षेप में इनके स्वरूप और भेद-प्रभेदों को प्रकट करते हुए नोआगमद्रव्यअल्पबहुत्व के तीन भेदों में से तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यअल्पबहुत्व को सचित्त, अचित्त और मिश्रअल्पबहुत्व इन तीन प्रकार का निर्दिष्ट किया है। इनमें जीवद्रव्य के अल्पबहुत्व को सचित्त, शेष पाँच द्रव्यों के अल्पबहुत्व को अचित्त और दोनों के अल्पबहुत्व को मिश्र-नोआगमद्रव्यअल्पबहुत्व कहा है। इन सब में यहाँ सचित्तनोआगमद्रव्यअल्पबहुत्व का अधिकार है।

यहाँ धवलाकार ने पूर्व पद्धति के अनुसार इस अल्पबहुत्व का भी व्याख्यान निर्देश-स्वामित्व आदि के क्रम से किया है। निर्देश के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि इसकी अपेक्षा यह तिगुना है या चौगुना, इत्यादि प्रकार की बुद्धि से ग्रहण करने योग्य जो संख्या का धर्म है वह अल्पबहुत्व कहलाता है। इस अल्पबहुत्व का स्वामी जीवद्रव्य है। अल्पबहुत्व का साधन पारिणामिक भाव है। उसका अधिकरण जीवद्रव्य है। उसकी स्थिति अनादि-अपर्यवसित है, क्योंकि सब गुणस्थानों का इसी प्रमाण से सदा अवस्थान रहता है। विधान के प्रसंग में कहा गया है कि मार्गणाओं के भेद से जितने गुणस्थानों के भेद सम्भव हैं उतने भेद अल्पबहुत्व के हैं।[1]

सूत्रकार ने अन्य अनुयोगद्वारों के समान इस अल्पबहुत्व की भी प्ररूपणा प्रथमतः ओघ की अपेक्षा मार्गणानिरपेक्ष गुणस्थानों में और तत्पश्चात् आदेश की अपेक्षा मार्गणाविशिष्ट गुणस्थानों में की है। आवश्यकतानुसार धवलाकार ने यथावसर सूत्रकार का अभिप्राय भी स्पष्ट कर दिया है। विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण की यहाँ आवश्यकता नहीं हुई है। उदाहरण के रूप में ओघ की अपेक्षा इस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा इस प्रकार देखी जा सकती है—

	गुणस्थान	अल्पबहुत्व		सूत्र
उपशामक	अपूर्वकरण	सबसे कम (प्रवेश की अपेक्षा)		१,८,२
	अनिवृत्तिकरण	,,	,,	,,
	सूक्ष्मसाम्पराय	,,	,,	,,
	उपशान्तकषाय	पूर्वोक्तप्रमाण (प्रवेश की अपेक्षा)		१,८,३
क्षपक	अपूर्वकरण	संख्यातगुणित	,,	१,८,४
	अनिवृत्तिकरण	,,	,,	,,
	सूक्ष्मसाम्पराय	,,	,,	,,
	क्षीणकषाय	पूर्वोक्तप्रमाण	,,	१,८,५
	सयोगिकेवली	,,	,,	१,८,६
	अयोगिकेवली	,,	,,	,,
	सयोगिकेवली	संख्यातगुणित (संचय की अपेक्षा)		१,८,७
	अप्रमत्तसंयत (अक्षपक-अनुपशमक)	संख्यातगुणित (पूर्वप्रमाण से)		१,८,८

---

१. धवला पु० ५, पृ० २४१-४३

प्रमत्तसंयत	संख्यातगुणित	१,८,९
संयतासंयत	उनसे असंख्यातगुणित	१,८,१०
सासादनसम्यग्दृष्टि	,, ,,	१,८,११
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,, संख्यातगुणित	१,८,१२
असंयतसम्यग्दृष्टि	,, असंख्यातगुणित	१,८,१३
मिथ्यादृष्टि	,, अनन्तगुणित	१,८,१४

असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में

उपशमसम्यग्दृष्टि	सबसे कम	१,८,१५
क्षायिकसम्यग्दृष्टि	उनसे असंख्यातगुणित	१,८,१६
वेदकसम्यग्दृष्टि	,, ,,	१,८,१७

आगे संयतासंयत, प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत, तीन उपशामक और तीन क्षपक गुणस्थानों में भी सम्यक्त्वविषयक अल्पबहुत्व को दिखाया गया है (सूत्र १,८,१८-२६)।

इसी पद्धति से आगे आदेश की अपेक्षा गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से भी अल्पबहुत्व की प्ररूपणा हुई है।

जीवस्थान-चूलिका

प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत पूर्वोक्त सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर आगे के सूत्र में सूत्रकार द्वारा ये प्रश्न उठाये गये हैं—

प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव कितनी व किन प्रकृतियों को बाँधता है? कितने काल की स्थितिवाले कर्मों के आश्रय से वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, अथवा नहीं प्राप्त करता है? कितने काल से व कितने भाग मिथ्यात्व के करता है? उपशामना व क्षपणा किन क्षेत्रों में, किसके समीप में व कितना दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करनेवाले के अथवा सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त करनेवाले के होती है?—(सूत्र ९-१,१; पु० ६)

इस प्रकरण की व्याख्या में सर्वप्रथम धवलाकार ने मंगलस्वरूप सिद्धों को नमस्कार कर जीवस्थान की निर्मलगुणवाली चूलिका के कहने की प्रतिज्ञा की है।

इस पर वहाँ शंका हुई है कि आठों अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर चूलिका किसलिए आयी है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वह पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों के विषम-स्थलों के विवरण के लिए प्राप्त हुई है। जीवस्थान के अन्तर्गत उन अनुयोगद्वारों में जिन विषयों की प्ररूपणा नहीं गयी है, पर वह उनसे सम्बद्ध है, उसके विषय में निश्चय उत्पन्न हो—इसी अभिप्राय से उसकी प्ररूपणा इस चूलिका[1] में की गयी है। इससे प्रस्तुत चूलिका को इन्हीं आठ अनुयोगद्वारों के अन्तर्गत समझना चाहिए।

प्रस्तुत चूलिका में प्ररूपित अर्थ को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि क्षेत्र, काल और अन्तर अनुयोगद्वारों में जिन क्षेत्र व काल आदि का प्ररूपण है उनका सम्बन्ध जीवों की

---

१. सुत्तसूइदत्थपयासणं चूलिया णाम। (पु० १०, पृ० ३९५); जाए अत्थपरूवणाए कदाए पुव्व-परूविदत्थम्मि सिस्साणं णिच्छओ उप्पज्जदि सा चूलिया त्ति भणिदं होदि। (पु० ११, पृ० १४०) पु० ७, ५७५ भी द्रष्टव्य है।

गति-आगति से है। इस प्रकार उनमें गति-आगति नामक नौवीं चूलिका की सूचना प्राप्त है। जीवों की यह गति-आगति कर्मप्रकृतियों के बन्ध आदि पर निर्भर है, इसलिए प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थानसमुत्कीर्तन इन दो (प्रथम व द्वितीय) चूलिकाओं में जो कर्मप्रकृतियों के भेदों और उनके स्थानों की प्ररूपणा है, वह आवश्यक हो जाती है। उक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थान-समुत्कीर्तन का सम्बन्ध कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति से है, अतएव छठी 'उत्कृष्टस्थिति' और सातवीं 'जघन्यस्थिति' इन दो चूलिकाओं द्वारा क्रम से कर्मप्रकृतियों की उत्कष्ट और जघन्य स्थिति का प्ररूपण है।

कालानुगम में सादि-सान्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण कहा गया है।[1] वह प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण का सूचक है, अन्यथा वह मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्टकाल घटित नहीं होता। इसके लिए 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' नामक आठवीं चूलिका का अवतार हुआ है। प्रथम सस्यक्त्व के ग्रहण से सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीवों के द्वारा बाँधी जाने वाली कर्मप्रकृतियों के प्ररूपक तीन महादण्डकों—तीसरी, चौथी व पाँचवीं चूलिकाओं—की सूचना मिलती है। साथ ही, सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाले जीव का अर्धपुद्गल परिवर्तन से अधिक चूँकि संसार में रहना असम्भव है, अतः मोक्ष की सूचना भी उसी से प्राप्त होती है। चूँकि मोक्ष दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षय के बिना सम्भव नहीं है, अतः उनके क्षय की विधि की प्ररूपणा आवश्यक हो जाती है, जो उसी 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' नामक आठवीं चूलिका में की गयी है। इस प्रकार नौ चूलिकाओं में विभक्त इस 'चूलिका' प्रकरण को जीवस्थान के अन्तर्गत इन आठ अनुयोगद्वारों से भिन्न नहीं कहा जा सकता है। पूर्व में सूत्रकार के द्वारा उठाये गये जिन प्रश्नों का निर्देश किया गया है उनसे भी इन चूलिकाओं की सूचना प्राप्त होती है। यथा—

प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव 'कितनी प्रकृतियों को बाँधता है', इस प्रश्न के समाधान में प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थानसमुत्कीर्तन इन दो चूलिकाओं की प्ररूपणा की गयी है। वह 'किन प्रकृतियों को बाँधता है' इसे स्पष्ट करने के लिए प्रथम(३), द्वितीय(४) और तृतीय(५) इन तीन महादण्डकों (चूलिकाओं) की प्ररूपणा है। 'कितने काल की स्थितिवाले कर्मों के होने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है अथवा नहीं करता है' इसके समाधान हेतु उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति की प्ररूपक दो चूलिकाएँ (६ व ७) दी हैं। 'कितने काल में व मिथ्यात्व के कितने भागों को करता है तथा उपशामन व क्षपणा कहाँ किसके समक्ष होती है', इनका स्पष्टीकरण आठवीं सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका में किया है। सूत्र में प्रयुक्त 'वा' शब्द की सफलता में 'गति-आगति' चूलिका (९) की प्ररूपणा है (पु० ६, पृ० १०४)।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—उन नौ चूलिकाओं 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' प्रथम चूलिका है। इसमें सूत्रकार द्वारा प्रथमतः आठ मूलप्रकृतियों के नामों का और तत्पश्चात् यथाक्रम से उनके उत्तर-भेदों के नामों का निर्देश मात्र किया गया है। उनके स्वरूप आदि का स्पष्टीकरण धवला में किया गया है। ज्ञानावरणीय के पाँच उत्तरभेदों के प्रसंग में धवलाकार ने उनके द्वारा क्रम से आव्रियमाण आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञानों व उनके अवान्तर भेदों के स्वरूप आदि के विषय में विस्तार से विचार किया है। इसी प्रकार नामकर्म के भेदों के प्रसंग में भी धवलाकार द्वारा

---

१. उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं।—सूत्र १,५,४ (पु० ४)

गति-जाति आदि के विषय में पर्याप्त ऊहापोह किया गया है (पु० ६, पृ० १५-३०, ५०-५३)।

२. स्थानसमुत्कीर्तन—यह दूसरी चूलिका है। प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका में कर्मप्रकृतियों के नामों का निर्देश है। वे एक साथ बँधती हैं अथवा क्रम से बँधती हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए इस चूलिका का अवतार हुआ है। जिस संख्या में अथवा अवस्थाविशेष में प्रकृतियाँ अवस्थित रहती हैं उसका नाम स्थान है। वे स्थान हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत। 'संयत' से यहाँ प्रमत्तसंयत से लेकर सयोगिकेवली तक आठ संयत-गुणस्थान अभिप्रेत हैं। अयोगिकेवली को नहीं ग्रहण किया है, क्योंकि वहाँ बन्ध का अभाव हो चुका है। इन स्थानों को स्पष्ट करते हुए प्रथमतः क्रमप्राप्त ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के स्थान का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

ज्ञानावरणीय की जो आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय आदि पाँच प्रकृतियाँ हैं उन्हें बाँधनेवाले जीव का पाँच संख्या से उपलक्षित एक ही अवस्थाविशेष में अवस्थान है। अभिप्राय यह है कि उन पाँचों का बन्ध एक साथ होता है, पृथक्-पृथक् सम्भव नहीं है। इससे उनका एक ही स्थान है। यह बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत के सम्भव है। संयत से यहाँ प्रमत्तसंयत से लेकर सूक्ष्मसाम्परायसंयत तक पाँच संयतगुणस्थानों का अभिप्राय रहा है, क्योंकि आगे उपशान्तकषायादि संयतों के उनका बन्ध नहीं होता (पु० ६, पृ० ७९-८२)।

दर्शनावरणीय के तीन बन्धस्थान हैं—१. समस्त नौ प्रकृतियों का, २. निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि को छोड़कर शेष छह का; तथा ३. चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चार का। इनमें प्रथम नौ प्रकृतियों का स्थान मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन्हीं दो के सम्भव है, क्योंकि आगे निद्रानिद्रा आदि इन तीन के बन्ध का अभाव हो जाता है। दूसरा छह प्रकृतियों का स्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत (अपूर्वकरण के सात भागों में से प्रथम भाग तक) के होता है। कारण कि अपूर्वकरण के प्रथम भाग से आगे उन छहों में निद्रा और प्रचला इन प्रकृतियों के बन्ध का अभाव हो जाता है। तीसरा चार प्रकृतियों का बन्धस्थान संयत के—अपूर्वकरण के दूसरे भाग से लेकर सूक्ष्मसाम्परायसंयत तक—होता है[1] (पु० ६, पृ० ८२-८६)।

आगे क्रम से वेदनीय आदि शेष कर्मप्रकृतियों के भी स्थानों की प्ररूपणा है, जिसका आवश्यकतानुसार धवला में विवेचन किया गया है।

३. प्रथम महादण्डक—इस तीसरी चूलिका में प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा मनुष्य जिन प्रकृतियों को बाँधता है उनका उल्लेख है। जिन कर्मप्रकृतियों को वह नहीं बाँधता है उनका निर्देश धवला में कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तरोत्तर बढ़नेवाली विशुद्धि के प्रभाव से प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए तिर्यंच या मनुष्य के क्रम से होनेवाली कर्मबन्धव्युच्छित्ति के क्रम की भी प्ररूपणा धवला(पु०६, पृ०१३३-४०) में कर दी गयी है।

४. द्वितीय महादण्डक—इस चूलिका में सातवीं पृथिवी के नारक को छोड़कर शेष छह पृथिवियों के नारक और देवों द्वारा बाँधी गयी कर्मप्रकृतियों का उल्लेख है। जिन प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते हैं उनका भी निर्देश कर दिया गया है (पु०६, पृ० १४०-४२)।

५. तृतीय महादण्डक—इस चूलिका में सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ सातवीं पृथिवी का

नारक जिन कर्मप्रकृतियों को बाँधता है उनका निर्देश है। वह जिन प्रकृतियों को नहीं बाँधता है उनका उल्लेख धवला (पु० ६, पृ० १४२-४४) में है।

६. उत्कृष्टस्थिति—इस छठी चूलिका में ज्ञानावरणीय आदि मूल व उनकी उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के साथ उनके आबाधाकाल और कर्मनिषेकों के क्रम का विवेचन है। जैसे—पाँच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, सातावेदनीय और पाँच अन्तराय का उत्कृष्ट बन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण होता है।

इस प्रसंग में धवला में स्थिति के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा है कि योग के वश कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गल-स्कन्ध कषायवश जितने काल तक एक स्वरूप से अवस्थित रहते हैं उतने काल का नाम स्थिति है। उनका आबाधाकाल तीन हजार वर्ष होता है। आबाधा का अर्थ है बाधा का न होना। अभिप्राय यह है कि तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति वाले इन कर्मों के पुद्गल परमाणुओं में एक, दो, तीन आदि समयों को आदि लेकर उत्कर्ष से तीन हजार सागरोपम प्रमाण स्थितिवाले कोई परमाणु नहीं रहते, जो इस बीच बाधा पहुँचा सकें—उदय में आ सकें। कर्मपरमाणु उदीरणा के बिना जितने काल तक उदय को नहीं प्राप्त होते हैं उतने काल का नाम आबाधा है। आबाधा काल का साधारण नियम यह है कि जो कर्म उत्कर्ष से जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति में बाँधा जाता है उसका आबाधाकाल उतने सौ वर्ष होता है।[1] तदनुसार उक्त पाँच ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का आबाधाकाल अपनी उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण बन्धस्थिति के अनुसार तीस सौ (३०००) वर्ष होता है। इस आबाधाकाल से रहित कर्मस्थिति प्रमाण कर्मनिषेक होता है। आबाधाकाल के पश्चात् प्रत्येक समय में होनेवाले कर्मपरमाणु स्कन्धों के निक्षेप का नाम निषेक है। प्रत्येक समय में निर्जीर्ण होने योग्य कर्मपरमाणुओं का जो समूह होता है वह पृथक्-पृथक् निषेक होता है। इसी प्रकार आबाधाकाल से रहित विवक्षित कर्मस्थिति के जितने समय होते हैं उतना निषेकों का प्रमाण होता है। इनकी रचना के क्रम का विचार धवला (पु० ६, पृ० १४६-५८) में गणित प्रक्रिया के अनुसार किया गया है।

ऊपर जो आबाधाकाल के नियम का निर्देश किया है वह एक सामान्य नियम है। विशेष रूप में यदि किसी कर्म का बन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति में होता है तो उसका आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र जानना चाहिए। जैसे—आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण होता है। तदनुसार उनका आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र समझना चाहिए (पु० ६, पृ० १७४-७७)।

आयुकर्म के आबाधाकाल का नियम इससे भिन्न है। परभविक आयु का जो बन्ध होता है उसका आबाधाकाल भुज्यमान पूर्व भव की आयुस्थिति के तृतीय भाग मात्र होता है। जैसे—नारकायु और देवायु का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तेतीस सागरोपम प्रमाण है उसका आबाधाकाल अधिक से अधिक पूर्वकोटि का तृतीय भाग होता है, इससे अधिक वह सम्भव नहीं। कारण यह है कि नारकायु और देवायु का बन्ध मनुष्य और तिर्यंचों के ही होता है, जिनकी उत्कृष्ट आयुस्थिति पूर्वकोटि मात्र ही होती है। संख्यात वर्ष की आयुवाले (कर्मभूमिज) मनुष्य और तिर्यंच

---

१. उदयं पडि सत्तण्हं आबाहा कोडकोडि उवहीणं।
वाससयं तप्पडिभागेण य सेसट्ठिदीणं च॥—गो०क० १५६

परभविक आयु के बाँधने योग्य तभी होते हैं जब उनकी भुज्यमान आयु के दो-त्रिभाग (२/३) बीत जाते हैं; इसके पूर्व वे परभविक आयु को नहीं बाँधते हैं। इस कारण उत्कृष्ट नारकायु और देवायु का उत्कृष्ट आबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग (१/३) ही सम्भव है। इससे कम तो वह हो सकता है पर अधिक नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध संख्यातवर्षायुष्कों के अपनी भुज्यमान आयु के अन्तिम त्रिभाग में होता है। इस त्रिभाग के आठ अपकर्षकालों में (१/३, १/९, १/२७ आदि) से किसी भी अपकर्षकाल में उसका बन्ध हो सकता है। यदि उन अपकर्षकालों में से किसी में भी उसका बन्ध नहीं हुआ तो फिर भुज्यमान आयु की स्थिति में अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाने पर वह उस समय असंक्षेपाद्धाकाल (जिसका और संक्षेप न हो सके) में बँधती है। इस प्रकार आयु का उत्कृष्ट आबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग और जघन्य आबाधाकाल असंक्षेपाद्धा (आवली का संख्यातवाँ भाग) होता है। इस काल में बाँधी गयी परभविक आयु का उदय सम्भव नहीं है। उसकी निषेकस्थिति बाँधी गयी आयु की स्थिति के प्रमाण ही होती है, न कि अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों की आबाधा से हीन स्थिति के प्रमाण। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि सात कर्मों की निषेकस्थिति में बाधा सम्भव है उस प्रकार आयु की निषेकस्थिति में नहीं है। उसकी बाँधी गयी स्थिति के जितने समय होते हैं उतने ही उस के निषेक होते हैं।

यद्यपि असंख्यात वर्ष की आयुवाले (भोगभूमिज) भी मनुष्य-तिर्यंच हैं, पर उनकी भुज्यमान आयुस्थिति में जब छह मास शेष रह जाते हैं तभी वे परभविक आयु को बाँधने योग्य होते हैं, इससे अधिक आयु के शेष रहने पर उनके परभविक आयु का बन्ध सम्भव नहीं है। इसी प्रकार देव-नारकियों के भी आयु के छह मास शेष रह जाने पर ही परभविक आयु का बन्ध होता है। इससे निश्चित है कि आयुकर्म का आबाधाकाल उत्कर्ष से पूर्वकोटि का त्रिभाग ही हो सकता है, अधिक नहीं।[1]

७. जघन्यस्थिति—यह जीवस्थान की सातवीं चूलिका है। इसमें कर्मों की जघन्य स्थिति, आबाधा और निषेक आदि की प्ररूपणा की गयी है।

इसके प्रारम्भ में धवला में यह विशेषता प्रकट की गयी है कि उत्कृष्ट विशुद्धि द्वारा जो स्थिति बँधती है वह जघन्य होती है। कारण कि सभी प्रकृतियाँ प्रशस्त नहीं होती हैं। वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संक्लेश की वृद्धि से सब प्रकृतियों की स्थिति में वृद्धि और विशुद्धि की वृद्धि से उनकी स्थिति में हानि हुआ करती है। असाता के बन्धयोग्य परिणाम का नाम संक्लेश और साता के बन्धयोग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है।

कुछेक आचार्यों का कहना है कि उत्कृष्ट स्थिति से नीचे की स्थितियों को बाँधनेवाले जीव के परिणाम को विशुद्धि और जघन्य स्थिति से ऊपर की द्वितीयादि स्थितियों के बाँधनेवाले जीव के परिणाम को संक्लेश कहा जाता है। उनके इस अभिप्राय को असंगत बतलाते हुए धवला में कहा है कि विशुद्धि और संक्लेश का ऐसा लक्षण करने पर जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बन्धक परिणामों को छोड़ शेष मध्य की स्थितियों के बन्धक सभी परिणामों के संक्लेश और विशुद्धिरूप होने का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, लक्षण भेद के बिना

---

१. इस सबके लिए देखिए धवला पु० ६, पृ० १६६-६९; विशेष जानकारी के लिए धवला पु० १०, पृ० १३७-३९ व पृ० १३८ के टिप्पण द्रष्टव्य हैं।

एक ही परिणाम के दोनों रूप होने का विरोध है (पु० ६, पृ० १८०)। धवलाकार ने आवश्यकतानुसार इसका स्पष्टीकरण भी किया है। जैसे—सूत्र २४ में स्त्री एवं नपुंसक वेद आदि कितनी ही प्रकृतियों का जघन्य स्थितिवन्धक समान रूप से पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के सात भागों में से दो भाग (२/७) निर्दिष्ट किया गया है।

इसकी व्याख्या में यह शंका उठायी गयी है कि नपुंसक वेद और अरति आदि प्रकृतियों का तो जघन्य स्थितिवन्ध सागरोपम के दो-वटे सात भाग सम्भव है, क्योंकि उनका स्थितिवन्ध उत्कृष्ट वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण देखा जाता है। किन्तु स्त्रीवेद तथा हास्य-रति आदि जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिवन्ध वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम नहीं है उनका जघन्य स्थितिवन्ध सागरोपम के दो-बटे सात भाग घटित नहीं होता। इसका समाधान करते हुए धवला में कहा है कि यद्यपि उक्त स्त्रीवेद आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण नहीं है, फिर भी मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार हीनता को प्राप्त होनेवाली उन प्रकृतियों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के दो-वटे सात भाग मात्र जघन्य स्थितिवन्ध के होने में कोई विरोध नहीं है (पु० ६, पृ० १९०-९२)।

सूत्र ३५ में नरकगति, देवगति आदि कुछ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिवन्ध समान रूप में पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन हजार सागरोपम के दो-वटे सात भाग मात्र कहा गया है।

धवला (पु० ६, १९४-९६) में इसका स्पष्टीकरण एकेन्द्रिय आदि के आश्रय से पृथक्-पृथक् किया गया है।

८. सम्यक्त्वोत्पत्ति—प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का विधान—इस चूलिका के प्रारम्भ में सूत्रकार ने यह सूचना की है कि पहली दो (६ व ७) चूलिकाओं में कर्मों की जिस उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गयी है उतने काल की स्थितिवाले कर्मों के रहते हुए जीव सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है (सूत्र १,९-८,१)।

इसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यह सूत्र देशामर्शक है। तदनुसार कर्मों के उपर्युक्त जघन्य स्थितिवन्ध और उत्कृष्ट स्थितिवन्ध के साथ उनके जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व, जघन्य व उत्कृष्ट अनुभागसत्त्व और जघन्य व उत्कृष्ट प्रदेशसत्त्व के होने पर जीव सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि इस स्थिति में कर्मों की कैसी अवस्था में जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इसके समाधान में आगे के सूत्र (१,९-८,३) में कहा गया है कि जीव जब इन्हीं सव कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को बाँधता है तव वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यह औपचारिक कथन है। वस्तुतः कर्मों की इस स्थिति में भी जीव प्रथम सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है, वह तो अधःप्रवृत्तकरण आदि तीन करणों के अन्तिम समय में प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सूत्र के द्वारा क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों की प्ररूपणा की गयी है। आगे धवला में इन लब्धियों का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि विशुद्धि के बल से जब पूर्वसंचित कर्मों के अनुभागस्पर्धक प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन होकर उदीरणा को प्राप्त होते हैं तब क्षयोपशमलब्धि होती है। उत्तरोत्तर प्रतिसमयहीन होनेवाली अनन्तगुणी हानि के क्रम से उदीरणा को प्राप्त उन अनुभागस्पर्धकों से उत्पन्न जीव का जो परिणाम सातावेदनीय

आदि शुभ कर्मों के बन्ध का कारण और असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का रोधक होता है उसका नाम विशुद्धि है और उसकी प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहा जाता है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। इस देशना और उसमें परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि के साथ जो उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण एवं विचार करने की शक्ति का समागम होता है उसे देशनालब्धि कहते हैं। समस्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग का घात करके उनका जो अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति में और द्विस्थानिक अनुभाग में अवस्थान होता है, उसका नाम प्रायोग्यलब्धि है। द्विस्थानिक अनुभाग का अभिप्राय है कि प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव प्रायोग्यलब्धि के प्रभाव से घातिया कर्मों के अस्थि और शैल रूप अनुभाग का घातकर उसे लता और दारु रूप दो अनुभागों में स्थापित करता है तथा अघातिया कर्मों के अन्तर्गत पाप प्रकृतियों के अनुभाग नीम और कांजीर रूप दो अनुभागस्थानों में स्थापित करता है, पुण्यप्रकृतियों का अनुभाग चतुःस्थानिक ही रहता है।

ये चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि दोनों के समान रूप से सम्भव हैं। किन्तु पाँचवीं करणलब्धि भव्य मिथ्यादृष्टि के ही सम्भव है, वह अभव्य के सम्भव नहीं है (पु० ६, पृ० २०३-५)।

जो भव्य मिथ्यादृष्टि करणलब्धि को भी प्राप्त कर सकता है, सूत्र के अनुसार (१,९-८,४) वह पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होना चाहिए।

इन सब विशेषणों की सार्थकता धवला में वर्णित की है। 'मिथ्यादृष्टि' विशेषण की सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते हैं। यद्यपि उपशमश्रेणि पर आरूढ होने हुए वेदकसम्यग्दृष्टि उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं, किन्तु उनका उपशमसम्यक्त्व 'प्रथम सम्यक्त्व' नाम को प्राप्त नहीं होता। चूँकि वह सम्यक्त्व से उत्पन्न हुआ है, अतः उसे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व समझना चाहिए।

आगे यहाँ धवला में गति, वेद, योग, कषाय, संयम, उपयोग, लेश्या, भव्य और आहार इन मार्गणाओं के आधार से भी उसकी विशेषता का प्रकाशन है।

उसके ज्ञानावरणीय आदि मूलप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियों में कितनी और किनका सत्त्व रहता है, इसे भी धवला में दिखाया है। आगे वहाँ (पु० ६, पृ० २०६-१४) अनुभागसत्त्व, बन्ध, उदय और उदीरणा के विषय में भी विचार किया गया है।

अनन्तर अन्तिम 'सर्वविशुद्ध' विशेषण को स्पष्ट करते हुए अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन विशुद्धियों के नामनिर्देशपूर्वक उनके स्वरूप आदि के विषय में धवलाकार ने पर्याप्त विचार किया है (पु० ६, पृ० २१४-२२)।

उनके स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—करण नाम परिणाम का है। जिस प्रकार छेदन-भेदन आदि क्रिया में साधकतम होने से तलवार, वसूला आदि को 'करण' कहा जाता है उसी प्रकार दर्शनमोह के उपशम आदि भाव के करने में साधकतम होने से इन परिणामों को भी नाम से कारण कहा गया है।[1] इन तीन प्रकार के परिणामों में जो अधःप्रवृत्त-

१. ××× अधापवत्तकरणमिदि सण्णा। कुदो? उवरिमपरिणामा अधहेट्ठा हेट्ठिमपरिणामेसु पवत्तंति त्ति अधापवत्तसण्णा। कधं परिणामाणं करणसण्णा? ण एस दोसो, असि-वासीणं व साहयत्तमभावविवक्खाए परिणामाणं करणत्तुवलंभादो।—धवला पु० ६, पृ० २१७

करण हैं उनमें चूंकि ऊपर के परिणाम नीचे के परिणामों में प्रवृत्त होते हैं—पाये जाते हैं, इसलिए उनका 'अधःप्रवृत्तकरण' नाम सार्थक है। अधःप्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्तकाल में उत्तरोत्तर प्रथम-द्वितीयादि समयों में क्रम से समान वृद्धि लिये हुए असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। संदृष्टि के रूप में अन्तर्मुहूर्त के समयों का प्रमाण १६, सब परिणामों का प्रमाण ३०७२ और समान वृद्धिस्वरूप चय का प्रमाण ४ है। उसके प्रथमादि समयों में प्रविष्ट होनेवाले जीवों के परिणाम समान नहीं होते हैं— किन्हीं के वे जघन्य विशुद्धि को, किन्हीं के उत्कृष्ट विशुद्धि को और किन्हीं के मध्यम विशुद्धि को लिये हुए होते हैं। यह आवश्यक है कि प्रथमादि समयवर्ती जीवों के उत्कृष्ट परिणाम से उपरितन समयवर्ती जीवों का जघन्य परिणाम भी अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होता है। संदृष्टि में इन परिणामों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

निर्वर्गणाकाण्डक

समय	परिणाम	प्र० खण्ड	द्वि० खण्ड	तृ० खण्ड	च० खण्ड
१६	२२२	५४	५५	५६	५७
१५	२१८	५३	५४	५५	५६
१४	२१४	५२	५३	५४	५५
१३	२१०	५१	५२	५३	५४
१२	२०६	५०	५१	५२	५३
११	२०२	४९	५०	५१	५२
१०	१९८	४८	४९	५०	५१
९	१९४	४७	४८	४९	५०
८	१९०	४६	४७	४८	४९
७	१८६	४५	४६	४७	४८
६	१८२	४४	४५	४६	४७
५	१७८	४३	४४	४५	४६
४	१७४	४२	४३	४४	४५
३	१७०	४१	४२	४३	४४
२	१६६	४०	४१	४२	४३
१	१६२	३९	४०	४१	४२

अधःकरणकाल के प्रत्येक समय में परिणामों में पुनरुक्तता-अपुनरुक्तता अथवा समानता-असमानता को देखने के लिए उनके क्रमशः चार-चार खण्ड किये गये हैं, उन्हें निर्वर्गणाकाण्डक कहा जाता है। इनमें, संदृष्टि के अनुसार, प्रथम समय सम्बन्धी ३९ परिणाम और अन्तिम समय सम्बन्धी ५७ परिणाम ही ऐसे हैं जिनमें नीचे-ऊपर के किन्हीं परिणामों से समानता नहीं है। शेष परिणामखण्डों में ऊपर से नीचे समानता दृष्टिगोचर होती है। यह अनुकृष्टि की रचना है।[1]

---

1. धवला पु० ६, पृ० २१४-१९ के अतिरिक्त गो० कर्मकाण्ड की गाथा ८९८-९०७ भी दृष्टव्य हैं।

अधःकरणकाल के समाप्त होने पर जीव अपूर्वकरण को प्राप्त होता है। अपूर्वकरण का काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है। उस अन्तर्मुहूर्त के समयों में से प्रथम समय में असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। आगे द्वितीय-तृतीय आदि समयों के योग्य भी असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। पर वे उत्तरोत्तर समान वृद्धि से वृद्धिगत होते हैं। जैसी अधःकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता व असमानता होती है वैसी अपूर्वकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में कभी समानता नही रहती। आगे के समयों में वहाँ उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए अपूर्व-अपूर्व ही परिणाम होते हैं, इसीलिए उनकी 'अपूर्वकरण' यह संज्ञा सार्थक है। इतना विशेष है कि एकसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और कदाचित् असमान भी। उदाहरण के रूप में, प्रथम समयवर्ती किसी जीव का उत्कृष्ट विशुद्धि से युक्त भी जो अपूर्वकरण परिणाम होता है उसकी अपेक्षा उसके द्वितीय समयवर्ती किसी जीव का जघन्यविशुद्धि से युक्त भी परिणाम अधिक विशुद्ध होता है। संदृष्टि के रूप में अपूर्वकरण-काल के समयों की कल्पना ८, परिणामों की कल्पना ४०९६ और चय के प्रमाण की कल्पना १६ की गयी है। *तदनुसार इस संदृष्टि के आश्रय से अपूर्वकरण परिणामों की यथार्थता* को इस प्रकार समझा जा सकता है[1]—

समय	परिणाम
८	५६८
७	५५२
६	५३६
५	५२०
४	५०४
३	४८८
२	४७२
१	४५६
	सर्वधन ४०९६

तीसरी विशुद्धि का नाम अनिवृत्तिकरण है। इस अनिवृत्तिकण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। इसके जितने समय हैं उतने ही अनिवृत्तिकरण परिणाम हैं। कारण यह है कि इन परिणामों में जघन्य-उत्कृष्ट का भेद नहीं है। यहाँ एक समयवर्ती जीवों का परिणाम सर्वथा समान और भिन्न समयवर्ती जीवों का परिणाम सर्वथा भिन्न रहता है, जो उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से युक्त होता है। निवृत्ति का अर्थ व्यावृत्ति या भेद है[2], तदनुसार अनिवृत्ति का अर्थ भेद से रहित (समान) समझना चाहिए। इन अनिवृत्तिकरण परिणामों में चूंकि वह भिन्नता नहीं है —विवक्षित समयवर्ती जीवों का वह परिणाम सर्वथा समान होता है, इसलिए इन परिणामों का 'अनिवृत्तिकरण' नाम सार्थक है (पु० ६, पृ० २२१-२२)।

इस प्रकार प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य जीव की विशेषताओं का वर्णन कर आगे

१. धवला पु० ६, पृ० २२०-२१ व गो० कर्मकाण्ड गा० ९०८-१०

२. समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां ते अनिवृत्तयः।—धवला पु० १, पृ० १८४-८५

सूत्र में यह कहा गया है कि इन्हीं सब कर्मों की स्थिति को जब जीव संख्यात सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थापित करता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है (१, ९-८, ५)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि अधःप्रवृत्तकरण में स्थितिकाण्डक, अनुभाग-कण्डक, गुणश्रेणि और गुणसंक्रम नहीं होते; क्योंकि इन परिणामों में उक्त कर्मों के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। ऐसा जीव केवल अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ प्रत्येक समय में अप्रशस्त कर्मों के द्विस्थानिक अनुभाग को अनन्तगुणा हीन बाँधता है और प्रशस्त कर्मों के चतुःस्थानिक अनुभाग को वह उत्तरोत्तर प्रत्येक समय में अनन्तगुणा बाँधता है। यहाँ स्थितिबन्ध का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इस बन्ध के पूर्ण होने पर वह पल्य के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थिति को बांधता है। इस प्रकार संख्यात हजार बार स्थितिबन्धापसरणों के करने पर अधःप्रवृत्तकरणकाल समाप्त होता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य स्थितिखण्ड पल्योपम के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट पृथक्त्व सागरोपम मात्र रहता है। अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय में जो स्थितिबन्ध होता था, अपूर्वकरण के प्रथम समय में वह आयु को छोड़कर शेष कर्मों का उसकी अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन प्रारम्भ होता है। स्थितिबन्ध बँधनेवाली प्रकृतियों का ही होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में गुणश्रेणि भी प्रारम्भ हो जाती है। उसी समय अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग के अनन्त बहुभाग का घात प्रारम्भ हो जाता है।

इस प्रकार अपूर्वकरणकाल के समाप्त होने पर अनिवृत्तिकरण को प्रारम्भ करता है। उसी समय अन्य स्थितिखण्ड, अन्य अनुभागखण्ड और अन्य स्थितिबन्ध भी प्रारम्भ हो जाते हैं। पूर्व में जिस प्रदेशाग्र का अपकर्षण किया गया था उससे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र का अप-कर्षण करके अपूर्वकरण के समान गलितशेष की गुणश्रेणि करता है।

यहाँ शंका होती है कि सूत्र में केवल स्थितिबन्धापसरण की प्ररूपणा की गयी है; स्थिति-घात, अनुभागघात और प्रदेशघात की प्ररूपणा वहाँ नहीं है, अतः यहाँ उनकी प्ररूपणा करना उचित नहीं है। इसके समाधान में कहा है कि यह सूत्र तालप्रलम्बसूत्र के समान देशामर्शक[1] है, इससे यहाँ उनकी प्ररूपणा अनुचित नहीं है।

इस प्रकार हजारों स्थितिबन्ध, स्थितिखण्ड और अनुभागखण्डों के समाप्त हो जाने पर अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय प्राप्त होता है।

प्रस्तुत चूलिका के प्रारंभ में सूत्रकार द्वारा उद्भावित पृच्छाओं में 'कितने काल द्वारा' यह पृच्छा भी की गयी थी, उसे दिखलाने के लिए यहाँ सूत्र (१,९-८,६) में अनिवृत्तिकरण परि-णामों के कार्यविशेष को स्पष्ट करते हुए निर्देश है कि वह अन्तर्मुहूर्त हटता है।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि यह सूत्र अन्तरकरण का प्ररूपक है। किसके अन्तरकरण को करता है, इसे बतलाते हुए कहा है कि यहाँ चूँकि अनादि मिथ्यादृष्टि का अधिकार है, इसलिए वह मिथ्यात्व के अन्तरकरण को करता है, ऐसा अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। सादि मिथ्यादृष्टि के होने पर तो उसके तीन भेदरूप जो दर्शनमोहनीय रहता है उस

---

१. तालप्रलम्बसूत्र का स्पष्टीकरण पीछे पर किया जा चुका है। इसके लिए धवला पु० १, पृ० ९ का टिप्पण द्रष्टव्य है।

सभी का अन्तर किया जाता है। यह अन्तरकरण अनिवृत्तिकरणकाल का संख्यातवाँ भाग शेष रह जाने पर किया जाता है।

विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्य की अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितियों के निषेकों का जो परिणामविशेष से अभाव किया जाता है उसे अन्तरकरण कहते हैं। उन स्थितियों में अधस्तन स्थिति को प्रथम स्थिति और उपरिम स्थिति को द्वितीय स्थिति कहा जाता है।

इस प्रसंग में धवला में कहा है कि अन्तरकरण के समाप्त होने पर उस समय से जीव को उपशामक कहा जाता है। इस पर वहाँ शंका उत्पन्न हुई है कि ऐसा कहने पर उसके पूर्व जीव के उपशामकपने के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके समाधान में कहा है कि इसके पूर्व भी वह उपशामक ही है, किन्तु उसे मध्यदीपक मानकर शिष्यों के सम्बोधनार्थ 'यह दर्शन-मोहनीय का उपशामक है' ऐसा यतिवृषभाचार्य ने कहा है।[1] इससे उक्त कथन अतीत भाग की उपशामकता का प्रतिषेधक नहीं है।

अब पूर्वोक्त पृच्छाओं में 'मिथ्यात्व के कितने भागों को करता है' इस पृच्छा के अभिप्राय को बतलाते हुए सूत्र (१,९-८,७) में कहा है कि अन्तरकरण करके वह मिथ्यात्व के तीन भागों को करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।

धवलाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि यह सूत्र मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति को गलाकर सम्यक्त्व प्राप्त होने के प्रथम समय से लेकर आगे के समय में जो व्यापार होता है उसका प्ररूपक है। आगे सूत्र में 'अन्तरकरण करके' ऐसा जो कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि पूर्व में जो मिथ्यात्व की स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का घात किया गया है उसका वह फिर से घात करके अनुभाग की अपेक्षा उसके तीन भागों को करता है। इसका कारण यह है कि पाहुडसुत्त—कषायप्राभृत की चूर्णि[2]—में मिथ्यात्व के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुणा हीन और उससे सम्यक्त्व का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, ऐसा निर्देश किया गया है और उपशमसम्यक्त्वकाल के भीतर अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन के बिना मिथ्यात्व का घात नहीं होता है, क्योंकि वैसा उपदेश नहीं है। इसलिए सूत्र में जो 'अन्तरकरण करके' ऐसा कहा गया है उससे यह समझना चाहिए कि काण्डकघात के बिना मिथ्यात्व के अनुभाग को घातकर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के अनुभागरूप से परिणमाता हुआ प्रथम सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथम समय में ही उसके तीन कर्मांशों को उत्पन्न करता है।

आगे इस प्रसंग में गुणश्रेणि और गुणसंक्रमण को दिखाते हुए पच्चीस प्रतिक—पच्चीस पदवाले—दण्डक को किया है।[3]

प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव दर्शनमोहनीय को कहाँ उपशमता है, इसे स्पष्ट

---

१. तदो अंतरं कीरमाणं कदं। तदोप्पहुडि उवसामगो त्ति भण्णइ। क० प्रा० चूर्णि ९५-९६ (क० पा० सुत्त पृ० ६२७)

२. णवरि सव्वपच्छा सम्मामिच्छत्तमणंतगुणहीणं। सम्मत्तमणंतगुणहीणं। क० प्रा० चूर्णि १४९-५० (क० पा० सुत्त पृ० १७१)

३. धवला पु० ६, पृ० २३४-३७ (यह पच्चीसप्रतिक-दण्डक क० प्रा० चूर्णि में उसी रूप में उपलब्ध होता है। देखिए क० पा० सुत्त पृ० ६२९-३०)

करते हुए सूत्र (१,९-८,९) में कहा है कि वह उसे चारों ही गतियों में उपशमाता है। चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ वह उसे पंचेन्द्रिय, संज्ञी, गर्भोपक्रान्तिक व पर्याप्तों में उपशमाता है। इनके विपरीत एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों, असंज्ञियों, सम्मूर्च्छनों और अपर्याप्तों में नहीं उपशमाता है। संख्यातवर्षायुष्क और असंख्यातवर्षायुष्क इन दोनों के भी उपशमाता है। सूत्रगत यह अभिप्राय सूत्रकार द्वारा पूर्व में भी व्यक्त किया जा चुका है।[1]

धवलाकार ने भी यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि इस सूत्र के द्वारा पूर्वप्ररूपित अर्थ को ही स्मरण कराया गया है (पु० ६, पृ० २३८)।

आगे यहाँ धवला में 'एत्थ उवउज्जंतीओ गाहाओ' सूचना के साथ पन्द्रह गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं। इन गाथाओं द्वारा इसी अभिप्राय को विशद किया गया है कि दर्शनमोहनीय का उपशम किन अवस्थाओं में किया जा सकता है, क्या वह सासादनगुणस्थान को प्राप्त हो सकता है, उसका प्रस्थापक व निष्ठापक किस अवस्था में होता है, किस स्थितिविशेष में तीन कर्म उपशान्त होते हैं तथा उपशामक के बन्ध किस प्रत्यय से होता है; इत्यादि।[2]

उपशामना किन क्षेत्रों में व किसके समक्ष होती है (१,९-८,१०), इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि इसके लिए कोई विशेष नियम नहीं है वह किसी भी क्षेत्र में व किसी के समीप हो सकती है; क्योंकि सम्यक्त्व का ग्रहण सर्वत्र सम्भव है।[3]

क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति का विधान—इस प्रकार दर्शनमोहनीय की उपशामना के विषय में विचार करके तत्पश्चात् उसकी क्षपणा की प्ररूपणा की गयी है। यहाँ सर्वप्रथम सूत्रकार ने दर्शनमोहनीय की क्षपणा को प्रारम्भ करनेवाला जीव उसका कहाँ प्रारम्भ करता है, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि वह उसे अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में पन्द्रह कर्मभूमियों के भीतर जहाँ जिन, केवली व तीर्थंकर होते हैं, उसे प्रारम्भ करता है (सूत्र १, ९-८,११)।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है कि क्षपणा के स्थान के विषय में पूछनेवाले शिष्य के लिए यह सूत्र आया है। सूत्र में जो अढ़ाई द्वीपसमुद्रों का निर्देश किया गया है उससे जम्बूद्वीप धातकीखण्ड और आधा पुष्करार्ध इन अढ़ाई द्वीपों को ग्रहण करना चाहिए। कारण यह है कि इन्हीं द्वीपों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा को प्रारम्भ किया जा सकता है, शेष द्वीपों में उसकी सम्भावना नही है, क्योंकि उनमें उत्पन्न होनेवाले जीवों में उसके क्षय करने की शक्ति नहीं है। समुद्रों में लवण और कालोद इन दो समुद्रों को ग्रहण किया गया है, क्योंकि अन्य समुद्रों में उसके सहकारी कारण सम्भव नहीं हैं।

इन अढ़ाई द्वीपों में अवस्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में ही उसकी क्षपणा को प्रारम्भ किया जाता है; क्योकि वहीं पर जिन, केवली व तीर्थंकर का रहना सम्भव है; जिनके पादमूल में उसकी क्षपणा प्रारम्भ की जाती है। मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भागों में जिन व तीर्थंकर का रहना सम्भव नहीं है। यद्यपि सूत्र में सामान्य से कर्मभूमियों में उसकी क्षपणा के प्रारम्भ करने

---

१. देखिए सूत्र १,९-८,४ व ८-९

२. धवला पु० ६, पृ० २३८-४३, ये सब गाथाएँ यथाक्रम से कषायप्राभृत में उपलब्ध होती हैं। केवल गा० ४९-५० में क्रमव्यत्यय हुआ है। देखिए क० पा० सुत्त गा० ४२-५६, पृ० ६३०-३८

३. धवला पु० ६, पृ० २४३

का उल्लेख है, पर अभिप्राय उसका यह रहा है कि उन कर्मभूमियों में उत्पन्न मनुष्य ही उसकी क्षपणा प्रारम्भ करते हैं, न कि तिर्यंच।

सूत्र में निर्दिष्ट 'जम्हि जिणा' को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिस काल में 'जिनों' की सम्भावना है उसी काल में जीव उसकी क्षपणा का प्रारम्भक होता है, अन्य काल में नहीं। तदनुसार यहाँ दुःषमा, दुःषम-दुःषमा, सुषम-सुषमा, सुषमा और सुषमदुःषमा इन कालों में उस दर्शनमोहनीय की क्षपणा का निषेध किया गया है।

यहाँ धवलाकार ने सूत्रोक्त जिन, केवली और तीर्थंकर इन शब्दों की सफलता को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि सूत्र में देशजिनों के प्रतिषेध के लिए केवली को ग्रहण किया गया है तथा तीर्थंकर कर्म के उदय के रहित केवलियों के प्रतिशेध के लिए 'तीर्थंकर' को ग्रहण किया गया है। कारण उसका यह दिया गया है कि तीर्थंकर के पादमूल में जीव दर्शनमोहनीय की क्षपणा को प्रारम्भ किया करता है, अन्यत्र नहीं।

आगे 'अथवा' कहकर प्रकारान्तर से वहाँ यह भी कहा गया है कि 'जिनों' से चौदह पूर्वों के धारकों, 'केवली' से तीर्थंकर कर्म के उदय से रहित केवलज्ञानियों को और 'तीर्थंकर' से तीर्थंकर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए आठ प्रतिहार्यों व चौंतीस अतिशयों से रहित जिनेन्द्रों को ग्रहण करना चाहिए। इन तीनों के भी पादमूल में जीव दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ करते हैं।

इस प्रसंग में अन्य किन्हीं आचार्यों के व्याख्यान को प्रकट करते हुए धवला में यह भी कहा गया है कि यहाँ सूत्र में प्रयुक्त 'जिन' शब्द की पुनरावृत्ति करके जिन दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ करते हैं, ऐसा कहना चाहिए, अन्यथा तीसरी पृथिवी से निकले हुए कृष्ण आदि के तीर्थंकरपना नहीं बन सकता है,[1] ऐसा किन्हीं आचार्यों का व्याख्यान है। इस व्याख्यान के अभिप्रायानुसार दुःषमा, अतिदुःषमा, सुषमासुषमा और सुषमा इन कालों में उत्पन्न हुए मनुष्यों के दर्शनमोह की क्षपणा सम्भव ही नहीं है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रियों में से आकर तीसरे काल में उत्पन्न हुए वर्धनकुमार[2] आदि के दर्शनमोह की क्षपणा देखी जाती है। इसी व्याख्या को यहाँ प्रधान करना चाहिए। (धवला पु० ६, पृ० ३४३-४७)

उपर्युक्त दर्शनमोह की क्षपणा की समाप्ति चारों ही गतियों में सम्भव है। इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि कृतकरणीय होने के प्रथम समय में दर्शनमोह की क्षपणा करनेवाले जीव को निष्ठापक कहा जाता है। वह आयुबन्ध के वश चारों ही गतियों में उत्पन्न होकर दर्शनमोह की क्षपणा को समाप्त करता है। कारण यह है कि उन गतियों में उत्पत्ति के कारणभूत लेश्यारूप परिणामों के होने में वहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में सम्यक्त्वमोह की अन्तिम फालि के द्रव्य को नीचे के निषेकों में क्षेपण करनेवाला जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक कृतकरणीय कहलाता है।

दर्शमोह की क्षपणा की विधि उसकी उपशामनाविधि के प्रायः समान है, मूल में उसकी

---

१. इत्यादिशुभचिन्तात्मा भविष्यत्तीर्थकृद्धरिः।
वद्धायुष्कतया मृत्वा तृतीयां पृथिवीमितः॥—हरि० पु०, ६२-६३

२. वर्धनकुमार का उल्लेख इसके पूर्व धवला में अनादि सपर्यवसितकाल के प्रसंग में भी किया गया है। पु० ४, पृ० २२४

प्ररूपणा न होने पर भी धवलाकार ने उसका विवेचन किया है। दर्शनमोह का क्षपक प्रथमतः अनन्तानुबन्धिचतुष्क का विसंयोजन करता है। उसकी क्षपणा में भी अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रमण नहीं होते। उसके अन्तिम समय तक जीव उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ पूर्व स्थितिबन्ध की अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन स्थिति को बाँधता है। इस प्रकार इस करण में प्रथम स्थितिबन्ध की अपेक्षा अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में पूर्व स्थितिबन्ध की अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य ही स्थितिबन्ध होता है। इस प्रकार से यहाँ होनेवाले स्थितिबन्ध, स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रमण आदि की प्ररूपणा की गयी है। इस प्रक्रिया से उत्तरोत्तर हानि को प्राप्त होनेवाले स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व आदि के विषय में धवलाकार ने विस्तार से प्ररूपणा की है। यही प्ररूपणाक्रम आगे अनिवृत्तिकरण के प्रसंग में भी रहा है (धवला पु० ६, पृ० २४७-६६)।

इस प्रसंग में सूत्रकार ने सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव उस सर्वविशुद्ध मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को संख्यातगुणी हीन स्थापित करता है, इस पूर्वप्ररूपित अर्थ का, चारित्र को प्राप्त करनेवाले जीव के स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व की प्ररूपणा में सहायक होने से पुनः स्मरण करा दिया है।[1]

संयमासंयम प्राप्ति का विधान—जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूत्रकार द्वारा अगले सूत्र में निर्देश किया गया है कि चारित्र को प्राप्त करनेवाला जीव सम्यक्त्व के अभिमुख हुए उस अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व की अपेक्षा आयु को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है (१,८-९,१४)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने सर्वप्रथम चारित्र के इन दो भेदों का निर्देश किया है—देशचारित्र और सकलचारित्र। इनमें देशचारित्र के अभिमुख होनेवाले मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं—वेदकसम्यक्त्व के साथ संयमासंयम के अभिमुख और उपशमसम्यक्त्व के साथ संयमासंयम के अभिमुख। इसी प्रकार संयम के अभिमुख होनेवाले मिथ्यादृष्टि भी दो प्रकार के होते हैं—वेदकसम्यक्त्व के साथ संयम के अभिमुख और उपशमसम्यक्त्व के साथ संयम के अभिमुख। इनमें संयमासंयम के अभिमुख हुआ मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व की अपेक्षा संख्यातगुणे हीन स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व को अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम के प्रमाण में स्थापित करता है। इसका कारण यह है कि प्रथम सम्यक्त्व के योग्य तीन करणरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तगुणे प्रथम सम्यक्त्व से सम्बद्ध संयमासंयम के योग्य तीन परिणामों से वे घात को प्राप्त होते हैं।

धवलाकार ने इस सूत्र को देशामर्शक बतलाकर यह भी स्पष्ट किया है कि यह एकदेश के प्रतिपादन द्वारा सूत्र के अन्तर्गत समस्त अर्थ का सूचक है इसलिए यहाँ सर्वप्रथम संयमासंयम के अभिमुख होनेवाले के विधान की प्ररूपणा की जाती है। तदनुसार प्रथम सम्यक्त्व और संयमासंयम दोनों को एक साथ प्राप्त करनेवाला भी पूर्वोक्त तीन करणों को करता है।

---

१. ष०ख० सूत्र १,८-९,१३ व इसकी धवला टीका (पु० ६, पृ० २६६)

असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाले वेदकसम्यक्त्व के योग्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि संयमासंयम को प्राप्त करता है तो वह दो ही करणों को करता है, अनिवृत्तिकरण उसके नहीं होता। जब वह अन्तर्मुहूर्त में संयमासंयम को प्राप्त करनेवाला होता है तब से लेकर सभी जीव आयु को छोड़कर शेष कर्मों के स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व को अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम के प्रमाण में करते हैं। शुभ कर्मों के अनुभागबन्ध और अनुभागसत्त्व को वह चतुःस्थानवाला तथा अशुभ कर्मों के अनुभागबन्ध और अनुभागसत्त्व को दो स्थानवाला करता है। तब से वह अनन्तगुणी अधःप्रवृत्तकरण नाम की विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होता है। यहाँ स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक और गुणश्रेणि नहीं होती। वह स्थितिबन्ध के पूर्ण होने पर केवल उत्तरोत्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन स्थितिबन्ध के साथ स्थितियों को बांधता है। जो शुभ कर्मों के अंश हैं उन्हें अनन्तगुणे अनुभाग के साथ बांधता है और जो अशुभ कर्मों के अंश हैं उन्हें अनन्तगुणे हीन अनुभाग के साथ बांधता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य स्थितिकाण्डक पल्योपम के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट पृथक्त्व सागरोपम प्रमाण होता है। अनुभागकाण्डक अशुभ कर्मों के अनुभाग का अनन्त बहुभाग प्रमाण होता है। शुभ कर्मों के अनुभाग का घात नहीं होता। यहां प्रदेशाग्र की गुणश्रेणिनिर्जरा भी नहीं है। स्थितिबन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन होता है। इस क्रम से अपूर्वकरणकाल समाप्त होता है।

अनन्तर समय में प्रथम समयवर्ती संयतासंयत हो जाता है। तब वह अपूर्व-अपूर्व स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक और स्थितिबन्ध को प्रारम्भ करता है। आगे संयमासंयमलब्धिस्थानों में प्रतिपातस्थान, प्रतिपद्यमानस्थान और प्रतिपद्यमान-अप्रतिपातस्थानों का विचार किया गया है और उनके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार संयमासंयम को प्राप्त करनेवाले की विधि की धवला में विस्तार से चर्चा है (पु० ६, पृ० २६७-८०)।

सकलचारित्र की प्राप्ति का विधान—सकलचारित्र क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें प्रथमतः क्षायोपशमिक चारित्र को प्राप्त करनेवाले की विधि की प्ररूपणा में धवलाकार ने कहा है कि जो प्रथम सम्यक्त्व और संयम दोनों को एक साथ प्राप्त करने के अभिमुख होता है वह तीनों ही करणों को करता है। परन्तु यदि मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा संयतासंयत संयम की प्राप्ति के अभिमुख होता है तो वह अनिवृत्तिकरण के बिना दो ही करणों को करता है। आगे इसी सन्दर्भ में इन करणों में होनेवाले कार्य की प्ररूपणा संयमासंयम के अभिमुख होनेवाले के ही प्रायः समान की गयी है।

यहाँ संयमलब्धिस्थानों के प्रसंग मे उनके ये तीन भेद निर्दिष्ट हैं—प्रतिपातस्थान, उत्पादस्थान और तद्व्यतिरिक्तस्थान। जिस स्थान मे जीव मिथ्यात्व, असंयमसम्यक्त्व अथवा संयमासंयम को प्राप्त होता है वह प्रतिपातस्थान है। जिसमें वह संयम को प्राप्त करता है उसे उत्पादस्थान कहा जाता है। शेष सभी चारित्रस्थानों को तद्व्यतिरिक्त स्थान जानना चाहिए। आगे इन लब्धिस्थानों में अल्पबहुत्व भी दिखलाया है। इस प्रकार क्षायोपशमिक चारित्र प्राप्त करनेवाले की विधि की प्ररूपणा समाप्त हुई है।

औपशमिक चारित्र को प्राप्त करनेवाला वेदकसम्यग्दृष्टि पूर्व में ही अनन्तानुबन्धी की

विसंयोजना करता है। उसके तीनों करण होते हैं। आगे इन करणों में होने और न होनेवाले कार्यों का विचार किया गया है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करके जीव अन्तर्मुहूर्त अधःप्रवृत्त होता हुआ प्रमत्तगुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ वह असातावेदनीय, अरति, शोक और अयशःकीर्ति आदि कर्मों को अन्तर्मुहूर्त बाँधकर तत्पश्चात् दर्शनमोहनीय को उपशमाता है। यहाँ भी तीनों करणों के करने का विधान है। यहाँ स्थितिघात, अनुभागघात और गुणश्रेणि की जाती है। इन सब की प्ररूपणा दर्शनमोहनीय की क्षपणा के समान है।

तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर दर्शनमोहनीय का अन्तर करता है। फिर इस अन्तरकरण में होनेवाले कार्य का विचार किया गया है। इस प्रकार दर्शनमोहनीय का उपशम करके प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थानों में असाता, अरति, शोक, अयशःकीर्ति आदि कर्मों के हजारों बार बन्ध-परावर्तनों को करता हुआ कषायों को उपशमाने के लिए अधःप्रवृत्तकरण परिणामों से परिणत होता है। यहाँ पूर्व के समान स्थितिघात, अनुभागघात और गुणसंक्रमण नहीं होते। संयमगुण-श्रेणि को छोड़कर अधःप्रवृत्तकरण परिणामनिमित्तक गुणश्रेणि भी नहीं होती। केवल प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिगत होता है।

आगे अपूर्वकरण के प्रथम समय में स्थितिकाण्डक आदि को जिस प्रमाण में प्रारम्भ करता है उसका विवेचन है। इस क्रम से अपूर्वकरण के सात भागों मे से प्रथम भाग में निन्द्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बन्धव्युच्छेद हो जाता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल के बीतने पर उसके सात भागों में से पाँच भाग जाकर देवगति के साथ बन्धनेवाले परभविक देवगति व पंचेन्द्रिय जाति आदि नामकर्मों के बन्ध का व्युच्छेद होता है। तत्पश्चात् उसके अन्तिम समय में स्थिति-काण्डक, अनुभागकाण्डक और स्थितिबन्ध एक साथ समाप्त होते हैं। उसी समय हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों के बन्ध का व्युच्छेद होता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा कर्मों के उदय का भी व्युच्छेद वहीं पर होता है।

अनन्तर वह प्रथम समयवर्ती अनिवृत्तिकरणवाला हो जाता है। उस समय उसके स्थिति-काण्डक आदि जिस प्रमाण में होते हैं उसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा है कि उसी अनि-वृत्तिकरणकाल के प्रथम समय में अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण व्युच्छेद को प्राप्त होते हैं। जिस कर्म को उदय में नहीं दिया जा सकता है उसे उपशान्त, जिसे संक्रम व उदय इन दो में नहीं दिया जा सकता है उसे निधत्त तथा जिसे अपकर्षण, उत्कर्षण, उदय और संक्रम इन चारों में भी नहीं दिया जा सकता है उसे निकाचित कहा जाता है।

उस समय आयु को छोड़, शेष कर्मों का स्थितिसत्त्व अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण और स्थिति-बन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी में लाखपृथक्त्व प्रमाण होता है। इस प्रकार से हजारों स्थितिकाण्डकों के बीतने पर अनिवृत्तिकरणकाल का संख्यात बहुभाग बीत जाता है। उस समय स्थितिबन्ध असंज्ञीपंचेन्द्रिय के स्थितिबन्ध के समान होता है। तत्पश्चात् वह क्रम से हीन होता हुआ चतु-रिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि के स्थितिबन्ध के समान होता जाता है। यहीं पर नाम, गोत्र आदि कर्मों का स्थितिबन्ध किस प्रकार हीन होता गया है, इसे भी स्पष्ट कर दिया गया है। आगे उसके अल्पबहुत्व को भी बतलाया गया है।

अल्पबहुत्व की इस विधि से संख्यात हजार स्थितिकाण्डकों के बीतने पर मनःपर्ययज्ञाना-वरणीय व दानान्तराय आदि कर्मप्रकृतियों का अनुभाग बन्ध से किस प्रकार देशघाती होता गया है, इसे दिखलाते हुए स्थितिबन्ध का अल्पबहुत्व भी निर्दिष्ट है।

इस प्रकार देशघाती करने के पश्चात् संख्यात हजार स्थितिबन्धों के बीतने पर बारह कषायों और नौ नोकषायों के अन्तरकरण को करता है। अन्तरकरण की यह प्रक्रिया भी यहाँ वर्णित है। आगे बढ़ते हुए वह किस क्रम से किन-किन प्रकृतियों के उपशम आदि को करता है, धवला में इसकी विस्तार से चर्चा है।

इस क्रम से वह सूक्ष्मसाम्परायिक हो जाता है, तब उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बन्ध अन्तर्मुहूर्त मात्र, नाम और गोत्र कर्मों का सोलह मुहूर्त तथा वेदनीय का चौबीस मुहूर्तमात्र रह जाता है। अनन्तर समय में समस्त मोहनीय कर्म उपशम को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ से वह अन्तर्मुहूर्तकाल तक उपशान्तकषाय वीतराग रहता है। समस्त उपशान्तकाल में अवस्थित परिणाम होता है। आगे किन कर्मप्रकृतियों का किस प्रकार का वेदन होता है, इसे स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार से औपशमिक चारित्र के प्राप्त करने की विधि की प्ररूपणा समाप्त हुई है (पु० ६, २८८-३१६)।

उपशमश्रेणि से पतन

औपशमिक चारित्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् नियम से मोह के उदय का कारण है। उपशान्तकषाय का प्रतिपात दो प्रकार से होता है—भवक्षय के निमित्त से और उपशान्तकषायकाल के समाप्त होने से। इनमें भवक्षय के निमित्त से उसका जो प्रतिपात होता है उसमें देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही सब करण (उदीरणा आदि) प्रकट हो जाते हैं। जो कर्म उदीरणा को प्राप्त होते हैं वे उदयावलि में प्रविष्ट हो जाते हैं और जो उदीरणा को प्राप्त नहीं होते उनको भी अपकर्षित करके उदयावलि के बाहर गोपुच्छश्रेणि में निक्षिप्त किया जाता है।

उपशान्तकाल के क्षय से गिरता हुआ वह उपशान्तकषाय वीतराग लोभ में ही गिरता है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानों को छोड़कर अन्य किसी गुणस्थान में उसका जाना सम्भव नहीं। इस प्रकार क्रम से नीचे गिरते हुए उसके अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अधःप्रवृत्तकरण में विभिन्न कर्मप्रकृतियों के स्थितिबन्ध आदि उत्तरोत्तर जिस प्रक्रिया से वृद्धिगत होते गये हैं धवला में उसकी विस्तार से प्ररूपणा की गयी है (पु० ६, पृ० ३१७-३१)।

इस प्रकार से गिरता हुआ वह अधःप्रवृत्तकरण के साथ उपशमसम्यक्त्व का पालन करता है। इस उपशम (द्वितीयोशम) काल के भीतर वह असंयम को भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयम को भी प्राप्त हो सकता है और उसमें छह आवलीमात्र काल के शेष रह जाने पर वह कदाचित् सासादनगुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है। सासादन अवस्था को प्राप्त होकर यदि वह मरण को प्राप्त होता है तो नरकगति, तिर्यचगति और मनुष्यगति में न जाकर नियम से देवगति में जाता है। यहाँ धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि यह प्राभृत (कषायप्राभृत) चूर्णिसूत्र का अभिप्राय है। भूतबलि भगवान् के उपदेश के अनुसार उपशमश्रेणि से गिरता हुआ जीव सासादन अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। तीन आयुकर्मों में किसी भी एक के बँध जाने पर वह कषाय का उपशम करने में समर्थ नहीं होता है इसलिए वह नरक, तिर्यंच और मनुष्यगति को प्राप्त नहीं होता है।

सम्पूर्ण चारित्र की प्राप्ति

आगे दो (१,६-८, १५-१६) सूत्रों में कहा गया है कि सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त करनेवाला जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की स्थिति को अन्तर्मुहूर्तमात्र, वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम व गोत्र इन दो कर्मों की आठ अन्तर्मुहूर्त और शेष कर्मों की भिन्न मुहूर्त प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है।

इनकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने कहा है कि ये दोनों सूत्र देशामर्शक हैं, इसलिए इनके द्वारा सूचित अर्थ की प्ररूपणा करते हुए धवला में चारित्रमोह की क्षपणा में अधःप्रवृत्त-करणकाल, अपूर्वकरणकाल और अनिवृत्तिकरणकाल इन तीनों के होने का निर्देश है। इनमें से अधःप्रवृत्तकरण में वर्तमान जीव के स्थितिघात और अनुभागघात नहीं होता है। वह केवल उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिगत होता है।

आगे यहाँ अपूर्वकरण में होनेवाले स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक, गुणसंक्रम, गुणश्रेणि, स्थितिवन्ध और स्थितिसत्त्व आदि की विविधता का विवेचन है। इस प्रकार हजारों स्थितिवन्धों के द्वारा अपूर्वकरणकाल का संख्यातवाँ भाग बीत जाने पर निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों के बन्ध का व्युच्छेद हो जाता है। तत्पश्चात् हजारों स्थितिवन्धों के बीतने पर देवगति के साथ बँधनेवाले नाम कर्मों के बन्ध का व्युच्छेद होता है। अनन्तर हजारों स्थितिवन्धों के बीतने पर वह अपूर्वकरण के अन्तिम समय को प्राप्त होता है (धवला पु० ६, पृ० ३४२-४८)।

इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होने पर वह जिस प्रकार से उत्तरोत्तर कर्मों के स्थितिवन्ध, स्थितिसत्त्व और अनुभागवन्ध को हीन करता है उस सब की प्ररूपणा यहाँ धवला में विस्तार से की गयी है। इस क्रम से अनिवृत्तिकरण के अन्त में संज्वलनलोभ का स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्त, तीन घातिया कर्मों का दिन-रात के भीतर तथा नाम, गोत्र व वेदनीय का बन्ध वर्ष के भीतर रह जाता है। उस समय मोहनीय का स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्त, तीन घातिया कर्मों का संख्यात हजार वर्ष तथा नाम, गोत्र व वेदनीय का स्थितिसत्त्व असंख्यात वर्षप्रमाण होता है (धवला पु० ६, पृ० ३४८-४०३)।

पश्चात् धवला में सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान में प्रविष्ट होने पर कृष्टिकरण आदि क्रियाओं का प्रक्रियाबद्ध विचार किया गया है। इस प्रक्रिया से आगे बढ़ते हुए अन्तिम समय-वर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक के नाम व गोत्र कर्मों का स्थितिवन्ध आठ मुहूर्त, वेदनीय का बारह मुहूर्त और तीन घातिया कर्मों का स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तमात्र और उन तीनों का स्थितिसत्त्व भी अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। नाम, गोत्र और वेदनीय का स्थितिसत्त्व असंख्यात वर्ष रहता है। मोहनीय का स्थितिसत्त्व वहाँ नष्ट हो जाता है (पु० ६, पृ० ४०३-११)।

अनन्तर समय में वह प्रथम समयवर्ती क्षीणकषाय हो जाता है। उसी समय वह स्थिति-वन्ध और अनुभागवन्ध से रहित हो जाता है। इस प्रकार से वह एक समय अधिक आवली-मात्र छद्मस्थकाल के शेष रह जाने तक तीन घातिया कर्मों की उदीरणा करता है। पश्चात् उसके द्विचरम समय में निद्रा व प्रचला प्रकृतियों के सत्त्व व उदय का व्युच्छेद हो जाता है। उसके पश्चात् उसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के सत्त्व-उदय का व्युच्छेद होता है। तब वह अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन और वीर्य से युक्त होकर जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व सयोगिकेवली होता हुआ असंख्यातगुणित श्रेणि से निर्जरा में प्रवृत्त रहता है।

पश्चात् अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रह जाने पर वह केवलिसमुद्घात को करता है। उसमें

प्रथम समय में दण्ड को करके वह स्थिति के असंख्यात बहुभाग को तथा अप्रशस्त कर्मों के शेष रहे अनुभाग के अनन्त बहुभाग को नष्ट करता है। द्वितीय समय में कपाट को करके उसमें शेष रही स्थिति के संख्यात बहुभाग को और अप्रशस्त कर्मों के शेष रहे अनुभाग के अनन्त बहुभाग को नष्ट करता है। तृतीय समय में मन्थ (प्रतर) समुद्घात करके वह स्थिति और अनुभाग की निर्जरा पूर्व के ही समान करता है। तत्पश्चात् चतुर्थ समय में लोकपूरणसमुद्घात में समस्त लोक को आत्मप्रदेशों से पूर्ण करता है। लोक के पूर्ण होने पर समयोग होने के प्रथम समय में योग की एक वर्गणा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि लोकपूरण समुद्घात में वर्तमान केवली के लोकप्रमाण समस्त जीवप्रदेशों में जो योगों के अविभागप्रतिच्छेद होते हैं वे सब वृद्धि व हानि से रहित होकर समान होते हैं। इसलिए सब योगाविभागप्रतिच्छेदों के समान हो जाने से योग की एक ही वर्गणा रहती है। स्थिति अनुभाग की निर्जरा पूर्ववत् चालू रहती है। लोकपूरणसमुद्घात में वह आयुकर्म से संख्यातगुणी अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थिति को स्थापित करता है। इन चार समयों में वह अशुभ कर्मांशों के अनुभाग का प्रतिसमय अपकर्षण करता है और एक समयवाले स्थितिकाण्डक का घात करता है। यहाँ से शेष रही स्थिति के संख्यात बहुभाग को नष्ट करता है तथा शेष रहे अनुभाग के अनन्त बहुभाग को नष्ट करता है। इस बीच स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक का उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है।

यहाँ से अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त जाकर वह क्रम से बादर काययोग से बादर मनोयोग का, बादर वचनयोग का, बादर उच्छ्वास-निश्वास का और उसी बादर काययोग का भी निरोध करता है। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म मनोयोग का, सूक्ष्म वचनयोग का और सूक्ष्म उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करता है।

पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ अपूर्व-स्पर्धकों व कृष्टियों को करता है। कृष्टिकरण के समाप्त हो जाने पर वह पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों को नष्ट करता है व अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टिगत योगवाला होकर सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती शुक्लध्यान को ध्याता है। अन्तिम समय में कृष्टियों के अनन्त बहुभाग को नष्ट करता है। इस प्रकार योग का निरोध हो जाने पर नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म स्थिति में आयु के समान हो जाते हैं।

तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में योगों का अभाव हो जाने से वह समस्त आस्रवों से रहित होता हुआ शैलेश्य अवस्था को प्राप्त होता है व समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याता है।

शैलेश नाम मेरू पर्वत का है। उसके समान जो स्थिरता प्राप्त होती है उसे शैलेश्य अवस्था कहा जाता है। अथवा अठारह हजार शीलों के स्वामित्व को शैलेश्य समझना चाहिए।

इस शैलेश्यकाल के द्विचरम समय में वह देवगति आदि ७३ प्रकृतियों को और अन्तिम समय में कोई एक वेदनीय व मनुष्यगति आदि शेष बारह प्रकृतियों को निर्जीण करके सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

इस 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका के अन्त में धवलाकार ने यह भी सूचना की है कि इस प्रकार से उपर्युक्त दो सूत्रों से सूचित अर्थ की प्ररूपणा कर देने पर सम्पूर्ण चारित्र की प्राप्ति के विधान की प्ररूपणा समाप्त हो जाती है।[1]

---

१. धवला पु० ६, पृ० ४११-१७; इस प्रसंग से सम्बद्ध सभी सन्दर्भ प्रायः कषायप्राभृतचूर्णि से शब्दशः समान हैं। देखिए क० प्रा० चूर्णि २-५०, क० पा० सुत्त पृ० ९००-९०५

९. गति-आगति

यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रस्तुत 'चूलिका' प्रकरण के प्रारम्भ में जो 'कदि काओ पयडीओ बंधदि' आदि सूत्र आया है उसके अन्त में उपर्युक्त 'चारित्तं वा संपुण्णं पडिवज्जंतस्स' वाक्यांश में प्रयुक्त 'वा' शब्द से इस नवमी 'गति-आगति' चूलिका की सूचना की गयी है। इसके प्रारम्भ में यहाँ धवलाकार ने पुनः स्मरण कराते हुए कहा है कि अब प्रसंग-प्राप्त नवमी चूलिका को कहा जाता है।

प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण

यहाँ सर्वप्रथम सूत्रकार द्वारा सातों पृथिवियों के नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव मिथ्यादृष्टि किस अवस्था में व किन कारणों के द्वारा प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं, ४३ सूत्रों में इसका उल्लेख है। इसका परिचय 'मूलग्रन्थगतविषय-परिचय' में पीछे कराया जा चुका है।

विवक्षित गति में मिथ्यात्वादि सापेक्ष प्रवेश-निष्क्रमण

यहाँ बत्तीस सूत्रों (४४-७५) में यह विचार किया गया है कि नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में से किस गुण के साथ उस पर्याय में प्रविष्ट होते हैं व किस गुण के साथ वे वहाँ से निकलते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि सम्यग्मिथ्यात्व में मरण सम्भव नहीं है, इससे उस प्रसंग में सम्यग्मिथ्यात्व का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके लिए भी 'मूलग्रन्थगत-विषय-परिचय' को ही देखना चाहिए। अधिक कुछ व्याख्येय तत्त्व यहाँ भी नही रहा है।

भवान्तर-प्राप्ति

आगे १२७ (७६-२०२) सूत्रों में भवान्तर का उल्लेख है। तदनुसार नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि उस-उस पर्याय को छोड़कर भवान्तर में किस-किस पर्याय में आते-जाते हैं, यह सब चर्चा भी 'मूलग्रन्थगत-विषय-परिचय' में द्रष्टव्य है।

कहाँ किन गुणों को प्राप्त किया जा सकता है

अन्त में ४१ (२०३-४३) सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव अपनी-अपनी पर्याय को छोड़कर कहाँ किस अवस्था को प्राप्त करते हैं और वहाँ उत्पन्न होकर वे (१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) सम्यग्मिथ्यात्व, (७) सम्यक्त्व, (८) संयमासंयम, (९) संयम और (१०) अन्तकृत्व (मुक्ति) इनमें से कितने व किन-किन गुणों को उत्पन्न करते हैं व किनको नहीं उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी दिखलाया है कि वहाँ उत्पन्न होकर वे बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर इन पदों में से किसको प्राप्त कर सकते हैं और किसको नहीं। यह सब भी 'मूलग्रन्थगत-विषय-परिचय' से ज्ञातव्य है।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ चूलिकाओं में इस 'चूलिका' का प्रकरण के समाप्त होने पर षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड जीवस्थान समाप्त होता है।

दूसरा खण्ड : क्षुद्रबन्धक

इस दूसरे खण्ड में जो 'एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व' आदि ११ अनुयोगद्वार हैं तथा

उनके पूर्व में जो 'बन्धकसत्त्वप्ररूपणा' एवं अन्त में 'महादण्डक' (चूलिका) प्रकरण है उन सब में प्ररूपित विषय का परिचय संक्षेप से 'मूलग्रन्थगत-विषय-परिचय' में कराया जा चुका है। उक्त अनुयोगद्वारों में धवलाकार द्वारा प्रसंग के अनुसार विवक्षित विषय की जो प्ररूपणा विशेष रूप में की गयी है उसका परिचय यहाँ कराया जाता है—

इस खण्ड के प्रारम्भ में गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में कौन जीव बन्धक हैं और कौन अबन्धक हैं, इसे दिखलाया है। धवला में यह शंका उठायी गयी है कि बन्धक जीव ही तो हैं, उनकी प्ररूपणा सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों द्वारा प्रथम खण्ड जीवस्थान में की जा चुकी है। उन्हीं की यहाँ पुनः प्ररूपणा करने पर पुनरुक्त दोष का प्रसंग आता है। इसके समाधान में धवला में कहा है कि जीवस्थान में उन बन्धक जीवों की प्ररूपणा चौदह मार्गणाओं में गुणस्थानों की विशेषतापूर्वक की गयी है, किन्तु यहाँ उनकी यह प्ररूपणा गुणस्थानों की विशेषता को छोड़कर सामान्य से केवल उन गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं में ग्यारह अनुयोगद्वारों के आश्रय से की जा रही है, इसलिए जीवस्थान की अपेक्षा यहाँ उनकी इस प्ररूपणा में विशेषता रहने से पुनरुक्त दोष सम्भव नहीं है।

बन्धक भेद-प्रभेद

आगे धवला में नाम-स्थापनादि के भेद से चार प्रकार के बन्धकों का निर्देश है। उनमें तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यबन्धकों के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—कर्मबन्धक और नोकर्मद्रव्यबन्धक। इनमें नोकर्मद्रव्यबन्धक सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार के हैं। उनमें हाथी-घोड़ा आदि के बन्धकों को सचित्त, सूप व चटाई आदि निर्जीव पदार्थों के बन्धकों को अचित्त और आभरणयुक्त हाथी-घोड़ा आदि के बन्धकों को मिश्र नोकर्मबन्धक कहा गया है।

कर्मबन्धक दो प्रकार के हैं—ईर्यापथकर्मबन्धक और साम्परायिककर्मबन्धक। इनमें ईर्यापथकर्मबन्धक छद्मस्थ और केवली के भेद से दो प्रकार के तथा इनमें भी छद्मस्थ उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के भेद से दो प्रकार के हैं। साम्परायिक बन्धक भी दो प्रकार के हैं—सूक्ष्मसाम्परायिक बन्धक और बादरसाम्परायिक बन्धक। सूक्ष्मसाम्परायिक बन्धक भी दो प्रकार के हैं—असाम्परायिक आदि बन्धक (उपशमश्रेणि से गिरते हुए) और बादर साम्परायिक आदि बन्धक। बादरसाम्परायिक आदि बन्धक तीन प्रकार के हैं—असाम्परायिक आदि, सूक्ष्मसाम्परायिक आदि और अनादि बादरसाम्परायिक आदि। इनमें अनादि बादर साम्परायिक उपशामक, क्षपक और अक्षपक-अनुपशामक के भेद से तीन प्रकार के हैं। उपशामक दो प्रकार हैं—अपूर्वकरण उपशामक और अनिवृत्तिकरण उपशामक। इसी प्रकार क्षपक भी अपूर्वकरणक्षपक और अनिवृत्तिकरणक्षपक के भेद से दो प्रकार के हैं। अक्षपक-अनुपशामक दो प्रकार के हैं—अनादि-अपर्यवसित बन्धक और अनादि-सपर्यवसित बन्धक।

इन सब बन्धकों में यहाँ कर्मबन्धकों का अधिकार है (पु० ७, पृ० १-५)।

बन्धाकरण

यहाँ गतिमार्गणा के प्रसंग में बन्धक-अबन्धकों का विचार करते हुए सूत्रकार ने सिद्धों को अबन्धक कहा है। (सूत्र २,१,७)

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग को बन्ध का कारण और इनके विपरीत सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय और अयोग को मोक्ष का कारण कहा है।

यहाँ यह शंका उठायी गयी है कि यदि उक्त मिथ्यात्व आदि चार को ही बन्ध का कारण माना जाता है तो 'ओदइया बंधयरा' गाथासूत्र के साथ विरोध का प्रसंग आता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि औदयिक भावबन्ध के कारण हैं—इस कथन में सभी औदयिक भावों का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वैसा होने पर अन्य भी जो गति-इन्द्रिय आदि औदयिक भाव हैं उनके भी बन्धकारण होने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए 'जिसके अन्वय-व्यतिरेक के साथ नियम से जिसका अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है' इस न्याय के अनुसार जिन मिथ्यात्व आदि औदयिक भावों का अन्वय-व्यतिरेक बन्ध के साथ सम्भव है वे ही बन्ध के कारण सिद्ध होते हैं, न कि सभी औदयिक भाव। उक्त मिथ्यात्व आदि चार को बन्ध का कारण मानने में गाथासूत्र के साथ विरोध नहीं है।

धवला में आगे जिन प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धिचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क के उदय से तथा प्रमाद आदि के निमित्त से हुआ करता है उनका यथाक्रम से पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। यहाँ प्रसंगप्राप्त प्रमाद के लक्षण का निर्देश करते हुए चार संज्वलन और नौ नोकषायों में तीव्र उदय को प्रमाद कहा है। तदनुसार उस प्रमाद को उपर्युक्त मिथ्यात्वादि चार कारणों में से कषाय के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया गया है।

आगे धवला में जिस-जिस कर्म के क्षय से जो-जो गुण सिद्धों के उत्पन्न होता है, उसका उल्लेख नौ गाथाओं को उद्धृत कर उनके आधार से किया गया है।[1]

उदाहरणपूर्वक नयों का लक्षण—'स्वामित्व' अनुयोगद्वार में 'नरकगति में नारकी कैसे होता है' इस पृच्छासूत्र (२,१,४) को नयनिमित्तक बतलाकर धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त नयों का स्वरूप बताया है। इसके लिए छह गाथाएँ धवला में उद्धृत की गयी हैं (संग्रहनय से सम्बद्ध गाथा वहाँ त्रुटित हो गयी दिखती है), जिनके आश्रय से 'नारक' को लक्ष्य करके पृथक्-पृथक् नैगमादि नयों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। यथा—

किसी मनुष्य को पापीजन के साथ समागम करते हुए देखकर उसे नैगमनय की अपेक्षा नारकी कहा जाता है। जब वह धनुष-बाण हाथ में लेकर मृग को खोजता हुआ इधर-उधर घूमता है तब वह व्यवहारनय से नारकी होता है। जब वह किसी एक स्थान में स्थित होकर मृग का घात करता है तब वह ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा नारकी होता है। जब वह जीव को प्राणों से वियुक्त कर देता है तब हिंसाकर्म से युक्त उसे शब्दनय की अपेक्षा नारकी कहा जाता है। जब वह नारक कर्म को बाँधता है तब नारक कर्म से संयुक्त उसे समभिरूढनय से नारकी कहा जाता है। जब वह नरकगति को प्राप्त होकर नारक दुःख का अनुभव करता है तब एवम्भूतनय से उसे नारकी कहा जाता है।

यहीं पर आगे निक्षेपार्थ के अनुसार नामादि के भेद से चार प्रकार के नारकियों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप प्रदर्शित किया गया है (धवला पु० ७, पृ० २८-३०)।

इसी स्वामित्व अनुयोगद्वार में देव कैसे होता है, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्र में कहा गया है कि जीव देवगति में देव देवगतिनामकर्म के उदय से होता है। (सूत्र २,१,१०-११)

इसे स्पष्ट करते हुए प्रसंगवश धवला में कहा है कि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये

---

१. धवला पु० ७, पृ० ८-१५ (इस बन्धप्रक्रिया को व्युच्छित्ति के रूप में गो०क०की ९४-१०२ गाथाओं में देखा जा सकता है।)

गतियाँ यदि केवल उदय में आती हैं तो नरकगति के उदय से नारकी, तिर्यंचगति के उदय से तिर्यंच, मनुष्यगति के उदय से मनुष्य और देवगति के उदय से देव होता है; यह कहना योग्य है। किन्तु अन्य प्रकृतियाँ भी वहाँ उदय में आती हैं, क्योंकि उनके विना नरकगति आदि नामकर्मों का उदय नहीं पाया जाता है। इसके स्पष्टीकरण के साथ धवला में आगे नारकियों के २१,२५, २७,२८ व २९ इन पाँच उदयस्थानों को; तिर्यंचगति में २१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३० व ३१ इन नौ उदयस्थानों को; मनुष्यों के सामान्य से २०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९ व ८ इन ग्यारह उदयस्थानों को; और देवगति में २१,२५,२७,२८ व २९ इन पाँच उदयस्थानों को दिखलाया है। यथासम्भव भंगों को भी वहाँ दिखलाया गया है। यथा—

नारकियों के सम्भव उपर्युक्त पाँच स्थानों में से इक्कीस प्रकृतिरूप उदयस्थान के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि नरकगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस व कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशकीर्ति और निर्माण इन २१ प्रकृतियों को लेकर प्रथम स्थान होता है। यहाँ भंग एक ही रहता है। वह विग्रहगति में वर्तमान नारकी के सम्भव है।

उपर्युक्त २१ प्रकृतियों में से एक आनुपूर्वी को कम करके उनमें वैक्रियिक शरीर, हुण्ड-संस्थान, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, उपघात और प्रत्येकशरीर इन पाँच प्रकृतियों के मिला देने पर २५ प्रकृतियों का दूसरा स्थान होता है। वह शरीर को ग्रहण कर लेने वाले नारकी के सम्भव है।

उसका काल शरीर ग्रहण करने के प्रथम समय से लेकर शरीरपर्याप्ति के अपूर्ण रहने के अन्तिम समय तक अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ पूर्वोक्त भंग के साथ दो भंग है।

उक्त २५ प्रकृतियों में परघात और अप्रशस्त विहायोगति इन दो के मिला देने पर २७ प्रकृतियों का तीसरा स्थान होता है। वह शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के प्रथम समय से लेकर आनपानपर्याप्ति के अपूर्ण रहने के अन्तिम समय तक रहता है। सब भंग यहाँ ३ होते हैं।

पूर्वोक्त २७ प्रकृतियों में उच्छ्वास को मिला देने पर २८ प्रकृतियों का चौथा स्थान होता है। वह आनप्राणपर्याप्ति से पर्याप्त हो जाने के प्रथम समय से लेकर भाषापर्याप्ति के अपूर्ण रहने के अन्तिम समय तक होता है। यहाँ सब भंग ४ होते हैं।

उन २८ प्रकृतियों में एक दुःस्वर के मिला देने पर २९ प्रकृतियों का पाँचवाँ स्थान होता है। वह भाषापर्याप्ति से पर्याप्त होने के प्रथम समय से लेकर आयुस्थिति के अन्तिम समय तक रहता है। यहाँ सब भंग ५ होते हैं।

इसी प्रकार से आगे यथासम्भव तिर्यंचगति आदि में भी स्थानों को प्रदर्शित किया गया है। विशेषता यह है कि तिर्यंच एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादि भेदों में विभक्त हैं। इससे उनमें आतप-उद्योत व यशकीर्ति-अयशकीर्ति आदि कुछ प्रकृतियों के उदय की विशेषता के कारण भंग अधिक सम्भव हैं। इसी प्रकार की विशेषता मनुष्यों में भी रही है।[1]

इन भंगों की प्रक्रिया के परिज्ञापनार्थ धवला में 'एत्थ भंगविसयणिच्छयमुप्पायणट्ठमेदाओ गाहाओ वत्तव्वाओ' ऐसी सूचना करके ७ गाथाओं को उद्धृत किया गया है (पु० ७, पृ० ४४-४६)। ये गाथाएँ उसी क्रम से मूलाचार के 'शीलगुणाधिकार' १९-२५ गाथांकों में उपलब्ध

१. इस सबके लिए धवला पु० ७, पृ० ३२-६० देखना चाहिए।

होती हैं।[1] विशेषता यह है कि मूलाचार में जहाँ 'शील' का प्रसंग रहा है वहाँ धवला में उदय प्राप्त कर्मप्रकृतियों का प्रसंग रहा है। इसलिए गाथाओं के अन्तर्गत शब्दों में प्रसंग के अनुरूप परिवर्तन हुआ है। जैसे—'पढमं सीलपमाणं = पढमं पयडिपमाण' आदि। प्रथम गाथा में शब्द-परिवर्तन विशेष हुआ है, पर अभिप्राय दोनों में समान है।

यहीं पर आगे 'इन्द्रिय' मार्गणा के प्रसंग में धवला में एकेन्द्रियत्व आदि की क्षायोपशमिक रूपता को दिखलाते हुए सर्वघाती व देशघाती कर्मों का स्वरूप भी प्रकट किया है।[2] 'दर्शन' मार्गणा के प्रसंग में दर्शन के विषय में भी विशेष विचार किया गया है (धवला पु० ७, पृ० ९६-१०२)।

स्पर्शनानुगम अनुयोगद्वार (७) में प्रथम पृथिवीस्थ नारकियों के स्पर्शनक्षेत्र के प्रसंग में जो आचार्य तिर्यग्लोक को एक लाख योजन बाहल्यवाला व एक राजु विष्कम्भ से युक्त झालर के समान मानते हैं उनके उस अभिमत को तथा इसके साथ ही जो आचार्य यह कहते हैं कि पाँच द्रव्यों का आधारभूत लोक ३४३ घनराजु प्रमाण उपमालोक से भिन्न है उनके अभिमत को भी यहाँ धवला में असंगत ठहराया गया है (धवला पु० ७, पृ० ३७०-७३)।

भागाभागानुगम अनुयोगद्वार (१०) के प्रसंग में भाग और अभाग के स्वरूप का निर्देश करते हुए धवलाकार ने यह दिखाया है कि अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग को भाग तथा अनन्तवहुभाग, असंख्यातवहुभाग और संख्यातवहुभाग को अभाग कहा जाता है। (धवला पु० ७, पृ० ४९५)।

'अल्पबहुत्व' यह इस खण्ड का अन्तिम (११वाँ) अनुयोगद्वार है। यहाँ काय-मार्गणा के आश्रय से अल्पबहुत्व का विचार करते हुए ५८-५९, ७४-७५ और १०५-६ इन सूत्रों में वनस्पतिकायिकों के निगोदजीवों को विशेष अधिक कहा गया है।

निगोदजीव साधारणतः वनस्पतिकायिकों के अन्तर्गत ही माने गये हैं। तब ऐसी अवस्था में वनस्पतिकायिकों से निगोदजीवों को विशेष अधिक कहना शंकास्पद रहा है। इसलिए सूत्र ७५ की व्याख्या के प्रसंग में धवला में अनेक शंकाएँ उठायी गयी है, जिनका समाधान यथा-सम्भव धवलाकार के द्वारा किया गया है। इसका विचार पीछे 'मूलग्रन्थगतविषय-परिचय' मे 'बन्धन' अनुयोगद्वार के अन्तर्गत 'बन्धनीय' के प्रसंग में किया जा चुका है।

इसके पूर्व 'भागाभाग' अनुयोगद्वार में भी उसी प्रकार का एक प्रसग प्राप्त हुआ है। वहाँ सूत्रकार द्वारा 'सूक्ष्मवनस्पतिकायिक और सूक्ष्मनिगोदजीव पर्याप्त सब जीवों के कितनेवें भाग प्रमाण हैं' इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वे उनके संख्यात बहुभाग प्रमाण हैं (सूत्र २, १०, ३१-३२)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि सूत्र में जो 'सूक्ष्मवनस्पतिकायिकों' को कह-कर आगे पृथक् से 'निगोदजीवों' का भी उल्लेख किया गया है उससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्मवनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म जीव नहीं होते—उनसे पृथक् भी वे होते है। इस पर यह शंका उत्पन्न हुई है कि यदि ऐसा है तो 'सब सूक्ष्मवनस्पतिकायिक निगोद ही होते हैं' इस कथन

---

१. ये गाथाएं प्रसंगानुरूप शब्दपरिवर्तन के साथ गो० जीवकाण्ड में भी ३५-३८ व ४०-४२ गाथांकों में पायी जाती हैं। प्रकरण वहाँ प्रमाद का रहा है।

२. धवला पु० ७, पृ० ६१-६८

के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वहाँ 'सूक्ष्म निगोद सूक्ष्मवनस्पतिकायिक ही होते हैं' ऐसा अवधारण नहीं किया गया है, इसीलिए उसके साथ विरोध की सम्भावना नहीं है, इत्यादि।

आगे इसी प्रसंग में धवला में यह भी शंका की गयी है कि 'निगोद सब वनस्पतिकायिक ही होते हैं, अन्य नहीं' इस अभिप्राय से भी इस 'भागाभाग' में कुछ सूत्र अवस्थित हैं, क्योंकि सूक्ष्मवनस्पतिकायिक से सम्बद्ध उस भागाभाग में तीनों (२६,३१ व ३३) ही सूत्रों में 'निगोद जीवों' का निर्देश नहीं किया गया है। इसलिए उनके साथ इन सूत्रों के विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यदि ऐसा है तो उपदेश प्राप्त करके 'यह सूत्र है व यह असूत्र है' ऐसा आगम में निपुण कह सकते हैं, हम तो उपदेश प्राप्त न होने से यहाँ कुछ कहने के लिए असमर्थ हैं (धवला पु० ७, पृ० ५०४-७)।

चूलिका

इस क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत ११ अनुयोगद्वारों के समाप्त होने पर 'महादण्डक' नाम से चूलिका प्रकरण भी आया है। यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि ग्यारह अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर इस महादण्डक को क्षुद्रकबन्ध के पूर्वोक्त ग्यारह अनुयोगद्वारों से सम्बद्ध चूलिका के रूप में कहा गया है। धवला में कहा गया है कि ग्यारह अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थ की विशेषतापूर्वक प्ररूपणा करना, इस चूलिका का प्रयोजन रहा है। इस पर शंकाकार ने कहा है कि तब तो इस महादण्डक को चूलिका नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें 'अल्पबहुत्व' अनुयोगद्वार से सूचित अर्थ को छोड़ अन्य अनुयोगद्वारों में निर्दिष्ट अर्थ की प्ररूपणा नहीं है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई नियम नहीं है कि चूलिका सभी अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थ की प्ररूपक होना चाहिए। एक, दो अथवा सभी अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थ की जहाँ विशेष रूप से प्ररूपणा की जाती है उसे चूलिका कहा जाता है। यह महादण्डक भी चूलिका ही है, क्योंकि इसमें अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार से सूचित अर्थ की विशेषता के साथ प्ररूपणा की गई है (पु० ७, पृ० ५७५)।

इस महादण्डक में भी वनस्पतिकायिकों से निगोद जीवों को विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है (सूत्र ७८-७९)।

तीसरा खण्ड : बन्धस्वामित्वविचय

बन्धस्वामित्वविचय का उद्गम और उसका स्पष्टीकरण

धवलाकार ने यहाँ प्रथम सूत्र "जो सो बंधसामित्तविचओ णाम" इत्यादि की व्याख्या में कहा है कि यह सूत्र सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन का सूचक है। सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में छठा 'बन्धन' अनुयोगद्वार चार प्रकार का है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमें 'बन्ध' अधिकार नय के आश्रय से जीव और कर्मों के सम्बन्ध की प्ररूपणा करता है। दूसरा 'बन्धक' अधिकार ग्यारह अनुयोगद्वारों के आश्रय से बन्धकों का प्ररूपक है। तीसरा 'बन्धनीय' अधिकार तेईस प्रकार की वर्गणाओं के आश्रय से बन्ध के योग्य और अयोग्य पुद्गलद्रव्य की प्ररूपणा करनेवाला है। चौथा 'बन्धविधान'

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के भेद से चार प्रकार का है। इनमें प्रकृतिबन्ध दो प्रकार है—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। इनमें मूलप्रकृतिबन्ध भी दो प्रकार का है—एक-एक मूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढमूलप्रकृतिबन्ध। अव्वोगाढमूलप्रकृतिबन्ध भी भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। उत्तरप्रकृतिबन्ध के 'समुत्कीर्तना' आदि चौवीस अनुयोगद्वार हैं। उनमें एक बारहवाँ 'बन्धस्वामित्वविचय' नाम का अनुयोगद्वार है।[1] उसी का 'बन्धस्वामित्वविचय' यह नाम है। यह उपर्युक्त 'बन्धन' अनुयोगद्वार के बन्धविधान नामक चौथे अनुयोगद्वार से निकला है, जो प्रवाहस्वरूप से अनादिनिधन है (पु० ८, पृ० १-२)।

बन्धस्वामित्वविचय नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि इसमें बन्धक के स्वामियो का विचार किया गया है।

यहाँ प्रारम्भ में मूलग्रन्थकार ने मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) के नाम-निर्देशपूर्वक उनमें प्रकृतियों के बन्धव्युच्छेद के कथन करने की प्रतिज्ञा है (सूत्र ४)।

इस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि यदि इसमें प्रकृतियों के बन्धव्युच्छेद की ही प्ररूपणा करना ग्रन्थकार को अभीष्ट रहा है तो उसकी 'बन्धस्वामित्वविचय' यह संज्ञा घटित नहीं होती है। समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस गुणस्थान में इन प्रकृतियों का बन्धव्युच्छेद होता है, ऐसा कहने पर उससे नीचे के गुणस्थान उन प्रकृतियों के बन्ध के स्वामी हैं, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त व्युच्छेद दो प्रकार का है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पाद का अर्थ सत्त्व तथा अनुच्छेद का अर्थ विनाश या अभाव है। अभिप्राय यह कि भाव ही अभाव है, भाव को छोड़कर अभाव नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह व्यवहार द्रव्यार्थिकनय के आश्रित है। इस प्रकार उक्त उत्पादानुच्छेद से यह भी सिद्ध है कि जिस गुणस्थान में विवक्षित प्रकृतियो के बन्ध का व्युच्छेद कहा गया है उसके नीचे के गुणस्थानों में उनका बन्ध होता है। इस प्रकार उनके उक्त प्रकृतियों के बन्ध का स्वामित्व सिद्ध है। अतः इस खण्ड का 'बन्धस्वामित्वविचय' नाम सार्थक है (धवला पु० ८, पृ० ५-७)।

आगे धवला में 'पांच ज्ञानावरणीय आदि सोलह प्रकृयियों का कौन बन्धक है और कौन अवन्धक है' इस पृच्छासूत्र (५) की व्याख्या में कहा है कि यह पृच्छासूत्र देशामर्शक है। इसलिए (१) क्या बन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, (२) क्या उदय पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, (३) क्या दोनों साथ ही व्युच्छिन्न होते हैं, (४) क्या उनका बन्ध स्वोदय से होता है, (५) क्या वह परोदय से होता है, (६) क्या स्व-परोदय से होता है, (७) क्या सान्तर बन्ध होता है, (८) क्या निरन्तर बन्ध होता है, (९) क्या सान्तर-निरन्तर बन्ध होता है, (१०) क्या सकारण बन्ध होता है, (११) क्या अकारण बन्ध होता है, (१२) क्या गतिसंयुक्त बन्ध होता है, (१३) क्या गतिसंयोग से रहित बन्ध होता है, (१४) कितनी गतियोंवाले उनके बन्ध के स्वामी है, (१५) कितनी गतियोंवाले बन्ध के स्वामी नहीं हैं, (१६) बन्धाध्वान कितना है, (१७) क्या उनका बन्ध अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होता है, (१८) क्या प्रथम समय में व्युच्छिन्न होता है, (१९) क्या अप्रथम-अचरम समय में व्युच्छिन्न होता है, (२०) क्या बन्ध सादि है, (२१) क्या

---

१. इसकी चर्चा इसके पूर्व धवला पु० १, पृ० १२३-२९ में विस्तार से की जा चुकी है। विशेष के लिए इसी पुस्तक की प्रस्तावना (पृ० ७१-७४) द्रष्टव्य है।

अनादि है, (२२) क्या ध्रुव है, और (२३) क्या अध्रुव है; इन २३ पृच्छाओं को उसके अन्तर्गत समझना चाहिए। इस अभिमत की पुष्टि हेतु धवला में वहाँ 'एत्थुववउज्जंतीओ आरिसगाहाओ' ऐसी सूचना कर चार गाथाओं को उद्धृत किया है (पु० ८, पृ० ७-८)।

तत्पश्चात् वहाँ इन पृच्छाओं में विषम पृच्छाओं के अर्थ की सूचना करते हुए कहा है कि वन्ध का व्युच्छेद तो यहाँ सूत्रों से सिद्ध है, अतएव उसे छोड़कर पहिले उदय के व्युच्छेद को कहते हैं। इस प्रतिज्ञा के साथ धवलाकार ने यहाँ यथाक्रम से मिथ्यात्व व सासादन आदि चौदह गुणस्थानों से क्रमशः उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली दस व चार आदि प्रकृतियों का उल्लेख किया है। आगे 'एत्थ उवसंहारगाहा' के रूप में जिस गाथा को वहाँ उद्धृत किया गया है वह कर्मकाण्ड में (२६३ गाथांक के रूप में) ग्रन्थ का अंग बन गयी है (पु० ८, पृ० ९-११)।

यहाँ यह विशेषता रही है कि मिथ्यादृष्टि के अन्तिम समय में उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली मिथ्यात्व व एकेन्द्रिय आदि १० प्रकृतियों के नामों का निर्देश करते हुए धवलाकार ने बताया है कि उनका यह उल्लेख महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपदेशानुसार किया गया है। किन्तु चूर्णि-सूत्रकर्ता (यतिवृषभाचार्य) के उपदेशानुसार उन १० प्रकृतियों में से पाँच का ही उदयव्युच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है, एकेन्द्रियादि चार जातियों और स्थावर इन पाँच का उदय-व्युच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि के होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार का उदयव्युच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि के अन्तिम समय में होता है।

गो० कर्मकाण्ड में भी दो मतों के अनुसार उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियों की संख्या का पृथक्-पृथक् निर्देश है। पर वहाँ गुणस्थान क्रम से उदय से व्युच्छिन्न होनेवाली उन प्रकृतियों का उल्लेख दूसरे (यतिवृषभाचार्य के) मत के अनुसार किया गया है (गो०क०, गा० २६३-७२), यद्यपि वहाँ यतिवृषभ का नामोल्लेख नहीं है। धवला में दोनों मतों का निर्देश नामोल्लेख के साथ है।

आगे वहाँ किन प्रकृतियों का वन्ध उनके उदय के नष्ट हो जाने पर होता है, किन का उदय वन्ध के नष्ट होने पर होता है और किन का वन्ध और उदय दोनों साथ ही व्युच्छिन्न होते हैं, इस सब का विवेचन धवला में किया गया है (पु० ८, पृ० ११-१३)।

पूर्व सूत्र (५) में जो पाँच ज्ञानावरणीय आदि सोलह प्रकृतियों के वन्धक-अवन्धकों के विषय में पूछा गया था उनके उत्तर में अगले सूत्र (६) में यह कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्परायिक-शुद्धिसंयत उपशमक व क्षपक तक उनके वन्धक हैं। सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत-काल के अन्तिम समय में उनके वन्ध का व्युच्छेद होता है। ये वन्धक हैं, शेष अवन्धक हैं।

इस सूत्र की व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि पूर्व सूत्र में जो यह पूछा गया था कि वन्ध क्या अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होता है, प्रथम समय में व्युच्छिन्न होता है अथवा अप्रथम-अचरम समय में व्युच्छिन्न होता है, उसमें सूत्रकार ने प्रथम और अप्रथम-अचरम समय के प्रतिषेधरूप में प्रत्युत्तर दिया है; शेष प्रश्नों का उत्तर सूत्र में नहीं दिया गया है। चूँकि यह सूत्र देशामर्शक है, इसलिए यहाँ सूत्र में अन्तर्हित अर्थों की प्ररूपणा है।

तदनुसार आगे धवला में, क्या वन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है, क्या दोनों साथ साथ व्यु-च्छिन्न होते हैं; इस प्रकार उन तेईस प्रश्नों में से प्रथमतः इन तीन प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उक्त सोलह प्रकृतियों का वन्ध उदय के पूर्व सूक्ष्मसाम्परायिक के अन्तिम समय में नष्ट होता है और फिर उनके उदय का व्युच्छेद होता है। कारण यह कि पाँच ज्ञानावरणीय,

चार दर्शनावरणीय और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों के उदय का व्युच्छेद क्षीणकपाय के अन्तिम समय में तथा यशःकीर्ति और उच्चगोत्र इन दो के उदय का व्युच्छेद अयोगिकेवली के अन्तिम समय में होता है।

आगे धवला में उन तेईस प्रश्नों में से स्वोदय-परोदयादि शेष सभी प्रश्नों का स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रत्ययविषयक प्रश्न के प्रसंग में धवला में कहा है कि बन्ध सप्रत्यय (सकारण) ही होता है, अकारण नहीं। यह कह धवलाकार ने प्रथमतः बन्ध के मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन चार मूल प्रत्ययों का निर्देश किया है। तत्पश्चात् उत्तरप्रत्ययों की प्ररूपणा में मिथ्यात्व के एकान्त, अज्ञान, विपरीत, वैनयिक और सांशयिक इन पांच भेदों का निर्देश और उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप को भी वहाँ स्पष्ट किया है।

असंयम मूल में इन्द्रिय-असंयम और प्राण-असंयम के भेद से दो प्रकार का है। इनमें इन्द्रिय-असंयम स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द और नोइन्द्रिय विषयक असंयम के भेद से छह प्रकार का तथा प्राण-असंयम भी पृथिवी-जलादि के भेद से छह प्रकार का है। इस प्रकार असंयम के समस्त भेद बारह होते हैं।

आगे क्रमप्राप्त कषाय के पच्चीस और योग के पन्द्रह भेदों का निर्देश है। इनमें से कषाय के उन भेदों का उल्लेख प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका (सूत्र २३-२४) में और योग के भेदों का सत्प्ररूपणा (सूत्र ४६-५६) में किया जा चुका है।

इस प्रकार समस्त बन्धप्रत्यय सत्तावन (५+१२+२५+१५) हैं। मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में वे जहाँ जितने सम्भव हैं उनके आश्रय से यथासम्भव वहाँ-वहाँ बँधनेवाली सोलह प्रकृतियों का निर्देश धवला में किया गया है (पु० ८, पृ० १३-३०)।

आगे ओघप्ररूपणा में सूत्रकार द्वारा निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचला आदि विभिन्न प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों का निर्देश है (सूत्र ७-३८)। उन सब सूत्रों को देशामर्शक मानकर धवलाकार ने वहाँ बँधनेवाली उन-उन प्रकृतियों के विषय में पूर्वनिर्दिष्ट तेईस प्रश्नों को स्पष्ट किया है (पु० ८, पृ० ३०-७५)।

तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक-अबन्धक

इसी प्रसंग में तीर्थंकर प्रकृति के कौन बन्धक और कौन अबन्धक हैं, इसका विशेष रूप से विचार करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरणप्रविष्ट उपशमक व क्षपक तक उसके बन्धक हैं, अपूर्वकरण काल का संख्यात बहुभाग जाकर उसके बन्ध का व्युच्छेद होता है। ये बन्धक है, शेष सब अबन्धक हैं (सूत्र ३७-३८)।

पूर्व पद्धति के अनुसार इस सूत्र को भी देशामर्शक कहकर धवलाकार ने तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के विषय में भी पूर्वोक्त तेईस प्रश्नों का विवेचन किया है। उनके अनुसार तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध पूर्व में और उदय पश्चात् व्युच्छिन्न होता है। क्योंकि अपूर्वकरण के सात भागों में से छठे भाग में उसका बन्ध नष्ट हो जाता है, पर उसका उदय सयोगिकेवली के प्रथम समय से लेकर अयोगिकेवली तक रहता है व अयोगिकेवली के अन्तिम समय में उसका व्युच्छेद होता है।

उसका बन्ध परोदय से होता है, क्योंकि जिन सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों

में उसका उदय सम्भव है वहाँ उसका बन्ध व्युच्छिन्न हो चुका है। बन्ध निरन्तर होता है, क्योंकि अपने बन्धकारण के होने पर कालक्षय से उसका बन्ध विश्रान्त नहीं होता। असंयत-सम्यग्दृष्टि उसे दो गतियों से संयुक्त बाँधते हैं, क्योंकि नरकगति और तिर्यग्गति के बन्ध के साथ उसके बन्ध का विरोध है। ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव उसे एक मात्र देवगति से संयुक्त बाँधते हैं, क्योंकि मनुष्यगति में स्थित जीवों के देवगति को छोड़कर अन्य गतियों के साथ उसके बन्ध का विरोध है। उसके बन्ध के स्वामी तीन गतियों के असंयतसम्यग्दृष्टि हैं, क्योंकि तिर्यंचगति में उसका बन्ध सम्भव नहीं है।

इस प्रसंग में यहाँ यह शंका उठी है कि तिर्यंचगति में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ भले ही न हो, क्योंकि वहाँ जिनों का अभाव है। किन्तु जिन्होंने पूर्व में तिर्यंच आयु को बाँध लिया है वे यदि पीछे सम्यक्त्व आदि गुणों को प्राप्त करके उनके आश्रय से उस तीर्थंकर प्रकृति को बाँधते हुए तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो उन्हें उसके बन्ध का स्वामित्व प्राप्त होता है। इस शंका के समाधान में धवलाकार कहते हैं कि वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार नारक आयु और देवायु को बाँध लेनेवाले जीवों के उसका बन्ध सम्भव है उस प्रकार तिर्यंच आयु और मनुष्यायु को बाँध लेनेवालों के उसका बन्ध सम्भव नहीं है। यह इसलिए कि जिस भव में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध को प्रारम्भ किया गया है उससे तीसरे भव में उस प्रकृति के सत्त्व से युक्त जीवों के मोक्ष जाने का नियम है। पर तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न हुए सम्यग्दृष्टियों का देवों में उत्पन्न होने के बिना मनुष्यों मे उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, जिससे कि उन्हें उक्त नियम के अनुसार तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त हो सके। इसके विपरीत देवायु व नरकायु को बाँधकर देवों व नारकियों में उत्पन्न होनेवालों की तीसरे भव में मुक्ति हो सकती है। इससे सिद्ध है कि तीन गतियों के जीव ही उस तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के स्वामी हैं।

उसका बन्ध सादि व अध्रुव होता है, क्योंकि उसके बन्धकारणों के सादिता व सान्तरता देखी जाती है (पु० ८, पृ० ७३-७५)।

तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक कारण

उसके बन्धक प्रत्ययों की प्ररूपणा स्वयं सूत्रकार द्वारा की गयी है। उसके बन्ध के कारण दर्शनविशुद्धता आदि सोलह हैं (सूत्र ३९-४१)।

सूत्र ३९ की व्याख्या में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्रों में शेष कर्मों के बन्ध के प्रत्ययों की प्ररूपणा न कर एक तीर्थंकर प्रकृति के ही बन्ध प्रत्ययों की प्ररूपणा क्यों की जा रही है। इसका समाधान धवलाकार ने दो प्रकार से किया है। प्रथम तो उन्होंने यह कहा कि अन्य कर्मों के बन्धक प्रत्यय युक्ति के बल से जाने जाते हैं। जैसे—मिथ्यात्व व नपुंसकवेद आदि सोलह कर्मों के बन्ध का प्रत्यय मिथ्यात्व है, क्योंकि उसके उदय के बिना उनका बन्ध सम्भव नहीं है। निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचला आदि पच्चीस कर्मों के बन्धक कारण अनन्तानुबन्धी क्रोधादि हैं, क्योंकि उनके उदय के बिना उन पच्चीस कर्मों का बन्ध नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार आगे अन्य कर्मों के भी यथासम्भव असंयम आदि प्रत्यय युक्ति के बल से स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने अन्त में कहा है कि इस भाँति उन सभी कर्मों के बन्धक प्रत्यय युक्ति से जाने जाते हैं। इसीलिए सूत्रों में उन-उन कर्मों के बन्ध-प्रत्ययों की प्ररूपणा नहीं की गयी है। परन्तु तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण क्या है, यह युक्ति के बल से नहीं जाना जाता है; यह इसलिए कि

पूर्वोक्त बन्ध-कारणों में से मिथ्यात्व तो उसके बन्ध का कारण हो नहीं सकता है, क्योंकि मिथ्यात्व अवस्था में उसका बन्ध नहीं पाया जाता है। असंयम भी उसके बन्ध का कारण सम्भव नहीं, क्योंकि संयतों में भी उसका बन्ध देखा जाता है। इसी प्रकार से आगे धवला में कषाय-सामान्य, उसकी तीव्रता-मन्दता और सम्यक्त्व आदि को भी उसके बन्ध के कारण न हो सकने को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार चूंकि युक्तिबल से प्रकृत तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता है, इसीलिए सूत्रों में उसके बन्धक प्रत्ययों का उल्लेख है।

उपर्युक्त शंका के समाधान में धवलाकार ने प्रकारान्तर से यह भी कहा है कि जिस प्रकार असंयत, प्रमत्त और सयोगी ये गुणस्थाननाम अन्तदीपक हैं उसी प्रकार यह सूत्र भी अन्तदीपक के रूप में सब कर्मों के बन्धक प्रत्ययों की प्ररूपणा में आया है—

'तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति।'—सूत्र ४०

इसमें की गयी सोलह कारणों के कथन की सूचना के अनुसार सूत्रकार द्वारा अगले सूत्र ४१ में तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक 'दर्शनविशुद्धता' आदि सोलह कारणों का उल्लेख भी कर दिया गया है।

पूर्व पृच्छासूत्र (३९) में यह पूछा गया था कि कितने कारणों से जीव तीर्थंकर नामगोत्रकर्म को बाँधते हैं। उत्तर में 'जीव इन कारणों से उस तीर्थंकर नामगोत्रकर्म को बाँधते हैं' इतना कहना पर्याप्त था। पर सूत्र के प्रारम्भ में 'तत्थ' पद का भी उपयोग किया गया है। उसकी अनुपयोगिता की आशंका को हृदयंगम करते हुए धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि सूत्र में 'तत्थ' शब्द यह अभिप्राय प्रकट करता है कि मनुष्यगति में ही तीर्थंकर कर्म का बन्ध होता है, अन्य में नहीं। अन्य गतियों में उसका बन्ध क्यों नहीं होता, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध के प्रारम्भ करने में सहकारी केवलज्ञान से उपलक्षित जीवद्रव्य है, क्योंकि उसके विना उसकी उत्पत्ति का विरोध है।

प्रकारान्तर से वहाँ यह भी कहा गया है—अथवा उनमें तीर्थंकर नामकर्म के कारणों को कहता हूँ, यह उस 'तत्थ' शब्द से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए (पु० ८, पृ० ७८)।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रसंगप्राप्त इन सूत्रों (३८-४०) में 'तीर्थंकरनाम' के साथ 'गोत्र' का भी प्रयोग हुआ है।

यहाँ पुनः यह शंका उठी है कि नामकर्म के अवयवस्वरूप 'तीर्थंकर' की 'गोत्र' संज्ञा कैसे हो सकती है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि तीर्थंकर कर्म चूंकि उच्चगोत्र के बन्ध का अविनाभावी है, इसलिए 'तीर्थंकर' के गोत्ररूपता सिद्ध है (पु० ८, पृ० ७९)।

धवला में यह भी उल्लेख है कि सूत्र (४०) में शब्द 'सोलह' से जो तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक कारणों की संख्या का निर्देश किया है वह पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से है। द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन लेने पर उसके बन्ध का कारण एक भी हो सकता है, दो भी हो सकते हैं; इसलिए उसके बन्ध के कारण सोलह ही हैं ऐसा अवधारण नहीं करें (पु० ८, पृ० ७८-७९)।

धवलाकार ने सूत्रनिर्दिष्ट इन सोलह कारणों में से दर्शनविशुद्धता आदि प्रत्येक को तीर्थंकर कर्म के बन्ध का कारण सिद्ध किया है। यथा—दर्शन का अर्थ सम्यग्दर्शन है, उसकी विशुद्धता से जीव तीर्थंकर कर्म बाँधते हैं। तीन मूढताओं और आठ मलों से रहित सम्यग्दर्शन परिणाम का नाम दर्शनविशुद्धता है।

यहाँ यह शंका की गयी है कि एक दर्शनविशुद्धता से ही तीर्थंकर कर्म का बन्ध कैसे हो

सकता है, क्योंकि वैसा होने पर सभी सम्यग्दृष्टियों के उसके बन्ध का प्रसंग प्राप्त होता है। समाधान में धवलाकार ने कहा है कि शुद्ध नय के अभिप्राय से केवल तीन मूढताओं और आठ मलों से रहित होने पर ही दर्शनविशुद्धता नही होती, किन्तु उन गुणों के द्वारा अपने स्वरूप को पाकर स्थित सम्यग्दृष्टि साधुओं के लिए प्रासुक-परित्याग, साधु-समाधि का संधारण, उनकी वैयावृत्ति, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनविषयक प्रभावना और निरन्तर ज्ञानोपयोग में युक्तता—इनमें प्रवृत्त कराने का नाम दर्शनविशुद्धता है। इस एक ही दर्शनविशुद्धता से जीव तीर्थंकर कर्म को बाँध लेते हैं।

इसी प्रकार से आगे विनयसम्पन्नता आदि प्रत्येक कारण में अन्य कारणों को गर्भित करके उनमें से पृथक्-पृथक् प्रत्येक को तीर्थंकर कर्म के बन्ध का कारण माना गया है।

अन्त में विकल्प के रूप में धवलाकार ने यह भी कहा है—अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर शेष कारणों में से एक-दो आदि के संयोग से उसका बन्ध होता है, ऐसा कहना चाहिए (पु० ८, पृ० ७९-९१)।

इस प्रकार ओघप्ररूपणा के समाप्त होने पर सूत्रकार ने ओघ के समान आदेश की अपेक्षा उसी पद्धति से क्रमशः गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में विवक्षित कर्मों के बन्धक-अबन्धकों की भी प्ररूपणा की है।

इन सूत्रों की व्याख्या में धवलाकार ने इन्हें देशामर्शक कहकर पूर्व पद्धति के अनुसार यथासम्भव तेईस प्रश्नों का विवेचन किया है।

इस प्रकार यहाँ 'बन्धस्वामित्व विचय' नाम का तीसरा खण्ड समाप्त हो जाता है।

चतुर्थ खण्ड : वेदना

१. कृति अनुयोगद्वार

जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, षट्खण्डागम के चौथे खण्ड का नाम 'वेदना' है। इसमें कृति और वेदना नाम के दो अनुयोगद्वार हैं। उनमें कृति अनुयोगद्वार की अपेक्षा वेदना अनुयोगद्वार का अधिक विस्तार होने के कारण यह खण्ड 'वेदना' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अन्तर्गत प्रथम कृति-अनुयोद्वार के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा 'णमो जिणाणं' आदि ४४ सूत्रों से विस्तार से मंगल किया गया है। प्रथम सूत्र 'णमो जिणाणं' की व्याख्या में धवलाकार ने पूर्वसंचित कर्मों के विनाश को मंगल कहा है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि यदि पूर्वसंचित कर्मों का विनाश मंगल है तो जिन द्रव्यसूत्रों का या द्रव्यश्रुत का अर्थ जिन भगवान् के मुख से निकला है, जो विसंवाद से रहित होने के कारण केवलज्ञान के समान हैं, तथा जिनकी शब्द-रचना वृषभसेन आदि गणधरों के द्वारा की गयी है उनके अध्ययन-मनन में प्रवृत्त हुए सभी जीवों के प्रतिसमय असंख्यातगुणितश्रेणि से पूर्वसंचित कर्म की निर्जरा होती है; ऐसा विधान है। इस प्रकार पूर्वसंचित कर्म का विनाश जब श्रुत के अध्ययन-मनन से सम्भव है तब तो यह मंगलसूत्र निष्फल ठहरता है और यदि उस मंगलसूत्र को सफल माना जाता है तो उस स्थिति में सूत्र का अध्ययन निष्फल सिद्ध होता है, क्योंकि उससे उत्पन्न होनेवाला कर्मक्षयरूप कार्य इस मंगलसूत्र से ही उपलब्ध हो जाता है?

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है। कारण यह है कि सूत्र

के अध्ययन से सामान्य कर्मों की निर्जरा होती है, किन्तु प्रकृत मंगल के द्वारा उस सूत्र के अध्ययन में विघ्नों को उत्पन्न करनेवाले विशेष कर्मों का विनाश होता है। इस प्रकार दोनों का भिन्न विषय होने से उस मंगलसूत्र को निष्फल नहीं कहा जा सकता।

इस पर शंकाकार कहता है कि वैसी परिस्थितियों में भी मंगलसूत्र का प्रारम्भ करना निरर्थक ही रहता है, क्योंकि सूत्र के अध्ययन में विघ्नों को उत्पन्न करनेवाले उन विशेष कर्मों का विनाश भी सामान्य कर्मों के विरोधी उसी सूत्र के अभ्यास से सम्भव है। इसके उत्तर में धवला में कहा है कि वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि सूत्र एवं अर्थ के ज्ञान तथा उसके अभ्यास में विघ्न उत्पन्न करनेवाले कर्म जब तक नष्ट नहीं होंगे तब तक सूत्रार्थ का ज्ञान और अभ्यास ही सम्भव नहीं है।

एक अन्य शंका यह भी की गयी कि यदि जिनेन्द्रनमस्कार सूत्र के अध्ययन में आनेवाले विघ्नों का ही विनाश करता है तो जीवित के अन्त में—मरण के समय—उसे नहीं करना चाहिए? इसके परिहार में वहाँ कहा गया है वह जिनेन्द्रनमस्कार केवल विघ्नोत्पादक कर्मों का ही विनाश करता है, ऐसा नियम नहीं है। वह ज्ञान-चारित्र आदि अनेक सहकारी कारणों की सहायता से अनेक कार्यों को कर सकता है। अतः इसमें कुछ विरोध नहीं है। अपने उक्त अभिप्राय की पुष्टि में धवलाकार ने 'उक्तं च' सूचना के साथ इस पद्य को भी उद्धृत किया है—

एसो पंचणमोक्कारो सव्वपावप्पणासओ।
मंगलेसु अ सव्वेसु पढमं होदि मंगलं॥ [मूला० ७-१३]

और भी अनेक शंका-प्रतिशंकाओं का समाधान करते हुए धवलाकार ने विकल्प के रूप में यह भी कहा है—अथवा सूत्र का अभ्यास मोक्ष के लिए किया जाता है। वह मोक्ष कर्मनिर्जरा से होता है और वह कर्मनिर्जरा भी ज्ञान के अविनाभावी ध्यान और चिन्तन से होती है, तथा वह ध्यान और चिन्तन सम्यक्त्व के आश्रय से होता है। क्योंकि सम्यक्त्व से रहित ज्ञान और ध्यान असंख्यातगुणितश्रेणि निर्जरा के कारण नहीं हो सकते। सम्यक्त्व से रहित ज्ञान और ध्यान को यथार्थ में ज्ञान और ध्यान ही नहीं कहा जा सकता है, इसीलिए सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टियों के लिए ही सूत्र का व्याख्यान करना चाहिए। इस सबका परिज्ञान कराने के लिए यहाँ जिननमस्कार किया गया है (पु० ९, पृ० २-६)।

'जिन' विषयक निक्षेपार्थ

आगे धवला में अप्रकृत के निराकरणपूर्वक प्रकृत अर्थ की प्ररूपणा के लिए 'जिन' के विषय में निक्षेप कर जिन के चार भेद निर्दिष्ट किये हैं—नामजिन, स्थापनाजिन, द्रव्यजिन और भावजिन। धवला में इनके अवान्तरभेदों और स्वरूप का भी निर्देश है। पश्चात् वहाँ इन सब जिनों में से किसे नमस्कार किया गया है, इसे बतलाते हुए कहा है कि यहाँ तत्परिणत भावजिन और स्थापनाजिन को नमस्कार किया गया है।

इस प्रसंग में भावजिन के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आगमभावजिन और नोआगमभावजिन। इनमें जो जिनप्राभृत का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से युक्त होता है उसे आगमभावजिन कहा जाता है। नोआगमभावजिन उपयुक्त और तत्परिणत के भेद से दो प्रकार का है। जिनस्वरूप के ज्ञापक ज्ञान में जो उपयुक्त होता है वह उपयुक्तभावजिन कहलाता है तथा जो जिनपर्याय से परिणत होता है उसे तत्परिणत भावजिन कहा जाता है।

यहाँ यह शंका उठी है कि अनन्तज्ञान-दर्शन आदि एवं क्षायिकसम्यक्त्व आदि गुणों से परिणत जिन को भले ही नमस्कार किया जाय, क्योंकि उसमें देव का स्वरूप पाया जाता है, किन्तु गुण से रहित स्थापनाजिन को नमस्कार करना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें विघ्नोत्पादक कर्मों के विनाश करने की शक्ति नहीं है। इसके समाधान में कहा गया है कि जिन भगवान् अपनी वन्दना में परिणत जीवों के पाप के विनाशक तो हैं नहीं, क्योंकि वैसा होने पर उनकी वीतरागता के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। वे किसी भी जीव के पाप को नष्ट नहीं करते हैं, क्योंकि उस परिस्थिति में जिन को किया जानेवाला नमस्कार निरर्थक ठहरता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिनपरिणतभाव और जिनगुणपरिणाम ही पाप का विनाशक है, अन्य प्रकार से कर्म का क्षय घटित नहीं होता है। वह जिनपरिणतभाव अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणों के अध्यारोप के बल से जिनेन्द्र के समान स्थापनाजिन में भी सम्भव है। कारण यह है कि उन गुणों के अध्यारोप से स्थापनाजिन तत्परिणतभावजिन से एकता को प्राप्त है – उन गुणों का अध्यारोप करने से स्थापनाजिन तत्परिणतजिन से भिन्न नहीं है, इसलिए जिनेन्द्रनमस्कार भी पाप का विनाशक है (पु० ९, पृ० ६-७)।

आगे के सूत्र में अवधिजिनों को नमस्कार किया गया है। इसकी व्याख्या में धवलाकार ने बतलाया है कि यहाँ 'अवधि' से देशावधि की विवक्षा रही है, क्योंकि आगे (सूत्र ३-४) परमावधिजिनों व सर्वावधिजिनों को पृथक् से नमस्कार किया गया है। वह देशावधि जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्य-अनुत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है। प्रसंग पाकर धवला में देशावधि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय की प्ररूपणा है (पु० ९, पृ० १२-४०)।

इसी प्रकार से परमावधिजिनों के प्रसंग में परमावधि का और सर्वावधिजिनों का प्रसंग में सर्वावधि विषय का भी धवला में विवेचन है (पु० ९, पृ०४१-५३)।

आगे इन मंगलसूत्रों में कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोतृ एवं अष्टांगमहानिमित्त आदि जिन अनेक ऋद्धिविशेषों का उल्लेख है उन सभी के स्वरूप का धवला में प्रसंगानुसार प्रतिपादन हुआ है।

अन्तिम मंगलसूत्र (४४) में वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार किया गया है।

निबद्ध-अनिबद्ध मंगल

उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए धवला में यह शंका की गयी है कि मंगल के जो निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से दो प्रकार माने गये हैं उनमें से यह निबद्ध मंगल है या अनिबद्ध। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह निबद्ध मंगल नहीं है। कारण यह है कि उसकी प्ररूपणा गौतम स्वामी ने कृति-वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारोंस्वरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के प्रारम्भ में की है। वहाँ से लाकर उसे भूतबलि भट्टारक ने वेदनाखण्ड के आदि में स्थापित किया है। और वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तो है नहीं, क्योंकि अवयव के अवयवी होने का विरोध है। इसके अतिरिक्त भूतबलि गौतम भी नहीं हैं, क्योंकि वे विकल श्रुत के धारक होते हुए धरसेन आचार्य के शिष्य रहे हैं; जबकि गौतम सकलश्रुत के धारक होकर वर्धमान जिनेन्द्र के अन्तेवासी रहे हैं। इसके अतिरिक्त उक्त मंगल के निबद्ध होने का अन्य कोई कारण सम्भव नहीं है। इसलिए यह अनिबद्ध मंगल है।

आगे धवलाकार ने प्रकारान्तर से प्रसंगप्राप्त अन्य शंकाओं का समाधान करते हुए

वेदनाखण्ड को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, भूतवलि को गौतम और प्रकृत मंगल को निवद्ध मंगल भी सिद्ध कर दिया है।

इसी प्रसंग में यह भी पूछा गया है कि यह मंगल आगे के तीन खण्डों में से किस खण्ड का है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि यह तीनों खण्डों का मंगल है, क्योंकि वर्गणा और महाबन्ध इन दो खण्डों के प्रारम्भ में मंगल नहीं किया गया है, और भूतवलि भट्टारक मंगल के विना ग्रन्थ को प्रारम्भ करते नहीं हैं; क्योंकि वैसा करने पर उनके अनाचार्यत्व का प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रसंग में अन्य जो भी शंकाएँ उठायी गयी हैं उन सबका समाधान धवला में किया है। और यह सब मंगल-दण्डक देशामर्शक है, ऐसा वतलाकर यहाँ मंगल के समान निमित्त व हेतु आदि की प्ररूपणा भी उन्होंने संक्षेप में की है।

प्रमाण के प्रसंग में जीवस्थान के समान यहाँ भी उसे ग्रन्थ और अर्थ के प्रमाण से दो प्रकार का कहा है। उनमें ग्रन्थ की अपेक्षा अर्थात् अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा वह संख्यात है। अर्थ की अपेक्षा वह अनन्त है। प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है—अथवा खण्डग्रन्थ की अपेक्षा वेदना का प्रमाण सोलह हजार पद है, उनको जानकर कहना चाहिए।

अर्थकर्ता महावीर

कर्ता के प्रसंग में यहाँ भी जीवस्थानखण्ड के समान अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता के भेद से दो प्रकार के कर्ता की प्ररूपणा की गयी है। विशेषता यह रही है कि अर्थकर्ता भगवान् महावीर की प्ररूपणा यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अधिक की गयी है।[1]

यहाँ द्रव्यप्ररूपणा के प्रसंग में भगवान् महावीर के अतिशयित शरीर की और क्षेत्रप्ररूपणा के प्रसंग में समवसरण-मण्डल की प्ररूपणा भी की गयी है (पु० ९, पृ० १०७-१४)।

भावप्ररूपणा के प्रसंग में जीव की जडरूपता का निराकरण करते हुए उसे सचेतन सिद्ध किया गया है। साथ ही उसे ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, क्षमा व मार्दव आदि स्वभाववाला वतलाया गया है।

आगे कर्मों की नित्यता का निराकरण है। उन्हें सकारण सिद्ध किया गया है। तदनुसार मिथ्यात्व, असंयम और कषाय को उनका कारण कहा गया है। इनके विपरीत यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सम्यक्त्व, संयम और निष्कषायता उक्त कर्मों के विनाश के कारण हैं। इस प्रकार जीव के स्वाभाविक गुणों के रोधक उन मिथ्यात्व आदि में चूँकि हानि की तरतमता देखी जाती है, इससे सिद्ध होता है कि किसी जीव में उनका पूर्णतया विनाश भी सम्भव है। जिस जीव विशेष में उनका पूर्णतया विनाश हो जाता है उसके स्वाभाविक गुण भी पूर्ण रूप में प्रकट हो जाते हैं। जैसे—सुवर्णपाषाण अथवा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के उत्तरोत्तर मलिनता की हानि होने पर स्वाभाविक निर्मलता की उपलब्धि।[2]

---

१. धवला पु० १०७-१४; पु० १, पृ० ६०-७२

२. इस अभिप्राय की तुलना इन पद्यों से करने योग्य है—
दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो वहिरन्तर्मलक्षयः॥—आ० मी० ४ (शेष पृ० ४६२ पर देखें)

इस प्रसंग में एक यह भी शंका उठायी गयी है कि जिस प्रकार कषाय अथवा अज्ञान आदि में हानि की तरतमता देखी जाती है उसी प्रकार आवरण की भी तरतमता देखी जाती है, अतः वह आवरण किसी जीव के ज्ञान आदि को पूर्णतया आवृत कर सकता है, जैसे कि राहु द्वारा पूर्णतया चन्द्रमण्डल को आवृत कर लेना। उसके उत्तर में धवलाकार ने यही कहा है कि ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस परिस्थिति में यावद्द्रव्यभावी जीव के ज्ञान-दर्शनादि गुणों का अभाव होने पर जीवद्रव्य के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

उपर्युक्त शंका की असंगति प्रकट कर निष्कर्ष के रूप में धवलाकार ने कहा है कि इस प्रकार से जीव केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञानी, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शनी, मोहनीय के क्षय से वीतराग और अन्तराय के क्षय से अनन्त बलवाला सिद्ध होता है (पु० ६, पृ० ११४-१८)।

आगे 'उपर्युक्त द्रव्य, क्षेत्र और भाव की प्ररूपणाओं के संस्कारार्थ काल की प्ररूपणा की की जानी है' इस सूचना के साथ धवला में पहले यह निर्देश किया है कि इस भरतक्षेत्र में अवसर्पिणीकाल के चौथे भेदभूत दुःषमासुषमाकाल में नौ दिन और छह मास से अधिक तेतीस वर्ष के शेष रह जाने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई है। धवलाकार ने इसे और स्पष्ट किया है। तदनुसार चौथे काल में पचहत्तर वर्ष आठ मास और पन्द्रह दिन के शेष रह जाने पर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन भगवान् महावीर पुष्पोत्तर विमान से बहत्तर वर्ष की आयु लेकर गर्भ में अवतीर्ण हुए।[1] इसमें उनका कुमारकाल तीस वर्ष, छद्मस्थकाल बारह वर्ष और केवलीकाल तीस वर्ष रहा है। इन तीनों कालों के योगरूप बहत्तर वर्ष को चतुर्थकाल में शेष रहे उपर्युक्त पचत्तर वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन में से कम कर देने पर तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहते हैं। यह भगवान् महावीर के मुक्त हो जाने पर चतुर्थ काल में शेष रहे काल का प्रमाण है। इसमें छ्यासठ दिन कम केवलिकाल मिला देने पर नौ दिन और छह मास अधिक तेतीस वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहते हैं। चतुर्थ काल में इतने काल के शेष रह जाने पर महावीर जिनेन्द्र के द्वारा तीर्थ की उत्पत्ति हुई। इसे एक दृष्टि में इस प्रकार लिया जा सकता है—

धियां तरतमार्थवद्गतिसमन्वयान्वीक्षणात्
भवेत् खपरिमाणवत् क्वचिदिह प्रतिष्ठा-परा।
प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निर्मूलात् क्वचित्
तथायमपि युज्यते ज्वलनवत् कषायक्षयः॥

—पात्रकेसरिस्तोत्र १८

१. भगवान् महावीर के गर्भावतरण का यही काल आचारांग (द्वि० श्रुतस्कन्ध) में भी इसी प्रकार निर्दिष्ट किया गया है। विशेष इतना है कि वहाँ आयुप्रमाण का कुछ उल्लेख नहीं किया गया है यथा—

"××× दूसमसुसमाए समाए बहु विइक्कंताए पन्नहत्तरीए वासेहि मासेहि य अद्धनवमेहि सेसेहि जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढ-सुद्धस्स छट्ठी पक्खेण हत्थुत्तराहि नक्खत्तेणं······कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते।"

—आचा० द्वि० श्रुत० चूलिका ३ (भावना) पृ० ८७७-७८

		वर्ष	मास	दिन
महावीरजिन के गर्भ में आने के पूर्व शेष चतुर्थ काल		७५	८	१५
महावीर की आयु (कु० ३०+छ० १२+के० ३०)	—	७२	०	०
महावीर के मुक्त होने पर शेष चतुर्थ काल	=	३	८	१५
केवली काल		३०	०	०
उसमें दिव्यध्वनि ६६ दिन नहीं प्रवृत्त हुई	—	०	२	६
	=	२९	९	२४
मुक्त होने पर शेष रहा चतुर्थ काल		३	८	१५
दिव्यध्वनि से सहित केवलिकाल	+	२९	९	२४
इतने चतुर्थ काल के शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई	=	३३	६	९

यहाँ शंका की गयी है कि केवलिकाल में से ६६ दिन (२ मास, ६ दिन) किस लिए कम किये जा रहे हैं। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी उतने समय तक दिव्यध्वनि के प्रवृत्त न होने से तीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई। इतने काल तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं प्रवृत्त हुई, यह पूछे जाने पर कहा गया है कि गणधर के उपलब्ध न होने से उतने काल तक दिव्यध्वनि प्रवृत्त नहीं हुई। इस पर पुनः यह पूछा गया है कि सौधर्म इन्द्र उसी समय गणधर को क्यों नहीं ले आया। उत्तर में कहा गया है कि काललब्धि के बिना वह उसके पूर्व लाने में असमर्थ रहा।[1]

मतान्तर

यह भी स्पष्ट किया गया है कि अन्य कितने ही आचार्य महावीर जिनेन्द्र की आयु बहत्तर वर्ष में पाँच दिन और आठ मास कम (७१ वर्ष, ३ मास, २५ दिन) बतलाते हैं। धवला में गर्भस्थकाल, कुमारकाल, छद्मस्थकाल और केवलिकाल का इस प्रकार भी प्ररूपण है। तदनुसार भगवान् महावीर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी के गर्भ में आये। वहाँ नौ मास आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन गर्भ से निष्क्रान्त हुए। पश्चात् अट्ठाईस वर्ष, सात मास और बारह दिन कुमार-अवस्था में रहकर वे मगसिर कृष्णा दशमी के दिन दीक्षित हुए। अनन्तर बारह वर्ष, पाँच मास, पन्द्रह दिन छद्मस्थ अवस्था में रहे। पश्चात् उन्हें वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जृंभिका ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के किनारे षष्ठोपवास के साथ आतापनयोग से शिलापट्ट पर स्थित रहते हुए अपराह्न में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अनन्तर केवलज्ञान के साथ उन तीस वर्ष, पाँच मास और बीस दिन रहकर वे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन निर्वाण को प्राप्त हुए। समस्त योग—

१. धवला पु० ९, पृ० ११९-२१

	वर्ष	मास	दिन
गर्भस्थकाल	०	६	८
कुमारकाल	२८	७	१२
छद्मस्थकाल	१२	५	१५
केवलिकाल	२९	५	२०
समस्त आयु	७१	३	२५

तीर्थंकर महावीर के इस गर्भस्थकाल आदि का विवेचन आचारांग में भी प्रायः इसी प्रकार पाया जाता है जो प्रथम मत के अनुसार दिखाई देता है। तिथियां वे ही हैं। किन्तु वहाँ पृथक्-पृथक् वर्ष, मास और दिनों का योग नहीं प्रकट किया है। समस्त आयु उनकी कितनी रही है इसे भी वहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है।[1]

धवला में जो भगवान् महावीर के उपर्युक्त गर्भादि कालों की प्ररूपणा की गयी है उसकी पुष्टि वहाँ पृथक्-पृथक् 'एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ' इस निर्देश के साथ कुछेक प्राचीन गाथाओं को उद्धृत करते हुए की गयी है।

अन्त में वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि इन दो उपदेशों में यहां यथार्थ कौन है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है—"इस विषय में एलाचार्य का बच्चा—उनका शिष्य मैं वीरसेन—अपनी जीभ को नहीं चलाता हूँ, अर्थात् कुछ कह नहीं सकता हूँ।" कारण यह है कि इस सम्बन्ध में कुछ उपदेश प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त उन दोनों में से किसी एक में कुछ बाधा भी नहीं दिखती है। किन्तु दोनों में एक कोई यथार्थ होना चाहिए। उसका कथन जानकर ही निर्णय कर लेना चाहिए।[2]

ग्रन्थकर्ता गणधर

सर्वप्रथम यहाँ धवलाकार ने 'संपहि गंथकत्तार परूवणं कस्सामो' कहकर ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा करने की सूचना दी है।

इस प्रसंग में यहाँ यह शंका की गयी है कि वचन के बिना अर्थ का व्याख्यान सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थों की प्ररूपणा संकेत से नहीं जा सकती है। अनक्षरात्मक ध्वनि द्वारा भी अर्थ का व्याख्यान घटित नहीं होता है, क्योंकि अनक्षरात्मक भाषा वाले तिर्यंचों को छोड़कर अन्य प्राणियों को उससे अर्थावबोध होना शक्य नहीं है। दूसरे दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक ही हो, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह अठारह भाषाओं और सात सौ कुभाषाओंस्वरूप है। इसलिए जो अर्थकर्ता है वही ग्रन्थ का प्ररूपक है। अतः ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा अलग से करना उचित नहीं।

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जिसमें शब्दरचना तो संक्षिप्त होती है, पर जो अनन्त अर्थ के अवबोध के कारणभूत अनेक लिंगों से संयुक्त होता है उसका नाम बीजपद है। द्वादशांगात्मक अठारह भाषाओं और सात-सौ कुभाषाओं रूप उन अनेक बीजपदों का जो प्ररूपक होता है वह

---

१. आचारांग द्वि०श्रु० (भावना चूलिका) पृ० ८७७-८८
२. धवला पु० ९, पृ० १२१-२६

अर्थकर्ता कहलाता है। और, जो उन बीजपदों में गर्भित अर्थ के प्ररूपक उन बारह अंगों की रचना करता है वह गणधर होता है, उसे ही ग्रन्थकर्ता माना गया है। तात्पर्य यह है कि बीजपदों का व्याख्याता ग्रन्थकर्ता कहा जाता है। इस प्रकार अर्थकर्ता से पृथक् ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा करना उचित ही है (पु० ६, पृ० १२६-२७)।

दिव्यध्वनि

प्रसंग के अनुसार यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से दिव्यध्वनि के विषय में कुछ विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने अर्हन्त जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि की विशेषता को प्रकट करते हुए कहा है—

> तव वागमृतं श्रीमत् सर्वभाषास्वभावकम्।
> प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि॥—स्वयम्भू० ९६

अर्थात् हे भगवन्! आपका वचनरूप अमृत (दिव्यवाणी) समस्त भाषारूप में परिणत होकर समवसरणसभा में व्याप्त होता हुआ प्राणियों को अमृतपान के समान प्रसन्न करता है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अरहन्त की दिव्यवाणी को समस्त भाषा रूप कहा है।[1]

यह दिव्यवाणी इच्छा के बिना ही प्रादुर्भूत होती है, समन्तभद्राचार्य ने इसे भी स्पष्ट किया है—

> काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
> नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्॥—स्वयम्भू० ७४
> अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
> ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ८

तदनुसार समस्त भाषास्वरूप परिणत होनेवाली इस दिव्यध्वनि को अतिशयरूप ही समझना चाहिए, जिसे आ० समन्तभद्र ने 'धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्' शब्दों में व्यक्त भी कर दिया है।

तिलोयपण्णत्ती में तो, तीर्थंकरों के केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रकट होने वाले ग्यारह अतिशयों के अन्तर्गत ही उसका उल्लेख है। धवला की तरह तिलोयपण्णत्ती में भी यह स्पष्ट किया गया है कि संज्ञी जीवों की जो अक्षर-अनक्षरात्मक समस्त अठारह भाषाएँ और सात सौ क्षुद्र भाषाएँ हुआ करती हैं उनमें यह दिव्यवाणी तालु, दन्त, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर प्रकृति से—इच्छा के बिना स्वभावतः—तीनों सन्ध्याकालों में नौ मुहूर्त निकलती है, शेष समयों में वह गणधरादि कुछ विशिष्ट जनों के प्रश्नानुरूप भी निकलती है।[2]

विशेषता यहाँ यह रही है कि धवला में जहाँ उन भाषाओं का उल्लेख अठारह भाषाओं और सात सौ कुभाषाओं के रूप में किया गया है वहाँ तिलोयपण्णत्ती में उनका उल्लेख अठारह

---

१. यही अभिप्राय भक्तामर-स्तोत्र में भी इस प्रकार व्यक्त किया गया है—
स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थ-सर्वभाषास्वभावपरिणामगुणप्रयोज्यः॥—भक्तामर, ३५

२. ति० प० ४, ८९९-९०६ (इसके पूर्व गाथा १-७४ भी द्रष्टव्य है)।

महाभाषाओं और सात सौ क्षुद्रभाषाओं के रूप में किया गया है।

कल्याणमन्दिर-स्तोत्र (२१) में दिव्यवाणी को हृदयरूप समुद्र से उद्भूत अमृत[1] कहा गया है। इसे औपचारिक कथन समझना चाहिए, क्योंकि वह हृदय या अन्तःकरण की प्रेरणा से नहीं उत्पन्न होती।

स्वयं धवलाकार आ० वीरसेन ने 'कषायप्राभृत' की टीका जयधवला (पु० १, पृ० १२६) में दिव्यध्वनि की विशेषता को प्रकट करते हुए उसे समस्त भाषारूप, अक्षर-अनक्षरात्मक, अनन्त अर्थ से गर्भित बीजपदों से निर्मित, तीनों सन्ध्यायों में निरन्तर छह घड़ी तक प्रवृत्त रहने वाली तथा अन्य समयों में संशयादि को प्राप्त गणधर के प्रति स्वभावतः प्रवृत्त होनेवाली कहा है।

यह अभिप्राय प्रायः तिलोयपण्णत्ती के ही समान है। अन्तर मात्र यह है कि तिलोयपण्णत्ती में जहाँ उसके प्रवर्तन का काल नौ घड़ी कहा गया है वहाँ जयधवला में उसके प्रवर्तन का यह काल छह घड़ी बतलाया है। इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती में गणधर के अतिरिक्त इन्द्र और चक्रवर्ती का भी उल्लेख है, जबकि जयधवला में एकमात्र गणधर का ही निर्देश किया गया है।

वर्धमानजिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता

सामान्य से ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा में गणधर की अनेक विशेषताओं के उल्लेख[2] के बाद 'संपहि वड्ढमाणतित्थगंथकत्तारो वुच्चदे' सूचनापूर्वक धवला में यह गाथा कही गयी है—

> पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वयापंच।
> अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य॥

इस गाथा को प्रस्तुत कर 'को होदि' सौधर्म इन्द्र के इस प्रश्न से जिसे सन्देह उत्पन्न हुआ है तथा जो पाँच-पाँच सौ शिष्यों से सहित अपने तीन भाईयों से वेष्टित रहा है वह गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण जब इन्द्र के साथ समवसरण के भीतर प्रविष्ट हुआ तब वहाँ मानस्तम्भ के देखते ही उसका सारा अभिमान नष्ट हो गया। परिणामस्वरूप उसकी आत्मशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी जिससे असंख्यात भवों में उपार्जित उसका गुरुतर कर्म नष्ट हो गया। उसने तीन प्रदक्षिणा देते हुए जिनेन्द्र की वन्दना की और संयम को ग्रहण कर लिया। तब उसके विशुद्धि के बल से अन्तर्मुहूर्त में ही उसमें गणधर के समस्त लक्षण प्रकट हो गये। उसने जिन भगवान् के मुख से निकले हुए बीजपदों के रहस्य को जान लिया। इस प्रकार श्रावणमास के कृष्णपक्ष में युग के आदिभूत प्रतिपदा के दिन उसने आचारादि बारह अंगों और सामायिक-चतुर्विंशति आदि चौदह प्रकीर्णकों रूप अंगबाह्यों की रचना कर दी। इस भाँति इन्द्रभूति भट्टारक वर्धमान जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए।[3]

---

१. पूर्वोक्त स्वयम्भूस्तोत्र (९६) में भी प्रकृत दिव्यवाणी को अमृतस्वरूप ही निर्दिष्ट किया गया है।

२. धवला पु० ९, पृ० १२७-२८

३. धवला पु० ९, पृ० १२९-३०

उत्तरोत्तरतन्त्रकर्ता

धवला में यहाँ उत्तरोत्तरतन्त्रकर्ता की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में जो श्रुतावतार की चर्चा की गयी है वह लगभग उसी प्रकार की है जिस प्रकार इसके पूर्व जीवस्थान-खण्ड के अवतार के प्रसंग में की जा चुकी है।[1]

विशेषता यहाँ मात्र इतनी है कि तीर्थंकर महावीर के मुक्त होने पर जो केवली, श्रुतकेवली और अंग-पूर्वधरों की परम्परा चलती आयी है उसकी प्ररूपणा के प्रसंग में यहाँ उनके काल का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख है जो कुल मिलाकर ६८३ वर्ष होता है।[2]

शक नरेन्द्र का काल

उपर्युक्त ६८३ वर्षों में ७७ वर्ष व ७ मास (शक राजा का काल) के कम कर देने पर ६०५ वर्ष व ५ मास शेष रहते हैं। वीर जिनेन्द्र के निर्वाण को प्राप्त होने के दिन से यह शक राजा के काल का प्रारम्भ है।

इस विषय में यहाँ दो अन्य मतों का भी उल्लेख किया गया है। प्रथम मत के अनुसार वीर-निर्वाण के पश्चात् १४७९३ वर्षों के बीतने पर शक नृप उत्पन्न हुआ। दूसरे मत के अनुसार वह वीर-निर्वाण से ७९९५ वर्ष और ५ मास के बीतने पर उत्पन्न हुआ। उपर्युक्त तीनों मतों की पुष्टि वहाँ तीन गाथाओं को उद्धृत करते हुए की गयी है।

तिलोयपण्णत्ती में भी शक नृप की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत पाये जाते हैं। यथा—

(१) वह वीरनिर्वाण के पश्चात् ४६१ वर्षों के बीतने पर उत्पन्न हुआ। (गा० ४-१४९७)

(२) वह वीरनिर्वाण के पश्चात् ९७८५ वर्ष और ५ मास के बीतने पर उत्पन्न हुआ। (गा० ४-१४९७)

(३) वह वीरनिर्वाण के पश्चात् १४७९३ वर्षों के बीतने पर उत्पन्न हुआ। (गा० ४-१४९८)

(४) वह वीरनिर्वाण के पश्चात् ६०५ वर्ष और ५ मास के बीतने पर उत्पन्न हुआ। (गा० ४-१४९९)

इनमें प्रथम मत धवला से सर्वथा भिन्न है। दूसरे मत के अनुसार धवला में निर्दिष्ट ७९९५ वर्षों की अपेक्षा यहाँ ९७८५ वर्ष हैं। शेष दो मत दोनों ग्रन्थों में समान हैं।

इन मतभेदों के विषय में धवलाकार ने इतना मात्र कहा है कि इन तीन में कोई एक होना चाहिए, तीनों उपदेश सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें परस्पर विरोध है। इसलिए जानकर कहना चाहिए (पु० ९, पृ० १३१-३३)।

पूर्वश्रुत से सम्बन्ध

इस प्रकार कुछ प्रासंगिक चर्चा के पश्चात् प्रकृत की प्ररूपणा करते हुए धवला में कहा गया है कि लोहार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर आचारांगरूप सूर्य अस्त हो गया। भरत क्षेत्र में बारह अंगों के लुप्त हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्जदोस और महा-

---

१. धवला पु० ९, पृ० १३४-२३१ तथा पु० १, पृ० ७२-१३०

२. धवला पु० ९, पृ० १३०-३१

कम्मपयडिपाहुड आदि के धारक रह गये। इस प्रकार प्रमाणीभूत महर्षियों की परम्परारूप प्रणाली से आकर महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूप अमृत-जल का प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। उन्होंने भी सम्पूर्ण महाकर्मप्रकृतिप्राभृत को गिरिनगर की चन्द्रगुफा में भूतवलि और पुष्पदन्त को समर्पित कर दिया। भूतवलि भट्टारक ने श्रुतविच्छेद के भय से महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपसंहार कर छह खण्ड किये। इस प्रकार प्रमाणीभूत आचार्यपरम्परा से आने के कारण प्रकृत षट्खण्डागम ग्रन्थ प्रत्यक्ष व अनुमान के विरोध से रहित है, अतः प्रमाण है।

आगे सूत्रकार ने प्रकृत ग्रन्थ का सम्बन्ध अंग-पूर्वश्रुत में किससे किस प्रकार रहा है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि अग्रायणीय पूर्वगत चौदह 'वस्तु' नामक अधिकारों में पाँचवाँ 'चयनलब्धि' नाम का अधिकार है। उसके अन्तर्गत वीस प्राभृतों में चौथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है। उसमें ये चौवीस अनुयोगद्वार हैं—(१) कृति, (२) वेदना, (३) स्पर्श, (४) कर्म, (५) प्रकृति, (६) वन्धन, (७) निवन्धन, (८) प्रक्रम, (६) उपक्रम, (१०) उदय, (११) मोक्ष, (१२) संक्रम, (१३) लेश्या, (१४) लेश्याकर्म, (१५) लेश्यापरिणाम, (१६) सात-असात, (१७) दीर्घ-ह्रस्व, (१८) भवधारणीय, (१६) पुद्गलात्त, (२०) निधत्त-अनिधत्त, (२१) निकाचित-अनिकाचित, (२२) कर्मस्थिति, (२३) पश्चिमस्कन्ध और (२४) अल्पवहुत्व।—सूत्र ४५ (पु० ६)

ग्रन्थावतार

इस सूत्र की व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि सव ग्रन्थों का अवतार उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय के भेद से चार प्रकार का होता है। इन सवकी यथाक्रम से प्ररूपणा यहाँ उसी प्रकार है, जिस प्रकार इसके पूर्व जीवस्थान के अवतार के प्रसंग में की जा चुकी है।[1] विशेषता यहाँ यह रही है कि उपक्रम के आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार इन पाँच भेदों में जो तीसरा भेद प्रमाण है उसके यहाँ नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण ये छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं, जवकि जीवस्थान के प्रसंग में प्रथमतः वहाँ ये पाँच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाण। वैसे वहाँ भी विकल्प रूप में उपर्युक्त छह भेदों का निर्देश है।[2]

प्रसंगवश जीवस्थान में यह शंका भी उठायी गयी है कि नयों के प्रमाणरूपता कैसे सम्भव है। धवलाकार ने इसके उत्तर में कहा है कि नय चूँकि प्रमाण के कार्य हैं, इसलिए उनके उपचार से प्रमाण होने में कोई विरोध नहीं है।

अवतार के तीसरे भेदभूत अनुगम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जहाँ या जिसके द्वारा वक्तव्य—वर्णनीय विषय—की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम अनुगम है। जम्हि जेण वा वत्तव्वं परूविज्जदि सो अणुगमो। इस लक्षण के अनुसार उससे अधिकार नामक अनुयोगद्वारों के अन्तर्गत अवान्तर अधिकारों को ग्रहण किया गया है। जैसे—'वेदना' अधिकार के अन्तर्गत पदमीमांसा आदि।[3]

आगे विकल्प के रूप में यह भी कहा गया है—अथवा अनुगम्यन्ते जीवादयः पदार्थाः

---

१. धवला पु० १, पृ० ७२-१३० और पु० ६, पृ० १३४-२३१

२. धवला पु० १, पृ० ८०-८२ व पु० ६, पृ० १३८-४०

३. पु० १०, पृ० १८, सूत्र १ तथा पु० ११, पृ० १, सूत्र १-२ व ७३-७५

अनेनेत्यनुगमः। अर्थात् जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ जाने जाते हैं उसका नाम अनुगम है। इस निरुक्ति के अनुसार 'अनुगम' से प्रमाण विवक्षित रहा है। इस 'प्रमाण' से भी यहाँ निर्बाध संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय से रहित— बोध से युक्त आत्मा का अभिप्राय रहा है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई कि ज्ञान को ही प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि 'जानाति परिछिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानम् आत्मा' इस निरुक्ति के अनुसार ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही प्रमाण माना गया है। स्थिति से रहित उत्पाद-व्ययस्वरूप ज्ञानपर्याय को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। कारण यह है कि उत्पाद, व्यय और स्थिति इन तीन लक्षणों के अभाव में उसमें अवस्तुरूपता है, अतः उसमें परिच्छेदनरूप अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त स्थिति के बिना स्मृति-प्रत्यभिज्ञानादि के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है (पु० ९, पृ० १४१-४२)।

प्रमाण के प्रसंग में यहाँ उसके मूल में प्रत्यक्ष और परोक्ष इन भेदों का निर्देश है। इनमें प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—सकलप्रत्यक्ष और विकलप्रत्यक्ष। इनमें केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष और अवधि व मनःपर्ययज्ञान को विकलप्रत्यक्ष कहा गया है (पृ० १४२-४३)।

इस प्रकार संक्षेप में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप दिखलाकर परोक्ष के भेदभूत मति और श्रुत इन दो ज्ञानों की विस्तार से प्ररूपणा की गयी है।

तीसरे विकल्प के रूप में पूर्वोक्त अनुगम का स्वरूप प्रकट करते हुए धवला में यह भी कहा गया है 'अथवा अनुगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इत्यनुगमाः षड्द्रव्याणि'। इस निरुक्ति के अनुसार, जो जाने जाते हैं उन ज्ञान के विषयभूत छह द्रव्य अनुगम कहे जाते हैं (पु० ९, पृ० १६२)।

नयविवरण

पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थावतार के इन चार भेदों में उपक्रम, निक्षेप और अनुगम इन तीन भेदों की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् उनके चौथे भेदभूत नय की प्ररूपणा भी धवला में विस्तार से हुई है (पु० ९, पृ० १६२-८३)।

यहाँ प्रारम्भ में लघीयस्त्रय की 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः युक्तितोऽर्थपरिग्रहः' इस कारिका (५२) को लक्ष्य में रखकर तदनुसार धवलाकार ने ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। आगे इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने उक्त कारिका के अन्तर्गत 'युक्तितोऽर्थपरिग्रहः' इस अंश को लेकर उसमें 'युक्ति' का अर्थ प्रमाण करके 'अर्थ' से उन्होंने परिपूर्ण वस्तु के अंशभूत द्रव्य और पर्याय में से विवक्षा के अनुसार किसी एक को ग्रहण किया है। तदनुसार, वक्ता के अभिप्राय के अनुसार प्रमाण की विषयभूत द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु के इन दोनों अंशों में से जो एक को प्रमुखता से ग्रहण किया जाता है उसे नय कहते हैं।

इसी प्रसंग में धवलाकार ने यह कहा है कि कितने ही विद्वान् प्रमाण को ही नय कहते हैं। पर उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि वैसा होने पर नयों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। और नयों का अभाव होना सम्भव नहीं है, अन्यथा लोक में एकान्त का जो समस्त व्यवहार देखा जाता है वह लुप्त हो जाएगा।

दूसरे, प्रमाण को नय इसलिए भी नहीं कहा जा सकता है कि उसका विषय अनेकात्मक वस्तु है, जबकि नय का विषय एकान्त है। इसी विषयभेद के कारण नय को प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रमाण केवल विधि को ही विषय नहीं करता है, क्योंकि

अन्यव्यावृत्ति (प्रतिषेध) के बिना उसकी प्रवृत्ति में संकरता का प्रसंग अनिवार्य होगा। दूसरे, उस परिस्थिति में वस्तु का जानना न जानने के समान ही रहनेवाला है। वह प्रतिषेध को ही विषय करे, यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि विधि को जाने बिना 'यह इससे भिन्न है' इसका जानना शक्य नहीं है। और विधि व प्रतिषेध भिन्न रूप में दोनों ही प्रतिभासित हों, यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में दोनों के विषय में पृथक्-पृथक् उद्भावित दोषों का प्रसंग प्राप्त होनेवाला है। इससे सिद्ध है कि प्रमाण का विषय विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु है। इसलिए न तो प्रमाण को नय कहा जा सकता है और न नय को भी प्रमाण कहा जा सकता है।

आगे धवलाकार ने 'प्रमाण-नयैरधिगमः' इस तत्त्वार्थसूत्र (१-६) के साथ अपने अभिमत का समर्थन करते हुए कहा है कि हमारा यह व्याख्यान उस सूत्र के साथ भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है। कारण यह है कि प्रमाण और नय से जो वाक्य उत्पन्न होते हैं वे उपचार से प्रमाण और नय हैं। और उनसे जो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी यद्यपि विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु को विषय करने के कारण प्रमाणरूपता को प्राप्त है, फिर भी कार्य में कारण के उपचार से उसे भी सूत्र में प्रमाण और नय रूप में ग्रहण किया गया है। नय वाक्य से उत्पन्न होनेवाला बोध प्रमाण ही है, वह नय नहीं है; इसके ज्ञापनार्थ सूत्र में 'उन दोनों से वस्तु का अधिगम होता है' ऐसा कहा जाता है।

विकल्प के रूप में धवला में यह भी कहा गया है—अथवा जिसने बोध को प्रधान किया है उस पुरुष को प्रमाण और जिसने उस बोध को प्रधान नहीं किया है उस पुरुष को नय जानना चाहिए। अधिगम वस्तु का ही किया जाता है अवस्तु नहीं, यह स्वीकार करना चाहिए; अन्यथा प्रमाण के भीतर प्रविष्ट हो जाने से नय के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है (पु० ९, पृ० १६२-६४)।

इस प्रकार नय के प्रसंग में विविध प्रकार से उसके स्वरूप का निरूपण कर धवलाकार ने उसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो मूल भेदों के साथ तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट नैगमादि सात नयों के विषय में दार्शनिक दृष्टि से पर्याप्त विचार किया है।[1]

नय की विस्तार से प्ररूपणा के पश्चात् धवलाकार ने इस देशामर्शक सूत्र (४,१,४५) के द्वारा कर्मप्रकृतिप्राभृत के इन उपक्रमादि चारों अवतारों की प्ररूपणा की है यथा—

सूत्र में "अग्रायणीय पूर्व के अन्तर्गत पांचवें 'वस्तु' अधिकार के चौथे प्राभृत का नाम कर्मप्रकृति है। उसमें चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं" ऐसा जो कहा गया है उसके द्वारा पांच प्रकार के उपक्रम की प्ररूपणा है। यह उपक्रम शेष तीन अवतारों का उपलक्षण है, इसलिए उनकी भी प्ररूपणा यहां देखना चाहिए, क्योंकि वह उन तीन का अविनाभावी है। यह अग्रायणीयपूर्व ज्ञान, श्रुत, अंग, दृष्टिवाद, पूर्व और पूर्वोक्त कर्मप्रकृति के भेद से छह प्रकार का है। कारण यह कि वे छहों पूर्व-पूर्व के अन्तर्गत हैं, इसलिए यहां शिष्यों की बुद्धि को विकसित करने के लिए उन छहों के विषय में पृथक्-पृथक् चार प्रकार के अवतार की प्ररूपणा की जाती है। तदनुसार यहां आगे धवला में ज्ञानादि छह के विषय में यथाक्रम से उक्त चार प्रकार के अवतार की प्ररूपणा हुई है (पु० ९, पृ० १८४-२३१)।

---

१. नय के विविध लक्षणों की जानकारी के लिए 'जैन लक्षणवली' भा० ३, प्रस्तावना पृ० ११-१४ में 'नय' के प्रसंग को देखना चाहिए।

तत्पश्चात् उन कृति-वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारों में प्ररूपित विषय का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है।

कृतिविषयक प्ररूपणा

आगे कृति के नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति इन सात भेदों में से आगमद्रव्यकृति के प्रसंग में सूत्रकार द्वारा उसके इन नौ अर्थाधिकारों का निर्देश है—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम (सूत्र ५४)।

इन सब का स्वरूप स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने वाचनोपगत अर्थाधिकार के प्रसंग में वाचना के इन चार भेदों का निर्देश किया है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। जिस व्याख्या में अन्य दर्शनों को पूर्वपक्ष में करके, उनका निराकरण करते हुए अपना पक्ष स्थापित किया जाता है उसका नाम नन्दा-वाचना है। युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वापरविरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्त के अन्तर्गत समस्त विषयों की व्याख्या का नाम भद्रा-वाचना है। पूर्वापर विरोध का परिहार न करके सिद्धान्तगत अर्थों का कथन करना जया-वाचना कहलाती है। कहीं-कहीं पर स्खलित होते हुए जो व्याख्या की जाती है उसे सौम्या-वाचना कहते हैं (पु० ६, पृ० २५१-५२)।

स्वाध्यायविधि

इस प्रकार इन चार वाचनाओं का स्वरूप दिखलाकर धवला में आगे कहा गया है कि जो तत्त्व का व्याख्यान करते हैं अथवा उसे सुनते हैं उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक ही व्याख्यान करना व पढ़ना चाहिए।

शरीर में ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, दुःस्वप्न, रुधिर, मल, मूत्र, लेप, अतीसार, पीव आदि का न रहना द्रव्यशुद्धि है। जिस स्थान में व्याख्याता अवस्थित है उस स्थान से अट्ठाईस (७×४) हजार आयत चारों दिशाओं में मल, मूत्र, हड्डी, बाल, नाखून, चमड़ा आदि का न रहना; इसका नाम क्षेत्रशुद्धि है। स्वाध्याय के समय बिजली, इन्द्रधनुष, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघाच्छादित आकाश, दिशादाह, कुहरा, संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वरजिनमहिमा इत्यादि के न होने पर कालशुद्धि होती है।

कालशुद्धि के प्रसंग में उसके विधान की प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने कहा है कि पश्चिमरात्रि के स्वाध्याय को समाप्त करके बाहर निकले व प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के परिवर्तनकाल से पूर्वदिशा को शुद्ध करे। पश्चात् प्रदक्षिणक्रम से पलटकर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा को शुद्ध करने पर छत्तीस (९×४) गाथाओं के उच्चारणकाल से अथवा एक सौ आठ उच्छ्वासकाल से कालशुद्धि पूर्ण होती है। अपराह्ण में भी इसी प्रकार से कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि इसमें काल का प्रमाण सात-सात गाथाएँ हैं। इस प्रकार सब गाथाओं का प्रमाण अट्ठाईस (७×४) अथवा चौरासी उच्छ्वास होता है। सूर्य के अस्तंगत होने के पूर्व क्षेत्रशुद्धि करके, उसके अस्तंगत हो जाने पर कालशुद्धि पूर्व के समान करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस (५×४) गाथाओं के उच्चारण अथवा साठ उच्छ्वास मात्र रहता है। अपररात्रि

में वाचना निषिद्ध है, क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का उपाय नहीं रहता।

अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानी, समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाशस्थित चारण और मेरु व कुलाचल के मध्य में स्थित चारण; इनके लिए अपररात्रिवाचना निषिद्ध नहीं है, क्योंकि ये क्षेत्रशुद्धि से निरपेक्ष होते हैं।

जो राग, द्वेष, अहंकार व आर्त-रौद्रध्यान से रहित होकर पाँच महाव्रतों से सहित, तीन गुप्तियों से सुरक्षित तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदि आचार से वृद्धिगत होता है उस भिक्षु के भावशुद्धि हुआ करती है।

इस प्रसंग में धवलाकार ने 'अत्रोपयोगिश्लोकाः' इस सूचना के साथ २५ श्लोकों को उद्धृत किया है। इन श्लोकों में कब स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, क्षेत्रशुद्धि कहाँ-किस प्रकार करना चाहिए, अष्टमी व पौर्णमासी आदि के दिन अध्ययन करने से गुरु-शिष्य को क्या हानि उठानी पड़ती है, किस परिस्थिति में स्वाध्याय समाप्त करना चाहिए, तथा वाचना समाप्त अथवा प्रारम्भ करते समय कब कितनी पादछाया रहना चाहिए; इत्यादि का विशद विवेचन है (धवला पु० ९, पृ० २५३-५९)।

मूलाचार में भी आठ प्रकार के ज्ञानाचार के प्रसंग में कालाचार की प्ररूपणा करते हुए स्वाध्याय कब करना चाहिए, स्वाध्याय को प्रारम्भ व समाप्त करते समय पूर्वाह्न व अपराह्न में कितनी जंघच्छाया रहना चाहिए, आषाढ़ व पौष मास में किस प्रकार से उस छाया में हानि-वृद्धि होती है, स्वाध्याय के समय दिग्विभाग की शुद्धि के लिए पूर्वाह्न, अपराह्न व प्रदोषकाल में कितनी गाथाओं का परिमाण रहता है, स्वाध्याय के समय दिशादाह आदि किन दोषों को छोड़ना चाहिए तथा द्रव्य, क्षेत्र व भाव की शुद्धि किस प्रकार की जाती है, इत्यादि को स्पष्ट किया गया है। अन्त में वहाँ सूत्र के लक्षण का निर्देश कर अस्वाध्याय काल में संयत व स्त्रीवर्ग को गणधरादि कथित सूत्र के पढ़ने का निषेध किया गया है, सूत्र को छोड़ आराधनानिर्युक्ति आदि अन्य ग्रन्थों के अस्वाध्यायकाल में भी पढ़ने को उचित ठहराया गया है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त स्थित-जितादि नौ अर्थाधिकारों का विवेचन समाप्त कर धवला में यह सूचना कर दी गयी है कि ऊपर आगम के जिन नौ अर्थाधिकारों का प्ररूपण है उनके अर्थ को प्रसंगप्राप्त इस 'कृति' में योजित कर लेना चाहिए (पु० ९, पृ० २६१-६२)।

गणनकृति

सूत्रकार ने गणनकृति अनेक प्रकार की बतलाते हुए एक(१) को नोकृति, दो(२) को कृति व नोकृति के रूप में अवक्तव्य और तीन को आदि लेकर (३,४,५ आदि) संख्यात, असंख्यात व अनन्त को कृति कहा है तथा इस सबको गणनकृति कहा है (सूत्र ६६)।

इसकी व्याख्या में, धवला में कहा गया है कि 'एक' यह नोकृति है। इसे 'नोकृति' कहने का कारण यह है कि जिस राशि का वर्ग करने पर यह वृद्धि को प्राप्त होती है तथा अपने वर्ग में से वर्गमूल कम करके वर्ग करने पर वृद्धि को प्राप्त होती है उसे 'कृति' कहा जाता है। पर एक का वर्ग करने पर उसमें वृद्धि नहीं होती तथा मूल के कम कर देने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाती है, इसीलिए सूत्र में उसे 'नोकृति' कहा गया है। इस 'एक' संख्या को

---

१. मूलाचार गाथा ५७३-८२

वहाँ गणना का प्रकार दिखाया गया है। 'दो' का वर्ग करने पर उसमें वृद्धि देखी जाती है, इसलिए उसे 'नोकृति' तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसमें से वर्गमूल के घटाने पर वह वृद्धि को नहीं प्राप्त होती, वही राशि रहती है (२×२=४, ४—२=२)। इसलिए 'दो' को 'कृति' भी नहीं कहा जा सकता है। इसी कारण सूत्र में उसे 'अवक्तव्य' कहा गया है। यह गणना की दूसरी जाति है। आगे की तीन-चार आदि अनन्त पर्यन्त संख्याओं का वर्ग करने पर उनमें वृद्धि होती है तथा उनमें से वर्गमूल के घटाने पर भी वे वृद्धि को प्राप्त होती हैं (३×३×९; ९—३=६ इत्यादि)। इसी से उन्हें सूत्र में 'कृति' कहा गया है। यह तीसरा गणना-कृति का विधान है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे धवला में कहा गया है कि एक, एक, एक इस प्रकार से गणना करने पर नोकृतिगणना; दो, दो, दो के क्रम से गणना करने पर अवक्तव्य गणना और तीन, चार, पाँच आदि के क्रम से गणना करने पर कृतिगणंना होती है।

प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है—अथवा कृतिगत संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेदों से वह अनेक प्रकार की है। उनमें एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक के क्रम से वृद्धि को प्राप्त होनेवाली राशि नोकृतिसंकलना कहलाती है। दो को आदि लेकर उत्तरोत्तर दो-दो (२,४,६,८ आदि) के अधिक्रम से वृद्धिगत राशि को अवक्तव्यसंकलना कहा जाता है। तीन-चार आदि संख्याओं में किसी एक को आदि करके उन्हीं में उत्तरोत्तर क्रम से वृद्धि को प्राप्त होनेवाली राशि को कृतिसंकलना कहते हैं। इनमें किन्हीं दो के संयोग से अन्य छह संकलनाओं को उत्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार से ऋणगणना नौ (३+६) प्रकार की हो जाती है।[1]

गणितभेद—धन, ऋण और धन-ऋण

आगे धवलाकार कहते हैं कि यह सूत्र (४,२,१,६६) चूँकि देशामर्शक है, इसलिए यहाँ धन, ऋण और धन-ऋण गणित सबकी प्ररूपणा का औचित्य सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है कि संकलना, वर्ग, वर्गावर्ग, घन, घनाघन इन राशियों की उत्पत्ति के निमित्तभूत गुणकार और कलासवर्ण तक भेदप्रकीर्णक जातियाँ तथा त्रैराशिक, पंचराशिक इत्यादि सब धनगणित के अन्तर्गत आते हैं। व्युत्कलना, भागहार और क्षयक तथा कलासवर्ण आदि सूत्र से प्रतिबद्ध संख्याएँ—ये सब ऋणगणित माने जाते हैं। गतिनिवृत्तिगणित[2] और कुट्टाकारगणित धन-ऋण गणित हैं। इस प्रकार धवलाकार ने यहाँ उक्त तीन प्रकार के गणित की प्ररूपणा करने की प्रेरणा की है।

गणितसारसंग्रह में 'कलासवर्ण' के अन्तर्गत ये छह जातियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं—भाग, प्रभाग, भागभाग, भागानुबन्ध, भागापवाह और भागमात्र (ग०सा० २-५४)।

अथवा 'कृति' को उपलक्षण करके यहाँ गणना, संख्यात और कृति का लक्षण कहना चाहिए—प्रकारान्तर से ऐसा कहकर धवलाकार ने क्रम से उनके लक्षण में कहा है कि एक को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक गणना कहलाती है। दो को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की

---

१. धवला पु० ९, पृ० २७४-७५

२. गतिनिवृत्तौ सूत्रम्—निज-निजकालोद्धृतयोर्गमन-निवृत्योर्विशेणाज्जातम्। दिनशुद्धगतिं न्यस्य त्रैराशिकविधिं कुर्यात्॥ ग०सार ४-२३ (कुट्टाकारगणित के लिए गणितसंग्रह में श्लोक ५, ७९-२०८ अथवा लीलावती में २, ६५-७७ श्लोकों को देखा जा सकता है।

गणना को संख्यात या संख्येय कहा जाता है। तीन को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की गणना का नाम कृति है। आगे 'वुत्तं च' कहकर इसकी पुष्टि इस गाथा द्वारा की है—

एयादीया गणना दो आदीया वि जाण संखे त्ति।
तीयादीणं णियमा कदि त्ति सण्णा दु बोद्धव्वा[1]॥

तत्पश्चात् 'यहाँ कृति, नोकृति और अवक्तव्यकृति के उदाहरणों के लिए यह प्ररूपणा की जाती है' ऐसी सूचना कर उन तीन की प्ररूपणा में ओघानुगम, प्रथमानुगम, चरमानुगम और संचयानुगम इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है। तदनुसार उनमें पहले तीन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उनके अवान्तर अनुयोगद्वारों के साथ संक्षेप में कर दी गयी है (पु० ६, पृ० २७७-८०)।

'संचयानुगम' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा में सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों का उल्लेख कर तदनुसार ही उनके आश्रय से क्रम से उपर्युक्त कृति, नोकृति और अवक्तव्यकृति इन तीनों कृतियों की धवला में विस्तार से प्ररूपणा है। जैसे—

सत्प्ररूपणा की अपेक्षा नरकगति में नारकी कृति, नोकृति और अवक्तव्य संचित हैं। आगे अन्य समस्त नारकियों और एकेन्द्रियादि तिर्यंचों तथा यथासम्भव कुछ अन्य मार्गणाओं में भी इसी प्रकार से सत्प्ररूपणा करने की सूचना है। आहारद्विक व वैक्रियिकमिश्र आदि कुछ विशिष्ट मार्गणाओं में कृतिसंचितादि कदाचित् होते हैं और कदाचित् वे नहीं भी होते हैं। जिन मार्गणाओं में उनकी प्ररूपणा नहीं की गयी है उनके विषय में धवलाकार ने यह कह दिया है कि शेष मार्गणाओं में कृति संचित नहीं हैं, क्योंकि उनमें नोकृति और अवक्तव्य कृतियों से प्रवेश सम्भव नहीं है। इस प्रकार से सत्प्ररूपणा समाप्त की गयी है।

आगे धवला में यथाक्रम से अन्य द्रव्यप्रमाणानुगम आदि सात अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा है।

ग्रन्थकृति

ग्रन्थकृति के स्वरूप-निर्देश के साथ सूत्र (४,१,६७) में कहा गया है कि लोक, वेद और समय विषयक जो शब्दप्रबन्धरूप तथा अक्षरकाव्यादिकों की जो ग्रन्थरचना—अक्षरकाव्यों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का विषय करने वाली ग्रन्थरचना—की जाती है उस सबका नाम ग्रन्थकृति है।

यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि धवलाकार प्रसंगप्राप्त विषय का व्याख्यान निक्षेपार्थ पूर्वक करते हैं। तदनुसार उन्होंने यहाँ ग्रन्थकृति नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ग्रन्थकृति के भेद से चार प्रकार की कही है। इस प्रसंग में उन्होंने नोआगमभावग्रन्थकृति को नोआगमभावश्रुतग्रन्थकृति और नोआगमनोभावश्रुतकृति के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया है। यहाँ उन्होंने श्रुत के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं—लौकिक, वैदिक और सामायिक। इनमें प्रत्येक द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। तदनुसार हाथी, घोड़ा, तंत्र, कौटिल्य और वात्स्यायन आदि विषयक बोध को लौकिकभावश्रुत कहा जाता है। द्वादशांग विषयक बोध का नाम वैदिकभावश्रुतग्रन्थ है। नैयायिक, वैशेषिक, लोकायत, सांख्य, मीमांसक, बौद्ध आदि

---

१. यह गाथा यद्यपि त्रिलोकसार में गाथांक १६ में उपलब्ध है, पर वह निश्चित ही धवला से पश्चात्कालवर्ती है। सम्भवतः वह धवला से ही वहाँ ग्रन्थ का अंग बनायी गयी है।

दर्शनविषयक बोध सामायिकभावश्रुत ग्रन्थ कहलाता है। इनकी शब्दप्रबन्धरूप और अक्षरकाव्यों के द्वारा प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध जो ग्रन्थरचना की जाती है उसका नाम श्रुतग्रन्थकृति है।

नोश्रुतग्रन्थकृति अभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार की है। इनमें अभ्यन्तर नोश्रुत-ग्रन्थकृति मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चौदह प्रकार की तथा बाह्य नोश्रुतग्रन्थकृति क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आसन और भाण्ड के भेद से दस प्रकार की है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि क्षेत्र-वास्तु आदि को भावग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि कारण में कार्य के उपचार से उन्हें भावग्रन्थ कहा जाता है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि व्यवहारनय की अपेक्षा क्षेत्र आदि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थ के कारण हैं। इसके परिहार का नाम निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यात्व आदि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे कर्मबन्ध के कारण हैं। इनके परित्याग का नाम निर्ग्रन्थता है। नैगमनय की अपेक्षा रत्नत्रय में उपयोगी बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के परित्याग को निर्ग्रन्थता का लक्षण समझना चाहिए (पु० ९, पृ० ३२१-२४)।

करणकृति

करणकृति दो प्रकार की है—मूलकरणकृति और उत्तरकरणकृति। इनमें मूलकरणकृति औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरमूलकरणकृति के भेद से पाँच प्रकार की है। इनमें जो औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरमूलकरण कृति है वह संघातन, परिशातन और संघातन-परिशातन के भेद से तीन प्रकार की है। किन्तु तैजस और कार्मण शरीरमूलकरणकृति परिशातनकृति और संघातन-परिशातनकृति के भेद से दो प्रकार की है (सूत्र ६८-७०)।

धवलाकार ने कहा है कि करणों में जो पाँच शरीररूप प्रथम करण है वह मूलकरण है, क्योंकि शेष करणों की प्रवृत्ति इसी के आश्रय से होती है। आगे दूसरी एक शंका यह भी की गयी है कि कर्ता जो जीव है उससे शरीर अभिन्न है, अतः वह भी कर्ता है, इस स्थिति में वह करण कैसे हो सकता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि जीव से शरीर कथंचित् भेद को प्राप्त है। यदि उसे जीव से कथंचित् भिन्न न माना जाय तो चेतनता और नित्यत्व आदि जो जीव के गुण हैं वे शरीर में भी होना चाहिए। पर वैसा नहीं देखा जाता है। इसलिए शरीर के करण होने में कुछ विरोध नहीं है।

मूल करणों का कार्य जो संघातन आदि है इसी का नाम मूलकरणकृति है, क्योंकि 'क्रियते कृतिः' इस निरुक्ति के अनुसार 'कृति' का अर्थ कार्य होता है।

विवक्षित परमाणुओं का निर्जरा के बिना जो संचय होता है, उसे संघातनकृति कहते हैं। शरीरगत उन्हीं पुद्गलस्कन्धों की संचय के बिना जो निर्जरा होती है उसे परिशातनकृति कहते हैं। विवक्षित शरीरगत पुद्गलस्कन्धों के जो आगमन और निर्जरा दोनों एक साथ होते हैं उसे संघातन-परिशातनकृति कहा जाता है।

तिर्यंच और मनुष्यों के उत्पन्न होने के प्रथम संयम में औदारिक शरीर की संघातनकृति ही होती है, क्योंकि उस समय उसके स्कन्धों की निर्जरा सम्भव नहीं है। तत्पश्चात् द्वितीयादि समयों में उसकी संघातन-परिशातनकृति होती है, क्योंकि द्वितीयादि समयों में अभव्यों से अनन्त-

गुणे और सिद्धों से अनन्तगुणे हीन औदारिकशरीरस्कन्धों का आगमन और निर्जरा दोनों पाये जाते हैं। तिर्यंच और मनुष्यों द्वारा उत्तर शरीर के उत्पन्न करने पर औदारिक शरीर की परिशातनकृति ही होती है, क्योंकि उस समय औदारिकशरीर के स्कन्धों का आना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार से आगे वैक्रियिक आदि अन्य शरीर के विषय में भी प्रस्तुत कृति का स्पष्टीकरण किया गया है।

अयोगिकेवली के योग का अभाव हो जाने से बन्ध नहीं होता, इसलिए उनके तैजस और कार्मण इन दो शरीरों की परिशातनकृति ही होती है। अन्यत्र उनकी संघातन-परिशातनकृति ही होती है, क्योंकि संसार में सर्वत्र उनका आगमन और निर्जरा दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं (पु० ९, पृ० ३२४-२९)।

[1]सूत्र ७१ की व्याख्या मे धवलाकार ने प्रारम्भ में यह सूचना की है कि यह सूत्र देशामर्शक है इसलिए उसके द्वारा सूचित पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अधिकारों की यहां प्ररूपणा की जाती है, क्योंकि उनके बिना सत्प्ररूपणा सम्भव नही है। तदनुसार यहां तीनों अधिकारों का प्ररूपण है। यथा—

(१) पदमीमांसा—औदारिकशरीर की संघातन कृति उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य चारों प्रकार की होती है। इसी प्रकार से परिशातन और संघातन-परिशातन ये दोनों कृतियां भी चारों प्रकार की होती हैं। इसी प्रकार अन्य शरीरों के विषय में भी इन चार पदों के विचार करने की सूचना है (पु० ९, पृ० ३२९)।

(२) स्वामित्व—इस अधिकार में औदारिक आदि शरीरों की वे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य संघातन आदि कृतियां किनके सम्भव हैं इसका विचार है।

(३) अल्पबहुत्व—अधिकार में उन्हीं औदारिक आदि शरीरों से सम्बन्धित उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य संघातन आदि कृतियों के अल्पबहुत्व का विचार है।

आगे धवलाकार ने 'अब हम देशामर्शक सूत्र से सूचित अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा कर ओघ और आदेश की अपेक्षा सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों की यथाक्रम से प्ररूपणा की है (पु० ९, पृ० ३५४-४५०)।

उत्तरकरणकृति

मूलकरणकृति की प्ररूपणा के वाद उत्तरकरणकृति के प्ररूपक सूत्र (७२) की व्याख्या में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्रनिर्दिष्ट मृत्तिका आदि उत्तरकरण किस प्रकार से हैं। समाधान में कहा है कि पाँच शरीर जीव से अपृथग्भूत हैं अथवा वे अन्य समस्त करणों के कारण हैं इसलिए उन्हें 'मूलकरण' संज्ञा प्राप्त हुई है। इसी से उन्हें उत्तरकरणकृति भी कहा गया है। असि, वासि, परशु, कुदारी, चक्र, दण्ड, वेम, नालिका, शलाका, मृत्तिका, सूत्र, उदक इत्यादि उपसंपदा के सान्निध्य से उन मूलकरणों के उत्तरकरण हैं। 'उपसंपदा' का अर्थ है 'द्रव्यमुपसंपद्यते आश्रीयते एभिरिति उपसंपदानि कार्याणि' अर्थात् जो द्रव्य का आश्रय लिया करते हैं उनका नाम उपसंपद है, इस निरुक्ति के अनुसार कार्य किया गया है (पृ० ४५०-५१)।

---

१. सूत्ररचना की पद्धति, प्रसंग व पदविन्यास को देखते हुए यह सूत्र नहीं प्रतीत होता, सम्भवतः यह धवला का अंश रहा है।

भावकरणकृति

भावकरणकृति के स्वरूप का उल्लेख कर सूत्रकार ने कहा है कि कृतिप्राभृत का ज्ञाता होकर जो तद्विषयक उपयोग से सहित होता है उसका नाम भावकरणकृति है। आगे उन्होंने इन सब कृतियों में यहाँ किसका अधिकार है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है यहाँ गणनकृति अधिकार प्राप्त है (सूत्र ७४-७६)।

गणनकृति की प्ररूपणा की आवश्यकता का संकेत कर धवला में कहा गया है कि गणना के विना चूँकि शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा घटित नहीं होती है, इसलिए यहाँ उसकी प्ररूपणा की जा रही है (पृ० ४५२)।

यह स्मरणीय है कि सूत्रकार ने यहाँ गणनकृति को प्रसंगप्राप्त कह उसकी कुछ भी प्ररूपणा नहीं की। जैसाकि पूर्व में कहा जा चुका है, धवलाकार ने पूर्वोक्त गणनकृति के निर्देशक सूत्र (६६) को देशामर्शक बतलाकर उसके आश्रय से स्वयं ही विस्तारपूर्वक प्रकृत गणनकृति की प्ररूपणा की है (पु० ९, पृ० २७४-३२१)।

यह 'कृति' अनुयोगद्वार मूलग्रन्थ के रूप में अतिशय संक्षिप्त है, उसमें केवल ७६ सूत्र ही हैं। उनमें भी प्रारम्भ के ४४ सूत्र मंगलपरक हैं, शेष ३२ सूत्र ही 'कृति' से सम्बद्ध हैं। उसका विस्तार धवलाकार आ० वीरसेन ने अपनी सैद्धान्तिक कुशलता के बल पर किया है।

२. वेदना अनुयोगद्वार

यह 'वेदना' नामक चतुर्थ खण्ड का दूसरा अनुयोगद्वार है। अवान्तर १६ अनुयोगद्वारों के आधार पर इसका विस्तार अधिक हुआ है। इसी विस्तार के कारण षट्खण्डागम का चौथा खण्ड 'वेदना' के नाम प्रसिद्ध हुआ है।

इसमें १६ अनुयोगद्वार हैं, जिनका उल्लेख पीछे 'मूलग्रन्थगत-विषयपरिचय' में किया जा चुका है। उनमें प्रथम 'वेदना निक्षेप' अनुयोगद्वार है।

(१) वेदनानिक्षेप—यहाँ सूत्रकार ने वेदना के इन चार भेदों का उल्लेख किया है—नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना (सूत्र ४,२,१,२-३)।

धवला में वेदनानिक्षेप के अन्य अवान्तर भेदों का भी उल्लेख है। उनमें नोआगमद्रव्यवेदना के ज्ञायकशरीर आदि तीन भेदों में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यवेदना के ये दो भेद बतलाये गये हैं—कर्मद्रव्यवेदना और नोकर्मद्रव्यवेदना। इनमें कर्मद्रव्यवेदना ज्ञानावरणीय आदि के भेद से आठ प्रकार की तथा नोकर्मद्रव्यवेदना सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। इनमें सिद्ध जीवद्रव्य को सचित्त द्रव्यवेदना और पुद्गल, काल, आकाश, धर्म व अधर्म द्रव्य-वेदना को अचित्तद्रव्यवेदना कहा गया है। मिश्रद्रव्यवेदना संसारी जीवद्रव्य है, क्योंकि जीव में जो कर्म और नोकर्म का समवाय है वह जीव और अजीव से भिन्न जात्यन्तर (मिश्र) के रूप में उपलब्ध होता है।

भाववेदना की दूसरी भेदभूत नोआगमभाववेदना जीवभाववेदना और अजीवभाववेदना के भेद से दो प्रकार की है। इनमें जीवभाववेदना औदयिक आदि के भेद से पाँच प्रकार की है। उनमें आठ कर्मों के उदय से उत्पन्न वेदना को औदयिक वेदना, उन्हीं के उपशम से उत्पन्न वेदना को औपशमिक वेदना और उनके क्षय से उत्पन्न वेदना को क्षायिक वेदना कहा गया है। उन्हीं के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञानादिरूप वेदना होती है उसका नाम क्षायोपशमिक वेदना है।

जीव, भव्य और उपयोगादिस्वरूप वेदना पारिणामिक वेदना कहलाती है।

अजीवभाववेदना औदयिक और पारिणामिक के भेद से दो प्रकार की है। इनमें प्रत्येक पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध और आठ स्पर्श आदि के भेद से अनेक प्रकार की है। यहाँ जीव-शरीरगत उन रसादिकों को औदयिक और शुद्ध पुद्गलगत उक्त रसादिकों को पारिणामिक वेदना जानना चाहिए (पु० १०, पृ० ५-८)।

(२) वेदनानयविभाषणता—इस अनुयोगद्वार में कौन नय किस वेदना को स्वीकार करता है और किसे स्वीकार नहीं करता है, इसका स्पष्टीकरण मूल सूत्रों (१-४) में किया गया है।

उपर्युक्त वेदनाओं में यहाँ किस नय की अपेक्षा कौन-सी वेदना प्रकृत है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा बन्ध, उदय व सत्त्वस्वरूप नोआगम-कर्मद्रव्यवेदना प्रकृत है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा उदयगत कर्मद्रव्यवेदना प्रकृत है। सूत्र (४) में कहा गया है कि शब्दनय नामवेदना और भाववेदना को स्वीकार करती है। इस सम्बन्ध में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि शब्दनय की अपेक्षा कर्म के बन्ध और उदय से उत्पन्न होनेवाली भाववेदना का यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि यहाँ भाव की अपेक्षा प्ररूपणा नहीं की जा रही है (पु० १०, पृ० १२)।

(३) वेदनानामविधान—इस प्रसंग में यहाँ प्रथमतः नैगम और व्यवहारनय की अपेक्षा वेदना का विधान कहा जाता है, ऐसी सूचना करते हुए धवला में कहा गया है कि नोआगम-कर्मद्रव्यवेदना ज्ञानावरणीयादि के भेद से आठ प्रकार की है, क्योंकि उनके बिना अज्ञान व अदर्शन आदिरूप जो आठ प्रकार का कार्य देखा जाता है वह घटित नहीं होता। कार्य का भेद कारण के भेद से ही हुआ करता है।

आगे नामप्ररूपणा के प्रसंग में 'ज्ञानावरणीयवेदना' नाम को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि 'ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो ज्ञान का आवरण करता है उस कर्मद्रव्य का नाम ज्ञानावरणीय है। 'ज्ञानावरणीयमेव वेदना ज्ञानावरणीय-वेदना' इस प्रकार से कर्मधारय समास का विधान कर 'ज्ञानावरणीयस्य वेदना' इस प्रकार के तत्पुरुष समास का निषेध किया है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनयों में भाव की प्रधानता नहीं होती। तदनुसार यहाँ ज्ञानावरणीय कर्म द्रव्य ही 'ज्ञानावरणीय वेदना' के रूप में विवक्षित है।

४. वेदनाद्रव्यविधान—इस अनुयोगद्वार में वेदनारूप द्रव्य की प्ररूपणा की गयी है। उसमें सूत्रकार ने इन तीन अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है—पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्प-बहुत्व।

पदमीमांसा को स्पष्ट करते हुए धवला में पद के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—व्यवस्था-पद और भेदपद। जिसका जिसमें अवस्थान होता है उसका वह पद होता है, उसे स्थान भी कहा जाता है। जैसे—सिद्धों का पद सिद्धक्षेत्र तथा अर्थावगम का पद अर्थालाप।

भेदपद को स्पष्ट करते हुए उसकी निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—पद्यते गम्यते परि-च्छिद्यते इति पदम्। अर्थात् जो जाना जाता है वह 'पद' है। भेद, विशेष व पृथक्त्व ये समा-नार्थक शब्द हैं। यहाँ कर्मधारय समास—(भेद एव पदं भेदपदम्) के आश्रय से भेदरूप पद को ही भेदपद कहा गया है। यहाँ अधिकार विवक्षा से भेदपद तेरह हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोम-नोविशिष्ट। इस अनुयोगद्वार में इन्हीं तेरह पदों की मीमांसा की गयी है। स्वामित्व अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट,

अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इन चार पदों के योग्य जीवों की प्ररूपणा है। अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में भी इन्हीं चार पदों के अल्पबहुत्व की व्याख्या है (पु० १०, पृ० १८-१९)।

आगे 'क्या ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य से उत्कृष्ट है या अनुत्कृष्ट, जघन्य है या अजघन्य' इस पृच्छासूत्र (४,२,४,२) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने प्रारम्भ में यह सूचना की है कि यह पृच्छासूत्र देशामर्शक है इसलिए यहाँ उपर्युक्त चार पृच्छाओं के साथ अन्य नौ पृच्छाओं को भी करना चाहिए; क्योंकि इसके विना सूत्र के असम्पूर्ण होने का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के पारंगत भूतवलि भट्टारक असम्पूर्ण सूत्र नहीं रच सकते हैं, क्योंकि उस का कोई कारण नहीं है। इसलिए इस सूत्र को ज्ञानावरणीयवेदना क्या उत्कृष्ट है, अनुत्कृष्ट है, जघन्य है, अजघन्य है, सादि है, अनादि है, ध्रुव है, अध्रुव है, ओज है, युग्म है, ओम है, विशिष्ट है या नोम-नोविशिष्ट है, इन तेरह पदविषयक पृच्छाओं से गर्भित समझना चाहिए।

धवला में आगे कहा गया है कि इस प्रकार विशेष के अभाव से ज्ञानावरणीय वेदना की सामान्य प्ररूपणा के विषय में इन पृच्छाओं की प्ररूपणा है। सामान्य चूंकि विशेष का अविनाभावी है, इसलिए हम यहाँ विशेष रूप में इसी सूत्र से सूचित उन तेरह पदविषयक इन पृच्छाओं की प्ररूपणा करते हैं—उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय वेदना क्या अनुत्कृष्ट है, जघन्य है, अजघन्य है, सादि है, अनादि है, ध्रुव है, अध्रुव है, ओज है, युग्म है, ओम है, विशिष्ट है और क्या नोम-नोविशिष्ट है; इस प्रकार ये बारह पृच्छाएं उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना के विषय में अपेक्षित हैं। इसी प्रकार से अनुत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य आदि अन्य बारह पदों में पृथक्-पृथक् प्रत्येक पद के विषय में भी करना चाहिए। इन समस्त पृच्छाओं का योग एक सौ उनत्तर होता है—सामान्य पृच्छाएँ १३, विशेष पृच्छाएँ १३ × १२ = १५६; १३ + १५६ = १६९।

निष्कर्ष के रूप में धवलाकार ने कहा है कि इससे प्रकृत देशामर्शक सूत्र में अन्य तेरह सूत्र प्रविष्ट हैं, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट चार पृच्छाओं के सन्दर्भ में कहा है कि ज्ञानावरणीय वेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है (सूत्र ४,२,४,३)।

इसकी व्याख्या में धवला में कहा है कि यह सूत्र भी देशामर्शक है इसलिए सूत्रनिर्दिष्ट उन चार पदों के साथ सादि-अनादि आदि शेष नौ पदों को भी यहाँ कहना चाहिए। उसके देशामर्शक होने से ही शेष तेरह सूत्रों का अन्तर्भाव कहना चाहिए। तदनुसार प्रथम सूत्र की प्ररूपणा करते हुए स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानावरणीयवेदना कथंचित् उत्कृष्ट है, क्योंकि भवस्थिति के अन्तिम समय में वर्तमान गुणितकर्मांशिक सातवीं पृथिवी के नारकी के उत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है। वह कथंचित् अनुत्कृष्ट भी है, क्योंकि कर्मस्थिति के अन्तिम समयवर्ती गुणितकर्मांशिक को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र अनुत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है। वह कथंचित् जघन्य भी है, क्योंकि क्षपितकर्मांशिक क्षीणकषाय के अन्तिम समय में जघन्य द्रव्य पाया जाता है। वह कथंचित् अजघन्य भी है, क्योंकि शुद्ध नय से क्षपितकर्मांशिक क्षीणकषाय के अन्तिम समय को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र ही अजघन्य द्रव्य पाया जाता है। वह कथंचित् सादि है, क्योंकि उत्कृष्ट आदि पद एक स्वरूप से अवस्थित नहीं रहते। वह कथंचित् अनादि है, क्योंकि जीव और कर्मों के बन्धसामान्य सादि होने का विरोध है। वह कथंचित् ध्रुव है, क्योंकि अभव्यों और अभव्य समान भव्यों के भी सामान्य ज्ञानावरण का विनाश सम्भव नहीं है। वह कथंचित् अध्रुव है, क्योंकि केवली के ज्ञानावरण का विनाश पाया जाता है, अथवा चारों पदों का शाश्वतिक रूप में अवस्थान सम्भव

नहीं है। कथंचित् वह युग्म है, क्योंकि ज्ञानावरण में द्रव्य का सम होना सम्भव है।

प्रसंगवश यहाँ युग्म आदि का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि युग्म और समय समानार्थक शब्द हैं। युग्म कृतयुग्म और बादरयुग्म के भेद से दो प्रकार का है। जो संख्या चार (४) से अपहृत हो जाती है उसे कृतयुग्म कहा जाता है; जैसे १६ ÷ ४ = ४। जिस संख्या को चार से अपहृत करने पर (२) अंक शेष रहते हैं वह बादरयुग्म कहलाती है; जैसे १४ ÷ ४ = ३, शेष २। जिस संख्या में चार से अपहृत करने पर एक (१) शेष रहता है उसका नाम कलिओज है; जैसे १३ ÷ ४ = ३; शेष १। जिस संख्या को चार से अपहृत करने पर तीन अंक शेष रहते हैं उसे तेजोज कहते हैं; जैसे १५ ÷ ४ = ३, शेष ३।

कथंचित् वह ओज है, क्योंकि कहीं पर वह ज्ञानावरणद्रव्य विषम संख्या में देखा जाता है। कथंचित् वह ओम है, क्योंकि कभी प्रदेशों का अपचय देखा जाता है। कथंचित् वह विशिष्ट है, क्योंकि कभी व्यय की अपेक्षा आय अधिक देखी जाती है। कथंचित् वह नोम-नोविशिष्ट है, क्योंकि प्रत्येक पदावयव की विवक्षा में वृद्धि-हानि का अभाव सम्भव है। इस प्रकार से धवला में प्रथम सूत्र की प्ररूपणा की गयी है (पु० १०, पृ० २२-२३)।

इसी पद्धति से आगे धवला में दूसरे से चौदहवें सूत्र तक की प्ररूपणा है।

स्वामित्व के प्रसंग में सूत्रकार ने उत्कृष्ट पदरूप और जघन्यपदरूप दो ही प्रकार के स्वामित्व का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष के रूप में कहा है कि वह गुणित कर्मांशिक जीव के सातवीं पृथ्वी में अवस्थित रहने पर उस भव के अन्तिम समय में होती है। गुणितकर्मांशिक की अनेक विशेषताओं का भी वहाँ २६ (७ से ३२) सूत्रों में विवेचन है। उन सब विशेषताओं को संक्षेप में 'मूलग्रन्थगत-विषय-परिचय' में दिखाया जा चुका है।

इस प्रसंग में एक सूत्र (४,२,४,२८) में यह निर्देश है कि उपर्युक्त प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ जीवित के थोड़ा शेष रह जाने पर योगमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त रहा है।

इसकी व्याख्या में धवला में कहा गया है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्त के सर्वजघन्य परिणाम योगस्थान को आदि करके संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योगस्थान तक सब योगस्थानों को ग्रहण करके उन्हें पंक्ति के आकार से स्थापित करने पर उनका आयाम श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। उनमें सर्वजघन्य परिणाम योगस्थान को आदि करके आगे के श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र योगस्थान चार समय के योग्य हैं। उससे आगे के श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान पाँच समय के योग्य होते हैं। इसी प्रकार आगे के पृथक्-पृथक् छह, सात और आठ समय योग्य योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। आगे के यथाक्रम से सात, छह, पाँच, चार, तीन और दो समय योग्य योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र हैं।

उनका अल्पबहुत्व दिखलाते हुए धवला में कहा गया है कि योगस्थानों का विशेषणभूत काल अपनी संख्या की अपेक्षा यव के आकार है, क्योंकि वह यव के समान मध्य में स्थूल होकर दोनों पार्श्व भागों में क्रम से हानि को प्राप्त हुआ है। इन चार-पाँच आदि समयों से विशेषित योगस्थान भी ग्यारह प्रकार का है। यवाकार होने से योग को ही यव कहा गया है। योग का मध्य आठ समय योग्य योगस्थान है। उसके ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा है। यह योगयवमध्य संज्ञा जीवमध्य की है।

आगे यह सब स्पष्ट करने के लिए धवला में योगस्थानों में स्थित जीवों को आधार करके

योगयवमध्य के अधस्तन अध्वान से उपरिम की विशेष अधिकता के प्रतिपादनार्थ प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गयी है। अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि जीवयवमध्य के अधस्तन अध्वान से उपरिम अध्वान के विशेष अधिक होने से यहाँ अन्तर्मुहूर्त काल रहना सम्भव नहीं है, इसलिए कालयवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए (पु० १०, पृ० ५७-९८)।

सूत्र (४,२,४,२९) में निर्दिष्ट 'अन्तिमजीवगुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग रहा' की व्याख्या के बाद धवला में अन्त में कहा गया है कि नारकभव को विवक्षित कर इन सूत्रों की प्ररूपणा की गयी है। उनके देशामर्शक होने से गुणितकर्मांशिक के सभी भवों में उनकी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा कर लेना चाहिए। कारण यह कि एक भव में यवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त और अन्तिम गुणहानि में आवली के असंख्यातवें भाग ही नहीं रहता है, जहाँ जितना काल सम्भव है वहाँ पर उतने काल अवस्थान की प्ररूपणा की गयी है (पु० १०, पृ० ९८-१०७)।

नारकभव के अन्तिम समय में वर्तमानगुणितकर्मांशिक के द्रव्य की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना किस प्रकार से सम्भव है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस प्रकार इस विधान से संचित उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय द्रव्य का उपसंहार कहा जाता है।

कर्मस्थिति के प्रथम समय से लेकर उसके अन्तिम समय तक बाँधे गये सब समयप्रबद्धों की अथवा प्रत्येक के प्रमाण की परीक्षा का नाम उपसंहार है। उसमें तीन अनुयोगद्वार हैं— संचयानुगम, भागहारप्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। इनके आश्रय से क्रमशः ज्ञानावरणीय के उत्कृष्ट द्रव्य की यहाँ विस्तार से प्ररूपणा है (पु० १०, पृ० १०९-२१०)।

ज्ञानावरणीय की द्रव्य की अपेक्षा अनुत्कृष्ट वेदना किसके होती है, इसके प्रसंग में सूत्र में संक्षेप से यह कह दिया है कि उपर्युक्त उत्कृष्ट वेदना से भिन्न उसकी अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना है (सूत्र ४,२,४,३३)।

इसकी व्याख्या में कहा गया है कि अपकर्षण के वश उसके पूर्वोक्त उत्कृष्ट द्रव्य में से एक परमाणु के हीन होने पर उस अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना का उत्कृष्ट विकल्प होता है। आगे उसमें किस क्रम से हानि के होने पर उस अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना के अन्य-अन्य विकल्प होते हैं, इसका विचार किया गया है।

इसी प्रसंग में वहाँ गुणितकर्मांशिक, गुणितघोलमान, क्षपितघोलमान और क्षपितकर्मांशिक जीवों के आश्रय से पुनरुक्त स्थानों का भी निरूपण है। त्रसजीव प्रायोग्य स्थानों के जीवसमुदाहार के कथन के प्रसंग में प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों का भी निर्देश है और उनके आश्रय से जीवसमुदाहार की प्ररूपणा भी की गयी है (पु० १०, पृ० २१०-२४)।

छह कर्मों की द्रव्यवेदना

सूत्रकार ने आगे के सूत्र में यह सूचना कर दी है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणीय के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट द्रव्य की प्ररूपणा की गयी है उसी प्रकार आयु को छोड़कर दर्शनावरणीय आदि शेष छह कर्मों के भी उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट द्रव्य की प्ररूपणा करना चाहिए।

(सूत्र ४,२,४,३४)

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि ज्ञानावरणीय की प्ररूपणा से उन छह कर्मों

की द्रव्यवेदना की प्ररूपणा में इतनी विशेषता है कि मोहनीय के प्रसंग में उस गुणितकर्मांशिक जीव को त्रसस्थिति से हीन चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक तथा नाम व गोत्र के प्रसंग में उसे उस त्रसस्थिति से हीन बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक बादर एकेन्द्रियों में परिभ्रमण कराना चाहिए। गुणहानिशलाकाओं और अन्योन्याभ्यस्त राशियों के विशेष को भी जानना चाहिए।

आयु की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना

द्रव्य की अपेक्षा आयु कर्म की उत्कृष्ट वेदना किसके होती है, इसका स्पष्टीकरण सूत्रकार ने बारह (३५-४६) सूत्रों में किया है। जिस जीव के आयुकर्म की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना सम्भव है, उसके सर्वप्रथम ये पाँच लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं—(१) वह पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाला होना चाहिए, (२) वह जलचर जीवों में पूर्वकोटि प्रमाण परभविक आयु का बाँधनेवाला होना चाहिए, (३) वह दीर्घआयुबन्धक काल में उसे बाँधता है, (४) उसके योग्य संक्लेश से उसे बाँधता है तथा (५) उत्कृष्ट योग में उसे बाँधता है।

१. उसके इन लक्षणों को स्पष्ट कर धवला में कहा है कि जिसके उत्कृष्ट आयुवेदना सम्भव है उसे पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाला इसलिए होना चाहिए कि जो जीव पूर्वकोटि के तृतीय भाग को आबाधा करके परभविक आयु बाँधते हैं उन्हीं के उत्कृष्ट बन्धककाल सम्भव है।

२. जलचरों में पूर्वकोटि प्रमाण आयु का बन्धक क्यों होना चाहिए, इस दूसरे लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि अन्य कर्मों का उदय, जिस भव में उन्हें बाँधा जाता है, उसी भव में बन्धावलि के बीतने पर हुआ करता है उस प्रकार बाँधे गये आयुकर्म का उदय उस भव में सम्भव नहीं है, उसका उदय अगले भव में ही होता है।

यहाँ यह शंका होती है कि पूर्वकोटि की अपेक्षा दीर्घ आयु को क्यों नहीं बँधाया गया, क्योंकि प्रथमादि गोपुच्छाओं के स्तोक होने से वहाँ निर्जरा कम हो सकती थी।

इसके समाधान में कहा है कि पूर्वकोटि से एक-दो समयादि से अधिक जितने भी आयु के विकल्प हैं उनमें उसका घात सम्भव नहीं है इसलिए पूर्वकोटि से अधिक आयु को बाँधनेवाला जीव परभविक आयु के बन्ध के बिना छह मास हीन सब भुज्यमान आयु को गला देता है। इसलिए परभविक आयु के बन्ध के समय उसके आयुद्रव्य का बहुत संचय नहीं हो पाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि देव-नारकियों व असंख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य-तिर्यंचों के भुज्यमान आयु में छह मास शेष रह जाने पर ही त्रिभाग में परभविक आयु का बन्ध हुआ करता है।[1]

पूर्वकोटि से नीचे की आयु को इसलिए नहीं बँधाया गया कि स्तोक आयुस्थिति की स्थूल गोपुच्छाओं के अरहट की घटिकाओं की जलधारा के समान निरन्तर गलाने पर निर्जरा अधिक होनेवाली थी।

जलचर जीवों में आयु को क्यों बँधाया गया, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा है कि विवेक का अभाव होने से वे संक्लेश से रहित होकर अधिक साता से युक्त होते हैं, इसलिए

१. णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंधपाओग्गा होंति।—धवला पु० १०, पृ० २३४; पु० ६, पृ० १७० व उसका टिप्पण १ भी द्रष्टव्य है।

उनके अवलम्बनाकरण[1] द्वारा विनष्ट किया जानेवाला द्रव्य बहुत नहीं होता है।

३. वह दीर्घ बन्धककाल में ही उसे बांधता है, यह जो उसकी तीसरी विशेषता प्रकट की गयी थी उसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि पूर्वकोटि के त्रिभाग को आबाधा करके आयु के बांधनेवालों की वह आयु जघन्य भी होती है और उत्कृष्ट भी होती है। उसमें जघन्य बन्धककाल का निषेध करने के लिए सूत्र में उत्कृष्ट बन्धककाल का निर्देश किया गया है। यह उत्कृष्ट बन्धककाल प्रथम अपकर्ष में ही होता है, अन्य द्वितीयादि अपकर्षों में नहीं।

वह उत्कृष्ट बन्धककाल प्रथम अपकर्ष में ही होता है, इसकी पुष्टि में धवलाकार ने महाबन्ध में निर्दिष्ट आयुबन्धककाल के अल्पबहुत्व को उद्धृत किया है।

यह भी स्पष्ट किया गया है कि जो जीव सोपक्रम आयुवाले होते हैं वे अपनी-अपनी भुज्यमान आयु के दो त्रिभागों के बीत जाने पर असंक्षेपाद्धाकाल तक परभविक आयु के बन्ध योग्य होते हैं। आयु के बन्ध योग्य उस काल के भीतर कितने ही जीव आठ बार, कितने ही सात बार, कितने ही छह बार, कितने ही पाँच बार, कितने ही चार बार, कितने ही तीन बार, कितने ही दो बार, कितने ही एक बार आयु के बन्ध योग्य परिणामों से परिणत होते हैं। जिन जीवों ने भुज्यमान आयु के तृतीय त्रिभाग के प्रथम समय में परभविक आयु के बन्ध को प्रारम्भ किया है वे अन्तर्मुहूर्त में उस बन्ध को समाप्त कर भुज्यमान समस्त आयु में नौवें भाग (त्रिभाग के त्रिभाग) के शेष रह जाने पर फिर से भी उसके बन्धयोग्य होते हैं। इसी प्रकार से आगे समस्त आयु के सत्ताईसवें भाग के शेष रह जाने पर फिर से भी उसके बन्ध योग्य होते हैं। इसी क्रम से आगे आठवें अपकर्ष तक उत्तरोत्तर शेष त्रिभाग के तृतीय भाग के शेष रह जाने पर वे उसके पुनः-पुनः बन्ध योग्य होते हैं। भुज्यमान आयु के तृतीय भाग के शेष रह जाने पर परभविक आयु का बन्ध होता ही हो, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु वे उस समय परभविक आयु के बन्ध योग्य होते हैं, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

जो जीव निरुपक्रम आयुवाले होते हैं वे भुज्यमान आयु के छह मास शेष रह जाने पर आयु के बन्ध योग्य होते हैं। उसमें भी पूर्वोक्त क्रम के अनुसार आठ अपकर्षों को समझना चाहिए।

४. तत्प्रायोग्य संक्लेश से उसे क्यों बांधता है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि अन्य कर्म उत्कृष्ट संक्लेश और उत्कृष्ट विशुद्धि से बँधते हैं उस प्रकार से आयु कर्म नहीं बँधता है; वह मध्यम संक्लेश से बँधता है, इसके ज्ञापनार्थ सूत्र में 'तत्प्रायोग्यसंक्लेश' को ग्रहण किया गया है।

५. 'तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग' रूप पाँचवीं विशेषता को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि दो समयों को छोड़कर उत्कृष्ट आयुबन्धक मात्र काल तक उत्कृष्ट योग से परिणमन सम्भव नहीं है, इसलिए जब तक शक्य होता है तब तक उत्कृष्ट ही योगस्थानों से परिणत होकर जो उसे बांधता है वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है, यह उसका अभिप्राय समझना चाहिए (पु० १०, पृ० २२५-३५)।

इसी प्रकार सूत्रकार द्वारा आगे के कुछ सूत्रों (३७-४६) में भी उसकी जिन अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है उनका स्पष्टीकरण यथा प्रसंग धवला में कर दिया गया है।

---

१. परभविआउवउवरिमट्ठिदिदव्वस्स ओकड्डणाए हेट्ठाणिवदणमवलंवणाकरणं णाम।
—धवला पु० १०, पृ० ३३०-३१

अन्त में यहाँ 'अब उपसंहार कहा जाता है' ऐसी सूचना के साथ जिन विशेषताओं को प्रकट किया गया है उन सबका उल्लेख धवला में विस्तारपूर्वक है।

सूत्र में जो आगे आयु की अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना को उत्कृष्ट द्रव्यवेदना से भिन्न निर्दिष्ट किया गया है उसका स्पष्टीकरण भी धवला में विस्तार से किया गया है (पु० १०, पृ० २५५-६८)।

ज्ञानवरणीय की जघन्य द्रव्यवेदना

ज्ञानावरणीय की जघन्य द्रव्यवेदना क्षपितकर्मांशिक क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के उसके अन्तिम समय में होती है। उसकी जिन विशेषताओं को यहाँ प्रकट किया गया है वे सब प्रायः पूर्वोक्त ज्ञानावरण की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी गुणितकर्मांशिक की विशेषताओं से विपरीत हैं (पु० १०, पृ० २६८-६६)।

'इससे भिन्न उसकी अजघन्य द्रव्यवेदना है' इस सूत्र (४,२,४,७६) के अभिप्राय को भी धवलाकार ने आवश्यकतानुसार स्पष्ट कर दिया है।

इसी पद्धति से आगे सूत्रकार द्वारा दर्शनावरणीयादि अन्य कर्मों की जघन्य-अजघन्य द्रव्य-वेदना की प्ररूपणा की गयी है। उसमें जो थोड़ी विशेषता रही है उसका स्पष्टीकरण भी धवला में किया गया है।

आयु की जघन्य द्रव्यवेदना से भिन्न उसकी अजघन्य द्रव्यवेदना है, इस प्रकार से सूत्र (४,२,४,१२२) में जो आयुकर्म के अजघन्य द्रव्य की संक्षेप में सूचना की गयी है उसका धवला में विस्तार से विश्लेषण हुआ है (पु० १०, पृ० ३६६-८४)।

इस प्रकार वेदनाद्रव्यविधान के अन्तर्गत दूसरा 'स्वामित्व' अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

अल्पबहुत्व

वेदनाद्रव्यविधान के इस तीसरे अनुयोगद्वार में सूत्रकार ने जो जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपद इन तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से वेदनाद्रव्यविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है उसमें कुछ विशेष व्याख्येय तत्त्व नहीं है, वह मूलग्रन्थ से ही स्पष्ट है।

वेदनाद्रव्यविधान चूलिका

पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से वेदनाद्रव्य की प्ररूपणा के बाद सूत्रकार ने कहा है कि यहाँ जो यह कहा गया है कि 'बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों और जघन्य योगस्थानों को प्राप्त होता है' उसके प्रसंग में अल्पबहुत्व दो प्रकार है—योगस्थानअल्पबहुत्व और प्रदेशअल्पबहुत्व (सूत्र ४,२,४,१४४)।

यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि उक्त पदमीमांसादि तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से वेदनाद्रव्यविधान की प्ररूपणा करके उसके समाप्त हो जाने पर आगे का ग्रन्थ किस लिए कहा जा रहा है, धवला में इसका समाधान है। तदनुसार उत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामित्व के प्रसंग में 'बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है' (सूत्र १२) तथा जघन्य स्वामित्व के प्रसंग में भी 'बहुत-बहुत बार जघन्य योगास्थानों को प्राप्त होता है' (सूत्र ५४) यह कहा गया है। इन दोनों ही सूत्रों का अर्थ भली-भाँति अवगत नहीं हुआ, इसलिए इन दोनों सूत्रों के विषय में शिष्यों को निश्चय उत्पन्न कराने के लिए योगविषयक

प्ररूपणा की जा रही है। अभिप्राय यह है कि वेदनाद्रव्यविधान की चूलिका के प्ररूपणार्थ आगे का ग्रन्थ आया है। क्योंकि सूत्रों से सूचित अर्थ की प्ररूपणा करना, यह चूलिका का लक्षण है।

जैसी कि सूत्रकार द्वारा सूचना की गयी है, यहाँ मूल ग्रन्थ में प्रथमतः योगविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है (सूत्र ४,२,४,१४४-७३)।

अन्तिम (१७३वें) सूत्र की व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि यह मूलवीणा का अल्पबहुत्व आलाप देशामर्शक है, क्योंकि उसमें प्ररूपणा आदि अनुयोगद्वारों की सूचना की गयी है। इसलिए यहाँ प्ररूपणा, प्रमाण और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की जाती है।

योगप्ररूपणा

योगों की प्ररूपणा में सूत्रकार ने दस अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है।

(सूत्र ४,२,४,१७५-७६)

प्रथम सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में प्रथमतः धवलाकार ने योगविषयक निक्षेपार्थ को प्रकट करते हुए उसके ये चार भेद निर्दिष्ट किये हैं—नामयोग, स्थापनायोग, द्रव्ययोग और भावयोग। इस प्रसंग में नोआगमद्रव्ययोग के अन्तर्गत तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्ययोग को अनेक प्रकार का बतलाते हुए उनमें कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—सूर्य-नक्षत्रयोग, चन्द्र-नक्षत्रयोग, ग्रह-नक्षत्रयोग, कोण-अंगारयोग, चूर्णयोग मन्त्रयोग इत्यादि।

भावयोग के प्रसंग में नोआगमभावयोग के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—गुणयोग, सम्भवयोग और योजनायोग। इनमें गुणयोग सचित्तगुणयोग और अचित्तगुणयोग के भेद से दो प्रकार का है। रूप-रसादि के साथ पुद्‌गलद्रव्य का जो योग है, यह अचित्तगुणयोग है। इसी प्रकार आकाश-कालादि द्रव्यों का जो अपने-अपने गुणों के साथ योग है, इसे भी अचित्तगुणयोग जानना चाहिए। सचित्तगुणयोग औदयिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। उनमें गति-लिंग आदि के साथ जीव का योग है, यह औदयिक गुणयोग है। औपशमिक सम्यक्त्व व संयम के साथ जो जीव का योग है वह औपशमिक गुणयोग कहलाता है। केवलज्ञान-दर्शन आदि के साथ होनेवाले जीव के योग को क्षायिकगुणयोग कहा जाता है। अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान आदि के साथ जो जीव का योग है उसका नाम क्षायोपशमिकगुणयोग है। जीवत्व व भव्यत्व आदि के साथ रहनेवाला जीव का योग पारिणामिकगुणयोग कहलाता है।

देव मेरु के चलाने में समर्थ है इस प्रकार के योग का नाम सम्भवयोग है।

योजनायोग तीन प्रकार का है—उपपादयोग, एकान्तानुवृद्धियोग और परिणामयोग।

इन सब योगभेदों में यहाँ योजनायोग अधिकारप्राप्त है, क्योंकि शेष योगों से कर्मप्रदेशों का आना सम्भव नहीं है (पु० १०, पृ० ४३२-३४)।

धवला में 'स्थान' को भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भावस्थान के भेद से चार प्रकार का बतलाकर उनके अवान्तर भेदों को भी स्पष्ट करते हुए प्रकृत में औदयिक भावस्थान को अधिकारप्राप्त कहा गया है, क्योंकि तत्प्रायोग्य अघातिया कर्मों के उदय से योग उत्पन्न होता है।

सूत्रकार ने प्रकृत योगस्थान प्ररूपणा में अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा व वर्गप्ररूपणा आदि जिन दस अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है उनमें वर्गणाप्ररूपणा के प्रसंग में धवलाकार ने

'यहाँ गुरु के उपदेशानुसार छह अनुयोगद्वारों के आश्रय से वर्गणाजीवप्रदेशों की प्ररूपणा की जाती है' ऐसी सूचना कर प्ररूपणा, प्रमाण; श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों में वर्गणा सम्बन्धी जीवप्रदेशों की प्ररूपणा की है (पु० १०, पृ० ४४२-५१)।

स्थानप्ररूपणा के प्रसंग में एक जघन्य योगस्थान कितने स्पर्धकों का होता है, इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने इन तीन अनुयोद्वारों का निर्देश किया है—प्ररूपणा, प्रमाण और अल्पबहुत्व। इनमें से दूसरे 'प्रमाण' अनुयोगद्वार में किस वर्गणा में कितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं, इत्यादि का विचार धवला में गणित प्रक्रिया के आधार से विस्तारपूर्वक किया गया है (पृ० ४६३-७६)।

५. वेदनाक्षेत्रविधान

यह 'वेदना' अनुयोगद्वार के अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वारों में पाँचवाँ है। पिछले वेदनाद्रव्यविधान के समान इस अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में भी सूत्रकार ने पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा है (सूत्र ४,२,५,१-२)।

प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने क्षेत्र के अनेक अर्थों में से प्रसंगानुरूप अर्थ को प्रकट करने के लिए क्षेत्रविषयक निक्षेप किया है। तदनुसार यहाँ नोआगमद्रव्यक्षेत्र के तीसरे भेदभूत तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यक्षेत्र को अधिकारप्राप्त कहा गया है। नोआगमद्रव्यक्षेत्र का अर्थ आकाश है जो लोक और अलोक के भेद से दो प्रकार का है।

पदमीमांसा अनुयोगद्वार के प्रसंग में ज्ञानावरणीयवेदनाक्षेत्र की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट है, अनुत्कृष्ट है, जघन्य है या अजघन्य है, इन चार पृच्छाओं को उद्भावित करते हुए उत्तर में उसे सूत्रकार ने उत्कृष्ट आदि चारों प्रकार की कहा है।

इन दोनों सूत्रों को धवलाकार ने देशामर्शक कहकर सूत्रनिर्दिष्ट चार पृच्छाओं के अतिरिक्त सादि-अनादि आदि अन्य नौ पृच्छाओं और उनके समाधान को सूत्रसूचित कहा है। इस प्रकार सूत्रसूचित होने से धवला में उन चार के साथ अन्य नौ पृच्छाओं को भी उठाकर यथाक्रम से उनका समाधान किया गया है (पु० ११, पृ० ४-११)।

यह सब प्ररूपणा यहाँ धवला में ठीक उसी पद्धति से की गयी है जिस पद्धति से वेदनाद्रव्यविधान में की जा चुकी है।

स्वामित्व अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में उत्कृष्टपद के आश्रय से क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट किसके होती है, इस पृच्छा को उठाकर उसके उत्तर में कहा गया है कि वह एक हजार योजन अवगाहनावाले उस मत्स्य के होती है जो स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट पर स्थित है। आगे सूत्रकार ने उसकी कुछ अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया है (सूत्र ४,२, ५,७-१२)।

सूत्र आठ की व्याख्या करते हुए धवला में उस प्रसंग में यह पूछा गया है कि उस मत्स्य का आयाम तो एक हजार योजन सूत्र में निर्दिष्ट है, उसका विष्कम्भ और उत्सेध कितना है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उसका विष्कम्भ पाँच सौ (५००) योजन और उत्सेध दो सौ पचास (२५०) योजन है। इस पर पुनः यह पूछा गया है कि वह सूत्र के बिना कैसे जाना जाता है। उत्तर में प्रथम तो धवलाकार ने कहा है कि वह आचार्य परम्परागत पवाइज्जंत उपदेश से जाना जाता है। तत्पश्चात् यह भी कहा है कि उस महामत्स्य के विष्कम्भ

और उत्सेध का प्ररूपक सूत्र है ही नहीं, यह भी नियम नहीं है; क्योंकि सूत्र में निर्दिष्ट 'हजार योजन' यह देशामर्शक है। उससे उसके वे विष्कम्भ और उत्सेध सूचित हैं।

आगे 'स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य तटपर स्थित' यह जो सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है उसका स्पष्टीकरण है। तदनुसार अपनी बाह्य वेदिका तक स्वयम्भूरमण समुद्र है, उसके बाह्य तट से अभिप्राय उस समुद्र के आगे स्थित पृथिवीप्रदेश से है।

कुछ आचार्य यह कहते हैं कि स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट का अर्थ वहाँ पर स्थित उसकी अवयवभूत बाह्य वेदिका है, यह उसका अभिप्राय है। उनके इस कथन को असंगत बतलाते हुए धवलाकार ने कहा है कि उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि आगे के सूत्र (१०) में जो उसे काकलेश्या—काक के समान वर्णवाले तनुवातवलय—से संलग्न कहा गया है उसके साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह है कि तीनों ही वातवलय स्वयम्भूरमणसमुद्र की उस बाह्य वेदिका से सम्बद्ध नहीं हैं।

आगे प्रसंगप्राप्त अन्य शंकाओं का भी समाधान करते हुए यह पूछने पर कि स्वयम्भूरमण-समुद्र में स्थित जलचर वह महामत्स्य उसके बाह्य तट पर कैसे पहुँचा, धवलाकार ने कहा है कि पूर्व भव के वैरी किसी देव के प्रयोग से वहाँ उसका पहुँचना सम्भव है (पु० ११, पृ० १५-१८)।

आगे सूत्रोक्त उसकी अन्य विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए प्रसंगवश यह शंका की गयी है कि उसे सातवीं पृथिवी में न उत्पन्न कराकर सात राजुमात्र अध्वान जाकर नीचे निगोदों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया। समाधान में धवलाकार ने कहा है कि निगोदों में उत्पन्न होने पर अतिशय तीव्र वेदना के अभाव में उसके शरीर से तिगुणा वेदनासमुद्घात सम्भव नहीं है।

इसी प्रसंग में आगे यह पूछने पर कि सूक्ष्म निगोदों में उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य का विष्कम्भ और उत्सेध तिगुणा नहीं होता है, यह कैसे जाना जाता है। इसके समाधान में धवला-कार ने इतना मात्र कहा है कि वह 'नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में अनन्तर समय में उत्पन्न होगा' इस सूत्र (४,२,५,१२) से जाना जाता है।

धवला में आगे यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्कर्मप्राभृत में उसे निगोदों में उत्पन्न कराया गया है। पर यह योग्य नहीं है, क्योंकि तीव्र असाता से युक्त सातवीं पृथिवी के नार-कियों में उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य की वेदना और कषाय से सूक्ष्म निगोदों में उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य की वेदना और कषाय में समानता नहीं हो सकती। इसलिए इसी अर्थ को प्रधान रूप में ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना

ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्र में कहा गया है कि उसकी उत्कृष्ट क्षेत्रवेदना से भिन्न अनुत्कृष्ट वेदना है (सूत्र ४,२,५,१३)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने यह कहकर कि अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना के विकल्प असंख्यात हैं, उसकी विवेचना की है।

इसी प्रसंग में आगे धवला में कहा गया है कि इन क्षेत्रविकल्पों के स्वामी जो जीव हैं उनकी प्ररूपणा में ये छह अनुयोगद्वार हैं—प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व। इनके आश्रय से उनकी क्रम से प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने श्रेणि और अवहार इन दो अनुयोगद्वारों के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी प्ररूपणा करना शक्य नहीं

है, क्योंकि उनके विषय में उपदेश प्राप्त नहीं है।

वेदनीय की अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना

क्षेत्र की अपेक्षा वेदनीय की उत्कृष्ट वेदना जो केवली के होती है, उससे भिन्न उसकी अनुत्कृष्ट वेदना है, यह आगे के सूत्र में निर्दिष्ट है (सूत्र ४,२,५,१६-१७)।

यह अनुत्कृष्ट वेदनीय की क्षेत्रवेदना उत्कृष्ट रूप में प्रतरसमुद्घातगत केवली के होती है, क्योंकि उसके अन्य अनुत्कृष्ट क्षेत्र में इससे अधिक क्षेत्र अन्यत्र सम्भव नहीं है। यह अनुत्कृष्ट क्षेत्र पूर्वोक्त उत्कृष्ट क्षेत्र से विशेष हीन है, क्योंकि इसमें वातवलयों के भीतर जीवप्रदेश नहीं रहते, जबकि लोकपूरणसमुद्घात में वातवलयों के भीतर भी जीवप्रदेश रहते हैं। यह वेदनीय की अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना का प्रथम विकल्प है। इसके अनन्तर अनुत्कृष्ट क्षेत्र का स्वामी वह केवली है जो सबसे विशाल अवगाहना से कपाटसमुद्घात को प्राप्त है। यह उस अनुत्कृष्टक्षेत्रवेदना का दूसरा विकल्प है जो पूर्वोक्त अनुत्कृष्ट क्षेत्र से असंख्यातगुणा हीन है। धवला में वेदनीय की अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना के तृतीय, चतुर्थ आदि विकल्पों को भी स्पष्ट किया गया है।

आगे धवला में इन क्षेत्रों के स्वामी जीवों की प्ररूपणा पूर्व पद्धति के अनुसार प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों में की गयी है (पु० ११, पृ० ३०-३३)।

ज्ञानावरणीय की जघन्य क्षेत्रवेदना

ज्ञानावरणीय की जघन्य क्षेत्रवेदना सर्वजघन्य अवगाहना में वर्तमान तीन समयवर्ती आहारक व तीन समयवर्ती तद्भवस्थ सूक्ष्मनिगोद जीव अपर्याप्तक के कही गयी है। उसकी अजघन्य क्षेत्रवेदना उससे भिन्न है, यह सूत्र में निर्दिष्ट है (सूत्र ४,२,५,१९-२१)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवला में कहा गया है कि ज्ञानावरण की अजघन्य क्षेत्रवेदना अनेक प्रकार की है। उनके स्वामियों की प्ररूपणा करते हुए कहा है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग का विरलन करके, घनांगुल को समखण्ड करने पर एक-एक रूप के प्रति सूक्ष्मनिगोद जीव की जघन्य अवगाहना प्राप्त होती है। इसके आगे एक प्रदेश अधिक के क्रम से वहीं पर स्थित निगोद जीव अजघन्य क्षेत्रवेदना में जघन्य क्षेत्र का स्वामी है। आगे भी इसी पद्धति से धवला में अजघन्य क्षेत्रवेदना के द्वितीयादि विकल्पों का विवेचन है।

प्रसंग के अन्त में यहाँ पूर्वोक्त प्ररूपणा-प्रमाणादि छह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट क्षेत्रों के समान करने की सूचना दी गयी है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में सूत्रकार द्वारा जो जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपद इन तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से प्रकृत क्षेत्रवेदनाविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है उसमें विशेष व्याख्येय कुछ नहीं है।

६. वेदनाकालविधान

काल के प्रकार—यहाँ प्रारम्भ में धवला में काल के ये सात भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्यकाल, सामाचारकाल, अद्धाकाल प्रमाणकाल, और भावकाल। आगे क्रम से इन सब के स्वरूप का स्पष्टीकरण है। उस प्रसंग में तद्व्यतिरिक्त नोआगमकाल

के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रधानकाल और अप्रधानकाल। इनमें जो शेष पांच द्रव्यों के परिणमन का हेतुभूत, रत्नराशि के समान प्रदेशचय से रहित, अमूर्त, अनादिनिधन व लोकाकाश के प्रदेशों का प्रमाण काल है उसे प्रधानकाल कहा गया है। अप्रधानकाल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें डांस-मच्छर आदि के काल को सचित्त, धूलिकाल आदि को अचित्त और डांस सहित शीतकाल आदि को मिश्रकाल कहा गया है।

सामाचारकाल लौकिक और लोकोत्तरीय के भेद से दो प्रकार का है। इनमें वन्दनाकाल, नियमकाल, स्वाध्यायकाल, ध्यानकाल आदि को लोकोत्तरीय तथा कर्षणकाल, लुननकाल, वपनकाल आदि को लौकिक काल कहा गया है।

अद्धाकाल अतीत, अनागत और वर्तमान काल के भेद से तीन प्रकार का है। पल्योपम, सागरोपम आदि प्रमाणकाल के अन्तर्गत हैं।

इन सब कालभेदों में यहाँ धवला में प्रमाणकाल प्रसंगप्राप्त है।

पूर्वोक्त वेदनाद्रव्यविधान और वेदनाक्षेत्रविधान के समान यहाँ भी वे ही पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व नाम के तीन अनुयोगद्वार हैं। उसी पद्धति से यहाँ भी पदमीमांसा के प्रसंग में धवलाकार ने पृच्छासूत्र और उत्तरसूत्र इन दोनों को देशामर्शक कहकर उनसे सूचित अन्य नौ पृच्छाओं को उठाकर समस्त तेरह प्रकार की पृच्छाओं का समाधान किया है। पूर्व पद्धति के अनुसार यहाँ दोनों सूत्रों के अन्तर्गत अन्य तेरह सूत्रों का निर्देश करते हुए समस्त १६९ पृच्छाओं का उल्लेख किया गया है (पु० ११, पृ० ७८-८४)।

स्वामित्व के प्रसंग में सूत्रकार ने उसे जघन्यपदविषयक और उत्कृष्टपदविषयक के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया है (सूत्र ४,२,६,६)।

प्रसंग पाकर यहाँ धवला में नाम-स्थापनादि के भेद से जघन्य और उत्कृष्ट के अनेक भेद-प्रभेदों का निर्देश करते हुए पृथक्-पृथक् उनके स्वरूप का विवेचन किया गया है।

काल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्र में कहा गया है कि वह अन्यतर पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, सब पर्याप्तियों से पर्याप्त कर्मभूमिज अथवा अकर्मभूमिज आदि के होती है (सूत्र ४,२,६,८)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने सूत्रों में प्रयुक्त अनेक पदों का पृथक्-पृथक् विवेचन कर उनकी सार्थकता दिखलायी है। विशेष ज्ञातव्य यहाँ यह है कि प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'अकर्मभूमिज' शब्द से धवलाकार ने देव-नारकियों को और 'कर्मभूमिप्रतिभाग' से स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में उत्पन्न होनेवाले जीवों को ग्रहण किया है।

धवलाकार ने कहा है कि इसके पूर्व सूत्र में प्रयुक्त 'कर्मभूमिज' शब्द से यह अभिप्राय था कि पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न जीव ही ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं। इस प्रकार देव-नारकियों और स्वयंप्रभ पर्वत के परभागवर्ती जीवों के ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का निषेध प्रकट होता था। अतः ऐसा अनिष्ट प्रसंग प्राप्त न हो, इसके लिए सूत्र में आगे 'अकर्मभूमिज' और 'कर्मभूमिप्रतिभाग' को ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार सूत्र में प्रयुक्त 'असंख्यातवर्षायुष्क' से एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि रूप आगे की आयुवाले तिर्यंच-मनुष्यों को न ग्रहण करके देव-नारकियों को ग्रहण किया गया है।

इस प्रसंग में यह शंका उत्पन्न हुई है कि देव-नारकियों में भी तो संख्यात वर्ष की आयुवाले हैं। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि सचमुच ही वे असंख्यात वर्ष की आयुवाले नहीं हैं,

संख्यात वर्ष की आयुवाले ही हैं, पर यहाँ एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि आगे की आयु के विकल्पों को असंख्यात वर्षायु माना गया है। आगे उदाहरण देते हुए बतलाया है कि 'असंख्यात वर्ष' शब्द को 'राजवृक्ष' के समान अपने अर्थ को छोड़कर रूढ़ि के बल से आयु विशेष में वर्तमान ग्रहण किया गया है (पु० ११, पृ० ८८-९१)।

ज्ञानावरण की अनुत्कृष्ट कालवेदना

काल की अपेक्षा ज्ञानवरण की अनुत्कृष्ट वेदना उसकी पूर्वोक्त उत्कृष्ट वेदना से भिन्न है, ऐसा सूत्र में निर्देश है (सूत्र ४,२,६,९)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि वह अनुत्कृष्ट वेदना अनेक प्रकार की है तथा स्वामी भी उसके अनेक प्रकार के हैं इसलिए हम उनकी प्ररूपणा करेंगे, यह कहते हुए उन्होंने धवला में उनकी प्ररूपणा की है। जैसे—

तीन हजार वर्ष आवाधा करके तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उसकी स्थिति के बँधने पर उत्कृष्ट स्थिति होती है। संदृष्टि में यहाँ उसका प्रमाण दो सौ चालीस (२४०) है। उसकी अनुत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट रूप में दो सौ उनतालीस (२३९) होगी। उसकी अपेक्षा अन्य जीव के दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति के बाँधने पर अनुत्कृष्ट स्थिति का दूसरा स्थान २३८ होता है। इस क्रम से आवाधाकाण्डक से हीन उत्कृष्ट स्थिति के बाँधे जाने पर उसका अन्य अनुत्कृष्ट स्थान होता है। यहाँ संदृष्टि में आवाधाकाण्डक का प्रमाण ३० अंक माना गया है। इसे उत्कृष्ट स्थिति में से घटा देने पर २१० (२४०-३०) शेष रहते हैं। वहाँ का स्थान इतना मात्र होता है।

इसी प्रकार से आगे संदृष्टि में ८ को आवाधा का प्रमाण मानकर एक समय अधिक आवाधाकाण्डक (१+३०) से हीन उत्कृष्ट बँधने पर अनुत्कृष्ट स्थिति का अन्य स्थान (२४०—२३१=२०९) होता है।

इसी क्रम से दो आदि आवाधाकाण्डकों से हीन उत्कृष्ट स्थिति के बाँधे जाने पर अनुत्कृष्ट स्थिति के अन्य विकल्पों का धवला में आगे विचार किया गया है।

आगे सूत्रकार द्वारा शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट व जघन्य-अजघन्य कालवेदना की जो प्ररूपणा की गयी है उसकी व्याख्या पूर्व पद्धति के अनुसार धवला में यथा प्रसंग की गयी है।

तीसरे अल्पवहुत्व अनुयोगद्वार में सूत्रकार द्वारा कालवेदना सम्बन्धी अल्पवहुत्व की प्ररूपणा है उसमें विशेष व्याख्येय विषय कुछ नहीं है।

वेदनाकालविधान-चूलिका

अल्पवहुत्व अनुयोगद्वार की समाप्ति के वाद सूत्रकार ने कहा है कि मूलप्रकृतिस्थितिवन्ध पूर्व में ज्ञातव्य है। उसमें ये चार अनुयोगद्वार हैं—स्थितिवन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आवाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पवहुत्व (सूत्र ४,२,६,३६)।

इसकी व्याख्या में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्र में जिन पदमीमांसा आदि तीन अनुयोगद्वारों का निर्देश था उनके आश्रय से वेदनाकालविधान की प्ररूपणा की जा चुकी है। इस प्रकार वेदनाकालविधान के समाप्त हो जाने पर अव आगे के सूत्र को प्रारम्भ करना

निरर्थक है।

इस शंका का निराकरण करते हुए धवला में कहा गया है कि उक्त तीन अनुयोगद्वारों के द्वारा प्ररूपणा कर देने पर वह वेदनाकालविधान समाप्त हो ही चुका है। किन्तु समाप्त हुए उस कालविधान की आगे ग्रन्थ द्वारा यह चूलिका कही जा रही है। कालविधान से सूचित अर्थों का विवरण देना इस चूलिका का प्रयोजन है। क्योंकि जिस अर्थप्ररूपणा के करने पर पूर्व प्ररूपित अर्थ के विषय में शिष्यों को निश्चय उत्पन्न होता है वह चूलिका कहलाती है। इसलिए यह आगे का ग्रन्थ सम्बद्ध ही है, ऐसा समझना चाहिए (पु० ११, पृ० १४०)।

यहाँ सूत्रकार द्वारा स्थितिबन्ध स्थानों की प्ररूपणा में स्थितिबन्धस्थानों के जिस अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा है, धवलाकार ने उसे अव्वोगाढअल्पबहुत्वदण्डक देशामर्शक कहा है, और उसके अन्तर्गत चार प्रकार के अल्पबहुत्व का निरूपण किया है। वहाँ सर्वप्रथम अल्पबहुत्व के इन दो भेदों का निर्देश है—मूलप्रकृतिअल्पबहुत्व और अव्वोगाढअल्पबहुत्व। आगे उनमें से प्रथमतः स्वस्थान और परस्थान के भेद से दो प्रकार के अव्वोगाढअल्पबहुत्व की और तत्पश्चात् स्वस्थान और परस्थान के भेद से दो प्रकार के मूलप्रकृतिअल्पबहुत्व की प्ररूपणा हुई है।[1]

पश्चात् धवला में संक्लेश-विशुद्धिस्थानों के अल्पबहुत्व के प्रसंग में कर्मस्थिति के बन्ध के कारणभूत परिणामों का निरूपण प्ररूपणा, प्रमाण और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों के आश्रय से किया गया है (पु० ११, पृ० २०५-१०)।

सूत्रकार द्वारा यहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के संक्लेश-विशुद्धिस्थानों से बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के संक्लेश-विशुद्धिस्थानों को असंख्यातगुणा निर्दिष्ट किया गया है।

(सूत्र ४,२,६,५१-५२)

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि यद्यपि 'असंख्यातगुणत्व' बुद्धिमान शिष्यों के के लिए सुगम है, तो भी मन्दबुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ हम यहाँ असंख्यातगुणत्व के साधन को कहते हैं, ऐसी सूचना कर उन्होंने संदृष्टिपूर्वक उसका विस्तार से स्पष्टीकरण किया है।

निषेकप्ररूपणा के प्रसंग में अन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा के समाप्त हो जाने पर धव-लाकार ने श्रेणिप्ररूपणा से सूचित अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है।

आबाधाकाण्डकप्ररूपणा के प्रसंग में सूत्र में कहा गया है कि पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी व चतु-रिन्द्रिय आदि जीवों की आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति से एक-एक समय के क्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र नीचे जाकर एक आबाधाकाण्डक होता है। यह उनकी जघन्य स्थिति तक चलता है (सूत्र ४,२,६,१२२)।

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि आबाधा के अन्तिम समय को विवक्षित कर जीव उत्कृष्ट स्थिति को बाँधता है। उसी आबाधा के अन्तिम समय को विवक्षित कर वह एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति को भी बाँधता है। इस क्रम से वह उस आबाधा के अन्तिम समय को विवक्षित कर दो समय कम, तीन समय कम इत्यादि के क्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र से कम तक उत्कृष्ट स्थिति को बाँधता है। इस प्रकार आबाधा के अन्तिम समय से बन्ध के

---

१. धवला पु० ११, पृ० १४७-२०५ (अव्वो० अल्प० पृ० १४७-८२, मूल प्र० अल्प०, पृ० १८२-२०५)

योग्य उन स्थितिविशेषों की 'आबाधाकाण्डक' यह संज्ञा होती है।

आबाधा के द्विचरम समय को विवक्षित करके भी उक्त प्रकार से पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक हीन स्थिति को बांधता है। यह दूसरा आबाधाकाण्डक होता है। इसी प्रकार आबाधा के त्रिचरम समय की विवक्षा में पूर्व के समान तीसरा आबाधाकाण्डक होता है। यह क्रम उन सात कर्मों की जघन्य स्थिति के प्राप्त होने तक चलता है।

आयुकर्म की अमुक स्थिति इस आबाधा में बँधती है, ऐसा कुछ नियम नहीं है। पूर्वकोटि के त्रिभाग को आबाधा करके तेतीस सागरोपम प्रमाण स्थिति भी बँधती है। इस क्रम से उसी आबाधा से दो समय कम, तीन समय कम आदि के रूप से क्षुद्रभवग्रहण तक आयु बँधती है। ऐसे ही आयुबन्धक के विकल्प दो समय कम, तीन समय कम आदि उस पूर्वकोटि के त्रिभागरूप आबाधा में चलते हैं। इसलिए सूत्र में आयुकर्म का निषेध किया गया है।[1]

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के प्रसंग में भी धवलाकार ने अल्पबहुत्व से सूचित स्वस्थान और परस्थान अल्पबहुत्वों की प्ररूपणा की है।

वेदनाकालविधान-चूलिका २

यहाँ स्थितिबन्धाध्यवसानप्ररूपणा के प्रसंग में इन तीन अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है—जीवसमुदाहार, प्रकृतिसमुदाहार और स्थितिसमुदाहार (सूत्र ४,२,६,१६५)।

धवला में इस दूसरी चूलिका की सार्थकता को प्रकट करते हुए उक्त तीन अनुयोगद्वारों में से प्रथम जीवसमुदाहार में साता व असाता की एक-एक स्थिति में इतने जीव होते हैं और इतने नहीं होते हैं; इसका खुलासा है। अमुक प्रकृति के इतने स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान होते हैं और इतने नहीं होते, इसका परिज्ञान दूसरे प्रकृतिसमुदाहार में कराया गया है। विवक्षित स्थिति में इतने स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान होते हैं और इनने नहीं होते हैं, इसे स्पष्ट करना तीसरे स्थिति-समुदहार का प्रयोजन रहा है (पु० ११, पृ० ३०८-११)।

यहाँ मूल में जो विवक्षित विषय की प्ररूपणा की गयी है उसमें अधिक व्याख्येय प्रायः कुछ विषय नहीं रहा है, इसलिए धवला में प्रसंगप्राप्त सूत्रों के अभिप्राय को ही स्पष्ट किया गया है। कहीं पर देशामर्शक सूत्र से सूचित प्ररूपणा, प्रमाण, अवहार, भागाभाग और अल्प-बहुत्व की भी संक्षेप में प्ररूपणा कर दी गयी है।[2]

७. वेदनाभावविधान

धवलाकार ने प्रारम्भ में भाव के ये चार भेद निर्दिष्ट किये हैं—नामभाव, स्थापनाभाव, द्रव्यभाव और भावभाव। इनमें नोआगमद्रव्यभाव के तीन भेदों के अन्तर्गत तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यभाव के इन दो भेदों का निर्देश है—कर्मद्रव्यभाव और नोकर्मद्रव्यभाव। इनमें कर्मद्रव्यभाव के स्वरूप का निर्देश करते हुए धवला में कहा गया है कि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की जो अज्ञानादि को उत्पन्न करने की शक्ति है उसका नाम नोआगमकर्मद्रव्यभाव है। नोआ-गमनोकर्मद्रव्यभाव सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार का है। इनमें केवलज्ञान व केवल-

---

१. धवला पु० ११, पृ० २६७-६६

२. सूत्र १८१, पृ० ३२०-२१ व सूत्र २०३, पृ० ३२८-३२

दर्शन आदि को सचित्तनोकर्मद्रव्य भाव कहा गया है। अचित्त नोकर्मद्रव्यभाव दो प्रकार का है— मूर्तद्रव्यभाव और अमूर्तद्रव्यभाव। इनमें वर्ण-गन्धादि को मूर्तद्रव्यभाव और अवगाहना आदि को अमूर्तद्रव्यभाव कहा है।

उपर्युक्त भाव के उन भेद-प्रभेदों में यहाँ कर्मद्रव्यभाव को अधिकारप्राप्त कहा गया है, क्योंकि अन्य भावों का वेदना से सम्बन्ध नहीं है (पु० १२, पृ० १-३)।

वेदनाद्रव्यविधान आदि के समान इस अनुयोगद्वार में भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों का निर्देश है।

पदमीमांसा के प्रसंग में धवलाकार ने प्रकृत पृच्छासूत्र और उत्तरसूत्र (३-४) दोनों को देशामर्शक कहकर सूत्रनिर्दिष्ट उत्कृष्टादि चार पृच्छाओं के साथ सादि व अनादि आदि अन्य नौ पृच्छाओं को सूत्रसूचित कहा है। इस प्रकार पूर्व पद्धति के अनुसार यहाँ भी उन्होंने समस्त तेरह पृच्छाओं को उद्भावित कर यथाक्रम से उनका समाधान किया है।

स्वामित्व अनुयोगद्वार में सूत्रकार के द्वारा भाव की अपेक्षा जो ज्ञानावरणादि कर्मों की वेदना की प्ररूपणा की गयी है उसमें अधिक कुछ व्याख्येय नहीं रहा है, इसीलिए धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त सूत्रों के अन्तर्गत पदों की सार्थकता को प्रकट करते हुए उनका अभिप्राय ही स्पष्ट किया है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में भी विशेष व्याख्येय विषय न रहने से सूत्रों का अभिप्राय ही स्पष्ट किया गया है। विशेषता यहाँ यह रही है कि सूत्रकार ने जिस अल्पबहुत्व की प्ररूपणा प्रथमतः दुरूह गाथासूत्रों में और तत्पश्चात् उसी को स्पष्ट करते हुए गद्यसूत्रों में भी की है,[1] धवलाकार ने उससे सूचित उत्तरप्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागविषयक स्वस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है।[2]

इसी प्रकार से आगे सूत्रकार ने चौंसठ पदवाले जिस जघन्य परस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है,[3] धवलाकार ने उससे सूचित स्वस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है (पु० १२, पृ० ७५-७८)।

वेदनाभावविधान-चूलिका १

प्रकृत वेदनाभावविधान में जो तीन चूलिकाएँ हैं उनमें प्रथम चूलिका में सूत्रकार ने प्रथमतः दो गाथासूत्रों द्वारा निर्जीर्यमाण प्रदेश और काल की विशेषतापूर्वक सम्यक्त्वोपत्ति आदि ग्यारह गुणश्रेणियों की प्ररूपणा की है (गाथासूत्र ७-८, पु० १२, पृ० ७५-७८)।

इन सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग में धवला में प्रथमतः यह शंका उपस्थित हुई है कि भावविधान की प्ररूपणा के प्रसंग में ग्यारह गुणश्रेणियों में प्रदेशनिर्जरा और उसके काल की प्ररूपणा किस लिए की जा रही है। समाधान में धवलाकार ने कहा है कि विशुद्धियों के द्वारा जो अनुभाग का क्षय होता है, उससे होनेवाली प्रदेशनिर्जरा का ज्ञापन कराते हुए यह प्रकट किया गया है कि जीव और कर्मों के सम्बन्ध का कारण अनुभाग ही है। इसी अभिप्राय को

१. गाथासूत्र १,२,३ व गद्यसूत्र ६५-११७ (पु० १२, पृ० ४०-५६)
२. धवला पु० १२, पृ० ६०-६२
३. गाथासूत्र ४-६, गद्यसूत्र ११८-७४ (पु० १२, पृ० ६२-७५)

अभिव्यक्त करने के लिए उक्त ग्यारह गुणश्रेणियों की प्ररूपणा की जा रही है।

प्रकारान्तर से इस शंका का समाधान करते हुए धवला में आगे यह भी कहा गया है—अथवा द्रव्यविधान में जघन्य स्वामित्व के प्रसंग में गुणश्रेणिनिर्जरा की सूचना की गयी है।[1] उस गुणश्रेणिनिर्जरा का कारण भाव है, इसलिए यहाँ भावविधान में उसके विकल्पों की प्ररूपणा के लिए उस गुणश्रेणिनिर्जरा और उसके काल की प्ररूपणा की जा रही है।

गाथा में प्रयुक्त 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' पद को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' से दर्शनमोह को उपशमाकर प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति को ग्रहण करना चाहिए (पु० १२, पृ० ७९)।

इन गाथासूत्रों का स्पष्टीकरण स्वयं मूलग्रन्थकार ने गद्यसूत्रों द्वारा किया है।[2]

ग्यारह गुणश्रेणियों में होनेवाली प्रदेशनिर्जरा के गुणकार को स्पष्ट करते हुए सूत्रों में दर्शनमोह उपशामक के गुणश्रेणिगुणकार को सबसे स्तोक कहा गया है (सूत्र ४,२,७,१७५)।

इसकी व्याख्या में धवला में कहा है कि दर्शनमोह उपशामक के प्रथम समय में निर्जरा को प्राप्त द्रव्य सबसे स्तोक होता है। उसके दूसरे समय में निर्जीर्ण द्रव्य उससे असंख्यातगुणा होता है। तीसरे समय में निर्जीर्ण द्रव्य उससे असंख्यातगुणा होता है। इस क्रम से उस दर्शनमोह उपशामक के अन्तिम समय तक वह उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा होता गया है। सूत्र में इस गुणकार की पंक्ति को 'गुणश्रेणि' कहा है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह गुणश्रेणि गुणकार सबसे महान् है, फिर भी आगे कहे जानेवाले जघन्य गुणकार की अपेक्षा भी वह स्तोक है।

धवलाकार ने आगे भी प्रसंगप्राप्त इन सूत्रों का अभिप्राय स्पष्ट किया है।

वेदनाभावविधान-चूलिका २

इस चूलिका में अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा आदि बारह अनुयोगद्वारों के आश्रय से अनुभागबन्धाध्यवसानस्थानों के कार्यभूत अनुभागस्थानों की प्ररूपणा की गयी है।

यहाँ अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा के प्रसंग में धवला में अविभागप्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा और स्पर्धकों की प्ररूपणा संदृष्टिपूर्वक हुई है। यहीं अविभागप्रतिच्छेदों के आधारभूत परमाणुओं की भी, प्ररूपणाप्ररूपणाप्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों के आश्रयसे की गयी है (पु० १२, पृ० ८८-१११)।

क्रमप्राप्त स्थान, प्ररूपणा आदि अन्य अनुयोगद्वारों के विषय का भी आवश्यकतानुसार धवला में निरूपण है।

विशेष रूप से 'षट्स्थानप्ररूपणा' नामक छठे अनुयोगद्वार के प्रसंग में सूत्र में जो यह निर्देश है कि 'अनन्तगुणपरिवृद्धि सब जीवों से वृद्धिगत होती है' (सूत्र ४,२,७,२१३-१४) उसका स्पष्टीकरण धवला में बहुत विस्तार से हुआ है। सर्वप्रथम वहाँ इस सूत्र के द्वारा अन्तरोपनिधा की प्ररूपणा के साथ इसी सूत्र के द्वारा देशामर्शक भाव से परम्परोपनिधा की प्ररूपणा की

---

१. सूत्र ४,२,४,७४ व उसकी धवला टीका (यहाँ धवलाकार ने उन ग्यारह गुणश्रेणियों का पृथक्-पृथक् उल्लेख भी कर दिया है) पु० १०, पृ० २९५-९६

२. सूत्र ४,२,७,१७५-७६; पु० १२, पृ० ८०-८७

सूचनापूर्वक धवला में प्रसंगवश गणित प्रक्रिया के आधार से संदृष्टियों के साथ अनेक प्रासंगिक विषयों की विस्तार से चर्चा की है।

वेदनाभावविधान-चूलिका ३

इस चूलिका में एकस्थानजीवप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वार हैं। उनके अन्तर्गत विषय का परिचय 'मूलग्रन्थगत-विषयपरिचय' में संक्षेप में कराया जा चुका है।

प्रसंगानुसार धवला में भी जहाँ-तहाँ उसका विवेचन है।

८. वेदनाप्रत्ययविधान

मूल ग्रन्थ में ज्ञानावरणादि के जिन प्राणातिपात आदि प्रत्ययों का यहाँ निर्देश किया गया ह, धवला में उन सूत्रों के प्रसंग में उनके स्वरूप आदि का स्पष्टीकरण है; अधिक व्याख्येय वहाँ कुछ रहा नहीं है।[1]

९. वेदनास्वामित्वविधान

यह 'वेदना' अधिकार के अन्तर्गत सोलह अनुयोगद्वारों में नौवाँ है। यहाँ सर्वप्रथम जिस सूत्र द्वारा इस 'वेदनास्वामित्वविधान' का स्मरण कराया गया है उसकी व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि जिस जीव ने जिस कर्म को बाँधा है उसकी वेदना का स्वामी वही होगा, यह उपदेश के बिना भी जाना जाता है, इसलिए इस वेदनास्वामित्वविधान को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। समाधान में धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि कर्मस्कन्ध जिससे उत्पन्न हुआ है वह यदि वहीं स्थित रहता तो वही उसकी वेदना का स्वामी हो सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि कर्मों की उत्पत्ति किसी एक से सम्भव नहीं हैं। आगे कहा गया है कि कर्मों की उत्पत्ति केवल जीव से ही सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर कर्मों से रहित सिद्धों से भी उनकी उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि एक मात्र अजीव से भी उनकी उत्पत्ति स्वीकार की जाय तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर जीव से भिन्न काल, पुद्‍गल और आकाश से भी उनकी उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। इसी प्रकार परस्पर के समवाय से रहित जीव-अजीवों से भी उनकी उत्पत्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि उस परिस्थिति में समवाय से रहित सिद्ध जीव और पुद्‍गलों से भी कर्मो के उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होता है। परस्पर संयोग को प्राप्त जीव और अजीव से भी वे उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि वैसा होने पर संयोग को प्राप्त हुए जीव और पुद्‍गलों से उनके उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि समवाय को प्राप्त जीव और अजीव से वे उत्पन्न हो सकते हैं तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस परिस्थिति में अयोगिकेवली के भी कर्मवन्ध का प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह है कि वे कर्म से समवाय को प्राप्त हैं ही। इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इनके उत्पन्न करने में समर्थ पुद्‍गलद्रव्य और जीव ये दोनों कर्मवन्ध के कारण हैं।

आगे यह भी कहा गया है कि यह जीव और पुद्‍गल का वन्ध प्रवाहरूप से अनादि है,

---

१. धवला पु० १२, पृ० २७५-९३

क्योंकि इसके बिना अमूर्त जीव और मूर्त पुद्गल का वन्ध घटित नहीं होता। इस प्रकार प्रवाह-स्वरूप से अनादि होकर भी वह वन्धविशेष की अपेक्षा सादि व सान्त भी है। कारण यह कि इसके बिना एक ही जीव में उत्पन्न देवादि पर्यायों के सदा अवस्थित रहने का प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होनेवाला है। अतः दो, तीन अथवा चार कारणों से उत्पन्न होकर जीव में एक स्वरूप से स्थित वेदना उनमें एक के ही होती है, अन्य के नहीं होती है; यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार शिष्य के सन्देह को दूर करने के लिए इस 'वेदनास्वामित्वविधान' को प्रारम्भ करना उचित ही है (पु० १२, पृ० २९४-९५)।

आगे मूल सूत्रों में जो वेदना की स्वामित्वविषयक प्ररूपणा की गयी है उसमें धवलाकार ने सूत्रों के अभिप्राय को ही प्रायः स्पष्ट किया है, विशेष वर्णनीय विषय वहाँ कुछ नहीं है।

१०. वेदनावेदनाविधान

'वेद्यते वेदिष्यते इति वेदना' अर्थात् जिसका वर्तमान में अनुभव किया जा रहा है व भविष्य में अनुभव किया जानेवाला है उसका नाम वेदना है, इस निरुक्ति के अनुसार आठ प्रकार के कर्मपुद्गलस्कन्ध को वेदना कहा गया है। 'वेदनावेदनाविधान' में जो दूसरा वेदना शब्द है उसका अर्थ अनुभवन है। 'विधान' का अर्थ प्ररूपणा है। तदनुसार प्रकृत अनुयोगद्वार में वर्तमान और भविष्य में जो कर्म का वेदन या अनुभवन होता है, इसकी प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार धवला में वेदनावेदनाविधान अनुयोगद्वार की सार्थकता प्रकट की गयी है।

सूत्रकार ने नैगमनय की अपेक्षा समस्त कर्म को 'प्रकृति' कहा है (सूत्र ४,२,१०,२)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि बद्ध, उदीर्ण और उपशान्त के भेद से जो तीन प्रकार का समस्त कर्म अवस्थित है वह नैगमनय की अपेक्षा प्रकृति है, क्योंकि 'प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मन इति प्रकृतिः' इस निरुक्ति के अनुसार जो आत्मा के अज्ञानादिरूप फल को किया करता है उसका नाम प्रकृति है।

यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि जो कर्मपुद्गल फलदाता के रूप से परिणत है वह उदीर्ण कहलाता है। जो कार्मण पुद्गलस्कन्ध मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग के आश्रय से कर्मरूपता को प्राप्त हो रहा है उसे वध्यमान कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं से रहित कर्मपुद्गलस्कन्ध को उपशान्त कहा जाता है। इनमें उदीर्ण को 'प्रकृति' नाम से कहना संगत है, क्योंकि वह फलदाता के रूप से परिणत है। किन्तु वध्यमान और उपशान्त तो 'प्रकृति' नहीं हो सकते, क्योंकि वे फलदाता के स्वरूप से परिणत नहीं हैं।

समाधान में धवलाकार ने कहा है कि ऐसी आशंका करना उचित नहीं है, क्योंकि 'प्रकृति' शब्द तीनों कालों में सिद्ध होता है। इस प्रकार जो कर्मस्कन्ध वर्तमान में फल देता है और जो आगे फल देनेवाला है उन दोनों कर्मस्कन्धों की प्रकृतिरूपता सिद्ध है। अथवा जिस तरह उदीर्ण कर्मस्कन्ध वर्तमान में फल देता है उसी तरह वध्यमान और उपशान्त कर्मस्कन्ध भी वर्तमान काल में फल देते हैं; क्योंकि उन दोनों अवस्थाओं के बिना कर्म का उदय सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व और उत्कृष्ट अनुभाग के होने पर तथा उत्कृष्ट रूप में उन स्थिति और अनुभाग का वन्ध होने पर भी सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम का ग्रहण सम्भव नहीं है। इससे भी वध्यमान और उपशान्त कर्मस्कन्ध का वर्तमान में फल देना सिद्ध होता है।

अन्य प्रकार से भी उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए आगे धवला में कहा गया है—
अथवा नैगमनय भूत और भविष्यत् पर्यायों को वर्तमान के रूप में स्वीकार करता है इसलिए इस नय की अपेक्षा उन तीनों प्रकार के कर्मस्कन्धों को 'प्रकृति' कहा गया है।

(पु० १२, पृ० ३०२-४)

इस वेदनावेदनविधान के प्रसंग में सामान्य से सूत्रों में इस प्रकार निर्देश है—(१) नैगम-नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना कथंचित् बध्यमान वेदना है। (२) कथंचित् वह उदीर्ण वेदना है। (३) कथंचित् उपशान्त वेदना है। (४) कथंचित् बध्यमान वेदनाएँ हैं। (५) कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं। (६) कथंचित् उपशान्त वेदनाएँ हैं। (७) कथंचित् बध्यमान और उदीर्ण वेदना है। (८) कथंचित् बध्यमान (एक) व उदीर्ण (अनेक) वेदनाएँ हैं। (९) कथंचित् बध्यमान (अनेक) और उदीर्ण (एक) वेदना है। (१०) कथंचित् बध्यमान (अनेक) और उदीर्ण (अनेक) वेदनाएँ हैं। (सूत्र ४,२,१०,३-१२)

धवला में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—१. एक जीव की एक समय में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् बध्यमान वेदना है। २. एक जीव की एक समय में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् उदीर्ण वेदना है। ३. एक जीव की एक समय में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् उपशान्त वेदना है। ४ (१) एक जीव की एक समय में बाँधी गयी अनेक प्रकृतियाँ कथंचित् बध्यमान वेदनाएँ हैं। ४ (२) अनेक जीवों के द्वारा एक समय में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् बध्यमान वेदना है। ४ (३) अनेक जीवों के द्वारा एक समय में बाँधी गयी अनेक प्रकृतियाँ कथंचित् बध्यमान वेदनाएँ है। ५ (१) एक जीव की अनेक समयों में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् उदीर्ण वेदना है। ५ (२) एक जीव की एक समय में बाँधी गयी अनेक प्रकृतियाँ कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं। ५ (३) एक जीव की अनेक समयों में बाँधी गयी अनेक प्रकृतियाँ कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं। ५ (४) अनेक जीवों की एक समय में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् उदीर्ण वेदना है। ५ (५) अनेक जीवों की अनेक समयों में बाँधी गयी एक प्रकृति कथंचित् उदीर्ण वेदना है। ५ (६) अनेक जीवों की अनेक प्रकृतियाँ एक समय में बाँधी गयी कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं। ५ (७) अनेक जीवों की अनेक प्रकृतियाँ अनेक समयों में बाँधी गयी कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं। इत्यादि।

इस पद्धति से धवलाकार ने जीव, प्रकृति और समय इनकी एक व अनेक की विवक्षा से प्रसंगानुसार एकसंयोगी, द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी अनेक भंगों को स्पष्ट किया है तथा प्रस्तारों को प्रकट करके उनके कुछ उच्चारणक्रम को भी व्यक्त किया है।

यह प्ररूपणा यहाँ धवला में सूत्रकार के अभिप्रायानुसार नैगम-व्यवहारादि नयों की विवक्षा से आठों कर्मों के विषय में की गयी है।[1]

११. वेदनागतिविधान

इस अनुयोगद्वार में वेदनास्वरूप ज्ञानावरणादि कर्मों की गति—स्थिर-अस्थिरता—के विषय में विचार हुआ है।

प्रकृत अनुयोगद्वार का स्मरण करानेवाले प्रथम सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह

---

१. इसे पीछे 'मूलग्रन्थगत-विषयपरिचय' में देखा जा सकता है।

शंका उठायी गयी है कि कर्म सब जीवप्रदेशों में समवाय को प्राप्त हैं तब वैसी अवस्थाओं में उनके गमन को कैसे योग्य माना जा सकता है।

इस शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि योग के वश जीवप्रदेशों का संचार होने पर उनसे अपृथग्भूत कर्मस्कन्धों के संचार में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

प्रस्तुत 'वेदनागतिविधान' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा की आवश्यकता क्यों हुई, इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यदि कर्मप्रदेश स्थित होते हैं तो जीव के देशान्तर को प्राप्त होने पर उसे सिद्धों के समान हो जाना चाहिए, क्योंकि समस्त कर्मों का वहाँ अभाव रहनेवाला है। कारण यह है कि स्थित स्वभाववाले होने से पूर्वसंचित कर्म तो वहीं रह गये हैं जहाँ जीव पूर्व में था, उनका जीव के साथ यहाँ देशान्तर में आना सम्भव नहीं रहा। वर्तमानकाल में कर्मों का संचय हो सके, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि कर्मसंचय के कारणभूत जो मिथ्यात्वादि प्रत्यय हैं वे भी कर्मों के साथ वहीं स्थित रह गये, अतः उनकी यहाँ सम्भावना नहीं है। अतः कर्मों को स्थित मानना युक्तिसंगत नहीं है।

यदि उन कर्मस्कन्धों को अनवस्थित माना जाय तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि उस परिस्थिति में सब जीवों की मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। आगे कहा गया है कि विवक्षित समय के पश्चात् द्वितीय समय में कर्मों का अस्तित्व रहनेवाला नहीं है, क्योंकि अनवस्थित होने के कारण वे प्रथम समय में निर्मूल नष्ट हो चुके हैं। उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही वे फल देते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बन्ध के प्रथम समय में कर्मों का विपाक सम्भव नहीं है। अथवा यदि बँधते समय उनका विपाक माना जाय तो कर्म और कर्म का फल दोनों का एक समय में सद्भाव रहकर द्वितीयादि समयों में बन्ध की सत्ता नहीं रहेगी, क्योंकि उस समय बन्ध के कारभूत मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों का और कर्मों के फल का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में सब जीवों की मुक्ति हो जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता। इससे यदि कर्मप्रदेशों को अवस्थित और अनवस्थित उभयस्वरूप स्वीकार किया जाय तो यह भी संगत न होगा, क्योंकि वैसा मानने पर जो पृथक्-पृथक् दोनों पक्षों में दोष दिये गये हैं उनका प्रसंग अनिवार्यतः प्राप्त होगा।

इस प्रकार से पर्यायार्थिक नय का आश्रय लेनेवाले शिष्य के लिए जीव और कर्म के परतन्त्रतारूप सम्बन्ध को तथा जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का कारण योग ही है यह जतलाने के लिए 'वेदनागतिविधान' की प्ररूपणा गयी है (पु० १२, पृ० ३६४-६५)।

यहाँ सूत्र में कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना कथंचित् [1]अस्थित है (सूत्र ४,२,११,२)।

इसकी व्याख्या में धवला में कहा गया है कि राग, द्वेष व कषाय के वश अथवा वेदना, भय व मार्गश्रम से जीवप्रदेशों का संचार होने पर उनमें समवाय को प्राप्त कर्मप्रदेशों का भी संचार पाया जाता है। पर जीवप्रदेशों में वे कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं, क्योंकि पूर्व के देश को छोड़कर देशान्तर में स्थित जीवप्रदेशों में समवाय को प्राप्त कर्मस्कन्ध पाये जाते हैं। सूत्र में प्रयुक्त

---

१. सूत्र में यहाँ 'अवट्ठिदा' पाठ है, पर वह प्रसंग व सूत्र की व्याख्या को देखते हुए अशुद्ध हो गया प्रतीत होता है।

'स्यात्' शब्द के उच्चारण से वह जाना जाता है। कारण कि जिस प्रकार वे देश में अस्थित हैं उसी प्रकार यदि उन्हें जीवप्रदेशों में भी अस्थित माना जायेगा तो पूर्वोक्त दोष (मुक्तिप्राप्ति) का प्रसंग प्राप्त होनेवाला है।

इस पर यह शंका उठी है कि मध्यवर्ती आठ जीवप्रदेशों में संकोच-विकोच नहीं होता, ऐसी स्थिति में उनमें स्थित कर्मप्रदेशों की अस्थिरता सम्भव नहीं है। तब फिर सूत्र में जो यह कहा गया है कि किसी भी काल में सब जीवप्रदेश अस्थित रहते हैं, वह घटित नहीं होता। इसके समाधान में वहाँ कहा गया है कि उन मध्यवर्ती आठ जीवप्रदेशों को छोड़कर शेष जीव-प्रदेशों के आश्रय से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है, इसलिए उक्त दोष सम्भव नहीं है। यह विशेष अभिप्राय सूत्र में प्रयुक्त उस 'स्यात्' शब्द से सूचित है।

उपर्युक्त नैगम, व्यवहार और संग्रह इन तीन नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना कथंचित् स्थित-अस्थित भी है (सूत्र ४,२,११,३)।

इस सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि व्याधि, वेदना और भय आदि के क्लेश से रहित छद्मस्थ जीव के जो जीवप्रदेश संचार से रहित होते हैं उनमें स्थित कर्म-प्रदेश भी स्थित (संचार से रहित) ही होते हैं। वहीं पर कुछ जीवप्रदेशों में संचार भी पाया जाता है, इससे उनमें स्थित कर्मस्कन्ध भी संचार को प्राप्त होते हैं, इसलिए उन्हें अस्थित कहा जाता है। और उन दोनों ही प्रकार के कर्मस्कन्धों के समुदाय का नाम वेदना है, इसी कारण उसे स्थित-अस्थित दो स्वभाववाली कहा जाता है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि जो जीवप्रदेश अस्थित हैं उनके कर्मबन्ध भले ही हो, क्योंकि वे योग से सहित होते हैं। किन्तु जो जीवप्रदेश स्थित होते हैं उनके कर्मबन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें योग का अभाव है। कारण यह कि स्थित जीवप्रदेशों में हलन-चलन नहीं होता है। यदि हलन-चलन से रहित जीवप्रदेशों में योग का सद्भाव स्वीकार किया जाता है तो सिद्धों के भी सयोग होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

इस शंका के समाधान में कहा गया है कि मन, वचन और काय की क्रिया उत्पन्न करने में जो जीव का उपयोग होता है उसका नाम योग है और वह कर्मबन्ध का कारण है। वह योग थोड़े से जीवप्रदेशों में नहीं होता है, क्योंकि एक जीव में प्रवृत्त हुए योग के थोड़े से ही अवयवों में रहने का विरोध है, अथवा एक जीव में उसके खण्ड-खण्ड स्वरूप से प्रवृत्त होने का विरोध है। इससे स्थित जीवप्रदेशों में कर्मबन्ध होता है, यह जाना जाता है। इसके अतिरिक्त योग के आश्रय से नियमतः जीवप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है ऐसा भी नहीं है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति नियत नहीं है। और वैसा नियम हो भी नहीं, ऐसा भी नहीं है। हाँ, यह नियम अवश्य है कि यदि वह परिस्पन्दन होता है तो योग से ही होता है। इसलिए स्थित जीवप्रदेशों में भी योग का सद्भाव रहने से कर्मबन्ध को स्वीकार करना चाहिए (पु० १२, पृ० ३६६-६७)।

इसी पद्धति से सूत्रकार द्वारा आगे उन तीन नैगमादि नयों की अपेक्षा दर्शनावरणीयादि अन्य सात कर्मों का तथा ऋजुसूत्र और शब्द नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मवेदनाओं की स्थित-अस्थितरूपता का विचार किया गया है, जो 'मूलग्रन्थगत विषय-परिचय' से जाना जा सकता है।

१२. वेदना-अन्तरविधान

इस प्रसंग में धवला में बन्ध के दो भेदों अनन्तरबन्ध और परम्पराबन्ध का निर्देश करते

हुए यह बतलाया है कि कार्मण वर्गणारूप से स्थित पुद्गलस्कन्ध मिथ्यात्वादि कारणों से कर्मरूप से परिणत होने के प्रथम समय में अनन्तरबन्धरूप होते हैं। कारण यह है कि कार्मण-वर्गणारूप पर्याय के परित्याग के अनन्तर समय में ही वे कर्मरूप पर्याय में परिणत हो जाते हैं। बन्ध होने के दूसरे समय से लेकर जो कर्मपुद्गलस्कन्धों का और जीवप्रदेशों का बन्ध होता है उसका नाम परम्पराबन्ध है (पु० १२, पृ० ३७०)।

आगे तदुभयबन्ध के प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि बन्ध, उदय और सत्त्वरूप से स्थित कर्मपुद्गलों के वेदन की प्ररूपणा 'वेदनावेदनविधान' में की जा चुकी है, इसलिए इन सूत्रों का यह अर्थ नहीं है, अत: इन सूत्रों के अर्थ की प्ररूपणा की जाती है, यह कहते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि अनन्तानन्त ज्ञानावरणीयरूप कर्मस्कन्ध परस्पर में सम्बद्ध होकर जो स्थित होते हैं, वह अनन्तरबन्ध है। इसी प्रकार सम्बन्ध से रहित एक-दो आदि परमाणुओं के ज्ञानावरणस्वरूप होने का प्रतिषेध किया गया है। आगे कहा है कि वे ही अनन्तरबद्ध परमाणु जब ज्ञानावरणीयरूपता को प्राप्त हो जाते हैं तब परम्पराबन्धरूप ज्ञानावरणीय-वेदना भी होती है, इसके ज्ञापनार्थ दूसरे सूत्र (४,२,१२,३) की प्ररूपणा की गयी है। अनन्तानन्त कर्मपुद्गल-स्कन्ध परस्पर में सम्बद्ध होकर शेष कर्मस्कन्धों से असम्बद्ध रहते हुए जीव के द्वारा जब दूसरों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं तब उन्हें परम्पराबन्ध कहा जाता है। ये भी ज्ञानवरणीय-वेदनारूप होते हैं, यह अभिप्राय समझना चाहिए। एक जीव के आश्रित सभी ज्ञानावरणीयरूप कर्मपुद्गलस्कन्ध परस्पर में समवेत होकर ज्ञानावरणीयवेदना होते हैं; इस एकान्त का निरा-करण हो जाता है।

१३. वेदनासंनिकर्षविधान

यहाँ संनिकर्ष का स्वरूप स्पष्ट करते धवला में कहा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों में प्रत्येक पद उत्कृष्ट और जघन्य के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से किसी एक को विवक्षित करके शेष पद क्या उत्कृष्ट हैं, अनुत्कृष्ट हैं, जघन्य हैं या अजघन्य हैं, इसकी जो परीक्षा की जाती है उसका नाम संनिकर्ष है। वह स्वस्थानसंनिकर्ष और परस्थानसंनिकर्ष के भेद से दो प्रकार का है। इनमें एक कर्म को विवक्षित करके जो उक्त द्रव्यादि पदों की परीक्षा की जाती है उसे स्वस्थानसंनिकर्ष कहा जाता है। आठों कर्मों के आश्रय से जो उक्त प्रकार से परीक्षा की जाती है वह परस्थानसंनिकर्ष कहलाता है। यथा—

जिसके द्रव्य की अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट होती है उसके वह ज्ञानावरणीयवेदना-क्षेत्र की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट व असंख्यातगुणी हीन होती है। काल की अपेक्षा वह उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी। इसी प्रकार भाव की अपेक्षा वह उसके उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी, इत्यादि।[1] यह स्वस्थानसंनिकर्ष का उदाहरण है। परस्थानसंनिकर्ष का उदाहरण—

जिसके ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके आयु को छोड़ शेष छह कर्मों की वेदना उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी होती है, इत्यादि।[2]

---

१. सूत्र ४,२,१३,६-१४ व उनकी धवला टीका।

२. सूत्र ४,२,१३,२२०-२२ व उनकी टीका।

—

इसी पद्धति से सूत्रकार द्वारा यहाँ अन्य कर्मों के विषय में भी प्रकृत स्वस्थान-परस्थान संनिकर्ष का विचार किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण धवलाकार ने यथाप्रसंग किया है।

१४. वेदनापरिमाणविधान

इस अधिकार का स्मरण करानेवाले प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए धवला में शंकाकार ने कहा है कि इस अनुयोगद्वार से किसी प्रमेय का बोध नहीं होता है, इसलिए इसे प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। उससे किसी प्रमेय का बोध क्यों नहीं होता है, इसे स्पष्ट करते हुए शंकाकार ने कहा है कि यह अनुयोगद्वार प्रकृतियों के परिणाम का प्ररूपक तो हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञानावरणीयादि आठ ही कर्मप्रकृतियाँ हैं, यह पहले बतला चुके हैं। स्थितिवेदना के प्रमाण की भी प्ररूपणा उसके द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि पीछे कालविधान में विस्तारपूर्वक उसकी विधिवत् प्ररूपणा की जा चुकी है। वह भाववेदना के प्रमाण की भी प्ररूपणा नहीं करता है, क्योंकि उसकी प्ररूपणा भावविधान में की जा चुकी है। और जिस अर्थ की पूर्व में प्ररूपणा की जा चुकी है उसकी पुनः प्ररूपणा का कुछ फल नहीं है। वह प्रदेश-प्रमाण का भी प्ररूपक नहीं है, क्योंकि द्रव्यविधान के प्रसंग में उसकी प्ररूपणा हो चुकी है। क्षेत्रवेदना के प्रमाण की प्ररूपणा उसके द्वारा की जा रही हो, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि वेदनाक्षेत्रविधान में उसे दे चुके हैं। इस प्रकार जब इस अनुयोगद्वार का कुछ प्रतिपाद्य विषय शेष है ही नहीं तो उसका प्रारम्भ करना निरर्थक है।

इसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि पूर्व में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आठ ही प्रकृतियाँ होती हैं यह कहा गया है। उन आठों प्रकृतियों के क्षेत्र, काल, भाव आदि के प्रमाण की प्ररूपणा पूर्व में नहीं की गयी है इसलिए इस समय पर्यायार्थिक नय का आश्रय लेकर प्रकृतियों के प्रमाण की प्ररूपणा करने के लिए यह अनुयोगद्वार आया है।

इस अधिकार में ये तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय या क्षेत्रप्रत्यास।[1]

इनमें से प्रकृत्यर्थता अधिकार में प्रकृति के भेद से कर्मभेदों की प्ररूपणा है। प्रकृति, शील और स्वभाव ये समानार्थक शब्द हैं। दूसरे अनुयोगद्वार में समयप्रबद्धों के भेद से प्रकृतियों के भेदों को प्रकट किया गया है। तीसरे अनुयोगद्वार में क्षेत्र के भेद से प्रकृतियों के भेदों की प्ररूपणा की गयी है, यथा—

प्रकृत्यर्थता के अनुसार ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने उन्हें असंख्यात लोकप्रमाण कहा है (सूत्र ४,२,१४,३-४)।

इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि इन दोनों कर्मों की प्रकृतियाँ या शक्तियाँ असंख्यात लोकप्रमाण हैं। कारण यह कि उनके द्वारा आच्छादित किये जानेवाले ज्ञान और दर्शन असंख्यात लोकप्रमाण पाये जाते हैं। धवला में आगे कहा है कि सूक्ष्म निगोदजीव का जो जघन्य लब्ध्यक्षरज्ञान है वह निरावरण है, क्योंकि अक्षर का अनन्तवाँ भाग सदा प्रकट रहता

---

१. क्षेत्रं प्रत्याश्रयो यस्याः सा क्षेत्रप्रत्याश्रया अधिकृतिः।—धवला पु० १२, पृ० ४७८; प्रत्यास्यते यस्मिन् इति प्रत्यासः, क्षेत्रं तत्प्रत्यासश्च क्षेत्रप्रत्यासः। जीवेण ओट्ठद्धखेत्तस्स खेत्तपच्चासे त्ति सण्णा।—धवला पु० १२, पृ० ४९७

है। यह ज्ञान का प्रथम भेद है। इस लब्ध्यक्षरज्ञान को समस्त जीवराशि से खण्डित करने पर जो लब्ध हो उसे उसमें मिला देने पर ज्ञान का दूसरा भेद होता है। फिर इस दूसरे ज्ञान को उस जीवराशि से खण्डित करने पर ज्ञान का तीसरा भेद होता है। इस प्रकार छह वृद्धियों के क्रम से असंख्यात लोकमात्र स्थान जाकर अक्षरज्ञान के उत्पन्न होने तक ले जाना चाहिए। अक्षरज्ञान के आगे उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानभेदों की 'अक्षर-समास' संज्ञा है।

यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है कि अक्षरज्ञान के आगे छह प्रकार की वृद्धि नहीं है, किन्तु दुगुने-तिगुने आदि के क्रम से अक्षरवृद्धि ही होती है। किन्तु दूसरे कुछ आचार्यों का कहना है कि अक्षरज्ञान से लेकर आगे क्षयोपशमज्ञान में छह प्रकार की वृद्धि होती है। इस प्रकार इन दो उपदेशों के अनुसार पद, पदसमास, संघात व संघातसमास आदि ज्ञानभेदों की प्ररूपणा करना चाहिए।

उक्त प्रकार से श्रुतज्ञान के भेद असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। मतिज्ञान भी इतने ही हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। कार्य के भेद से कारण में भेद पाया ही जाता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेदों की प्ररूपणा जैसे मंगलदण्डक में की गयी है वैसे ही यहाँ करना चाहिए। केवलज्ञान एक ही है।

इसी प्रकार दर्शन के भेद भी असंख्यात लोकमात्र जानना चाहिए, क्योंकि सभी ज्ञान दर्शन-पूर्वक ही होते हैं।

जितने ज्ञान और दर्शन हैं उतनी ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण की आवरणशक्तियाँ हैं। इस प्रकार ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं, यह सिद्ध है (पु० १२, पृ० ४७९-८०)।

यहाँ सूत्रकार द्वारा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय इन कर्मों के साथ नामकर्म की भी असंख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं (सूत्र ४,२,१४,१५-१६)। शेष वेदनीय, मोहनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय कर्मों की यथाक्रम से दो, अट्ठाईस, चार और पाँच प्रकृतियाँ उसी प्रकार से निर्दिष्ट हैं; जिस प्रकार कि उनका उल्लेख इसके पूर्व 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका' में और इसके आगे 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में किया जा चुका है।[1]

वेदनीय कर्म के प्रसंग में धवला में यह शंका की गयी है कि सुख और दुःख के अनन्त भेद हैं। तदनुसार वेदनीय की अनन्त शक्तियाँ (प्रकृतिभेद) सूत्रकार द्वारा क्यों नहीं निर्दिष्ट की गयीं। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह सच है यदि पर्यायार्थिकनय का अव-लम्बन किया गया होता, किन्तु यहाँ द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन किया गया है इसीलिए उसकी अनन्त शक्तियों का निर्देश न करके दो शक्तियों का ही निर्देश है।[2]

जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, सूत्रकार ने मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों का ही निर्देश किया है (सूत्र ४,२,१४,९-११)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि यह प्ररूपणा अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का आ-

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका, सूत्र १७-१८,१९,२५-२६,४५ और ४६ (पु० ६) तथा प्रकृति-अनुयोगद्वार सूत्र ८७-९०,९८-९९,१३४-३५ और १३६-३७ (पु० १३)

२. धवला पु० १२, पृ० ४८१

-लम्बन लेकर की गयी है। पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर मोहनीय की असंख्यात लोक मात्र प्रकृतियाँ हैं, अन्यथा असंख्यात लोकमात्र उसके उदयस्थान घटित नहीं होते हैं।

लगभग इसी प्रकार का स्पष्टीकरण धवलाकार द्वारा आयुकर्म के प्रसंग में भी किया गया है।[1]

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि सूत्रकार द्वारा नामकर्म की असंख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं (सूत्र ४,२,१४,१५-१७)। इसकी व्याख्या में धवला में यह शंका उठी है कि यहाँ पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन क्यों किया गया है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि आनुपूर्वी के भेदों के प्रतिपादन के लिए यहाँ पर्यायार्थिकनय का अवलम्बन लिया गया है। उन्होंने आगे क्रम से नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी आदि चारों आनुपूर्वियों की शक्तियों (प्रकृतिभेदों) को स्पष्ट किया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इन आनुपूर्वी प्रकृतियों के उत्तरभेदों का उल्लेख प्रायः उसी रूप में स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में किया गया है।[2]

जैसा कि धवलाकार को अपेक्षा रही है, सूत्रकार ने यहीं पर उन आनुपूर्वी-प्रकृतिभेदों का उल्लेख क्यों नहीं किया, जिनका उल्लेख उन्होंने आगे 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में किया है; यह विचारणीय है।

आगे समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय इन दो अनुयोगद्वारों में सूत्रकार द्वारा क्रम से समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास के आश्रय से जो प्रकृतिभेदों की प्ररूपणा की गयी है, धवलाकार ने यथाप्रसंग उसका स्पष्टीकरण किया है।

आहारकद्विक व तीर्थंकर नारकर्मों के विषय में विशेष ऊहापोह

विशेष इतना है नामकर्म के प्रसंग में सूत्रकार ने सामान्य से यह कहा है कि नामकर्म की एक-एक प्रकृति को बीस, अठारह, सोलह, पन्द्रह, चौदह, बारह और दस कोड़ाकोड़ि सागरोपमों को समयप्रबद्धतार्थता से गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतने विवक्षित प्रकृति के भेद होते हैं (सूत्र ४,२,१४,३७-३९)।

उसकी व्याख्या करते हुए धवला में उस प्रसंग में शंका की गयी है कि आहारकद्विक की समयप्रबद्धार्थता संख्यात अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यहाँ शंकाकार ने कहा है कि आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर संयत होकर अन्तर्मुहूर्त काल तक आहारकद्विक को बांधता है और फिर नियम से थक जाता है। कारण यह है कि प्रमत्तकाल में आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक उसका अबन्धक होकर पुनः अप्रमत्त होने पर उसे अन्तर्मुहूर्त तक बांधता है। इस क्रम से अप्रमत्त-प्रमत्तकाल में उसका बन्धक-अबन्धक होकर पूर्वकोटि के अन्तिम समय तक रहता है। इन अन्तर्मुहूर्तों को सम्मिलित रूप में ग्रहण करने पर संख्यात अन्तर्मुहूर्त मात्र ही उस आहारकद्विक की समयप्रबद्धार्थता होती है।

आगे शंकाकार तीर्थंकर प्रकृति की समयप्रबद्धार्थता को भी साधिक तेतीस सागरोपम मात्र

---

१. धवला पु० १२, पृ० ४८३

२. पु० १२, पृ० ४८३-८४; इस प्रसंग में सूत्र ५,५,११६-२२ (पु० १३, पृ० ३७१-८३) द्रष्टव्य हैं।

बतलाकर उसे स्पष्ट करते हुए कहता है कि एक देव अथवा नारकी सम्यग्दृष्टि पूर्वकोटि आयु-वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। गर्भ से लेकर आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त में उसके तीर्थंकर नामकर्म बाँधने में आया। यहाँ से लेकर आगे वह उसे शेष पूर्वकोटि से अधिक तेतीस सागरोपमकाल तक बाँधता रहा है। कारण यह है कि तीर्थंकर कर्म के बन्धक संयत के तेतीस सागरोपम आयु-वाले देवों में उत्पन्न होने पर तेतीस सागरोपम काल तक उसका निरन्तर बन्ध पाया जाता है। फिर वहाँ से च्युत होकर वह पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न होने पर आयु में वर्षपृथक्त्व शेष रह जाने तक उसे निरन्तर बाँधता है। यहाँ उसके अपूर्वकरण संयत होने पर उस अपूर्व-करण के सात भागों में से छठे भाग के अन्तिम समय तक बाँधता है। तत्पश्चात् सातवें भाग के प्रथम समय में उसका बन्ध व्युच्छिन्न हो जाता है। वर्षपृथक्त्व को कम इसलिए किया गया है कि तीर्थंकर का विहार जघन्य रूप में वर्षपृथक्त्व काल तक पाया जाता है। इस प्रकार आदि के तथा अन्त के दो वर्षपृथक्त्वों से कम दो पूर्वकोटियों से अधिक तेतीस सागरोपम तीर्थंकर कर्म की समयप्रबद्धार्थता होती है।

इस प्रकार किन्हीं आचार्यों ने उस आहारकद्विक और तीर्थंकर इन नामकर्मों की समय-प्रबद्धार्थता के विषय में अपना अभिमत प्रकट किया है। उसका निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि उनका वह अभिमत घटित नहीं होता है, क्योंकि आहारकद्विक की संख्यात वर्ष मात्र और तीर्थंकर कर्म की साधिक तेतीस सागरोपममात्र समयप्रबद्धार्थता होती है, इसका प्रतिपादक कोई भी सूत्र नहीं है। और सूत्र के प्रतिकूल व्याख्यान होता नहीं है, वह व्याख्याना-भास ही होता है। युक्ति से भी उसमें बाधा नहीं पहुँचायी जा सकती है, क्योंकि जो समस्त बाधाओं से रहित होता है उसे सूत्र माना गया है।

इस पर यह पूछे जाने पर कि तो फिर इन तीन कर्मों की समयप्रबद्धार्थता कितनी है, धवला-कार ने कहा है कि उन तीनों की समयप्रबद्धार्थता बीस कोड़ाकोड़ि सागरोपम प्रमाण है।

यहाँ यह शंका की गयी है कि तीनों कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण ही होता है। और उतने काल भी उनका बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि उनका बन्ध क्रम से संख्यात वर्ष और साधिक तेतीस सागरोपम मात्र ही पाया जाता है। जिन कर्मों की अन्तः-कोड़ाड़ि मात्र भी समयप्रबद्धार्थता सम्भव नहीं है, उनकी बीस कोड़ाकोड़ि सागरोपममात्र समय-प्रबद्धार्थता कैसे सम्भव है।

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कुछ दोष नहीं है, क्योंकि इन तीनों कर्मों के बन्ध के चालू रहने पर बीस कोड़ाकोड़ि सागरोपमों में संचित नामकर्मों के समयप्रबद्धों के इन तीनों कर्मों में संक्रान्त होने पर उनकी बीस कोड़ाकोड़ि सागरोपम प्रमाण समयप्रबद्धार्थता पायी जाती है। इत्यादि प्रकार से आगे भी उनके विषय में कुछ ऊहापोह किया गया है।[1]

१५. वेदनाभागाभागविधान

इस अनुयोगद्वार में भी प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास ये ही तीन अनुयोग-द्वार हैं। यहाँ इन तीनों अनुयोगद्वारों के आश्रय से विवक्षित कर्मप्रकृतियाँ अन्य सब कर्म-प्रकृतियों के कितनेवें भागप्रमाण हैं, इसे स्पष्ट किया गया है। आवश्यकतानुसार यथाप्रसंग

---

१. इस सब के लिए धवला पु० १२, पृ० ४९२-९६ द्रष्टव्य हैं।

धवला में उसका स्पष्टीकरण किया गया है।

१६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान

प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास ये ही तीन अनुयोगद्वार यहाँ भी हैं। इनके आश्रय से उक्त ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों के अल्पबहुत्व के विषय में विचार किया गया है। धवला में यहाँ कुछ विशेष व्याख्येय नहीं रहा है।

उपर्युक्त १६ अनुयोगद्वारों के समाप्त हो जाने पर प्रकृत 'वेदना' अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है। इस प्रकार से षट्खण्डागम का चौथा 'वेदना' खण्ड समाप्त होता है।

पंचम खण्ड : वर्गणा

जैसाकि 'मूलग्रन्थगत विषय-परिचय' से स्पष्ट हो चुका है, इस खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अनुयोगद्वारों के साथ चौथे 'वन्धन' अनुयोगद्वार के अन्तर्गत वन्ध, वन्धक, वन्धनीय और वन्धविधान इन चार अधिकारों में से वन्ध और वन्धनीय ये दो अधिकार भी समाविष्ट हैं।

(१) स्पर्श अनुयोगद्वार

इसमें स्पर्शनिक्षेप व स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ अवान्तर अनुयोगद्वार हैं। उनमें से 'स्पर्शनिक्षेप' के प्रसंग में स्पर्श के नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श आदि तेरह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके स्वरूप को 'मूलग्रन्थगत विषय-परिचय' में स्पष्ट किया जा चुका है।

नयविभाषणता—यहाँ कौन नय किन स्पर्शों को विषय करता है और किन को नहीं, इसका विचार किया गया है। एक गाथासूत्र द्वारा यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि नैगमनय सभी स्पर्शों को विषय करता है। किन्तु व्यवहार और संग्रह ये दो नय वन्धस्पर्श और भव्य-स्पर्श इन दो स्पर्शों को स्वीकार नहीं करते हैं (सूत्र ५,३,७)।

इस प्रसंग में धवला में यह शंका की गई है कि ये दो नय बन्धस्पर्श को क्यों नहीं स्वीकार करते। उत्तर में कहा गया है कि बन्धस्पर्श का अन्तर्भाव कर्मस्पर्श में हो जाता है। यह कर्म-स्पर्श दो प्रकार का है—कर्मस्पर्श और नोकर्मस्पर्श। उपर्युक्त बन्धस्पर्श इन दोनों के अन्तर्गत है, क्योंकि इन दोनों से पृथक् बन्ध सम्भव नहीं है।

प्रकारान्तर से उक्त शंका के समाधान में धवलाकार ने यह भी कहा है—अथवा बन्ध है ही नहीं, क्योंकि वन्ध और स्पर्श इन दोनों शब्दों में अर्थभेद नहीं है। यदि कहा जाय कि वन्ध के विना भी लोहा और अग्नि का स्पर्श देखा जाता है तो यह भी संगत नहीं है, क्योंकि संयोग अथवा समवाय रूप सम्बन्ध के विना स्पर्श पाया नहीं जाता। अभिप्राय यह है कि लोहा और अग्नि का जो स्पर्श देखा जाता है वह उनके परस्पर संयोग सम्बन्ध से ही होता है।

आगे व्यवहार और संग्रहनय भव्यस्पर्श को क्यों नहीं विषय करते हैं, इसे भी स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि विष, यंत्र, कूट, पिंजरा आदि का स्पर्श चूँकि वर्तमान में नहीं है—आगे होने वाला है, इसलिए उसे भी इन दोनों नयों की विषयता से अलग रखा गया है। कारण यह कि दोनों के स्पर्श के विना 'स्पर्श' यह संज्ञा घटित नहीं होती है। इसके अतिरिक्त अस्पृष्टकाल में तो उनका स्पर्श सम्भव नहीं है तथा स्पृष्टकाल में वह कर्म, नोकर्म, सर्व और

देश इन स्पर्श-भेदों में प्रविष्ट होता है। इस कारण इस भव्यस्पर्श को भी उनकी विषयता से अलग रखा गया है।

दूसरे, स्थापनास्पर्श के अन्तर्गत होने से भी संग्रहनय उस भव्यस्पर्श को विषय नहीं करता है, क्योंकि 'वह यह है' इस प्रकार के अध्यारोप के विना वर्तमान में यन्त्र आदिकों में स्पर्श घटित नहीं होता है।

आगे दूसरे गाथासूत्र में जो यह कहा है कि ऋजुसूत्रनय एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श को विषय नहीं करते तथा शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्श को स्वीकार नहीं करते (५,३,८); इसे भी धवला में स्पष्ट किया गया है (पु० १३ पृ ४०८)।

द्रव्यस्पर्श के स्वरूप को प्रकट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि जो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ स्पर्श करता है, इसका नाम द्रव्यस्पर्श है। (सूत्र ५,३,११-१२)

इस सूत्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि परमाणुपुद्गल शेष पुद्गलद्रव्य से स्पर्श करता है, क्योंकि परमाणुपुद्गल की शेष पुद्गलों के साथ पुद्गलद्रव्य-स्वरूप से एकता पायी जाती है। एक पुद्गलद्रव्य का शेष पुद्गलद्रव्यों के साथ जो संयोग अथवा समवाय होता है, इसका नाम द्रव्यस्पर्श है। अथवा, जीवद्रव्य और पुद्गल का जो एक स्वरूप से सम्बन्ध होता है उसे द्रव्यस्पर्श जानना चाहिए।

यहाँ धवला में यह शंका उत्पन्न हुई है कि जीवद्रव्य तो अमूर्त है और पुद्गलद्रव्य मूर्त है, ऐसी अवस्था में इन अमूर्त व मूर्त दो द्रव्यों का एक स्वरूप से सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इसके समाधान में वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि संसार-अवस्था में चूँकि जीवों के अमूर्तरूपता नहीं है, इसलिए उसमें कुछ विरोध नहीं है।

इस पर वहाँ यह शंका उठी है कि यदि संसार-अवस्था में जीव मूर्त रहता है तो वह मुक्त होने पर अमूर्तरूपता को कैसे प्राप्त होता है। उत्तर में कहा गया है कि मूर्तता का कारण कर्म है, उसका अभाव हो जाने पर उसके आश्रय से रहनेवाली मूर्तता का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध जीवों के अमूर्तरूपता स्वयंसिद्ध है।

यहीं पर आगे, जीव-पुद्गलों के सम्बन्ध की सादिता-अनादिता का विचार करते हुए उस प्रसंग में यह पूछने पर कि द्रव्य की 'स्पर्श' संज्ञा कैसे सम्भव है, धवलाकार ने कहा है कि 'स्पृश्यते अनेन, स्पृशतीति वा स्पर्शशब्दसिद्धेर्द्रव्यस्य स्पर्शत्वोपपत्तेः' अर्थात् 'जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है अथवा जो स्पर्श करता है' इस निरुक्ति के अनुसार 'स्पर्श' शब्द के सिद्ध होने से द्रव्य के स्पर्शरूपता वन जाती है। छहों द्रव्य सत्त्व, प्रमेयत्व आदि की अपेक्षा परस्पर समान हैं, इसलिए नैगम नय की अपेक्षा उन छहों द्रव्यों के द्रव्यस्पर्श है।

धवलाकार ने यहाँ एक, दो, तीन आदि द्रव्यों के संयोग से सम्भव भंगों के प्रमाण को भी स्पष्ट किया है। एकसंयोगी भंग जैसे—(१) एक जीवद्रव्य दूसरे जीवद्रव्य का स्पर्श करता है, क्योंकि अनन्तानन्त निगोदजीवों का एक निगोदशरीर में परस्पर समवेत होकर अवस्थान पाया जाता है, अथवा जीवस्वरूप से उनमें एकता देखी जाती है। (२) एक पुद्गलद्रव्य दूसरे पुद्गल-द्रव्य के साथ स्पर्श करता है, क्योंकि परस्पर में समवाय को प्राप्त हुए अनन्त पुद्गल परमाणुओं का अवस्थान देखा जाता है, अथवा पुद्गल स्वरूप से उनमें एकता देखी जाती है। (३) धर्मद्रव्य धर्मद्रव्य के साथ स्पर्श करता है, क्योंकि असंग्राही नैगमनय का आश्रय करके 'द्रव्य' नाम को प्राप्त लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेशों का परस्पर में स्पर्श देखा जाता है।

(४) अधर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य को स्पर्श करता है, क्योंकि असंग्राही नैगमनय की अपेक्षा द्रव्यरूपता को प्राप्त अधर्मद्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुओं के एकता देखी जाती है। (५) कालद्रव्य कालद्रव्य का स्पर्श करता है, क्योंकि एक क्षेत्र में स्थित मोतियों के समान समवाय से रहित होकर अवस्थित लोकाकाश प्रमाण काल-परमाणुओं में कालरूप से एकता देखी जाती है, अथवा एक लोकाकाश में अवस्थान की अपेक्षा भी उनमें एकता देखी जाती है। (६) आकाशद्रव्य आकाश द्रव्य से स्पर्श करता है, क्योंकि नैगमनय की अपेक्षा द्रव्यरूपता को प्राप्त आकाश के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु का परस्पर में स्पर्श पाया जाता है। इस प्रकार ये ६ एकसंयोगी भंग होते हैं।

द्विसंयोगी भंग जैसे—(१) जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य का स्पर्श करता है, क्योंकि जीवद्रव्य की अनन्तानन्त कर्म और नोकर्म पुद्गलस्कन्धों के साथ एकता देखी जाती है। (२) जीव और धर्म द्रव्यों का परस्पर में स्पर्श है, क्योंकि सत्त्व, प्रमेयत्व आदि गुणों से लोक मात्र में अवस्थित उन दोनों में एकता देखी जाती है। इसी प्रकार अधर्म आदि द्रव्यों के साथ स्पर्श रहने से १५ द्विसंयोगी भंग होते हैं।

धवला में अन्य भंगों का भी उल्लेख है। इस प्रकार समस्त भंग ६३ (एकसंयोगी ६+ द्विसंयोगी १५+त्रिसंयोगी २०+चतुःसंयोगी १५+पंचसंयोगी ६+षट्संयोगी १) होते हैं।

सर्वस्पर्श के स्वरूप का निर्देश करते हुए सूत्र में कहा गया है कि जो द्रव्य परमाणुद्रव्य के समान सर्वात्मस्वरूप से अन्य द्रव्य का स्पर्श करता है, इसका नाम सर्वस्पर्श है।

(सूत्र ५,३,२२)

इस सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिस प्रकार परमाणु द्रव्य सव (सर्वात्मस्वरूप से) अन्य परमाणु का स्पर्श करता है उसी प्रकार का अन्य भी जो स्पर्श होता है उसे सर्वस्पर्श कहा जाता है।

यहाँ शंकाकार ने, एक परमाणु दूसरे परमाणु में प्रविष्ट होता हुआ क्या एक देश से उसमें प्रविष्ट होता है या सर्वात्मरूप से, इत्यादि विकल्पों को उठाकर अन्य प्रासंगिक ऊहापोह के साथ सूत्रोक्त परमाणु के दृष्टान्त को असंगत ठहराया है।

शंकाकार के इस अभिमत का निराकरण करते हुए धवला में, परमाणु क्या सावयव है या निरवयव—इन दो विकल्पों को उठाकर सावयवत्व के निषेधपूर्वक उसे निरवयव सिद्ध किया गया है। आगे वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जो संयुक्त व असंयुक्त पुद्गलस्कन्ध परमाणु प्रमाण में उपलब्ध होते हैं उनके अभाव के प्रसंग को टालने के लिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अवयवों से रहित परमाणु के देशस्पर्श को ही सर्वस्पर्श कहा गया है। कारण यह कि अखण्ड परमाणुओं के अवयवों का अभाव होने से उनके सर्वस्पर्श की सम्भावना देखी जाती है।

प्रकारान्तर से यहाँ यह भी कहा है—अथवा दो परमाणुओं के देशस्पर्श होता है; क्योंकि इसके विना स्थूल स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं वनती। सर्वस्पर्श भी उनका होता है, क्योंकि एक परमाणु में दूसरे परमाणु के सर्वात्मना प्रविष्ट होने में कुछ विरोध नहीं है, कारण यह कि कोई परमाणु प्रवेश करनेवाले दूसरे परमाणु के प्रवेश में रुकावट डालता हो, यह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म का अन्य सूक्ष्म या वादर स्कन्ध के द्वारा रोका जाना बनता नहीं है। इस प्रकार से धवलाकार ने शंकाकार द्वारा उद्भावित सूत्रोक्त परमाणु के दृष्टान्त की असंगति का

निराकरण किया है (पु० १३, पृ० २१-२४)।

कर्मस्पर्श के प्रसंग में सूत्रकार ने कहा है कि कर्मस्पर्श ज्ञानावरणीयस्पर्श, दर्शनावरणीय-स्पर्श आदि के भेद से आठ प्रकार का है (सूत्र ५,३,२५-२६)।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने यह बताया है कि आठ कर्मों का जीव, विस्रसोपचय और नोकर्मों के साथ जो स्पर्श होता है वह द्रव्यस्पर्श के अन्तर्गत है इसलिए यहाँ उसे कर्मस्पर्श नहीं कहा जाता है। किन्तु कर्मों का कर्मों के साथ जो स्पर्श होता है वह कर्मस्पर्श है आगे 'अब यहाँ स्पर्श के भंगों की प्ररूपणा की जाती है' ऐसी सूचना कर उन्होंने उसके भंगों को स्पष्ट किया है। कर्मस्पर्श के पुनरुक्त-अपुनरुक्त सभी भंग ६४ होते हैं। इनमें २८ पुनरुक्त भंग कम कर देने पर शेष ३६ भंग अपुनरुक्त रहते हैं। जैसे—

(१) ज्ञानावरणीय ज्ञानावरणीय का स्पर्श करता है। (२) ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय का स्पर्श करता है। इस क्रम से ज्ञानावरणीय के ८ भंग होते हैं।

(१) दर्शनावरणीय दर्शनावरणीय का स्पर्श करता है। (२) दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीय का स्पर्श करता है (पुनरुक्त)। (३) दर्शनावरणीय वेदनीय का स्पर्श करता है। इत्यादि क्रम से दर्शनावरणीय के भी ८ भंग होते हैं। इसी प्रकार से वेदनीय आदि शेष छह कर्मों के भी ८-८ भंग निर्दिष्ट किये गये हैं।

बन्धस्पर्श के प्रसंग में भी इसी प्रकार से औदारिकशरीर-बन्धस्पर्श आदि के भेद से बन्ध-स्पर्श के पाँच प्रकार के भंगों को धवला में स्पष्ट किया गया है (पु० १३, पृ० ३०-३४)।

२. कर्म अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में जिन कर्मनिक्षेप आदि १६ अनुयोगद्वारों का नामनिर्देश तथा कर्म के जिन दस भेदों का निर्देश किया गया है उनका परिचय 'मूलग्रन्थगत विषय-परिचय' में कराया जा चुका है। वहीं पर उसे देखना चाहिए।

उन दस कर्मों में ईर्यापथ कर्म को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने 'ईर्या' का अर्थ योग और 'पथ' का अर्थ मार्ग किया है। तदनुसार योग के निमित्त से जो कर्म बँधता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है।[1] वह उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवली इन तीन गुणस्थानों में उपलब्ध होता है (सूत्र ५,४,२४)।

धवला में ईर्यापथ कर्म को विशेष रूप से 'एत्थ ईरियावहकम्मस्स लक्खणं गाहाहि उच्चदे' ऐसा निर्देश कर तीन गाथाओं को उद्धृत किया है और उनके आश्रय से कई विशेषणों द्वारा उसकी विशेषता को व्यक्त किया है। यथा—

वह अल्प है, क्योंकि कषाय का अभाव हो जाने से वह स्थितिबन्ध से रहित होकर कर्म-स्वरूप से परिणत होने के दूसरे समय में ही अकर्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उसके कालनिमित्तक अल्पता देखी जाती है।

वह बादर है, क्योंकि ईर्यापथ कर्म सम्बन्धी समयप्रबद्ध के प्रदेश आठ कर्मों के समयप्रबद्ध प्रदेशों से संख्यातगुणे होते हैं। कारण कि उसमें एक सातावेदनीय को छोड़कर अन्य कर्मों के

---

१. ईर्या योगः; स पन्था मार्गः हेतुः यस्य कर्मणः तदीर्यापथकर्म्म। जोगणिमित्तेणेव जं बज्झइ तमीरियावहकम्मं ति भणिदं होदि।—धवला पु० १३, पृ० ४७

बन्ध का अभाव रहता है। इस प्रकार आनेवाले कर्मप्रदेशों की अपेक्षा उसे बादर कहा गया है।

वह मृदु है, क्योंकि उसके स्कन्ध, कर्कश आदि गुणों से रहित होकर मृदुस्पर्श गुण से सहित होते हुए ही बन्ध को प्राप्त होते हैं।

वह बहुत है, क्योंकि कषाय सहित जीवों के वेदनीयकर्म के समयप्रबद्ध से ईर्यापथ कर्म का समयप्रबद्ध प्रदेशों की अपेक्षा संख्यातगुणा होता है।

इसी क्रम से आगे धवला में उसे रूक्ष, शुक्ल, मन्द, महाव्यय, साताभ्यधिक, गृहीत-अगृहीत, बद्ध-अबद्ध, स्पृष्ट-अस्पृष्ट, उदित-अनुदित, वेदित-अवेदित, निर्जरित-अनिर्जरित और उदीरित-अनुदीरित विशेषणों से विशिष्ट दिखलाया गया है (पु० १३, पृ० ४७-५४)।

तपःकर्म के प्रसंग में उसके लक्षण का निर्देश करते हुए धवला में कहा है कि रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए जो इच्छा का निरोध किया जाता है उसका नाम तप है। वह बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें बाह्य तप अनेषण (अनशन), अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन के भेद से छह प्रकार का है। अभ्यन्तर तप भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग के भेद से छह प्रकार का है।

इस बारह प्रकार के तप को धवला में यथाक्रम से विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है (पु० १३, पृ० ५४-८८)।

प्रायश्चित्तविषयक विचार के प्रसंग में यहाँ उसके ये दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान।

प्रायश्चित्त के ये दस भेद मूलाचार में उपलब्ध होते हैं। सम्भवतः उसी का अनुसरण यहाँ किया गया है। यथा—

> आलोयण पडिकमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो।
> तव छेदो मूलं चिय परिहारो चेव सद्दहणा[1] ॥—मूला० ५/१६५

धवला में इनका स्वरूप बतलाते हुए, किस प्रकार के अपराध के होने पर कौन-सा प्रायश्चित्त विधेय होता है, इसे भी यथाप्रसंग स्पष्ट किया गया है।

'तत्त्वार्थसूत्र' (९-२२) में प्रायश्चित्त के ये नौ ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना।

इनमें प्रारम्भ के सात भेद दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समान हैं। पर 'मूलाचार' और 'धवला' में जहाँ उनमें मूल, परिहार और श्रद्धान इन तीन अन्य भेदों को सम्मिलित करके उसके दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं जबकि तत्त्वार्थसूत्र में परिहार और उपस्थापना इन दो भेदों को सम्मिलित करके उनके नौ ही भेद निर्दिष्ट हैं। इनमें 'परिहार' भी दोनों ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध होता है, मात्र क्रमव्यत्यय हुआ है।

'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' व 'तत्त्वार्थवार्तिक' में जो उनके स्वरूप का निर्देश है उसमें 'धवला' में कहीं पर साधारण स्वरूपभेद भी हुआ है।

'तत्त्वार्थसूत्र' में 'मूल' प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है। उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए

---

१. यह गाथा धवला में (पु० १३, पृ० ६०) 'एत्थ गाहा' इस निर्देश के साथ उद्धृत भी की गयी है।

धवला में कहा गया है कि समस्त पर्याय को नष्ट करके फिर से दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त कहलाता है। यह अभिप्राय 'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' (९,२२,१०) में 'उपस्थापना' प्रायश्चित्त के अन्तर्गत है।[1]

'श्रद्धान' प्रायश्चित का उल्लेख भी तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हुआ है। इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए धवला में कहा है कि जो मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित है उसके लिए महाव्रतों को ग्रहण करके आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करना—यही प्रायश्चित्त है।[2]

परिहार प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य[3] और पारंचिक के भेद से दो प्रकार का है। इनमें अनवस्थाप्य परिहार प्रायश्चित्त जघन्य से छह मास और उत्कर्ष से बारह वर्ष तक किया जाता है। इस प्रायश्चित्त का आचरण करनेवाला अपराधी साधु कायभूमि से परे विहरता है—साधु-संघ से दूर रहता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है, गुरु को छोड़कर शेष जनों से मौन रखता है तथा क्षपण (उपवास), आचाम्ल, एकस्थान और निर्विकृति आदि तपों के द्वारा रस, रुधिर व मांस को सुखाता है।

पारंचिक-परिहार प्रायश्चित्त भी इसी प्रकार का है। विशेषता यह है कि उसका आचरण साधर्मिक जन से रहित स्थान में कराया जाता है। इसमें उत्कर्ष से छह मास के उपवास का भी उपदेश किया गया है। ये दोनों प्रायश्चित्त राजा के विरुद्ध आचरण करने पर नौ-दस पूर्वों के धारक आचार्यों के होते हैं।[4]

'चारित्रसार'[5] में अनवस्थान परिहार को निजगण और परगण के भेद से दो प्रकार का कहा है। इनमें से जो मुनि प्रमाद के वश अन्य मुनि सम्बन्धी ऋषि, छात्र, गृहस्थ, दूसरे पाखण्डियों से सम्बद्ध चेतन-अचेतन द्रव्य अथवा पर-स्त्री को चुराता है या मुनियों पर प्रहार करता है, तथा इसी प्रकार अन्य भी विरुद्ध आचरण करता है उसे निजगणानुपस्थापन परिहार प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका आचरण करनेवाला नौ-दस पूर्वों का धारक, आदि के तीन संहननों से सहित, परीषह का जीतनेवाला, धर्म में स्थिर, धीर व संसार से भयभीत होता है। वह ऋषि-आश्रम से बत्तीस धनुष दूर रहता है, बालमुनियों की भी वन्दना करता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है, गुरु के पास आलोचना करता है, शेष जनों के विषय में मौन रखता है, पीछी को उलटी रखता है, तथा जघन्य से पाँच-पाँच व उत्कर्ष से छह-छह मास का उपवास करता है।[6]

---

१. पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। महाव्रतानां मूलोच्छेदं कृत्वा पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापनेत्याख्याते।—त०वा० ९,२२,१०

२. धवला पु० १३, पृ० ६३

३. इसके विषय में विविध ग्रन्थों में शब्दभेद या पाठभेद हुआ है। देखिए, 'जैन लक्षणावली' में अनवस्थाप्यता, अनवस्थाप्यार्ह, अनुपस्थान और अनुपस्थापन शब्द।

४. धवला पु० १३, पृ० ५९-६३

५. इस प्रसंग से सम्बद्ध धवला (पु० १३) में जो टिप्पण दिये गये हैं उनमें चारित्रसार के स्थान में 'आचारसार' का उल्लेख है।

६. चारित्रसार पृ० ६३-६४ (इससे शब्दशः समान यही सन्दर्भ 'अनगार धर्मामृत' की स्वो० टीका (७-५६) में भी उपलब्ध होता है)।

'तत्त्वार्थवार्तिक' में तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट नौ प्रकार के प्रायश्चित्त के स्वरूप आदि को प्रकट करते हुए अन्त में वहाँ किस प्रकार के अपराध में कौन-सा प्रायश्चित्त अनुष्ठेय होता है, इसका विवेचन है। पर यह प्रसंग वहाँ अशुद्ध बहुत हुआ है, जिससे यथार्थता का सरलता से बोध नहीं हो पाता है।

इस प्रसंग में वहाँ अनुपस्थापन और पारंचि[चि]क प्रायश्चित्तों का निर्देश करते हुए कहा है कि अपकृष्ट्य आचार्य के मूल में प्रायश्चित्त ग्रहण करने का नाम अनुपस्थापन प्रायश्चित्त है और एक आचार्य के पास से तीसरे आचार्य तक अन्य आचार्यों के पास भेजना यह पारंचि-[चि]क प्रायश्चित्त है। यहाँ यह स्मरणीय है कि चारित्रसार और आचारसार के अनुसार इस पारंचिक प्रायश्चित्त में अपराधी को एक से दूसरे व दूसरे से तीसरे आदि के क्रम से सातवें आचार्य के पास तक भेजा जाता है।

'तत्त्वार्थवार्तिक' में अन्त में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यह प्रायश्चित्त नौ प्रकार का है। किन्तु देश, काल, शक्ति और संयम आदि के अविरोधपूर्वक अपराध के अनुसार रोग-चिकित्सा के समान दोषों को दूर करना चाहिए। कारण यह कि जीव के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं तथा अपराध भी उतने ही हैं, उनके लिए उतने भेद रूप प्रायश्चित्त सम्भव नहीं हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा समुदित रूप में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।[1]

ध्यान विषयक चार अधिकार

आगे इसी तपःकर्म के प्रसंग में अभ्यन्तर तप के पाँचवें भेदभूत ध्यान की प्ररूपणा करते हुए धवला में तत्त्वार्थसूत्र (९-२६) के अनुसार यह कहा गया है कि उत्तम संहननवाला जीव एक विषय की ओर जो चिन्ता को रोकता है उसे ध्यान कहते हैं। वहाँ एक गाथा[2] उद्धृत की गई है, जिसका अभिप्राय है—

स्थिर जो अध्यवसान—एकाग्रता का आलम्बन लेनेवाला मन—है उसका नाम ध्यान है। चल या अस्थिर अध्यवसान को चित्त कहा जाता है। वह सामान्य से तीन प्रकार का है—भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता। भावना का अर्थ ध्यानाभ्यास की क्रिया है। स्मृतिरूप ध्यान से भ्रष्ट होने पर जो चित्त की चेष्टा होती है उसका नाम अनुप्रेक्षा है। इन दोनों प्रकारों से रहित जो मन की चेष्टा होती है उसे चिन्ता कहते हैं।[3]

---

१. देखिए, त० वा० ९,२२,१०; विशेष जानकारी के लिए 'जैन लक्षणावली' भाग १ की प्रस्तावना पृ० ७६-७८ में अनुपस्थापन शब्द से सम्बद्ध सन्दर्भ द्रष्टव्य है। इसी 'जैन लक्षणावली' के भाग २ में 'पारंचिक' शब्द के अन्तर्गत सन्दर्भ भी देखने योग्य हैं।

२. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होइ भावणा सा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥—पु० १३, पृ० ६४

यह गाथा ध्यानशतक में गाथांक २ के रूप में उपलब्ध होती है। इसी का संस्कृत छायानुवाद जैसा यह श्लोक आदिपुराण में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

स्थिर मध्यवसानं यत् तत् ध्यानं पच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥ २१-९

३. ध्यानशतक गा० २ की हरिभद्र-वृत्ति द्रष्टव्य है।

१. ध्याता—धवला में आगे ध्यान की प्ररूपणा क्रम से इन चार अधिकारों के आश्रय से की गई है—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। यहाँ ध्याता उसे कहा गया है जो उत्तम संहनन से सहित, सामान्य से वलवान्, शूर-वीर और चौदह अथवा दस-नौ पूर्वो का धारक होता है। उसे इतने पूर्वों का धारक क्यों होना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान के विना नौ पदार्थों का वोध न हो सकने से ध्यान घटित नहीं होता है, इसलिए उसे इतने पूर्वों का धारक होना चाहिए।

इस प्रसंग में यहाँ यह शंका उठी है कि यदि नौ पदार्थों विषयक ज्ञान से ही ध्यान सम्भव है तो चौदह, दस अथवा नौ पूर्वो के धारकों को छोड़कर दूसरों के वह ध्यान क्यों नहीं हो सकता है, क्योंकि चौदह दस अथवा नौ पूर्वों के विना थोड़े से भी ग्रन्थ से नौ पदार्थों विषयक वोध पाया जाता है।

इसके समाधान में धवला में कहा गया है कि वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि वीजवुद्धि ऋद्धि के धारकों को छोड़कर, अन्य जनों के थोड़े से ग्रन्थ से समस्त रूप में उन नौ पदार्थों के जान लेने के लिए और कोई उपाय नहीं है। इसे आगे और भी स्पष्ट किया है। तदनुसार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है—समस्त विश्व इन्हीं नौ पदार्थों में समाविष्ट है, इसलिए अल्प श्रुतज्ञान के वल पर समस्त रूप में उन नौ पदार्थों का जान लेना शक्य नहीं है। दूसरे, यहाँ द्रव्यश्रुत का अधिकार नहीं है, क्योंकि पुद्गल के विकार रूप जड़ द्रव्यश्रुत को श्रुत होने का विरोध है। वह केवलज्ञान का (भावश्रुत का) साधन है। इसके अतिरिक्त यदि अल्प श्रुत से ध्यान को स्वीकार किया जाता है तो शिवभूति आदि, जो वीजवुद्धि के धारक रहे हैं, उनके उस ध्यान के अभाव का प्रसंग प्राप्त होने से मोक्ष के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। पर वैसा नहीं है, क्योंकि द्रव्यश्रुत के अल्प होने पर भी वीजवुद्धि ऋद्धि के वल से भाव रूप में उनको समस्त नौ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त था। इसीलिए उन्हें शुक्ल ध्यान के आश्रय से मोक्ष प्राप्त हुआ है।

शिवभूति के द्रव्यश्रुत अल्प रहा है, यह भावप्राभृत की इस गाथा से स्पष्ट है—

> तुस-मासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
> णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥—गा० ५३

आगे धवलाकार कहते हैं कि यदि अल्प ज्ञान से ध्यान होता है तो क्षपकश्रेणि और उपशम श्रेणि के अयोग्य धर्मध्यान ही होता है।[1] परन्तु चौदह, दस और नौ पूर्वों के धारकों को धर्म और शुक्ल दोनों ही ध्यानों का स्वामित्व प्राप्त है, क्योंकि इसमें कुछ विरोध नहीं है। इसलिए उनका ही यहाँ निर्देश किया गया है। आगे धवला में ध्याता की विशेषता को प्रकट करनेवाले कुछ अन्य विशेषण भी दिये गये हैं। यथा—

सम्यग्दृष्टि—नौ पदार्थोविषयक रुचि, प्रत्यय अथवा श्रद्धा के विना ध्यान सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के कारणभूत संवेग और निर्वेद मिथ्यादृष्टि सम्भव नहीं है इसलिए उसे

---

१. यह स्मरणीय है कि धवला में धर्मध्यान का सद्भाव असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्म-साम्परायिक क्षपक व उपशमक तक निर्दिष्ट किया गया है। यथा—असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद - सुहुमसांपराइयखवगोव-सामएसु धम्म(?)स्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो।—पु० १३, पृ० ७४

सम्यग्दृष्टि होना चाहिए।

ग्रन्थत्यागी—ध्याता को वाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह का त्यागी होना चाहिए क्योंकि क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आसन, शिष्य, कुल, गण, संघ इत्यादि वाह्य परिग्रह के आश्रय से मिथ्यात्व व क्रोध-मानादिरूप अन्तरंग परिग्रह उत्पन्न होता है; जिसके वशीभूत होने पर ध्यान नहीं बनता है।

विविक्त-प्रासुकदेशस्थ—ध्यान के लिए जीव-जन्तुओं से रहित एकान्त स्थान होना चाहिए। ऐसे स्थान पर्वत, गुफा, श्मशान उद्यान आदि हो सकते हैं। जहाँ स्त्रियों, पशुओं एवं दुष्ट जनों का आना-जाना होता है उस स्थान में चित्त की निराकुलता नहीं रह सकती। यही कारण है जो ध्यान के लिए योग्य निर्जन्तुक एकान्त स्थान का उपदेश दिया गया है।

सुखासनस्थ—ध्यान के समय कष्टप्रद आसन पर स्थित होने से अंगों को पीड़ा उत्पन्न हो सकती है। इससे चित्त निराकुल नहीं रह सकता। अतएव जिस आसन पर वैठकर सुख-पूर्वक ध्यान किया जा सके ऐसे सुखासन को ध्यान के योग्य आसन कहा गया है।

अनियतकाल—ध्यान के लिए कोई समय नियत नहीं है, किसी भी समय वह किया जा सकता है, क्योंकि शुभ परिणाम सभी समयों में सम्भव हैं।

सालम्वन—जिस प्रकार सीढ़ी आदि के विना प्रासाद आदि के ऊपर चढ़ा नहीं जा सकता है उसी प्रकार आलम्वन के विना ध्यान पर भी आरुढ़ नहीं हुआ जा सकता है। इसके विपरीत, मनुष्य जिस प्रकार लाठी अथवा रस्सी आदि का आलम्वन लेकर दुर्गम स्थान पर पहुँच जाता है उसी प्रकार ध्याता सूत्र व वाचना-पृच्छना आदि का आलम्वन लेकर ध्यान पर स्थिरतापूर्वक आरूढ़ हो जाता है।

रत्नत्रयभावितात्मा—ध्यान के योग्य वह ध्याता होता है जिसने ध्यान के पूर्व सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और वैराग्य आदि विषयक भावनाओं के द्वारा उसका अभ्यास कर लिया हो। जो शंकादि दोषों से रहित होकर प्रशमादि गुणों को प्राप्त कर चुका है वह दर्शनविशुद्धि से विशुद्ध हो जाने के कारण ध्यान के विषय में मूढ़ता को प्राप्त नहीं होता है। निरन्तर ज्ञान के अभ्यास से मन की प्रवृत्ति अशुभ व्यापार में नहीं होती है, इसलिए वह निश्चलतापूर्वक ध्यान में निमग्न हो सकता है, चारित्र की भावना से नवीन कर्मो का आस्रव रुककर पुरातन कर्म की निर्जरा होती है। वैराग्यभावना से जगत् के स्वभाव को समझ लेने के कारण ध्याता ध्यान में स्थिर रहता है। इस कारण ध्यान के पूर्व रत्नत्रय की भावना व अनित्यादि वारह भावनाओं के द्वारा मन को स्थिर करना चाहिए।

ध्येय में स्थिरचित्त—पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर से मन को हटाकर ध्येय के विषय में उसे स्थिर करना चाहिए, क्योंकि विषयों की ओर दृष्टि के रहने से मन की स्थिरता सम्भव नहीं है (धवला पु० १३, पृ० ६४-६६)।

२. ध्येय—इस प्रकार ध्याता की प्ररूपणा करके आगे क्रमप्राप्त ध्येय का निरूपण करते हुए धवला में उस प्रसंग में अनेक विशेषणों से विशिष्ट वीतराग जिन को, सिद्धों को, जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थों को तथा वारह अनुप्रेक्षाओं आदि को ध्येय—ध्यान में चिन्तन के योग्य—कहा गया है।

यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि निर्गुण नौ पदार्थ कर्मक्षय के कारण कैसे हो सकते हैं। इसके उत्तर में वहाँ यह कहा गया है कि उनका चिन्तन करने से राग-द्वेष आदि का

निरोध होता है, अतः रागादि के निरोध में निमित्तभूत होने से उनके ध्येय होने में कुछ भी विरोध नहीं है।

आगे इसी प्रसंग में उपशमश्रेणि व क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने के विधान, तेईस वर्गणाओं, पाँच परिवर्तनों और प्रकृति-स्थिति आदिरूप चार प्रकार के बन्ध को भी ध्यान के योग्य माना गया है।[1]

३. ध्यान—तत्पश्चात् अवसरप्राप्त ध्यान की प्ररूपणा में सर्वप्रथम उसके भेदों का निर्देश करते हुए धवलाकार ने उसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से दो प्रकार का कहा है। इनमें धर्मध्यान ध्येय के भेद से चार प्रकार का है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। इन चारों ही धर्मध्यान के भेदों के स्वरूप आदि का धवला में विस्तार से निरूपण है।[2]

यहाँ यह विचारणीय है कि धवलाकार ने यहाँ ध्यान के उपर्युक्त दो ही भेदों का निर्देश किया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र (९-२८) व मूलाचार (५-१९७) आदि अनेक ग्रन्थों में उसके ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। यदि यह समझा जाय कि तपःकर्म का प्रसंग होने से सम्भवतः धवलाकार ने ध्यान के रूप में इन दो ही भेदों का उल्लेख करना उचित समझा हो, तो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'तत्त्वार्थसूत्र' और 'मूलाचार' में भी अभ्यन्तर तप के प्रसंग में ध्यान के इन चार भेदों का भी विधिवत् उल्लेख किया गया है।

'मूलाचार' में विशेषता यह रही है कि वहाँ सामान्य रूप में ध्यान के इन चार भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। किन्तु वहाँ यह कहा गया है कि आर्त और रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं तथा धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं (५-१९७)। आगे वहाँ और भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अतिशय भयावह व सुगति के बाधक इन आर्त-रौद्र ध्यानों को छोड़कर धर्म और शुक्ल ध्यान के विषय में बुद्धि को लगाना चाहिए (५-२००)।

'तत्त्वार्थसूत्र' में भी लगभग यही अभिप्राय प्रकट किया गया है। वहाँ सामान्य से आर्त-रौद्र आदि रूप ध्यान के उन चार भेदों का निर्देश करते हुए 'परे मोक्षहेतू' (९-२९) यह कहकर पूर्व के आर्त और रौद्र ध्यानों को संसारपरिभ्रमण का कारण कहा गया है।[3]

'तत्त्वार्थसूत्र' की व्याख्यास्वरूप 'सर्वार्थसिद्धि' में भी कहा गया है कि चार प्रकार का यह ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो भेदों को प्राप्त है।

'ध्यानशतक' में भी, जिसे प्रमुख आधार बनाकर धवलाकार ने प्रस्तुत ध्यान की प्ररूपणा विस्तार से की है, संख्यानिर्देश के बिना ध्यान के उन्हीं आर्त आदि चार भेदों का उल्लेख किया गया है। पर वहाँ भी 'तत्त्वार्थसूत्र' के समान यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्त के दो (धर्म और शुक्ल) ध्यान निर्वाण के साधन हैं जबकि आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण हैं।

---

१. धवला पु० १३, पृ० ६९-७०
२. वही, पृ० ७०-७७
३. परे मोक्षहेतू इति वचनात् पूर्वे आर्त-रौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति। कुतः तृतीयस्य साध्यस्याभावात्। —सर्वार्थसिद्धि ९-२९

'ध्यानशतक' को धवला में प्ररूपित ध्यान का प्रमुख आधार कहने का कारण यह है कि वहाँ ध्यान के वर्णन में ग्रन्थनामनिर्देश के बिना ध्यानशतक की लगभग ४७ गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं।[1]

इस सबसे यही प्रतीत होता है कि धवलाकार ने मोक्ष को प्रमुख लक्ष्य बनाकर प्रस्तुत ध्यान की प्ररूपणा की है, इसलिए उन्होंने ध्यान के धर्म और शुक्ल इन दो ही भेदों का निर्देश किया है। आर्त और रौद्र का कहीं नामनिर्देश भी नहीं किया।

हेमचन्द्र सूरि विरचित 'योगशास्त्र' (४-११५) में भी ध्यान के धर्म और शुक्ल ये ही भेद निर्दिष्ट हैं।

धवला में धर्मध्यान के चतुर्थ भेदभूत संस्थानविचय के प्रसंग में जिन दस (४१-५०) गाथाओं को उद्धृत किया गया है उनमें ४८वीं गाथा का पाठ अस्त-व्यस्त हो गया है। उसके स्थान में शुद्ध दो गाथाएँ इस प्रकार होनी चाहिए—

अण्णाण-मारुएरिय-संजोग-विजोग-वीइसंताणं।
संसार-सागरमणोरपारमसुइं विचिंतेज्जा ॥४८॥

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसण-सुबंधणमणग्घं।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥४९॥

—ध्यानशतक, ५७-५८

'ध्यानशतक' में आगे ५८वीं गाथा में प्रयुक्त 'चारित्रमय महापोत' से सम्बद्ध ये दो गाथाएँ और भी उपलब्ध होती हैं, जो धवला में नहीं मिलतीं।

संवरकयनिच्छिद्दं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं।
वेरग्ग-मग्गपडियं विसोत्तिया-वीइनिक्खोभं ॥५९॥

आरोढुं मुणि-वणिया महग्घसीलंग-रयणपडिपुन्नं।
जह तं निव्वाण-पुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥६०॥

धवला में उद्धृत एक गाथा यह भी है—

किं बहुसो सव्वं चिय जीवादिपयत्थवित्थरोवेयं।
सव्वणयसमूहमयं ज्झायज्जो समयसब्भावं ॥[2] —पु० १३, पृ० ७३

इसमें प्रयुक्त 'समयसब्भाव' को लेकर धवला में यह शंका की गई है कि यदि समस्त सद्भाव—आगमोक्त समस्त पदार्थ—धर्मध्यान के ही विषयभूत हैं तो फिर शुक्लध्यान का कुछ विषय ही नहीं रह जाता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि विषय की अपेक्षा इन दोनों ध्यानों में कुछ भेद नहीं है।

इस पर पुनः यह शंका की गई है कि यदि ऐसा है तो उन दोनों ध्यानों में अभेद का प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह कि डाँस-मच्छर व सिंह आदि के द्वारा भक्षण किये जाने पर तथा शीत-उष्ण आदि अन्य अनेक बाधाओं के रहते हुए भी जिस अवस्था में ध्याता ध्येय से विचलित

---

१. 'ध्यानशतक' (वीरसेवा-मन्दिर, दिल्ली) की प्रस्तावना में पृ० ५९-६२ पर 'ध्यानशतक और धवला का ध्यानप्रकरण' शीर्षक।
२. यह गाथा 'ध्यानशतक' में गाथांक ६२ के रूप में उपलब्ध है।

नहीं होता है उसका नाम ध्यान है। यह स्थिरता भी दोनों ध्यानों में समान है, क्योंकि इसके विना ध्यान नहीं वनता।

इसका परिहार करते हुए कहा गया है कि यह ठीक है कि विषय की अभिन्नता और स्थिरता इन दोनों स्वरूपों की अपेक्षा उन दोनों ध्यानों में कुछ भेद नहीं है। किन्तु धर्मध्यान एक वस्तु में थोड़े ही समय अवस्थित रहता है, क्योंकि कषाय सहित परिणाम गर्भालय में स्थित दीपक के समान दीर्घ काल तक अवस्थित नहीं रहता। और वह धर्मध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है, क्योंकि असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत और सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक व उपशामकों में धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है; ऐसा जिन भगवान का उपदेश है। इसके विपरीत शुक्लध्यान एक वस्तु में धर्मध्यान के अवस्थान काल से संख्यातगुणे काल तक अवस्थित रहता है, क्योंकि वीतराग परिणाम मणिशिखा के समान बहुत काल तक चलायमान नहीं होता। इस प्रकार उपर्युक्त स्वरूपों की अपेक्षा समानता के रहने पर भी क्रम से सकषाय और अकषायरूप स्वामियों के भेद से तथा अल्पकाल और दीर्घकाल तक अवस्थित रहने के भेद से दोनों ध्यानों में भेद सिद्ध है।

यद्यपि उपशान्तकषाय के पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान अन्तर्मुहूर्त काल ही रहता है, दीर्घकाल तक नहीं रहता है; फिर भी वहाँ उसका विनाश वीतराग परिणाम के विनाश के कारण होता है, अतः वह दोषजनक नहीं है (पु० १३, पृ० ७०-७५)।

यहाँ यह स्मरणीय है कि 'तत्त्वार्थसूत्र' में धर्मध्यान के स्वामियों का उल्लेख नहीं किया गया है, जब कि वहाँ अन्य तीन ध्यान के स्वामियों का उल्लेख (सूत्र ३४,३५,३७ व ३८) है। फिर भी उसकी वृत्ति 'सर्वार्थसिद्धि' में 'आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्' सूत्र (९-३६) की व्याख्या करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि वह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत के होता है।

'तत्त्वार्थभाष्य' सम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में ये दो सूत्र उपलब्ध होते हैं—

आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च।

—९,३७-३८

तदनुसार उक्त धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयत, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के होता है।

यह सूत्रपाठभेद सम्भवतः तत्त्वार्थवार्तिककार के समक्ष रहा है। इसलिए वहाँ 'धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयत के होता है' इस शंका का निराकरण करते हुए कहा गया है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर सम्यक्त्व के प्रभाव से जो असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत के भी धर्म्यध्यान का सद्भाव स्वीकार किया गया है उससे उनके अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

आगे 'तत्त्वार्थवार्तिक' में उक्त सूत्रपाठभेद के अनुसार जो उसका सद्भाव उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के स्वीकार किया गया है उसे असंगत ठहराते हुए कहा है कि ऐसा स्वीकार करने पर उक्त दोनों गुणस्थानों में शुक्लध्यान के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा।[1]

'ध्यानशतक' में धर्मध्यान का सद्भाव इसी सूत्रपाठभेद के अनुसार अप्रमत्तसंयत, उपशान्त-

१. धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्येति चेन्न, पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात्। उपशान्तकषाय-क्षीणकषाययोश्चेति, तन्न शुक्लाभाव प्रसंगात्।—त०वा० ९, ३६, १४-१५

मोह और क्षीणमोह के कहा गया है (गा० ६३)।

४. ध्यानफल—धवला में आगे इस धर्मध्यान में सम्भव पीत, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं का सद्भाव दिखाकर उसके फल के प्रसंग में कहा है कि उसका फल अक्षपकों में प्रचुर देवसुख की प्राप्ति और गुणश्रेणि के अनुसार होने वाली कर्मनिर्जरा है, परन्तु क्षपकों में उसका फल असंख्यात गुणश्रेणि से कर्मप्रदेशों की निर्जरा और पुण्य कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना है। इस प्रकार धर्मध्यान की प्ररूपणा समाप्त हुई है।

शुक्लध्यान—आगे शुक्लध्यान की प्ररूपणा में उसके पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क-अवीचार, सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती इन चार भेदों का निर्देश करते हुए प्रथमतः उनमें अन्य प्रासंगिक चर्चा के साथ पूर्व पहले के दो शुक्लध्यानों के स्वरूप आदि का विचार किया गया है।

इन दोनों शुक्लध्यानों के फल की प्ररूपणा में कहा गया है कि अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म की सर्वोपशामना में अवस्थित रहना पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यान का फल है। परन्तु धर्मध्यान का फल मोह का सर्वोपशम है, क्योंकि सकषाय रूप से धर्मध्यान करनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक संयत के अन्तिम समय में मोहनीय का सर्वोपशम पाया जाता है।

एकत्ववितर्क-अवीचार शुक्लध्यान का फल तीन घातिया कर्मों का निर्मूल विनाश करना है, जबकि धर्मध्यान का फल मोहनीय का विनाश करना है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायिक के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।

इस पर यहाँ यह शंका उठी है कि यदि मोहनीय का उपशम होना धर्मध्यान का फल है तो उसका क्षय उस धर्मध्यान का फल नहीं हो सकता, क्योंकि एक से दो कार्यों के उत्पन्न होने का विरोध है। इसके उत्तर में धवला में कहा गया है कि धर्मध्यान अनेक प्रकार का है, इसलिए उससे अनेक कार्यों के उत्पन्न होने में कुछ विरोध नहीं है।

धवला में एक अन्य शंका यह भी उठायी गयी है कि एकत्ववितर्क-अवीचार शुक्लध्यान के लिए 'अप्रतिपाती' विशेषण से क्यों नहीं विशेषित किया गया। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उपशान्तकषाय जीव के भव के क्षय से अथवा काल के क्षय से कषायों में पड़ने पर एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान का प्रतिपात पाया जाता है। इसलिए उसे 'अप्रतिपाती' विशेषण से विशिष्ट नहीं किया गया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि धवलाकार के मतानुसार उपशान्तकषाय गुणस्थान में प्रमुखता से पृथक्त्ववितर्क-वीचार शुक्लध्यान रहता है, साथ ही वहाँ दूसरा एकत्ववितर्क-अवीचार शुक्ल-ध्यान भी रहता है। इसी प्रकार क्षीणकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार शुक्लध्यान तो होता ही है, साथ ही वहाँ योगपरावर्तन की एक समय प्ररूपणा न बन सकने के कारण क्षीण-कषाय काल के प्रारम्भ में पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान भी सम्भव है।

इस पर यह शंका उत्पन्न हुई है कि उपशान्तकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान के होने पर 'उवसंतो दु पुधत्तो'[1] इस आगमवचन से विरोध होता है। इसके समाधान में कहा है कि उक्त आगमवचन में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान ही वहाँ होता है, ऐसा नियम नहीं

---

१. उवसंतो दु पुधत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कऽवीचारं ॥—मूला० ५-२०७

हैं। इसलिए वहाँ एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान के भी होने पर उस आगम-वचन के साथ विरोध की सम्भावना नहीं है।[1]

आगे क्रमप्राप्त तीसरे सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती शुक्लध्यान की प्ररूपणा के प्रसंग में उसके स्वरूप, दण्ड-कपाटादिरूप केवलिसमुद्घात, स्थितिकाण्डकों और अनुभागकाण्डकों के घात के क्रम, योगनिरोध के क्रम, पूर्वस्पर्धकों व अपूर्वस्पर्धकों के विधान और कृष्टिकरण इन सब के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

इस प्रसंग में धवला में यह शंका की गयी है कि केवली के योगनिरोधकाल में जो सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती ध्यान का सद्भाव बतलाया गया है वह घटित नहीं होता। कारण यह है कि केवली समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानते हैं, अपने समस्त काल में एक स्वरूप से अवस्थित रहते हैं तथा इन्द्रियातीत हैं; इसलिए एक वस्तु में उनके मन का निरोध सम्भव नहीं है और मन के निरोध के विना ध्यान होता नहीं है, क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता।

इस शंका के उत्तर में वहाँ यह कहा गया है कि दोष की सम्भावना तब हो सकती थी, जबकि एक वस्तु में चिन्ता के निरोध को ध्यान मान लिया जाता। पर यहाँ ऐसा नहीं माना गया है। यहाँ तो उपचारतः 'चिन्ता' से योग का अभिप्राय रहा है। इस प्रकार जिस ध्यान में योगस्वरूप चिन्ता का एकाग्रता से निरोध (विनाश) होता है उसे ध्यान माना गया है। इसलिए शंकाकार के द्वारा उद्भावित दोष की सम्भावना नहीं है।[2]

ध्यानशतक में ऐसी ही शंका को हृदयंगम करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चल मन को ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चल काय को ध्यान कहा जाता है।[3] योग सामान्य की अपेक्षा मन और काय में कुछ भेद नहीं है।

आगे क्रमप्राप्त चौथे समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान की प्ररूपणा करते हुए धवला में कहा गया है जिस ध्यान में योगरूप क्रिया नष्ट हो चुकी है तथा जो अविनश्वर है उसे समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहा जाता है। यह चौथा शुक्लध्यान श्रुत से रहित होने के कारण अवितर्क और जीवप्रदेशों के परिस्पन्द के अभाव से अथवा अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण के अभाव से अवीचार है। यहाँ 'एत्थ गाहा' सूचना के साथ यह गाथा उद्धृत की गयी है—

अविदक्कमवीचारं अणियट्टी अकिरियं च सेलेसिं।
ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥

अर्थात् वह चौथा उत्तम शुक्लध्यान वितर्क व वीचार से रहित, निवृत्त न होनेवाला, क्रिया से विहीन, शैलेशी अवस्था को प्राप्त और योगों के निरोध से सहित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट है।

धवलाकार ने 'एदस्स अत्थो' संकेतपूर्वक यह कहा है कि योग का निरोध हो जाने पर कर्म

---

१. धवला पु० १३, पृ० ७७-८२
२. धवला पु० १३, पृ० ८३-८७
३. जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए झाणं ॥८४॥

आयु के समान अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितिवाले होते हैं। अनन्तर समय में वह समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपाती शुक्ल ध्यान का ध्याता शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है।

यहाँ भी यह पूछने पर कि इसे 'ध्यान' संज्ञा कैसे प्राप्त है, धवलाकार ने कहा है कि एकाग्रता से प्रदेशपरिस्पन्द के अभाव स्वरूप चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है; यह जो ध्यान का लक्षण है वह उसमें घटित होता है, इसलिए उसकी 'ध्यान' संज्ञा के होने में कुछ विरोध नहीं है।

फल के प्रसंग में यहाँ तीसरे शुक्लध्यान का फल योगों का निरोध और इस चौथे शुक्ल-ध्यान का फल चार अघातिया कर्मों का विनाश निर्दिष्ट किया गया है (पु० १३, पृ० ८७-८८)।

क्रियाकर्म—सूत्रकार ने क्रियाकर्म के इन छह भेदों का निर्देश किया है—आत्माधीन, प्रदक्षिणा, त्रिःकृत्वा, तीन अवनति, चार सिर और बारह आवर्त (सूत्र ५,४,२७-२८)।

धवला में इनकी विवेचना इस प्रकार की गयी है—

(१) क्रियाकर्म करते समय अपने अधीन रहना, पर के वश नहीं होना; इसका नाम 'आत्माधीन' है। कारण यह कि पराधीन होकर किया जाने वाला क्रियाकर्म कर्मक्षय का कारण नहीं होता। इसके विपरीत वह जिनेन्द्र देव आदि की अत्यासादना का कारण होने से कर्मबन्ध का ही कारण होता है।

(२) वन्दना के समय गुरु, जिन और जिनालय की प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना 'प्रदक्षिणा' है।

(३) प्रदक्षिणा, नमस्कार आदिरूप क्रियाओं का तीन बार करना 'त्रिःकृत्वा' है। अथवा एक ही दिन में जिनदेव, गुरु, और ऋषियों की जो तीन बार वन्दना की जाती है; उसे त्रिः-कृत्वा कहा जाता है।

यहाँ प्रसंगप्राप्त एक शंका का समाधान करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वन्दना तीन सन्ध्याकालों में नियम से की जाती है, अन्य समयों में उसके करने का निषेध नहीं है। किन्तु तीन सन्ध्याकालों में उसे अवश्य करना चाहिए, इस नियम को प्रकट करने के लिए 'त्रिःकृत्वा' कहा गया है।

(४) अवनत का अर्थ अवनमन या भूमि पर बैठना है। यह क्रिया तीन बार की जाती हैं। यथा—पैर धोकर मन की शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव के दर्शन से उत्पन्न हुए हर्ष से रोमांचित होते हुए जिन के आगे बैठना, यह एक (प्रथम) अवनमन हुआ। पश्चात् उठ करके जिनेन्द्र आदि की विज्ञप्ति करते हुए फिर से बैठना, यह दूसरा अवनमन हुआ। तत्पश्चात् पुनः उठ करके सामायिक दण्डक के द्वारा आत्मशुद्धि करते हुए कषाय से रहित होकर शरीर से ममत्व छोड़ना, जिन भगवान् के अनन्त गुणों का ध्यान करना, चौवीस तीर्थंकरों की वन्दना करना तथा जिन, जिनालय और गुरु की स्तुति करके फिर से भूमि पर बैठना है; यह तीसरा अवनमन है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म को करते हुए तीन ही अवनमन होते हैं।

(५) समस्त क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। दोनों हाथों को मुकुलित करके सिर को झुकाना—नमस्कार करना, यह 'शिर' का अभिप्राय है। सामायिक के प्रारम्भ में जो जिनेन्द्र के प्रति सिर को नमाया जाता है, यह एक 'शिर' हुआ। उस सामायिक के अन्त में जो सिर को नमाया जाता है, यह द्वितीय 'शिर' हुआ। 'थोस्सामि' दण्डक के आदि में जो सिर को नमाया जाता है, यह तृतीय 'शिर' हुआ। उसी के अन्त में जो सिर को नमाया जाता है, यह चतुर्थ 'शिर' हुआ।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्यत्र नमस्कार करने का निषेध किया गया—उसे अन्यत्र भी किया जा सकता है, पर सामायिक व थोस्सामिदण्डक के आदि व अन्त में उसे नियम से करना ही चाहिए, यह उक्त कथन का अभिप्राय है।

विकल्प के रूप में 'चतुःशिर' का अभिप्राय प्रकट करते हुए यह भी कहा गया है—अथवा सभी क्रियाकर्म चतुःशिर—अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म इन चार को प्रधान करके ही होता है; क्योंकि सभी क्रियाकर्मों की प्रवृत्ति उन चार को प्रधानभूत करके ही देखी जाती है।

(६) सामायिक और थोस्सामिदण्डक के आदि व अन्त में मन-वचन-काय की विशुद्धि के परावर्तनवार बारह होते हैं। इस प्रकार एक क्रियाकर्म बारह आवर्तों से सहित होता है, ऐसा कहा गया है (पु० १३, पृ० ८८-९०)।

मूलाचार के 'षडावश्यक' अधिकार में 'वन्दना' आवश्यक के प्रसंग में (७,७६-११४) उसका विस्तार से विवेचन है। वहाँ 'वन्दना' के कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये समानार्थक नाम निर्दिष्ट हैं (गा० ७-७९)।

क्रियाकर्म और कृतिकर्म में कुछ अर्थभेद नहीं है। 'कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदम्बकेन परिणामेन क्रियया वा तत् कृतिकर्म पापविनाशनोपायः' इस निरुक्ति के अनुसार जिस अक्षरसमूह, परिणाम अथवा क्रिया के द्वारा आठ प्रकार के कर्म को नष्ट किया जाता है उसका नाम कृतिकर्म है। पाप के विनाश का यह एक उपाय है।[1]

उस कृतिकर्म में कितनी अवनतियाँ व कितने सिर—हाथों को मुकुलित करके सिर से लगाने रूप नमस्कार—किये जाते हैं और वह कितने आवर्तों से शुद्ध व कितने दोषों से मुक्त होता है (७-८०), इसके स्पष्टीकरण में वहाँ यह पद्य भी उपलब्ध होता है—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव वा।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे[2]॥—मूला० ७-१०४

अर्थात् जिस क्रियाकर्म में यथाजात रूप में स्थित होकर दो अवनतियाँ, बारह आवर्त और

---

१. मूलाचार वृत्ति ७-७९

२. इसे धवला पु०, ९ पृ० १८९ पर 'एत्थुववुज्जंती गाहा' कहते हुए उद्धृत किया जा चुका है। तुलना कीजिए—

(क) चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥

रत्नकरण्डक ५-१८ (सामायिक प्रतिमा के प्रसंग में)। इसकी टीका में आ० प्रभाचन्द्र ने 'यथाजात' का अर्थ 'बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से व्यावृत्त' किया है।

(ख) दुओणयं जहाजायं कितिकम्मं बारसावयं।
चउसिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एग णिक्खमणं॥—समवायांग सूत्र १२

(ग) चतुःशिरस्त्रि-द्विनतं द्वादशावर्तमेव च।
कृतिकर्माख्यमाचष्टे कृतिकर्मविधिं परम्॥—ह० पु० १०-१३३
द्व्यासनया सुविशुद्धा द्वादशावर्ता प्रवृत्तिषु प्राज्ञैः।
सशिरश्चतुरानतिका प्रकीर्तिता वन्दना वन्द्या॥—ह० पु० ३४-१४४

चार सिर किये जाते हैं ऐसे मन-वचन-काय से शुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करना चाहिए।[1]

सूत्रकार ने नामस्थापनादि के भेद से दस प्रकार के कर्म का निरूपण करके अन्त में उनमें से यहाँ समवदानकर्म को प्रसंगप्राप्त कहा है (सूत्र ५,४,३१)।

समवदान आदि छह कर्म

धवला में इसका हेतु यह दिया गया है कि कर्मअनुयोगद्वार में उस समवदानकर्म की ही विस्तार से प्ररूपणा की गयी है। साथ ही विकल्प के रूप में वहाँ यह भी कथन किया गया है—अथवा मूलग्रन्थकर्ता ने जो यहाँ समवदानकर्म को प्रकृत कहा है, वह संग्रहनय की अपेक्षा से है। इसका कारण बतलाते हुए धवला में कहा गया है कि मूलतंत्र[2] में प्रयोगकर्म, समवदान-कर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म की प्रधानता रही है; क्योंकि उनकी वहाँ विस्तार से प्ररूपणा की गयी है।

'इन छह कर्मों को आधारभूत करके यहाँ हम सत्प्ररूपणा, द्रव्य, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करते हैं' ऐसी सूचना करते हुए धवलाकार ने यथाक्रम से उनकी विस्तार से प्ररूपणा की है। यथा—

सत्प्ररूपणा के प्रसंग में वहाँ यह कहा गया है कि ओघ की अपेक्षा प्रयोगकर्म आदि छहों कर्म हैं। आदेश की अपेक्षा गतिमार्गणा के अनुवाद से नरकगति के भीतर नारकियों में प्रयोगकर्म, समवदानकर्म और क्रियाकर्म हैं। अधःकर्म, ईर्यापथकर्म और तपःकर्म उनमें नहीं हैं। अधःकर्म उनके इसलिए नहीं है कि वह औदारिकशरीरस्वरूप है,[3] जिसका उदय उनके सम्भव नहीं है। ईर्यापथकर्म और तपःकर्म का सम्बन्ध महाव्रतों से है, जिनका आधार भी वही औदारिकशरीर है; इसलिए ये दोनों कर्म भी उनके सम्भव नहीं हैं। यही अभिप्राय देवों के विषय में भी ग्रहण करना चाहिए।

तिर्यंचगति में तिर्यंचों के प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म और क्रियाकर्म ये चार हैं। महाव्रतों के सम्भव न होने से उनके ईर्यापथकर्म और तपःकर्म नहीं होते।

मनुष्यगति में मनुष्यों, मनुष्यपर्याप्तों और मनुष्यिनियों के ओघ के समान छहों कर्म होते हैं।

द्रव्यप्रमाणानुगम के प्रसंग में प्रथमतः द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता के स्वरूप का विवेचन है। तदनुसार प्रयोगकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म में जीवों की 'द्रव्यार्थता' संज्ञा है तथा जीवप्रदेशों की संज्ञा 'प्रदेशार्थता' है। समवदानकर्म और ईर्यापथकर्म में जीवों की संज्ञा द्रव्यार्थता और उन्हीं जीवों में स्थित कर्मपरमाणुओं की प्रदेशार्थता संज्ञा है। अधःकर्म में अभव्यसिद्धों से अनन्तगुणे और सिद्धों से अनन्तगुणेहीन औदारिक नोकर्मस्कन्धों की द्रव्यार्थता और उन्हीं

---

१. वसुनन्दिवृत्ति द्रष्टव्य है। 'यथाजात' का अर्थ वृत्ति में 'जातरूपसदृशं क्रोध-मान-माया-संगादिरहितं' किया गया है।

२. धवलाकार को 'मूलतंत्र' से कौन-सा ग्रन्थ अभिप्रेत रहा है, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भव है, उनकी दृष्टि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत या उसके अन्तर्गत किसी अधिकार की ओर रही हो।

३. जम्हि सरीरे ट्ठिदाणं ओद्दावण-विद्दावण-परिदावण-आरंभाअण्णेहिंतो होंति तं सरीरमाधा-कम्मं ति भणिदं होदि।—पु० १३, पृ० ४६-४७

औदारिकशरीर नोकर्मस्कन्धों में स्थित पूर्वोक्त परमाणुओं की प्रदेशार्थता संज्ञा है।

धवला में द्रव्यप्रमाण को प्रकट करते हुए ओघ की अपेक्षा प्रयोगकर्म, समवदानकर्म और अधःकर्म की द्रव्यार्थता व प्रदेशार्थता का तथा ईर्यापथकर्म की प्रदेशार्थता का द्रव्यप्रमाण अनन्त कहा है। कारण यह कि प्रयोगकर्म और समवदानकर्म के अनन्तवें भाग से हीन सब जीवराशि की द्रव्यार्थता को यहाँ ग्रहण किया गया है। इनकी प्रदेशार्थता भी अनन्त है, क्योंकि इन जीवों को घनलोक से गुणित करने पर प्रयोगकर्म की प्रदेशार्थता का प्रमाण उत्पन्न होता है तथा उन्हीं जीवों को कर्मप्रदेशों से गुणित करने पर समवदानकर्म की प्रदेशार्थता का प्रमाण उत्पन्न होता है।

इसी पद्धति से आगे धवला में ओघ और आदेश की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण की तथा क्षेत्र व स्पर्शन आदि अन्य अनुयोगद्वारों की भी प्ररूपणा विस्तार से की गयी है।

(पु० १३, पृ० ६१-१९६)

३. प्रकृति अनुयोगद्वार

यहाँ प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों के नामों के निर्देशपूर्वक नयविभाषणता, निक्षेप व उसके भेद-प्रभेदों आदि की जो चर्चा की गयी है उसे 'मूलग्रन्थगत विषय-परिचय' में देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त धवला में जो प्रसंगानुरूप विशेष प्ररूपणा की है उसी का परिचय यहाँ कराया जा रहा है।

धवला में यहाँ पाँच ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के प्रसंग में आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञानों के स्वरूप आदि का विचार किया गया है (पु० १३, पृ० २०९-१५)।

इसी प्रकार आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के प्रसंग में अवग्रह व ईहा आदि आभिनिबोधिक ज्ञान के भेदों को विशद करते हुए प्रसंगानुसार उनके अन्य भेद-प्रभेदों के विषय में भी पर्याप्त विचार किया गया है।

श्रुतज्ञानावरणीय के प्रसंग में श्रुतज्ञान का विचार करते हुए अक्षरसंयोग व उसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले भंगों की प्रक्रिया स्पष्ट की गयी है। आगे चलकर अक्षर-अक्षरसमास और पद-पदसमास आदि श्रुतज्ञान के भेदों का निरूपण है। साथ ही सूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट (सूत्र ५,५,५०) प्रावचन, प्रवचनीय व प्रवचनार्थ आदि श्रुतज्ञान के ४८ पर्याय शब्दों को भी स्पष्ट किया गया है।

अवधिज्ञानावरणीय की असंख्यात प्रकृतियों का निर्देश करते हुए सूत्रकार ने अवधिज्ञान के इन दो भेदों का उल्लेख किया है—भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक (सूत्र ५,५,५१-५३)।

अवधिज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात कैसे हैं, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि चूँकि उसके द्वारा आव्रियमाण अवधिज्ञान के असंख्यात भेद हैं, इसलिए उनका आवरण करने वाले अवधिज्ञानावरणीय कर्म के भी असंख्यात भेद होते हैं।

आगे धवला में सूत्रनिर्दिष्ट (५,५,५४-५६) भवप्रत्यय, गुणप्रत्यय और देशावधि-परमावधि आदि अनेक अवधिज्ञान के भेदों को स्पष्ट किया गया है। किन्तु देशावधि, परमावधि और सर्वावधि इन तीन अवधिज्ञान-भेदों की विशेष प्ररूपणा न कर यह सूचित कर दिया है कि इनके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होनेवाले भेदों की प्ररूपणा जिस प्रकार वेदना-

खण्ड में की गयी है, उसी प्रकार से यहाँ करना चाहिए, क्योंकि उसमें कुछ भेद नहीं है।[1]

इसी प्रसंग में वहाँ सूत्रनिर्दिष्ट (५,५,५९) समय, आवली आदि कालभेदों को स्पष्ट करते हुए अनेक गाथासूत्रों (३-१७) के आश्रय से क्षेत्र व काल आदि की अपेक्षा उसके विषय की विस्तार से प्ररूपणा की गयी है।[2]

मनःपर्यय ज्ञानावरणीय के प्रसंग में ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान किस प्रकार ऋजुमनोगत, ऋजु-वचनगत और ऋजुकायगत अर्थ को तथा विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान किस प्रकार ऋजु व अनृजु मन-वचन-कायगत अर्थ को जानता है, इसका स्पष्टीकरण धवला में किया गया है। इसी प्रसंग में वहाँ मनःपर्ययज्ञान मन (मतिज्ञान) से मानस को—दूसरों के मन में स्थित अर्थ को—ग्रहण करके सूत्रनिर्दिष्ट (५,५,६३) जिन संज्ञा, मति, स्मृति, चिन्ता, जीवित, मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगरविनाश एवं देशविनाश आदि अनेक विषयों को जानता है, उनको भी स्पष्ट किया गया है।[3]

क्षेत्र की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के विषय के प्रसंग में सूत्र में यह निर्देश किया गया है कि वह उत्कर्ष से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर जानता है, उसके बाहर नहीं जानता है।

(सूत्र ५, ५,७७)

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि 'मानुषोत्तर पर्वत' यहाँ उपलक्षण है, सिद्धान्त नहीं है, इसलिए उसका यह अभिप्राय समझना चाहिए कि पैंतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र के भीतर स्थित जीवों के तीनों काल-सम्बन्धी चिन्ता के विषय को जानता है। इससे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर भी अपने विषयभूत क्षेत्र के भीतर स्थित रहकर चिन्तन करनेवाले देवों व तिर्यंचों के भी चिन्तित विषय को वह विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान जानता है, यह सिद्ध होता है।

यहाँ धवलाकार ने उक्त विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान के उत्कृष्ट विषय के सम्बन्ध में उपलब्ध दो भिन्न मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि विपुलमति-मनःपर्यय मानुषोत्तर पर्वत के भीतर ही जानता है। तदनुसार उसका यह अभिप्राय हुआ कि वह मानुषोत्तर पर्वत के बहिर्भूत विषय को नहीं जानता।

अन्य कुछ आचार्यों का कहना है कि विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी मानुषोत्तर पर्वत के भीतर ही स्थित रहकर जिस अर्थ का चिन्तन किया गया है, उसे जानता है। इस मत के अनुसार, लोक के अन्त में स्थित अर्थ को भी वह प्रत्यक्ष जानता है।

इन दोनों मतों को असंगत ठहराते हुए धवलाकार ने कहा है कि ये दोनों ही मत ठीक नहीं हैं, क्योंकि इस प्रकार से अपने विषयभूत क्षेत्र के भीतर आये हुए पदार्थ का बोध न हो सके, यह घटित नहीं होता। कारण यह है कि मानुषोत्तर पर्वत के द्वारा उस मनःपर्ययज्ञान का प्रतिघात होता हो, यह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पराधीन होने के कारण व्यवधान से

---

१. धवला, पु० १३, पृ० २९३ तथा 'कृति' अनुयोगद्वार (पु० ९) में देशावधि पृ० १४-४०, परमावधि पृ० ४१-४७, सर्वावधि पृ० ४७-५१

२. धवला, पु० १३, पृ० २९८-३२८; यहाँ जिन गाथासूत्रों के आधार से उसके विषयविकल्पों की प्ररूपणा की गई है उनमें अधिकांश वे महाबन्ध (भा० १) में भी उस प्रसंग में उपलब्ध होते हैं, पूर्वोक्त कृति-अनुयोगद्वार में उन्हें उस प्रसंग में उद्धृत किया जा चुका है।

३. धवला पु० १३, पृ० ३२८-४१ (सूत्र ६३ की टीका द्रष्टव्य है—पृ० ३३२-३६)

रहित है, इसलिए अपने विषयभूत क्षेत्र के भीतर नियत विषय के ग्रहण करने में किसी प्रकार की बाधा सम्भव नहीं है।

दूसरे मत के अनुसार, लोक के अन्त में स्थित अर्थ को जाननेवाला वहाँ स्थित चित्त को नहीं जानता है, यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि अपने क्षेत्र के भीतर स्थित अपने विषयभूत अर्थ का न जानना घटित नहीं होता है; इस प्रकार दूसरे मत के अनुसार प्रसंगप्राप्त लोक के अन्त में स्थित चित्त को जानना चाहिए। पर वैसा सम्भव नहीं है, अन्यथा क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा ही निष्फल ठहरती है।

इससे यही अभिप्राय निकलता है कि पैंतालीस लाख योजन के भीतर स्थित होकर चिन्तन करनेवाले जीवों के द्वारा चिन्त्यमान पदार्थ यदि मनःपर्ययज्ञान के प्रकाश से व्याप्त क्षेत्र के भीतर है तो वह उसे जानता है, नहीं तो नहीं जानता है।[1]

केवलज्ञानावरणीय की प्ररूपणा के प्रसंग में केवलज्ञान की विशेषता को प्रकट करते हुए सूत्र में कहा गया है कि स्वयं उत्पन्न ज्ञान-दर्शनवाले भगवान् देवलोक, असुरलोक व मनुष्य-लोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मान (मन) मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सर्वलोक, सब जीव और सब भावों को एक साथ जानते हैं, देखते हैं व विहार करते हैं।[2]

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने सूत्रनिर्दिष्ट गति-आगति सभी के स्वरूप को स्पष्ट किया है।[3]

धवला में आगे दर्शनावरणीय आदि शेष मूल प्रकृतियों की भी उत्तर प्रकृतियों को स्पष्ट किया गया है।

४. बन्धन अनुयोगद्वार

यह अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चार अधिकारों में विभक्त है। यहाँ मूलग्रन्थकार के द्वारा जो विवक्षित विषय की प्ररूपणा की गयी है, वह अपने आप में बहुत-कुछ स्पष्ट है। इसलिए धवला में प्रसंगप्राप्त अधिकांश सूत्रों के अभिप्राय को ही स्पष्ट किया गया है। जहाँ प्रसंग पाकर धवला में विवक्षित विषय की विस्तार से प्ररूपणा है, उसी का परिचय यहाँ कराया जा रहा है। शेष के लिए 'मूलग्रन्थगत विषय-परिचय' को देखना चाहिए।

प्रत्येकशरीर द्रव्यवर्गणा

'बन्धन' के अन्तर्गत उपर्युक्त चार अधिकारों में जो तीसरा 'बन्धनीय' अधिकार है उसमें २३ वर्गणाओं की प्ररूपणा की गई है। उनमें सत्रहवीं वर्गणा प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा है। उसके विषय में धवलाकार ने विशेष प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम धवला में उसके लक्षण का निर्देश

---

१. धवला, पु० १३, पृ० ३४३-४४

२. सूत्र ५,५,८२ (इस सन्दर्भ की तुलना आचारांग द्वि० श्रुतचूलिका ३, सूत्र १८; पृ० ८८८ से करने योग्य है।)

३. धवला, पु० १३, पृ० ३४६-५३

है। तदनुसार एक जीव के एक शरीर में उपचित कर्म और नोकर्मस्कन्धों का नाम प्रत्येक-शरीरद्रव्यवर्गणा है। वह जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती विकल्पों के अनुसार अनेक प्रकार की है। उनमें सबसे जघन्य वह किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जो जीव सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्तों में पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन कर्मस्थितिकाल तक क्षपितकर्मांशिक[1] स्वरूप से रहा है। पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र संयमासंयमकाण्ड को और उनसे विशेष अधिक सम्यक्त्व व अनन्तानुबन्धिविसंयोजन काण्डकों को तथा आठ संयमकाण्डकों को करके व चार वार कषायों को उपशमाकर अन्तिम भवग्रहण में पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है। पश्चात् गर्भ से निकलने को आदि करके आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त के ऊपर जो सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ग्रहण करके सयोगी जिन हो गया है। अनन्तर कुछ कम पूर्वकोटि काल तक अधःस्थितिगलन द्वारा समस्त औदारिक-शरीर और तैजसशरीर की निर्जरा को तथा कार्मणशरीर की गुणश्रेणिनिर्जरा को करके अन्तिम समयवर्ती भव्यसिद्धिक हुआ है। इस प्रकार के स्वरूप से आये हुए अयोगी के अन्तिम समय में सबसे जघन्य प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा होती है, क्योंकि उसके शरीर में निगोदजीवों का अभाव होता है।

आगे धवलाकार ने 'इस वर्गणा के माहात्म्य के ज्ञापनार्थ हम स्थानप्ररूपणा करते हैं' इस सूचना के साथ उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों के परमाणुपुंजों को ऊपर रखकर उनके नीचे उन्हीं तीन शरीरों के विस्रसोपचयपुंजों को रक्खे। इन छह जघन्य परमाणुपुंजों के ऊपर परमाणुओं को इस प्रकार बढ़ाना चाहिए—क्षपितकर्मांशिकस्वरूप से आये हुए उस अन्तिम समयवर्ती भव्यसिद्धिक के औदारिकशरीर सम्बन्धी विस्रसोपचयपुंज में एक परमाणु के बढ़ाने पर अन्य अपुनरुक्त स्थान होता है। उसमें दो परमाणुओं के बढ़ाने पर तीसरा अपुनरुक्त स्थान होता है। तीन परमाणुओं के बढ़ाने पर चौथा अपुनरुक्त स्थान होता है। इस प्रकार उक्त औदारिकशरीरगत विस्रसोपचयपुंज में एक एक परमाणु की वृद्धि के क्रम से सब जीवों से अनन्तगुणे मात्र परमाणुओं को बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार से बढ़ाने पर औदारिकशरीरगत विस्रसोपचयपुंज में सब जीवों से अनन्तगुणे मात्र अपुनरुक्त स्थान प्राप्त होते हैं।

इस पद्धति से आगे वहाँ अन्य क्षपितकर्मांशिक तथा गुणितकर्मांशिक को विवक्षित करके तैजस, कार्मण व वैक्रियिक शरीर के आधार से भी उन अपुनरुक्त स्थानों की प्ररूपणा की गयी है।

अन्तिम विकल्प को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि गुणितकर्मांशिक जीव सातवीं पृथिवी में तैजस और कार्मण शरीरों को उत्कृष्ट करके मरण को प्राप्त होता हुआ दो-तीन भवों में तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। वहाँ गर्भ से आदि करके आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर सयोगी जिन होकर कुछ कम पूर्वकोटि तक संयम गुणश्रेणिनिर्जरा करता हुआ अयोगी हो गया। इस प्रकार अयोगी हुए उसके अन्तिम समय में स्थित होने पर प्रत्येकशरीरवर्गणा पूर्वोक्त प्रत्येकशरीरवर्गणा के समान

---

१. क्षपितकर्मांशिक के लक्षण के लिए सूत्र ४, २, ४, ४६-७५ द्रष्टव्य हैं।

—(पु० १०, पृ० २६८-६६)

होती है। अत्र यहाँ वृद्धि नहीं है, क्योंकि वह सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो चुकी है। इस प्रकार अन्य भी प्रासंगिक प्ररूपणा धवला में की गयी है।

जिन जीवों के निगोदजीवों का सम्बन्ध नहीं है उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—पृथिवी, जल, तेज, वायु, देव, नारक, आहारकशरीरी प्रमत्तसंयत, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। ये सब प्रत्येकशरीर हैं।

बादरनिगोदवर्गणा

यह उन्नीसवीं बादर निगोदवर्गणा सर्वजघन्य रूप में क्षीणकषाय के अन्तिम समय में होती है। उसकी विशेषता को प्रकट करते हुए धवला में कहा गया है कि जो जीव क्षपितकर्मांशिकस्वरूप से आकर पूर्वकोटिप्रमाण आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है, वहाँ गर्भ से लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर जिसने सम्यक्त्व और संयम दोनों को एक साथ प्राप्त किया है तथा जो कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक कर्म की उत्कृष्ट गुणश्रेणिनिर्जरा को करता हुआ सिद्ध होने में अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाने पर क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुआ; इस प्रकार उत्कृष्ट विशुद्धि द्वारा कर्मनिर्जरा करते हुए उस क्षीणकषाय के प्रथम समय में अनन्त बादर निगोदजीव मरण को प्राप्त होते हैं। द्वितीय समय में उनसे विशेष अधिक जीव मरते हैं। क्षीणकषायकाल के प्रथम समय से लेकर आवलिपृथक्त्व मात्र काल के व्यतीत होने तक तृतीयादि समयों में भी उत्तरोत्तर विशेष अधिक के क्रम से उक्त बादर निगोद जीव मरण को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् क्षीणकषायकाल में आवली का असंख्यातवाँ भाग शेष रह जाने तक वे उत्तरोत्तर संख्यातवें भाग-संख्यातवें भाग अधिक के क्रम से मरण को प्राप्त होते हैं। पश्चात् अनन्तर समय में वे उनसे असंख्यातगुणे मरते हैं। इस प्रकार क्षीणकषाय के अन्तिम समय तक वे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे मरते हैं। गुणकार का प्रमाण यहाँ पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग निर्दिष्ट है।

निगोद कौन होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि पुलवी निगोद कहलाते हैं। यहीं स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवी और निगोदशरीर इन पाँच का निर्देश है। उनमें मूली, थूहर आदि को स्कन्ध कहा गया है। इसी प्रकार अण्डर आदिकों के स्वरूप का भी निर्देश कर उन्हें उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया है—जिस प्रकार तीन लोक के भीतर भरत, उसके भीतर जनपद, उनके भीतर ग्राम और उनके भीतर पुर होते हैं, उसी प्रकार स्कन्धों के भीतर अण्डर, उनके भीतर आवास, उनके भीतर पुलवियाँ और उनके भीतर निगोदशरीर होते हैं। ये प्रत्येक असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं।

यहाँ क्षीणकषायशरीर को स्कन्ध कहा है, क्योंकि वह असंख्यात लोकप्रमाण अण्डरों का आधारभूत है। वहाँ अण्डरों के भीतर स्थित अनन्तानन्त जीवों के प्रत्येक समय में असंख्यातगुणित श्रेणि के क्रम से शुक्लध्यान के द्वारा मरण को प्राप्त होने पर क्षीणकषाय के अन्तिम समय में मरने वाले अनन्त जीव होते हैं। अनन्त होकर भी वे द्विचरम समय में मरे हुए जीवों से असंख्यातगुणे होते हैं।

धवला में अन्य किन्हीं आचार्यों के अभिमतानुसार पुलवियों के आश्रय से भी निगोदजीवों के मरने के क्रम की प्ररूपणा की गयी है।

ये जीव वहाँ क्यों मरण को प्राप्त होते हैं, ऐसी शंका के उपस्थित होने पर उसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि वहाँ ध्यान के द्वारा निगोदजीवों की उत्पत्ति और स्थिति

के कारण का निरोध हो जाता है।

इस पर पुनः यह शंका उपस्थित हुई है कि जो ध्यान के द्वारा अनन्तानन्त जीवों का विघात करते हैं उन्हें मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि 'अप्रमाद के द्वारा—प्रमाद के न रहने से—उन जीवों के विघात के होने पर भी उनके मुक्त होने में कुछ बाधा नहीं है।

प्रसंग के अनुसार यहाँ अप्रमाद का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। तदनुसार पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ और सम्पूर्ण कषाय के अभाव का नाम अप्रमाद है। अप्रमाद की इस अवस्था में समस्त कषाय से रहित हो जाने के कारण द्रव्यहिंसा के होने पर भी संयत के कर्मबन्ध नहीं होता है। इसके विपरीत प्रमाद की अवस्था में बाह्य हिंसा के न होने पर भी अन्तरंग हिंसा—जीवविघात के परिणामवश सिक्थ मत्स्य के कर्मबन्ध उपलब्ध होता है। इससे सिद्ध है कि शुद्धनय से अन्तरंग हिंसा ही वस्तुतः हिंसा है, न कि बहिरंग हिंसा। वह अन्तरंग हिंसा क्षीणकषाय के सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ कषाय और असंयम का अभाव हो चुका है। इस अभिमत की पुष्टि धवलाकार ने प्रवचनसार की एक गाथा (३-१७) को उद्धृत करते हुए की है। इसी प्रसंग में मूलाचार की भी दो गाथाएँ (५,१३१-३२) उद्धृत की हैं। क्षीणकषाय के प्रथम समय से लेकर निगोदजीव तब तक उत्पन्न होते हैं जब तक उन्हीं का जघन्य आयुकाल शेष रहता है। तत्पश्चात् वे वहाँ नहीं उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उत्पन्न होने पर उनके जीवित रहने का काल शेष नहीं रहता है (पु० १४, पृ० ८४-९१)।

आगे यहाँ धवला में इस जघन्य बादर निगोदद्रव्यवर्गणा के प्रसंग में भी स्थानों की प्ररूपणा लगभग उसी प्रक्रिया से की गयी है जिस प्रक्रिया से पूर्व में प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा के प्रसंग में की गयी है (पृ० ९१-११२)।

उत्कृष्ट बादर निगोदद्रव्यवर्गणा किसके होती है, इसे बतलाते हुए धवला में कहा गया है कि पूर्व प्रक्रिया के अनुसार जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र पुलवियों के बढ़ने पर कर्मभूमिप्रतिभागभूत स्वयम्भूरमणद्वीप में स्थित मूली के शरीर में जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र एकबन्धनबद्ध पुलवियों को ग्रहण करके उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा होती है। जघन्य से आगे और उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा के नीचे उत्पन्न सब विकल्पों को उसके मध्यम विकल्प समझना चाहिए।

सूक्ष्म निगोदद्रव्यवर्गणा

यह तेईस वर्गणाओं में इक्कीसवीं वर्गणा है। वह जल, स्थल और आकाश में सर्वत्र देखी जाती है, क्योंकि उसका बादरनिगोदवर्गणा के समान कोई नियत देश नहीं है। सबसे जघन्य सूक्ष्म निगोदद्रव्यवर्गणा क्षपितकर्मांशिक स्वरूप से और क्षपितघोलमान स्वरूप से आये हुए सूक्ष्म निगोदजीवों के होती है, दूसरे जीवों के नहीं; क्योंकि उनके द्रव्य की जघन्यता सम्भव नहीं है। यहाँ भी आवली के असंख्यातवें भाग मात्र पुलवियाँ होती हैं। उनमें से प्रत्येक पुलवी में असंख्यात लोकमात्र निगोदशरीर और एक-एक निगोदशरीर में अनन्तानन्त जीव होते हैं। उन जीवों में क्षपितकर्मांशिक रूप से आये हुए जीव आवली के असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं, शेष सब क्षपितघोलमान होते हैं। इन अनन्तानन्त जीवों के औदारिक, तैजस और कार्मणशरीरों के कर्म, नोकर्म और विस्रसोपचय परमाणु-पुद्गलों को ग्रहण करके सबसे जघन्य सूक्ष्म निगोद-

द्रव्यवर्गणा होती है। धवला में इसके स्थानों की भी प्ररूपणा की गयी है।

पूर्वोक्त विधान के अनुसार आवली के असंख्यातवें भाग मात्र पुलवियों के वढ़ जाने पर महामत्स्य के शरीर में एकवन्धनवद्ध छह काय के जीवों के संघात में उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोदवर्गणा देखी जाती है (धवला, पु० १४, पृ० ११३-१६)।

वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम आदि १२ अनुयोगद्वार

यहाँ वर्गणाद्रव्यसमुदाहार की प्ररूपणा में सूत्रकार ने जिन वर्गणाप्ररूपणा व वर्गणानिरूपणा आदि १४ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है (सूत्र ५,६,७५), उनमें से उन्होंने वर्गणाप्ररूपणा व वर्गणानिरूपणा इन पूर्व के दो अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की है, शेप वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम आदि १२ अनुयोगद्वारों की नहीं।

इस स्थिति में 'वर्गणानिरूपणा' अनुयोगद्वार के समाप्त हो जाने पर धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्रकार ने पूर्वनिर्दिष्ट १४ अनुयोगद्वारों में पूर्व के दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करके शेष 'वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम' आदि १२ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा क्यों नहीं की? उनका ज्ञान न होने से उन्होंने उनकी प्ररूपणा न की हो, यह तो सम्भव नहीं है; क्योंकि २४ अनुयोगद्वार रूप 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के पारंगत भगवान् भूतवलि के उनकी जानकारी न रहने का विरोध है। यह भी सम्भव नहीं है कि विस्मरणशील हो जाने से वे उनकी प्ररूपणा न कर पाये हों, क्योंकि जो प्रमाद से रहित हो चुका है वह विस्मरणशील नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि यह कुछ दोप नहीं है, क्योंकि पूर्वाचार्यों के व्याख्यानक्रम के जतलाने के लिए सूत्रकार ने उन १२ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं की है।

इस पर वहाँ यह पूछा गया है कि अनुयोगद्वारों में वहाँ के समस्त अर्थ की प्ररूपणा संक्षिप्त शब्दसमूह के द्वारा क्यों की जाती है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है वचनयोगरूप आस्रव के द्वारा आनेवाले कर्मों को रोकने के लिए वहाँ विवक्षित विपय की प्ररूपणा संक्षिप्त शब्दसमूह के द्वारा कर दी जाती है।

धवलाकार ने इस प्रसंग में सूत्रकार द्वारा की गयी उन दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा को देशामर्शक मानकर, जीवसमुदाहार के प्रसंग में निर्दिष्ट उन १४ अनुयोगद्वारों में से सूत्रकार के द्वारा अप्ररूपित वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तर-निरन्तरानुगम, वर्गणाओज-युग्मानुगम, वर्गणाक्षेत्रानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाकालानुगम, वर्गणाअन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणाउपनयानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणाअल्पवहुत्वानुगम इन १२ अनुयोगद्वारों की यथाक्रम से विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की है।[1]

आगे धवला में यथाक्रम से सूत्र ६६ में निर्दिष्ट आठ अनुयोगद्वारों में से अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पवहुत्व इन शेप छह अनुयोगद्वारों की भी प्ररूपणा की गई है।[2]

इस प्रकार पूर्वोक्त वर्गणा व वर्गणाद्रव्यसमुदाहार आदि आठ अनुयोगद्वारों के आधार से

---

१. धवला, पु० १४, पृ० १३५-७६

२. वही—अनन्तरोपनिधा व परम्परोपनिधा पृ० १७६-६०, अवहार पृ० १६०-२०१, यवमध्य पृ० २०१-७, पदमीमांसा पृ० २०७-८ और अल्पवहुत्व पृ० २०८-२३

एकप्रदेशिक परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा आदि तेईस वर्गणाओं की प्ररूपणा के समाप्त हो जाने पर एकश्रेणी और नानाश्रेणी के भेद से दो प्रकार की आभ्यन्तर वर्गणा समाप्त हो जाती है।

बाह्य वर्गणा

बाह्य वर्गणा का सम्बन्ध औदारिकादि पाँच शरीरों से है। इसकी प्ररूपणा में सूत्रकार ने इन चार अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है—शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा और विस्रसोपचयप्ररूपणा (सूत्र ५,६,११७-१८)।

इस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि औदारिकादि पाँच शरीरों की 'बाह्य वर्गणा' संज्ञा कैसे है। इन्द्रिय और मन से ग्रहण के अयोग्य पुद्गलों की 'बाह्य' यह संज्ञा हो, यह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसी परिस्थिति में परमाणु आदि वर्गणाओं के भी बाह्यवर्गणात्व का प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह कि वे भी इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से अग्राह्य हैं। पर उन्हें आभ्यन्तरवर्गणा के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। पाँच शरीर जीवप्रदेशों से भिन्न हैं, इसलिए भी उन्हें 'बाह्य' नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि दूध और पानी के समान परस्पर में अनुगत होने से जीव और शरीर के आभ्यन्तर और बाह्यरूपता नहीं बनती है। अनन्तानन्त विस्रसोपचयपरमाणुओं के मध्य में पाँच शरीरों के परमाणु स्थित हैं, इसलिए भी उनकी 'बाह्य' संज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि भीतर-स्थित विस्रसोपचयस्कन्धों की 'बाह्य' संज्ञा का विरोध है। इस परिस्थिति में पाँच शरीरों की 'बाह्य वर्गणा' संज्ञा घटित नहीं होती है।

इस शंका का परिहार करते हुए धवला में कहा गया है कि वे पाँच शरीर पूर्वोक्त तेईस वर्गणाओं से भिन्न हैं, इसलिए उनका उल्लेख 'बाह्य' नाम से किया गया है। आगे कहा गया है कि पाँच शरीर अचित्त वर्गणाओं के अन्तर्गत तो नहीं हो सकते, क्योंकि सचित्त शरीरों के अचित्त मानने का विरोध है। इसके विपरीत उन्हें सचित्त वर्गणाओं के अन्तर्गत भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विस्रसोपचयों के बिना पाँच शरीरों के परमाणुओं को ही ग्रहण किया गया है। इसलिए पाँच शरीरों की 'बाह्य वर्गणा' संज्ञा सिद्ध है (पु० १४, पृ० २२३-२४)।

ऊपर बाह्य वर्गणा के अन्तर्गत जिन चार अनुयोगद्वारों का उल्लेख है उनका परिचय धवलाकार ने संक्षेप में इस प्रकार कराया है—

(१) शरीरिशरीरप्ररूपणा अनुयोगद्वार में प्रत्येक और साधारण इन दो भेदों में विभक्त जीवों के शरीरों की अथवा प्रत्येक और साधारण लक्षणवाले शरीरधारी जीवों के शरीरों की प्ररूपणा की गयी है, इसीलिए उसका 'शरीरिशरीरप्ररूपणा' यह सार्थक नाम है।

(२) शरीरप्ररूपणा अनुयोगद्वार में पाँचों शरीरों के प्रदेशप्रमाण की, उनके प्रदेशों के निषेकक्रम की और प्रदेशों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

(३) शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा अनुयोगद्वार में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पाँच शरीरों के परमाणुओं से सम्बद्ध उक्त पाँच शरीरों के विस्रसोपचयसम्बन्ध के कारणभूत स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अविभागप्रतिच्छेदों की प्ररूपणा की गयी है।

(४) विस्रसोपचयप्ररूपणा अनुयोगद्वार में जीव से छोड़े गये उन परमाणुओं के विस्रसोपचय की प्ररूपणा की गयी है।

शरीरिशरीरप्ररूपणा में ज्ञातव्य

शरीरिशरीरप्ररूपणा के प्रसंग में सूत्रकार ने प्रथमतः सात (१२२-२८) सूत्रों में साधारण

जीवों की विशेषता को प्रकट किया है। पश्चात् सूत्र १२९ में प्रस्तुत शरीरिशरीरप्ररूपणा में ज्ञातव्यस्वरूप से सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया है। उनमें से यहाँ प्रथम सत्प्ररूपणा और अन्तिम अल्पबहुत्व इन दो अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की है, शेष द्रव्य-प्रमाणानुगमादि छह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उन्होंने नहीं की।

इससे यहाँ मूल ग्रन्थ में सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार के समाप्त हो जाने पर धवलाकार ने 'यह सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार चूँकि शेष द्रव्यप्रमाणादि छह अनुयोगद्वारों से सम्बद्ध है, इसलिए यहाँ उनकी प्ररूपणा की जाती है' इस सूचना के साथ आगे यथाक्रम से उनकी प्ररूपणा की है। यथा—ओघ की अपेक्षा से दो शरीर वाले और तीन शरीर वाले जीव द्रव्यप्रमाण से अनन्त हैं। चार शरीरवाले द्रव्यप्रमाण से प्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात जगश्रेणि प्रमाण असंख्यात हैं। आदेश की अपेक्षा नरकगति में वर्तमान नारकियों में दो शरीरवाले व तीन शरीर वाले नारकीयों को द्रव्यप्रमाण से प्रतर के असंख्यातवें भाग कहा गया है।

इस प्रकार शेष तिर्यंच आदि तीन गतियों और इन्द्रिय आदि अन्य मार्गणाओं में भी प्रस्तुत द्रव्यप्रमाण की धवला में प्ररूपणा है।

तत्पश्चात् वहाँ क्रम से क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम और भावानुगम इन अनुयोगद्वारों का भी निर्देश है (पु० १४, पृ० २४८-३०१)।

आहारक-शरीर

शरीरप्ररूपणा के अन्तर्गत छह अनुयोगद्वारों में प्रथम 'नामनिरुक्ति' अनुयोगद्वार है। इसमें औदारिक आदि पाँच शरीरों के नामों की निरुक्तिपूर्वक सार्थकता का प्रकाशन है।

इस प्रसंग में यहाँ धवला में आहारक शरीर की विशेषता को प्रकट करते हुए कहा गया है कि असंयम की प्रचुरता, आज्ञाकनिष्ठता और अपने क्षेत्र में केवली का अभाव, इन तीन कारणों के होने पर साधु आहारक शरीर को प्राप्त होता है।—इनमें से प्रत्येक को वहाँ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

असंयमप्रचुरता—जब जल, स्थल और आकाश उन सूक्ष्म जीवों से, जिनका परिहार करना अशक्य होता है, व्याप्त हो जाता है तब असंयम की प्रचुरता होती है। उसके परिहार के लिए साधु आहारकशरीर को प्राप्त होते हैं। आहारवर्गणा के स्कन्धों से निर्मित वह आहारक शरीर हंस के समान धवल, प्रतिघात से रहित और एक हाथ प्रमाण उत्सेध से युक्त होता है।

आज्ञाकनिष्ठता—आज्ञा, सिद्धान्त और आगम ये समानार्थक शब्द हैं। अपने क्षेत्र में आज्ञा की अल्पता का नाम आज्ञाकनिष्ठता है।

केवली का अभाव—जिन द्रव्य व पर्यायों का निर्णय आगम को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण से नहीं किया जा सकता है, उनके विषय में सन्देह के उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिए 'मैं अन्य क्षेत्र में स्थित श्रुतकेवली अथवा केवली के पादमूल में जाता हूँ', इस प्रकार विचार करके साधु आहारक शरीर से परिणत होता है। उसके प्रभाव से वह पर्वत, नदी व समुद्र आदि के मध्य से जाकर विनयपूर्वक उनसे उस सन्देहापन्न तत्त्व के विषय में पूछता है। तथा सन्देह से रहित हो वह वापस आ जाता है। इसके अतिरिक्त साधु अन्य क्षेत्र में किन्हीं महामुनियों के केवलज्ञान के उत्पन्न होने अथवा मुक्ति के प्राप्त होने पर तथा तीर्थंकरों के दीक्षाकल्याणक

आदि शुभ अवसर पर भी आहारक शरीर से अन्य क्षेत्र में जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो साधु विक्रियाऋद्धि से रहित होकर आहारक-ऋद्धि से सम्पन्न होते हैं वे अवधिज्ञान से, श्रुतज्ञान से अथवा देवों के आगमन से केवलज्ञान की उत्पत्ति जानकर, 'हम वन्दना की भावना से जाते हैं' ऐसा विचारकर आहारकशरीर से परिणत होते हुए उस स्थान को जाते हैं और उन केवलियों तथा अन्य जिनों व जिनालयों की वन्दना करके वापस आ जाते हैं।[1]

'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' में प्रकृत आहारक शरीर-निर्वर्तन का प्रयोजन कदाचित् ऋद्धिविशेष के सद्भाव का ज्ञापन, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय और कदाचित् संयम का परिपालन निर्दिष्ट किया गया है। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में 'सर्वार्थसिद्धि' से इतना विशेष कहा गया है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र में केवली का अभाव होने पर जिसे संशय उत्पन्न हुआ है, वह उत्पन्न हुए उस संशय के विषय में निर्णय के लिए महाविदेहों में जाने का इच्छुक होकर, 'औदारिकशरीर से जाने पर मेरे लिए महान असंयम होने वाला है', इस सद्भावना से वह आहारकशरीर को उत्पन्न करता है।[2]

इसी प्रसंग में आगे धवला में सूत्रोक्त नामनिरुक्ति के विषय में स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि सूत्र (५,६,२३९) में प्रयुक्त 'णिउण' का अर्थ निपुण, श्लक्ष्ण व मृदु है। 'णिण्णा' या 'णिण्हा' का अर्थ धवल, सुगन्धित और अतिशय सुन्दर है। 'अप्रतिहत' का अर्थ सूक्ष्म है। तदनुसार आहारवर्गणाद्रव्यों के मध्य में जो स्कन्ध निपुणतर व णिण्णदर (अतिशय निष्णात) होते हैं, उनका चूंकि उस शरीर के निमित्त आहरण या ग्रहण किया जाता है, इसलिए उसका 'आहारक' यह सार्थक नाम है (पु० १४, पृ० ३८६)।

तैजस-शरीर

उपर्युक्त नामनिरुक्ति के प्रसंग में सूत्रकार ने तेजःप्रभागुण-युक्त शरीर को तैजस शरीर कहा है। (सूत्र ५,६,२४०)

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने शरीरस्कन्ध के पद्मराग मणि के समान वर्ण को तेज और शरीर से निकलने वाली किरणकला को प्रभा कहकर उसमें होने वाले शरीर को तैजसशरीर कहा है। वह निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक से भेद के दो प्रकार का है। इनमें निःसरणात्मक तैजस शरीर भी शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। इनमें उत्कृष्ट चारित्र-वाले दयालु संयत के उसकी इच्छानुसार जो हंस व शंख के समान वर्ण वाला तैजस शरीर दाहिने कन्धे से निकलकर, मारी, व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष व उपसर्ग आदि के शान्त करने में समर्थ होता है और जो समस्त जीवों को व उस संयत को भी सुख उत्पन्न करता है, वह निःसरणात्मक शुभ तैजसशरीर कहलाता है।

---

१. धवला, पु० १४, पृ० ३२६-३७

२. कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थं, कदाचित् सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च भरतैरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुरौदारिकेण मे महान् संयमो भवतीति विद्वानाहारकं निर्वर्तयति। त०वा० २,४६,४; तुलना के लिए नामनिरुक्ति से सम्बन्धित इसके पूर्व २,३६,६ का सन्दर्भ द्रष्टव्य है।

बारह योजन आयत, नौ योजन विस्तृत, सूच्यंगुल के संख्यातवें भागमात्र बाहुल्य से सहित और जपाकुसुम के समान वर्णवाला जो शरीर क्रोध को प्राप्त बायें कन्धे से निकलकर अपने क्षेत्र के भीतर स्थित जीवों को विनष्ट करके फिर प्रविष्ट होते हुए उस संयत को भी मार डालता है, उसका नाम निःसरणात्मक अशुभ तैजसशरीर है।

अनिःसरणात्मक तैजसशरीर खाये हुए अन्न-पान का पाचक होकर भीतर स्थित रहता है। (पु० १४, पृ० ३२८)

'तत्त्वार्थवार्तिक' में समुद्घात के प्रसंग में तैजस-समुद्घात के स्वरूप के निर्देश में इतना मात्र कहा गया है कि जीवों के अनुग्रह व उपघात में समर्थ ऐसे तैजसशरीर को उत्पन्न करना ही जिसका प्रयोजन होता है, उसे तैजस-समुद्घात कहते हैं।[1]

'वृहद्द्रव्यसंग्रह' की ब्रह्मदेव-विरचित टीका में उसे कुछ अधिक विकसित करते हुए स्पष्ट किया गया है। तदनुसार अपने मन के लिए अनिष्टकर किसी कारण को देखकर जिस संयमी महामुनि को क्रोध उत्पन्न हुआ है उसके मूल शरीर को न छोड़कर जो सिन्दूर के समान वर्ण वाला, बारह योजन दीर्घ, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल विस्तार से व नौ योजन प्रमाण अग्रविस्तार से सहित काहल के समान आकृतिवाला पुरुष बायें कन्धे से निकलकर बायीं ओर प्रदक्षिणापूर्वक हृदय में स्थित विरुद्ध वस्तु को जलाकर उस संयमी के साथ द्वीपायन मुनि के समान स्वयं भी भस्मसात् हो जाता है, उसे अशुभ तैजस-समुद्घात कहा जाता है।

इसके विपरीत लोक को व्याधि व दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर उत्तम संयम के धारक जिस महर्षि के दया का भाव उत्पन्न हुआ है, उसके मूल शरीर को न छोड़कर जो धवल वर्ण-वाला बारह योजन आयत तथा सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग मात्र मूलविस्तार से व नौ योजन-प्रमाण अग्रविस्तार से सहित पुरुष दाहिने कन्धे से निकलकर दक्षिण की ओर प्रदक्षिणापूर्वक उस व्याधि व दुर्भिक्ष को नष्ट कर देता है और वापस अपने स्थान में प्रविष्ट हो जाता है, उसे शुभ तेजःसमुद्घात कहते हैं।[2]

धवला से यहाँ यह विशेषता रही है कि अशुभ तैजस के प्रसंग में धवला में जहाँ अपने क्षेत्र में स्थित जीवों के विनाश की स्पष्ट सूचना की गयी है, वहाँ इस 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' टीका में "अपने हृदय में निहित विरुद्ध वस्तु को भस्मसात् करके" इतना मात्र कहा गया है।

शुभ तैजस-समुद्घात के प्रसंग में 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' टीका में 'दाहिने कन्धे से निकलने' का उल्लेख नहीं है। वह सम्भवतः प्रतिलेखक की असावधानी से लिखने में रह गया है।

शेष १८ (७ से २४) अनुयोगद्वार

यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि जो 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' अविच्छिन्न श्रुत-परम्परा से आता हुआ भट्टारक धरसेन को प्राप्त हुआ और जिसे उन्होंने पूर्णरूप से आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि को समर्पित कर दिया, उसमें कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वार रहे हैं। उनमें से प्रस्तुत षट्खण्डागम में आ० भूतबलि ने कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन इन प्रारम्भ के ६ अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की है, शेष निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारों

---

१. त०वा० १,२०,१२, पृ० ५३; आगे २,४९, ८ (पृ० १०८) भी द्रष्टव्य है।
२. वृहद्० टीका गा०१८, पृ० २२-२३

की प्ररूपणा उन्होंने इसमें नहीं की है।

उन शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा धवलाकार आचार्य वीरसेन ने की है। उसे प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं कि भूतबलि भट्टारक ने इस सूत्र (५,६,७९७, पु० १४) को देशामर्शक रूप से लिखा है, इसलिए हम इस सूत्र से सूचित शेष अठारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा कुछ संक्षेप से करते हैं।[1]

तदनुसार उन्होंने यथाक्रम से उन अठारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा इस प्रकार की है—

७. निबन्धन अनुयोगद्वार

यहाँ 'निबन्धन' की 'निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्' इस प्रकार निरुक्ति करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है जो द्रव्य जिसमें निबद्ध या प्रतिबद्ध है, उसका नाम निबन्धन है। वह छह प्रकार का है—नामनिबन्धन, स्थापनानिबन्धन, द्रव्यनिबन्धन, क्षेत्रनिबन्धन, कालनिबन्धन और भावनिबन्धन। इनमें जिस नाम की वाचक रूप से प्रवृत्ति का जो अर्थ आलम्बन होता है उसे नामनिबन्धन कहते हैं, क्योंकि उसके बिना नाम की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। यह नामनिबन्धन अर्थ, अभिधान और प्रत्यय के भेद से तीस प्रकार का है। इनमें अर्थ एक जीव व बहुत जीव एवं अजीव आदि के भेद से आठ प्रकार का है।[1] इन आठ अर्थों के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्ययनिबन्धन कहा जाता है। जो नामशब्द प्रवृत्त होकर अपने आपका ही बोधक होता है वह अभिधाननिबन्धन कहलाता है।

विकल्प के रूप में यहाँ धवलाकार ने यह भी कहा है—अथवा यह सब तो द्रव्यादि-निबन्धनों में प्रविष्ट होता है, इसलिए इसे छोड़कर 'निबन्धन' शब्द को ही 'नामनिबन्धन' के रूप में ग्रहण करना चाहिए। ऐसा होने पर पुनरुक्त दोष की सम्भावना नहीं रहती।

द्रव्यनिबन्धन के प्रसंग में कहा गया है कि जो द्रव्य जिन द्रव्यों का आश्रय लेकर परिणमता है, अथवा जिस द्रव्य का स्वभाव द्रव्यान्तर से सम्बद्ध होता है, उसे द्रव्यनिबन्धन जानना चाहिए।

ग्राम-नगरादि को क्षेत्रनिबन्धन कहा गया है, क्योंकि प्रतिनियत क्षेत्र में उनका सम्बन्ध पाया जाता है।

जो अर्थ जिस काल में प्रतिबद्ध है, उसे कालनिबन्धन कहा जाता है। जैसे आम की बौर चैत्र मास से निबद्ध है; इत्यादि।

जो द्रव्य भाव का आधार होता है उसे भावनिबन्धन कहते हैं। जैसे—लोभ का निबन्धन चाँदी-सोना आदि, क्योंकि उनके आश्रय से ही उसकी उत्पत्ति देखी जाती है, अथवा उत्पन्न हुए भी लोभ का वह आलम्बन देखा जाता है। इसी प्रकार क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत द्रव्य को अथवा उत्पन्न हुए क्रोध के आलम्बनभूत द्रव्य को भावनिबन्धन जानना चाहिए।

उपर्युक्त छह प्रकार के निबन्धन में नाम और स्थापना इन दो निबन्धनों को छोड़कर शेष चार को यहाँ अधिकृत कहा गया है। आगे स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि यह निबन्धन अनुयोग छह द्रव्यों के निबन्धनों की प्ररूपणा करता है, फिर भी यहाँ अध्यात्मविद्या का अधि-

---

१. भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेस-अट्ठारस अणियोगद्दाराणं किं चि संखेवेण परूवणं कस्सामो। (धवला, पु० १५, पृ० १)

कार होने से उसे छोड़कर कर्मनिवन्धन को ही ग्रहण करना चाहिए।

इस अनुयोगद्वार का प्रयोजन कर्मरूपता को प्राप्त हुए कर्मों के व्यापार को प्रकट करना है। इनमें नोआगमकर्मनिवन्धन दो प्रकार का है—मूलकर्मद्रव्यनिवन्धन और उत्तरकर्मद्रव्य-निवन्धन। इनमें यहाँ प्रथमतः आठ मूल कर्मों के निवन्धन की, और तत्पश्चात् संक्षेप में उत्तर कर्मों के निवन्धन की, प्ररूपणा की गयी है। *यथा*—

ज्ञानावरणकर्म सब द्रव्यों में निवद्ध है, न कि सब पर्यायों में। ज्ञानावरण को जो यहाँ सब द्रव्यों में निवद्ध होने का कथन है वह केवलज्ञानावरण के आश्रय से किया गया है। कारण यह कि वह तीनों कालविषयक अनन्त पर्यायों से परिपूर्ण छहों द्रव्यों को विषय करनेवाले केवलज्ञान का विरोधी है। साथ ही, सब पर्यायों में जो उसकी निवद्धता का निषेध किया गया है वह शेष चार ज्ञानावरणों की अपेक्षा से किया गया है, क्योंकि उनके द्वारा आव्रियमाण शेष चार ज्ञानों में सब द्रव्यों के ग्रहण की शक्ति नहीं है।

इस प्रसंग में यह शंका उठी है कि मति और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति जब मूर्त व अमूर्त सभी द्रव्यों में उपलब्ध होती है तब उनको सब द्रव्यों को विषय करने वाले क्यों नहीं कहते। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि वे यद्यपि द्रव्यों के तीनों कालविषयक पर्यायों को जानते हैं, पर उन्हें सामान्य से ही जानते हैं, विशेष रूप से उनकी प्रवृत्ति उनके विषय में नहीं है। और यदि विशेष रूप से भी उनकी प्रवृत्ति को उन अनन्त पर्यायों में स्वीकार किया जाता है तो फिर केवलज्ञान से उनकी समानता का प्रसंग प्राप्त होता है। पर वैसा सम्भव नहीं है, अन्यथा पाँच ज्ञानों के उपदेश के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इससे सिद्ध है कि मति और श्रुत-ज्ञान की प्रवृत्ति विशेष रूप से द्रव्यों की अनन्त पर्यायों में सम्भव नहीं है।

(धवला, पु० १५, पृ० १-४)

आगे दर्शनावरणीय के निवन्धन की प्ररूपणा के प्रसंग में कहा है कि *जिस प्रकार ज्ञाना-*वरणीय सब द्रव्यों में निवद्ध है उसी प्रकार दर्शनावरणीय भी सब द्रव्यों में निवद्ध है।

इस पर शंकाकार ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा है कि दर्शनावरणीय आत्मा में ही निवद्ध है, न कि सब द्रव्यों में; क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञान और दर्शन में फिर कुछ भेद नहीं रहता है। यदि कहा जाय कि विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर समय में जो सामान्य ग्रहण होता है, उसका नाम दर्शन है, इस प्रकार ज्ञान से दर्शन की भिन्नता सिद्ध है; तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण यह कि विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर जो आद्य ग्रहण होता है, वह तो अवग्रह का लक्षण है जो ज्ञानरूपता को प्राप्त है। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप अवग्रह को दर्शन मानने का विरोध है। दूसरे, विशेष के विना सामान्य का ग्रहण भी सम्भव नहीं है; क्योंकि द्रव्य-क्षेत्रादि की विशेषता के विना सामान्य का ग्रहण घटित नहीं होता है। आगे शंकाकार ने 'ज्ञान क्या अवस्तु को ग्रहण करता है या वस्तु को' इत्यादि विकल्पों को उठाकर उनकी असम्भावनाएँ प्रकट करते हुए अन्त में कहा है कि 'ज्ञानावरण के समान दर्शन सब द्रव्यों में निबद्ध हैं' यह जो कहा गया है वह घटित नहीं होता है।

इस प्रकार शंकाकार द्वारा उद्भावित दोष का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि वाह्य अर्थ से सम्बद्ध आत्मस्वरूप के संवेदन का नाम दर्शन है। *यह आत्मस्वरूप का* संवेदन वाह्य अर्थ के सम्बन्ध के विना सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान, सुख और दुःख—इन सब की प्रवृत्ति वाह्य अर्थ के आलम्बनपूर्वक ही देखी जाती है, इसलिए ज्ञानावरण के समान

दर्शनावरण को भी जो सब द्रव्यों में निवद्ध कहा गया है, वह संगत ही है, यह सिद्ध है।

इसी प्रकार से आगे वेदनीय-मोहनीय आदि शेष छह मूलप्रकृतियों के निबन्धनविषयक प्ररूपणा की गयी है (धवला, पु० १५, पृ० ६-७)।

उत्तरप्रकृतियों के प्रसंग में मतिज्ञानावरणीयादि चार ज्ञानावरणीय प्रकृतियों को द्रव्य-पर्यायों के एक देश में निवद्ध कहा गया है। इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है कि अवधिज्ञान द्रव्य से मूर्त द्रव्यों को ही जानता है; अमूर्त धर्म, अधर्म, काल, आकाश और सिद्धजीव इन द्रव्यों को वह नहीं जानता; क्योंकि अवधिज्ञान का निवन्ध रूपी द्रव्यों मे है, ऐसा सूत्र में कहा गया है।[1] क्षेत्र की अपेक्षा वह घनलोक के भीतर स्थित मूर्त द्रव्यो को ही जानता है, उसके बाहर नही। काल की अपेक्षा वह असंख्यात वर्षो के भीतर जो अतीत व अनागत है उसे ही जानता है, उसके बहिर्वर्ती अतीत-अनागत अर्थ को नही। भाव की अपेक्षा वह अतीत, अनागत और वर्तमान कालविषयक असंख्यात लोकमात्र द्रव्य-पर्यायों को जानता है। इसलिए अवधिज्ञान सब द्रव्य-पर्यायों को विषय नही करता है। इसी कारण अवधिज्ञानावरणीय सब द्रव्यों के एक देश में निवद्ध है, ऐसा कहा गया है।

मनःपर्ययज्ञान भी चूंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा एक देश को ही विषय करनेवाला है, इसीलिए मनःपर्ययज्ञानावरणीय भी देश में निवद्ध है। इसी प्रकार मति और श्रुत ज्ञानावरणीयों की देशनिवद्धता की प्ररूपणा करनी चाहिए।

केवलज्ञानावरणीय सब द्रव्यों में निवद्ध है, क्योंकि वह समस्त द्रव्यो को विषय करनेवाले केवलज्ञान की प्रतिवन्धक है (पु० १५, पृ० ७-८)।

आगे दर्शनावरणीय आदि अन्य मूलप्रकृतियों की भी कुछ उत्तरप्रकृतियो के निबन्धनविषयक प्ररूपणा की गयी है।

नामकर्म के प्रसंग में उसे क्षेत्रजीवनिबद्ध, पुद्गलनिबद्ध और क्षेत्रनिवद्ध बतलाकर पुद्गल-विपाकी, जीवविपाकी और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों का उल्लेख गाथासूत्रों के अनुसार कर दिया गया है।

८. प्रक्रम अनुयोगद्वार

पूर्वोक्त निबन्धन के समान यहाँ इस प्रक्रम को भी नाम-स्थापनादि के भेद से छह प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रसंग में यहाँ तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यप्रक्रम के कर्मप्रक्रम और नोकर्मप्रक्रम इन दो भेदों में यहाँ कर्मप्रक्रम को प्रसंगप्राप्त कहा गया है। प्रक्रम से यहाँ 'प्रक्रामतीति प्रक्रमः' इस निरुक्ति के अनुसार कार्मणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध अभिप्रेत रहा है।

कार्य की कारणानुसारिता

इस प्रसंग मे यहाँ यह शंका की गयी है कि जिस प्रकार कुम्हार एक मिट्टी के पिण्ड से घट-घटी-शराव आदि अनेक उपकरणों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार स्त्री, पुरुष, नपुंसक, स्थावर अथवा त्रस कोई भी जीव एक प्रकार के कर्म को बाँधकर उसे आठ प्रकार का किया करता है, क्योंकि अकर्म से कर्म की उत्पत्ति का विरोध है।

इस का परिहार करते हुए धवला मे कहा गया है कि यदि कार्मणवर्गणारूप अकर्म से कर्म

---

१. रूपिष्ववधेः।—त० सू० १-२७

की उत्पत्ति सम्भव नहीं है तो अकर्म से तुम्हारे द्वारा कल्पित उस एक कर्म की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि कर्मरूप से दोनों में कुछ विशेषता नहीं है। यदि तुम्हारा अभिप्राय यह हो कि कार्मणवर्गणा से जो एक कर्म उत्पन्न हुआ है वह कर्म नहीं है तो फिर वैसी अवस्था में उससे आठ कर्मों की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि तुम्हारे अभिमत के अनुसार, अकर्म से कर्म की उत्पत्ति का विरोध है। इसके अतिरिक्त कार्य को कारण का अनुसरण करना ही चाहिए, ऐसा कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है, अन्यथा मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी के पिण्ड को छोड़कर घट-घटी-शराव आदि के न उत्पन्न हो सकने का प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि सुवर्ण से चूंकि सुवर्णमय घट की ही उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए कार्य-कारण के अनुसार ही हुआ करता है, ऐसा मानना चाहिए; तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वैसी परिस्थिति में कठिन सुवर्ण से जो अग्नि आदि के संयोग से सुवर्णमय जल की उत्पत्ति देखी जाती है वह घटित नहीं हो सकेगी। दूसरे, यदि कार्य को सर्वथा कारणस्वरूप ही माना जाता है तो जिस प्रकार कारण नहीं उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कार्य को भी नहीं उत्पन्न होना चाहिए।

इस प्रकार से आगे और भी शंका-समाधानपूर्वक दार्शनिक दृष्टि से उस पर ऊहापोह करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि कर्म कार्मणवर्गणा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, क्योंकि अचेतनता, मूर्तता और पुद्गलरूपता इनकी अपेक्षा उनमें कार्मणवर्गणा से अभेद पाया जाता है। इसी प्रकार वे उक्त कार्मणवर्गणा से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं, क्योंकि ज्ञानावरणादिरूप प्रकृति के भेद से, स्थिति के भेद से, अनुभाग के भेद से तथा जीवप्रदेशों के साथ परस्पर में अनुबद्ध होने से उनमें कार्मणवर्गणा से भिन्नता भी पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य कथंचित् कारण के अनुसार होता है और कथंचित् अनुसरण न करके उससे भिन्न भी होता है।

सत्-असत् कार्यवाद पर विचार

इसी प्रसंग में कार्य को सर्वथा सत् मानने वाले सांख्यों के अभिमत को प्रकट करते हुए यह कारिका उद्धृत की गयी है--

> असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
> शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥--सांख्य का० ६,

सत्कार्यवादी सांख्य कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य सत् है, इस अपने अभिमत की पुष्टि में ये पांच हेतु देते हैं--

(१) कार्य पूर्व में भी सत् है, अन्यथा उसे किया नहीं जा सकता है। जैसे तिलों में तेल विद्यमान रहता है तभी यंत्र की सहायता से उसे उत्पन्न किया जाता है, बालू में असत् तेल को कभी किसी भी प्रकार से नहीं निकाला जा सकता है।

(२) उपादानग्रहण--उपादान का अर्थ है नियत कारण से कार्य का सम्बन्ध। घट आदि कार्य मिट्टी आदि अपने नियत कारण से सम्बद्ध रहकर ही अभिव्यक्त होते हैं। कार्य यदि असत् हो तो उसका सम्बन्ध ही नहीं बनता, अन्यथा मिट्टी से जैसे घट उत्पन्न होता है वैसे ही उससे पट भी उत्पन्न हो जाना चाहिए। पर वैसा होना सम्भव नहीं है।

(३) सर्वसम्भव का अभाव--सबसे सब कार्य उत्पन्न नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारण से प्रतिनियत कार्य ही उत्पन्न होता है। यदि कार्य अपने प्रतिनियत कारण में सत् न हो तो

सवसे सबके उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

(४) शक्त का शक्य कार्य का करना—समर्थ कारण में जिस कार्य के करने की शक्ति होती है उसी को वह करता है, अन्य को नहीं। अभिप्राय यह है कि समर्थ कारण में जो शक्य कार्य के करने की शक्ति रहती है वह उसके सत् रहने पर ही सम्भव है, अन्यथा वह असत् आकाशकुसुम के करने में भी होनी चाहिए। पर वैसा सम्भव नहीं है।

(५) कारणभाव—कार्य कारण रूप हुआ करता है, इसलिए जव कारण सत् है तो उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे हो सकता है? उसे सत् ही होना चाहिए।

इन पाँच हेतुओं द्वारा जो कारणव्यापार के पूर्व भी कार्य के सत्त्व को सिद्ध किया गया है, उसे असंगत ठहराते हुए धवलाकार कहते हैं कि यदि कार्य सर्वथा सत् ही हो, तो उसके उत्पन्न करने के लिए जो कर्ता की प्रवृत्ति होती है व वह उसके लिए अनुकूल सामग्री को जुटाता है वह सव निष्फल ठहरता है। जो सर्वथा सत् ही है उसकी उत्पत्ति का विरोध है। इसके अतिरिक्त कार्य के सब प्रकार से विद्यमान रहने पर अमुक कार्य का अमुक कारण है, यह जो कार्य-कारणभाव की व्यवस्था है वह वन नहीं सकती है—जिस किसी से जिस किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा सम्भव नहीं है। इत्यादि प्रकार से उपर्युक्त सत्कार्य के साधक उन हेतुओं का यहाँ निराकरण किया गया है।

इसी प्रसंग में नैयायिक व वैशेपिकों के द्वारा जो लगभग उन्हीं पाँच हेतुओं के आश्रय से कार्य के असत्त्व को व्यक्त किया गया है, उसका भी निराकरण धवलाकार ने कर दिया है। उन हेतुओं में सांख्य, जहाँ प्रथम हेतु को 'असत् किया नहीं जा सकता है' के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वहाँ नैयायिक उसे 'सत् को किया नहीं जा सकता है' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। शेष चार हेतुओं का उपयोग जैसे सत् कार्य की सिद्धि में किया जाता है, वैसे ही उनका उपयोग असत् कार्य की सिद्धि में हो जाता है।

इस प्रकार यहाँ सत्-असत् व नित्य-अनित्य आदि सर्वथा एकान्त का निराकरण करते हुए अन्त में धवलाकार ने 'कार्य कथंचित् सत् भी है, कथंचित् असत् भी है, कथंचित् सत्-असत् भी' इत्यादि रूप में उसके विषय में सप्तभंगी को योजित किया है।

इस प्रसंग में धवलाकार ने प्रकरण के अनुसार आप्तमीमांसा की चौदह (३७,३९-४०, ४२,४१,५९-६०,५७,९ व १०-१४) कारिकाओं को उद्धृत किया है।[1]

प्रक्रम के भेद-प्रभेद

आनुषंगिक चर्चा को समाप्त कर आगे धवला में एक से अनेक कर्मों की उत्पत्ति कैसे होती है व मूर्त कर्मों का अमूर्त जीव के साथ कैसे सम्बन्ध होता है, इत्यादि का विचार करते हुए प्रकृत प्रक्रम के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रकृतिप्रक्रम, स्थितिप्रक्रम और अनुभाग-प्रक्रम। इनमें प्रकृतिप्रक्रम मूल और उत्तर प्रकृतिप्रक्रम के भेद से दो प्रकार का है। मूलप्रकृति प्रक्रम का निरूपण प्रक्रमस्वरूप कार्मणपुद्गलप्रचय द्रव्य के अल्पवहुत्व को इस प्रकार प्रकट

---

१. धवला, पु० १५, पृ० १५-३१ (सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद का विचार प्रमेयकमलमार्तण्ड (पत्र ८०-८३) और न्यायकुमुदचन्द्र (१, पृ० ३५२-५८) आदि में किया गया है। ये ग्रन्थ धवला से वाद के हैं।

किया गया है—आयु का वह द्रव्य एक समयप्रबद्ध में सबसे स्तोक, नाम व गोत्र इन दोनों कर्मों का वह द्रव्य परस्पर में समान होकर आयु के द्रव्य से विशेष अधिक; ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का परस्पर में समान होकर पूर्व से विशेष अधिक; मोहनीय का विशेष अधिक, तथा वेदनीय का उससे विशेष अधिक होता है।

इसी पद्धति से उत्तरप्रकृतिप्रक्रम के प्रसंग में प्रथमतः उत्तरप्रकृतिप्रक्रमद्रव्य की और तत्पश्चात् जघन्य प्रकृतिप्रक्रमद्रव्य के अल्पबहुत्व की भी प्ररूपणा की गयी है।[1]

स्थितिप्रक्रम के प्रसंग में कहा गया है कि चरम स्थिति में प्रक्रमित प्रदेशाग्र सबसे स्तोक, प्रथम स्थिति में उससे असंख्यातगुणा, अप्रथम-अचरम स्थितियों में असंख्यातगुणा, अप्रथम स्थिति में विशेष अधिक, अचरम स्थिति में विशेष अधिक तथा सब स्थितियों में वह प्रक्रमित प्रदेशाग्र विशेष अधिक होता है। यह अल्पबहुत्व स्थितियों में प्रक्रान्त द्रव्य की अपेक्षा है, इसे आगे स्पष्ट किया गया है (पु० १५, पृ० ३९)।

अनुभागप्रक्रम के प्रसंग में कहा गया है कि जघन्य वर्गणा में बहुत प्रदेशाग्र प्रक्रान्त होता है, द्वितीय वर्गणा में वह अनन्तवें भाग से विशेष हीन प्रक्रान्त होता है। इस क्रम से अनन्त स्पर्धक जाकर वह दुगुणा हीन प्रक्रान्त होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट वर्गणा तक ले जाना चाहिए। आगे इस प्रक्रान्त द्रव्य के अल्पबहुत्व को स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार आठवाँ प्रक्रम अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

९. उपक्रम अनुयोगद्वार

पूर्व पद्धति के अनुसार उपक्रम अनुयोगद्वार नाम-स्थापनादि के भेद से छह प्रकार का कहा गया है। उनके अवान्तर भेदों नोआगमद्रव्य कर्मोपक्रम को यहाँ प्रसंगप्राप्त कहा गया है।

यहाँ प्रक्रम और उपक्रम में भेद दिखलाया है। प्रक्रम जहाँ प्रकृति, स्थिति और अनुभाग में आनेवाले प्रदेशपिण्ड की प्ररूपणा करता है, वहाँ उपक्रम बन्ध के द्वितीय समय से लेकर सत्स्वरूप से स्थित कर्मपुद्गलों के व्यापार की प्ररूपणा करता है।

कर्म-उपक्रम चार प्रकार का है—बन्धनउपक्रम, उदीरणाउपक्रम, उपशामनाउपक्रम और विपरिणामनाउपक्रम। इनमें बन्धनउपक्रम भी चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्धनउपक्रम, स्थितिबन्धनउपक्रम, अनुभागबन्धनउपक्रम और प्रदेशबन्धनउपक्रम।

(१) बन्धनउपक्रम

दूध और पानी के समान जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर में अनुगत प्रकृतियों के बन्ध के क्रम की जहाँ प्ररूपणा की जाती है, उसका नाम प्रकृतिबन्धन उपक्रम है। जो सत्स्वरूप उन कर्मप्रकृतियों के एक समय से लेकर सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक अवस्थित रहने के काल की प्ररूपणा करता है उसे स्थितिबन्धन उपक्रम कहा जाता है। अनुभागबन्धन उपक्रम में जीव के साथ एकरूपता को प्राप्त उन्हीं सत्स्वरूप प्रकृतियों के अनुभाग सम्बन्धी स्पर्धक, वर्ग, वर्गणा, स्थान और अविभागप्रतिच्छेदों आदि की प्ररूपणा की जाती है। क्षपितकर्मांशिक, गुणितकर्मांशिक, क्षपितघोलमानकर्मांशिक और गुणितघोलमानकर्मांशिक का आश्रय करके जो

१. धवला, पु० १५, ३२-३९

उन्हीं प्रकृतियों के उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशों की प्ररूपणा की जाती है, उसका नाम प्रदेशबन्धन उपक्रम है।

धवलाकार ने आगे यह सूचना कर दी है कि इन चार उपक्रमों की प्ररूपणा जिस प्रकार 'सत्कर्मप्राभृत' में की गयी है उसी प्रकार से यहाँ भी उनकी प्ररूपणा करनी चाहिए।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि कि उनकी प्ररूपणा जैसे 'महाबन्ध' में की गयी है वैसे उनकी प्ररूपणा क्यों नहीं की जाती है। उत्तर में कहा गया है कि महाबन्ध का व्यापार प्रथम समय-सम्बन्धी बन्ध की ही प्ररूपणा में रहा है; यहाँ उसका कथन करना योग्य नहीं है, क्योंकि वैसा करने पर पुनरुक्त दोष का प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रकार से यहाँ कर्मोपक्रम का प्रथम भेद बन्धनोपक्रम समाप्त हुआ है।

(२) उदीरणोपक्रम

उदीरणा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार की है। इनमें प्रकृति-उदीरणा दो प्रकार की है—मूलप्रकृतिउदीरणा और उत्तरप्रकृतिउदीरणा। इनमें प्रथमतः मूलप्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा करते हुए उदीरणा के लक्षण में कहा गया है कि परिपाक को नहीं प्राप्त हुए कर्मों के पकाने का नाम उदीरणा है। अभिप्राय यह है कि आवली से बाहर की स्थिति को आदि करके आगे की स्थितियों के बन्धावलि से अतिक्रान्त प्रदेशपिण्ड को असंख्यात लोक के प्रतिभाग से अथवा पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रतिभाग से अपकर्षित करके जो उदयावलि में दिया जाता है, उसे उदीरणा कहते हैं।

उपर्युक्त दो भेदों में मूलप्रकृतिउदीरणा दो प्रकार की है—एक-एक प्रकृतिउदीरणा और प्रकृतिस्थानउदीरणा। इनमें यहाँ एक-एक प्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा क्रम से स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल और अल्पबहुत्व इन अधिकारों में की गयी है। जैसे—

स्वामित्व की अपेक्षा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इनके उदीरक मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर क्षीणकषाय तक होते हैं। विशेष इतना है कि क्षीणकषायकाल में एक समय से अधिक आवली के शेष रह जाने पर इन तीनों प्रकृतियों की उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है।

इसी प्रकार से आगे मोहनीय आदि शेष मूलप्रकृतियों की उदीरणा के स्वामित्व की प्ररूपणा की गयी है (पु० १५, पृ० ४३)।

एक जीव की अपेक्षा काल की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि वेदनीय और मोहनीय का उदीरक अनादि-अपर्यवसित, अनादि-सपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित होता है। इनमें जो सादि-सपर्यवसित है वह उनकी उदीरणा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त करता है। अप्रमत्त से च्युत होकर व अन्तर्मुहूर्त स्थित रहकर जो पुनः अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त हुआ है उसके वेदनीय की उदीरणा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त होती है, तथा उपशान्तकषाय से पतित होकर व अन्तर्मुहूर्त स्थित रहकर जो एक समय अधिक आवलीप्रमाण सूक्ष्म साम्परायिक के अन्तिम समय को नहीं प्राप्त हुआ है उसके मोहनीय की उदीरणा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त होती है।

उत्कर्ष से उन दोनों की उदीरणा उपार्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक होती है। अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत होकर व उपार्धपुद्गलप्रमाणकाल तक परिभ्रमण करके जो पुनः अप्रमत्त

गुणस्थान को प्राप्त हुआ है उसके उदीरणा के व्युच्छिन्न हो जाने पर उत्कर्ष से वेदनीय की उदीरणा उपार्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाणकाल तक होती है। इसी प्रकार उपशान्तकषाय से पतित होकर व उपार्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाणकाल तक परिभ्रमण करके पुनः उपशान्तकषाय गुणस्थान को प्राप्त हुआ है उसके उदीरणा के व्युच्छिन्न हो जाने पर मोहनीय की उदीरणा उत्कर्ष से उपार्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाणकाल तक होती है।

इसी प्रकार से आगे एक जीव की अपेक्षा आयु आदि अन्य मूल प्रकृतियों के जघन्य और उत्कृष्ट उदीरणाकाल की प्ररूपणा की गयी है।

वेदनीय, मोहनीय और आयु को छोड़ शेष मूल प्रकृतियों का उदीरक वह अनादि-अपर्यवसित होता है जो क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुआ है। तथा क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ हुआ वह उनका उदीरक सादि-सपर्यवसित होता है, क्योंकि वहाँ उनकी उदीरणा का व्युच्छेद हो जाता है (पु० १५, पृ० ४४-४८)।

इसी क्रम से आगे यहाँ एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल और अल्पबहुत्व के आश्रय से भी यथासम्भव उस उदीरणा की प्ररूपणा की गयी है। नाना जीवों की अपेक्षा उसके अन्तर की असम्भावना प्रकट कर दी गयी है।

एक-एक प्रकृति का अधिकार होने से यहाँ भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि उदीरणा सम्भव नहीं है।

प्रकृतिस्थानसमुत्कीर्तन के प्रसंग में उदीरणा के इन पाँच प्रकृतिस्थानों की सम्भावना व्यक्त की गयी है—आठ प्रकार के, सात प्रकार के, छह प्रकार के, पाँच प्रकार के और दो प्रकार के कर्मों के प्रकृतिस्थान। इनमें सब ही प्रकृतियों की उदीरणा करनेवाले के आठ प्रकार की, आयु के बिना सात प्रकार की, आयु व वेदनीय के बिना अप्रमत्तादि गुणस्थानों में छह प्रकार की तथा मोहनीय, आयु और वेदनीय के बिना क्षीणकषाय और उपशान्तकषाय गुणस्थानों में पाँच प्रकार की उदीरणा होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय के बिना सयोगिकेवली गुणस्थान में दो की उदीरणा होती है।

जिस प्रकार पूर्व में एक-एक प्रकृतिउदीरणा की प्ररूपणा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर और अल्पबहुत्व तीन अधिकारों में की गयी है उसी प्रकार इस प्रकृतिस्थान उदीरणा की भी प्ररूपणा इन्हीं स्वामित्व आदि अधिकारों में की गयी है।

नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर के प्रसंग में यहाँ पाँच प्रकृतियों के उदीरकों का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट छह मास कहा गया है। शेष प्रकृतिस्थानों के उदीरकों का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा सम्भव नहीं है (पु० १५, पृ० ४८-५०)।

भुजाकार के प्रसंग में यहाँ भुजाकार आदि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस समय जिन प्रकृतियों की उदीरणा कर रहा है उसके अनन्तर पूर्व समय में उनसे कम की उदीरणा करता है, यह भुजाकार उदीरणा है। इस समय जितनी प्रकृतियों की उदीरणा कर रहा है उसके अनन्तर अतिक्रान्त समयों में बहुतर प्रकृतियों की जो उदीरणा की जाती है, यह अल्पतर उदीरणा का लक्षण है। दोनों समयों में उतनी ही प्रकृतियों की उदीरणा करनेवाले के अवस्थित उदीरणा होती है। अनुदीरणा से उदीरणा करनेवाले के अवक्तव्य उदीरणा

होती है।

इस प्रकार इन भुजाकारादि के स्वरूप स्पष्ट करके आगे यह सूचना कर दी गयी है कि इस अर्थपद के अनुसार आगे के अधिकारों की प्ररूपणा करनी चाहिए।

आगे इस भुजाकार के विषय में स्वामित्व आदि का विचार करते हुए पदनिक्षेप व वृद्धि उदीरणा को प्रकट किया गया है (पु० १५, पृ० ५०-५४)।

उत्तर प्रकृतिउदीरणा भी एक-एक प्रकृतिउदीरणा और प्रकृतिस्थानउदीरणा के भेद से दो प्रकार की है। इस दो प्रकार की उत्तरप्रकृतिउदीरणा की भी प्ररूपणा मूलप्रकृतिउदीरणा के समान उन्हीं स्वामित्व आदि अधिकारों में विस्तारपूर्वक की गयी है (पृ० ५४-१००)।

इस प्रकार मूलप्रकृतिउदीरणा और उत्तरप्रकृति के समाप्त हो जाने पर प्रकृतिउदीरणा समाप्त हुई है।

इसी पद्धति से आगे यहाँ स्थितिउदीरणा, अनुभागउदीरणा और प्रदेशउदीरणा की भी प्ररूपणा की गयी है (पु० १५, पृ० १००-२७५)।

इस प्रकार से यहाँ कर्मोपक्रम का दूसरा भेद उदीरणोपक्रम समाप्त हो जाता है।

(३) उपशामनोपक्रम

नाम-स्थापना आदि के भेद से उपशामना चार प्रकार की है। इस प्रसंग में नोआगमद्रव्य-उपशामना के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—कर्मउपशामना और नोकर्मउपशामना। इनमें कर्मउपशामना दो प्रकार की है—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामना का दूसरा नाम अनुदीर्णोपशामना भी है।

अकरणोपशामना के प्रसंग में धवलाकार ने यह कहा है कि इसकी प्ररूपणा कर्मप्रवाद[1] में विस्तारपूर्वक की गयी है।

करणोपशामना दो प्रकार की है—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। इनमें सर्वकरणोपशामना के अन्य दो नाम हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना।

सर्वकरणोपशामना के प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि इसकी प्ररूपणा 'कषायप्राभृत' में की जावेगी। सम्भवत: 'कषायप्राभृत' से यहाँ धवलाकार का आशय अपने द्वारा विरचित उसकी टीका जयधवला से रहा है।

देशकरणोपशामना के अन्य ये दो नाम हैं—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। इसी को यहाँ अधिकृत कहा गया है।

यह उपशामना से सम्बन्धित सन्दर्भ प्राय: 'कषायप्राभृतचूर्णि' से शब्दश: समान है।[2] विशेषता इतनी है कि कषायप्राभृतचूर्णि में 'गुणोपशामना' के स्थान में 'सर्वोपशामना' और 'अगु-

---

१. कम्मपवादो णाम अट्ठमो पुव्वाहियारो जत्थ सव्वेसिं कम्माणं मूलुत्तरपयडिभेयभिण्णाणं दव्व-खेत्त-काल-भावे समस्सियूण विवागपरिणामो अविवागपज्जायो च बहुवित्थरो अणुवण्णिदो। तत्थ एसा अकरणोवसामणा दट्ठव्वा, तत्थेदिस्से पवंधेण परूपणोवलंभादो।
—जयध० (क०पा०सुत्त पृ० ७०७, टि० १)

२. देखिये धवला, पु० १५, पृ० २७५-७६ तथा क०प्रा० चूर्णि २९९-३०६ (क०पा० सुत्त पृ० ७०७-८)

णोपशामना' के स्थान में 'देशकरणोपशामना' उपलब्ध होता है। सर्वोपशामना और देशकरणोपशामना में दोनों ग्रन्थों में क्रमव्यत्यय भी हुआ है।

देशकरणोपशामना के प्रसंग में आगे कषायप्राभृत में 'एसा कम्मपयडीसु'[1] (चूर्णि ३०४) कहकर यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि इस देशकरणोपशामना की प्ररूपणा 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' में की गयी है।

शिवशर्म सूरि-विरचित 'कर्मप्रकृति' में छठा 'उपशामना' नाम का अधिकार है। वहाँ सर्वप्रथम मंगलस्वरूप यह गाथा कही गयी है—

> करणकया अकरणा वि य दुविहा उवसामण त्थ विइयाए ।
> अकरण-अणुइण्णाए अणुओगधरे पणिवयामि ॥—क०प्र०उप० १

इसमें ग्रन्थकर्ता ने उपशामना के करणकृता और अकरणा इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनमें अकरणा और अनुदीर्णा नामवाली दूसरी उपशामना विषयक अनुयोग के धारकों को नमस्कार किया है।

इस गाथा की व्याख्या में टीकाकार मलयगिरि सूरि ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'अनुदीर्णा' अपर नाम वाली अकरणा उपशामना का अनुयोग इस समय नष्ट हो चुका है, इसलिए आचार्य (शिवशर्म सूरि) स्वयं उसके अनुयोग सम्बन्धी ज्ञान से रहित होने के कारण उसके पारंगत विशिष्ट मति-प्रभा से युक्त चतुर्दशपूर्ववेदियों को नमस्कार करते हैं।[2]

उपर्युक्त सब विवेचन से यही प्रतीत होता है कि चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ, शिवशर्म सूरि और धवलाकार वीरसेन स्वामी के समय में अकरणोपशामना के ज्ञाता नहीं रहे थे। यदि चूर्णिकार और धवलाकार को उसका विशेष ज्ञान होता तो वे 'उसकी प्ररूपणा कर्मप्रवाद में विस्तार से की गयी है' ऐसी सूचना न करके उसकी प्ररूपणा कुछ अवश्य करते।

'जयधवला' में उस प्रसंग में 'कर्मप्रवाद' को आठवाँ पूर्व कहकर यह जो कहा गया है कि उसे वहाँ देखना चाहिए, यह विचारणीय है। क्योंकि उसका तो उस समय लोप हो चुका था। वह जयधवलाकार के समक्ष रहा हो और उन्होंने उसका परिशीलन भी किया हो, ऐसा नहीं दिखता। क्या यह सम्भव है कि उस समय उक्त कर्मप्रवाद पूर्व का एकदेश रहा हो और उसके आधार से यतिवृषभ, वीरसेन और जिनसेन ने वैसा संकेत किया हो?

'कर्मप्रकृति' में इस प्रसंग में करणोपशामना के सर्वोपशामना और देशोपशामना इन दो

---

१. कम्मपयडीओ णाम विदियपुव्वपंचमवत्थुपडिबद्धो चउत्थो पाहुडसण्णिदो अहियारो अत्थि। तत्थेसा देसकरणोवसामणा दट्ठव्वा, सवित्थरमेदिस्से तत्थ पबंधेण परूविदत्तादो। कधमेत्थ एगस्स कम्मपयडिपाहुडस्स 'कम्मपयडीसु' त्ति बहुवयणणिद्देसो त्ति णासंकणिज्जं, एक्कस्स वि तस्स कदि-वेदणादि अवंतराहियारभेदावेक्खाए बहुवयणणिद्देसाविरोहादो।
—जयध० (क०पा०सुत्त पृ० ७०८, टिप्पण ३)

२. अस्माश्चाकरणकृतोपशामनाया नामधेयद्वयम्। तद्यथा—अकरणोपशामना अनुदीर्णोपशामना च। तस्याश्च संप्रत्यनुयोगो व्यवच्छिन्नः। तत आचार्यः स्वयं तस्या अनुयोगमजानानस्तद्वेदितॄणां विशिष्टमतिप्रभाकलितचतुर्दशपूर्ववेदिनां नमस्कारमाह—'बिइणाए' इत्यादि।—क०प्र० मलय० वृत्ति उप०क० १, पृ० २५४

भेदों का निर्देश है। उसमें बतलाया है कि सर्वोपशामना मोह की ही हुआ करती है। उस सर्वोपशामना क्रिया के योग्य कौन होता है, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि उसके योग्य पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, तीन लब्धियों से युक्त—पंचेन्द्रियत्व, संज्ञित्व व पर्याप्तत्व रूप अथवा उपशम, उपदेशश्रवण और तीन करणों के हेतुभूत प्रकृष्ट योगलब्धिरूप तीन लब्धियों से युक्त, करणकाल के पूर्व ही विशुद्धि को प्राप्त होनेवाला, ग्रन्थिकसत्त्वों (अभव्यसिद्धिकों) की विशुद्धि का अतिक्रमण करके अवस्थित, अन्यतर (मति-श्रुत में से किसी एक) साकार उपयोग में तथा विशुद्ध लेश्याओं में से किसी एक लेश्या में वर्तमान होता हुआ जो सात कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण करके, अशुभ कर्मों के चतुःस्थानरूप अनुभाग को द्वि-स्थानरूप और शुभ कर्मों के द्विस्थानरूप अनुभाग को चतुःस्थानरूप करता है, इत्यादि।[1]

लगभग यही अभिप्राय प्रायः उन्हीं शब्दों में षट्खण्डागम और उसकी टीका धवला में प्रकट किया गया है।[2]

इस प्रकार धवला में उपशामना के भेद-प्रभेदों में उल्लेख करते हुए यहाँ देशकरणोपशामना को प्रसंगप्राप्त कहा गया है। अप्रशस्तोपशामना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि अप्रशस्त उपशामना से जो प्रदेशपिण्ड उपशान्त है उसका अपकर्षण भी किया जा सकता है और उत्कर्षण भी, तथा अन्य प्रकृति में उसे संक्रान्त भी किया जा सकता है। किन्तु उसे उदयावली में प्रविष्ट नहीं कराया जा सकता (पु० १५, पृ० २७६)।

पश्चात् पूर्व पद्धति के अनुसार यहाँ क्रम से मूल और उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से प्रस्तुत अप्रशस्त उपशामना की प्ररूपणा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय और नाना जीवों की अपेक्षा काल आदि अनेक अधिकारों में की गयी है। जैसे स्वामित्व—

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में प्रविष्ट हुए चारित्रमोह के क्षपक व उपशामक जीव के सब कर्म अप्रशस्त उपशामना से अनुपशान्त होते हैं। अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में प्रविष्ट दर्शनमोह के उपशामक के दर्शनमोहनीय अप्रशस्त उपशामना से अनुपशान्त होता है, शेष सब कर्म उस के उपशान्त और अनुपशान्त होते हैं।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में प्रविष्ट होते समय में ही अनन्तानुबन्धिचतुष्क अप्रशस्त उपशामना से अनुपशान्त होता है, शेष सब कर्म उपशान्त और अनुपशान्त होते हैं। किसी भी कर्म का सब प्रदेशाग्र उपशान्त व सब प्रदेशाग्र अनुपशान्त नहीं होता, किन्तु सब उपशान्त-अनुपशान्त होता है।[3]

विशेषता यह रही है कि वहाँ प्रकृति, स्थिति और अनुभागविषयक उपशामना की प्ररूपणा कर प्रदेशउपशामना के विषय में 'प्रदेशउपशामना की प्ररूपणा जानकर करनी चाहिए' इतना

---

१. क०प्र० उप०क० गाथा २-८ द्रष्टव्य हैं।

२. ष०ख० सूत्र १,९-८,४-५ व उनकी धवला टीका (पु० ६, पृ० २०६-३०) तथा सूत्र १, ९-३,१-२; सूत्र १,९-४,१-२; सूत्र १,९-५,१-२ और उनकी टीका (पु०६, पृ० १३३-४४)

३. पदेसउवसामणा जाणियूण परूवदेव्वा। पु० १५, पृ० २८२

मात्र कहा है।

(४) विपरिणाम उपक्रम

यह भी प्रकृति-स्थिति आदि के भेद से चार प्रकार का है। इनमें प्रकृति विपरिणामना मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से दो प्रकार की है। मूल प्रकृतिविपरिणामना भी देशविपरिणामना और सर्वविपरिणामना के भेद से दो प्रकार की है। जिन प्रकृतियों का एकदेश अधःस्थितिगलना के द्वारा निर्जीर्ण होता है, वह देशविपरिणामना है। जो प्रकृति सर्वनिर्जरा से निर्जीर्ण होती है उसे सर्वविपरिणामना कहा जाता है।

आगे यहाँ यह सूचना कर दी गयी है कि इस अर्थपद से मूलप्रकृतिविपरिणामना के विषय में स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, संनिकर्ष और विपरिणामना अल्पबहुत्व को ले जाना चाहिए। भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि यहाँ भी नहीं है।

उत्तरप्रकृतिविपरिणामना का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो प्रकृति देशनिर्जरा अथवा सर्वनिर्जरा के द्वारा निर्जीर्ण होती है अथवा जो देशसंक्रम या सर्वसंक्रम के द्वारा संक्रम को प्राप्त करायी जाती है, वह उत्तरप्रकृतिविपरिणामना है।

यहाँ भी आगे इस अर्थपद से स्वामित्व आदि की प्ररूपणा करने की सूचना कर दी गयी है। साथ ही प्रकृति स्थानविपरिणामना की प्ररूपणा करने की ओर संकेत भी कर दिया गया है।

आगे क्रमप्राप्त स्थितिविपरिणामना के प्रसंग में उसका स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो स्थिति अपकर्षण व उत्कर्षण को प्राप्त करायी जाती है अथवा अन्य प्रकृति में संक्रान्त करायी जाती है, इसका नाम स्थितिविपरिणामना है। आगे कहा गया है कि इस अर्थपद से स्थितिविपरिणामना की प्ररूपणा स्थितिसंक्रम के समान करनी चाहिए, क्योंकि दोनों की प्ररूपणा की पद्धति समान है।

अनुभागविपरिणामना के प्रसंग में उसका स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है कि अपकर्षण को प्राप्त, उत्कर्षण को भी प्राप्त और अन्य प्रकृति में संक्रान्त कराया गया भी अनुभाग विपरिणामित होता है। यहाँ भी यह सूचना कर दी गयी कि इस अर्थपद से प्रकृत अनुभागविपरिणामना की प्ररूपणा उसी प्रकार करनी चाहिए, जिस प्रकार से अनुभागसंक्रम की प्ररूपणा की गयी है।

यही स्थिति प्रदेशविपरिणामना की भी रही है। निर्जरा को तथा अन्य प्रकृति में संक्रम को प्राप्त हुए प्रदेशाग्र का नाम प्रदेशविपरिणामना है। इस अर्थपद से प्रकृत प्रदेशविपरिणामना को प्रदेशसंक्रम के समान जानना चाहिए। विशेष इतना है कि उदय से निर्जरा को प्राप्त होने वाला प्रदेशाग्र प्रदेशसंक्रम की अपेक्षा विपरिणामना में अधिक होता है।[४]

इस प्रकार उपक्रम के बन्धनोपक्रम आदि चारों भेदों की प्ररूपणा के समाप्त हो जाने पर उपक्रम अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

१०. उदय अनुयोगद्वार

यहाँ सर्वप्रथम नामादि उदयों में कौन-सा उदय प्रसंगप्राप्त है, इस प्रश्न को स्पष्ट करते

हुए नोआगमकर्मद्रव्य उदय को प्रसंगप्राप्त कहा गया है। वह प्रकृतिउदय आदि के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रकृतिउदय दो प्रकार का है—मूलप्रकृतिउदय और उत्तरप्रकृतिउदय। मूलप्रकृतिउदय का कथन विचारकर करना चाहिए, ऐसी यहाँ सूचना भी कर दी गयी है।

उत्तरप्रकृतिउदय के प्रसंग में स्वामित्व का विचार किया गया है। तदनुसार पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अन्तराय के वेदक सब छद्मस्थ होते हैं।

निद्रा आदि पाँच दर्शनावरणीय प्रकृतियों का वेदक शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होने के दूसरे समय से लेकर आगे का कोई भी जीव होता है, जो उसके वेदन के योग्य हो। विशेष इतना है कि देव, नारक और अप्रमत्तसंयत ये स्त्यानगृद्धि आदि तीन दर्शनावरणीय प्रकृतियों के वेदक नहीं होते हैं। इनके अतिरिक्त जिन प्रमत्तसंयतों ने आहारकशरीर को उत्थापित किया है वे भी इन तीन दर्शनावरणीय प्रकृतियों के अवेदक होते हैं। अन्य आचार्यो के मतानुसार इन सबके अतिरिक्त असंख्यातवर्षायुष्क और उत्तरशरीर की विक्रिया करने वाले तिर्यंच मनुष्य भी उनके अवेदक होते हैं।

साता व असाता में से किसी एक का वेदक कोई भी संसारी जीव, जो उसके वेदन के योग्य हो, होता है।

इसी क्रम से आगे मिथ्यात्व आदि शेष सभी उत्तरप्रकृतियों का वेदन-विषयक विचार किया गया है (पु० १५, पृ० २८५-८८)।

इस प्रकार स्वामित्व के विषय में विचार करने के उपरान्त यह सूचना कर दी गयी है कि एक जीव की अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर और संनिकर्ष अनुयोगद्वारों का कथन उपर्युक्त स्वामित्व से सिद्ध करके करना चाहिए।

अल्पबहुत्व के संदर्भ में कहा गया है कि उसकी प्ररूपणा, जिस प्रकार उदीरणा के प्रसंग में की गयी है, उसी प्रकार यहाँ भी करना चाहिए। उससे जो कुछ कहीं विशेषता रही है उसे यह स्पष्ट कर दिया गया है। यथा—

मनुष्यगतिनामकर्म के और मनुष्यायु के वेदक समान हैं। इसी प्रकार शेष गतियों और आयुओं के अल्पबहुत्व को जानना चाहिए, इत्यादि (पु० १५, पृ० ८८-८९)।

स्थितिउदय भी मूलप्रकृतिस्थितिउदय और उत्तरप्रकृतिस्थितिउदय के भेद से दो प्रकार का है। मूलप्रकृतिस्थितिउदय भी प्रयोग और स्थितिक्षय से दो प्रकार से होता है। इनमें स्थितिक्षय से होने वाले उदय को सुगम बतलाकर प्रयोग से होने वाले उदय को संपत्ति (संप्रति या संप्राप्ति) और सेचीय (निषेक) की अपेक्षा दो प्रकार का निर्दिष्ट किया है। संपत्ति की अपेक्षा एक स्थिति को उदीर्ण कहा गया है, क्योंकि इस समय जो परमाणु उदय को प्राप्त हैं, उनका अवस्थान एक समय को छोड़कर दो आदि अन्य समयों में नहीं पाया जाता है। सेचीय की अपेक्षा अनेक स्थितियों को उदीर्ण कहा गया है, क्योंकि वर्तमान में जो प्रदेशाग्र उदीर्ण है उसके द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा पूर्व के भाव के साथ उपचार सम्भव है।

आगे कहा है कि इस अर्थपद से स्थितिउदयप्रमाणानुगम चार प्रकार का है—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य। इनका स्पष्टीकरण यहाँ प्रथमतः मूलप्रकृतियों के आश्रय से और तत्पश्चात् उत्तरप्रकृतियों के आश्रय से पूर्व पद्धति के अनुसार उन्हीं स्वामित्व व एक जीव की अपेक्षा कालानुगम आदि अधिकारों में किया गया है। इस प्रसंग में जहाँ-तहाँ यह भी कथन है कि इसकी प्ररूपणा स्थितिउदीरणा के समान करनी चाहिए (पु० १५, पृ० २८९-९५)।

इसी क्रम में अनुभागउदय और प्रदेशउदय की भी प्ररूपणा की गयी है (पु० १५, पृ० २६५-३३६)। इस प्रकार से यह उदयअनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

११. मोक्ष अनुयोगद्वार

यहाँ सर्वप्रथम मोक्ष का निक्षेप करते हुए उसके इन चार भेदों का निर्देश है—नाममोक्ष, स्थापनामोक्ष, द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। इनमें शेष को सुगम बतलाकर नोआगमद्रव्यमोक्ष के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—कर्ममोक्ष और नोकर्ममोक्ष। कर्मद्रव्यमोक्ष प्रकृतिमोक्ष आदि के भेद से चार प्रकार का है। प्रकृतिमोक्ष भी मूलप्रकृतिमोक्ष और उत्तरप्रकृतिमोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। वे भी देशमोक्ष और सर्वमोक्ष के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

विवक्षित प्रकृति का निर्जरा को प्राप्त होना अथवा अन्य प्रकृति में संक्रान्त होना प्रकृतिमोक्ष है। इसे यहाँ प्रकृतिउदय और प्रकृतिसंक्रम के अन्तर्गत होने से सुगम कह दिया गया है।

स्थितिमोक्ष जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार का है। जो स्थिति अपकर्षण या उत्कर्षण को प्राप्त करायी गयी है अथवा अधःस्तनस्थितिगलना के द्वारा निर्जरा को प्राप्त हुई है, वह स्थितिमोक्ष है। आगे यह कह दिया है कि इस अर्थपद के अनुसार उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य मोक्ष की प्ररूपणा करनी चाहिए।

इसी पद्धति से आगे अनुभागमोक्ष और प्रदेशमोक्ष की भी प्ररूपणा की गयी है।

नोआगममोक्ष को प्रथम तो सुगम कहा गया है, पश्चात् वैकल्पिक रूप से यह भी कहा गया है—अथवा वह मोक्ष, मोक्षकारण और मुक्त के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें जीव और कर्म के पृथक् होने का नाम मोक्ष है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये मोक्ष के कारण हैं। समस्त कर्मों से रहित होकर अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणों से सम्पन्न होना, यह मुक्त का लक्षण है।

(पु० १६, पृ० ३३७-३८)

इस प्रकार से यह मोक्ष अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

१२. संक्रम अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में सर्वप्रथम संक्रम के नामसंक्रम आदि छह भेदों और उनके अवान्तर भेदों का उल्लेख है। उनमें से कर्मसंक्रम को यहाँ प्रकृत कहा गया है। वह प्रकृति-स्थिति आदि के भेद से चार प्रकार का है। जो प्रकृति अन्य प्रकृति को प्राप्त करायी जाती है, इसे प्रकृतिसंक्रम कहा जाता है। यह प्रकृतिसंक्रम स्वभावतः परस्पर मूलप्रकृतियों में सम्भव नहीं है।

उत्तरप्रकृतिसंक्रम की प्ररूपणा पूर्व पद्धति के अनुसार स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल और नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर और अल्पबहुत्व इन अधिकारों में प्रथमतः सामान्य से और तत्पश्चात् विशेष रूप से नरकगति आदि के आश्रय से की गयी है। जैसे—

स्वामित्व के प्रसंग में प्रथमतः यह सूचना है कि बन्ध के होने पर ही संक्रम होता है, उसके अभाव में नहीं। वह भी विवक्षित मूलप्रकृति की उत्तरप्रकृतियों में ही परस्पर होता है। किन्तु दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय में और चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय में संक्रान्त नहीं होती। इसी प्रकार चार आयुओं का भी परस्पर में संक्रमण नहीं होता।

पांच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय और पांच अन्तराय प्रकृतियों का संक्रामक कोई भी कषाय-सहित जीव होता है। जो असाता का बन्धक है वह साता का और जो साता का बन्धक है वह असाता का संक्रामक होता है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि दर्शनमोहनीय के संक्रामक नहीं होते। सम्यक्त्व प्रकृति का संक्रामक नियम से वह मिथ्यादृष्टि होता है जिसके उसका सत्त्व आवली से बाहर होता है। मिथ्यात्व का संक्रामक वह सम्यग्दृष्टि होता है जिसके उस मिथ्यात्व का सत्त्व आवली से बाहर होता है। सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रामक वह सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होता है जिसके उस सम्यग्मिथ्यात्व का सत्त्व आवली से बाहर होता है। इसी क्रम से आगे बारह कषाय आदि अन्य उत्तरप्रकृतियों के संक्रमविषयक प्ररूपणा हुई है।

अनन्तर प्रकृतिस्थानसंक्रम को भी संक्षेप में बतलाकर प्रकृतिसंक्रम को समाप्त किया गया है (पु० १६, पृ० ३३९-४७)।

स्थितिसंक्रम के प्रसंग में भी प्रकृतिसंक्रम के समान उसके ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—मूलप्रकृतिस्थितिसंक्रम और उत्तरप्रकृतिस्थितिसंक्रम। जो स्थिति अपकर्षण को प्राप्त करायी गई है, उत्कर्षण को प्राप्त करायी गयी है अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त करायी गयी है उसे स्थितिसंक्रम कहा जाता है।

अपकर्षण और उत्कर्षण का कुछ स्वरूप निरूपण करके प्रकृतस्थितिसंक्रम की प्ररूपणा इन अधिकारों में की गयी है—प्रमाणानुगम, स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, नाना जीवों की अपेक्षा काल, अन्तर और अल्पबहुत्व।

(पु० १६, पृ० ३४९-७४)

अनुभागसंक्रम के प्रसंग में प्रथमतः सब कर्मों के आदि स्पर्धक को गमनीय बतलाकर जो कर्म देशघाती, अघाती और सर्वघाती हैं, उनके नामों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। उनमें किनके आदि स्पर्धक समान हैं और वे किस प्रकार प्राप्त होते हैं, इसकी चर्चा है।

अनुभागविषयक अर्थपद को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अपकर्षण को प्राप्त अनुभाग अनुभागसंक्रम है, उत्कर्षण को प्राप्त अनुभाग अनुभागसंक्रम है, और अन्य प्रकृति को प्राप्त कराया गया भी अनुभाग अनुभागसंक्रम है। आदि स्पर्धक का अपकर्षण नहीं होता। आदि स्पर्धक से जितना जघन्य निक्षेप है इतने मात्र स्पर्धक अपकर्षण को प्राप्त नहीं होते। उनसे ऊपर के स्पर्धक का भी अपकर्षण नहीं होता, क्योंकि अतिस्थापना का अभाव है। जितने जघन्य निक्षेप स्पर्धक हैं और जितने जघन्य अतिस्थापना स्पर्धक हैं, प्रथम स्पर्धक से लेकर, इतने मात्र स्पर्धक ऊपर चढ़कर जो स्पर्धक स्थित है उसका अपकर्षण किया जा सकता है, क्योंकि उसके अतिस्थापनास्पर्धक और निक्षेपस्पर्धक सम्भव हैं (पु० १६, पृ० ३७४-७६)।

इस क्रम से आगे प्रमाणानुगम (पृ० ३७७), स्वामित्व, (पृ० ३७७-८२), एक जीव की अपेक्षा काल, (पृ० ३८२-८७), एक जीव की अपेक्षा अन्तर (पृ० ३८७-८८), नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय (पृ० ३८८-८९), नाना जीवों की अपेक्षा काल (पृ० ३८९-९१), नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर (पृ० ३९१-९२) और संनिकर्ष (पृ० ३९२) इन अधिकारों में प्रस्तुत संक्रम की प्ररूपणा की गयी है।

पश्चात् अल्पबहुत्व के प्रसंग में स्वस्थान-परस्थान के भेद से उसकी दो प्रकार से प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः ओघ की अपेक्षा और तत्पश्चात् क्रम से नरकादि गतियों में की गयी है (धवला, पु० १६, पृ० ३९३-९७)।

अन्त में भुजाकार के प्रसंग में उसकी प्ररूपणा पूर्वनिर्दिष्ट उन्हीं स्वामित्व व एक जीव की अपेक्षा काल आदि अधिकारों में की गयी है।

अनुभाग संक्रमस्थानों की प्ररूपणा के प्रसंग में यह सूचना कर दी गई है कि उनकी प्ररूपणा सत्कर्मस्थानों की प्ररूपणा के समान है (पृ० ३९८-४०८)।

इस प्रकार से अनुभागसंक्रम समाप्त हुआ है।

प्रदेशसंक्रम का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो प्रदेशाग्र अन्य प्रकृति में संक्रान्त कराया जाता है उसका नाम प्रदेशसंक्रम है। वह मूल और उत्तर प्रकृतिसंक्रम के भेद से दो प्रकार का है। मूल प्रकृतियों में प्रदेशसंक्रम सम्भव नहीं है। उत्तर प्रकृतिसंक्रम पाँच प्रकार का है—उद्वेलनसंक्रम, विध्यातसंक्रम, अधःप्रवृत्तसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम। इनके स्वरूप-निरूपण के लिए निम्न गाथा को उद्धृत किया गया है—

> बंधे अधापवत्तो विज्झाद अबंध अप्पमत्तंतो।
> गुणसंकमो दु एत्तो पयडीणं अप्पसत्थाणं॥

अधःप्रवृत्तसंक्रम—जहाँ जिन प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है वहाँ उन प्रकृतियों के वन्ध के होने पर और उसके न होने पर भी अधःप्रवृत्त संक्रम होता है। यह नियम वन्ध प्रकृतियों के विषय में है, अबन्ध प्रकृतियों के विषय में नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन अवन्ध-प्रकृतियों में भी अधःप्रवृत्तसंक्रम पाया जाता है।

विध्यातसंक्रम—जहाँ जिन प्रकृतियों का नियम से वन्ध सम्भव नहीं है, वहाँ उनका विध्यात संक्रम होता है। यह भी नियम मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ध्रुवस्वरूप से हैं।

गुणसंक्रम—अप्रमत्तसंयत से लेकर आगे के गुणस्थानों वन्ध से रहित प्रकृतियों का गुण-संक्रम और सर्वसंक्रम भी होता है।

यह प्ररूपणा अप्रशस्त प्रकृतियों के विषय में की गई है, प्रशस्त प्रकृतियों के विषय में नहीं; क्योंकि उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणियों में वन्ध से रहित प्रशस्त प्रकृतियों का अधःप्रवृत्तसंक्रम देखा जाता है।

आगे कौन प्रकृतियाँ कितने भागहारों से संक्रान्त होती हैं, इसे अन्य एक गाथा को उद्धृत कर उसके आधार से स्पष्ट किया गया है। साथ ही, वे भागहार उनके कहाँ किस प्रकार से सम्भव हैं, इसे भी स्पष्ट किया है। यथा—

पाँच ज्ञानावरणीय व चार दर्शनावरणीय आदि उनतालीस प्रकृतियों का एकमात्र अधः-प्रवृत्तसंक्रम होता है।

स्त्यानगृद्धि आदि तीन दर्शनावरण, बारह कषाय व स्त्रीवेद आदि तीस प्रकृतियों के उद्वेलन के बिना शेष चार संक्रम होते हैं।

निद्रा, प्रचला, अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस और उपघात इन सात प्रकृतियों के अधःप्रवृत्त संक्रम और गुणसंक्रम ये दो होते हैं।

असातावेदनीय व पाँच संस्थान आदि वीस प्रकृतियों के अधःप्रवृत्तसंक्रम, विध्यातसंक्रम और गुणसंक्रम ये तीन होते हैं।

मिथ्यात्व प्रकृति के विध्यातसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम ये तीन होते हैं।

वेदकसम्यक्त्व के अधःप्रवृत्तसंक्रम, उद्वेलनसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम ये चार होते हैं।

सम्यग्मिथ्यात्व, देवगति, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आहारकशरीर, आहारकशरीरांगोपांग और उच्चगोत्र—इन बारह प्रकृतियों के पाँचों संक्रम होते हैं।

तीन संज्वलन और पुरुषवेद इन चार प्रकृतियों के अधःप्रवृत्तसंक्रम और सर्वसंक्रम ये दो संक्रम होते हैं।

हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों के अधःप्रवृत्तसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम ये तीन होते हैं।

औदारिकशरीर, औदारिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन और तीर्थंकर इन चार प्रकृतियों के अधःप्रवृत्तसंक्रम और विध्यातसंक्रम ये दो होते हैं[1]।

उपर्युक्त प्रकृतियों में सम्भव इन संक्रम-भेदों को एक दृष्टि में इस प्रकार देखा जा सकता है—

प्रकृति	३९	३०	७	२०	१	१	१२	४	४	४
संक्रमभेद	१	४	२	३	३	४	५	२	३	२

आगे इन संक्रमों के अवहारकाल के अल्पबहुत्व को दिखाकर उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व के विषय में विचार किया गया है (पु० १६, पृ० ४२१-४०)।

तत्पश्चात् एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के काल को प्रकट करते हुए यह सूचना कर दी गई है कि एक जीव की अपेक्षा जघन्य प्रदेशसंक्रमकाल व अन्तर तथा नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल और अन्तर का कथन स्वामित्व से सिद्ध करके करना चाहिए (पृ० ४४१-४२)।

अल्पबहुत्व के प्रसंग में प्रथमतः सामान्य से और तत्पश्चात् विशेष रूप से नारक आदि गतियों में उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशसंक्रमविषयक अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। (पृ० ४४२-५३)

भुजाकारसंक्रम के प्रसंग में स्वामित्व व एक जीव की अपेक्षा काल की प्ररूपणा करके आगे यह सूचना कर दी गयी है कि एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल और अन्तर की प्ररूपणा एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व और काल से सिद्ध करके करनी चाहिए। तत्पश्चात् प्रसंगप्राप्त अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है (पृ० ४५३-६१)।

आगे पदनिक्षेप और वृद्धिसंक्रम की प्ररूपणा करते हुए प्रस्तुत संक्रम अनुयोगद्वार को समाप्त किया गया है (पृ० ४६१-८३)।

१३. लेश्या अनुयोगद्वार

यहाँ लेश्या का निक्षेप करके नोआगम द्रव्यलेश्या के अन्तर्गत तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यलेश्या के स्वरूप का निर्देश है। तदनुसार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल-स्कन्धों के वर्ण का नाम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलेश्या है। वह कृष्ण-नीलादि के भेद से छह प्रकार की है। वह किनके होती है, इसे कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

---

१. धवला पु० १६, पृ० ४०८-२१

नोआगम भावलेश्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कर्मागम की कारणभूत जो मिथ्यात्व, असंयम और कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति होती है उसका नाम नोआगम-भावलेश्या है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम और कषाय के आश्रय से जो संस्कार उत्पन्न होता है उसे नोआगमभावलेश्या जानना चाहिए। यहाँ नैगमनय की अपेक्षा नोआगम-द्रव्यलेश्या और नोआगमभावलेश्या ये दो प्रसंग प्राप्त हैं।

द्रव्यलेश्या का वर्णन करते हुए आगे कहा गया है कि जीव के द्वारा अप्रतिगृहीत पुद्गल-स्कन्धों में जो कृष्ण, नील आदि वर्ण होते हैं, यही द्रव्यलेश्या है जो कृष्णादि के भेद से छह प्रकार की है। उसके ये छह भेद द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से निर्दिष्ट हैं, पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से वह असंख्यात लोकप्रमाण भेदों वाली है।

तत्पश्चात्, शरीर के आश्रित रहनेवाली इन लेश्याओं में कौन-कौन लेश्याएँ किन जीवों के रहती हैं, इसका स्पष्टीकरण है। जैसे तिर्यंचों के शरीर छहों लेश्याओं से युक्त होते हैं—उनमें कितने ही शरीर कृष्णलेश्या वाले, कितने ही नीललेश्यावाले, कितने ही कापोतलेश्या वाले, कितने ही तेजलेश्या वाले, कितने ही पद्मलेश्या वाले और कितने ही शुक्ललेश्या वाले होते हैं। देवों के शरीर मूलनिवर्तन की अपेक्षा तेज, पद्म और शुक्ल इन तीन लेश्यावाले तथा उत्तर-निवर्तना की अपेक्षा वे छहों लेश्याओं वाले होते हैं, इत्यादि।

औदारिक आदि पाँच शरीरों में कौन किन लेश्याओं से युक्त होते हैं, इसकी चर्चा में कहा है कि औदारिक शरीर छहों लेश्याओं से युक्त होते हैं। वैक्रियिक शरीर मूलनिवर्तना की अपेक्षा कृष्ण, पीत, पद्म अथवा शुक्ललेश्या से युक्त होते हैं। तैजस शरीर पीतलेश्या से और कार्मणशरीर शुक्ललेश्या से युक्त होता है।

शरीरगत पुद्गलों में अनेक वर्ण रहते हैं, फिर भी अमुक शरीर का यह वर्ण होता है, यह जो यहाँ कहा गया है वह शरीरगत उन अनेक वर्णों में प्रमुख वर्ण के आश्रय से कहा गया है। जैसे—जिस शरीर में प्रमुखता से कृष्ण वर्ण पाया जाता है उसे कृष्णलेश्यावाला, इत्यादि।

आगे विवक्षित लेश्यावाले द्रव्य में जो अन्य अनेक गुण होते हैं उनका अल्पबहुत्व दिखलाया है। जैसे—कृष्णलेश्यायुक्त द्रव्य में शुक्ल गुण स्तोक, हारिद्र गुण अनन्तगुणे और कृष्ण गुण अनन्तगुणे होते हैं। नीललेश्यादि युक्त द्रव्यों के अन्य गुणों के अल्पबहुत्व को भी यहाँ प्रकट किया गया है।

विशेषता यह रही है कि किसी विवक्षित लेश्या से युक्त द्रव्य के अन्य गुणों के अल्पबहुत्व में अन्य विकल्प भी रहे हैं। जैसे कापोतलेश्या के विषय में उस अल्पबहुत्व को तीन प्रकार से प्रकट किया गया है—(१) शुक्ल गुण स्तोक, हारिद्र गुण अनन्तगुणे, कालक गुण अनन्तगुणे, लोहित अनन्तगुणे और नील अनन्तगुणे। (२) शुक्ल स्तोक, कालक अनन्तगुणे, हारिद्र अनन्तगुणे, नील अनन्तगुणे और लोहित अनन्तगुणे। (३) कालक स्तोक, शुक्ल अनन्तगुणे, नील अनन्तगुणे, हारिद्र अनन्तगुणे और लोहित अनन्तगुणे।

द्रव्यलेश्या की प्ररूपणा के पश्चात् भावलेश्या के प्रसंग में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के आश्रय से जीव के जो संस्कार उत्पन्न होता है उसे भावलेश्या कहते हैं। उसमें तीव्र संस्कार को कापोतलेश्या, तीव्रतर संस्कार को नीललेश्या, तीव्रतम संस्कार को कृष्णलेश्या, मन्द संस्कार को तेजलेश्या या पीतलेश्या, मन्दतर संस्कार को पद्मलेश्या और मन्दतम संस्कार को शुक्ललेश्या कहा जाता है।

इन छहों में से प्रत्येक अनन्तभागवृद्धि आदि छह वृद्धियों के क्रम से छह स्थानों में पतित है।

उक्त छह लेश्याओं में से कापोतलेश्या को द्विस्थानिक तथा शेष लेश्याओं को द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक निर्दिष्ट करते हुए अन्त में तीव्रता व मन्दता के विषय में उनका अल्पबहुत्व दिखलाया है (धवला, पु० १६, पृ० ४८४-८६)।

इस प्रकार लेश्या अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

१४. लेश्याकर्म अनुयोगद्वार

कर्म का अर्थ क्रिया या प्रवृत्ति है। छह लेश्याओं के आश्रय से जीव की प्रवृत्ति किस प्रकार की होती है, इसका विचार इस अनुयोगद्वार में किया गया है। यथा—

कृष्णलेश्या से परिणत जीव की प्रवृत्ति कैसी होती है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह निर्दय, कलहप्रिय, वैरभाव की वासना से सहित, चोर, असत्यभाषी; मधु-मांस-मद्य में आसक्त, जिनोपदिष्ट तत्त्व के उपदेश को न सुननेवाला और असदाचरण में अडिग रहता है।

आगे यथाक्रम से नील आदि अन्य लेश्याओं से परिणत जीवों की प्रवृत्ति का भी वर्णन किया गया है।

यहाँ पृथक्-पृथक् प्रत्येक लेश्यावाले जीव की प्रवृत्ति को दिखाते हुए, 'वृत्तं च' कहकर जो नौ (१+२+३+१+१+१) गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं ये 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' (५०८-१६) में उसी रूप में व उसी क्रम से उपलब्ध होती हैं, सम्भवतः वहीं से लेकर इन्हें इस ग्रन्थ का अंग बनाया गया है।

ये गाथाएँ दि० प्रा० 'पंचसंग्रह' (१, १४४-५२) में भी उसी रूप में व उसी क्रम से उपलब्ध होती हैं। इस पंचसंग्रह का रचना-काल अनिश्चित है।

इनमें जो थोड़ा-सा पाठ-भेद उपलब्ध होता है तो वह 'गो० जीवकाण्ड' और 'पंचसंग्रह' में समान है।[1]

ये गाथाएँ इसके पूर्व जीवस्थान-सत्प्ररूपणा (पु० १, पृ० ३८८-९०) में भी लेश्या के प्रसंग में उद्धृत की जा चुकी हैं।

१५. लेश्या-परिणाम अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में कौन लेश्याएँ किस भाँति वृद्धि अथवा हानि को प्राप्त होकर स्वस्थान और परस्थान में परिणत होती हैं, इसे स्पष्ट किया गया है। जैसे—

कृष्णलेश्या वाला जीव संक्लेश को प्राप्त होता हुआ अन्य किसी लेश्या में परिणत नहीं होता, किन्तु स्वस्थान में ही अनन्तभागवृद्धि आदि छह वृद्धियों से वृद्धिगत होकर स्थानसंक्रमण करता हुआ स्थित रहता है। अन्य लेश्या में परिणत वह इसलिए नहीं होता; क्योंकि उससे निकृष्टतर अन्य कोई लेश्या नहीं है। वही यदि विशुद्धि को प्राप्त होता है तो अनन्तभाग हानि आदि छह हानियों से संक्लेश की हानि को प्राप्त हुआ स्वस्थान (कृष्णलेश्या) में स्थानसंक्रमण

---

१. जैसे—फिण्णाए संजुओ जीवो—लक्खणमेयं तु किण्हस्स। णीलाए लेस्साए वसेण जीवो पारंभासे—लक्खणमेयं भणियं समासओ णीललेसस्स।। इत्यादि।

करता है। वही अनन्तगुणा संक्लेश हानि से परस्थानस्वरूप नीललेश्या में भी परिणत होता है। इस प्रकार कृष्णलेश्या में संक्लेश की वृद्धि में एक ही विकल्प है, किन्तु विशुद्धि की वृद्धि में दो विकल्प हैं—स्वस्थान में स्थित रहता है और परस्थानरूप नीललेश्या में भी परिणत होता है।

नीललेश्यावाला संक्लेश की छह स्थानपतित वृद्धि के द्वारा स्वस्थान में परिणत होता है और अनन्तगुणी संक्लेशवृद्धि के द्वारा कृष्णलेश्या में भी परिणत होता है। इस प्रकार यहाँ दो विकल्प हैं।

यदि वह विशुद्धि को प्राप्त होता है तो पूर्वोक्त क्रम से स्वस्थान में स्थित रहकर हानि को प्राप्त होता है तथा अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा वृद्धिगत होकर कापोत लेश्या में भी परिणत होता है। इस प्रकार इसमें भी दो विकल्प हैं।

परिणमन का यही क्रम अन्य लेश्याओं में भी है। विशेष इतना है कि शुक्ललेश्या में संक्लेश की अपेक्षा दो विकल्प हैं, किन्तु विशुद्धि की अपेक्षा उसमें एक ही विकल्प है, क्योंकि यह सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध लेश्या है।

आगे क्रम से इन छहों लेश्याओं में तीव्रता और मन्दता के आश्रय से संक्रम और प्रतिग्रह से सम्बद्ध अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है (पु० १६, पृ० ४९३-९७)।

१६. सात-असात अनुयोगद्वार

यहाँ समुत्कीर्तना, अर्थपद, पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन पाँच अधिकारों में साता-असाता विषयक विचार किया गया है। यथा—

समुत्कीर्तना में एकान्तसात, अनेकान्तसात, एकान्तअसात और अनेकान्तअसात के अस्तित्व को प्रकट किया गया है।

अर्थपद के प्रसंग में यह दिखलाया गया है कि जो कर्म सात रूप से बांधा गया है वह संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होकर सात रूप से ही वेदा जाता है, यह एकान्तसात का लक्षण है। इसके विपरीत अनेकान्तसात है।

जो कर्म असातस्वरूप से बांधा जाकर संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होकर असातस्वरूप से ही वेदा जाता है उसे एकान्तअसात कहते हैं। इसके विपरीत अनेकान्त-असात है।

पदमीमांसा में उक्त एकान्त-अनेकान्त सात-असात के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य पदों के अस्तित्व मात्र का वर्णन है।

स्वामित्व के प्रसंग में उत्कृष्ट एकान्तसात के स्वामी का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अभव्यसिद्धिक प्रायोग्य सातवीं पृथिवी का नारक गुणितकर्मांशिक वहाँ से निकलकर सर्वलघु-काल में इकतीस सागरोपमप्रमाण आयुस्थिति वाले देवलोक को प्राप्त होने वाला है, उस सातवीं पृथिवी के अन्तिम समयवर्ती नारक के उत्कृष्ट एकान्तसात होता है। कारण यह कि उसके सातवेदन के काल सबसे महान् और बहुत होंगे। इसी प्रकार आगे उत्कृष्ट अनेकान्त-सात, उत्कृष्ट एकान्तअसात और उत्कृष्ट अनेकान्तअसात के स्वामियों का भी विचार किया गया है।

अल्पबहुत्व में उपर्युक्त एकान्तसात आदि के विषय में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

१७. दीर्घ-ह्रस्व अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में दीर्घ के ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रकृतिदीर्घ, स्थितिदीर्घ, अनुभागदीर्घ और प्रदेशदीर्घ। इनमें प्रकृतिदीर्घ मूल और उत्तरप्रकृतिदीर्घ के भेद से दो प्रकार का है। मूल प्रकृतिदीर्घ भी दो प्रकार का है—प्रकृतिस्थानदीर्घ और एक-एक प्रकृतिस्थानदीर्घ। इन्हें स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आठों प्रकृतियों के बँधने पर प्रकृतिदीर्घ और उनसे कम के बँधने पर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। यही अभिप्राय सत्त्व और उदय के विषय में भी व्यक्त किया गया है।

उत्तरप्रकृतिदीर्घ—पांच ज्ञानावरणीय और पांच अन्तराय में प्रकृतिदीर्घ का प्रतिषेध करते हुए नौ दर्शनावरणीय प्रकृतियों के बांधनेवाले के प्रकृतिदीर्घ कहा गया है और उनसे कम बांधने वाले के उसका निषेध किया गया है। यही प्रक्रिया उनके सत्त्व और उदय के विषय में भी व्यक्त की गयी है।

वेदनीय के बन्ध और उदय का आश्रय करके प्रकृतिदीर्घ सम्भव नहीं है, किन्तु सत्त्व की अपेक्षा वह सम्भव है क्योंकि अयोगिकेवली के अन्तिम समय में एक प्रकृति के सत्त्व की अपेक्षा द्विचरम आदि समयों में दो प्रकृतियों के सत्त्व की दीर्घता उपलब्ध होती है।

इसी प्रकार से आगे यथासम्भव मोहनीय, आयु, नामकर्म और गोत्रकर्म के आश्रय से बन्ध, उदय और सत्त्व की अपेक्षा उस प्रकृतिदीर्घता को स्पष्ट किया गया है।

इसी पद्धति से स्थितिदीर्घता और अनुभागदीर्घता के विषय में भी विचार किया गया है। साथ ही, चार प्रकार की प्रकृतिह्रस्वता के विषय में भी चर्चा की गयी है।

१८. भवधारणीय अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में भव के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभव। इनमें आठ कर्मों अथवा उनसे उत्पन्न जीव के परिणाम का नाम ओघभव है। चार गतिनामकर्मों अथवा उनसे उत्पन्न जीव के परिणाम को आदेशभव कहा जाता है। यह आदेशभव नारकभव आदि के भेद से चार प्रकार का है। जिसका भुज्यमान आयुकर्म गल चुका है तथा अपूर्व आयुकर्म उदय को प्राप्त हो चुका है उसके प्रथम समय में जो 'व्यंजन' संज्ञावाला जीवपरिणाम होता है उसे अथवा पूर्व शरीर के परित्यागपूर्वक उत्तर शरीर के ग्रहण को भवग्रहणभव कहते हैं। यही यहाँ प्रसंगप्राप्त है।

भव के इन भेदों और उनके स्वरूप का निर्देश करके, वह किसके द्वारा धारण किया जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह मात्र आयुकर्म के द्वारा धारण किया जाता है, शेष सात कर्मों के द्वारा नहीं; क्योंकि उनका व्यापार अन्यत्र उपलब्ध होता है। वह भव इस भव-सम्बन्धी आयु के द्वारा धारण किया जाता है, न कि परभव-सम्बन्धी आयु के।

अन्त में यहाँ यह सूचित कर दिया गया है कि जिस प्रदेशाग्र से भव को धारण करता है उसकी प्ररूपणा जिस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व के आश्रय से वेदना अनुयोगद्वार में की गयी है, उसी प्रकार यहाँ भी करनी चाहिए (पु० १६, पृ० ५१२-१३)।

१९. पुद्गलात्त अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में प्रथमतः पुद्गल के नाम-स्थापनादिरूप चार भेदों का निर्देश करते हुए

तद्व्यतिरिक्त नोआगम-द्रव्यपुद्गल को यहाँ प्रकृत कहा गया है।

'पुद्गलात्त' में जो 'आत्त' शब्द है उसका अर्थ गृहीत या ग्रहण है। तदनुसार 'पुद्गलात्त' से ग्रहण किये गये अथवा आत्मसात् किये गये पुद्गल अभिप्रेत हैं। वे पुद्गल छह प्रकार से ग्रहण किये जाते हैं—ग्रहण से, परिणाम से, उपभोग से, आहार से, ममत्व से और परिग्रह से।

हाथ-पाँव आदि से जो दण्ड आदि पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ग्रहण से गृहीत पुद्गल हैं। मिथ्यात्व आदि परिणाम द्वारा जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे परिणाम से गृहीत पुद्गल है। गन्ध व ताम्बूल आदि उपभोग में आनेवाले पुद्गल उपभोग से गृहीत पुद्गल कहलाते है। भोजन-पान आदि रूप जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण किया जाता है, वे आहार से ग्रहण किये गये पुद्गल माने जाते हैं। अनुरागवश जिन पुद्गलों को ग्रहण किया जाता है, उन्हें ममत्व से आत्त पुद्गल कहा जाता है। जो पुद्गल परिग्रह के रूप में स्वाधीन होते हैं वे परिग्रह से आत्त पुद्गल कहलाते हैं।

आगे विकल्प के रूप में 'आत्त' इस प्राकृत शब्द का अर्थ आत्मा या स्वरूप किया गया है। तदनुसार पुद्गलों का जो रूप-रसादि स्वरूप है उसे पुद्गलात्त समझना चाहिए। उनमें जो अनन्तभागादिरूप छह वृद्धियाँ होती हैं, उनकी प्ररूपणा जैसे भावविधान में की गयी है, वैसे ही यहाँ भी करनी चाहिए, ऐसी सूचना यहाँ कर दी गयी है (पु० १६, पृ० ५१४-१५)।

२०. निधत्त-अनिधत्त अनुयोगद्वार

निधत्त और अनिधत्त ये दोनों प्रकृति-स्थिति आदि के भेद से चार-चार प्रकार के हैं।

जिस प्रदेशाग्र को न उदय में दिया जा सकता है और न अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त भी किया जा सकता है, किन्तु जिसका अपकर्षण और उत्कर्षण किया जा सकता है, उसका नाम निधत्त है। अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट हुए उपशामक व क्षपक के सब कर्म अनिधत्तस्वरूप में रहते हैं, क्योंकि उनमें निधत्त के सब लक्षणों का विनाश हो चुका होता है। अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना करनेवाले के अनिवृत्तिकरण में चार अनन्तानुबन्धी तो अनिधत्त हैं, किन्तु शेष कर्म निधत्त और अनिधत्त दोनों प्रकार के होते हैं। दर्शनमोहनीय के उपशामक और क्षपक के अनिवृत्तिकरण में दर्शनमोहनीय कर्म ही अनिधत्त होता है, शेष कर्म निधत्त भी होते हैं और अनिधत्त भी।

आगे यहाँ यह सूचना कर दी गयी है कि इस अर्थपद के अनुसार मूल प्रकृतियों का आश्रय करके चौबीस अनुयोगद्वारों द्वारा इस निधत्त और अनिधत्त की प्ररूपणा करनी चाहिए।

२१. निकाचित-अनिकाचित्त अनुयोगद्वार

यहाँ प्रकृतिनिकाचित आदि के भेद से चार प्रकार के निकाचित का अस्तित्व दिखाकर उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रदेशाग्र का अपकर्षण, उत्कर्षण और अन्य प्रकृतिरूप संक्रम नहीं किया जा सकता है तथा जिसे उदय में भी नहीं दिया जा सकता है, उसका नाम निकाचित है। आगे यह स्पष्ट किया गया है कि अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट हुए जीव के सब कर्म अनिकाचित और उसके नीचे निकाचित व अनिकाचित भी होते हैं। पूर्व अनुयोगद्वार के समान यहाँ भी यह सूचित किया गया है कि इस अर्थपद के अनुसार निकाचित और अनिकाचित की प्ररूपणा चौबीस अनुयोगद्वारों के आश्रय से करनी चाहिए।

उपशान्त, निधत्त और निकाचित के संनिकर्ष के प्रसंग में कहा गया है कि अप्रशस्त उपशामना से जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है, वह निधत्त और निकाचित नहीं होता। जो प्रदेशाग्र निधत्त होता है वह उपशान्त और निकाचित नहीं होता है। जो प्रदेशाग्र निकाचित होता है वह उपशान्त और निधत्त नहीं होता।

अल्पबहुत्व के प्रसंग में बतलाया है कि जिस किसी भी एक प्रकृति का अधःप्रवृत्त संक्रम स्तोक, उससे उपशान्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा, निधत्त उससे असंख्यातगुणा और निकाचित उससे असंख्यातगुणा होता है।[1]

२२. कर्मस्थिति अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में भिन्न दो उपदेशों का उल्लेख है। तदनुसार नागहस्ती क्षमाश्रमण जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों के प्रमाण की प्ररूपणा को कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। किन्तु आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण कर्मस्थिति में संचित सत्कर्म की प्ररूपणा को कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। इस प्रकार दो उपदेशों से कर्मस्थिति की प्ररूपणा करनी चाहिए (पु० १६, पृ० ५१८)।

इतना स्पष्ट करके इस कर्मस्थिति अनुयोगद्वार को यहीं समाप्त कर दिया गया है।

२३. पश्चिमस्कन्ध अनुयोगद्वार

इस अनुयोगद्वार में पूर्वप्ररूपित भवधारणीय (१८) अनुयोगद्वार के समान भव के ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभव इन तीन भेदों का निर्देश है। उनमें यहाँ भवग्रहणभव प्रसंगप्राप्त है। आगे कहा गया है कि जो अन्तिम भव है उसमें जीव की सब कर्मों की बन्धमार्गणा, उदयमार्गणा, उदीरणामार्गणा, संक्रममार्गणा और सत्कर्ममार्गणा ये पाँच मार्गणाएँ इस पश्चिमस्कन्ध अनुयोगद्वार में की जाती हैं।

आगे यह निर्देश किया गया है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशाग्र इनका आश्रय लेकर इन पाँच प्ररूपणाओं के कर चुकने के बाद अन्तिम भवग्रहण में सिद्ध होनेवाले जीव की यह अन्य प्ररूपणा करनी चाहिए—

आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर जीव आवर्जितकरण[2] को करता है। आवर्जितकरण के कर चुकने पर वह केवलिसमुद्घात को करता है। उसे करते हुए प्रथम समय में दण्ड को करता है। उसमें वह स्थिति के असंख्यात बहुभाग तथा अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग के अनन्त बहुभाग को नष्ट करता है। द्वितीय समय में कपाट को करता है। उसमें वह शेष स्थिति के

---

१. धवला, पु० १६, पृ० ५१७

२. केवलिसमुग्घादस्स अहिमुहीभावो आवज्जिदकरणमिदि।—धवला, पु० १०, पृ० ३२५ का टिप्पण ७।

अपरे आवर्जितकरणमित्याहुः। तत्रायं शब्दार्थः— आवर्जितो नाम अभिमुखीकृतः। तथा च लोके वक्तारः आवर्जितो मया, अभिमुखीकृतः इत्यर्थः। ततश्च तथा भव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं क्रिया शुभोपयोगकारणं आवर्जितकरणम्।—प्रज्ञाप० मलय० वृ० ३६, पृ० ६०४ व पंचसं०मलय०वृत्ति १-१५, पृ० २८ (जैन लक्षणावली १, पृ० २१५) इसे 'आयोजिकाकरण' भी कहा गया है।

असंख्यात बहुभाग को तथा शेष अनुभाग के अनन्त बहुभाग को नष्ट करता है। तीसरे समय में मन्थ को करता है। उसमें भी वह स्थिति और अनुभाग को उसी प्रकार से नष्ट करता है। तत्पश्चात् चौथे समय में लोक को पूर्ण करता है और उसमें भी स्थिति और अनुभाग को उसी प्रकार से नष्ट करता है। उस समय वह स्थितिसत्त्व को आयु से संख्यातगुणे अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है।[1]

यह प्ररूपणा कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्रों पर अधारित है, जो प्रायः शब्दशः समान है।[2]

स्थितिघात व अनुभागघात का क्रम स्पष्ट करते हुए योगनिरोध के प्रसंग में कहा गया है —फिर अन्तर्मुहूर्त जाकर वचन-योग का निरोध करता है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर मनोयोग का निरोध करता है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करता है, फिर अन्तर्मुहूर्त जाकर काययोग का निरोध करता है।

इसके पूर्व धवला में इस योगनिरोध के क्रम की प्ररूपणा इस प्रकार की जा चुकी है—

× × × यहाँ से अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर काययोग से बादर मनयोग का निरोध करता है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर काययोग से बादर वचनयोग का निरोध करता है, पश्चात् बादर काययोग से बादर उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करता है, पश्चात् बादरकाययोग से उसी बादर काययोग का निरोध करता है। पश्चात् सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है, पश्चात् सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है, पश्चात् सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म उच्छ्वास का निरोध करता है, पश्चात् सूक्ष्म काययोग से उसी सूक्ष्म काययोग का निरोध करता है।[3]

योगनिरोध की यह प्ररूपणा[4] व इसके आगे-पीछे का प्रसंग भी प्रायः कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्रों पर आधारित है, जो प्रायः शब्दशः समान हैं।

'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' में इसका विचार करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि तीर्थंकर व इतर केवली की जब अन्तर्मुहूर्तमात्र आयु शेष रह जाती है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघाती कर्मों की स्थिति आयु के ही समान रहती है; तब वह सब वचनयोग, मनोयोग और बादर काययोग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेता हुआ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान पर आरूढ़ होने के योग्य होता है। किन्तु जब आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और उन तीन अघाती कर्मों की स्थिति उससे अधिक रहती है, तब सयोगी जिन दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को विसर्पण की अपेक्षा चार समयों में करके तदनन्तर चार समयों में उनका संकोच करते हुए शेष रहे अघाती कर्मों की स्थिति को समान

---

१. इसके पूर्व इस केवलिसमुद्घात की प्ररूपणा धवला में कितने ही प्रसंगों पर की जा चुकी है। देखिए पु० १, पृ० ३०१-४; पु० ४, पृ० २८-२९; पु० ६, पृ० ४१२-१४; पु० १०, पृ० ३२०-२१ (पु० ४ और १० में इन दण्डादि समुद्घातों में फैलने वाले जीवप्रदेशों के आयाम, विष्कम्भ, परिधि और बाहल्य आदि के प्रमाण को भी स्पष्ट किया गया है।)

२. क० प्रा० चूर्णि १-१९ (क० पा० सुत्त पृ० ९००-३)

३. धवला, पु० ६, पृ० ४१४-१५

४. क० प्रा० चूर्णि २०-२८; क० पा० सुत्त, पृ० ९०४ ('पश्चिमस्कन्ध' का यह अधिकांश भाग कषायप्राभृत चूर्णि से शब्दशः समान है)।

करते हैं व पूर्व शरीर के प्रमाण हो जाते हैं, उस समय वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं।[1]

धवला में आगे इस प्रसंग में उक्त प्रकार से काययोग का निरोध करता हुआ वह जिन अपूर्वस्पर्धक आदि करणों को करता है, उन्हें स्पष्ट किया गया है। आगे कहा गया है कि कृष्टिकरण के समाप्त होने पर अनन्तर समयों में अपूर्वस्पर्धकों और पूर्वस्पर्धकों को नष्ट करता है व अन्तर्मुहूर्त कृष्टिगतयोग होकर सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती ध्यान को ध्याता है। कृष्टियों के अन्तिम समय में असंख्यात वहुभाग को नष्ट करता है। योग का निरोध हो जाने पर आयु के समान कर्मों को करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त शैलेश्य[2] अवस्थान को प्राप्त होकर समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति ध्यान को ध्याता है। शैलेश्य काल के क्षीण हो जाने पर वह समस्त कर्मों से रहित होकर एक समय में सिद्धि को प्राप्त करता है।[3]

यह सब प्ररूपणा भी प्रायः पूर्वोक्त कपायप्राभृतचूर्णि से शब्दशः समान है—चूर्णि २७-५१ (क०पा० सुत्त, पृ० ९०४-६)।

इस प्रकार यह पश्चिमस्कन्ध अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

२४. अल्पवहुत्व अनुयोगद्वार

यहाँ सर्वप्रथम यह सूचना की गयी है कि नागहस्ती भट्टारक अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में सत्कर्म का मार्गण करते हैं और यही उपदेश परम्परागत है। तत्पश्चात् उस सत्कर्म के ये चार भेद निर्दिष्ट किए गए हैं—प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और प्रदेशसत्कर्म। इनमें प्रकृतिसत्कर्म मूल और उत्तरप्रकृतिसत्कर्म के भेद से दो प्रकार का है। मूल प्रकृतियों के साथ स्वामित्व को ले जाकर उत्तरप्रकृतियों के सत्कर्म-सम्बन्धी स्वामित्व की प्ररूपणा की

---

१. स०सि० ९-४४ व त०वा० ९-४४; यह प्रसंग ज्ञानार्णव (३९, ३७-४६ या २१८४-९४) में भी द्रष्टव्य है।

२. 'शीलानामीशः शैलेशः, तस्य भावः शैलेश्यम्' इस निरुक्ति के अनुसार शैलेश्य का अर्थ है समस्त (१८०००) शीलों का स्वामित्व। जयध० (पश्चिमस्कन्ध)।

अन्यत्र सर्वसंवरस्वरूप चारित्र के स्वामी को शैलेश और उसकी अवस्था को शैलेषी कहा गया है। प्रकारान्तर से शैलेश का अर्थ मेरु करके उसके समान स्थिरता को शैलेषी कहा गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अभय-वृत्ति १,८,७२ (जैन लक्षणावली ३, पृ० १०६६)।

सेलेसो किर मेरु सेलेसी होई जा तहाऽचलया।
होडं च असेलेसो सेलेसी होइ थिरयाए ॥७॥
अहवा सेलुव्व इसी सेलेसी होइ सोउ थिरयाए।
सेव अलेसी होई सेलेसी हो आलोवाओ ॥८॥
सीलं व समाहाणं निच्छयओ सव्वसंवरो सो य।
तस्सेसो सीलेसो सीलेसी होइ तयवत्थो ॥

—ध्यानश० गा० ७६, हरि० वृत्ति में उद्धृत

३. धवला पु० १६, पृ०५१९-२१

जाती है, ऐसी सूचना कर आगे कहा है कि पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अन्तराय इन प्रकृतियों से सम्बन्धित सत्कर्म के स्वामी सभी छद्मस्थ हैं। निद्रा और प्रचला के सत्कर्म के भी ये ही स्वामी हैं। विशेष इतना है कि अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के इनका सत्कर्म नहीं रहता। स्त्यानगृद्धि आदि तीन दर्शनावरण प्रकृतियों के सत्कर्म के भी स्वामी सभी छद्मस्थ हैं। विशेष इतना है कि अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होने पर अन्तर्मुहूर्त में उनका सत्कर्म व्युच्छिन्न हो जाता है। इस कारण आगे के छद्मस्थों के उनका सत्कर्म नहीं रहता है।

साता-असाता के सत्कर्म के स्वामी सभी संसारी जीव निर्दिष्ट किये गये हैं। विशेषता यह प्रकट की गयी है कि अन्तिमसमयवर्ती भव्यसिद्धि के जिसका उदय नहीं रहता, उसका सत्त्व नहीं रहता।

मोहनीय के सत्कर्म के विषय में यह सूचना कर दी गयी है कि उसके स्वामी की प्ररूपणा जिस प्रकार 'कषायप्राभृत' में की गयी है, उसी प्रकार से यहाँ करनी चाहिए।

नारकायु का सत्कर्म नारकी, मनुष्य और तिर्यंच के तथा मनुष्यायु और तिर्यंच आयु का सत्कर्म देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य इनमें से किसी के भी रहता है। देवायु का सत्कर्म देव, मनुष्य और तिर्यंच के रहता है।

इसी प्रकार से आगे गति-जाति आदि शेष सभी प्रकृतियों के सत्कर्म के स्वामियों का विचार किया गया है।

तत्पश्चात् एक जीव की अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर और संनिकर्ष के विषय में यह सूचना कर दी गयी है कि इनका कथन स्वामित्व से सिद्ध करके करना चाहिए (पु० १६, पृ० ५२२-२४)।

आगे स्वस्थान और परस्थान के भेद से दो प्रकार के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हुए यहाँ परस्थान अल्पबहुत्व की प्ररूपणा प्रथमतः ओघ से और तत्पश्चात् नरकादि गतियों के आश्रय से की गयी है।

भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि की असम्भावना प्रकट कर दी गयी है।

मोहनीय के प्रकृतिस्थानसत्कर्म के विषय में यह सूचना कर दी गयी है कि जिस प्रकार 'कषायप्राभृत' में मोहनीय के प्रकृस्थानसत्कर्म की प्ररूपणा की गयी है, उसी प्रकार से उसकी प्ररूपणा यहाँ करनी चाहिए।

शेष कर्मों के प्रकृतिस्थान की मार्गणा को सुगम बतलाकर प्रकृतिसत्कर्म की मार्गणा को समाप्त किया गया है।

स्थितिसत्कर्म के प्रसंग में उसके मूलप्रकृतिस्थितिसत्कर्म और उत्तरप्रकृतिस्थितिसत्कर्म इन दो भेदों का निर्देश है। उनमें मूलप्रकृतिस्थितिसत्कर्म को सुगम कहकर आगे उत्तरप्रकृतिसत्कर्म के प्रसंग में प्रथमतः उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म की और तत्पश्चात् जघन्यस्थितिसत्कर्म की प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार स्थितिसत्कर्म के प्रमाणानुगम को समाप्त किया गया है।

(पु० १६, पृ० ५२८-३१)

आगे क्रम से उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म और जघन्यस्थितिसत्कर्म के स्वामियों का विचार किया गया है। जैसे—

पाँच ज्ञानावरणीय प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म किसके होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो नियम से उनकी उत्कृष्ट स्थिति बाँधने वाला है उसके उनका उत्कृट स्थिति-

सत्कर्म होता है। इसी प्रकार से चार दर्शनावरणीय आदि अन्य प्रकृतियों के उत्कृष्टस्थिति-सत्कर्म के स्वामियों का विचार किया गया है।

जघन्यस्थितिकर्म—जैसे पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इनका जघन्य स्थितिसत्कर्म किसके होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उनका जघन्य स्थिति सत्कर्म अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के होता है। निद्रा और प्रचला का जघन्य स्थितिसत्कर्म द्विचरमवर्ती छद्मस्थ के होता है। स्त्यानगृद्धि आदि तीन दर्शनावरण प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-सत्कर्म उस अनिवृत्तिकरण में वर्तमान जीव के होता है जो उन तीन का निक्षेप करके एक समय कम आवलीकाल को बिता चुका है।

इसी क्रम से साता-असाता आदि अन्य प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसत्कर्म के स्वामियों के विषय में भी विचार किया गया है।

एक जीव की अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर और संनिकर्ष के विषय में यह सूचना कर दी गयी है कि इनका कथन स्वामित्व से जान करके करना चाहिए (धवला, पु० १६, पृ० ३३१-३८)।

अनुभागसत्कर्म के प्रसंग में प्रथमतः आदिस्पर्धकों की प्ररूपणा करते हुए 'घाती' और 'स्थान' संज्ञाओं को स्पष्ट किया गया है। पश्चात् उत्कृष्ट व जघन्य अनुभागसत्कर्म विषयक स्वामित्व का विचार करते हुए प्रथमतः उसका विचार ओघ से और तत्पश्चात् नरकादि गतियों के आश्रय से किया गया है (पु० १६, पृ० ५३८-४३)।

तत्पश्चात् नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों में उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म के अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण है (पृ० ५४४-४७)।

जघन्य अनुभागसत्कर्म के प्रसंग में अल्पबहुत्व का विचार करते हुए प्रथमतः उसकी प्ररूपणा ओघ से की गयी है। तत्पश्चात् उसकी प्ररूपणा नरकादि चार गतियों और एकेन्द्रियों में की गयी है। इस प्रकार अनुभागउदीरणा समाप्त हुई है।

प्रदेशउदीरणा के प्रसंग में मूलप्रकृतियों के आश्रय से कहा गया है कि उत्कर्ष से जो उत्कृष्ट प्रदेशाग्र उदीर्ण होता है वह आयु में स्तोक, वेदनीय में असंख्यातगुणा, मोहनीय में असंख्यातगुणा; ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इनमें समान होकर असंख्यातगुणा; तथा नाम व गोत्र में वह समान होकर असंख्यातगुणा होता है। आगे इन मूलप्रकृतियों में जघन्य प्रदेशाग्र विषयक अल्पबहुत्व को भी प्रकट किया गया है।

आगे मनुष्यगति के आश्रय से उदीयमान प्रदेशाग्र के अल्पबहुत्व को प्रकट करते हुए उसके अनन्तर एकेन्द्रियों के आश्रय से इसी अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है (पृ० ५५३-५५)।

तत्पश्चात् विपरिणामना उपक्रम से जो मार्गणा है वही मोक्ष अनुयोगद्वार में करने योग्य है, ऐसी सूचना करते हुए संक्रम के आश्रय से प्रकृत अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।[1]

आगे लेश्या (पृ० ५७१), लेश्यापरिणाम (५७२), लेश्याकर्म (५७२-७४), सात-असात (५७४-७५), दीर्घ-ह्रस्व (५७५), भवधारण (५७५), पुद्गलात्त (५७५-७६), निधत्त-अनिधत्त

---

१. धवला, पु० १६; पृ० ५५५-७१ (यह संक्रमविषयक अल्पबहुत्व की प्ररूपणा प्रकृतिसंक्रम (पृ० ५५५-५६), स्थितिसंक्रम (५५६-५७), अनुभागसंक्रम (५५७-५९) और प्रदेशसंक्रम (५५९-७१) के आश्रय से की गयी है।)

(५७६), निकाचित-अनिकाचित (५७६-७७), कर्मस्थिति (५७७) और पश्चिमस्कन्ध (५७७-७६) इन पूर्वोक्त अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए पृथक्-पृथक् कुछेक पदों आदि के उल्लेख के साथ कुछ विवेचन किया गया है, जो अधिकांश पुनरुक्त है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के प्रसंग में प्रथमतः यह सूचना है कि यहाँ महावाचक क्षमाश्रमण (सम्भवतः नागहस्ती) सत्कर्म का मार्गण करते हैं। आगे उत्तरप्रकृतिसत्कर्म से दण्डक किया जाता है, ऐसा निर्देश कर उत्तरप्रकृतियों के आश्रय से प्रकृतिसत्कर्म (पृ० ५७६-८०), केवल मोहनीय के आधार से प्रकृतिस्थानसत्कर्म (५८०-८१), स्थितिसत्कर्म (५८१), अनुभागसत्कर्म (५८१-८२) और प्रदेशाग्र (५८३-६३) को आधार बनाकर पृथक्-पृथक् प्रायः ओघ से नरकादि चारों गतियों में तथा एकेन्द्रियों में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

इस प्रकार अन्तिम अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार समाप्त हुआ है।

संतकम्मपंजिया (सत्कर्मपंजिका)

परिचय

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, आचार्य भूतबलि ने मूल 'षट्खण्डागम' में 'महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत' के अन्तर्गत २४ अनुयोगद्वारों में से प्रारम्भ के कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन इन छह अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की है; शेष निबन्धनादि १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उन्होंने नहीं की। उनकी प्ररूपणा षट्खण्डागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने अन्तिम सूत्र को देशामर्शक कहकर अपनी धवला टीका में की है।[1]

उन १८ अनुयोगद्वारों में निबन्धन (७), प्रक्रम (८), उपक्रम (९) और उदय (१०) इन चार अनुयोगद्वारों पर 'सत्कर्मपंजिका' नाम की एक पंजिका उपलब्ध होती है।[2] वह किसके द्वारा और कब लिखी गयी है, इसका संकेत वहाँ कहीं कुछ नहीं देखा जाता है। इस पंजिका को षट्खण्डागम की १५वीं पुस्तक में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया गया है।

सम्पादन के समय उसकी जो हस्तलिखित प्रति[3] मूडबिद्री से प्राप्त हुई थी वह बहुत अशुद्ध और बीच-बीच में कुछ स्खलित भी रही है। उसके प्रारम्भ में पंजिकाकार के द्वारा जिस गाथा में मंगल किया गया है उसका पूर्वार्द्ध भाग स्खलित है। उत्तरार्द्ध उसका इस प्रकार है—

वोच्छामि संतकम्मे पंचि[जि]यरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥

इसमें पंजिकाकार ने 'सत्कर्म' के ऊपर पंजिका के रूप में महान् अर्थ से परिपूर्ण 'विवरण' के लिखने की प्रतिज्ञा की है। गाथा के पूर्वार्ध में उन्होंने क्या कहा है, यह ज्ञात नहीं हो सका। सम्भव है, वहाँ उन्होंने मंगल के रूप में किसी तीर्थंकर या विशिष्ट आचार्य आदि का स्मरण किया हो। अन्तिम पुष्पिकावाक्य इस प्रकार है—

॥ एवमुदयाणिओगद्दारं गदं ॥

॥ समाप्तोऽयमुद्ग्रन्थः ॥

श्रीमन्माघनंदिसिद्धान्तदेवर्गे सत्कर्मदपंजियं श्रीमदुदयादित्यं बरेदं। मंगलमहः।

आगे 'अस्यांत्यप्रशस्ति' के रूप में और कुछ कनाड़ी में लिखा गया उपलब्ध होता है।

---

१. धवला, पु० १५, पृ० १

२. सम्भव है, वह सभी (१८) अनुयोगद्वारों पर लिखी गयी है, किन्तु उपलब्ध वह निबन्धन आदि चार अनुयोगद्वारों पर ही है।

३. यह प्रति पं० लोकनाथजी शास्त्री के शिष्य पं० देवकुमारजी के द्वारा मूडबिद्री के 'वीर-वाणीविलास, जैन सिद्धान्त भवन' की प्रति पर से लिखी गयी है।

उत्थानिका

पंजिका के प्रारम्भ में उत्थानिका के रूप में यह उल्लेख है—'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के चौबीस अनुयोगद्वारों से कृति (१) और वेदना (२) अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वेदना-खण्ड में की गयी है। आगे [(३) स्पर्श, (४) कर्म, (५) प्रकृति और (६) बन्धन] अनुयोगद्वारों में से बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत बन्ध और बन्धनीय इन दो अनुयोगद्वारों के साथ स्पर्श, कर्म और प्रकृति की प्ररूपणा वर्गणा-खण्ड में की गयी है। बन्धनविधान नामक अनुयोगद्वार की प्ररूपणा महाबन्ध (छठे खण्ड) में और बन्धक अनुयोगद्वार की प्ररूपणा क्षुद्रकबन्ध खण्ड में विस्तार से की गयी है। शेष अठारह अनुयोगद्वारों (७-२४) की प्ररूपणा सत्कर्म में की गयी है। तो भी उसके अतिशय गम्भीर होने से अर्थविषयक पदों के अर्थों को यहाँ हम हीनाधिकता के साथ पंजिका के रूप से कहेंगे।[1]

अर्थविवरणपद्धति

भूमिका के रूप में इतना स्पष्ट करके आगे वहाँ यह कहा गया है कि इन अठारह अनुयोगद्वारों में प्रथम निबन्धन अनुयोगद्वार की प्ररूपणा सुगम है। विशेष इतना है कि उसके निक्षेप की जो छह प्रकार से प्ररूपणा की गयी है उसमें तीसरे निक्षेप द्रव्यनिक्षेप के स्वरूप की प्ररूपणा के लिए आचार्य[2] इस प्रकार से कहते हैं—

"जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो तं दव्वणिबंधणमिदि।"—निबन्धन अनु०, पृ० २ (धवला पु० १५)।

इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए पंजिका में कहा गया है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से परिणत संसारी जीव जीवविपाकी, पुद्‌गलविपाकी, भवविपाकी और क्षेत्रविपाकी स्वरूप कर्मपुद्‌गलों को बाँधता है व उनके आश्रय से चार प्रकार के फलस्वरूप अनेक प्रकार की पर्यायों को प्राप्त करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। इन पर्यायों का परिणमन पुद्‌गल-निबन्धन है। मुक्त जीव के इस प्रकार का निबन्धन नहीं है, वह स्वस्थान से पर्यायान्तर को प्राप्त होता है।

आगे **'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो'** का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जीवद्रव्य का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है। दो प्रकार के जीवों का वह ज्ञान-स्वभाव विवक्षित जीवों से भिन्न जीव व पुद्‌गल आदि सब द्रव्यों के जानने रूप से पर्यायान्तर-प्राप्ति का निबन्धन है। इसी प्रकार दर्शन के विषय में भी कहना चाहिए।

पश्चात् 'जीवद्रव्य का धर्मास्तिकाय के आश्रय से होनेवाले परिणमन का विधान कहा जाता है' ऐसा कहते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों का आनुपूर्वी कर्म के उदय से, विहायोगति कर्म के उदय से, और मरणान्तिकसमुद्‌घात के वश

---

१. संतकम्मपंजिया (परिशिष्ट), पृ० २

२. यहाँ आचार्य के नाम का निर्देश नहीं किया गया है। उत्थानिका में यह कहा गया है—
······पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविषमपदाणमत्थे थोसत्थयेण पंजियसरूवेण भणिस्सामो।
—पंजिका पृ० १ (पु० १५ का परिशिष्ट)

गतिपर्याय से परिणत होने पर गमन सम्भव है, कर्म से रहित (मुक्त) जीवों का भी ऊर्ध्वगमन परिणाम सम्भव है; यह धर्मास्तिकाय के स्वभाव की सहायता रूप निमित्तभेद से होता है, क्योंकि वह पृथक्-पृथक् पर्याय से परिणत संसारी जीवों के पृथक्-पृथक् क्षेत्रो मे गमन का हेतु है। धर्मास्तिकाय से रहित क्षेत्रों में पूर्वोक्त गमन की सम्भावना भी नहीं है।

इसी प्रकार से आगे अधर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों के आश्रय से प्रकृत निवन्ध का निरूपण है।

'निवन्धन' अनुयोगद्वार के अन्तर्गत केवल उपर्युक्त एक प्रसंग को वतलाकर उससे सम्बद्ध पंजिका को समाप्त कर दिया गया है।[1]

आगे 'अब प्रक्रम अधिकार के उत्कृष्ट प्रक्रमद्रव्य सम्बन्धी उक्त अल्पबहुत्व के विषय में हम विवरण देंगे' इस सूचना के साथ प्रक्रम अनुयोगद्वार में प्ररूपित अल्पबहुत्व मे से कुछ प्रसंगों को लेकर उनका विवेचन है। बीच-बीच में यहाँ व आगे भी कुछ अंक-संदृष्टियाँ दी गयी हैं, पर उनके विषय में कुछ काल्पनिक सूचना नहीं है। इसके अतिरिक्त वे कुछ अव्यवस्थित और अशुद्ध भी हैं। इससे उनका समझना कठिन रहा है।[2]

पंजिकाकार के द्वारा इस पंजिका में प्रसंगप्राप्त अल्पबहुत्व के अतिरिक्त प्राय: अन्य किसी विषय का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। उक्त अल्पबहुत्व से सम्बद्ध पंजिका को 'एवं पक्क-माणियोगो गदो' इस सूचना के साथ समाप्त कर दिया गया है।

संतकम्मपाहुड

उपक्रम अनुयोगद्वार को प्रारम्भ करते हुए मूलग्रन्थकार ने उपक्रम के भेद-प्रभेदों का निर्देश करके यह सूचना की है कि बन्धनोपक्रम के प्रकृतिबन्धनोपक्रम, स्थितिबन्धनोपक्रम, अनुभाग-वन्धनोपक्रम और प्रदेशवन्धनोपक्रम इन चार भेदों की प्ररूपणा जैसे 'सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत' में की गयी है वैसे ही यहाँ करनी चाहिए।[3]

यहाँ जो 'सत्कर्मप्राभृत' का उल्लेख है उसके स्पष्टीकरण में पंजिकाकार कहते हैं कि महा-कर्मप्रकृतिप्राभृत के चौवीस अनुयोगद्वारों में दूसरा 'वेदना' नाम का अनुयोगद्वार है। उसके सोलह अनुयोगद्वारों में चौथा, छठा और सातवाँ ये तीन अनुयोगद्वार क्रम से द्रव्यविधान, काल-विधान और भावविधान नामवाले हैं। उस महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का पाँचवाँ 'प्रकृति' नाम का अधिकार है। वहाँ चार अनुयोगद्वारों में आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशसत्त्व की प्ररूपणा करके उत्तरप्रकृतियों के सत्त्व की सूचना की गयी है। इससे ये 'सत्कर्मप्राभृत' हैं। मोहनीय की अपेक्षा कषायप्राभृत भी है।[4]

यहाँ पंजिकाकार का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। वे 'सत्कर्मप्राभृत' किसे कहना चाहते हैं, यह उनकी भाषा से स्पष्ट नहीं होता। सन्दर्भ इस प्रकार है—

"संतकम्मपाहुडं तं कध(द)मं? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीसअणियोगद्दारेसु बिदिया-

---

१. संतकम्मपंजिया (पु० १५, परिशिष्ट), पृ० १-३
२. वही, पृ० ३-१७
३. संतकम्मपंजिया, धवला, पु० १५, पृ० ४३
४. देखिये पंजिका, पृ० १८

हियारो वेदणा णाम । तस्स सोलसअणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमाणि योगद्दाराणि दव्व-काल-भावविहाणणामधेयाणि । पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पंचमो पयडीणामहियारो । तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठकम्माणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभागप्पदेससत्ताणि परूविय सूचि-दुत्तरपयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेससत्तादो (?) एदाणि सत्त (संत ?) कम्मपाहुडं णाम । मोहणीयं पडुच्च कसायपाहुडं पि होदि ।" —संतकम्मपंजिया, पृ० १८ (पु० १५, परिशिष्ट) ।

यहाँ 'तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि' से पंजिकाकार को क्या अभीष्ट है, यह ज्ञात नहीं होता । क्या वे इससे उपर्युक्त 'वेदना' के अन्तर्गत चौथे, छठे और सातवें इन तीन अनुयोगद्वारों में 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के पाँचवें प्रकृतिअनुयोगद्वार को सम्मिलित कर चार अनुयोगद्वारों को ग्रहण करना चाहते हैं या 'तत्थ' से प्रकृति अनुयोगद्वार को लेकर उसमें चार अनुयोगद्वारों को दिखलाना चाहते हैं ? ऐसा कुछ भी स्पष्ट नहीं होता ।

ऊपर-निर्दिष्ट 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में कोई चार अनुयोगद्वार नहीं हैं । वहाँ मूल व उनकी उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख मात्र है । वहाँ स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के सत्त्व का भी विचार नहीं किया गया है ।[1]

'वेदना' के अन्तर्गत चौथे वेदना द्रव्यविधान, छठे वेदनाकालविधान और सातवें वेदन भावविधान में यथाक्रम से द्रव्य, काल और भाव की अपेक्षा आठों की वेदना का विचार किया गया है । स्थिति आदि पर कुछ भी विचार नहीं किया गया[2]; जैसा कि पंजिकाकार ने निर्देश किया है ।

निष्कर्ष यह है कि आचार्य वीरसेन ने जिस 'सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत' का उल्लेख किया है, वस्तुतः पंजिकाकार उससे परिचित नहीं रहे । उन्होंने जो उसका परिचय कराया है वह अस्पष्ट व काल्पनिक है ।

'संतकम्मपाहुड' और 'संतकम्मपयडिपाहुड' इन ग्रन्थनामों का उल्लेख धवला में चार बार हुआ है ।[3] ये दो नाम पृथक्-पृथक् दो ग्रन्थों के रहे हैं या एक ही किसी ग्रन्थ के रहे हैं, यह अभी अन्वेषणीय ही बना हुआ है ।

यदि आचार्य भूतवलि के द्वारा 'सत्कर्मप्राभृत' या 'सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत' जैसे किसी खण्ड-ग्रन्थ की भी रचना की गयी हो तो यह असम्भव नहीं दिखता । अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में ही कोई ऐसा प्रकरण रहा हो, जिसका उल्लेख सत्कर्मप्राभृत के नाम से किया गया हो । कारण यह कि धवलाकार ने 'सत्कर्मप्राभृत' और 'कषायप्राभृत' के मध्य में जिन मतभेदों का उल्लेख किया उनका सम्बन्ध 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' और आ० भूतवलि के साथ अधिक रहा है ।

आगे, इसी प्रकार से प्रकृत उपक्रम अनुयोगद्वार में उदीरणा (पृ० १८-७३), उपशामना (पृ० ७३-७४) व विपरिणामणा (पृ० ७४) के प्रसंग में तथा उदयानुयोगद्वारगत उदय के प्रसंग

---

१. यह प्रकृति अनुयोगद्वार प०ख० पु० १३ में द्रष्टव्य है ।

२. वेदनाद्रव्यविधान (पु० १०) में वेदनाकालविधान (पु० ११) में और वेदनाभावविधान (पु० १२) में समाविष्ट हैं ।

३. धवला, पु० १, पृ० २१७ (संतकम्मपाहुड), पु० ९, पृ० ३१८ (संतकम्मपयडिपाहुड), पु० ११, पृ० २१ (संतकम्मपाहुड) और पु० १५, पृ० ४३ (संतकम्मपयडिपाहुड) ।

(पृ० ७५-११४) में जो भी स्पष्टीकरण पंजिकाकार के द्वारा किया गया है वह प्राय: अल्पबहुत्व को लेकर ही किया गया है जो दुरूह व अस्पष्ट है ।

समीक्षा

इस सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पंजिकाकार का भाषा पर कुछ अधिकार नहीं रहा है। उन्होंने अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए जिन पदों व वाक्यों का प्रयोग किया है वे असम्बद्ध व अव्यवस्थित रहे हैं। साथ ही, वे सिद्धान्त के कितने मर्मज्ञ रहे हैं, यह भी कुछ कहा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त उन्होंने वीरसेनाचार्य के मन्तव्यों व वाक्यों का प्रचुरता से उपयोग किया है, पर इससे वे वीरसेनाचार्य जैसे गम्भीर विद्वान् तो सिद्ध नहीं होते। इस सब का स्पष्टीकरण यहाँ कुछेक उदाहरणों द्वारा किया जाता है—

भाषा

(१) धर्मास्तिकाय के निमित्त से जीवों का परिणमन कैसा होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"संसारे भमंतजीवाणं आणुपुव्विकम्मोदय-विहायगदिकम्मोदयवसेण मुक्कमारणंतियवसेण च गदिपज्जायेण परिणदाणं गमणस्स संभवो पुणो कम्मविरहिदजीवाणं उड्ढगमणपरिणामसंभवो च धम्मत्थिकायस्स सहावसहायसरूवणिमित्तभेदेण होदि। तं कथं जाणिज्जदे? पुह-पुह पज्जाय-परिणद-संसारिजीवाणं पुह पुह खेत्तेसु णिबंधणातिविहसरूवगमणाणं हेदुत्तादो धम्मत्थियविर-हिदखेत्तेसु पुव्वुत्तचउव्विहसरूवगमणाभावादो च।"

—पंजिका, पृ० १ (पु० १५ का परिशिष्ट)।

वैसे तो उपर्युक्त सभी सन्दर्भ भाषा की दृष्टि से विचारणीय हैं, पर रेखांकित पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

(२) कालनिबन्धन के विषय में यह कहा गया है—

"पुणो कालदव्वस्स सहावणिबंधणं जीव-पोग्गल-धम्माधम्मागासदव्वाणमत्थवंजणपज्जा-येसु गच्छंताणं सहायसरूवेण णिबंधणं होदि जहा कुंभारहेट्ठिमसिलो व्व।"—पृ० ३

(३) एक सौ बीस बन्धप्रकृतियों की संख्या के विषय में—

"पुणो वण्ण-रस-गंध-फासाणं दव्वट्ठियणयेण सामण्णसरूवेण एत्थ गहणादी। तेसिं संखम्मि चत्तारि-एग-चत्तारि-सत्त चेव संखाणि अवणिदा।"—पृ० ६

(४) "एदेसिं दोण्हमुवदेसेसु कधमविसिट्ठमिदि चे णेवं जाणिज्जदे, तं सुदकेवली जाणि-ज्जदि। किं तु पढमंतर-परूवणाए विदियंतरपरूवणं अत्थविवरणमिदि मम मइणा पडिभासदि।"

—पृ० २४

सैद्धान्तिक ज्ञान

पंजिकाकार का सिद्धान्तविषयक ज्ञान कितना कैसा रहा है, यह समझना कठिन है, क्योंकि उन्होंने जिस किसी भी प्रसंग को स्पष्ट किया है वह कुछ समझ में नहीं आ रहा है। इसके लिए भी यहाँ एक-दो उदाहरण दिये जाते हैं, जिन्हें समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए—

(१) 'प्रक्रम' अनुयोगद्वार में उत्तरप्रकृतियों में उत्कृष्ट रूप से प्रक्रम को प्राप्त होनेवाले प्रदेशाग्रविषयक अल्पवहुत्व की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में वीरसेनाचार्य ने केवलज्ञानावरण के प्रक्रमद्रव्य से आहारशरीर नामकर्म के प्रक्रमद्रव्य को अनन्तगुणा कहा है।[1] इसका स्पष्टीकरण पंजिकाकार ने इस प्रकार किया है—

"आहारसरीरपक्कमदव्वमणंतगुणं।

कुदो ? सत्तविहवंधगुक्कस्सदव्वस्स छव्वीसदिमभागस्स चउब्भागत्तादो। तं पि कुदो ? अप्पमत्तापुव्वकरणसंजदाणं तीसवंधएण वद्धुक्कस्सणामकम्मसमयपवद्धं विभंजमाणे तहोवलंभादो। कथं विभंजिज्जदि ? उच्चदे—सव्वुक्कस्ससमयपवद्धमावलियाए असंखेज्जदिभागेण खंडेदूणेगखंडरहिदवहुखंडाणि वज्झमाणतीसपयडीसु चत्तारि सरीराणि एगभागं दोण्णि अंगोवंगाणि एगभागं लहंति त्ति छप्पयडीओ अवणिय सेसचउवीसपयडीसु दोपयडिसंखे पक्खित्ते छव्वीसाओ होंति। तेहिं खंडिय छव्वीसट्ठाणेसु ठविय सेसेयखंडं पुव्वविहाणेण (?) पक्खियव्वं जाव चरिमखंडादो पड[ढ]मखंडे त्ति। तत्थ पढमखंडो गदिभागो होदि, विदियखंडं जादिभागो विसेसाहिओ होदि, एवं विसेसाहियकमेण णेदव्वं जाव णिमिणो त्ति। पुणो एत्थ विसेसाहियं होदि त्ति कथं णव्वदे ? तिरिक्खगदीदो उवरि अजसकित्ती विसेसाहिया त्ति उत्तप्पावहुगादो (?)। पुणो तत्थ सरीरभागे घेत्तूण आवलि० असं० भागेण खंडेदूणेगखंडरहिदवहुखंडाणि चत्तारि खंडाणि कादूण सेसकिरियं पुव्वं कदे तत्थ सव्वत्थोवं वेगुव्विय०। आहारसरीर० विसे०। तेउ० विसे०। कम्म० विसे०। पुणो एत्थतण आहारसरीरं उक्कस्सं होदि। एवमुवरि वि विभंजविहाणं जाणिय वत्तव्वं।"—पंजिका, पृ० ७

इसका अभिप्राय यह दिखता है कि आहारकशरीर का प्रक्रमद्रव्य केवलज्ञानावरण के प्रक्रमद्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणा है, क्योंकि वह सात प्रकृतियों के वन्धक जीव के छब्बीसवें भाग का चौथा भाग है। हेतु यह दिया गया है कि अप्रमत्त और अपूर्वकरण संयतों के (?) तीस प्रकृतियों (अपूर्वकरण के छठे भाग से सम्बद्ध) के वन्धक के द्वारा वाँधे गये उत्कृष्ट नामकर्म के समयप्रवद्ध का विभाग करने पर वैसा ही पाया जाता है। कैसे विभाग किया जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि सर्वोत्कृष्ट समयप्रवद्ध को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करके जो लव्ध हो, उसमें एक भाग से रहित वहुभाग को वँधनेवाली तीस प्रकृतियों में चार शरीर (आहारक को छोड़कर) एक भाग को और दो अंगोपांग (आहारकअंगोपांग को छोड़कर) एक भाग को प्राप्त करते हैं। इसलिए छह (चार शरीर व दो अंगोपांग) प्रकृतियों को कम करके शेष चौवीस प्रकृतियों में दो प्रकृतियों की संख्या के मिलाने पर छव्वीस होती हैं। उनसे (?) भाजित करके छव्वीस स्थानों में रखकर शेप एक खण्ड को पूर्वोक्त विधान से अन्तिम खण्ड से लेकर प्रथम खण्ड तक प्रक्षिप्त करना चाहिए। उसमें प्रथम खण्ड गति का भाग होता है; द्वितीय खण्ड जाति का भाग विशेष अधिक होता है, इस प्रकार विशेष अधिक के क्रम से निर्माण तक ले जाना चाहिए। फिर यहाँ विशेष अधिक है, यह कैसे जाना जाता है; इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह 'तिर्यंचगति के आगे अयशकीर्ति विशेष अधिक है' इस उक्त अल्पवहुत्व से जाना जाता है (?)। फिर उसमें शरीरभाग को लेकर आवलि के असंख्यातवें भाग

१. धवला, पु० १५, पृ० ३६

से भाजित कर एक खण्ड से रहित बहुत खण्डों के चार भाग करके शेष क्रिया को पूर्व के समान करने पर उसमें सबसे स्तोक वैक्रियिकशरीर का, आहारकशरीर का विशेष अधिक, तैजसशरीर का विशेष अधिक और कार्मणशरीर का प्रक्रमद्रव्य विशेष अधिक होता है। फिर यहाँ का आहारकशरीर उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार आगे भी जानकर विभाजन के विभाग को करना चाहिए।

इस सब विवरण का प्रकृत के विवरण से क्या सम्बन्ध है व उसकी क्या वासना रही है, यह एक विचारणीय तत्त्व है। प्रकृत में तो केवलज्ञानावरण के प्रक्रमद्रव्य से आहारकशरीर का प्रक्रमद्रव्य अनन्तगुणा है, इसे स्पष्ट करना था, जो उक्त विवरण से तो स्पष्ट नहीं हुआ है। यही नहीं, उक्त विवरण प्रकृत से असम्बद्ध भी दिखता है।

(२) दूसरा एक उदाहरण लीजिए—आचार्य वीरसेन के द्वारा सातावेदनीय की उदीरणा का काल उत्कर्ष से छह मास कहा गया है (पु० १५, पृ० ६२)।

इसे स्पष्ट करते हुए पंजिकाकार कहते हैं कि इन्द्रिय-सुख की अपेक्षा संसारी जीवों में सुखी देव ही हैं। उनमें भी शतार-सहस्रार स्वर्ग के देव ही अतिशय सुखी हैं, क्योंकि उससे ऊपर के कल्पों में स्थित देव शुक्ललेश्या वाले हैं, इसलिए वीतरागसुख में अनुरक्त रहने से उनके साता के उदय से उत्पन्न हुए दिव्य सुख का अभाव है। और नीचे के देवों के वैसा पुण्य सम्भव नहीं है। इसलिए शतार-सहस्रार कल्प के इन्द्र ही सुखी हैं। इस प्रकार उनके माहात्म्य को प्रकट करते हुए इसी प्रसंग में आगे पंजिका में कहा गया है कि सचित्त और अचित्त के भेद से द्रव्य दो प्रकार का है। इनमें सचित्त सम्पादित द्रव्य कैसे अवस्थित है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया कि प्रतीन्द्र, सामानिक, तेतीस (३३) संख्या वाले त्रायस्त्रिंश, लोकपाल, पारिषद, अंगरक्ष, सात (७) अनीक, किल्विष, पदाति, आठ (८) महादेवियाँ और शेष सब देवियों व देवों का समूह। तीर्थंकर प्रकृतिसत्त्व से संयुक्त होने के कारण अपने कल्प से, इनके अतिरिक्त नीचे-ऊपर के देव पूजा के निमित्त आगत। अचेतनों का एक और विक्रिया आदि पर्यायों का एक, इस प्रकार सब साठ होते हैं। आगे इनके द्वारा सन्दोषदान आदि प्रकट करते हुए कहा गया है कि इन ६० को पाँच प्रकार के क्षयोपशम से गुणित करने पर ३०० होते हैं। इनको छह इन्द्रियों से गुणित करने पर १८०० होते हैं। इन्हें मन-वचन-काय तीन से गुणित करने पर वे ५४०० होते हैं। इनमें ९०० का भाग देने पर छह मास प्राप्त होते हैं, इस प्रकार नियम किया गया है।

आगे इससे ऊपर के देवों के संधाण नहीं पाया जाता है, यह कहाँ से जाना जाता है, इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि वह इसी आर्ष वचन (?) से जाना जाता है।

आगे पंजिकाकार और भी अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं कि यह जो छह मास के साधन के लिए प्ररूपणा की गयी है, यह उदाहरण मात्र है। इसलिए इसी प्रकार ही है, ऐसा आग्रह नहीं करना चाहिए।

इसी प्रसंग में आगे प्रकारान्तर से भी साठ (६०) संख्या को अन्तर्मुहूर्त के रूप में स्पष्ट किया गया है (पृ० २४-२५)।

यहाँ यह विचारणीय है कि धवलाकार आ० वीरसेन के उपर्युक्त कथन का क्या ऐसा अभिप्राय रह सकता है।

वीरसेनाचार्य के पद-वाक्यों का उपयोग

आ० वीरसेन ने मतभेदों के प्रसंग में कुछ विशेष पद-वाक्यों का उपयोग करते हुए धवला में अपने अभिप्राय को प्रकट किया है। पंजिकाकार ने प्रसंग की गम्भीरता को न समझते हुए भी उनके व्याख्यान की पद्धति को अपनाकर जहाँ-तहाँ वैसे पद-वाक्यों का उपयोग किया है जो यथार्थता से दूर रहा है। जैसे—

(१) "केइं एवं भणंति—आवलियाए असंखेज्जदिभागे (?) ण होदि, किंतु पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागं खंडणभागहारमिति भणंति। तदो उवदेसं लद्धूण दोण्हमेक्कदरणिण्णवो कायव्वो।"—पंजिका, पृ० ४

आ० वीरसेन कृतिसंचित और नोकृतिसंचित आदि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में कहते हैं—

"एदमप्पाबहुगं सोलसवदियअप्पाबहुएण सह विरुज्झदे, सिद्धकालादो सिद्धाणं संखेज्जगुणत्तं फिट्टिदूण विसेसाहियत्तप्पसंगादो। तेणेत्थ उवएसं लहिय एगदर णिण्णओ कायव्वो।"

—धवला, पु० ९, पृ० ३१८

(२) प्रक्रम अनुयोगद्वार में उत्तरप्रकृतिप्रक्रम के प्रसंग में जो वीरसेनाचार्य के द्वारा अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है उसमें ६४ प्रकृतियों का ही उल्लेख हुआ है।[1]

पंजिकाकार ने उनमें से पृथक्-पृथक् कुछ प्रकृतियों के संग में 'एत्थ सूचिदपयडीणं अप्पाबहुगमुच्चदे' इत्यादि सूचना करते हुए शेष रही कुछ अन्य प्रकृतियों के अल्पबहुत्व को प्रकट किया है।[2]

अन्त में उन्होंने यह कहा है—"···चउसट्ठिपयडीणं अप्पाबहुगं गंथयारेहि परूविदं। अम्हेहि पुणो सूचिदपयडीणमप्पाबहुगं गंथउत्तप्पाबहुगबलेण परूविदं। कुदो? वीसुत्तरसयबंधपयडीओ इदि विवक्खादो[3]।"

यह वीरसेनाचार्य के निम्न वाक्यों का अनुसरण किया गया दिखता है—

"संपहि एदेण अप्पाबहुगसुत्तेण सूचिदाणं सत्थाणपरत्थाणअप्पाबहुआणं परूवणं कस्सामो।"

—धवला पु० ११, पृ० २७९-८०

"संपहि सुत्तंतोणिलीणस्स एदस्स अप्पाबहुगस्स विसमपदाणं भंजणप्पिया पंजिया उच्चदे।"

—धवला पु० ११, पृ० ३०३

पंजिकाकार ने ग्रन्थोक्त अल्पबहुत्व के बल पर किस आधार से सूचित उन-उन प्रकृतियों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है, यह विचारणीय है। तद्विषयक जो परम्परागत उपदेश वीरसेनाचार्य को प्राप्त रहा है उसमें यदि वे प्रकृतियाँ सम्मिलित रही होतीं तो उनका उल्लेख वे स्वयं कर सकते थे या वैसी सूचना सकते थे। यही उनकी पद्धति रही है।

बन्धप्रकृतियाँ चूंकि १२० हैं, जिनमें ६४ प्रकृतियों के ही अल्पबहुत्व की प्ररूपणा 'प्रक्रम'

---

१. धवला, पु० १५, पृ० ३६-३७

२. देखिए पंजिका पृ० ७-८ में तैजस शरीर, नरक गति, मनुष्य गति व तिर्यंच गति का प्रसंग।

३. पंजिका, पृ० ९

अनुयोगद्वार में की गयी है, इसीलिए सम्भवतः पंजिकाकार को शेष ५६ प्रकृतियों को उसमें सम्मिलित करना आवश्यक दिखा है। इसी कारण उन्होंने अपनी कल्पना के आधार पर उनके भी अल्पबहुत्व को दिखला दिया है, ऐसा प्रतीत होता है।

(३) आ० वीरसेन ने इसी प्रक्रम अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट आदि वर्गणाओं में प्रक्रमित द्रव्य के व अनुभाग के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए यह कहा है कि यह निक्षेपाचार्य का उपदेश है (पु० १५, पृ० ४०)।

पंजिकाकार निक्षेपाचार्य का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

स्थिति और अनुभाग में प्रक्रमित द्रव्यविषयक अल्पबहुत्व ग्रन्थसिद्ध सुगम है, इसलिए उसकी प्ररूपणा न करके स्थितिनिषेक आदि में प्रक्रमित अनुभाग की प्ररूपणा निक्षेपाचार्य ने इस प्रकार की है, यह कहते हुए उन्होंने उस अल्पबहुत्व का कुछ उल्लेख किया है व आगे 'एदस्स कारणं किंचि वत्तइस्सामो' ऐसी सूचना करते हुए उनके द्वारा जो स्पष्टीकरण किया गया है वह प्रसंग से असम्बद्ध ही दिखता है और उस के स्पष्टीकरण में सहायक नहीं है।

इसी प्रसंग में आगे संज्वलन-लोभ आदि के अनुभागोदय सम्बन्धी अल्पबहुत्व को दिखलाते हुए वे कहते हैं कि उनसे जघन्य अतिस्थापना मात्र नीचे उतरकर स्थित अनुभाग का उदय अपनी-अपनी प्रथम कषाय का उदय होता है, क्योंकि 'उदय के अनुसार उदीरणा होती है' ऐसा गुरु का उपदेश है।[1]

यहाँ हेतु के रूप में गुरु के उपदेशानुसार उदीरणा को उदयानुसारी बतलाने का क्या प्रसंग रहा है तथा उसकी वह उदयानुसारिता कहाँ कितनी है, यह विचारणीय है।

आगे और भी जो इस प्रसंग में स्पष्टीकरण किया गया है, जैसे—'···आरिसादो', '···त्ति णिक्खेवाइरिय वयणं सिद्धं व सेसाइरियाणमभिप्पाएण···', 'णदं पि, सुत्तविरुद्धत्तादो', 'सेसाइरियाणमभिप्पाएण'; इत्यादि वह सब विचारणीय है।[2]

(४) पंजिकाकार के द्वारा किए गये ये अन्य उल्लेख भी ध्यान देने के योग्य हैं—

"एदस्स अत्थो तत्थ गंथे आइरियाणमभिप्पायंतरमिदिमुत्तकंठं भणिदो।"—पृ० १८

"एवं संते एदं जीवट्ठाणस्स कालाहियारेण···तं पि कधं णव्वदे ? एदेण कसायपाहुडसुत्तेण (गा० १५-१७) संजदाणं जहण्णद्धा अंतोमुहुत्तमिदि परूवयेण। तंजहा···परूवयसुत्तादो, आइरियाणं संखेज्जावलियमंतोमुहुत्तमिदि···इदि आइरिये हि परुदवित्तादो···सच्चं विरोहो चेव, किंतु अभिप्पायंतरेण परूविज्जमाणे विरोहो णत्थि।[3]—पृ० १८-१९

"···ण, सिया ठिया सिया अट्ठिया सिया ट्ठियाट्ठिया त्ति आरिसादो" (ष०ख० का 'वेदनागतिविधान' द्रष्टव्य है—पु० १२, पृ० ३६४-६६।) पंजिका पृ० २१

"सादस्स उदीरणंतरं गदि पडुच्च भण्णमाणे दुविहमुवदेसं होदि। तत्थेक्कुवदेसेण······अण्णेक्कुवदेसेण···एदेसिं दोण्हमुवदेसेसु कधमवसिट्ठमिदि चे णेवं जाणिज्जदे, तं सुदकेवली

---

१. पंजिका, पृ० १४-१५

२. वही, पृ० १५-१७

३. ···त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ, किंतु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो इदमेव तं चेव सच्चमिदि, सुदकेवलीहि पच्चक्खणाणीहि वा विणा अवहारिज्जमाणे मिच्छत्तप्पसंगादो।

—धवला पु० ८, पृ० ५६-५७

जाणिज्जदि।[1] किंतु पढमंतरपरूवणाए विदियंतरपरूवणं अत्थविवरणमिदि मम मइणा पडिभासदि[2]।"—पंजिका पृ० २४

"कुदो णव्वदे ? एदम्हादो (?) चेव आरिसवयणादो। एदं परूवणमुदाहरणमेत्तं छम्मासस्साहणट्ठं परूविदं। तदो एवं चेव होदि त्ति णाग्गहो कायव्वो।......एवमण्णेहि वि पयारेहि जाणिय वत्तव्वं[3]।"—पृ० २५

"एदमंगाभिप्पायं अण्णेकाभिप्पायेण णिरय-तिरिक्ख-मणुस्सगदीए...।"—पृ० २६

"ण केवलमेदं वयणमेत्तं चेव, किंतु सुहुमदिट्ठीए जोइज्जमाणे...जहा देवाणं तित्थयरकुमाराणं च सुरभिगंधो णेरइएसु दुरभिगंधो आगमभेदेण दिस्सदि"।—पृ० २८

"एदं पि सुगमं, आइरियाणमुवदेसत्तादो। जुत्तीए वा ण केवलं उवदेसेण विसेसाहियत्तं, किंतु जुत्तीए विसेसाहियत्तं असंखेज्जभागाहियत्तं णव्वदे जाणाविज्जदे।—पृ० ७४-७५

उपसंहार

पंजिकाकार ने वीरसेनाचार्य द्वारा विरचित निबन्धनादि १८ अनुयोगद्वारों को सत्कर्म कहा है व प्रारम्भ में उसके विवरण करने की प्रतिज्ञा की है। पर उन्होंने पंजिका में कहीं वीरसेन के नाम का उल्लेख नहीं किया है, ग्रन्थकार के रूप में ही जहाँ-तहाँ उनका निर्देश देखा जाता है। उधर धवलाकार आचार्य वीरसेन ने प्रारम्भ में तथा आगे भी कहीं-कहीं आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का बहुत आदर के साथ स्मरण किया है।

यह पंजिका निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय इन प्रारम्भ के चार अनुयोगद्वारों पर रची गयी है। ग्रन्थगत विषम स्थलों को जो पदच्छेदपूर्वक स्पष्ट किया जाता है उसका नाम पंजिका है।[4] तदनुसार इस पंजिका के द्वारा इन अनुयोगद्वारों में निहित दुर्बोध प्रसंगों को स्पष्ट किया जाना चाहिए था; पर जैसा कि उसके अनुशीलन से हम समझ सके हैं, उसके द्वारा प्रसंगप्राप्त विषय का स्पष्टीकरण हुआ नहीं है। पंजिका में प्रसंगप्राप्त अनेक प्रकरणों को 'सुगम' कहकर छोड़ दिया गया है, जबकि यथार्थ में वे सुगम नहीं प्रतीत होते। इसके अतिरिक्त प्रसंगप्राप्त विषय के स्पष्टीकरण में जिनका विवक्षित विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रहा है, उनका विवेचन वहाँ अधिक किया गया है, यह ऊपर दिये गये उदाहरण से स्पष्ट है।

---

१. दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो, तहा णिण्णयाभावादो।—धवला पु० १, पृ० २२२

सो एवं भणदि जो चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा।—धवला पु० ७, पृ० ५४०

२. अम्हाणं पुण एसो अहिप्पाओ जहा पढमपरूविदअत्थो चेव भद्दओ ण विदियो त्ति।

—धवला पु० १३, पृ० ३८२

३. ...तदो इदमित्थं चेवेत्ति णेहासग्गाहो कायव्वो। धवला पु० ३, पृ० ३८ (पिछले पृष्ठ का टिप्पण १ भी द्रष्टव्य है।

एसो उप्पत्तिकमो अउप्पण्णउप्पायणट्ठं उत्तो। परमत्थदो पुण जेण केण वि पयारेण छावट्ठी पूरेदव्वा।—धवला पु० ५, पृ० ७

४. ...विसमपदाणं भंजणप्पिया पंजिया उच्चदे।

—धवला पु० ११, पृ० ३०३

पंजिकाकार द्वारा विषय के स्पष्टीकरण में वीरसेनाचार्य की व्याख्यापद्धति को तो अपनाया गया है, पर निर्वाह उसका नहीं किया जा सका है।

पंजिका में विषय के स्पष्टीकरण का लक्ष्य प्रायः अल्पबहुत्व से सम्बन्धित प्रसंग रहे हैं। उनके स्पष्टीकरण में अंकसंदृष्टियाँ बहुत दी गयी हैं, पर वे सुबोध नहीं हैं। उनके विषय में कुछ संकेत भी नहीं किया गया है। इन संदृष्टियों की पद्धति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पंजिका की रचना गोम्मटसार की 'जीवतत्त्व-प्रदीपिका' टीका के पश्चात् हुई है। उसके रचयिता सम्भवतः दक्षिण के कोई विद्वान् रहे हैं।

पंजिकाकार की भाषा भी सुबोध व व्यवस्थित नहीं दिखती।

ग्रन्थोल्लेख

यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य वीरसेन सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, गणित, मंत्र-तंत्र, क्रियाकाण्ड और ज्योतिष आदि अनेक विषयों में पारंगत होकर एक प्रामाणिक टीकाकार रहे हैं। यह इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी इस महत्त्वपूर्ण धवला टीका में उपर्युक्त विषयों से सम्वद्ध ग्रन्थों के अवतरणों को यथाप्रसंग प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। इनमें कुछ ग्रन्थगत अवतरणों को तो उन्होंने ग्रन्थ के नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। यहाँ हम प्रथमतः उन ग्रन्थों का उल्लेख करेंगे जिनका उपयोग उन्होंने नामनिर्देश के साथ किया है। वे इस प्रकार हैं—

१ आचारांग, २ उच्चारणा, ३ कम्मपवाद, ४ करणाणिओगसुत्त, ५ कसायपाहुड, ६ चुण्णिसुत्त, ७ छेदसुत्त, ८ जीवसमास, ९ जोणिपाहुड, १० णिरयाउवंधसुत्त, ११ तच्चट्ठ, तच्चत्थसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र; १२ तत्त्वार्थभाष्य, १३ तिलोयपण्णत्तिसुत्त, १४ परियम्म, १५ पंचत्थिपाहुड, १६ पाहुडसुत्त, १७ पाहुडचुण्णिसुत्त, १८ पिंडिया, १९ पेज्जदोस, २० महाकम्मपयडिपाहुड, २१ मूलतंत, २२ वियाहपण्णत्तिसुत्त, २३ सम्मइसुत्त; २४ संतकम्मपयडिपाहुड, २५ संतकम्मपाहुड, २६ सारसंगह और २७ सिद्धिविनिश्चय। इनमें से यहाँ कुछ का परिचय प्रसंग के अनुसार कराया जा रहा है—

१. आचारांग—यहाँ आचारांग से अभिप्राय वट्टकेराचार्य-विरचित 'मूलाचार' का रहा है। वह मा० दि० जैन ग्रन्थमाला से आचारवृत्ति के साथ दो भागों में प्रकाशित हो चुका है।

धवलाकार ने आज्ञाविचय धर्मध्यान से सम्बद्ध उसकी एक गाथा (५-२०२) को 'तह आयारंगे वि वुत्तं' इस निर्देश के साथ कालानुगम के प्रसंग में उद्धृत किया है।[1]

२. उच्चारणा—यह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ रहा है, यह तो प्रतीत नहीं होता। पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री के द्वारा लिखी गयी 'कसायपाहुडसुत्त' की प्रस्तावना[2] से ज्ञात होता है कि जयधवला में उच्चारणा, मूल उच्चारणा, लिखित उच्चारणा, वप्पदेवाचार्य-विरचित उच्चारणा और स्वलिखित उच्चारणा का उल्लेख किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रुतकेवलियों के पश्चात् जो श्रुत की परम्परा चलती रही है उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट आचार्य होते रहे हैं जो परम्परागत सूत्रों के शुद्ध उच्चारण के साथ शिष्यों को उनके अर्थ का व्याख्यान किया करते थे। ऐसे आचार्यों को उच्चारणाचार्य व व्याख्यानाचार्य कहा जाता है। ऐसे

---

१. धवला पु० ४, पृ० ३१६ और मूलाचार गाथा ५-२०२

२. क० पा० सुत्त, प्रस्तावना, पृ० २६-२७

उच्चारणाचार्यों में एक 'वप्पदेव'[1] नामक आचार्य भी हुए हैं, जिन्होंने कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों पर बारह हजार श्लोक-प्रमाण उच्चारणावृत्ति लिखी है। इस उच्चारणावृत्ति का एक उल्लेख जयधवला में इस प्रकार किया गया है—

"चुण्णिसुत्तम्मि वप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए च अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण संखेज्जा समया इदि परूविदो।"

धवला में वेदनाद्रव्यविधान के प्रसंग में तीव्र संक्लेश को विलोमप्रदेशविन्यास का कारण और मन्दसंक्लेश को अनुलोमप्रदेशविन्यास का कारण बतलाते हुए उस उच्चारणाचार्य का अभिप्राय निर्दिष्ट किया गया है।

इसी प्रसंग में आगे वहाँ भूतबलिपाद के अभिप्राय को प्रकट करते हुए कहा गया है कि उनके अभिमतानुसार विलोमविन्यास का कारण गुणितकर्मांशिकत्व और अनुलोमविन्यास का कारण क्षपितकर्मांशिकत्व है, न कि संक्लेश और विशुद्धि।[2]

यहीं पर आगे एक शंका के रूप में कहा गया है कि उच्चारणा के समान भुजाकार काल के भीतर ही गुणितत्व को क्यों नहीं कहा जाता है। इसके समाधान में कहा गया है कि ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि अल्पतर काल की अपेक्षा गुणितभुजाकार काल बहुत है, इस उपदेश का आलम्बन लेकर यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है (पु० १० पृ० ४५)।

३. कर्मप्रवाद—उपक्रम अनुयोगद्वार के अन्तर्गत उपशामना के प्रसंग में उसके भेद-प्रभेदों का निर्देश करते हुए धवलाकार ने यह सूचना की है कि अकरणोपशामना की प्ररूपणा कर्मप्रवाद में विस्तार से की गयी है (पु० १५, पृ० २७५)।

इसी प्रकार की सूचना कपायप्राभृतचूर्णि में भी की गयी है।[3] उसे स्पष्ट करते हुए जयधवला में तो आठवें पूर्वस्वरूप कर्मप्रवाद में देख लेने की भी प्रेरणा की गयी है।[4]

जैसा कि धवला और जयधवला में प्ररूपित 'श्रुतावतार' से स्पष्ट है, आचार्य धरसेन और गुणधर के पूर्व ही अंगश्रुत लुप्त हो चुका था, उसका एक देश ही आचार्य-परम्परा से आता हुआ धरसेन और गुणधर को प्राप्त हुआ था। ऐसी परिस्थिति में यह विचारणीय है कि जयधवलाकार के समक्ष क्या कर्मप्रवाद का कोई संक्षिप्त रूप रहा है, जिसमें उन्होंने उस अकरणोपशामना के देख लेने की प्रेरणा की है। दूसरा एक यह भी प्रश्न उठता है कि यदि उनके सामने वह कर्मप्रवाद रहा है तो उन्होंने उसके आश्रय से स्वयं ही उस उपशामना की प्ररूपणा क्यों नहीं की। धवलाकार ने तो देशामर्शक सूत्रों के आधार पर धवला में अनेक गम्भीर विपयों की प्ररूपणा विस्तार से की है।

---

१. ष०ख० के प्रथम पाँच खण्डों व कषायप्राभृत पर वप्पदेवगुरु द्वारा लिखी गयी प्राकृत भाषा रूप साठ हजार ग्रन्थप्रमाण पुरातन व्याख्या का तथा महाबन्ध के ऊपर लिखी आठ हजार ग्रन्थप्रमाण व्याख्या का उल्लेख इन्द्रनन्दिश्रुतावतार (१७१-७६) में किया गया है।

२. धवला, पु० १०, पृ० ४४

३. जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि अकरणोवसामणात्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे।—क० पा० सुत्त, पृ० ७०७ (चूर्णि ३००-१)

४. कम्मपवादो णाम अट्ठमो पुव्वाहियारो……तत्थ एसा अकरणोवसामणा दट्ठव्वा, तत्थेदिस्से पबंधेण परूवणोवलंभादो।—जयध० (क०पा० सुत्त, पृ० ७०७ का टिप्पण १)

शिवशर्म-विरचित कर्मप्रकृति में एक उपशामनाविषयक स्वतन्त्र अधिकार है। उसमें भी उपशामना के उपर्युक्त भेदों का निर्देश किया गया है। जैसी कि टीकाकार मलयगिरि सूरि ने सूचना की है, अकरणोपशामना का अनुयोग विच्छिन्न हो चुका था। इसी से शिवशर्मसूरि ने उस अनुयोग के पारगामियों को मंगल के रूप में नमस्कार किया है व तद्विषयक ज्ञान के न रहने से स्वयं उसकी कुछ प्ररूपणा नहीं की है—यह पूर्व में कहा ही जा चुका है।

४. करणाणिओगसुत्त—यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा है या लोकानुयोग के किसी प्रसंग से सम्बद्ध है, यह अन्वेषणीय है।

प्रकृत में इसका उल्लेख धवलाकार ने क्षेत्रानुगम के प्रसंग में मिथ्यादृष्टियों के क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा करते हुए किया है। वहाँ सूत्र में मिथ्यादृष्टियों का क्षेत्र सर्वलोक निर्दिष्ट किया गया है। उसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने सूत्र में निर्दिष्ट लोक को सात राजुओं के घन (७×७×७=३४३) स्वरूप ग्रहण किया है। पूर्व मान्यता के अनुसार, लोक नीचे सात राजु, मध्य में एक राजु, ब्रह्मकल्प के पार्श्व भागों में पाँच राजु और ऊपर एक राजु विस्तृत सर्वत्र गोलाकार रहा है। इस मान्यता के अनुसार सूत्र (२,३,४) में जो लोकपूरण समुद्घातगत केवली का क्षेत्र सर्वलोक कहा गया है वह घटित नहीं होता। इसलिए धवलाकार ने लोक को गोलाकार न मानकर आयत चतुरस्र के रूप में उत्तर-दक्षिण में सर्वत्र सात राजु बाहल्यवाला माना है। इस मान्यता के अनुसार वह गणितप्रक्रिया के आधार पर ३४३ घनराजु प्रमाण बन जाता है।

इस प्रसंग में शंकाकार ने आ० वीरसेन के द्वारा प्रतिष्ठापित उक्त लोकप्रमाण के विरुद्ध जो तीन सूत्रों की अप्रमाणता का प्रसंग उपस्थित किया था, उसका निराकरण करते हुए धवलाकार ने अपनी उक्त मान्यता में उन गाथासूत्रों के साथ संगति बैठायी है। आगे उन्होंने इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि हमने जो लोक का बाहल्य उत्तर-दक्षिण में सर्वत्र सात राजु माना है, वह करणाणिओगसुत्त के विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि वहाँ उसके विधि और प्रतिषेध का अभाव है।[1]

५. कसायपाहुड—गुणधराचार्य-विरचित कसायपाहुडसुत्त आचार्य यतिवृषभ-विरचित चूर्णिसूत्रों के साथ 'श्री वीरशासनसंघ, कलकत्ता' से प्रकाशित हो चुका है।

प्रकृत में धवलाकार ने यद्यपि कुछ प्रसंगों पर उसके कुछ मूल गाथासूत्रों को भी धवला में उद्धृत किया है, फिर भी अधिकतर उन्होंने उसके ऊपर यतिवृषभाचार्य-विरचित चूर्णि का उल्लेख कहीं पर कसायपाहुड के नाम से, कहीं पर चुण्णिसुत्त के नाम से, कहीं पाहुडसुत्त के नाम से और कहीं पाहुडचुण्णिसुत्त के नाम से भी किया है। जैसे—

(१) सत्प्ररूपणा में मनुष्यों में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव के प्ररूपक सूत्र (१,१,२७) की व्याख्या करते हुए धवला में उपशामनाविधि और क्षपणाविधि की प्ररूपणा की गयी है। उस प्रसंग में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तीन स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियों और अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों का क्षय आगे-पीछे कब होता है, इस विषय में धवलाकार ने दो भिन्न उपदेशों का उल्लेख किया है। उनमें सत्कर्मप्राभृत के उपदेशानुसार

---

१. इस सबके लिए देखिए धवला, पु० ४, पृ० १०-२२

अनिवृत्तिकरणकाल का संख्यातवाँ भाग शेष रह जाने पर स्त्यानगृद्धि आदि तीन, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय किया जाता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रत्याख्यानावरण चार और अप्रत्याख्यानावरण चार इन आठ कषायों का क्षय किया जाता है। दूसरे कषायप्राभृत के उपदेशानुसार उक्त आठ कषायों का क्षय हो जाने पर, तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्यानगृद्धि आदि उन सोलह कर्मप्रकृतियों का क्षय किया जाता है (पु० १, पृ० २१७)।

कसायपाहुड के नाम पर धवला में जो उपर्युक्त अभिप्राय प्रकट किया गया है, वह उसी प्रकार से कसायपाहुड पर निर्मित चूर्णि में उपलब्ध होता है।[1]

(२) क्षुद्रक-बन्ध में अन्तरानुगम के प्रसंग में सूत्रकार द्वारा सासादनसम्यग्दृष्टियों का जघन्य अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग निर्दिष्ट किया गया है। उसके स्पष्टीकरण के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि उपशमश्रेणि से पतित होता हुआ सासादन गुण-स्थान को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त में यदि पुनः उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होता है और उससे पतित होकर फिर से यदि सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है तो इस प्रकार से उस सासादन सम्यक्त्व का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। उसकी प्ररूपणा यहाँ सूत्रकार ने क्यों नहीं की। उपशम श्रेणि से उतरते हुए उपशमसम्यग्दृष्टि सासादन गुणस्थान को न प्राप्त होते हों, ऐसा तो कुछ नियम है नहीं, क्योंकि 'आसाणं पि गच्छेज्ज' अर्थात् वह सासादनगुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है, ऐसा चूर्णिसूत्र देखा जाता है।[2]

इसके पूर्व जीवस्थान-चूलिका में उपशमश्रेणि से प्रतिपतन के विधान के प्रसंग में भी यह विचार किया गया है। वहाँ धवला में यह स्पष्ट किया गया है कि उपशमकाल के भीतर जीव असंयम को भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयम को भी हो सकता है तथा छह आवलियों के शेष रह जाने पर सासादन को भी प्राप्त हो सकता है। पर सासादन को प्राप्त होकर यदि वह मरण को प्राप्त होता है तो नरक, तिर्यंच और मनुष्य इन तीन गतियों में से किसी में भी नहीं जाता है—किन्तु तब वह नियम से देवगति को प्राप्त होता है। यह प्राभृतचूर्णि सूत्र का अभिप्राय है। भूतबलि भगवान् के उपदेशानुसार उपशम श्रेणि से उतरता हुआ सासादन गुणस्थान को नहीं प्राप्त होता है। कारण यह कि तीन आयुओं में से किसी एक के बँध जाने पर वह कषायों को नहीं उपशमा सकता है। इसीलिए वह नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति को नहीं प्राप्त होता है।[3]

(३) बन्धस्वामित्वविचय में संज्वलन मान और माया के बन्धव्युच्छेद के प्रसंग में धवला में प्ररूपित उन बन्धव्युच्छित्ति के क्रम के विषय में यह शंका उठायी गई है कि इस प्रकार का यह व्याख्यान 'कषायप्राभृतसूत्र' के विरुद्ध जाता है। इसके समाधान में धवलाकार ने यह स्पष्ट

---

१. देखिए क०पा० सुत्त, पृ० ७५१ में चूर्णि १९५-९९
२. देखिए धवला पु० ७, पृ० २३३ तथा कषायप्राभृत चूर्णि का वह प्रसंग—छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज।—क०पा० सुत्त, पृ० ७२६-२७; चूर्णिसूत्र ५४३
३. देखिए धवला पु० ६, पृ० ३३१ तथा क०पा० सुत्त पृ० ७२६-२७, चूर्णि ५४२-४६। दोनों ग्रन्थगत यह सन्दर्भ प्रायः शब्दशः समान है (क०प्रा० चूर्णि में मात्र 'संजमासंजमंपि गच्छेज्ज' के आगे 'दो वि गच्छेज्ज' इतना पाठ अधिक उपलब्ध होता है।)

किया है कि यथार्थ में यह व्याख्यान उसके विरुद्ध है, किन्तु यहाँ 'यही सत्य है या वही सत्य है' ऐसा एकान्तग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि श्रुतकेवलियों अथवा प्रत्यक्षज्ञानियों के विना वैसा अवधारण करने पर मिथ्यात्व का प्रसंग प्राप्त होता है (पु० ८, पृ० ५६)।

(४) वेदनाद्रव्यविधान में स्वामित्व के प्रसंग में ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट किस के होती है, इसका विस्तार से विचार करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि गुणितकर्मांशिक स्वरूप से परिभ्रमण करता हुआ जो जीव अन्तिम भव में सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ है, वह उस अन्तिम समयवर्ती नारकी के होती है।

यहाँ सूत्र ३२ की धवला टीका में निर्दिष्ट भागहारप्रमाण के प्रसंग में यह शंका उठायी गयी है कि यह कैसे जाना जाता है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि वह पाहुड-सुत्त में जो उसकी प्ररूपणा की गयी है उससे जाना जाता है। आगे कसायपाहुड में जिस प्रकार से उसकी प्ररूपणा की गयी है उसे स्पष्ट करते हुए अन्त में वहाँ कहा गया है कि इस प्रकार 'कसायपाहुड' में कहा गया है।[1]

(५) इसी वेदनाद्रव्यविधान के प्रसंग में आगे धवला में कर्मस्थिति के आद्य समयप्रवद्ध सम्वन्धी संचय के भागहार प्रमाण को सिद्ध करते हुए सूचित किया गया है कि पाहुड में अग्रस्थितिप्राप्त द्रव्य की जो प्ररूपणा की गयी, उसके प्रसंग में यह कहा गया है कि एक समयप्रवद्ध सम्वन्धी कर्मस्थिति में निषिक्त द्रव्य का काल दो प्रकार से जाता है—सान्तरवेदककाल के रूप से और निरन्तरवेदककाल के रूप से; इत्यादि।[2]

(६) इसी प्रसंग में आगे धवला में कसायपाहुड की ओर संकेत करते हुए यह कहा गया है कि चारित्रमोहनीय की क्षपणा में जो आठवीं मूल गाथा है उसकी चार भाष्यगाथाएँ हैं। उनमें से तीसरी भाष्यगाथा में भी इसी अर्थ की प्ररूपणा की गयी है। यथा—असामान्यस्थितियाँ एक, दो व तीन इस प्रकार निरन्तर उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक जाती हैं।

—पु० १०, पृ० १४३

कसायपाहुड में चारित्रमोह की क्षपणा के प्रसंग में आयी हुई आठवीं मूलगाथा है। उसकी चार भाष्यगाथाओं का उल्लेख चूर्णिकार ने किया है। उनमें तीसरी भाष्यगाथा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए चूर्णि में कहा गया है कि अव तीसरी भाष्यगाथा का अर्थ कहते हैं। असामान्य स्थितियाँ एक, दो व तीन इस प्रकार अनुक्रम से उत्कृष्ट रूप में पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं। इस प्रकार तीसरी गाथा का अर्थ समाप्त हुआ।[3]

(७) इसी वेदनाद्रव्यविधान में द्रव्य की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की जघन्य वेदना किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए (सूत्र ४८-७५) सूत्रकार ने कहा है कि वह क्षपितकर्मांशिकस्वरूप से आते हुए अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के होती है।

इस प्रसंग में अन्तिम सूत्र (७५) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उपसंहार के रूप में प्ररूपणा और प्रमाण इन दो अनुयोगद्वारों का उल्लेख किया है। इनमें 'प्ररूपणा' के प्रसंग में

---

१. धवला पु० १०, पृ० ११३-१४ तथा क०पा० सुत्त, पृ० २३५-३६ चूर्णि १-१३ (यह सन्दर्भ दोनों ग्रन्थों में प्रायः शब्दशः समान है)।

२. धवला पु० १०, पृ० १४२ और क०पा०······

३. क०पा० सुत्त पृ० ८३२, चूर्णि ६२२; पृ० ८३३; चू० ६४३ तथा पृ० ८४२, चूर्णि ६६२-६४

उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि कर्मस्थिति के प्रथम व द्वितीय आदि समयों में बाँधे गये कर्म का क्षीणकषाय के अन्तिम समय में एक भी परमाणु नहीं रहता है। यह क्रम पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र निर्लेपनस्थानों के प्रथम विकल्प तक चलता है।

इस प्रसंग में यह पूछने पर कि निर्लेपनस्थान पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं, यह कहाँ से जाना जाता है; उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह कसायपाहुडचुण्णिसुत्त से जाना जाता है। आगे कसायपाहुडचुण्णिसुत्तगत उस प्रसंग को यहाँ स्पष्ट भी कर दिया है, जो 'कसायपाहुड' में उपलब्ध भी होता है।[1]

(८) इसी वेदनाद्रव्यविधान में पूर्वोक्त ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी के प्रसंग में प्राप्त सूत्र ३२ की व्याख्या में यह पूछने पर कि कर्मस्थिति के आदि समयप्रबद्ध का संचय अन्तिम निषेक-प्रमाण होता है, यह कैसे जाना जाता है, उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट संक्लेश के आश्रय से उत्कृष्ट स्थिति को बाँधता हुआ जितने परमाणुओं को कर्मस्थिति के अन्तिम समय में निषिक्त करता है उतने मात्र अग्रस्थितिप्राप्त होते हैं, ऐसा जो कसायपाहुड में उपदेश किया गया है उससे वह जाना जाता है।[2]

उक्त वेदनाद्रव्यविधान में ज्ञानावरणीय की जघन्य द्रव्यवेदना के ही प्रसंग में दूसरे 'प्रमाण' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा करते हुए धवला में यह शंका उठायी गयी है कि कसायपाहुड में मोहनीय के जिन निर्लेपनस्थानों का उल्लेख किया है उन्हें ज्ञानावरण के निर्लेपनस्थान कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने इतना मात्र कहा है कि उसमें कुछ विरोध नहीं है (धवला, पु० १०, पृ० २९८-९९)।

(९) उक्त वेदनाद्रव्यविधान की चूलिका में वर्ग-वर्गणाओं के स्वरूप को प्रकट किया गया है। उस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्र (४,२,१८०) में असंख्यात लोक मात्र अविभाग प्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है, यह सामान्य से कहा गया है। इसीलिए उससे समान धनवाले नाना जीवप्रदेशों को ग्रहण करके एक वर्गणा होती है, यह नहीं जाना जाता है।

इसके उत्तर में धवला में कहा गया है कि सूत्र में समान धनवाली एक पंक्ति को ही वर्गणा कहा गया है, क्योंकि इसके विना अविभागप्रतिच्छेदों की प्ररूपणा और वर्गणा की प्ररूपणा में भिन्नता न रहने का प्रसंग प्राप्त होता है तथा वर्गणाओं के असंख्यात प्रतर मात्र प्ररूपणा का भी प्रसंग प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कसायपाहुड के पश्चिमस्कन्ध सूत्र से

---

१. धवला पु० १०, पृ० २९७; तत्थ पुव्वं गमणिज्जा णिल्लेवणट्ठाणाणमुवदेसपरूवणा। एत्थ दुविहो उवएसो। एक्केण उवदेसेण कम्मट्ठिदीए असंखेज्जा भागा णिल्लेवणट्ठाणाणि। एक्केण उवएसेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। जो पवाइज्जइ उवएसो तेण उवदेसेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो, असंखेज्जाणि वग्गमूलाणि णिल्लेवणाट्ठाणाणि।

—क० पा० सुत्त, पृ० ८१८, चूर्णि ६६४-६८

२. कम्मट्ठिदिआदिसमयपबद्धसंचओ चरिमणिसेयपमाणमेत्तो होदि त्ति कधं णव्वदे? सण्णिपंचिंदियपज्जत्तएण उक्कस्सजोगेण उक्कस्ससंकिलिट्ठेण उक्कास्सियं ट्ठिदिं बंधमाणेण जेत्तिया परमाणू कम्मट्ठिचरिमसमएणिसित्ता तेत्तियमेत्तमग्गट्ठिदिपत्तयं होदि त्ति कसायपाहुडे उवदिट्ठत्तादो।—धवला, पु० १०, पृ० २०८

भी जाना जाता है कि समान घनवाले सब जीवप्रदेशों की वर्गणा होती है। वह सूत्र इस प्रकार है—केवलिसमुद्घात में केवली चौथे समय में लोक को पूर्ण करते हैं। लोक के पूर्ण होने पर योग की एक वर्गणा होती है।[1] अभिप्राय यह है कि लोक के पूर्ण होने पर लोकप्रमाण जीव-प्रदेशों का समयोग होता है।[2]

(१०) वेदनाभावविधान की दूसरी चूलिका में प्रसंगप्राप्त एक शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि लोकपूरणसमुद्घात में वर्तमान केवली का क्षेत्र उत्कृष्ट होता है, भाव भी जो सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक के द्वारा प्राप्त हुआ, वह लोक को पूर्ण करनेवाले केवली के उत्कृष्ट अथवा अनुत्कृष्ट होता है, ऐसा न कहकर उत्कृष्ट ही होता है, यह जो कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि योग की हानि-वृद्धि अनुभाग की हानि-वृद्धि का कारण नहीं है। अथवा कसायपाहुड में जो यह कहा गया है कि दर्शनमोह के क्षपक को छोड़कर सर्वत्र सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग उत्कृष्ट होता है उससे भी जाना जाता है कि योग की हानि-वृद्धि अनुभाग की हानि-वृद्धि का कारण नहीं है। धवला में निर्दिष्ट वह प्रसंग कसायपाहुड में भी उसी रूप में उपलब्ध होता है।[3]

(११) इसी भावविधान-चूलिका में आगे काण्डकप्ररूपणा में प्रसंगप्राप्त सूत्र २०२ की व्याख्या करते हुए उस प्रसंग में धवला में यह कहा गया है कि यह सूक्ष्म निगोदजीव का जघन्य अनुभागसत्त्वस्थान बन्धस्थान के समान है। इस पर शंका उत्पन्न हुई है कि यह कहाँ से जाना जाता है।

इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि इसके ऊपर एक प्रक्षेप अधिक करके बन्ध के होने पर अनुभाग की जघन्य वृद्धि होती है और उसी का अन्तर्मुहूर्त में काण्डकघात के द्वारा घात करने पर जघन्य हानि होती है, यह जो कसायपाहुड में प्ररूपणा की गयी है, उससे वह जाना जाता है।[4]

(१२) इसी भावविधान-चूलिका में आगे प्रसंगवश सत्कर्मस्थाननिबन्धन और बन्धस्थान-निबन्धन इन दो प्रकार के घातपरिणामों का उल्लेख करते हुए धवला में यह कहा गया है कि उनमें जो सत्कर्मस्थाननिबन्धन परिणाम हैं, उनसे अष्टांक और ऊर्वंक के मध्य में सत्कर्मस्थान ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वहाँ अनन्तगुणहानि को छोड़कर अन्य हानियाँ सम्भव नहीं हैं।

इस पर वहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि सत्त्वस्थान अष्टांक और ऊर्वंक के मध्य में ही होते हैं; चतुरंक, पंचांक, षडंक और सप्तांक के मध्य में नहीं होते हैं, यह कैसे जाना जाता है।

इसके समाधान में वहाँ कहा गया है कि वह "उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान में एक बन्ध-

---

१. तदो चउत्थसमये लोगं पूरेदि। लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स त्ति समजोगो त्ति णायव्वो।—क० पा० सुत्त, पृ० ९०२, चू० ११-१२

२. धवला, पु० १०, पृ० ४५१

३. देखिए धवला, पु० १२, पृ० १६० तथा क०पा० का निम्न प्रसंग—
सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणमुक्काणुभागसंतकम्मं कस्स ?
दंसणमोहक्खवगं मोत्तूण सव्वस्स उक्कस्सयं।—क०पा० सुत्त, पृ० १६०, चूर्णि ३३-३४

४. धवला पु० १२, पृ० १२९-३०

स्थान है। वही सत्कर्मस्थान है। यही क्रम द्विचरम अनुभागबन्धस्थान में है। इस प्रकार पश्चादानुपूर्वी से तब तक ले जाना चाहिए जब तक प्रथम अनन्तगुणाहीन बन्धस्थान नहीं प्राप्त होता है। पूर्वानुपूर्वी से गणना करने पर जो अनन्तगुणा बन्धस्थान है उसके नीचे अनन्तगुणा हीन अनन्तर स्थान है। इस अन्तर में असंख्यात लोकमात्र घात-स्थान हैं। वे ही सत्कर्मस्थान हैं" यह इस पाहुडसुत्त से जाना जाता है।[1]

(१३) इसी वेदनाभावविधान की तीसरी चूलिका में सूत्रकार द्वारा निरन्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम के प्रसंग में जीवों से सहित स्थान एक, दो, तीन इत्यादि क्रम से उत्कृष्ट रूप में आवली के असंख्यातवें भाग मात्र निर्दिष्ट किये गए हैं।—सूत्र ४,२,७; २७०

इस प्रसंग में यहाँ धवला में यह शंका की गई है कि कसायपाहुड में 'उपयोग' नाम का अर्थाधिकार है। वहाँ कहा गया है कि कषायोदयस्थान असंख्यात लोक मात्र हैं। उनमें वर्तमान काल में जितने त्रस हैं उतने मात्र उनसे पूर्ण हैं। ऐसा कषायपाहुडसुत्त में कहा गया है।[2] इसलिए यह वेदनासूत्र का अर्थ घटित नहीं होता है।

इस शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जिन भगवान् के मुख से निकले हुए व अविरुद्ध आचार्य-परम्परा से आये हुए सूत्र की अप्रमाणता का विरोध है। आगे वहाँ प्रकृत दोनों सूत्रों में समन्वय करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यहाँ (वेदनाभावविधान में) अनुभागबन्ध्याध्यवसानस्थानों में जीवसमुदाहार की प्ररूपणा की गयी है, पर कसायपाहुड में कषायउदयस्थानों में उसकी प्ररूपणा की गयी है, इसलिए दोनों सूत्रों में परस्पर विरोध नहीं है (धवला पु० १२, पृ० २४४-४५)।

(१४) उपक्रम अनुयोगद्वार में उपशामना उपक्रम के प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि करणोपशामना दो प्रकार की है—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। इनमें सर्वकरणोपशामना के अन्य दो नाम ये हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना। इस सर्वोपशामना की प्ररूपणा कसायपाहुड में की जावेगी।[3]

(१५) संक्रम अनुयोगद्वार में प्रकृतिस्थानसंक्रम के प्रसंग में स्थानसमुत्कीर्तना की प्ररूपणा करते हुए धवला में यह सूचना की गयी है कि मोहनीय की स्थानसमुत्कीर्तना जैसे कषायपाहुड में की गयी है वैसे ही उसे यहाँ भी करनी चाहिए।[4]

(१६) इसी प्रकार से आगे अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में भी सत्कर्मप्ररूपणा के प्रसंग में

---

१. देखिए धवला पु० १२, पृ० २२१ तथा क०षा० सुत्त, पृ० ३६२-६३, चूर्णि ५२६-३०

२. कसायपाहुड में यह प्रसंग उसी रूप में इस प्रकार उपलब्ध होता है—
कसायुदयट्ठाणाणि असंखेज्जा लोगा। तेसु जत्तिया तसा तत्तियमेत्ताणि आवुण्णाणि।
—क०पा० सुत्त पृ० ५६३, चूर्णि २६१-६२

३. देखिए धवला पु० १५, पृ० २७५ तथा क० पा० सुत्त पृ० ७०७-८, चूर्णि २६६-३०६ (उपशामना की यह प्ररूपणा दोनों ग्रन्थों में प्रायः शब्दशः समान है। विशेषता यहाँ यह रही है कि धवलाकार ने जहाँ सर्वकरणोपशामना के प्रसंग में 'एसा सव्वकरणुवसामणा कसायपाहुडे परूविज्जिहिदि' ऐसी सूचना की है वहाँ कसायपाहुड में देशकरणोपशामना के प्रसंग में 'एसा कम्मपयडीसु' (चूर्णि ३०४) ऐसी सूचना की गयी है।)

४. धवला, पु० १६, पृ० ३४७ तथा क०पा० सुत्त, पृ० २८८-३०९

धवलाकार ने यह सूचना की है कि मोहनीय कर्म के सत्कर्मविषयक स्वामित्व की प्ररूपणा जैसे कसायपाहुड में की गयी है वैसे ही उसकी प्ररूपणा यहाँ भी करनी चाहिए।[1]

(१७) यहीं पर आगे भी धवलाकार ने यह सूचना की है कि मोहनीय के प्रकृतिस्थान-सत्कर्म की प्ररूपणा जैसे कसायपाहुड में की गयी है वैसे उसकी प्ररूपणा यहाँ करनी चाहिए।[2]

इस प्रकार धवलाकार ने कषायप्राभृतचूर्णि का उल्लेख कहीं कसायपाहुडसुत्त, कहीं पाहुड-सुत्त, कहीं चुण्णिसुत्त और कहीं पाहुडचुण्णिसुत्त इन नामों से किया है। इनमें से अधिकांश के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। चुण्णिसुत्त जैसे—

(१८) बन्धस्वामित्वविचय में उदयव्युच्छेद की प्ररूपणा करते हुए धवला में महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत के उपदेशानुसार मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में इन दस प्रकृतियों के उदयव्युच्छेद का निर्देश किया गया है—मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण।

इसी प्रसंग में आगे चूर्णिसूत्रकर्ता के उपदेशानुसार उक्त मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में उपर्युक्त दस प्रकृतियों में से मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पाँच का ही उदय-व्युच्छेद कहा गया है, क्योंकि उनके उपदेशानुसार चार जातियों और स्थावर इन पाँच का उदय व्युच्छेद सासादनगुणस्थान में होता है।[3]

(१९) पाहुडसुत्त जैसे—जीवस्थान-अन्तरानुगम में सूत्र २२३ में क्रोधादि चार कषायवाले जीवों का अन्तर मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक-क्षपक तक मनोयोगियों के समान कहा गया है।

इस पर धवला में यह शंका उठायी गयी है कि तीन क्षपकों का नाना जीवों की अपेक्षा वह उत्कृष्ट अन्तर मनोयोगियों के समान छह मास घटित नहीं होता, क्योंकि विवक्षित कषाय से भिन्न एक, दो और तीन के संयोग के क्रम से क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले क्षपकों का अन्तर छह मास से अधिक उपलब्ध होता है।

इस शंका के उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ओघ से जो चार मनोयोगी क्षपकों का उत्कृष्ट अन्तर छह मास कहा गया है, वह इसके बिना बनता नहीं है (देखिए सूत्र १,६,१६-१७ व १५६)। इससे चार कषायवाले क्षपकों का वह उत्कृष्ट अन्तर छह मास ही सिद्ध होता है। आगे वे कहते हैं कि ऐसा मानने पर पाहुडसूत्र के साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि उसका उपदेश भिन्न है (धवला पु० ५, पृ० १११-१२)।

कषायप्राभृत में जघन्य अनुभागसत्कर्म से युक्त तीन संज्वलनकषाय वाले और पुरुषवेदियों का उत्कृष्ट अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा साधिक वर्ष प्रमाण कहा गया है।[4]

प्रकृत जीवस्थान-अन्तरानुगम में वेदमार्गणा के प्रसंग में पुरुषवेदी दो क्षपकों का उत्कृष्ट अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा साधिक वर्ष प्रमाण कहा गया है। —सूत्र १,६,२०४-५

---

१. धवला, पु० १६, पृ० ५२३; क०पा० सुत्त पृ० १८४-८७ आदि
२. वही, पृ० ५२७-२८; क०पा० सुत्त, पृ० ७५-७६
३. धवला, पु० ८, पृ० ९
४. तिसंजलण-पुरिसवेदाणं जहण्णाणुभागसंतकम्मियाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? जहण्णेण एगसमओ। उक्कस्सेण वस्सं सादिरेयं।—क०पा० सुत्त, पृ० १७०, चूर्णि १४५-४७

इस सूत्र की व्याख्या में धवलाकार ने इस साधिक वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर को स्पष्ट किया है व निरन्तर छह मास प्रमाण अन्तर को असम्भव बतलाया है। अन्त में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि किन्हीं सूत्र पुस्तकों में पुरुषवेद का अन्तर छह मास भी उपलब्ध होता है।[1]

(२०) **पाहुडसुत्त**—जीवस्थान-चूलिका में प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव मिथ्यात्व के तीन भाग कैसे करता है, इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जिस मिथ्यात्व का पूर्व में स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा घात किया जा चुका है उसके वह अनुभाग से पुनः घात करके तीन भाग करता है, क्योंकि "मिथ्यात्व के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुणाहीन और उससे सम्यक्त्व का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है" ऐसा पाहुडसुत्त में कहा गया है।[2]

(२१) **पाहुडचुण्णिसुत्त**—इसी जीवस्थान-चूलिका में सूत्रकार द्वारा आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है। —सूत्र १,९-६,३३

इसकी व्याख्या में उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध को सागरोपमकोटि लक्षपृथक्त्व प्रमाण प्ररूपित करने वाले पाहुडचुण्णिसुत्त के साथ वह विरोध को प्राप्त होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह दूसरा सिद्धान्त है। आगे विकल्प के रूप में उसके साथ समन्वय भी कर दिया गया है।[3]

(२२) **पाहुडसुत्त**—इसी जीवस्थान-चूलिका में आगे नारक आदि जीव विवक्षित गति में किस गुणस्थान के साथ प्रविष्ट होते हैं व किस गुणस्थान के साथ वहाँ से निकलते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने उस प्रसंग में आगे कहा है कि इसी प्रकार से सासादन गुणस्थान के साथ मनुष्यों में प्रविष्ट होकर उसी सासादन गुणस्थान के साथ उनके वहाँ से निकलने के विषय में भी कहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल के बिना सासादनगुणस्थान बनता नहीं है। आगे उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह कथन पाहुडसुत्त के अभिप्राय के अनुसार किया गया है। किन्तु जीवस्थान के अभिप्रायानुसार संख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्यों में सासादनगुणस्थान के साथ वहाँ से निकलना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपशम श्रेणि से पतित हुए जीव का सासादनगुणस्थान को प्राप्त होना असम्भव है। पर प्रकृत में संख्यात व असंख्यात वर्ष की आयुवालों की विवक्षा न करके सामान्य से वैसा कहा गया है, इसलिए उपर्युक्त कथन घटित हो जाता है।[4]

---

१. धवला पु० ५, पृ० १०५-६

२. धवला पु० ६, पृ० २३४-३५; णवरि सव्वपच्छा सम्मामिच्छत्तमणंतगुणहीणं। सम्मत्तमणंतगुणहीणं।—क०पा० सुत्त, पृ० १७१, चूर्णि १४९-५०

३. धवला, पु० ६, पृ० १७७

४. धवला, पु० ६, पृ० ४४४-४४५; एदिस्से उवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरदो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज, दो वि गच्छेज्ज, छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज। आसाणं पुण गदो जदि मरदि ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुस्सगदिं वा गंतु, णियमा देवगदिं गच्छदि। हंदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण आउगेण ण सक्को कसाए उवसामेदुं।—क०पा० सुत्त, पृ० ७२६-२७, चूर्णि ५४२-४५

(२३) कसायपाहुड—पूर्वोक्त भावविधान की दूसरी चूलिका में परम्परोपनिधा की प्ररू-पणा के प्रसंग में धवला में यह एक शंका उठायी गई है कि अधस्तन संख्यात अष्टांक और ऊर्वंक के अन्तरालों में हतसमुत्पत्तिक स्थान नहीं उत्पन्न होते हैं, यह कहाँ से जाना जाता है। इसके समाधान में वहां कहा गया है कि वह आचार्य के उपदेश से अथवा अनुभाग की वृद्धि-हानिविषयक "हानि सबसे स्तोक है; वृद्धि उससे विशेष अधिक है" इस अल्पबहुत्व से जाना जाता है।

इसी प्रसंग में आगे प्रकारान्तर से वहाँ यह भी कहा गया है कि अथवा वह कसायपाहुड के अनुभागसंक्रमविषयक सूत्र के व्याख्यान से जाना जाता है कि वे हतसमुत्पत्तिक स्थान सर्वत्र नहीं उत्पन्न होते हैं। इसे आगे कसायपाहुडगत उस सन्दर्भ से स्पष्ट भी कर दिया गया है।[1]

(२४) पाहुडचुण्णिसुत्त, चुण्णिसुत्त—वेदनाभावविधान में वर्ग व वर्गणाविषयक भेदाभेद के एकान्त का निराकरण करते हुए धवला में द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वर्गणा को एक और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनन्त भी कहा गया है। आगे इस प्रसंग में शंकाकार ने कहा है वर्गणा की एक संख्या को छोड़कर अनन्तता प्रसिद्ध नहीं है। इस पर यह पूछे जाने पर कि उसकी एकता कहाँ प्रसिद्ध है—इसके उत्तर में शंकाकार ने कहा है कि वह पाहुडचुण्णिसुत्त में प्रसिद्ध है, क्योंकि वहां लोकपूरणसमुद्घात की अवस्था में योग की एक वर्गणा होती है, ऐसा कहा गया है।[2]

इसके समाधान में वहाँ कहा गया है कि यह कुछ दोष नहीं है, क्योंकि एक वर्गणा में कहीं पर अनेकता का व्यवहार देखा जाता है। जैसे—एक प्रदेशवाली वर्गणाएँ कितनी हैं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वे अनन्त हैं, दो प्रदेशवाली वर्गणाएँ अनन्त हैं, इत्यादि वर्गणाविषयक व्याख्यान से उनकी अनन्तता जानी जाती है। यह व्याख्यान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि इसे अप्रमाण मानने पर व्याख्यान की अपेक्षा समान होने से उस चूर्णिसूत्र के भी अप्रमाणता का प्रसंग प्राप्त होता है।[3]

उपसंहार

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, धवलाकार ने आचार्य यतिवृषभ-विरचित कषायप्राभृतचूर्णि का उल्लेख कहीं कसायपाहुडचुण्णिसुत्त, कहीं चुण्णिसुत्त, कहीं पाहुड, कहीं पाहुडचुण्णिसुत्त और कहीं पाहुडसुत्त इन नामों के निर्देशपूर्वक किया है। संक्षेप में उन उल्लेखों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

(१) कसायपाहुड—धवला पु० १, पृ० २१७। पु० ८, पृ० ५६। पु० १०—पृ० ११३-१४, २०८, २६८-६६ व ४५१। पु० १२—पृ० ११६, १२६, २३०-३२ व २४४-४५। पु० १५, पृ० २७५। पु० १६—पृ० ३४७ व ५२७-२८।

---

१. देखिए धवला, पु० १२, पृ० २३०-३१ तथा क०प्रा० चूर्णि ५२३-३६ (क०पा० सुत्त पृ०३६२-६४)

२. देखिए धवला, पु० १२, पृ० ६४-६५ व क० प्रा० का यह संदर्भ—लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्से त्ति समजोगो ति णायव्वो।—क० पा० सुत्त, पृ० ६०२, चूर्णि १२

३. धवला, पु० १२, पृ० ६४-६५

(२) कसायपाहुडचुण्णिसुत्त—पु० १०, पृ० २६७।

(३) चुण्णिसुत्त—पु० ७, पृ० २३३। पु० ८, पृ० ६। पु० १२, पृ० ६५।

(४) पाहुड—पु० १०, पृ० १४२ व १४३।

(५) पाहुडचुण्णिसुत्त—पु० ५, पृ० ११२। पु० ६, पृ० १७७ व ३३१। पु० १२, पृ० ६४।

(६) पाहुडसुत्त—पु० ६, पृ० २३५ व ४४४। पु० १०, पृ० ११३-१४। पु० १२, पृ० २३१।

मूलकषायप्राभृत

धवलाकार ने कसायपाहुड की कुछ मूल गाथाओं को भी धवला में यथाप्रसंग ग्रन्थनाम-निर्देश के बिना उद्धृत किया है, जो इस प्रकार हैं—

क्रम	मूल गाथांक	गाथांश	धवला पु०	धवला पृ०	क० पा० गाथा (भाष्यगाथासम्मिलित)
१	४२	दंसणमोहस्सुव	६	२३६	६५
२	४३	सव्वणिरयभवणेसु	,,	,,	६६
३	४४	उवसामगो य सव्वो	,,	,,	६७
४	४५	सायारे पट्ठवगो	,,	,,	६८
५	४६	मिच्छत्तवेदणीयं	,,	२४०	६६
६	४७	सव्वम्हि ट्ठिदिविसेसेहिं	,,	,,	१००
७	४८	मिच्छत्तपच्चओ	,,	,,	१०१
८	५०	अंतोमुहुत्तमद्धं	,,	२४१	१०३
९	४९	सम्मामिच्छाइट्ठी	,,	,,	१०२
१०	५१	सम्मत्तपढमलंभो	,,	,,	१०४
११	५२	सम्मत्तपढमलंभस्स	,,	२४२	१०५
१२	५३	कम्माणि जस्स तिण्णि	,,	,,	१०६
१३	५४	सम्माइट्ठी सद्दहदि	,,	,,	१०७
१४	५५	मिच्छाइट्ठी णियमा	,,	,,	१०८
१५	५६	सम्मामिच्छाइट्ठी	,,	२४३	१०६
१६	१११	किट्टी करेदि णियमा	,,	३८२	१६४
१७	११२	गुणसेडि अणंतगुणा	,,	,,	१६५
१८	११४	किट्टी च ठिदिविसेसेसु	,,	३८३	१६७
१९	११५	सव्वाओ किट्टीओ	,,	,,	१६८
२०	६६	ओवट्टणा जहण्णा	,,	३४६	१५२
२१	१००	संकामेदुक्कड्डदि	,,	,,	१५३
२२	१०१	ओकड्डदि जे अंसे	,,	३४७	१५४
२३	१०२	एक्कं च ठिदिविसेसं	,,	,,	१५५
२४	२६	सव्वावरणीयं पुण	७	६३	७६

६. छेदसुत्त—यह एक प्रायश्चित्तविषयक कोई प्राचीन ग्रन्थ रहा प्रतीत होता है। वह कब और किसके द्वारा रचा गया है, यह ज्ञात नहीं होता। सम्भव है वह आ० वीरसेन के समक्ष रहा हो। पर जिस प्रसंग में धवला में उसका उल्लेख किया गया है, वहाँ प्रसंग के अनुसार उसका कुछ उद्धरण भी दिया जा सकता था। किन्तु उद्धरण उसका कुछ भी नहीं दिया गया। इससे धवलाकार के समक्ष उसके रहने में कुछ सन्देह होता है। प्रसंग इस प्रकार रहा है—

वेदनाकालविधान में आयुवेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट किसके होती है, इसका विचार करते हुए सूत्रकार ने उसके स्वामी के विषय में अनेक विशेषण दिये हैं। प्रसंगप्राप्त सूत्र (४,२, ६,१२) में वहाँ यह भी कहा गया है कि आयु की वह उत्कृष्ट कालवेदना स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुंसकवेदी इनमें से किसी के भी हो सकती है, क्योंकि इनमें से किसी के साथ उसका विरोध नहीं है।

इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार ने कहा है कि इस सूत्र में भाववेद का ग्रहण किया गया है, क्योंकि अन्यथा द्रव्य-स्त्रीवेद से भी नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु द्रव्य-स्त्रीवेद के साथ उसका बन्ध नहीं होता है, अन्यथा "सिंह पाँचवीं पृथिवी तक और स्त्रियाँ छठी पृथिवी तक जाती हैं" इस सूत्र[1] के साथ विरोध होने वाला है। द्रव्य-स्त्रीवेद के साथ देवों की उत्कृष्ट आयु का भी बन्ध नहीं होता है, अन्यथा "ग्रैवेयकों को आदि लेकर आगे के देवों में नियम से निर्ग्रन्थलिंग के साथ ही उत्पन्न होते हैं" इस सूत्र[2] के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु द्रव्य-स्त्रियों के वह निर्ग्रन्थलिंग सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्र आदि के छोड़े बिना उनके भावनिर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है। और द्रव्यस्त्रियों एवं द्रव्यनपुंसकवेदियों के वस्त्र आदि का परित्याग हो नहीं सकता है, क्योंकि वैसा होने पर छेदसुत्त के साथ विरोध होता है।

धवलाकार की प्रायः यह पद्धति रही है कि वे विवक्षित विषयक व्याख्यान की पुष्टि में अधिकतर प्राचीन ग्रन्थों के अवतरण देते रहे हैं, किन्तु इस प्रसंग में उन्होंने छेदसूत्र के साथ विरोध मात्र प्रकट किया है, प्रसंगानुरूप उसका कोई उद्धरण नहीं दिया।[3]

इसके पूर्व सत्प्ररूपणा में भी एक ऐसा ही प्रसंग आ चुका है, पर वहाँ उन्होंने छेदसूत्र जैसे किसी प्राचीन ग्रन्थ से उपर्युक्त अभिप्राय की पुष्टि नहीं की है।[4]

दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रायश्चित्तविषयक कुछ प्राचीन ग्रन्थ होने चाहिए[5], पर अभी

---

१. आ पंचमि त्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति।—मूला० १२-११३
पंचमखिदिपरियंतं सिंहो इत्थीवि छट्ठखिदि अंतं।—ति०प० २-२८५

२. तत्तो परं तु णियमा तव-दंसण-णाण-चरणजुत्ताणं।
णिग्गंथाणुववादो जाव दु सव्वट्ठसिद्धि त्ति॥—मूला० १२-१३५
परदो अच्चण-वद-तव-दंसण-णाण-चरणसंपण्णा।
णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं॥—ति०प० ८-५६१

३. धवला, पु० ११; पृ० ११४-१५

४. वही, पु० १, पृ० ३३२-३३

५. श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो प्रायश्चित्तविषयक बृहत्कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र जैसे ग्रन्थ पाये जाते हैं।

तक कहीं कोई वैसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

मा०दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'प्रायश्चित्तसंग्रह' में छेदपिण्ड, छेदशास्त्र, प्रायश्चित्त-चूलिका और प्रायश्चित्तग्रन्थ ये चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, पर वे सभी अर्वाचीन दिखते हैं। उनमें मैंने वैसे किसी प्रसंग को खोजने का प्रयत्न किया है, पर उनमें मुझे वैसा कोई प्रसंग दिखा नहीं है।

(७) जीवसमास—जीवस्थान-कालानुगम अनुयोगद्वार में प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए वहाँ धवलाकार ने तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल के प्रसंग में 'जीवसमासाए वि उत्तं' इस सूचना के साथ निम्न गाथा को उद्धृत किया है—

छप्पंच-णवविहाणं अत्थाणं णिजवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं[1] ॥

यह गाथा दि० प्रा० पंचसंग्रह के अन्तर्गत पाँच प्रकरणों में से प्रथम 'जीव-समास' प्रकरण में गाथांक १५९ के रूप में उपलब्ध होती है। साथ ही वह प्राकृत वृत्ति से सहित दूसरे प्रा० पंचसंग्रह के तीसरे 'जीव-समास' प्रकरण में भी गाथांक १४९ के रूप में उपलब्ध होती है।[2]

८. जोणिपाहुड—'प्रकृति' अनुयोगद्वार में केवलज्ञानावरणीय के प्रसंग में सूत्रकार द्वारा केवलज्ञान के स्वरूप का निर्देश करते हुए उसके विषयभूत कुछ विशिष्ट पदार्थों का उल्लेख किया गया है। उनमें अनुभाग भी एक है।—सूत्र, ५, ५ ९७-९८ (पु० १३)

धवला में उसकी व्याख्या करते हुए छह द्रव्यों की शक्ति को अनुभाग कहा गया है। वे हैं जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकाया-नुभाग और कालद्रव्यानुभाग। इनमें पुद्गलानुभाग के लक्षण का निर्देश करते हुए धवला में कहा गया है कि ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगों का विनाश करना, यह पुद्गलानुभाग का लक्षण है। निष्कर्ष रूप में वहाँ यह भी कहा गया है कि योनिप्राभृत में वर्णित मन्त्र-तन्त्र शक्तियों को पुद्गलानुभाग जानना चाहिए।[3]

जैसा कि पूर्व में 'धरसेनाचार्य व योनिप्राभृत' शीर्षक में कहा जा चुका है, वह कदाचित् धरसेनाचार्य के द्वारा विरचित हो सकता है।

९. णिरयाउवंधसुत्त—यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा है या किसी कर्मग्रन्थ का कोई प्रकरण विशेष रहा है, यह अन्वेषणीय है।

पूर्वोक्त जीवस्थान-कालानुगम अनुयोगद्वार में प्रथमादि सात पृथिवियों में वर्तमान मिथ्यादृष्टि नारकियों के उत्कृष्टकाल प्रमाण के प्ररूपक सूत्र (१,५,४) की व्याख्या में धवला-कार ने पृथक्-पृथक् प्रथमादि पृथिवियों में उनके उस उत्कृष्ट काल काउल्लेख किया है। कारण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह कहा है कि इससे अधिक आयु का बन्ध उनके सम्भव नहीं है। इस विषय में यह पूछे जाने पर कि वह कहाँ से जाना जाता है, उन्होंने "एक्कं तिय सत्त

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३१५

२. भा. ज्ञानपीठ से प्रकाशित पंचसंग्रह में पृ० ३४ व ५८२ (यह गाथा 'ऋषभदेव केशरीमल श्वेता० संस्था, रतलाम से प्रकाशित (ई० १९२८) जीव-समास में भी हो सकती है।)

३. जोणिपाहुडे भणिदमंत-तंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो।

—धवला, पु० १३, पृ० ३४९

दस" आदि गाथा को उद्धृत करते हुए कहा है कि वह इस 'णिरयाउवंधसुत्त' से जाना जाता है।[1]

१०. तत्त्वार्थसूत्र—धवलाकार ने इसका उल्लेख तच्चट्ठ, तच्चत्थ, तच्चत्थसुत्त और तत्त्वार्थसूत्र इन नामों के निर्देशपूर्वक किया है। यथा—

तच्चट्ठ—जीवस्थान-चूलिका में प्रथम सम्यक्त्व कहाँ किन बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है, इसका विचार किया गया है। वहाँ मनुष्यगति के प्रसंग में सूत्रकार द्वारा उसके उत्पादक तीन कारणों का निर्देश किया गया है—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन।

—सूत्र १, ९-९, २९-३०

इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि तच्चट्ठ में नैसर्गिक—स्वभावतः उत्पन्न होनेवाला भी—प्रथम सम्यक्त्व कहा गया है।[2] उसे भी यहीं पर देखना चाहिए अर्थात् वह भी इन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है; यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जाति-स्मरण और जिनबिम्ब-दर्शन के बिना उत्पन्न होनेवाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व सम्भव नहीं है।[3]

नैसर्गिक का अभिप्राय इतना ही समझना चाहिए कि वह दर्शनमोह के उपशम आदि के होने पर परोपदेश के बिना उत्पन्न होता है।[4]

तच्चत्थ—बन्धन अनुयोगद्वार में सूत्रकार द्वारा अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—औपशमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध और क्षायिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध।—सूत्र ५, ६ १६

इसकी व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने प्रसंग-प्राप्त एक शंका के समाधान में जीवभाव (जीवत्व) को औदयिक सिद्ध किया है। आगे उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि तच्चत्थ में जो जीवभाव को पारिणामिक कहा गया है[5] वह प्राण-धारण की अपेक्षा नहीं कहा गया है, किन्तु चैतन्य का अवलम्बन लेकर वहाँ उसे पारिणामिक कहा गया है।

इसी प्रसंग में आगे धवलाकार ने भव्यत्व और अभव्यत्व को भी विपाकप्रत्ययिक कहा है। यहाँ यह शंका उठायी गयी है कि तच्चत्थ (२-७) में तो उन्हें पारिणामिक कहा गया है, उसके साथ विरोध कैसे न होगा। इसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि असिद्धत्व की अनादि-अनन्तता और अनादि-सान्तता का कोई कारण नहीं है, इसी अपेक्षा से उन अभव्यत्व और भव्यत्व को वहाँ पारिणामिक कहा गया है, इससे उसके साथ विरोध होना सम्भव नहीं है।[6]

तच्चत्थसुत्त—जीवस्थान-कालानुगम अनुयोगद्वार में कालविषयक निक्षेप के प्रसंग में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने वर्ण-गन्धादि से

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३६०-६१

२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तन्निसर्गादधिगमाद्वा।—त० सूत्र १,२,३

३. धवला, पु० ६, पृ० ४३०-३१

४. तस्मिन् सति यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्।—स०सि० १-३

५. जीव-भव्याभव्यत्वानि च।—त० सू० २-७

६. धवला, पु० १४, पृ० १३

रहित वर्तनालक्षणवाले लोकप्रमाण अर्थ को तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल कहा है। इसी प्रसंग में आगे उन्होंने कहा है कि गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा प्रकाशित तच्चत्थसुत्त में भी "वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" (त० सू० ५-२२) इस प्रकार द्रव्यकाल की प्ररूपणा की गयी है।[1]

तत्त्वार्थसूत्र—जीवस्थान-सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में एकेन्द्रियादि जीवों की प्ररूपणा के प्रसंग में शंकाकार द्वारा यह पूछा गया है कि पृथिवी आदि स्थावर जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उनके शेष इन्द्रियाँ नहीं होती हैं, यह कैसे जाना जाता है। इसके समाधान में धवलाकार ने "जाणदि पस्सदि भुंजदि"[2] इत्यादि गाथा-सूत्र को उद्धृत करते हुए कहा है, वह उसके प्ररूपक इस आर्ष से जाना जाता है। तत्पश्चात् विकल्प के रूप में उन्होंने यह भी कहा है कि अथवा "वनस्पत्यन्तानामेकम्" इस तत्त्वार्थसूत्र (२-२२) से भी जाना जाता है कि वनस्पति-पर्यन्त पृथिवी आदि स्थावर जीवों के एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है।[3]

यहीं पर आगे द्वीन्द्रियादि जीवों की प्ररूपणा के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि अमुक जीव के इतनी ही इन्द्रियां होती हैं, यह कैसे जाना जाता है। इसके उत्तर में वहाँ "एइंदियस्स फुसणं" इत्यादि गाथा-सूत्र को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि इस आर्ष वचन से वह जाना जाता है। तत्पश्चात् विकल्प के रूप में वहाँ यह भी कहा गया है कि वह "कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि" इस तत्त्वार्थसूत्र (२-२३) से जाना जाता है। इस प्रसंग में धवलाकार ने उपर्युक्त गाथा-सूत्र और इस तत्त्वार्थसूत्र के अर्थ को भी स्पष्ट कर दिया है।[4]

११. तत्त्वार्थभाष्य—धवलाकार का अभिप्राय 'तत्त्वार्थभाष्य' से भट्टाकलंकदेव-विरचित 'तत्त्वार्थवार्तिक' का रहा है। जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में षटखण्डागम के प्रथम खण्डभूत जीव-स्थान का पूर्वश्रुत से सम्बन्ध प्रकट करते हुए धवलाकार ने अंगबाह्य के चौदह और अंग-प्रविष्ट के बारह भेदों को स्पष्ट किया है। उस प्रसंग में अन्तकृद्दशा नामक आठवें अंग का और अनुत्तरौपपादिक दशा नामक नौवें अंग का स्वरूप दिखलाकर उसकी पुष्टि में धवलाकार ने 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' इस सूचना के साथ उन दोनों अंगों के तत्त्वार्थवार्तिकगत लक्षणों को उद्धृत किया है, जो कुछ थोड़े से नाम-भेद के साथ उसी रूप में तत्त्वार्थवार्तिक में उपलब्ध होते हैं। विशेष इतना है कि धवला में उद्धृत अन्तकृद्दशा के लक्षण से आगे तत्त्वार्थवार्तिक में इतना अधिक है—"अथवा अन्तकृतां दश अन्तकृद्दश, तस्यामर्हदाचार्यविधिः सिध्यतां च।"[5]

सम्भवतः यह लक्षण का विकल्प धवलाकार को अभीष्ट नहीं रहा, इसीलिए उन्होंने उसे उद्धृत नहीं किया।

१२. तिलोयपण्णत्तिसुत्त—जीवस्थानद्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्रकार द्वारा क्षेत्र की अपेक्षा

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३१६
२. धवला, पु० ४, पृ० १३६
(यह गाथासूत्र दि० प्रा० पंचसंग्रह (१-६९) में उपलब्ध होता है।)
३. धवला, पु० १ पृ० २३९
४. धवला, पु० १, पृ० २५८-५९
५. वही, पृ० १०३ तथा त० वा० १, २०, १२, पृ० ५१

मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण अनन्तानन्तलोक निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र १,२,४

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने सूत्रोक्त 'लोक' से जगश्रेणि के घन को ग्रहण किया है। इस प्रसंग में उन्होंने सात राजुओं के आयाम को जगश्रेणि और तिर्यग्लोक के मध्यम विस्तार को राजु कहा है। इस पर यह पूछने पर कि तिर्यग्लोक की समाप्ति कहाँ हुई है, धवलाकार ने कहा है उसकी समाप्ति तीन वातवलयों के बाह्य भाग में हुई है। इस पर पुनः यह पूछा गया है कि स्वयम्भूरमण समुद्र की बाह्य वेदिका से आगे कितना क्षेत्र जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति हुई है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि असंख्यात द्वीप-समुद्रों के द्वारा जितने योजन रोके गये हैं उनसे संख्यात गुणे आगे जाकर उसकी समाप्ति हुई है। प्रमाण के रूप में उन्होंने ज्योतिषी देवों के दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्ग-प्रमाण भागहार के प्ररूपक सूत्र (१, २, ५५) को और "दुगुणदुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगे" इस तिलोयपण्णत्ति सुत्त को प्रस्तुत किया है।[1]

यह ज्ञातव्य है कि 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' शोलापुर से प्रकाशित वर्तमान तिलोयपण्णत्ती में उपर्युक्त गाथांश उपलब्ध नहीं होता।[2] सम्भव है वह उसकी किसी प्राचीन प्रति में लेखक की असावधानी से लिखने से रह गया है। तत्पश्चात् उसके आधार से जो उसकी अन्य प्रतियाँ लिखी गई हैं उनमें उसका उपलब्ध न होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत संस्करण में अनेक ऐसे प्रसंग रहे हैं जहाँ पाठ स्खलित हैं। यही नहीं, कहीं-कहीं तो पूरी गाथा ही स्खलित हो गई है। उदाहरण के रूप में ऋषभादि तीर्थंकरों के केवलज्ञान के उत्पन्न होने की प्ररूपणा में सम्भव जिनेन्द्र के केवलज्ञान की प्ररूपक गाथा स्खलित हो गयी है। उसका अनुमित हिन्दी अनुवाद कोष्ठक [ ] के अन्तर्गत कर दिया गया है।[3] इतनी मोटी भूल की सम्भावना ग्रन्थकार से तो नहीं की जा सकती है।

ऐसे ही कुछ कारणों से अनेक विद्वानों का अभिमत है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती यतिवृषभाचार्य की रचना नही है। पर वैसा प्रतीत नहीं होता। कारण यह कि उपलब्ध 'तिलोयपण्णत्ती' एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सुव्यवस्थित प्रामाणिक रचना है जो प्राचीनतम भौगोलिक ग्रन्थों पर आधारित है। स्थान-स्थान पर उसमें कितने ही प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है तथा यथाप्रसंग पाठान्तर व मतभेद को भी स्पष्ट किया गया है।[4]

इस सारी स्थिति को देखते हुए उसके यतिवृषभाचार्य द्वारा रचे जाने में सन्देह करना

---

१. धवला, पु० ३, पृ० ३६; इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा 'धवलागत-विषय-परिचय' में द्रव्य-प्रमाण के अन्तर्गत मिथ्यादृष्टि जीवराशि के प्रमाण के प्रसंग में तथा स्पर्शनानुगम के अन्तर्गत सासादन सम्यग्दृष्टियों के स्पर्शन के प्रसंग में की जा चुकी है, वहाँ उसे देखा जा सकता है।

२. इससे मिलती-जुलती एक गाथा धवला पु० ४, पृ० १५१ पर इस प्रकार उद्धृत की गयी है—

चंदाइच्च-गहेहिं चेवं णक्खत्त ताररूवेहिं।
दुगुण-दुगुणेहिं णीरंतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो ॥

३. ति०प०, भाग १, पृ० २२८

४. ति०प० २, परिशिष्ट पृ० ९६५ और ९८७-८८

उचित नहीं दिखता। यह सम्भव है कि उसकी प्रतियों में कहीं कुछ पाठ स्खलित हो गये हों तथा प्ररूपित विषय के स्पष्टीकरणार्थ उससे सम्बद्ध कुछ सन्दर्भ भी पीछे किन्हीं विद्वानों के द्वारा जोड़ दिये गये हों।[1]

धवला में उसका एक दूसरा उल्लेख जीवस्थान-स्पर्शनानुगम के प्रसंग में किया गया है। ज्योतिषी देव सासादन-सम्यग्दृष्टियों के सूत्र (१, ४, ४) में निर्दिष्ट आठ-बटे चौदह (८/१४) भावप्रमाण स्पर्शनक्षेत्र के लाने के लिए स्वयम्भूरमण समुद्र के परे राजू के अर्धच्छेद माने गये हैं। इसके प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि स्वयंम्भूरमण समुद्र के परे राजू के अर्धच्छेद मानने पर "जितनी द्वीप-समुद्रों की संख्या है और जितने जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद हैं, राजु के एक अधिक उतने ही अर्धच्छेद होते हैं" इस परिकर्म के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होने वाला है।

इसके समाधान में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि उसका उपर्युक्त परिकर्मवचन के साथ तो विरोध होगा, किन्तु ज्योतिषी देवों की संख्या के लाने में कारणभूत दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्ग-प्रमाण जगप्रतर के भागहार के प्ररूपक सूत्र (१,२,५५—पु० ३) के साथ उसका विरोध नहीं होगा। इसलिए स्वयम्भूरमण समुद्र के परे राजु के अर्धच्छेदों के प्ररूपक उस व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिए, न कि उक्त परिकर्मवचन को; क्योंकि वह सूत्र के विरुद्ध है और सूत्र के विरुद्ध व्याख्यान होता नहीं है, अन्यथा व्यवस्था ही कुछ नहीं रह सकती है।

प्रसंग के अन्त में धवलाकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेदों से सहित द्वीप-सागरों के रूपों-प्रमाण राजु के अर्धच्छेदों के प्रमाण की यह परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है, वह केवल तिलोयपण्णत्ति-सुत्त का अनुसरण करती है। उसकी प्ररूपणा हमने ज्योतिषी देवों के भागहार के प्ररूपक सूत्र का आलम्बन लेनेवाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ के साधनार्थ की है।[2]

यहाँ यह स्मरणीय है कि धवला में इस प्रसंग से सम्बद्ध जो यह गद्यभाग है वह प्रसंगानुरूप कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ प्रायः उसी रूप में तिलोयपण्णत्ती में उपलब्ध होता है। इस को वहाँ किसी के द्वारा निश्चित ही पीछे जोड़ा गया है। यह उस (तिलोयपण्णत्ती) में किये गये 'केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्तानुसारिणी' इस उल्लेख से स्पष्ट है, क्योंकि कोई भी ग्रन्थकार विवक्षित विषय की प्ररूपणा की पुष्टि में अपने ही ग्रन्थ का प्रमाण के रूप में वहाँ उल्लेख नहीं कर सकता है।[3]

१३. परियम्म—धवला में इसका उल्लेख अनेक प्रसंगों पर किया गया है।[4] कहीं पर

---

१. इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए ति० प० २ की प्रस्तावना पृ० १५-२० और पुरातन जैन वाक्यसूची' की प्रस्तावना पृ० ४१-५७ द्रष्टव्य हैं।

२. धवला, पु० ४; पृ० १५५-५७

३. धवला, पु० ४, पृ० १५२-५६ और ति० प० भा० २, पृ० ७६४-६६

४. यथा—पु० ३, पृ० १६, २४, २५, ३६, १२४, १२७, १३४, २६३, ३३७ व ३३६। पु० ४, पृ० १५६, १८४ व ३६०। पु० ७, पृ० १४५, २८५ व ३७२। पु० ६, पृ० ४८ व ५६। पु० १०, पृ० ४८३। पु० १२, पृ० १५४। पु० १३, पृ० १८; २६२-६३ व २६६। पु० १४; पृ० ५४, ३७४ व ३७५

यदि उसे सर्वाचार्य-सम्मत बतलाकर प्रमाणभूत प्रकट किया गया है, तो कहीं पर उसे सूत्र के विरुद्ध होने से अप्रमाणभूत भी ठहरा दिया गया है। इसी प्रकार कहीं पर उसके आश्रय से विवक्षित विषय की पुष्टि की गई है और कहीं पर उसके विरुद्ध होने से दूसरी मान्यताओं को असंगत घोषित किया गया है। धवला में जो प्रचुरता से उसका उल्लेख किया गया है उसमें पु० ३, पृ० १९ तथा पु० ४, पृ० १८३-८४ व १५५-५६ पर किये गये उसके तीन उल्लेखों को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।[1] शेष उल्लेखों में कुछ को यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

(४) जीव-स्थान-द्रव्य प्रमाणानुगम में सूत्रोक्त नारक-मिथ्यादृष्टियों के द्रव्यप्रमाण को स्पष्ट करते हुए धवला में प्रसंग-प्राप्त असंख्यात के अनेक भेद प्रकट किये गये हैं। आगे यथाक्रम से उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनमें से एक 'गणना' असंख्यात के प्रसंग में यह कह दिया है कि 'जो गणना संख्यात है उसका कथन परिकर्म में किया गया है।'

(५) उपर्युक्त द्रव्यप्रमाणानुगम में उन्हीं मिथ्यादृष्टि नारकों के क्षेत्र-प्रमाण को जगप्रतर के असंख्यातवें भाग-मात्र असंख्यात जगश्रेणियाँ बतलाते हुए उन जगश्रेणियों की विष्कम्भसूची अंगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित उसके प्रथम वर्गमूल-प्रमाण निर्दिष्ट की गई है।

—सूत्र १,२,१७

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने सूत्र में निर्दिष्ट अंगुलसामान्य से सूच्यंगुल को ग्रहण किया है। इस पर वहाँ यह शंका उठती है कि सूत्र में सामान्य से 'अंगुल का वर्गमूल' ऐसा निर्देश करने पर उससे प्रतरांगुल अथवा घनांगुल के वर्गमूल का ग्रहण कैसे नहीं प्राप्त होता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि "आठ का पुनः-पुनः वर्ग करने पर असंख्यात वर्ग-स्थान जाकर सौधर्म-ऐशान की विष्कम्भ-सूची उत्पन्न होती है, इस विष्कम्भ-सूची का एक बार वर्ग करने पर नारकविष्कम्भ-सूची होती है; उसका एक बार वर्ग करने पर भवनवासी विष्कम्भ-सूची होती है और उसका एक बार वर्ग करने पर घनांगुल होता है" इस परिकर्म के कथन से जाना जाता है कि घनांगुल व प्रतरांगुल के वर्गमूल का यहाँ ग्रहण नहीं होता; किन्तु सूच्यंगुल के वर्गमूल का ही ग्रहण होता है। कारण यह है कि इसके बिना घनांगुल का द्वितीय वर्गमूल बनता नहीं है।[2]

(६) जीव-स्थान-कालानुगम में बादर एकेन्द्रियों के उत्कृष्टकाल को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि द्वीन्द्रियादि कोई जीव अथवा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव बादर एकेन्द्रियों में उत्पन्न होकर यदि अतिशय दीर्घ काल तक वहाँ रहता है तो वह असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीकाल तक ही रहता है, तत्पश्चात् निश्चय से वह अन्यत्र चला जाता है।

इस प्रसंग में वहाँ यह शंका की गई है कि "कर्मस्थिति को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादर स्थिति होती है" इस प्रकार जो यह परिकर्म में कहा गया है उससे प्रस्तुत सूत्र विरुद्ध जाता है, इसलिए उसे संगत नहीं कहा जा सकता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण यह कि परिकर्म का वह कथन चूँकि

---

१. देखिए पीछे 'षट्खण्डागम पर निर्मित कुछ टीकाओं का उल्लेख' शीर्षक में 'पद्मनन्दी-विरचित परिकर्म' शीर्षक।

२. धवला, पु० ३, पृ० १३३-३४

सूत्र का अनुसरण नहीं करता है, इसलिए वस्तुतः वही असंगत है।[1]

(७) इसी कालानुगम में आगे सूत्रकार द्वारा एक जीव की अपेक्षा बादर पृथिवीकायिक आदि जीवों का उत्कृष्ट काल कर्मस्थिति प्रमाण कहा गया है।—सूत्र १, ५, १४४

उसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने 'कर्मस्थिति' से सब कर्मों की स्थिति को न ग्रहण करके गुरूपदेश के अनुसार एक दर्शनमोहनीय कर्म की ही उत्कृष्ट स्थिति को ग्रहण किया है। क्योंकि उसकी सत्तर कोड़ाकोड़ि सागरोपम-प्रमाण उत्कृष्टस्थिति में समस्त कर्मस्थितियाँ संगृहीत हैं, इसलिए वही प्रधान है। यहाँ धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि कितने ही आचार्य कर्मस्थिति से चूँकि बादरस्थिति परिकर्म में उत्पन्न है, इसलिए कार्य में कारण का उपचार करके बादर स्थिति को ही कर्मस्थिति स्वीकार करते हैं। पर उनका वैसा मानना घटित नहीं होता है, क्योंकि गौण और मुख्य के मध्य में मुख्य का ही बोध होता है, ऐसा न्याय है। आगे उसे और भी स्पष्ट किया है। तदनुसार बादरस्थिति को कर्मस्थिति स्वीकार करना संगत नहीं है।[2]

(८) क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत एक जीव की अपेक्षा कालानुगम अनुयोगद्वार में यही प्रसंग पुनः प्राप्त हुआ है (सूत्र २, २, ७७)। वहाँ भी धवलाकार ने कर्मस्थिति से सत्तर कोड़ा-कोड़ि सागरोपम प्रमाणकाल को ग्रहण किया है। यहाँ भी धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कुछ आचार्य सत्तर कोड़ाकोड़ि सागरोपमों को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादर पृथिवीकायिकादि जीवों की कायस्थिति होती है, ऐसा कहते हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट यह 'कर्मस्थिति' नाम कारण में कार्य के उपचार से है। इस पर यह पूछने पर कि ऐसा व्याख्यान है, यह कैसे जाना जाता है, उत्तर में कहा गया है कि इस प्रकार के व्याख्यान के बिना चूँकि "कर्मस्थिति को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादरस्थिति होती है" यह परिकर्म का कथन बनता नहीं है, इसी से जाना जाता है कि वैसा व्याख्यान है।[3]

(९) इसी क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत द्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्रकार द्वारा अकषायी जीवों का द्रव्यप्रमाण अनन्त कहा गया है।—सूत्र २, ५, ११६-१७

इस प्रसंग में यह पूछने पर कि अकषायी जीवराशि का यह अनन्त प्रमाण नौ प्रकार के अनन्त में से कौन से अनन्त में है, धवलाकार ने कहा है कि वह अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्त में है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अनन्तानन्त की खोज की जाती है वहाँ-वहाँ अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्तानन्त को ग्रहण करना चाहिए, ऐसा परिकर्म वचन है।[4]

(१०) उपर्युक्त क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत स्पर्शनानुगम में प्रथम पृथिवी के नारकियों का स्पर्शन-क्षेत्र, स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद पदों की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र २,७,६-७

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि प्रथम पृथिवी के नारकियों द्वारा अतीत काल में मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदों की अपेक्षा तीन लोकों का असंख्यातवाँ भाग, तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग और अढाई द्वीप से असंख्यात गुणा क्षेत्र स्पर्श किया गया है।

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३८९-९०

२. धवला, पु० ४, पृ० ४०२-३

३. धवला, पु० ७, पृ० १४५

४. धवला, पु० ७, पृ० २८५

इस प्रसंग में धवलाकार ने गुरु के उपदेशानुसार तिर्यग्लोक का प्रमाण एक राजु विष्कम्भवाला, सात राजु आयत और एक लाख योजन बाहल्यवाला कहा है। आगे, पूर्व के समान, उन्होंने यहाँ भी यह स्पष्ट कर दिया है कि जो आचार्य उस तिर्यग्लोक को एक लाख योजन बाहल्य वाला और एक राजु विस्तृत झालर के समान (गोल) कहते हैं उनके अभिमतानुसार मारणान्तिक क्षेत्र और उपपाद क्षेत्र तिर्यग्लोक से साधिक ठहरते हैं। पर वह घटित नहीं होता, क्योंकि उनके इस उपदेश के अनुसार लोक में तीन सौ तेतालीस घनराजु की उत्पत्ति नहीं बनती। वे उतने घनराजु असिद्ध नहीं हैं, क्योंकि वे "सात से गुणित राजु-प्रमाण जगश्रेणि, जगश्रेणि का वर्ग जगप्रतर और जगश्रेणि से गुणित जगप्रतर प्रमाणलोक (१×७×७×७= ३४३) होता है" इस समस्त आचार्य-सम्मत परिकर्म से सिद्ध है।[1]

(११) वेदनाखण्ड के अन्तर्गत 'कृति' अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में आचार्य भूतबलि ने विस्तृत मंगल किया है। उस प्रसंग में उन्होंने बीजबुद्धि ऋद्धि के धारकों को भी नमस्कार किया है।

—सूत्र ४, १, ७

उसकी व्याख्या में धवलाकार ने बीजबुद्धि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि जो बुद्धि संख्यात पदों के अनन्त अर्थ से सम्बद्ध अनन्त लिंगों के आश्रय से बीजपद को जानती है, उसे बीजबुद्धि कहा जाता है। इस पर वहाँ यह शंका की गयी है कि बीजबुद्धि अनन्त अर्थ से सम्बद्ध अनन्त लिंगों से युक्त बीजपद को नहीं जानती है, क्योंकि वह क्षायोपशमिक है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार क्षायोपशमिक परोक्ष-श्रुतज्ञान केवलज्ञान के विषयभूत अनन्त पदार्थों को परोक्ष रूप से ग्रहण करता है, उसी प्रकार मतिज्ञान भी सामान्य रूप से अनन्त पदार्थों को ग्रहण करता है, इसमें कुछ विरोध नहीं है।

इस पर यहाँ पुनः यह शंका की गयी है कि यदि श्रुतज्ञान का विषय अनन्त संख्या है तो परिकर्म में जो यह कहा गया है कि चौदह पूर्वों के धारक का विषय उत्कृष्ट संख्यात है, वह कैसे घटित होगा।[2] इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि यह कुछ दोष नहीं है, क्योंकि चतुर्दश-पूर्वी उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है, ऐसा वहाँ नियम निर्धारित नहीं किया गया है।[3]

धवलाकार का यह समाधान उनकी समन्वयात्मक बुद्धि का परिचायक है।

(१२) वेदना-द्रव्यविधान-चूलिका में योगस्थानगत स्पर्धकों के अल्पबहुत्व के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि जघन्य स्पर्धक के अविभागप्रतिच्छेदों का जघन्य योगस्थान

---

१ धवला, पु० ७, पृ० ३७१-७२

२. जदि सुदणाणिस्स विसओ अणंतसंखा होदि तो जमुक्कस्ससंखेज्जं विसओ चोद्दसपुव्विस्सेत्ति परियम्मे उत्तं तं कधं घडदे?—धवला, पु० ९, पृ० ५६

अइया जं संखाणं पंचिंदियविसओ तं संखेज्जं णाम। तदो उवरि जं ओहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम। तदो उवरि जं केवलणाणस्सेव विसओ तमणंतं णाम।

—धवला, पु० ३, पृ० २६७-६८

त (अजहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं) कस्स विसओ? चोद्दस पुव्विस्स। ति०प० १, पृ० १८०; अजहण्णमक्कस्सासंखेज्जासंखेज्जयं कस्स विसओ? ओधिणाणिस्स। ति०प० १, पृ० १८२; अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणंतयं कस्य विसओ? केवलणाणिस्स। ति० प० १, पृ० १८३

३. धवला पु० ९, ५५-५७ (इसके पूर्व पृ० ४८ पर भी परिकर्म का एक उल्लेख द्रष्टव्य है)

के अविभागप्रतिच्छेदों में भाग देने पर निरग्र होकर सिद्ध होता है, यह कैसे जाना जाता है। इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि जघन्य स्पर्धक और जघन्य योगस्थान इनके अविभागप्रतिच्छेदों में चूंकि कृतयुग्मता[1] देखी जाती है, इसीसे जाना जाता है कि जघन्य स्पर्धक के अविभागप्रतिच्छेदों का जघन्य योगस्थान के अविभागप्रतिच्छेदों में भाग देने पर निरग्र होकर सिद्ध होता है। उस कृतयुग्मता का ज्ञान अल्पबहुत्वदण्डक से होता है, यह कहते हुए आगे धवला में उस अल्पबहुत्व को प्रस्तुत किया गया है। और अन्त में कहा गया है कि ये योगाविभागप्रतिच्छेद परिकर्म में वर्ग-समुत्थित कहे गये हैं। इन योगाविभाग-प्रतिच्छेदों को पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र योगगुणकार से अपवर्तित करने पर जघन्य योगस्थान के अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं। वे भी कृतयुग्म हैं।[2]

(१३) वेदनाभावविधान अनुयोगद्वार में संख्यात भागवृद्धि किस वृद्धि से होती है, यह पूछने पर सूत्रकार ने कहा है कि वह एक कम जघन्य असंख्यात की वृद्धि से होती है।

—सूत्र ४,२,७,२०७-८

इसकी व्याख्या करते हुए उस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि सूत्र में सीधे 'उत्कृष्ट संख्यात न कहकर एक कम जघन्य असंख्यात' ऐसा क्यों कहा गया है। इससे सूत्र में जो लाघव रहना चाहिए, वह नहीं रहा।

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उत्कृष्ट संख्यात के प्रमाण के साथ संख्यात भागवृद्धि के प्रमाण की प्ररूपणा के लिए सूत्र में वैसा कहा गया है। यदि कहा जाय कि उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण तो परिकर्म से अवगत है तो ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि परिकर्म के सूत्ररूपता नहीं है। अथवा आचार्य के अनुग्रह से पदरूप से निकले हुए उस सबके इससे पृथक् होने का विरोध है। इसलिए उससे उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण सिद्ध नहीं होता है।[3]

(१४) वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'स्पर्श' अनुयोगद्वार में देशस्पर्श के प्रसंग में शंकाकार ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि यह देशस्पर्श स्कन्ध के अवयवों में ही होता है, परमाणु पुद्गलों के नहीं होता, क्योंकि वे अवयवों से रहित हैं। इस अभिप्राय को असंगत बतलाते हुए धवला में कहा गया है कि परमाणुओं की निरवयवता असिद्ध है।

इस पर शंकाकार ने कहा है कि परमाणुओं की निरवयवता असिद्ध नहीं है, क्योंकि "अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं" अर्थात् परमाणु प्रदेशों से रहित होता हुआ इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य नहीं है, यह कहकर परिकर्म में उसकी निरवयवता को प्रकट किया गया है।[4]

---

१. जिस संख्या में ४ का भाग देने पर शेष कुछ न रहे, उसे कृतयुग्म कहा जाता है। जैसे—१६ (१६ ÷ ४ = ४)। देखिये पु० १०, पृ० २२-२३

२. धवला, पु० १०, पृ० ४८२-८३

३. धवला, पु० १२, पृ० १५४

४. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि॥

—नि० सा० २६ (स० सि० २-२५ में उद्धृत)

अंतादि-मज्झहीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा॥—ति० प० १-९८

इसका निराकरण करते हुए धवला में कहा गया है कि 'अपदेश' का अर्थ निरवयव नहीं है। यथा—प्रदेश नाम परमाणु का है, वह जिस परमाणु में समवेत रूप से नहीं रहता है, उस परमाणु को परिकर्म में अप्रदेश कहा गया है। आगे धवलाकार ने परमाणु को स्कन्ध की अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से सावयव सिद्ध किया है।[1]

(१५) आगे 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में प्रसंग-प्राप्त बीस प्रकार के श्रुतज्ञान की प्ररूपणा करते हुए धवला में लब्ध्यक्षर ज्ञान के प्रसंग में यह कहा गया है कि उसमें सब जीवराशि का भाग देने पर सब जीवराशि से अनन्त गुणे ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद आते हैं।

इस प्रसंग में वहाँ यह पूछा गया है कि लब्ध्यक्षर ज्ञान सब जीवराशि से अनन्त गुणा है, यह कहाँ से जाना जाता है। इसके उत्तर में यह कहकर, कि वह परिकर्म से जाना जाता है, आगे धवला में प्रसंग-प्राप्त परिकर्म के उस सन्दर्भ को उद्धृत भी कर दिया गया है।[2]

(१६) यहीं पर आगे काल की अपेक्षा अवधिज्ञान के विषय के प्रसंग में सूत्रकार ने समय व आवलि आदि कालभेदों को ज्ञातव्य कहा है।—सूत्र ५, ५, ५६

इसकी व्याख्या के प्रसंग में क्षण-लव आदि के स्वरूप को प्रकट करते हुए धवलाकार ने स्तोक को क्षण कहकर उसे संख्यात आवलियों का प्रमाण कहा है और उसकी पुष्टि "संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास और सात उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है" इस परिकर्मवचन से की है।[3]

(१७) पूर्वोक्त वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार में वर्गणाप्ररूपणा के प्रसंग में धवलाकार ने एकप्रदेशिक परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणा को परमाणु स्वरूप कहा है। इस पर वहाँ यह शंका उठायी गयी है कि परमाणु तो अप्रत्यक्ष है, क्योंकि वह इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने के योग्य नहीं है। इसलिए यहाँ सूत्र (५, ६, ७६) में जो उसके लिए 'इमा' अर्थात् 'यह' ऐसा प्रत्यक्ष निर्देश किया गया है वह घटित नहीं होता है।

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि आगम-प्रमाण से उसका प्रत्यक्ष बोध सिद्ध है, इस प्रकार उसके प्रत्यक्ष होने पर उसके लिए सूत्र में 'इमा' पद के द्वारा जो प्रत्यक्ष-निर्देश किया गया है, वह संगत है।

इस पर वहाँ पुनः यह शंका की गई है कि परिकर्म में परमाणु को 'अप्रदेश' कहा गया है, पर यहाँ उसको एक प्रदेशवाला कहा जा रहा है; इस प्रकार इन दोनों सूत्रों में विरोध कैसे न होगा। इसके उत्तर में धवला में कहा गया है कि यह कुछ दोष नहीं है, क्योंकि परिकर्म में 'अप्रदेश' कहकर एक प्रदेश के अतिरिक्त द्वितीयादि प्रदेशों का प्रतिषेध किया गया है। कारण यह है कि 'न विद्यन्ते द्वितीयादयः प्रदेशा यस्मिन् सोऽप्रदेशः परमाणुः' इस निरुक्ति के अनुसार जो द्वितीय-आदि प्रदेशों से रहित होता है उसका नाम परमाणु है, यह परिकर्म में उसका अभिप्राय प्रकट किया गया है। यदि उसे प्रदेश से सर्वथा रहित माना जाय, तो खरविषाण के समान उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।[4]

---

१. धवला, पु० १३, पृ० १८-१९

२. धवला, पु० १३, पृ० २६२-६३

३. धवला, पु० १३, पृ० २९९

४. धवला, पु० १४, पृ० ५४-५५; आगे यहाँ पृ० ३७४-७५ पर भी परिकर्म का अन्य उल्लेख द्रष्टव्य है।

१४. पंचत्थिपाहुड—आचार्य कुन्दकुन्द-विरचित पंचत्थिपाहुड (पंचास्तिप्राभृत) यह पाँच अस्तिकाय द्रव्यों का प्ररूपक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसका उल्लेख धवला में इस प्रकार किया गया—

(१) जीवस्थान-कालानुगम में कालविषयक निक्षेप की प्ररूपणा करते हुए धवला में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल के प्रसंग में 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे ववहारकालस्स अत्थित्तं' इस प्रकार ग्रन्थनामनिर्देशपूर्वक उसकी "कालोत्तिय ववएसो" आदि और "कालो परिणाम-भवो" आदि इन दो गाथाओं को विपरीत क्रम से (१०१ व १००) उद्धृत किया गया है।[1]

(२) आगे वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल को प्रधान और अप्रधान के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उनमें प्रधान द्रव्यकाल के स्वरूप का निर्देश करते हुए धवला में कहा गया है कि शेष पाँच द्रव्यों के परिणमन का हेतुभूत जो रत्न-राशि के समान प्रदेशसमूह से रहित लोकाकाश के प्रदेशों प्रमाण-काल है, उसका नाम प्रधान द्रव्यकाल है। वह अमूर्त व अनादिनिधन है। उसकी पुष्टि में आगे 'उक्तं च' इस सूचना के साथ ग्रन्थनामनिर्देश के विना पंचास्तिकाय की उपर्युक्त दोनों (१०० व १०१) गाथाओं को यथाक्रम से वहाँ उद्धृत किया गया है।[2]

विशेषता यह है कि यहाँ इन दोनों गाथाओं के मध्य में अन्य दो गाथाएँ भी उद्धृत हैं, जो गो०जी० में भी ५६९-५८८ गाथाओं में उपलब्ध होती हैं।

(३) पूर्वोक्त जीवस्थान-कालानुगम में उसी कालविषयक निक्षेप के प्रसंग में धवलाकार ने द्रव्यकालजनित परिणाम को नोआगमभावकाल कहा है। इस पर वहाँ यह शंका की गयी है कि पुद्गलादि द्रव्यों के परिणाम को 'काल' नाम से कैसे व्यवहृत किया जाता है। इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे जो 'काल' नाम से व्यवहृत किया जाता है वह कार्य में कारण के उपचार से किया जाता है। इसकी पुष्टि में वहाँ 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे ववहारकालस्स अत्थित्तं' ऐसी सूचना करते हुए पंचास्तिकाय की २३, २५ और २६ इन तीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है।[3]

(४) जीवस्थान सत्प्ररूपणा में प्रस्तुत षट्खण्डागम का पूर्वश्रुत से सम्बन्ध दिखलाते हुए स्थानांग के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि वह ब्यालीस हजार पदों के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक के क्रम से स्थानों का वर्णन करता है। आगे वहाँ 'तस्सो-दाहरणं' ऐसा निर्देश करते हुए ग्रन्थनाम-निर्देश के विना पंचास्तिकाय की ७१ व ७२ इन दो गाथाओं को उद्धृत किया गया है।[4]

ये दोनों गाथाएँ आगे इसी प्रसंग में धवलाकार द्वारा 'कृति' अनुयोगद्वार में पुनः उद्धृत हैं। विशेषता वहाँ यह रही है कि स्थानांग के स्वरूप में एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक के क्रम से जीवादि पदार्थों के दस-दस स्थानों की प्ररूपणा का उल्लेख किया गया है।[5]

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३१७
२. धवला, पु० ११, पृ० ७५-७६
३. धवला, पु० ४, पृ० ३१७
४. धवला, पु० १, पृ० १००
५. धवला, पु० ९, पृ० १९८

(५) उपर्युक्त कृति अनुयोगद्वार में नयप्ररूपणा के प्रसंग में धवला में द्रव्यार्थिकनय के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये है—नैगम, संग्रह और व्यवहार। इनमें संग्रहनय के स्वरूप को प्रकट करते हुए वहाँ कहा गया कि जो पर्यायकलंक से रहित होकर सत्ता आदि के आश्रय से सबकी अद्वैतता का निश्चय करता है—सबको अभेद रूप में ग्रहण करता है—वह संग्रहनय कहलाता है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। आगे वहाँ 'अत्रोपयोगी गाहा' इस निर्देश के साथ ग्रन्थनामोल्लेख के विना पंचास्तिकाय की "सत्ता सव्वपयत्था" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है।[1]

(६) वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'स्पर्श' अनुयोगद्वार में द्रव्यस्पर्श के प्रसंग में पुद्गलादि द्रव्यों के पारस्परिक स्पर्श को दिखलाते हुए धवला में 'एत्थुव उज्जंतीओ गाहाओ' ऐसी सूचना करके "लोगागासपदेसे एक्केक्के' आदि गाथा के साथ पंचास्तिकाय की "खंधं सयलसमत्थं" गाथा को उद्धृत किया गया है। विशेष इतना कि यहाँ 'परमाणू चेव अविभागी' के स्थान में 'अविभागी जो स परमाणु' पाठ-भेद है।[2]

१५. पिंडिया—जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में आलाप-प्ररूपणा के प्रसंग में लेश्यामार्गणा के आश्रय से पद्मलेश्या वाले संयतासंयतों में आलापों को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने उनके द्रव्य से छहों लेश्याओं और भाव से एक पद्मलेश्या की सम्भावना प्रकट की है। इस प्रसंग में वहाँ आगे 'उक्तं च पिंडियाए' इस निर्देश के साथ यह गाथा उद्धृत की गयी है[3]—

लेस्सा य दव्वभावं कम्मं णोकम्ममिस्सियं दव्वं।
जीवस्स भावलेस्सा परिणामो अप्पणो जो सो॥

यह 'पिंडिया' नाम का कौन सा ग्रन्थ रहा है व किसके द्वारा वह रचा गया है, यह अन्वेषणीय है। वर्तमान में इस नाम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्भव है, वीरसेनाचार्य के समक्ष वह रहा हो।

१६. पेज्जदोसपाहुड—यह कसायपाहुड का नामान्तर है। आचार्य गुणधर के उल्लेखानुसार पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व के अन्तर्गत दसवें 'वस्तु' नामक अधिकार के तीसरे प्राभृत का नाम पेज्जदोस है। इसी का दूसरा नाम कसायपाहुड है।[4]

धवला में प्रस्तुत षट्खण्डागम का पूर्वश्रुत से सम्बन्ध प्रकट करते हुए उस प्रसंग में कहा गया है कि लोहार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर आचार (प्रथम अंग) रूप सूर्य अस्तंगत हो गया। इस प्रकार भरत क्षेत्र में बारह अंगों रूप सूर्यों के अस्तंगत हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्जदोस और महाकम्मपयडिपाहुड आदि के धारक रह गये।[5]

१७. महाकम्मपयडिपाहुड—प्रस्तुत षट्खण्डागम इसी महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपसंहार

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १७०-७१
२. धवला, पु १३, पृ० १३, (यह गाथा मूलाचार (५-३४) और तिलोयपण्णत्ती (१-९५) में उपलब्ध होती है।
३. धवला, पु० २, पृ० ७८८
४. पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम॥—क० पा० १
५. धवला, पु० ९, पृ० १३३

स्वरूप है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। इसका उल्लेख धवला में कई प्रसंगों पर किया गया है। जैसे—

(१) आचार्य भूतवलि ने प्रस्तुत षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्डस्वरूप 'वेदना' के प्रारम्भ में विस्तृत मंगल किया है। सर्वप्रथम उन्होंने 'णमो जिणाणं' इस प्रथम सूत्र के द्वारा सामान्य से 'जिनों' को नमस्कार किया है। तत्पश्चात् विशेष रूप से उन्होंने 'अवधिजिनों' आदि को नमस्कार किया है।

इसी प्रसंग में आगे 'णमो ओहिजिणाणं' इस सूत्र (२) की उत्थानिका में धवलाकार कहते हैं कि इस प्रकार गौतम भट्टारक महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि में द्रव्यार्थिक जनों के अनुग्रहार्थ नमस्कार करके पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेनेवाले जनों के अनुग्रहार्थ आगे के सूत्रों को कहते हैं।[1]

(२) ऊपर 'पेज्जदोस' के प्रसंग में 'महाकम्मपयडिपाहुड' का भी उल्लेख हुआ है।

(३) वेदनाद्रव्यविधान में पदमीमांसा के प्रसंग में "ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है, क्या अनुत्कृष्ट होती है, क्या जघन्य होती है और क्या अजघन्य होती है" इस पृच्छा सूत्र (४, २, ४, २) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उसे देशामर्शक सूत्र बतलाकर यह कहा है कि यहाँ अन्य नौ पृच्छाएँ करनी चाहिए, क्योंकि इनके विना सूत्र के असम्पूर्णता का प्रसंग आता है। पर भूतवलि, भट्टारक जो महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के पारंगत रहे हैं, असम्पूर्ण सूत्र की रचना नहीं कर सकते हैं।[2]

(४) इसी वेदनाद्रव्यविधान में ज्ञानावरणीय की जघन्य द्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में सूत्र में कहा गया है कि वह बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थानों को प्राप्त होता है।—सूत्र ४,२,४,५४

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने कहा है कि सूक्ष्म निगोद जीवों में जघन्य योगस्थान भी होते हैं और उत्कृष्ट भी होते हैं। उनमें वह प्राय: जघन्य योगस्थानों में परिणत होकर ही उसे बाँधता है। पर उनके असम्भव होने पर वह उत्कृष्ट योगस्थान को भी प्राप्त होता है।

इस प्रसंग में वहाँ यह पूछा गया है कि वह जघन्य योग से ही उसे क्यों बाँधता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि स्तोक कर्मों के आगमन के लिए वह जघन्य योग से बाँधता है।

आगे इस प्रसंग में यह पूछने पर कि स्तोक योग से कर्म स्तोक आते हैं, यह कैसे जाना जाता है; उत्तर में कहा गया है कि द्रव्यविधान में जघन्य योगस्थानों की जो प्ररूपणा की गयी है वह चूंकि इसके विना घटित नहीं होती है, इसी से जाना जाता है कि स्तोक योग से कर्म स्तोक आते हैं। कारण यह कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत रूप अमृत के पान से जिनका समस्त राग, द्वेष और मोह नष्ट हो चुका है वे भूतवलि भट्टारक असम्बद्ध प्ररूपणा नहीं कर सकते हैं।[3]

(५) स्पर्श अनुयोगद्वार से तेरह स्पर्शभेदों की प्ररूपणा के पश्चात् सूत्रकार ने वहाँ कर्म-

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १२

२. धवला, पु० १०, पृ० २०

३. धवला, पु० १३, पृ० २७४-७५

स्पर्श को प्रकृत कहा है।—सूत्र ५, ३, ३३

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि अध्यात्म-विषयक इस खण्ड ग्रन्थ की अपेक्षा यहाँ कर्मस्पर्श को प्रकृत कहा गया है। किन्तु महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में द्रव्य-स्पर्श, सर्वस्पर्श और कर्मस्पर्श ये तीन प्रकृत रहे हैं।[1]

(६) 'कर्म' अनुयोगद्वार में सूत्रकार द्वारा जिन कर्मनिक्षेप व कर्मनयविभाषणता आदि १६ अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है (सूत्र ५, ४, २) उनमें उन्होंने प्रारम्भ के उन दो अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की है, शेष कर्मनामविधान आदि १४ अनुयोगद्वारों की उन्होंने प्ररूपणा नहीं की है।

उन शेष १४ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वहाँ धवलाकार ने की है। इस प्रसंग में वहाँ यह शंका उठी है कि उपसंहारकर्ता ने उनकी प्ररूपणा स्वयं क्यों नहीं की है। उत्तर में धवलाकार कहा है कि पुनरुक्तिदोष के प्रसंग को टालने के लिए उन्होंने उनकी प्ररूपणा नहीं की है। इस पर वहाँ पुनः यह शंका की गयी है—तो फिर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में उन अनुयोगद्वारों के द्वारा उस कर्म की प्ररूपणा किसलिए की गयी है।[2]

(७) बन्धनअनुयोगद्वार में वर्गणाओं की प्ररूपणा करते हुए 'वर्गणाद्रव्यसमुदाहार' के प्रसंग में जिन वर्गणाप्ररूपणा व वर्गणानिरूपणा आदि १४ अनुयोगद्वारों का सूत्र (७५) में उल्लेख किया गया है, उनमें सूत्रकार द्वारा प्रथम दो अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की गई है, शेष वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम आदि १२ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उन्होंने नहीं की है।

इस पर उस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गई है कि सूत्रकार ने चौदह अनुयोगद्वारों में दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करके शेष बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा किसलिए नहीं की है। अजानकार होते हुए उन्होंने उनकी प्ररूपणा न की हो, यह तो सम्भव नहीं है; क्योंकि चौबीस अनुयोगद्वारों स्वरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के पारगामी भूतबलि भगवान् के तद्विषयक ज्ञान के न रहने का विरोध है।[3]

१८. मूलतंत्र—वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'कर्म' अनुयोगद्वार में सूत्रकार ने अन्त में यह निर्देश किया है कि उक्त दस कर्मों में यहाँ 'समवदानकर्म' प्रकृत है।—सूत्र ५,४,३१

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि समवदानकर्म यहाँ इस लिए प्रकृत है कि 'कर्म' अनुयोगद्वार में उसी की विस्तार से प्ररूपणा की गई है। अथवा संग्रह-नय की अपेक्षा सूत्र में वैसा कहा गया है। मूलतंत्र में तो प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म इनकी प्रधानता रही है, क्योंकि वहाँ इन सबकी विस्तार से प्ररूपणा की है।[4]

'मूलतंत्र' यह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ रहा है, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः धवलाकार का अभिप्राय उससे महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अन्तर्गत चौबीस अनुयोगद्वारों में से 'कर्म' अनुयोग-द्वार (चतुर्थ) का रहा है। पर उसमें भी यह विचारणीय प्रश्न बना रहता है कि वह धवला-

---

१. धवला, पु० १३, पृ० ३६
२. धवला, पु० १३, पृ० १९६
३. धवला, पु० १४, पृ० १३४
४. धवला, पु० १३, पृ० ९०

कार के समक्ष तो नहीं रहा। तब उन्होंने यह कैसे समझा कि उसमें इन कर्मों की विस्तार से प्ररूपणा की गयी है। हो सकता है कि परम्परागत उपदेश के अनुसार उनको तद्विषयक परिज्ञान रहा हो।

यहाँ यह स्मरणीय है कि धवलाकार ने ग्रन्थकर्ता के प्रसंग में वर्धमान भट्टारक को मूलतंत्रकर्ता गौतमस्वामी को अनुतंत्रकर्ता और भूतवलि पुष्पदन्त आदि को उपतंत्रकर्ता कहा है।[1]

१६. वियाहपण्णत्तिसुत्त—धवला में इसका उल्लेख दो प्रसंगों पर किया गया है—

(१) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्रकार द्वारा क्षेत्र की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवराशि का द्रव्यप्रमाण अनन्तानन्त लोक निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र १,२,४

इसकी व्याख्या में लोक के स्वरूप को प्रकट करते हुए उस प्रसंग में तिर्यग्लोक की समाप्ति कहाँ हुई है, यह पूछा गया है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उसकी समाप्ति तीन वातवलयों के बाह्य भाग में हुई है। इस पर यह पूछने पर कि वह कैसे जाना जाता है, धवलाकार ने कहा है कि वह "लोगोवादपदिट्ठिदो" इस व्याख्याप्रज्ञप्ति के कथन से जाना जाता है।[2]

(२) वेदनाद्रव्यविधान में द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट आयुवेदना के स्वामी की प्ररूपणा के प्रसंग में यह कहा गया है कि जो क्रम से काल को प्राप्त होकर पूर्वकोटि आयुवाले जलचर जीवों में उत्पन्न हुआ है।—सूत्र ४,२,४,३६

यहाँ सूत्र में जो 'क्रम से काल को प्राप्त होकर' ऐसा कहा गया है, उसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि परभव-सम्बन्धी आयु के बँध जाने पर पीछे भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता है, यह अभिप्राय प्रकट करने के लिए 'क्रम से काल को प्राप्त होकर' यह कहा गया है।

इस पर वहाँ यह शंका की गई है कि परभव-सम्बन्धी आयु को वाँधकर भुज्यमान आयु के घातने में क्या दोप है। इसके उत्तर में धवला में कहा गया है कि वैसी परिस्थिति में जिसकी भुज्यमान आयु निर्जीर्ण हो चुकी है और परभव-सम्बन्धी आयु का उदय नहीं हुआ है, ऐसे जीव के चारों गतियों के बाहर हो जाने के कारण अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। यही उसमें दोष है।

इस पर शंकाकार कहता है कि वैसा स्वीकार करने पर "जीवाणं भंते! कदिभागावसेसयंसि आउगंसि......" इस व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के साथ विरोध कैसे न होगा। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि आचार्यभेद से भेद को प्राप्त वह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र इससे भिन्न है। अतः इससे उसकी एकता नहीं हो सकती।[3]

यहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति से धवलाकार को क्या अभिप्रेत रहा है, यह विचारणीय है—

(१) वारह अंगों में व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का पाँचवाँ अंग रहा है। उसमें क्या जीव है, क्या जीव नहीं है, इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान किया गया है।[4]

(२) दूसरा व्याख्याप्रज्ञप्ति श्रुत बारहवें दृष्टिवाद अंग के परिकर्म व सूत्र आदि पाँच

---

१. धवला, पु० १; पृ० ७२

२. धवला, पु० ३, पृ० ३४-३५

३. धवला, पु० १०, पृ० २३७-३८

४. धवला, पु० १; पृ० १०१

अर्थाधिकारों में जो परिकर्म नाम का प्रथम अर्थाधिकार रहा है उसके चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति आदि पाँच भेदों में अन्तिम है। उसमें रूपी अजीव द्रव्य, अरूपी अजीव द्रव्य तथा भव्यसिद्धिक व अभव्यसिद्धिक जीवराशि की प्ररूपणा की गयी है।[1]

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार का व्याख्याप्रज्ञप्ति श्रुत लुप्त हो चुका है।

(३) तीसरा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, जिसका दूसरा नाम भगवतीसूत्र भी है, वर्तमान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उपलब्ध है। ग्रन्थप्रमाण में वह पन्द्रह हजार श्लोक-प्रमाण है। इसमें नरक, स्वर्ग, इन्द्र, सूर्य और गति-आगति आदि अनेक विषयों की प्ररूपणा की गई है।[2]

धवला में प्रसंगप्राप्त इस व्याख्याप्रज्ञप्ति के सन्दर्भ को मैंने यथावसर उसके अनुवाद के समय वर्तमान में उपलब्ध इस व्याख्याप्रज्ञप्ति में खोजने का प्रयत्न किया था। किन्तु उस समय वह मुझे उसमें उपलब्ध नहीं हुआ था। पर सन्दर्भगत वाक्यविन्यास की पद्धति और धवलाकार के द्वारा किये गये समाधान को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह वहाँ कहीं पर होना चाहिए। इस समय मेरे सामने उसका कोई संस्करण नहीं है, इसलिए उसे पुनः वहाँ खोजना शक्य नहीं हुआ।

२०. सम्मइसुत्त—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर-विरचित प्राकृत गाथामय सन्मतिसूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से प्रतिष्ठित है। इसमें तीन काण्ड हैं—नयकाण्ड, जीवकाण्ड और तीसरा अनिर्दिष्टनाम। इनमें से प्रथम काण्ड में नय का और द्वितीय काण्ड में ज्ञान व दर्शन का विचार किया गया है। तीसरे काण्ड में सामान्य व विशेष का विचार करते हुए तद्विषयक भेदैकान्त और अभेदैकान्त का निराकरण किया गया है। धवला में उसका उल्लेख ग्रन्थनाम-निर्देशपूर्वक दो प्रसंगों पर किया गया है। यथा—

(१) धवला में मंगलविषयक प्ररूपणा विस्तार से की गयी है। वहाँ उस प्रसंग में कौन नय किन निक्षेपों को विषय करते हैं, इसका विचार करते हुए यह कहा गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय सब निक्षेपों को विषय करते हैं।

इस पर वहाँ यह शंका की गयी है कि सन्मतिसूत्र में जो यह कहा गया है कि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत हैं, किन्तु भावनिक्षेप पर्यायप्रधान होने से पर्यायार्थिकनय का विषय है।[3] उसके साथ उपर्युक्त व्याख्यान का विरोध क्यों नहीं होगा।

इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि उक्त व्याख्यान का इस सन्मतिसूत्र के साथ कुछ विरोध नहीं होगा। इसका कारण यह है कि सन्मतिसूत्र में क्षणनश्वर पर्याय को भाव स्वीकार किया गया है, परन्तु यहाँ आरम्भ से लेकर अन्त तक रहने वाली वर्तमान स्वरूप व्यंजन पर्याय भाव स्वरूप से विवक्षित है। इसलिए विवक्षा-भेद से इन दोनों में कोई विरोध

---

१. धवला, पु० १, पृ० १०९-१०

२. यह कई संस्करणों में प्रकाशित है।

३. णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दु पज्जवट्ठियपरूवणा एस परमट्ठो॥—सन्मति० १-६

होने वाला नहीं है।[1]

(२) इसी प्रकार का एक अन्य प्रसंग आगे 'कृति' अनुयोगद्वार में पुनः प्राप्त हुआ है। वहाँ सूत्रकार ने कृति के नाम-स्थापनादिरूप सात भेदों का निर्देश करके उनमें कौन नय किन कृतियों को विषय करता है, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय सभी कृतियों को विषय करते हैं, किन्तु ऋजुसूत्रनय स्थापनाकृति को विषय नहीं करता—वह शेष कृतियों को विषय करता है।—सूत्र ४,१,४६-४६

इस प्रसंग में धवला में यह शंका की गयी है कि ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है, ऐसी अवस्था में वह नाम, द्रव्य, गणना और ग्रन्थ इन कृतियों को कैसे विषय कर सकता है, क्योंकि उसमें विरोध है। और यदि वह उन चार कृतियों को विषय करता है तो स्थापनाकृति को भी वह विषय कर ले, क्योंकि उनसे उसमें कुछ विशेषता नहीं है।

इसके समाधान में धवला में कहा गया है कि ऋजुसूत्र दो प्रकार का है—शुद्ध ऋजुसूत्र और अशुद्ध ऋजुसूत्र। इनमें शुद्ध ऋजुसूत्रनय अर्थपर्याय को विषय करता है। तदनुसार उसका विषय प्रत्येक क्षण में परिणमते हुए समस्त पदार्थ हैं। सादृश्य-सामान्य और तद्भवसामान्य उसके विषय से बहिर्भूत हैं। इसलिए उसके द्वारा भावकृति को छोड़कर अन्य कृतियों को विषय करना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके विषय करने में विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। इससे भिन्न जो दूसरा अशुद्ध ऋजुसूत्रनय है, वह चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यंजनपर्यायों को विषय करता है। उन व्यंजन-पर्यायों का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और छह मास अथवा संख्यात वर्ष है, क्योंकि द्रव्य की प्रधानता से रहित होकर चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य उन व्यंजन-पर्यायों का उतने ही काल अवस्थान पाया जाता है।

इस पर वहाँ पुनः यह शंका उठी है कि यदि इस प्रकार का भी पर्यायार्थिक नय है तो "पर्यायार्थिक नय की दृष्टि में पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, किन्तु द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में सभी पदार्थ उत्पाद और विनाश से रहित होते हुए सदाकाल अवस्थित रहते हैं" इस सन्मतिसूत्र[2] से विरोध होता है।

इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उसके साथ कुछ विरोध होने वाला नहीं है, क्योंकि अशुद्ध ऋजुसूत्रनय व्यंजनपर्यायों को विषय करता है, अन्य सब पर्यायें उसकी दृष्टि में गौण रहती हैं। उधर उक्त सन्मतिसूत्र में शुद्ध ऋजुसूत्र की विवक्षा रही है। तदनुसार पूर्वापर कोटियों के अभाव से उत्पत्ति व विनाश को छोड़कर उसकी दृष्टि में अवस्थान नहीं पाया जाता। इसलिए ऋजुसूत्रनय में स्थापना को छोड़कर अन्य सब निक्षेप सम्भव हैं। स्थापना-निक्षेप की असम्भावना इसलिए प्रकट की गयी है कि अशुद्ध ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में संकल्प के वश अन्य द्रव्य का अन्य स्वरूप से परिणमन नहीं उपलब्ध होता। कारण यह कि इस नय की दृष्टि में सदृशता से द्रव्यों में एकता नहीं पायी जाती है। पर स्थापना-निक्षेप में उसकी अपेक्षा रहा करती है।[3]

---

१. धवला पु० १, पृ० १४-१५

२. सन्मतिसूत्र १-११ (यह गाथा इसके पूर्व पु० १, पृ० १४ में भी अन्य तीन गाथाओं के साथ उद्धृत की जा चुकी है)

३. धवला पु० ६, पृ० २४३-४५

धवलाकार ने प्रसंग के अनुसार उक्त सन्मतिसूत्र की कुछ अन्य गाथाओं को भी धवला में उद्धृत किया है। जैसे—

(३) उपर्युक्त मंगलविषयक निक्षेप के ही प्रसंग में एक प्राचीन गाथा को उद्धृत करते हुए तदनुसार धवला में यह कहा गया है कि इस वचन के अनुसार किये गये निक्षेप को देखकर नयों का अवतार होता है।

प्रसंगवश यहाँ नय के स्वरूप के विषय में पूछने पर एक प्राचीन गाथा के अनुसार यह कहा गया है कि जो द्रव्य को बहुत से गुणों और पर्यायों के आश्रय से एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में और काल से कालान्तर में अविनष्ट स्वरूप के साथ ले जाता है, उसे नय कहा जाता है। यह नय का निरुक्त लक्षण है।

आगे इस प्रसंग में यहाँ धवला में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के स्वरूप व उनके विषय को विशद करने वाली सन्मतिसूत्र की चार गाथाओं (१,३,५ व ११) को उद्धृत किया गया है।[1]

(४) इसी सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में जीवस्थान खण्ड की अवतार-विषयक प्ररूपणा में धवलाकार ने उस अवतार के ये चार भेद निर्दिष्ट किये हैं—उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम। इनमें उपक्रम पाँच प्रकार का है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। इन सबके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने 'प्रमाण' के प्रसंग में उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नय के भेद से पाँच प्रकार का कहा है। इनमें नयप्रमाण को वहाँ नैगम आदि के भेद से सात प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। विकल्प के रूप में आगे वहाँ सन्मतिसूत्र की इस गाथा को उद्धृत करके यह कह दिया है कि 'क्योंकि ऐसा वचन है'[2]—

> जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
> जावदिया णयवादा तावदिया चेव परसमया ॥१-४७॥

(५) इसी प्रसंग में आगे धवला में उपसंहार के रूप में यह कहा गया है कि इस प्रकार से संक्षेप में ये नय सात प्रकार के हैं, अवान्तर भेद से वे असंख्यात हैं। व्यवहर्ताओं को उन नयों को अवश्य समझ लेना चाहिए, क्योंकि उनके समझे विना अर्थ के व्याख्यान का ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसा कहते हुए वहाँ आगे धवला में 'उक्तं च' इस निर्देश के साथ ये दो गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं[3]—

> णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्मि।
> तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ॥
> तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जइयव्वं।
> अत्थगई वि य णयवादगहणलीणा दुरहियम्मा ॥

इनमें प्रथम गाथा किंचित् परिवर्तित रूप में आवश्यकनिर्युक्ति की इस गाथा से प्रायः शब्दशः समान है। अभिप्राय में दोनों में कुछ भेद नहीं है—

---

१. धवला पु० १, पृ० ११-१३
२. धवला पु० १, पृ० ८०
३. धवला पु० १, पृ० ९१

णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि।
आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूआ ॥—नि० ६६१

दूसरी गाथा सन्मतिसूत्र की है जो इन दो गाथाओं से बहुत-कुछ समान है—

सुत्तं अत्थनिमेण न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।
अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥३-६४
तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं ।
आयरियधरिहत्था हंदि महाणं विलंबेन्ति ॥३-६५

इस प्रकार उनमें दूसरी गाथा सन्मतिसूत्र की उपर्युक्त गाथा ६५ के पूर्वार्द्ध और ६४वीं गाथा के उत्तरार्ध के रूप में है ।

इस स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार को परम्परागत सैकड़ों गाथाएँ कण्ठस्थ रही हैं । प्रसंग प्राप्त होने पर उन्होंने उनमें से स्मृति के आधार पर आवश्यकतानुसार एक-दो आदि गाथाओं को उद्धृत कर दिया है । इसीलिए उनमें आगे-पीछे पाठभेद भी हो गया है। उदाहरणस्वरूप लेश्या की प्ररूपणा जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में और तत्पश्चात् पूर्वनिर्दिष्ट शेप १८ अनुयोगद्वारों में से 'लेश्याकर्म' (१४) अनुयोगद्वार में भी की गई है । उसके प्रसंग में दोनों स्थानों पर कृष्ण आदि लेश्याओं से सम्बन्धित नौ गाथाओं को उद्धृत किया गया है, जिनमें कुछ पाठभेद भी हो गया है ।[1]

कहीं-कहीं पर प्रसंग के पूर्णरूप से अनुरूप न होने पर भी उन्होंने कुछ गाथाओं आदि को उद्धृत कर दिया है । उदाहरण के रूप में जीवस्थान-कालानुगम में कालविषयक निक्षेप की प्ररूपणा करते हुए धवला में तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल के स्वरूप को प्रकट किया गय है। उसकी पुष्टि में प्रथमत: जो पंचास्तिकाय आदि की चार गाथाओं को उद्धृत किया गया है, वे प्रसंग के अनुरूप हैं। किन्तु आगे चलकर जो 'जीवसमासाए वि उत्तं' कहकर एक गाथा को तथा 'तह आयारंगे वि वुत्तं' कहकर दूसरी गाथा को उद्धृत किया गया है, वे आज्ञाविचय धर्मध्यान से सम्बद्ध हैं व प्रसंग के अनुरूप नहीं हैं ।[2]

२१. **संतकम्मपयडिपाहुड**—यह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ रहा है अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का कोई विशेष प्रकरण रहा है, यह ज्ञात नहीं है । इसका धवला में दो बार उल्लेख हुआ है—

(१) 'कृति' अनुयोगद्वार में गणनाकृति के प्ररूपक सूत्र (४,१,६६) को देशामर्शक कहकर धवलाकार ने उसकी व्याख्या में कृति, नोकृति और अवक्तव्यकृति इन कृति-भेदों की विस्तार से प्ररूपणा की है, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है । उसी प्रसंग में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए धवला में कहा गया है कि यह अल्पबहुत्व सोलह पद वाले अल्पबहुत्व[3] के साथ विरोध को प्राप्त है, क्योंकि उसके अनुसार सिद्धकाल से सिद्धों का संख्यातगुणत्व नष्ट होकर उससे विशेषाधिकता का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए यहाँ उपदेश प्राप्त करके किसी एक का निर्णय करना चाहिए । 'सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत' को छोड़कर उपर्युक्त सोलह पदवाले अल्पबहुत्व

१. धवला, पु० १, पृ० ३८८-९० और पु० १६, पृ० ४९०-९२
२. वही, पु० ४, पृ० ३१५-१६
३. सोलह पद वाले अल्पबहुत्व के लिए देखिए धवला, पु० ३, पृ० ३०

को प्रधान करने पर मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यणी, इससे संचय को प्राप्त होने वाले सिद्ध और आनतादि देवराशि—इनके अल्पबहुत्व का कथन करने पर नोकृतिसंचित सबसे स्तोक, अवक्तव्यकृतिसंचित उनसे विशेष अधिक हैं, कृतिसंचित उनसे संख्यातगुणे हैं, ऐसा कहना चाहिए।[1]

इसका अभिप्राय यह हुआ कि पूर्वोक्त अल्पबहुत्व की प्ररूपणा वहाँ सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत के अनुसार की गयी है।

(२) 'उपक्रम' अनुयोगद्वार में उपक्रम के बन्धनउपक्रम, उदीरणाउपक्रम, उपशामनाउपक्रम और विपरिणामउपक्रम इन चार भेदों का निर्देश करते हुए धवला में यह सूचना की गयी है कि इन चारों उपक्रमों की प्ररूपणा जिस प्रकार सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत में की गयी है उसी प्रकार से करनी चाहिए।[2]

इस सम्बन्ध में विशेष विचार पीछे 'धवलागत-विषय-परिचय' के प्रसंग में किया जा चुका है।

२२. संतकम्मपाहुड—यह पूर्वोक्त 'संतकम्मपयडिपाहुड' का ही नामान्तर है अथवा स्वतंत्र कोई ग्रन्थ रहा है, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है। नामान्तर की कल्पना इसलिए की जा रही है कि पूर्वोक्त उपक्रम के प्रसंग में धवलाकार ने जहाँ उसका उल्लेख 'संतकम्मपयडिपाहुड' के नाम से किया है वहीं उसी के स्पष्टीकरण में पंजिकाकार ने उसी का उल्लेख संतकम्मपाहुड के नाम से किया है। साथ ही उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'वेदना' के अन्तर्गत वेदनाद्रव्यविधान आदि (४,६ व ७) व 'वर्गणा' के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार को सत्कर्म-प्राभृत कहा है, ऐसा प्रतीत होता है जो स्पष्ट भी नहीं है। मोहनीय की अपेक्षा कषायप्राभृत भी सत्कर्मप्राभृत कहा है।[3]

इसमें कुछ प्रामाणिकता नहीं है, कल्पना मात्र दिखती है।

इस संतकम्मपाहुड का भी उल्लेख धवला में दो स्थानों पर किया गया है—

(१) जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव के प्ररूपक सूत्र (१,१,२७) की व्याख्या करते हुए क्षपणाविधि के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट होकर वहाँ उसके काल के संख्यात बहुभाग को अपूर्वकरण की विधि के अनुसार विताकर उसका संख्यातवाँ भाग शेष रह जाने पर तीन स्त्यानगृद्धि प्रकृतियों को आदि लेकर १६ प्रकृतियों का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर चार प्रत्याख्यानावरण और चार अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों का एक साथ क्षय करता है। यह सत्कर्मप्राभृत का उपदेश है। किन्तु कषायप्राभृत के उपदेशानुसार आठ कषायों का क्षय हो जाने पर तत्पश्चात् उपर्युक्त १६ प्रकृतियों का क्षय होता है।[4]

(२) वेदनाक्षेत्रविधान अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट क्षेत्रवेदना की प्ररूपणा करते हुए अन्त में सूत्र (४,२,५,१२) में कहा गया है कि इस क्रम से जो वह मत्स्य अनन्तर

---

१. धवला, पु० ९, पृ० ३१८-१९
२. धवला, पु० १५, पृ० ४२-४३
३. धवला, पु० १५, पृ० ४३ और 'संतकम्मपंजिया' पृ० १८ (पु० १५ का परिशिष्ट)
४. धवला, पु० १, पृ० २१७ व २२१

समय में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होनेवाला है, उसके क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना होती है।

इस प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सातवीं पृथिवी को छोड़कर नीचे सात राजु मात्र जाकर उसे निगोदों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि निगोदों में उत्पन्न होनेवाले के अतिशय तीव्र वेदना का अभाव होने के कारण शरीर से तिगुणा वेदनासमुद्घात सम्भव नहीं है। इसी कारण से उसे निगोदों में नहीं उत्पन्न कराया गया है।

इसी प्रसंग में वहाँ अन्य कुछ शंका-समाधानपूर्वक धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि सत्कर्मप्राभृत में उसे निगोदों में उत्पन्न कराया गया है, क्योंकि नारकियों में उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य के समान सूक्ष्मनिगोद जीवों में उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी तिगुने शरीर के बाहल्य से मारणान्तिकसमुद्घात को प्राप्त होता है। परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि प्रचुर असाता से युक्त सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य की वेदना और कषाय सूक्ष्मनिगोद जीवों में उत्पन्न होने वाले महामत्स्य की वेदना और कषाय समान नहीं हो सकते। इसलिए इसी अर्थ को ग्रहण करना चाहिए।[1]

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि धवलाकार ने पूर्वोक्त सत्कर्मप्राभृत के उपदेश से अपनी असहमति प्रकट की है।

२३. सारसंग्रह—वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ का पूर्वश्रुत से सम्बन्ध प्रकट करते हुए सूत्रकार ने यह कहा है कि अग्रायणीयपूर्व के 'वस्तु' अधिकारों में जो चयनलब्धि नाम का पाँचवाँ 'वस्तु' अधिकार है उसके अन्तर्गत बीस प्राभृतों में चौथे प्राभृत का नाम 'कर्मप्रकृति' है। उसमें कृति-वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं।—सूत्र ४,१,४५

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने कहा है कि सब ग्रन्थों का अवतार चार प्रकार का होता है—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। तदनुसार धवला में यथाक्रम से इन उपक्रम आदि की प्ररूपणा की गयी है। उनमें नय की प्ररूपणा करते हुए उसके प्रसंग में धवला में कहा गया है कि सारसंग्रह में भी पूज्यपाद ने नय का यह लक्षण कहा है—

"अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः।"[2]

यहाँ धवलाकार ने आचार्य पूज्यपाद-विरचित जिस सारसंग्रह ग्रन्थ का उल्लेख किया है, वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है तथा उसके विषय में अन्यत्र कहीं से कुछ जानकारी भी नहीं प्राप्त है।

आ० पूज्यपाद-विरचित तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति 'सर्वार्थसिद्धि' सुप्रसिद्ध है। उसमें उक्त प्रकार का नय का लक्षण उपलब्ध नहीं होता। वहाँ नय के लक्षण इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

"प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः।"—स०सि० १-६

"सामान्यलक्षणं तावद्—वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषयाथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।"—स०सि० १-३३

---

१. धवला, पु० ११, पृ० २०-२२

२. धवला, पु० ९, पृ० १६७

यहाँ उपर्युक्त सारसंग्रहोक्त लक्षण और सर्वार्थसिद्धिगत दूसरा लक्षण इन दोनों नय के लक्षणों में निहित अभिप्राय प्रायः समान है।

इसके पूर्व यहीं पर धवला में 'तथा पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनयलक्षणमिदमेव' ऐसा निर्देश करते हुए नय का यह लक्षण भी उद्धृत किया गया है—प्रमाणप्रकाशितार्थविशेष-प्ररूपको नयः।

नय का लक्षण पूज्यपाद-विरचित 'सर्वार्थसिद्धि' में तो नहीं उपलब्ध होता है, किन्तु वह भट्टाकलंकदेव-विरचित 'तत्त्वार्थवार्तिक' में उसी रूप में उपलब्ध होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार ने 'पूज्यपाद' के रूप में जो दो बार उल्लेख किया है वह नामनिर्देश के रूप में तो नहीं किया, किन्तु आदरसूचक विशेषण के रूप में किया है और वह भी सम्भवतः भट्टाकलंकदेव के लिए ही किया है। सम्भव है धवला में निर्दिष्ट वह 'सारसंग्रह' अकलंकदेव के द्वारा रचा गया हो और वर्तमान में उपलब्ध न हो।

धवलाकार ने प्रसंग के अनुसार तत्त्वार्थवार्तिक के अन्तर्गत अनेक वाक्यों को उसी रूप में अपनी इस टीका में ले लिया है। उपर्युक्त नय के लक्षण का स्पष्टीकरण पदच्छेदपूर्वक जिस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक में किया गया है उसी प्रकार से शब्दशः उसी रूप में उसे भी धवला में ले लिया गया है।[1]

२४. सिद्धिविनिश्चय—भट्टाकलंकदेव द्वारा विरचित इस 'सिद्धिविनिश्चय' का उल्लेख धवला में 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में दर्शनावरणीय प्रकृतियों के निर्देशक सूत्र (५,५,८५) की व्याख्या के प्रसंग में किया गया है। वहाँ प्रसंग के अनुसार यह शंका उठायी गयी है कि सूत्र में विभंगदर्शन की प्ररूपणा क्यों नहीं की गयी है। उसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि उसका अन्तर्भाव चूँकि अवधिदर्शन में हो जाता है, इसीलिए सूत्र में उसका पृथक् से उल्लेख नहीं किया गया है। इतना स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख इस प्रकार किया है[2]—

"तथा सिद्धिविनिश्चयेऽप्युक्तम्—अवधि-विभंगयोरवधिदर्शनमेव।"

२५. सुत्तपोत्थय—धवलाकार के समक्ष जो सूत्रपोथियाँ रही हैं उनमें प्रायः पट्खण्डागम व कषायप्राभृत आदि आगम-ग्रन्थों के मूल सूत्र व गाथाएँ आदि रही हैं। उनके अनेक संस्करण धवलाकार के समक्ष रहे हैं। इनके अन्तर्गत सूत्रों में उनके समय में कुछ पाठभेद व हीनाधिकता भी हो गयी थी। धवला में इन सूत्रपुस्तकों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

(१) केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्संतरं छम्मासा।—पु० ५, पृ० १०६

(२) बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो, बहुएहि आइरिएहि संमदत्तादो च।—पु० ७, पृ० ५४०

यद्यपि यहाँ 'सूत्रपुस्तक' का निर्देश नहीं किया गया है, पर अभिप्राय भिन्न सूत्रपुस्तकों का ही रहा है।

(३) अप्पमत्तद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु देवाउअस्स बंधो वोच्छिज्जदि त्ति केसु वि सुत्त-पोत्थएसु उवलब्भइ।—पु० ८, पृ० ६५

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १६५-६६ और त०वा० १,३३,१

२. धवला, पु० १३, पृ० ३५६

(४) ······केसु वि सुत्तपोत्थएसु विदियमत्थमस्सिदूणं परूविदअप्पाबहुआभावादो च।
—पु० १३, पृ० ३८२

(५) केसु वि सुत्तपोत्थएसु एसो पाठो।—पु० १४, पृ० १२७

इनके विषय में विशेष विचार आगे 'मतभेद' के प्रसंग में किया जायेगा।

षट्खण्डागम के ही अन्तर्गत खण्ड व अनुयोगद्वार आदि का उल्लेख

धवला में ग्रन्थनामनिर्देशपूर्वक जो अवतरण-वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनका उल्लेख पूर्वापर प्रसंग के साथ ऊपर किया जा चुका है। अब आगे यहाँ धवलाकार के द्वारा यथाप्रसंग प्रस्तुत षट्खण्डागम के ही अन्तर्गत खण्ड, अनुयोगद्वार, अवान्तर अधिकार व सूत्रविशेष आदि का उल्लेख किया गया है, उनका निर्देश किया जाता है—

(१) अप्पाबहुंगसुत्त—पु० ३, पृ० ६८, २६१, २७३ व ३२१। पु० ४, पृ० २१५।

(२) कम्माणिओगद्दार—पु० १४, पृ० ४६।

(३) कालविहाण—पु० १०, पृ० ४५, २४१, २७२ व २७५।

(४) कालसुत्त—पु० १, पृ० १४२ व पु० ४, पृ० ३८४।

(५) कालाणिओगद्दार—पु० ३, पृ० ४४८। पु० १०, पृ० ३६ व २७१।

(६) खुद्दाबंध—पु० ३, पृ० २३२, २४९-५०, २७८, २७९ व ४१४। पु० ४, पृ० १८५ व २०६। पु० ९, पृ० ३१०। पु० १४, पृ० ४७।

(७) खेत्ताणिओगद्दार—पु० ४, पृ० २४५ व पु० ९, पृ० २१।

(८) चूलियाअप्पाबहुअ—पु० १४, पृ० ३२२।

(९) चूलियासुत्त—पु० ५, पृ० ११९ व पु० १४, पृ० ८५।

(१०) जीवट्ठाण—पु० ३, पृ० २५०, २७८ व २७९। पु० ६, पृ० ३३१ व ३४४। पु० ७, पृ० २४६। पु० १३, पृ० २९९। पु० १४, पृ० २१४ व ४२६।

(११) जीवट्ठाण-चूलिया—पु० १०, पृ० २९४ व पु० १६, पृ० ५१०।

(१२) दव्वसुत्त—पु० ४, पृ० १६५।

(१३) दव्वाणिओगद्दार—पु० ४, पृ० १६३। पु० ५, पृ० २५२ व २५७। पु० ६, पृ० ४७१। पु० ७, पृ० ३७२।

(१४) पदेसबंधसुत्त—पु० १०, पृ० ५०२।

(१५) पदेसविरइयअप्पाबहुग—पु० १०, पृ० १२०, १३६ व २०८। पु० ११, पृ० २५६।

(१६) पदेसविरइयसुत्त—पु० १०, पृ० ११६।

(१७) बंधप्पाबहुगसुत्त—पु० ४, पृ० १३२ व पु० ७, पृ० ३६०।

(१८) भावविहाण—पु० १३, पृ० २६३ व २६४। पु० १६, पृ० ४१५।

(१९) महाबंध—पु० ७, पृ० १९५। पु० १०, पृ० २२८। पु० १२, पृ० २१ व ६५। पु० १४, पृ० ५६४। पु० १५, पृ० ४३।

(२०) वग्गणागाहासुत्त—पु० ९, पृ० ३१।

(२१) वग्गणसुत्त, वर्गणासूत्र—पु० १, पृ० २९०। पु० ४, पृ० १७६ व २१५ (वग्गणअप्पाबहुग)। पु० ९, पृ० १७, २८, २९ व ६८। पु० १४, पृ० ३८५।

(२२) वेदणखेत्तविहाण, वेदणाखेत्तविहाणसुत्त—पु० ३, पृ० ३३१ । पु० ४, पृ० २२ व ९४ ।

(२३) वेयणा—पु० ९, पृ० १७ । पु० १३, पृ० ३६,२०३,२१२,२६८,२९०,३१०,३२५, ३२७ व ३९२ । पु० १४, पृ० ३५१ ।

(२४) वेयणादव्वविहाण—पु० १४, पृ० १८४ ।

(२५) वेयणासुत्त—पु० ३, पृ० ३७ ।

(२६) संतसुत्त—पु० २, पृ० ६५८ व पु० ४, पृ० १६५ ।

(२७) संताणिओगद्दार—पु० ४, पृ० १६३ ।

अनिर्दिष्टनाम ग्रन्थ

धवलाकार ने जहाँ ग्रन्थनाम-निर्देशपूर्वक कुछ ग्रन्थों की गाथाओं व श्लोकों आदि को अपनी इस टीका में उद्धृत किया है वहाँ उन्होंने ग्रन्थनामनिर्देश के विना भी पचासों ग्रन्थों की गाथाओं और श्लोकों आदि को प्रसंगानुसार जहाँ-तहाँ धवला में उद्धृत किया है। उनमें से जिनको कहीं ग्रन्थविशेषों में खोजा जा सका है उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. अनुयोगद्वार—धवलाकार ने जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम के प्रसंग में सासादनसम्यग्-दृष्टि आदि के काल की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण के प्ररूपक सूत्र (१,२,६) की व्याख्या में प्रसंग-प्राप्त आवलि आदि कालभेदों के प्रमाण को प्रकट किया है। उसे पुष्ट करते हुए आगे धवला में 'उक्तं च' इस निर्देश के साथ चार गाथाओं को उद्धृत किया गया है।[1] उनमें तीसरी गाथा इस प्रकार है—

अड्ढस्स अणलसस्स य णिरुवहदस्स य जिणेहि जंतुस्स।
उस्सासो णिस्सासो एगो पाणो त्ति आहिदो एसो॥

कुछ थोड़े शब्दभेद के साथ इसी प्रकार की एक गाथा अनुयोगद्वार में भी उपलब्ध होती है। यथा—

हट्ठस्स अणवगल्लस्स णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसास-णीसासे एस पाणु त्ति वुच्चई[2]॥

इस प्रकार इन दोनों गाथाओं में कुछ शब्दभेद के होने पर भी अभिप्राय प्रायः समान है। दोनों के शब्दविन्यास को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक-दूसरे पर आधारित रही हैं।

उनमें से उक्त दोनों ग्रन्थों में चौथी गाथा इस प्रकार है—

तिण्णि सहस्सा सत्त य सयाणि तेहत्तरिं च उस्सासा।
एगो होदि मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुयाणं॥—धवला

तिण्णि सहस्सा सत्त सयाइं तेहत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो सव्वेहिं अणंतनाणीहिं॥[3]

---

१. धवला, पु० ३, पृ० ६६

२. अनुयो० गा० १०४, पृ० १७८-७९; यह गाथा इसी रूप में भगवती (पृ० ८२४) और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (१८, पृ० ८९) में भी इसी रूप में उपलब्ध होती है।

३. अनुयो० १०५-६, पृ० १७९; यह गाथा भी इसी रूप में भगवती (६,७,४, पृ० ८२५) और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (१८, पृ० ८९) में उपलब्ध होती है।

इन दोनों गाथाओं का उत्तरार्ध शब्दशः समान है। अभिप्राय भी दोनों का समान ही है।

विषयविवेचन की दृष्टि से धवला और अनुयोगद्वार में बहुत-कुछ समानता देखी जाती है। तुलनात्मक दृष्टि से इसका विचार पीछे 'षट्खण्डागम व अनुयोगद्वार' शीर्षक में विस्तार से किया जा चुका है।

२. आचारांगनिर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) द्वारा आचारांग पर गाथाबद्ध निर्युक्ति लिखी गयी है। धवला में प्रसंगानुसार उद्धृत कुछ गाथाओं में इस निर्युक्ति की गाथाओं से समानता देखी जाती है। यथा—

(१) जीवस्थान-सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में धवलाकार ने मंगल के विषय में विस्तार से प्ररूपणा की है। उस प्रसंग में निक्षेपों की प्ररूपणा के अनन्तर यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि इन निक्षेपों में यहाँ किस निक्षेप से प्रयोजन है। इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि प्रकृत में तत्परिणत नोआगमभावनिक्षेप से प्रयोजन है।

इस प्रसंग में यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि यहाँ तत्परिणत नोआगमभाव-निक्षेप से प्रयोजन रहा है तो अन्य निक्षेपों की प्ररूपणा यहाँ किसलिए की गयी है। इसके उत्तर में आगे इस गाथा को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि इस वचन के अनुसार यहाँ निक्षेप किया गया है।[1]

जत्थ वहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा।
जत्थ वहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ ॥

यह गाथा कुछ थोड़े परिवर्तन के साथ आचारांगनिर्युक्ति में इस प्रकार पायी जाती है[2]—

जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥

दोनों गाथाओं का अभिप्राय तो समान है ही, साथ ही उनमें शब्दसाम्य भी बहुत-कुछ है।

(२) आचारांगनिर्युक्ति के 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन में सात उद्देश हैं जिनमें क्रम से जीव, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और वायुकायिक जीवों का उल्लेख करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि उनके वध से चूंकि बन्ध होता है, इसलिए उससे विरत होना चाहिए।[3]

धवला में उपर्युक्त सत्प्ररूपणा में कायमार्गणा के प्रसंग में पृथिवीकायिकादि जीवों के भेद-प्रभेदों को प्रकट किया गया है। उस प्रसंग में वहाँ त्रस जीव बादर हैं या सूक्ष्म, यह पूछे जाने पर धवलाकार ने कहा है कि वे बादर हैं, सूक्ष्म नहीं हैं; क्योंकि उनकी सूक्ष्मता का विधान करने वाला आगम नहीं है। इस पर पुनः वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि उनके बादरत्व का विधान करनेवाला भी तो आगम नहीं है, तब ऐसी अवस्था में यह कैसे समझा जाय कि वे बादर हैं, सूक्ष्म नहीं हैं। इसके उत्तर में वहाँ धवलाकार ने कहा है कि आगे के सूत्रों में जो पृथिवीकायिकादिकों के सूक्ष्मता का विधान किया गया है, उससे सिद्ध है कि त्रस जीव बादर

१. धवला, पु० १, पृ० ३०
२. आचा० नि० ४; यह गाथा अनुयोगद्वार (१-६) में भी इसी रूप में प्राप्त होती है।
३. आचारा०नि० ३५

हैं, सूक्ष्म नहीं हैं।

इसी प्रसंग में वहाँ यह पूछने पर कि वे पृथिवीकायिक आदि जीव कौन हैं, इसका उत्तर देते हुए धवला में छह गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं।[1] उनमें प्रथम गाथा इस प्रकार है—

पुढवी य सक्करा वालुवा य उवले सिलादि छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहि ॥

आचारांगनिर्युक्ति में जिन गाथाओं में पृथिवी के उन छत्तीस भेदों का नाम-निर्देश किया गया है, उनमें प्रथम गाथा इस प्रकार है—

पुढवी य सक्क रा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे।
अय तंब तउअ सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥

इन दोनों गाथाओं का पूर्वार्ध समान है। विशेषता यह रही है कि आचारांगनिर्युक्ति में जहाँ 'लोणूसे' (लोण ऊष) के आगे उक्त छत्तीस भेदों में शेष सभी का नामोल्लेख कर दिया गया है[2] वहाँ धवला में उद्धृत उस गाथा में 'सिलादि छत्तीसा' कहकर सिला के आगे 'आदि' शब्द के द्वारा शेष भेदों की सूचना मात्र की गयी है।[3]

(३) धवला में उद्धृत उन गाथाओं में आगे की तीन गाथाओं में क्रम से जलकायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के भेदों का निर्देश किया गया है।[4]

इन जलकायिक आदि जीवों के भेदों की निर्देशक तीन गाथाएँ आचारांगनिर्युक्ति में भी उपलब्ध होती हैं। दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट वे भेद प्रायः शब्दशः समान हैं।[5]

उन भेदों की प्ररूपक ऐसी ही तीन गाथाएँ मूलाचार में भी उपलब्ध होती हैं।

मूलाचार और आचारांगनिर्युक्तिगत इन गाथाओं में विशेषता यह रही है कि इनके पूर्वार्ध में उन भेदों का उल्लेख किया गया है और उत्तरार्ध में आचारांगनिर्युक्ति में जहाँ 'ये पाँच प्रकार के अप्कायिक (तेजस्कायिक व वायुकायिक) विधान वर्णित हैं' ऐसा कहा गया है वहाँ मूलाचार में 'उनको अप्काय (तेजस्काय व वायुकाय) जीव जानकर उनका परिहार करना चाहिए,[6] ऐसा कहा गया गया है। इस प्रकार का पाठभेद बुद्धिपुरस्सर ही हुआ दिखता है। यथा—

बायर आउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥—आचा० नि० १०८
ते जाण आउ जीवा जाणित्ता परिहरे दव्वा ॥—मूला० ५-१३

आगे तेजस्काय के प्रसंग में 'आउ' के स्थान पर 'तेउ' और वायु के प्रसंग में 'वाउ' शब्द

---

१. धवला, पु० १, पृ० २७२-७४
२. देखिए आचा० नि० गा० ७३-७६। ये ३६ भेद मूलाचार (५,६-१२), तिलोयपण्णत्ती (२, ११-१४) और जीवसमास (२७-३०) में प्रायः समान रूप में उपलब्ध होते हैं। प्रज्ञापना (२४,८-११) में ३६ के स्थान में ४० भेदों का नामनिर्देश किया गया है।
३. धवला, पु० १, पृ० २७२
४. धवला, पु० १, पृ० २७३
५. आचा० नि० १०८, ११८ व १६६
६. मूलाचार ५,१३-१५

दोनों ग्रन्थों में परिवर्तित हैं।[1]

(४) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में क्षेत्र की अपेक्षा सूत्र (१,२,४) में निर्दिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवराशि के प्रमाण को स्पष्ट करते हुए धवला में उस प्रसंग में यह पूछा गया है कि क्षेत्र की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवराशि को कैसे मापा जाता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि जिस प्रकार प्रस्थ (एक माप विशेष) के द्वारा जौ, गेहूँ आदि को मापा जाता है, उसी प्रकार 'लोक' के द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवराशि मापी जाती है। इस प्रकार से मापने पर मिथ्यादृष्टि जीव-राशि अनन्त लोकप्रमाण होती है। आगे वहाँ धवला में 'एत्थुवउज्जंती गाहा' ऐसी सूचना करते हुए "पत्थेण कोद्दवं वा" इत्यादि गाथा को उद्धृत किया गया है। यह गाथा आवश्यक-निर्युक्ति में उसी रूप में उपलब्ध होती है।[2]

३. आप्तमीमांसा—इसका दूसरा नाम देवागमस्तोत्र है। आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित यह एक स्तुतिपरक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके ऊपर आचार्य भट्टाकलंकदेव द्वारा विरचित अष्टशती और आचार्य विद्यानन्द द्वारा विरचित अष्टसहस्री जैसी विशाल टीकाएँ हैं। धवला में इसकी कुछ कारिकाओं को समन्तभद्रस्वामी के नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया गया है। यथा—

(१) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में निक्षेप योजनापूर्वक उसके शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए धवला में त्रिकालविषयक अनन्तपर्यायों की परस्पर में अजहद्वृत्ति (अभेदात्मकता) को द्रव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। प्रमाण के रूप में वहाँ 'वुत्तं च' कहते हुए 'आप्त-मीमांसा' की १०७वीं कारिका को उद्धृत किया गया है।[3]

(२) इसी कारिका को आगे धवला में जीवस्थान चूलिका में अवधिज्ञान के प्रसंग में भी 'अत्रोपयोगी श्लोकः' कहते हुए उद्धृत किया गया है।[4]

(३) आगे 'कृति' अनुयोगद्वार में नयप्ररूपणा के प्रसंग में आ० पूज्यपाद-विरचित सार-संग्रह के अन्तर्गत नय के लक्षण को उद्धृत करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि अनन्त पर्यायस्वरूप वस्तु की उन पर्यायों में से किसी एक पर्यायविषयक ज्ञान के समय निर्दोष हेतु के आश्रित जो प्रयोग किया जाता है, उसका नाम नय है।

इस पर वहाँ यह शंका उठायी गयी है कि अभिप्राय-युक्त प्रयोक्ता को यदि 'नय' नाम से कहा जाता है तो उचित कहा जा सकता है, किन्तु प्रयोग को नय कहना संगत नहीं है, क्योंकि नित्यत्व व अनित्यत्व आदि का अभिप्राय सम्भव नहीं है।

इस शंका का निराकरण करते हुए धवला में कहा गया है कि वैसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि नय के आश्रय से जो प्रयोग उत्पन्न होता है वह प्रयोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने वाला होता है, इसलिए कार्य में कारण के उपचार से प्रयोग के भी नयरूपता सिद्ध है। यह स्पष्ट करते हुए आगे 'तथा समन्तभद्रस्वामिनाप्युक्तम्' इस प्रकार की सूचना के साथ आप्त-

---

१. ये गाथाएं जीवसमास (३१-३३) में भी आचा० नि० के पाठ के अनुसार ही उपलब्ध होती हैं।
२. धवला पु० ३, पृ० ३२ और आव० नि० ८७ (पृ० ६३)
३. धवला, पु० ३, पृ० ६
४. धवला, पु० ६, पृ० २८

मीमांसा की १०६वीं कारिका के उत्तरार्ध को इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥

पदविभाग के साथ उसके अभिप्राय को भी वहाँ प्रकट किया गया है।[1]

इसी प्रसंग में आगे धवला में यह स्पष्ट किया गया है कि ये सभी नय यदि वस्तुस्वरूप का अवधारण नहीं करते हैं तो वे समीचीन दृष्टि (सन्नय) होते हैं, क्योंकि वे उस स्थिति में प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं करते हैं। इसके विपरीत यदि वस्तुस्वरूप का एकान्त रूप से अवधारण करते हैं तो वे उस स्थिति में मिथ्यादृष्टि (दुर्नय) होते हैं, क्योंकि वैसी अवस्था में उनकी प्रवृत्ति प्रतिपक्ष का निराकरण करने में रहती है।

इतना स्पष्ट करते हुए आगे वहाँ 'अत्रोपयोगिनः श्लोकाः' इस सूचना के साथ जिन तीन श्लोकों को उद्धृत किया गया है, उनमें प्रारम्भ के दो श्लोक स्वयम्भूस्तोत्र (६२ व ६१) के हैं तथा तीसरा श्लोक आप्तमीमांसा (१०८वीं कारिका) का है।[2]

इसी प्रसंग में आगे धवला में कहा गया है कि इन नयों का विषय उपचार से उपनय और उनका समूह वस्तु है, क्योंकि इसके विना वस्तु की अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती। यह कहते हुए आगे वहाँ 'अत्रोपयोगी श्लोकः' इस निर्देश के साथ आप्तमीमांसा की क्रम से १०७वीं और २२वीं इन दो कारिकाओं को उद्धृत किया गया है। साथ ही इन दोनों के बीच में "एयदवियम्मि जे" इत्यादि सन्मतितकी एक गाथा (१-३३) को भी उद्धृत किया गया है।[3]

(४) आगे 'प्रक्रम' अनुयोगद्वार में प्रसंगप्राप्त सत् व असत् कार्यवाद के विषय में विचार करते हुए उस प्रसंग में धवला में क्रम से आप्तमीमांसा की इन १४ कारिकाओं को उद्धृत किया गया है[4]—३७,३९-४०,४२,४१,५९-६०,५७ और ९-१४।

४. आवश्यकनिर्युक्ति—धवला में ग्रन्थावतार के प्रसंग में नय की प्ररूपणा करते हुए अन्त में यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवहर्ता जनों को इन नयों के विषय में निपुण होना चाहिए, क्योंकि उसके विना अर्थ के प्रतिपादन का परिज्ञान नहीं हो सकता है। यह कहते हुए आगे वहाँ 'उत्तं च' कहकर दो गाथाओं को उद्धृत किया गया है।[5] उनमें प्रथम गाथा इस प्रकार है—

णत्थि णएहिविहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि।
तो णयवादे णियमा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ॥

इसके समकक्ष एक गाथा आ० भद्रबाहु (द्वितीय) विरचित आवश्यकनिर्युक्ति में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

नत्थि नएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणवरमदम्मि।
आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूआ ॥—आव०नि०गा० ९६१

इन दोनों गाथाओं का पूर्वार्ध प्रायः समान है। तात्पर्य दोनों गाथाओं का यही है कि वक्ता

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १६७
२. धवला, पु० ९, पृ० १८२
३. धवला, पु० ९, पृ० १८२-८३
४. धवला पु० १५, पृ० १८-२१ और २६-३१
५. वही, पु० १, पृ० ९१

थां व्याख्याता को नयों के विषय में निपुण अवश्य होना चाहिए।

पूर्व गाथा के उत्तरार्ध में जहाँ यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि—इसलिए सिद्धान्त के वेत्ता मुनिजन नयवाद में निपुण[1] हुआ करते हैं, वहाँ दूसरी गाथा के उत्तरार्ध में यह स्पष्ट किया गया है कि नयों के विषय में दक्ष वक्ता को नयों का आश्रय लेकर श्रोता के लिए तत्त्व का व्याख्यान करना चाहिए।

इस प्रकार पूर्व गाथा की अपेक्षा दूसरी गाथा का उत्तरार्ध अधिक सुबोध दिखता है।

(२) जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में सूत्रकार ने चौदह जीवसमासों की प्ररूपणा में प्रयोजनीभूत आठ अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा है।—सूत्र १,१,५

सूत्र में प्रयुक्त 'अणियोगद्दार' के प्रसंग में धवला में उसके अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक इन समानार्थक शब्दों का निर्देश करते हुए 'उक्तं च' के साथ "अणियोगो य णियोगो" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है।[2]

यह गाथा आवश्यकनिर्युक्ति में उसी रूप में उपलब्ध होती है।[3]

५. उत्तराध्ययन—पूर्वोक्त पृथिवी के वे ३६ भेद उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध होते हैं।

—(३६, ७४-७७)

६. कसायपाहुड—यह पीछे (पृ० १००७-२३) स्पष्ट किया जा चुका है कि धवलाकार ने ग्रन्थनामनिर्देश के बिना कसायपाहुड की कितनी ही गाथाओं को उद्धृत किया है।

७. गोम्मटसार—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड में आ० वीरसेन के द्वारा धवला में उद्धृत पचासों गाथाएँ आत्मसात् की गयी हैं।[4]

८. चारित्रप्राभृत—जीवस्थान खण्ड के अवतार की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द-विरचित चारित्रप्राभृत की "दंसण-वद-सामाइय' आदि गाथा को उद्धृत करते हुए धवला में कहा गया है कि उपासकाध्ययन नाम का अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा दर्शनिक, व्रतिक व सामायिकी आदि ग्यारह प्रकार के उपासकों के लक्षण, उन्हीं के व्रतधारण की विधि और आचरण की प्ररूपणा करता है।[5]

९. जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो—मुनि पद्मनन्दी द्वारा विरचित 'जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो' का रचनाकाल प्रायः अनिर्णीत है। फिर भी सम्भवतः उसकी रचना धवला के पश्चात् हुई है, ऐसा प्रतीत होता है। जीवस्थान-क्षेत्रप्रमाणानुगम में प्रसंगप्राप्त लोक के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यदि लोक को नीचे से क्रमशः सात, एक, पांच व एक राजु विस्तार-वाला; उत्तर-दक्षिण में सर्वत्र सात राजु बाहल्यवाला और चौदह राजु आयत न माना जाय तो प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्र को सिद्ध करने के लिए जो दो गाथाएँ कही गयी हैं वे निरर्थक सिद्ध होंगी, क्योंकि उनमें जो लोक का घनफल कहा गया है, वह इसके बिना बनता

---

१. गाथा में 'णियमा' के स्थान में यदि 'णिउणा' पाठ रहा हो, तो यह असम्भव नहीं दिखता।

२. धवला, पु० १, पृ० १५३-५४

३. आव० नि० गा० १२५

४. देखिए पीछे 'ष०ख० (धवला) व गोम्मटसार' शीर्षक।

५. धवला, पु० १, १०२ व चा० प्रा० २२

नहीं है, ऐसा कहते हुए उन्होंने आगे उन गाथाओं को उद्धृत कर दिया है।[1]

वे दोनों गाथाएं प्रकृत जंबूदीवपण्णत्ती में उपलब्ध होती हैं। उनमें से प्रथम गाथा में अधोलोक का घनफल और दूसरी गाथा में मृदंगाकृतिक्षेत्र (ऊर्ध्वलोक) का घनफल गणित-प्रक्रिया के आधार से निकाला गया है। विशेषता यह है कि वहाँ इन दो गाथाओं के मध्य में एक अन्य गाथा और भी है, जिसमें अधोलोक और ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी घनफल के प्रमाण का केवल निर्देश किया गया है।[2]

उनमें प्रथम गाथा से बहुत-कुछ मिलती हुई एक गाथा (१-१६५) तिलोयपण्णत्ती में उपलब्ध होती है।

१०. जीवसमास—इसके सम्बन्ध में कुछ विचार ग्रन्थोल्लेख के प्रसंग में किया गया है।

(१) धवला में अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के भेदों की प्ररूपक जिन तीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है,[3] उनके पूर्वार्ध जीवसमास (गा० ३१-३३) में शब्दशः समान रूप में उपलब्ध होते हैं। जैसा पीछे 'आचारांगनिर्युक्ति' के प्रसंग में स्पष्ट किया गया है, यहाँ उन गाथाओं के उत्तरार्ध आचारांगनिर्युक्तिगत उन गाथाओं के उत्तरार्ध के समान हैं; जबकि धवला में उद्धृत उन गाथाओं के उत्तरार्ध पंचसंग्रहगत उन गाथाओं (१,७८-८०) के समान हैं।

(२) इसके पूर्व इस सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में मार्गणाओं के स्वरूप को प्रकट करते हुए धवलाकार ने आहारक और अनाहारक जीवों के स्वरूप का निर्देश किया है। उस प्रसंग में उन्होंने 'उक्तं च' कहकर "विग्गहगइमावण्णा" आदि एक गाथा को उद्धृत किया है।

यह गाथा जीवसमास में उपलब्ध होती है।[4]

११. तत्त्वार्थवार्तिक—जैसा कि 'ग्रन्थोलेख' के प्रसंग में पीछे (पृ० ५८७) स्पष्ट किया जा चुका है, धवलाकार ने इस तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख 'तत्त्वार्थभाष्य' के नाम से किया है। अनेक प्रसंगों पर नामनिर्देश के विना भी उसके कितने ही वाक्यों को धवला में उद्धृत किया गया है। यह स्मरणीय है कि धवलाकार ने तत्त्वार्थवार्तिक के अनेक सन्दर्भों को उसी रूप में धवला में आत्मसात् कर लिया है। जैसे—

(१) प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः। प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेश इत्यर्थः, तेन प्रकाशितानां न प्रमाणाभासपरिगृहीतानामित्यर्थः। तेषामर्थानामस्तित्व-नास्तित्व-[नित्या] नित्यत्वाद्यन्तात्मनां [द्यनन्तात्मनां] जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायास्तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषंगद्वारेणेत्यर्थः।— त०वा० १,३३,१

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः इति। प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थः। तेन प्रकाशितानां प्रमाणपरिगृहीतानामित्यर्थः। तेषामर्थानामस्तित्व-नास्तित्व-नित्यानित्यत्वाद्यनन्तात्मकानां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषंगद्वारे-

---

१. धवला, पु० ४, पृ० २०-२१

२. जं०दी० प्र० संगहो ११,१०८-१०

३. धवला, पु० १, पृ० २७३

४. देखिये धवला पु० १, १५३ व जी०स० गाथा ८२; यह गाथा दि० पंचसंग्रह (१-१७७) और श्रावकप्रज्ञप्ति (गा० ६८) में भी उपलब्ध होती है।

णत्यर्थः।''—धवला, पु० ६, पृ० १६५-६६

(२) शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्दः। X X स च लिंग-संख्या-साधनादिव्यभिचार-निवृत्तिपरः। X X X लिंगव्यभिचारस्तावत् स्त्रीलिंगे पुल्लिंगाभिधानं तारका स्वातिरिति। पुल्लिंगे स्त्र्यभिधानमवगमो विद्येति। स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानं वीणाऽऽतोद्यमिति। नपुंसके स्त्र्यभिधानमायुधं शक्तिरिति। पुल्लिंगे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति। नपुंसके पुल्लिंगाभिधानं द्रव्यं परशुरिति।—त०वा० १,३३,८-९९

"शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्दः। अयं नयः लिंग-संख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरः। लिंगव्यभिचारस्तावत् स्त्रीलिंगे पुल्लिंगाभिधानम्—तारका स्वातिरिति। पुल्लिंगे स्त्र्यभिधानम्—अवगमो विद्येति। स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानम्—वीणा आतोद्यमिति। नपुंसके स्त्र्यभिधानम्—आयुधं शक्तिरिति। पुल्लिंगे नपुंसकाभिधानम्—पटो वस्त्रमिति। नपुंसके पुल्लिंगाभिधानम्—द्रव्यं परशुरिति।"[1]—धवला पु०६, पृ० १७६-७७

आगे इस शब्दनय से सम्बन्धित संख्या, साधन, काल और उपग्रह विषयक सन्दर्भ भी दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान हैं। विशेष इतना है कि साधन और काल के विषय में क्रम-व्यत्यय हुआ है।

शब्दनय का उपसंहार करते हुए दोनों ग्रन्थों में समान रूप में यह भी कहा गया है—

"एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ताः (धवला—न युक्ताः) अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावात्। X X X तस्माद्यथालिंगं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम्।"

यहाँ ये दो ही उदाहरण दिये गये हैं, ऐसे अन्य भी कितने ही और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

१२. तत्त्वार्थसूत्र—'ग्रन्थोल्लेख' के प्रसंग में यह पूर्व (पृ० ५८६-८७) में स्पष्ट किया जा चुका है कि धवला में तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों को ग्रन्थनामनिर्देश के साथ उद्धृत किया गया है। उनके अतिरिक्त उसके अन्य भी कितने ही सूत्रों को यथाप्रसंग ग्रन्थनामनिर्देश के बिना धवला में उद्धृत किया गया है।[2]

१३. तिलोयपण्णत्ती—यह पीछे (पृ० ५८७-८९) 'ग्रन्थोल्लेख' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है कि धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त तिर्यग्लोक के अवस्थान और राजु के अर्धच्छेदविषयक प्रमाण के सम्बन्ध में अपने अभिमत की पुष्टि में तिलोयपण्णत्तिसुत्त' को ग्रन्थनामोल्लेखपूर्वक प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है।

अब यहाँ हम धवला में प्ररूपित कुछ ऐसे प्रसंगों का उल्लेख करना चाहते हैं जो या तो

---

१. यह शब्दनयविषयक सन्दर्भ सत्प्ररूपणा (पु० १, पृ० ८६-८९) में भी इसी प्रकार का है।

२. उदाहरणस्वरूप देखिये पु० ६, पृ० १६४ में "प्रमाण-नयैरधिगमः" इत्यनेन सूत्रेणापि (त०सू० १-६) नेदं व्याख्यानं विघटते। पु० १३, पृ० २११ में "रूपिष्ववधेः" (त०सू० १-२७) इति वचनात्। आगे पृ० २२० में "न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्" (त०सू० १-१९) इति तत्र तत्प्रतिषेधात्। आगे पृ० २३४-३५ में "बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्" (त० सू० १-१६) संख्या-वैपुल्यवाचिनो बहु-शब्दस्य ग्रहणमविशेषात्। इत्यादि

इसी तिलोयपण्णत्ति पर आधारित हैं या फिर उसके समान कोई अन्य प्राचीन ग्रन्थ धवलाकार के समक्ष रहा है, जिसको उन्होंने उनका आधार बनाया है। इसका कारण यह है कि वे प्रसंग ऐसे हैं जो शब्द और अर्थ से भी तिलोयपण्णत्ती से अत्यधिक समानता रखते हैं। यथा—

(१) धवलाकार ने षट्खण्डागम की इस टीका को प्रारम्भ करते हुए स्वकृत मंगल के पश्चात् इस गाथा को उपस्थित किया है[1]—

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तार।
वागरिय छापि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो।।

इसके अनन्तर वे कहते हैं कि आचार्य-परम्परा से चले आ रहे इस न्याय को मन से अवधारित कर 'पूर्वाचार्यों का अनुसरण रत्नत्रय का हेतु है' ऐसा मानकर पुष्पदन्ताचार्य उपर्युक्त मंगल आदि छह की कारणपूर्वक प्ररूपणा करने के लिए सूत्र कहते हैं।[2]

इस प्रकार कहते हुए धवलाकार ने आगे आ० पुष्पदन्त द्वारा ग्रन्थ के प्रारम्भ मे किये गये मंगल के रूप में पंचपरमेष्ठिनमस्कारात्मक गाथा (णमोकारमत्र) की ओर ध्यान दिलाया गया है।

उक्त पंचपरमेष्ठिनमस्कारात्मक मंगलगाथा की उत्थानिका में धवलाकार ने जो कहा है वह इस प्रकार है—

"इदि णायमाइरियपरंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयणहेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह"—धवला १, पृ० ८

इसके साथ शब्द व अर्थ की समानता तिलोयपण्णत्ती की इस गाथा से देखने योग्य है—

इय णायं अवहारिय आइरियपरंपरागदं मणसा।
पुव्वाइरिया (आरा) णुसरणअं तिरयणणिमित्तं ॥—ति०प० १-८४

इसके पूर्व धवलाकार ने मंगल-निमित्त आदि उन छह की निर्देशक जिस गाथा को प्रस्तुत किया है उसकी समकक्ष गाथा तिलोयपण्णत्ती में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

मंगल-कारण-हेदू सत्थस्स पमाण-णाम-कत्तारा।
पढमं चिय कहिदव्वा एसा आइरियपरिभासा ।।१-७

आगे शास्त्रव्याख्यान के कारणभूत उन मंगल आदि छह की क्रम से धवला में जिस प्रकार प्ररूपणा की गयी है उसी प्रकार से उनकी प्ररूपणा तिलोयपण्णत्ती में भी की गयी है। विशेषता यह है कि धवला में जहाँ उनकी वह प्ररूपणा शंका-समाधानपूर्वक अन्य प्रासंगिक चर्चा के साथ कुछ विस्तार से की गयी है वहाँ तिलोयपण्णत्ती में वह सामान्य रूप से की गयी है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि धवला में जहाँ इस प्ररूपणा का लक्ष्य षट्खण्डागम, विशेषकर उसका प्रथम खण्ड जीवस्थान, रहा है वहाँ तिलोयपण्णत्ती में उसका लक्ष्य उसमें प्रमुख रूप से प्ररूपित लोक रहा है।

मंगल व निमित्त आदि उन छह के विषय में जो प्ररूपणा धवला और तिलोयपण्णत्ती में की

---

१. धवला पु० १, पृ० ७
२. धवला, पु० १, पृ० ८

गयी है उसमें शब्द और अर्थ की अपेक्षा कितनी समानता है, इसे संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है—

प्रसंग	धवला पु० १ (पृष्ठ)	ति०प०महाधि० १ (गाथा)
१. मंगल		
मंगल के ६ भेद	१०	१८
क्षेत्रमंगल	२८-२९	२१-२४
कालमंगल	२९	२४-२६
भावमंगल	२९	२७
मंगल के पर्यायशब्द	३१-३२	८
मंगल की निरुक्ति	३२-३४	९-१७
मंगल के स्थान व फल	३९-४१	२७-३१
२. निमित्त	५४-५५	३२-३४
३. हेतु	५५-५९	३५-५२
४. प्रमाण	६०	५३
५. नाम	६०	५४
६. कर्ता	६०-६५ व ७२	५५-८१

(२) इसके अतिरिक्त धवला में प्ररूपित अन्य भी कितने ही विषयों के साथ तिलोयपण्णत्ती की समानता देखी जाती है। जैसे—राजा, १८ श्रेणियाँ, अधिराज, महाराज, अर्धमाण्डलिक, माण्डलिक, महामाण्डलिक, त्रिखण्डपति (अर्धचक्री), षट्खण्डाधिपति (सकलचक्री) और तीर्थंकर आदि।

विशेषता यह रही है कि धवलाकार ने जहाँ उपर्युक्त राजा आदि के विषय में अन्यत्र से उद्धृत गाथाओं व श्लोकों में विचार किया है, वहाँ तिलोयपण्णत्ती में उनका विचार मूलग्रन्थगत गाथाओं में ही किया गया है।[1]

(३) धवला में जीवस्थान के अवतार के प्रसंग में[2] तथा आगे चलकर 'वेदना' खण्ड के अवतार के प्रसंग में[3] यथाक्रम से केवलियों, श्रुतकेवलियों, अंगश्रुत के धारकों का निर्देश किया गया है।

तिलोयपण्णत्ती में 'जम्बूद्वीप' अधिकार के आश्रय से भरतक्षेत्र में सुषमादि छह कालों की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में उपर्युक्त केवलियों आदि का उल्लेख किया गया है, जिसमें एक-दो नामों की भिन्नता को छोड़कर प्रायः दोनों में समानता है।[4]

(४) महावीर के निर्वाण के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले शक राजा के काल से सम्बन्धित विभिन्न मतों का उल्लेख धवला में इस प्रकार किया गया है—प्रथम मत ६०५ वर्ष व पांच

१. धवला पु० १, पृ० ५७-५८
२. वही, पृ० ६५-६७
३. वही, पु० ९, पृ० १३०-३१
४. ति०प० १,४,१४७६-९२

मास, द्वितीय मत १४७९३ वर्ष, तृतीय मत ७९९५ वर्ष व ५ मास।

ध्यान रहे कि इन मतभेदों का उल्लेख धवलाकार ने अन्यत्र से उद्धृत गाथाओं के द्वारा किया है।

शक राजा के काल से सम्बन्धित इन मतभेदों का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती में इस प्रकार किया गया है—

प्रथम मत ४६१ वर्ष, द्वितीय ९७८५ वर्ष ५ मास, तृतीय १४७९३ वर्ष, चतुर्थ ६०५ वर्ष ५ मास।[1]

उपर्युक्त मतभेदों के प्रदर्शन में विशेषता यह रही है कि धवला में जहाँ तीन मतभेदों को प्रकट किया गया है वहाँ तिलोयपण्णत्ती में चार मतभेदों को प्रकट किया गया है। उनमें ६०५ वर्ष ५ मास और १४७९३ वर्ष ये दो मतभेद तो दोनों ग्रन्थों में समान हैं। किन्तु ७९९५ वर्ष व ५ मास तथा ९७८५ वर्ष व ५ मास, यह मत दोनों ग्रन्थों में कुछ भिन्न है (कदाचित् इस मतभेद में प्रतिलेखक की असावधानी से हुआ अंकव्यत्यास भी कारण हो सकता है। ९ का अंक कई रूपों में लिखा जाता है।)

विचारणीय समस्या

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थगत इस शब्दार्थ-विषयक समानता और असमानता को देखते हुए यह निर्णय करना शक्य नहीं है कि तिलोयपण्णत्ती का वर्तमान रूप धवलाकार के समक्ष रहा है और उन्होंने अपनी इस महत्त्वपूर्ण टीका की रचना में उसका उपयोग भी किया है। ऐसा निर्णय करने में कुछ बाधक कारण हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तानन्त लोक कहा गया है।—सूत्र १,२,४

उस संदर्भ में लोक के स्वरूप को धवला में स्पष्ट किया गया है। इस प्रसंग में यह पूछने पर कि तिर्यग्लोक की समाप्ति कहाँ होती है, उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि असंख्यात द्वीप-समुद्रों से रोके गये क्षेत्र से आगे संख्यातगुणे योजन जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति हुई है। इस पर वहाँ शंका की गयी है कि यह कहाँ से जाना जाता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह ज्योतिषी देवों के दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्गप्रमाण भागहार के प्रतिपादक सूत्र से और तिलोयपण्णत्ती के इस सूत्र से जाना जाता है—

दुगुण-दुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगेत्ति।

धवलाकार ने इसे 'तिलोयपण्णत्तिसुत्त' कहा है।

इसे ही या इसी प्रकार की एक अन्य गाथा को धवलाकार ने आगे 'स्पर्शनानुगम' में चन्द्र-सूर्यबिम्बों की संख्या के लाने के प्रसंग में इस प्रकार उद्धृत किया है—

चंदाइच्च-गहेहिं चेवं णक्खत्त-ताररूवेहिं।
दुगुण-दुगुणेहिं णीरंतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो ॥—धवला पु० ४, पृ० १५१

किन्तु यहाँ किसी ग्रन्थ के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है।

---

१. देखिए धवला, पु० ९, पृ० १३२-३३ और ति०प० १,४,१४९६-९९

इस प्रकार उपर्युक्त 'तिलोयपण्णत्तिसुत्त' के नाम से उद्धृत वाक्य तिलोयपण्णत्ती के उपलब्ध संस्करण में नहीं पाया जाता है।

(२) धवलाकार ने प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्र के साथ संगति बैठाने के लिए लोक को दक्षिण-उत्तर में सात राजु प्रमाण बाहल्यवाला आयतचतुरस्र सिद्ध किया है।

वर्तमान तिलोयपण्णत्ती (१-१४९) में लोक का प्रमाण इसी प्रकार कहा गया है।

यदि धवलाकार के समक्ष 'तिलोयपण्णत्ती' में निर्दिष्ट लोक का यह प्रमाण रहा होता तो उन्हें विस्तारपूर्वक गणितप्रक्रिया के आधार से उसे सिद्ध न करना पड़ता।

प्रमाण के रूप में वे उसी तिलोयपण्णत्ती के प्रसंग को प्रस्तुत कर सकते थे। इससे यही सिद्ध होता है कि धवलाकार के समक्ष तिलोयपण्णत्ती में इस प्रकार का प्रसंग नहीं रहा। इसीलिए उन्हें यह कहना पड़ा—

क—एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरियसंपदायविरुद्धो तो वि तंत-जुत्तिबलेण अम्हेहि परूविदो।

—पु० ३, पृ० ३८

ख—एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीव-छेदणयसहिददीव-सायररूवमेत्तरज्जुच्छेद-पमाणपरिक्खाविहीण अण्णाइरिओवदेसपरंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारा जोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइयसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा, प्रतिनियतसूत्रावष्टम्भबलविजृंभितगुणप्रतिपन्नप्रतिबद्धासंख्येयावलिकावहारकालोपदेशवत् आयत-चतुरस्रलोकसंस्थानोपदेशवद् वा।—धवला पु० ४, पृ० १५७

(३) तिलोयपण्णत्ती में कुछ ऐसा गद्य-भाग है जो धवला में प्रसंगप्राप्त उस गद्यभाग से शब्दशः समान है। यथा—

क—तिलोयपण्णत्ती के प्रथम महाधिकार में गाथा २८२ में यह प्रतिज्ञा की गयी है कि हम वातवलय से रोके गये क्षेत्र के घनफल को, आठों पृथिवियों के घनफल को तथा आकाश के प्रमाण को कहते हैं। तदनुसार आगे वहाँ प्रथमतः 'संपहि लोगपेरंतट्ठिदवादवलयरुद्धखेत्ताणं आणयणविधाणं उच्चदे' इस सूचना के साथ लोक के पर्यन्त भाग में स्थित वायुओं के घनफल को निकाला गया है। उससे सम्बद्ध गद्यभाग वहाँ इस प्रकार है—

"लोगस्स तले तिण्णिवादाणं बहलं वादेक्कस्स य वीस-सहस्सा य जोयणमेत्तं। तं सव्वमेयट्ठं कदे सट्ठिजोयणसहस्सबाहल्ल जगपदरं होदि।......एदं सव्वमेगत्थ मेलाविदे चउवीस-कोडि-समहियसहस्सकोडीओ एगूणवीसलक्खतेसीदिसहस्सचउसदसत्तासीदिजोयणाणं णवसहस्ससत्त-सयसट्ठिरूवाहियलक्खाए अवहिदेगभागबाहल्लं जगपदरं होदि।"[1]

$$\frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०}$$

आगे कृत प्रतिज्ञा के अनुसार आठ पृथिवियों के नीचे वायु द्वारा रोके गये क्षेत्र के और आठ पृथिवियों के भी घनफल को प्रकट किया गया है।[2]

धवला में प्रतरसमुद्घातगत केवली के प्रसंग में 'संपहि लोगपेरंतट्ठिदवादवलयरुद्धखेत्ताण-

१. ति०प०, भा० १, पृ० ४३-४६

२. ति० प०, भा० १, पृ० ४६-४८

घणविधाणं वुच्चदे' इसी प्रतिज्ञा के साथ लोक के पर्यन्त भाग में स्थित वायुओं के घनफल को जिस गद्यभाग के द्वारा दिखलाया गया है, वह तिलोयपण्णत्ती के उपर्युक्त गद्यभाग से शब्दशः समान है।[1]

विशेषता यह रही है कि तिलोयपण्णत्ती में कृत प्रतिज्ञा के अनुसार आगे आठ पृथिवियों के नीचे वायुमण्डल द्वारा रोके गये क्षेत्र के घनफल को और आठ पृथिवियों के भी घनफल को जैसे प्रकट किया गया है वैसे प्रसंग के बहिर्भूत होने से यहाँ धवला में उसे नहीं दिखलाया गया है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थगत इन प्रसंगों को देखते हुए यह कहना शक्य नहीं है कि तिलोय-पण्णत्ती में धवला से इस गद्यभाग को लिया गया है अथवा धवला में उसे तिलोपयण्णत्ती से लिया गया है।

ख—तिलोयपण्णत्ती के 'ज्योतिर्लोक' नामक सातवें महाधिकार के प्रारम्भ में निर्दिष्ट (७, २-४) अवान्तर अधिकारों के अनुसार ज्योतिषी देवों की क्रम से प्ररूपणा की गयी है। वहाँ क्रमप्राप्त अचर ज्योतिषियों की प्ररूपणा करते हुए सपरिवार समस्त चन्द्रों के प्रमाण को निकाला गया है।

उधर धवला में स्पर्शनानुगम के प्रसंग में ज्योतिषी सासादनसम्यग्दृष्टियों के स्वस्थान क्षेत्र की प्ररूपणा करते हुए समस्त ज्योतिषियों की संख्या को जान लेने की आवश्यकता पड़ी है। इसके लिए वहाँ भी सपरिवार समस्त चन्द्रों के प्रमाण को निकाला गया है।

दोनों ग्रन्थगत उनकी यह प्ररूपणा प्रायः शब्दशः समान है। यथा—

"(एत्तो) चंदाण सपरिवाराणयणविहाणं वत्तइस्सामो। तं जहा—जंबूदीवादिपंचदीव-समुद्दे मुत्तूण तदियसमुद्दमादिं कादूण जाव सयंभूरमणसमुद्दो त्ति एदासिमाणयण किरिया ताव उच्चदे—तदियसमुद्दम्मि गच्छो बत्तीस, च उत्थदीवे गच्छ चउसट्ठी,.........।"

—ति०प०, भाग २, पृ० ७६४-६६

"(तिरियलोगात्तिट्ठिदसयल-) चंदाणं सपरिवाराणमाणयणविहाणं वत्तइस्सामो। तं जहा—जंबूदीवादि पंचदीव-समुद्दे मोत्तूण तदियसमुद्दमादिं कादूण जाव सयंभूरमणसमुद्दो त्ति एदासि-माणयणकिरिया ताव उच्चदे—तदियसमुद्दम्मि गच्छो बत्तीस, चउत्थदीवे गच्छो चउसट्ठी.........।"—धवला पु० ४, पृ० १५२-५६

इस प्रकार यह पूरा प्रकरण दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान है। अन्त में उपसंहार करते हुए दोनों ग्रन्थगत प्रसंग के अनुसार जो अन्त में पाठ-परिवर्तन हुआ है, वह यहाँ द्रष्टव्य है। यथा—

"ति०प०—एसा तप्पाउग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीव-समुद्दरूवमेत्तरज्जुच्छेद-णयपमाणपरिक्खाविहीण अण्णाइरियउवदेसपरंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसा-रिणी, जोदिसियभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाधणट्ठमेसा परूवणा परू-विदा। तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेत्ति एयंतपरिग्गहेण असग्गाहो कायव्वो।"......पृ० ७६६

"धवला—एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहिय............पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा प्रतिनियतसूत्रावष्टम्भबलविजृंभितगुणप्रतिपन्नप्रतिबद्धासंख्येयावलिकावहारकालोपदेशवत् आ-

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ५१-५५

यतचतुरस्रलोकसंस्थानोपदेशवद्वा। तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेति···।"—पु० ४, पृ० १५७-५८

दोनों ग्रन्थगत इन गद्यांशों की समानता और कुछ विलक्षणता को देखते हुए कुछ विद्वानों का यह मत रहा है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती यतिवृषभाचार्य की रचना नहीं है और बहुत प्राचीन भी वह नहीं है, धवला के बाद की रचना होनी चाहिए। कारण यह कि धवला में तिलोयपण्णत्ति के नाम से उल्लिखित वह "दुगुण-दुगुण दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो" सूत्र वर्तमान तिलोयपण्णत्ती में उपलब्ध नहीं होता तथा उपर्युक्त गद्यभाग धवला से ही लेकर इस तिलोयपण्णत्ती में आत्मसात् किया गया है, इत्यादि।[1]

पिछले गद्यभाग में जो पाठ परिवर्तित हुआ है, उसे देखते हुए ये कुछ प्रश्न अवश्य उठते हैं—

(१) तिलोयपण्णत्ती के अन्तर्गत इस गद्यभाग में जो यह कहा गया है कि यह राजु के अर्धच्छेद के प्रमाण की परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश का अनुसरण करने वाली नहीं है, वह केवल तिलोयपण्णत्तिसुत्त का अनुसरण करने वाली है; उसे कैसे संगत कहा जा सकता है? कोई भी ग्रन्थकार विवक्षित तत्त्व की प्ररूपणा को अपने ही ग्रन्थ के बल पर पुष्ट नहीं कर सकता है, किन्तु अपने से पूर्ववर्ती किसी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ के आधार से उसे पुष्ट करता है।

(२) इसी गद्यभाग में प्रसंगप्राप्त एक शंका का समाधान करते हुए परिकर्म के व्याख्यान को सूत्र के विरुद्ध कहकर अग्राह्य ठहराया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती के कर्ता के सामने वह कौन-सा सूत्र रहा है, जिसके विरुद्ध उस परिकर्म को विरुद्ध समझा जाय?

धवलाकार के समक्ष तो षट्खण्डागम का यह सूत्र रहा है—

"खेत्तेण पदरस्स वेछप्पण्णंगुलसयवग्गपडिभागेण।"—सूत्र १,२,५५ (पु० ३)।

इसके विरुद्ध होने से धवलाकार ने परिकर्म के उस व्याख्यान को अप्रमाण व्याख्यान घोषित किया है।

(३) धवला के अन्तर्गत उपर्युक्त सन्दर्भ में जो एक विशेषता दृष्टिगोचर होती है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उसमें स्वयम्भूरमणसमुद्र के आगे राजु के अर्धच्छेदों के अस्तित्व को सिद्ध करके धवलाकार ने जो यह कहा है कि यह राजु के अर्धच्छेदों के प्रमाण की परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है, फिर भी हमने तिलोयपण्णत्तिसूत्र के अनुसार ज्योतिषी देवों के भागहार के प्रतिपादक सूत्र पर आधारित युक्ति के बल से प्रकृत गच्छों के साधनार्थ उसकी प्ररूपणा की है। इसके लिए उन्होंने ये दो उदाहरण भी दिये हैं—जिस प्रकार परम्परागत आचार्योपदेश के प्राप्त न होने पर भी हमने प्रसंगवश असंख्यात आवलिप्रमाण अवहारकाल को और आयत चतुरस्र लोक के आकार को सिद्ध किया है।[2]

---

१. देखिये 'जैन सिद्धान्त-भास्कर' भाग ११, कि १, पृ० ६५-८२ में 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदि का विचार' शीर्षक लेख (इस प्रसंग में 'पुरातन जैन वाक्य-सूची' की प्रस्तावना पृ० ४१-५७ तथा तिलोयपण्णत्ती, भाग ३ की प्रस्तावना पृ० १५-२० भी द्रष्टव्य हैं।)

२. धवला, पु० ४, पृ० १५७

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि धवलाकार ने जब प्रसंगप्राप्त उस पूरे सन्दर्भ को प्राकृत भाषा में निबद्ध किया है तब उन्होंने इन उदाहरणों के प्ररूपक अंश को संस्कृत में क्यों लिखा? यद्यपि धवलाकार ने अपनी इस टीका को संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखा है, इसलिए यह प्रश्न उपस्थित नहीं होना चाहिए; क्योंकि धवला में विषय की प्ररूपणा करते हुए बीच-बीच में उन्होंने संस्कृत का भी सहारा लिया है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो उन्होंने एक ही वाक्य में प्राकृत और संस्कृत दोनों शब्दों का उपयोग किया है, फिर भी यह प्रसंग कुछ शंकास्पद-सा बन गया है।

यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त गद्यमय सन्दर्भ वर्तमान तिलोयपण्णत्ती और धवला दोनों से पूर्वकालीन किसी ग्रन्थ में रहा हो और प्रसंग के अनुसार कुछ शब्दों में परिवर्तन कर इन दोनों ग्रन्थों में उसे आत्मसात् कर लिया गया हो।

जैसा कि उपर्युक्त (११. तत्त्वार्थवार्तिक) के प्रसंग से स्पष्ट है, धवला में कहीं-कहीं प्रसंगानुसार ग्रन्थनामनिर्देश के बिना अन्य ग्रन्थगत सन्दर्भक को आत्मसात् कर लिया गया है।

इन सब परिस्थितियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती में यह गद्यभाग धवला से लेकर आत्मसात् किया गया है।

तिलोयपण्णत्ती का स्वरूप

उपलब्ध तिलोयपण्णत्ती एक महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसकी विषयविवेचन की पद्धति आगम-परम्परा पर आधारित, अतिशय व्यवस्थित और योजनाबद्ध है। वहाँ सर्वप्रथम मंगल के पश्चात् जो विस्तार से मंगल-निमित्तादि उन छह के विषय में चर्चा की गयी है, वह परम्परागत व्याख्यान के क्रम के आश्रय से की गयी है। ऐसी सैकड़ों गाथाओं का परम्परागत प्रवाह बहुत समय तक चलता रहा है, जिसका उपयोग आवश्यकतानुसार पीछे के ग्रन्थकारों ने यथाप्रसंग अपनी स्मृति के आधार पर किया है। इससे यह कहना संगत नहीं होगा कि तिलोय-पण्णत्ती में जो उन मंगलादि छह का विवेचन किया गया है, वह धवला के आश्रय से किया गया है। प्रत्युत इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि धवलाकार ने ही तिलोयपण्णत्तीगत उस प्रसंग का अनुसरण किया है, तो उसे असम्भव नहीं कहा जा सकता।

उक्त मंगलादि छह के विवेचन के पश्चात् ग्रन्थकार ने यह प्रतिज्ञा की है कि जिनेन्द्र के मुख से निर्गत व गणधरों के द्वारा पदसमूह में ग्रथित आचार्य-परम्परा से चली आ रही तिलोय-पण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) को कहता हूँ (गा० १,८५-८७)। ठीक इसके बाद उन्होंने उसमें वर्णनीय सामान्यलोक व नारकलोक आदि नौ महाधिकारों का उल्लेख कर दिया है।

—१,८८-९०

इस प्रकार जिस क्रम से उन्होंने उन महाधिकारों का निर्देश किया है, उसी क्रम से उनकी प्ररूपणा करते हुए प्रत्येक महाधिकार के प्रारम्भ में उन अन्तराधिकारों का उल्लेख भी कर दिया है[1] जिनके आश्रय से वहाँ प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करना अभीष्ट रहा है। पश्चात् तदनुसार ही उन्होंने योजनाबद्ध विषय का विचार किया है।

---

१. प्रथम 'सामान्य लोक' भूमिका रूप होने से वहाँ अवान्तर अधिकारों की सम्भावना नहीं रही।

इस प्रकार निर्दिष्ट क्रम से प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा करते हुए उनके समक्ष विवक्षित विषय के सम्बन्ध में जहाँ कहीं जो कुछ भी मतभेद रहा है, उसे उन्होंने ग्रन्थ के नामनिर्देशपूर्वक आचार्यविशेष के उल्लेख के साथ, अथवा 'पाठान्तर' के रूप में, स्पष्ट कर दिया है।[1] इस प्रकार से ग्रन्थकार ने अपनी प्रामाणिकता को पूर्णतया सुरक्षित रखा है।

जिन गद्यांशों की ऊपर चर्चा की गयी है, अवान्तर अधिकारों के निर्देशानुसार उनमें प्ररूपित विषय की प्ररूपणा करनी ही चाहिए थी, भले ही वह गाथाओं में की जाती या गद्य में। तदनुसार ही प्रत्येक महाधिकार में विवक्षित विषय की प्ररूपणा वहाँ की गयी है।

प्रथम महाधिकार में गाथा २८२ में लोक के पर्यन्त भाग में वायुमण्डल से रोके गये क्षेत्र के घनफल, आठ पृथिवियों के नीचे वायुरुद्ध-क्षेत्र के घनफल और आठ पृथिवियों के घनफल के कथन की प्रतिज्ञा की गयी है। तदनुसार आगे गद्य में उक्त घनफलों के प्रमाण को स्पष्ट किया गया है।[2]

जिस गद्यभाग में उस तीन प्रकार के घनफल को निकाला गया है, उसमें केवल लोक के पर्यन्त भाग में अवस्थित वायु से रोके गये क्षेत्र के घनफल का प्ररूपक गद्यांश ही ऐसा है जो धवला में भी उसी रूप में उपलब्ध होता है।[3] उसको छोड़कर आठ पृथिवियों के नीचे वायुरुद्ध क्षेत्र के घनफल का प्ररूपक और आठ पृथिवियों के घनफल का प्ररूपक गद्यभाग[4] धवला में नहीं पाया जाता है। तब ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि आगे के शेष गद्यभाग की रचन जब तिलोयपण्णत्तिकार स्वयं करते हैं, तब उसमें से प्रारम्भ के थोड़े से गद्यांश को वे धवला से क्यों लेंगे? इससे यही फलित होता है कि या तो वह पूरा गद्यभाग ग्रन्थकार के द्वारा ही लिखा गया है या फिर पूरा ही वह उसमें कहीं से पीछे प्रक्षिप्त हुआ है।

राजु के अर्धच्छेद प्रमाण के प्ररूपक दूसरे गद्यभाग के विषय में पीछे विचार किया ही जा चुका है।

एक अन्य प्रश्न

तिलोयपण्णत्ती के रचयिता कौन हैं, इसका ग्रन्थ में कही कुछ संकेत नहीं मिलता है। उसके अन्त में ये दो गाथाएँ उपलब्ध होती हैं—

> पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं।
> दट्ठूण परिसहवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाठए वसहं॥
> चुण्णिसरूवत्थ[च्छ]करणसरूवपमाण होइ किंजत्तं[जंतं]।
> अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए॥—ति०प० ८,७६-७७

इनके अन्तर्गत अभिप्राय को समझना कठिन दिखता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से प्रथम गाथा में उस जिनेन्द्र को प्रणाम करने की प्रेरणा की गयी है, जो गणधरों में श्रेष्ठ, उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न, परीषहों के विजेता, यतिजनों में सर्वश्रेष्ठ और धर्मसूत्र के ज्ञापन

---

१. ति०प०, भा० २, परिशिष्ट पृ० ९६५ व ९८७-८८
२. ति०प०, भा० १, पृ० ४३-५०
३. वही, पृ० ४३-४६ व धवला पु० ४, पृ० ५१-५५
४. वही, ४६-५०

में कुशल हैं। अप्रकट रूप में यहाँ 'जदिवसहं' द्वारा 'यतिवृषभ' इस नाम को भी सम्भवतः सूचित किया गया है। गुण से नाम के एकदेश के रूप में आचार्य 'गुणधर' का भी स्मरण करना सम्भव है।

दूसरी गाथा का अर्थ बैठाना कुछ कठिन है। पर जैसी कसायपाहुडसुत्त की प्रस्तावना में पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री ने कल्पना की है, तदनुसार 'चुण्णिसरूवत्थ[ट्ठ] करणसरूवपमाणं' इस पाठ को लेकर यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि आठ करणस्वरूप कम्मपयडि या कर्मप्रकृति की चूर्णि का जितना प्रमाण है, उतना ही आठ हजार ग्रन्थप्रमाण तिलोयपण्णत्ती का है।

इस सम्बन्ध में पं० हीरालाल जी ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि बन्धन व संक्रमण आदि आठ करणस्वरूप जो शिवशर्मसूरि-विरचित कम्मपयडि है उस पर एक चूर्णि उपलब्ध है जो अनिर्दिष्ट नाम से प्रकाशित भी हो चुकी है। उसके रचयिता वे ही यतिवृषभाचार्य हैं, जिन्होंने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखे हैं। इसके स्पष्टीकरण में पं० हीरालाल जी ने कसायपाहुडचूर्णि और कम्मपयडिचूर्णि दोनों से कुछ उद्धरणों को लेकर उनमें शब्दार्थ से समानता को प्रकट किया है। उनके उपर्युक्त स्पष्टीकरण में कुछ बल तो है, पर यथार्थ स्थिति वैसी रही है, यह सन्देह से रहित नहीं है।[1]

इससे भी तिलोयपण्णत्ती के रचयिता आ० यतिवृषभ हैं, यह सिद्ध नहीं होता।

आ० यतिवृषभ के द्वारा कसायपाहुड पर चूर्णि लिखी गयी है, यह निश्चित है। आ० वीरसेन ने धवला और जयधवला दोनों में यह स्पष्ट किया है कि गुणधराचार्य द्वारा विरचित कसायपाहुड आचार्य-परम्परा से आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ति भट्टारक को प्राप्त हुआ। इन दोनों ने क्रम से उसका व्याख्यान यतिवृषभ भट्टारक को किया और उन यतिवृषभ ने उसे चूर्णिसूत्र में लिखा।[2]

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि चूर्णिसूत्रों को रचते हुए यतिवृषभाचार्य ने उनके प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में कहीं कुछ मंगल नहीं किया है। किन्तु उपलब्ध तिलोयपण्णत्ती के प्रारम्भ में सिद्ध व अरहन्त आदि पाँच गुरुओं को और अन्त मे ऋषभ जिनेन्द्र को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् प्रत्येक महाधिकार के आदि व अन्त में क्रम से अजितादि जिनेन्द्रों में से एक-एक को नमस्कार किया गया है। अन्तिम नौवें अधिकार के अन्त में शेष रहे कुंथु आदि आठ जिनेन्द्रों को नमस्कार किया गया है।

इस मंगल की स्थिति को देखते हुए चूर्णिसूत्रों के रचयिता यतिवृषभाचार्य ही तिलोयपण्णत्ती के रचयिता हैं, यह सन्देहास्पद है।

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ती के कर्तृत्व के विषय में अन्तिम किसी निर्णय के न होने पर भी

---

१. 'कसायपाहुडसुत्त', प्रस्तावना, पृ० ३८-४६

२. गुणहरवयणविणिग्गयगाहाणत्थोऽवहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ॥
जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ॥—जयध०, प्रारम्भिक मंगल, गा० ७-८
(धवला पु० १२, पृ० २३१-३२ का प्रसंग भी द्रष्टव्य है।)

उसकी अतिशय व्यवस्थित प्रामाणिक रचना को देखते हुए उसे धवला के बाद का नहीं कहा जा सकता है।

१४. दशवैकालिक—इसके रचयिता शय्यम्भव सूरि हैं। साधारणतः ग्रन्थ-रचना और उसके अध्ययन-अध्यापन का काल रात्रि की व दिन की प्रथम और अन्तिम पौरुषी माना गया है। पर अपने पुत्र 'मनक' की आयु को अल्प (छह मास मात्र) जानकर उसके निमित्त यह ग्रन्थ विकाल (विगतपौरुषी) में रचा गया है[1], इसलिए इसका नाम 'दशवैकालिक' प्रसिद्ध हुआ है। उसकी टीका में हरिभद्र सूरि ने शय्यम्भव सूरि को चतुर्दशपूर्ववित् कहा है। उनके विषय में जो कथानक प्रचलित है, उसमें भी उनके चतुर्दशपूर्ववित् होने का उल्लेख है।

उसमें ये दस अध्ययन हैं—द्रुमपुष्पिका, श्रामण्यपूर्विका, क्षुल्लिकाचारकथा, षड्जीवकाय, पिण्डैषणा, भट्टाचारकथा, वाक्यशुद्धि, आचारप्रणिधि, विनयसमाधि और सभिक्षु। अन्त में रतिवाक्यचूलिका और विविक्तचर्याचूलिका ये दो चूलिकाएँ हैं।

उन दस अध्ययनों में चौथा जो 'षड्जीवनिकाय' है, उसमें ये अर्थाधिकार हैं—जीवाजीवाभिगम, चारित्रधर्म, उपदेश, यातना और धर्मफल।

धवला में जो कुछ समानता इस दशवैकालिक के साथ दृष्टिगोचर होती है, उसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

(१) उपर्युक्त 'षड्जीवनिकाय' अध्ययन के अन्तर्गत जीवाभिगम नामक अर्थाधिकार में पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन छह काय के जीवों की प्ररूपणा की गयी है।[2]

प्रस्तुत षट्खण्डागम में इन छह काय वाले जीवों का उल्लेख किया गया है। विशेषता यहाँ यह रही है कि उक्त छह कायवाले जीवों के साथ प्रसंगवश अकायिक (कायातीत—सिद्ध) जीवों का भी उल्लेख किया गया है।[3]

दशवैकालिक के उस प्रसंगप्राप्त सूत्र में आगे अनेक वनस्पति-भेदों में कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—अग्रबीज, मूलबीज, पोरबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, संमूर्छिम और तृण-लता।

षट्खण्डागम की धवला टीका में इन वनस्पति-भेदों की प्ररूपक एक गाथा इस प्रकार उद्धृत रूप में उपलब्ध होती है—

> मूलग्ग-पोरबीया कंदा तह खंधबीय-बीयरुहा।
> सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥[4]

इसके समकक्ष एक गाथा आचारांगनिर्युक्ति में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

---

१. छहि मासेहि अहि [ही]अं अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेणं।
छम्मासा परिआओ अह कालगओ समाहीए ॥—दशवै० नि० ३७०

२. दशवै० सूत्र १, पृ० २७४-७५

३. ष०ख० सूत्र १,१,३९ (पु० १)

४. धवला पु० १, पृ० २७३ (यह गाथा मूलाचार (५-१६), दि०पंचसंग्रह (१-८१), जीवसमास (३४) और गो०जीवकाण्ड (१८६) में उपलब्ध होती है।)

अग्गवीया मूलवीया खंधवीया चेव पोरबीया य ।
बीयरुहा सम्मुच्छिम समासओ वणस्सई जीवा ॥१३०॥

इस प्रकार ये वनस्पतिभेद दोनों ग्रन्थों में प्रायः समान हैं।

(२) दशवैकालिक में आगे इसी चौथे अध्ययन के अन्तर्गत 'चारित्र' अर्थाधिकार में छठे रात्रिभोजन-विरमण के साथ क्रम से पांच महाव्रतों के स्वरूप को प्रकट किया गया है।

तत्पश्चात् उसके 'यतना' नामक चौथे अर्थाधिकार में भिक्षु व भिक्षुणी के द्वारा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमत रूप नौ प्रकार से क्रमशः पृथिवीकायिकादि जीवों को पीड़ा न पहुँचाने की प्रतिज्ञापूर्वक प्रतिक्रम व निन्दा-गर्हा आदि की भावना व्यक्त की गयी है।[1]

इस प्रसंग में वहाँ जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाने की प्रेरणा करते हुए इन जलकायिक जीवों का उल्लेख किया गया है—

उदक, ओस, हिम, महिका, करक, हरतणु और शुद्ध उदक।

धवला में इन जीवभेदों की निर्देशक एक गाथा इस प्रकार उद्धृत की गयी है—

ओसा य हिमो धूमरि हरधणु सुद्धोदओ घणोदो य ।
एदे हु आउकाया जीवा जिणसासणुद्दिट्ठा ॥[2]

दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त शब्दसाम्य है।

(३) दशवैकालिक में अग्निकायिक जीवों के प्रसंग में उनके ये नाम निर्दिष्ट किये गये हैं—

अग्नि, इंगाल, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, शुद्ध अग्नि और उल्का।

धवला में उद्धृत गाथा द्वारा उक्त अग्निकायिक जीवों के ये भेद प्रकट किये गये हैं[2]—

इंगाल, ज्वाला, अर्चि, मुर्मुर और शुद्ध अग्नि।

इन जीवभेदों की प्ररूपक गाथाएं मूलाचार (५,१३-१५), जीवसमास (३१-३३), दि० प्रा० पंचसंग्रह (१,७८-८०) और आचारांगनिर्युक्ति (गा० १०८,११८ व १६६) में भी उपलब्ध होती हैं। इन भेदों का संग्राहक पूर्वार्ध सबका समान है, किन्तु उत्तरार्ध परिवर्तित है।

(४) इस 'षड्जीवनिकाय' अध्ययन के अन्तर्गत पाँचवें 'उपदेश' अर्थाधिकार में कहा गया है कि जो अयत्नपूर्वक—प्रमाद के वश होकर—चलता है, स्थित होता है, बैठता है, भोजन करता है और भाषण करता है, वह त्रस-स्थावर जीवों को पीड़ा पहुँचाता हुआ जिस पापकर्म को बाँधता है उसका कटुक फल होता है।

इस प्रसंग में वहाँ यह पूछा गया है कि यदि ऐसा है तो फिर किस प्रकार से गमनादि में प्रवृत्ति करे, जिससे पापकर्म का बन्ध न हो। उत्तर में यह कहा गया है कि प्रयत्नपूर्वक (सावधान होकर) जिनाज्ञा के अनुसार गमनादि-प्रवृत्ति करने पर पाप का बन्ध नहीं होता है। इस प्रसंग से सम्बद्ध वे पद्य इस प्रकार हैं—

कहं चरे कहं चिट्ठे कह मासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥

---

१. सूत्र ३-१५, पृ० २८९-३१४

२. ओसा य हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य ।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥—मूला० ५-१३

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥[1]

धवला में जीवस्थान के अवतार की प्ररूपणा करते हुए प्रसंगप्राप्त अंगश्रुत का निरूपण किया गया है। उस प्रसंग में धवलाकार ने आचारांग के स्वरूप को प्रकट करते हुए वहाँ इन पद्यों को उद्धृत किया है और यह कहा है कि आचारांग अठारह हजार पदों के द्वारा इत्यादि (पद्यों में निर्दिष्ट) प्रकार के मुनियों के आचार का वर्णन करता है[2]—

वट्टकेराचार्य-रचित मूलाचार के अन्तर्गत 'समयसार' नामक दशम अधिकार में मुनियों के आचरण को दिखलाते हुए आगमानुसार प्रवृत्ति करने वाले साधु की प्रशंसा और विपरीत प्रवृत्ति करने वाले की निन्दा की गयी है। वहाँ प्रसंग को समाप्त करते हुए यह कहा गया है कि पृथिवीकायिक जीव पृथिवी के आश्रित रहते हैं, इसलिए पृथिवी के आरम्भ में निश्चित ही उनकी विराधना होती है। इस कारण जिन-मार्गानुगामियों को जीवन-पर्यन्त उस पृथिवी का आरम्भ करना योग्य नहीं है। जो जिनाज्ञा के अनुसार उन पृथिवीकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिन-वचन से दूरस्थ होता है, उसके उपस्थापना नहीं है। इसके विपरीत जो श्रद्धान करता है वह पुण्य-पाप के स्वरूप को समझता है, अतः उसके उपस्थापना है। उक्त पृथिवीकायिक जीवों का श्रद्धान न करने वाला जिन-लिंग को धारण करता हुआ भी दीर्घसंसारी होता है।[3]

यहाँ वृत्तिकार कहते हैं कि इस प्रकार के जीवों के संरक्षण के इच्छुक गणधर देव तीर्थंकर परमदेव से पूछते हैं। उनके प्रश्न का स्वरूप इस प्रकार है—

उन जीवों की रक्षा में उद्यत साधु कैसे गमन करे, कैसे बैठे, कैसे शयन करे, कैसे भोजन करे और कैसे सम्भाषण करे, जिससे पाप का बन्ध न हो। इन प्रश्नों के उत्तर में वहाँ यह कहा गया है—

उन जीवों की रक्षा में उद्यत साधु प्रयत्नपूर्वक —ईर्यासमिति से—गमन करे, सावधानी से बैठे, सावधान रहकर शयन करे, प्रमाद को छोड़ भोजन करे और भाषासमिति के अनुसार सम्भाषण करे; इस प्रकार से उसके पाप का बन्ध होनेवाला नहीं है।[4]

इस प्रकार मूलाचारगत इन पद्यों में और पूर्वोक्त दशवैकालिक के उन पद्यों में 'कहं' व 'कधं' जैसे भाषाभेद को छोड़कर अन्य कुछ शब्द व अर्थ की अपेक्षा विशेषता नहीं है, सर्वथा वे समान हैं। धवला में उद्धृत वे पद्य भाषा की दृष्टि से मूलाचार के समान हैं।

(५) दशवैकालिक के अन्तर्गत नौवें 'विनयसमाधि' अध्ययन में गुरु के प्रति की जानेवाली अविनय से होनेवाली हानि और उसके प्रति की गयी विनय से होनेवाले लाभ का विचार करते

---

१. सूत्र ७-८, पृ० ३१६
२. धवला पु० १, पृ० ९९
३. मूलाचार १०,११९-२०
४. कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण वज्झदि ॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एव पावं ण वज्झइ ॥—मूला० १०,१२१-२२

हुए उस प्रसंग में यह एक सूत्र उपलब्ध होता है—

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ॥—दशवै० ९,१,१२ (पृ ४८९)

धवला में मंगलप्ररूपणा के प्रसंग में यह एक शंका उठायी गयी है कि समस्त कर्मफल से निर्मुक्त हुए सिद्धों को पूर्व में नमस्कार न करके चार अघाती कर्मों से सहित अरहन्तों को प्रथमतः क्यों नमस्कार किया गया है। इसके उत्तर में वहाँ यह कहा गया है कि अरहन्त के न होने पर हमें आप्त, आगम और पदार्थों का बोध होना सम्भव नहीं है, इसलिए चूँकि अरहन्त के आश्रय से उन गुणाधिक सिद्धों में श्रद्धा अधिक होनेवाली है इसीलिए उक्त उपकारी की दृष्टि से सिद्धों के पूर्व में अरहन्तों को नमस्कार किया गया है। अतएव उसमें कुछ दोष नहीं है। इसके आगे वहाँ 'उक्तं च' ऐसा निर्देश करते हुए इस पद्य को उद्धृत किया गया है[1]—

जस्संतियं धम्मवहं णिगच्छे
तस्संतियं वेणइयं पउंजे।
सक्कारए तं सिरपंचमेण
काएण वाया मणसा वि णिच्चं ॥

इन दोनों ग्रन्थों में उपर्युक्त इस पद्य में पर्याप्त समानता है। जो कुछ पाठभेद हुआ है उसमें कुछ लिपिदोष से भी सम्भव है। दशवैकालिक में व्यवहृत उसके तृतीय चरण में छन्दोभंग दिखता है। अभिप्राय उन दोनों का समान ही है।

१५. धनंजय अनेकार्थनाममाला—इसके रचयिता वे ही कवि धनंजय हैं, जिनके द्वारा 'द्विसन्धानकाव्य' और 'विषापहार स्तोत्र' रचा गया है।

धवला में प्रसंगवश इस अनेकार्थनाममाला के "हेतावेवं प्रकारादौ" आदि पद्य को उद्धृत किया गया है।[2]

१६. ध्यानशतक—यह कब और किसके द्वारा रचा गया है, यह निर्णीत नहीं है। फिर भी उस पर सुप्रसिद्ध हरिभद्र सूरि के द्वारा टीका लिखी गयी है। हरिभद्र सूरि का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। अतएव वह आठवीं शताब्दी के पूर्व रचा जा चुका है, यह निश्चित है।

षट्खण्डागम में वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'कर्म' अनुयोगद्वार में कर्म के नामकर्म व स्थापनाकर्म आदि दस भेदों की प्ररूपणा की गयी है। उनमें आठवाँ तपःकर्म है। ग्रन्थकार ने उसे अभ्यन्तर के साथ बाह्य तप को लेकर बारह प्रकार का कहा है।—सूत्र ५,४,२५-२६

उसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने अनेषण (अनशन) आदि रूप छह प्रकार के बाह्य तप की और प्रायश्चित्त आदि रूप छह प्रकार के अभ्यन्तर तप की प्ररूपणा की है। उस प्रसंग में उन्होंने अभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग इन

---

१. धवला, पु० १, पृ० ५३-५४
२. धवला, पु० ९, पृ० १४

छह की प्ररूपणा में पाँचवें ध्यान की प्ररूपणा ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल इन चार अधिकारों में विस्तार से की है।[1]

इस प्रसंग में धवलाकार ने यथावसर ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नामनिर्देश न करके 'एत्थ गाहा' व 'एत्थ गाहाओ' इस सूचना के साथ धवला में लगभग ६६ पद्यों को उद्धृत किया है, जिनमें ४६-४७ पद्य प्रस्तुत ध्यानशतक में उपलब्ध होते हैं।

		धवला पु० १३		ध्यानशतक
संख्या	गाथांश	पृष्ठ	गाथांक	गाथांक
१	जं थिरमज्झवसाणं	६४	१२	२
२	जच्चिय देहावत्था	६६	१४	३९
३	सव्वासु वट्टमाणा	,,	१५	४०
४	तो जत्थ समाहाणं	,,	१६	३७
५	णिच्चं चिय जुवइ-पसू	,,	१७	३५
६	थिरकयजोगाणं पुण	६७	१८	३६
७	कालो वि सोच्चिय	,,	१९	३८
८	तो देस-काल-चेट्ठा	,,	२०	४१
९	आलंवणाणि वायण	,,	२१	४२
१०	विसमं हि समारोहइ	,,	२२	४३
११	पुव्वकयब्भासो	६८	२३	३०
१२	णाणे णिच्चब्भासो	,,	२४	३१
१३	संकाइसल्लरहियो	,,	२५	३२
१४	णवकम्माणादाणं	,,	२६	३३
१५	सुविदियजयस्सहावो	,,	२७	३४
१६	सुणिउणमणाइणिहणं	७१	३३	४५
१७	ज्झाएज्जो णिरवज्जं	,,	३४	४६
१८	तत्थ मइदुब्बलेण	,,	३५	४७
१९	टेदूदाहरणासंभवे	,,	३६	४८
२०	अणुवगयपराणुग्गह	,,	३७	४९
२१	रागद्दोस-कसाया	७२	३९	५०
२२	पयडिट्ठिदिप्पदेसाणु	,,	४१	५१
२३	जिणदेसियाइ लक्खण	७३	४३	५२
२४	पंचत्थिकायमइयं	,,	४४	५३
२५	खिदिवलयदीव-सायर	,,	४५	५४
२६	उवजोगलक्खणमणाइ	,,	४६	५५
२७	तस्स य सकम्मजणियं	,,	४७	५६

1. धवला, पु० १३, पृ० ६४-८८

संख्या	गाथांश	धवला पु० १३ पृष्ठ	गाथांक	ध्यानशतक गाथांक
२८	णाणमयकण्णहारं	७३	४८	५८ उ०
२९	किं बहुसो सव्वं चि य	,,	४९	६२पू. बहुलो=
३०	ज्झाणोवरमे वि मुणी	,,	५०	६५ बहुणा
३१	अंतोमुहुत्तमेत्तं	७६	५१	३
३२	अंतोमुहुत्तपरदो	,,	५२	४
३३	होंति कमविसुद्धाओ	,,	५३	६६
३४	आगमउवदेसाणा	,,	५४	६७
३५	जिण-साहुगुणक्कित्तण	,,	५५	६८
३६	होंति सुहासव-संवर	७७	५६	९३
३७	जह वा घणसंघाया	,,	५७	१०२
३८	अह खंति-मद्दवज्जव	८०	६४	६९
३९	जह चिरसंचियमिंधण	८२	६५	१०१
४०	जह रोगासयसमणं	,,	६६	१००
४१	अभयासंमोहविवेग	,,	६७	९० ध्या० 'अवहा
४२	चालिज्जइ बीहेइ व	,,	६८	९१
४३	देहविचित्तं पेच्छइ	,,	६९	९२
४४	ण कसायसमुत्थेहि	,,	७०	१०३
४५	सीयायवादिएहि हि	,,	७१	१०४ पू०

क्रमव्यत्यय

धवला में पृ० ७३ पर गाथा ४८ के पाठ में कुछ क्रमभंग हुआ है तथा पाठ कुछ स्खलित भी हो गया है। यहाँ धवला के अन्तर्गत उस ४८वीं गाथा को देकर ध्यानशतक के अनुसार उसके स्थान में जैसा शुद्ध पाठ होना चाहिए, उसे स्पष्ट किया जाता है[1]—

णाणमयकण्णहारं वरचारित्तमयमहापोयं।
संसार-सागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जो ॥—धवला पृ० ७३, गा० ४८

अण्णाण-मारुएरियसंजोग-विजोग-वीइसंताणं।
संसार-सागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ॥५७

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसण-सुबंधणमणग्घं।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥५८

संवरकयनिच्छिद्दं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं।
वेरग्गमग्गपडियं विसोइया-वीइनिक्खोभं ॥५९

---

१. विशेष जानकारी के लिए 'ध्यानशतक' की प्रस्तावना पृ० ५९-६२ में 'ध्यानशतक और धवला का 'ध्यान प्रकरण' शीर्षक द्रष्टव्य है।

आरोढुं मुणि-वणिया महग्घसीलंग-रयणपडिपुण्णं ।
जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ।।६०।।—ध्यानशतक

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ध्यानशतक के अनुसार जो 'णाणमयकण्णधारं' विशेषण संसार-सागर से पार कराने वाली चारित्ररूपी विशाल नौका का रहा है, वह ऊपर निर्दिष्ट धवलागत पाठ के अनुसार संसार-सागर का विशेषण बन गया है। साथ ही 'चारित्रमय महापोत' भी उसी संसार-सागर का विशेषण बन गया है। इस प्रकार का उपर्युक्त गाथागत वह असंगत पाठ धवलाकार के द्वारा कभी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। वह सम्भवतः किसी प्रतिलेखक की असावधानी से हुआ है।

ध्यानशतक से विशेषता

(१) ध्यानशतक में तत्त्वार्थसूत्र और स्थानांग आदि के समान ध्यान के ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। वहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इनमें अन्त के दो ध्यान निर्वाण के साधन हैं तथा आर्त व रौद्र ये दो ध्यान भी संसार के कारण हैं।[1]

परन्तु धवला में ध्यान के ये केवल दो ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान।[2]

हेमचन्द्र सूरि-विरचित योगशास्त्र में भी ध्यान के ये ही दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं।[3]

(२) धवलाकार ने स्पष्ट रूप में तो धर्मध्यान के स्वामियों का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उस प्रसंग में यह शंका धवला में उठायी गयी है कि धर्मध्यान सकषाय जीवों के होता है, यह कैसे जाना जाता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह 'असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत और सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक व उपशामकों में धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है' इस जिनदेव के उपदेश से जाना जाता है।

इस शंका-समाधान से यह स्पष्ट है कि धवलाकार के अभिमतानुसार धर्मध्यान के स्वामी असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक और क्षपक तक हैं।[4]

ध्यानशतक में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि सब प्रमादों से रहित हुए मुनिजन तथा क्षीणमोह और उपशान्तमोह ये धर्मध्यान के ध्याता निर्दिष्ट किये गये हैं।[5]

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि ध्यानशतक के कर्ता असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत को धर्मध्यान का अधिकारी स्वीकार नहीं करते हैं।

(३) धवला में पूर्व दो शुक्लध्यानों के प्रसंग में यह शंका उठायी गयी है कि एक वितर्क-

---

१. त०सू० ९, २८-२९ व स्थानांगसूत्र २४७, पृ० १८७ तथा ध्या०श०, गाथा ४

२. झाणं दुविहं—धम्मज्झाणं सुक्कज्झाणमिदि।—धवला पु० १३, पृ० ७०

३. मुहूर्तान्तरमनःस्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा योगरोधस्त्वयोगिनाम् ।।—यो०शा० ४-११५

४. धवला पु० १३, ७४

५. ध्यानशतक, गा० ६३

अवीचार ध्यान के लिए 'अप्रतिपाति' विशेषण क्यों नहीं दिया गया। इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि उपशान्तकषाय संयत का भवक्षय से और काल के क्षय से कषायों में पड़ने पर पतन देखा जाता है, इसलिए एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान को 'अप्रतिपाति' विशेषण से विशेषित नहीं किया गया है।

इस पर पुनः यह शंका उठी है कि उपशान्तकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान के न होने पर "उपशान्तकषाय संयत पृथक्त्ववितर्क-वीचार ध्यान को ध्याता है" इस आगमवचन[1] के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह पृथक्त्ववितर्क-वीचार ध्यान को ही ध्याता है, ऐसा नियम वहाँ नहीं किया गया है। इसी प्रकार क्षीणकषाय गुणस्थान में सदा-सर्वत्र एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान ही रहता हो, ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि वहाँ इसके बिना योगपरावर्तन की एक समय प्ररूपणा घटित नहीं होती है; इसलिए क्षीणकषायकाल के प्रारम्भ में पृथक्त्ववितर्क-अवीचार ध्यान की भी सम्भावना सिद्ध है।[2]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धवलाकार के अभिमतानुसार उपशान्तकषाय गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार के अतिरिक्त एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान भी होता है तथा क्षीणकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार के अतिरिक्त पृथक्त्ववितर्क-वीचार ध्यान भी होता है।

ध्यानशतक में इस प्रसंग में इस प्रकार का कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। वहाँ इतना मात्र कहा गया है कि जो धर्मध्यान के ध्याता हैं, वे ही पूर्व दो शुक्लध्यानों के ध्याता होते हैं। विशेष इतना है कि उन्हें प्रशस्त संहनन से सहित और पूर्वश्रुत के वेत्ता होना चाहिए।[3]

इस प्रकार की कुछ विशेषताओं के होते हुए भी यह सुनिश्चित है कि धवला में जो ध्यान की प्ररूपणा की गयी है उसका आधार ध्यानशतक रहा है। साथ ही वहाँ यथाप्रसंग 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' का भी अनुसरण किया गया है। धवला में वहाँ उस प्रसंग में भगवती-आराधना की इन गाथाओं को उद्धृत किया गया है—

	धवला पृ०	भगवती आ० गाथा
१ किंचिद्दिट्ठिमुपा-	६८	१७०६
२ पच्चाहरित्तु विसएहि	६९	१७०७
३ अकसायमवेदत्तं	७०	२१५७
४ आलंवणेहि भरियो	,,	१८७६
५ कल्लाणपावए जे[4]	७२	१७११
६ एगाणेगभवगयं	,,	१७१३

---

१. उवसंतो दु पुधन्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं॥—मूला० ५-२०७
(यही अभिप्राय स०सि० (९-४४), तत्त्वार्थवार्तिक (९-४४) में भी प्रकट किया गया है।)

२. धवला, पु० १३, पृ० ८१

३. ध्यानशतक ६४

४. नं० ५ व ६ की दो गाथाएं मूलाचार (५,२०३-४) में भी उपलब्ध होती हैं।

	धवला पृ०	भगवती आ० गाथा
७ जम्हा सुदं विदक्कं	७८	१८८१
८ अत्थाण वंजणाण य	"	१८८२
९ जेणेगमेव दव्वं	७९	१८८३
१० जम्हा सुदं विदक्कं	"	१८८४
११ अत्थाण वंजणाण य	"	१८८५
१२ अविदक्कमवीचारं सुहुम	८३	१८८६
१३ सुहुमम्मि कायजोगे	"	१८८७
१४ अविदक्कमवीचारं अणियट्टी	८७	१८८८

१७. नन्दिसूत्र—पीछे 'षट्खण्डागम व नन्दिसूत्र' शीर्षक में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धवला में 'अनेकक्षेत्र' अवधिज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उस प्रसंग में 'वुत्तं च' के निर्देशपूर्वक "णेरइय-देवतित्थयरोहि" इत्यादि गाथा को उद्धृत किया गया है। यह गाथा नन्दि-सूत्र में उपलब्ध होती है।

१८. पंचास्तिकाय—ग्रन्थनामनिर्देश के बिना भी जो धवला में इसकी गाथाओं को उद्धृत किया गया है उसका भी स्पष्टीकरण पीछे 'ग्रन्थोल्लेख' में पंचत्थिपाहुड के प्रसंग में किया जा चुका है।

१९. प्रज्ञापना—जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जीवस्थान-सत्प्ररूपणा अनुयोग-द्वार के अन्तर्गत कायमार्गणा के प्रसंग में धवलाकार द्वारा अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायु-कायिक जीवों के कुछ भेदों का निर्देश किया गया है। वे भेद जिस प्रकार मूलाचार, उत्तराध्ययन, जीवसमास और आचारांगनिर्युक्ति में उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार वे प्रज्ञापना में भी उपलब्ध होते हैं।[1]

२०. प्रमाणवार्तिक—यह ग्रन्थ प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक विद्वान् धर्मकीर्ति (प्रायः ७वीं शती) के द्वारा रचा गया है।

वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार में स्थित बन्धाध्यवसान प्ररूपणा में प्रसंगप्राप्त अयोग-व्यवच्छेद के स्वरूप को प्रकट करते हुए धवला में प्रमाणवार्तिक के इस श्लोक को उद्धृत किया गया है[2]—

अयोगमपरैर्योगमत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ॥४-१९०॥

२१. प्रवचनसार—इसके रचयिता सुप्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द (लगभग प्रथम शताब्दी) हैं। जीवस्थान खण्ड के प्रारम्भ में आचार्य पुष्पदन्त के द्वारा जो मंगल किया गया है उस पंच-नमस्कारात्मक मंगल की प्ररूपणा में प्रसंगप्राप्त नैःश्रेयस सुख के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवला में प्रकृत प्रवचनसार की "आदिसयमादसमुत्थं" आदि गाथा (१-१३) को उद्धृत किया गया है। गाथा के चौथे चरण में प्रवचनसार में जहाँ 'सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं' ऐसा पाठ है,

---

१. देखिए प्रज्ञापना (पण्णवणा) गाथा १-२०, १-२३ और १-२६ आदि।
२. धवला, पु० ११, पृ० ३१७

वहाँ धवला में उसके स्थान में 'सुद्धुवओगो य सिद्धाणं' पाठ है जो लिपिदोष से हुआ मालूम होता है।

(२) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में द्रव्यभेदों का निर्देश करते हुए धवला में जीव-अजीव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। वहाँ जीव के साधारण लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा है कि जो पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध व आठ प्रकार के स्पर्श से रहित, सूक्ष्म, अमूर्तिक, गुरुता व लघुता से रहित, असंख्यात प्रदेशवाला और आकार से रहित हो, उसे जीव जानना चाहिए। यह जीव का साधारण लक्षण है। प्रमाण के रूप में वहाँ 'वुत्तं च' कहकर "अरसम-रूवमगंधं" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है।[1]

यह गाथा प्रवचनसार (२-८०) और पंचास्तिकाय (१२७) में उपलब्ध होती है।

(३) आगे बन्धस्वामित्वविचय में वेदमार्गणा के प्रसंग में अपगतवेदियों को लक्ष्य करके पाँच ज्ञानावरणीय आदि सोलह प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों का विचार किया गया है। उस प्रसंग में धवलाकार ने उन सोलह प्रकृतियों का पूर्व में बन्ध और तत्पश्चात् उदय व्युच्छिन्न होता है, यह स्पष्ट करते हुए 'एत्थुवउज्जंती गाहा" ऐसा निर्देश करके इस गाथा को उद्धृत किया है[2]—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खू असेसजीवा जे।
देवा य ओहिचक्खू केवलचक्खू जिणा सव्वे ॥

यह गाथा कुछ पाठभेद के साथ प्रवचनसार में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदोचक्खू ॥३-३४॥

(४) 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में श्रुतज्ञान के पर्याय-शब्दों का स्पष्टीकरण करते हुए धवला में प्रवचनसार की "जं अण्णाणी कम्मं" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है।[3]

२१. भगवती आराधना—यह शिवार्य (आचार्य शिवकोटि) के द्वारा रची गयी है। जीव-स्थान-सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में कार्मण काययोग के प्रतिपादक सूत्र (१,१,६०) की व्याख्या के प्रसंग में शंकाकार ने, केवलिसमुद्घात सहेतुक है या निर्हेतुक, इन दो विकल्पों को उठाते हुए उन दोनों की ही असम्भावना प्रकट की है। उसके अभिमत का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यतिवृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय के अन्तिम समय में सब कर्मों (अघातियों) की स्थिति समान नहीं होती, इसलिए सभी केवली समुद्घात करते हुए ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। किन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घातगत केवलियों में बीस संख्या का नियम है, उनके मत से उनमें कुछ समुद्घात को करते हैं और कुछ उसे नहीं भी करते हैं।

आगे प्रसंगप्राप्त कुछ अन्य शंकाओं का समाधान करते हुए उस संदर्भ में इन दो गाथाओं का उपयोग हुआ है—

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
ससमुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥

---

१. धवला, पु० ३, पृ० २
२. वही, पु० ८, पृ० २६४
३. देखिए धवला पु० १३, पृ० २८१ और प्रवचनसार गाथा ३-३८

जेसिं आउसमाइं णामा-गोदाणि वेयणीयं च ।
ते अकयसमुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए ॥

कुछ पाठभेद के साथ ऐसी ही ये तीन गाथाएँ भगवती-आराधना में इस प्रकार उपलब्ध होती हैं—

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०५॥

जेसिं आउसमाइं णामा-गोदाणि वेयणीयं च ।
ते अकयसमुग्घाया जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०६॥

जेसिं हुवंति विसमाणि णामा-गोदाइं वेयणीयाणि ।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०७॥

—भ० आ० २१०५-७

धवला में उद्धृत उपर्युक्त दो गाथाओं में प्रथम गाथा का और 'भगवती-आराधना' की इस २१०५वीं गाथा का अभिप्राय सर्वथा समान है। यही नहीं, इन दोनों गाथाओं का चौथा चरण (सेसा भज्जा समुग्घाए) शब्दों से भी समान है।

धवला में उद्धृत दूसरी गाथा और 'भगवती-आराधना' की २१०६वी गाथा शब्द व अर्थ दोनों से समान है। विशेष इतना है कि चतुर्थ चरण दोनों का शब्दों से भिन्न होकर भी अर्थ की अपेक्षा समान ही है। कारण यह कि मुक्ति को प्राप्त करना और शैलेश्य (अयोगि-केवली) अवस्था को प्राप्त करना, इसमें कुछ विशेष अन्तर नहीं है।

'भगवती आराधना' की जो तीसरी २१०७वीं गाथा है, वह धवला में उद्धृत प्रथम गाथा के और 'भ०आ०' की २१०५वीं गाथा के 'सेसा भज्जा समुग्घाए' इस चतुर्थ चरण के स्पष्टी-करण स्वरूप है।

प्रकृत में शंकाकार का अभिप्राय यह रहा है कि यतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार जो धवला में यह कहा गया है कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक मुक्ति को प्राप्त करते हैं, यह व्याख्यान सूत्र के विरुद्ध है। किन्तु उपर्युक्त गाथा में जो यह कहा गया है कि छह मास आयु के शेष रह जाने पर जिनके केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, वे तो समुद्घात को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करते हैं, शेष के लिए कुछ नियम नहीं है—वे समुद्घात को करें और न भी करें; यह गाथोक्त अभिप्राय सूत्र के विरुद्ध नहीं है, इसलिए इस अभिप्राय को क्यों न ग्रहण किया जाय।

इस पर धवलाकार ने कहा है कि उन गाथाओं की आगमरूपता निर्णीत नहीं है, और यदि उनकी आगमरूपता निश्चित है तो उन्हें ही ग्रहण करना चाहिए।

उन दो गाथाओं को धवलाकार ने सम्भवतः कुछ पाठभेद के साथ 'भगवती-आराधना' से उद्धृत किया है, या फिर उससे भी प्राचीन किसी अन्य ग्रन्थ से लेकर उन्हें धवला में उद्धृत किया है।[1]

(२) जैसा कि पीछे ध्यानशतक के प्रसंग में कहा जा चुका है, धवलाकार ने 'कर्म' अनु-

---

१. इस सबके लिए देखिए धवला, पु० १, पृ० ३०१-४

योगद्वार के अन्तर्गत ध्यान की प्ररूपणा में 'भगवती-आराधना' की १४ गाथाओं को धवला में उद्धृत किया है।

(३) 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में श्रुतज्ञान के पर्याय-शब्दों को स्पष्ट करते हुए धवला में 'प्रवचनीय' के प्रसंग में 'उक्तं च' के निर्देशपूर्वक "सज्झायं कुव्वंतो" आदि तीन गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं।[1] उनमें पूर्व की दो गाथाएँ 'भगवती-आराधना' में १०४ व १०५ गाथासंख्या में उपलब्ध होती हैं।

पूर्व की गाथा मूलाचार (५-२१३) में भी उपलब्ध होती है। तीसरी 'जं अण्णाणी कम्मं' आदि गाथा प्रवचनसार (३-३८) में उपलब्ध होती है।

२३. भावप्राभृत—जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत प्रथम 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' चूलिका में दर्शनावरणीय के प्रसंग में जीव के ज्ञान-दर्शन लक्षण को प्रकट करते हुए धवलाकार ने आ० कुन्दकुन्द-विरचित 'भावप्राभृत' के 'एगो मे सस्सदो अप्पा' आदि पद्य को उद्धृत किया है।[2]

२४. मूलाचार—यह पीछे (पृ० ५७२ पर) कहा जा चुका है कि धवलाकार ने वट्टकेराचार्य-विरचित मूलाचार का उल्लेख आचारांग के नाम से किया है। उन्होंने ग्रन्थनामनिर्देश के बिना भी उसकी कुछ गाथाओं को यथाप्रसंग धवला में उद्धृत किया है। उनमें कछ का उल्लेख 'ध्यानशतक' और 'भगवती आराधना' के प्रसंग में किया जा चुका है। अन्य कुछ इस प्रकार हैं—

(१) जीवस्थान-सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में इन्द्रिय-मार्गणा के प्रसंग में श्रोत्र आदि इन्द्रियों के आकार को प्रकट करते हुए धवला में जो "जवणालिया मसूरी" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है वह कुछ पाठभेद के साथ मूलाचार में उपलब्ध होती है।[3]

(२) यहीं पर आगे कायमार्गणा के प्रसंग में निगोद जीवों की विशेषता को प्रकट करने वाली चार गाथाएँ 'उक्तं च' के निर्देशपूर्वक उद्धृत की गयी हैं। ये चारों गाथाएँ आगे मूल षट्खण्डागम में सूत्र के रूप में अवस्थित हैं।[4] उनमें तीसरी (१४७) और चौथी (१४८) ये दो गाथाएँ मूलाचार में भी उपलब्ध होती हैं।[5]

(३) वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार में आयुकर्म की उत्कृष्ट वेदना के स्वामी की प्ररूपणा के प्रसंग में सूत्र ४,२,६,१२ की व्याख्या करते हुए धवलाकार द्वारा उसमें प्रयुक्त पदों की सफलता प्रकट की गयी है। इस प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि सूत्र में जो तीनों में से किसी भी वेद के साथ उत्कृष्ट आयु के वन्ध का अविरोध प्रकट किया गया है, उसमें सूत्रकार का अभिप्राय भाववेद से रहा है, क्योंकि इसके बिना स्त्रीवेद के साथ भी नारकियों की उत्कृष्ट आयु के वन्ध का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु स्त्रीवेद के साथ उत्कृष्ट नरकायु का वन्ध नहीं होता है, कारण यह कि स्त्रीवेद के साथ उत्कृष्ट आयुबन्ध के स्वीकार करने

---

१. धवला, पु० १३, पृ० २८१
२. धवला, पु० ६, पृ० ६ और भावप्राभृत गाथा ५६
३. धवला, पु० १, पृ० २२६ और मूलाचार गाथा १२-५०
४. ष०ख० सूत्र २२६,२३०,२३४ और २३३ (पु० १४)
५. धवला, पु० १ पृ० २७०-७१ और मूलाचार गाथा १२-१६३ व १२-१६२

पर "पांचवीं पृथिवी तक सिंह और छठी पृथिवी तक स्त्रियां जाती हैं" इस सूत्र[1] के साथ विरोध प्राप्त होता है।[2]

वह गाथासूत्र मूलाचार (१२-११३) में उपलब्ध होता है। धवलाकार ने सूत्र के रूप में उल्लेख करके उसको महत्त्व दिया है। सम्भव है वह उसके पूर्व अन्यत्र भी कहीं रहा हो।

(४) 'कर्म' अनुयोगद्वार में प्रायश्चित्त के दस भेदों का उल्लेख करते हुए धवला में 'एत्थ गाहा' कहकर "आलोयण-पडिकमणे" आदि गाथा को उद्धृत किया गया है। यह गाथा मूलाचार में उपलब्ध होती है।[3]

(५) 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म के भेदों के प्ररूपक सूत्र (५,५,१२०) की व्याख्या में ऊर्ध्वकपाटच्छेदन से सम्बद्ध गणित-प्रक्रिया के प्रसंग में धवलाकार ने दो भिन्न मतों का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि यहाँ उपदेश प्राप्त करके यही व्याख्यान सत्य है, दूसरा असत्य है; इसका निश्चय करना चाहिए। ये दोनों ही उपदेश सूत्र-सिद्ध हैं, क्योंकि आगे दोनों ही उपदेशों के आश्रय से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

इस पर वहाँ यह शंका की गयी है कि विरुद्ध दो अर्थों की प्ररूपणा को सूत्र कैसे कहा जा सकता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह सत्य है, जो सूत्र होता है वह अविरुद्ध अर्थ का ही प्ररूपक होता है। किन्तु यह सूत्र नहीं है। सूत्र के समान होने से उसे उपचार से सूत्र स्वीकार किया गया है। इस प्रसंग में सूत्र का स्वरूप क्या है, यह पूछने पर उसके स्पष्टीकरण में वहाँ यह गाथा उद्धृत की गयी है—

सुत्तं गणधरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च॥

इसी प्रसंग में आगे धवलाकार ने कहा है कि भूतबलि भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक-बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी भी हैं जिससे यह सूत्र हो सके।[4]

(६) 'बन्धन' अनुयोगद्वार में बादर-निगोद वर्गणाओं के प्रसंग में धवला में क्षीणकषाय के प्रथमादि समयों में मरनेवाले निगोद जीवों की मरणसंख्या के क्रम की प्ररूपणा की गयी है।

इस प्रसंग में वहाँ यह शंका उठायी गयी है कि वहाँ ये निगोदजीव क्यों मरते हैं। उत्तर में यह स्पष्ट किया गया है कि ध्यान के द्वारा निगोद जीवों की उत्पत्ति और स्थिति के कारणों का निरोध हो जाने से वे क्षीणकषाय के मरण को प्राप्त होते हैं। आगे वहाँ पुनः यह शंका की गयी है कि ध्यान के द्वारा अनन्तानन्त जीवराशि का विघात करनेवालों को मुक्ति कैसे प्राप्त होती है। उत्तर में कहा गया है कि वह उन्हें प्रमाद से रहित हो जाने के कारण प्राप्त होती है। साथ ही, वहाँ प्रमाद के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि पांच महाव्रतों, पांच समितियों, तीन गुप्तियों का तथा समस्त कषायों के अभाव का नाम अप्रमाद है। आगे वहाँ

---

१. आ० पंचमि त्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति।
गच्छंति माघवी त्ति य मच्छा मणुया य ये पावा॥—मूला० १२-१२३
२. धवला, पु० ११, पृ० ११३-१४ (ति०प० गाथा ८, ५५६-६१ भी द्रष्टव्य हैं)।
३. धवला, पु० १३, पृ० ६० और मूलाचार गा० ५-१६५
४. धवला, पु० १३, पृ० ३८१ व मूलाचार गाथा ५-८०

हिंसा-अहिंसा का विचार करते हुए शुद्ध नय से अन्तरंग हिंसा को ही यथार्थ हिंसा सिद्ध किया गया है। इसकी पुष्टि में 'उक्तं च' कहकर वहाँ तीन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। उनमें प्रथम गाथा प्रवचनसार की और आगे की दो गाथाएँ मूलाचार की हैं।[1]

२५. युक्त्यनुशासन—जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम के प्रसंग में धवलाकार ने 'द्रव्य-प्रमाणानुगम' के शब्दार्थ पर विचार किया है। इस प्रसंग में 'द्रव्य' और 'प्रमाण' शब्दों में अनेक समासों के आश्रय से पारस्परिक सम्बन्ध का विचार करते हुए धवला में कहा गया है कि संख्या (प्रमाण) द्रव्य की एक पर्याय है, इसलिए दोनों (द्रव्य और प्रमाण) में एकता या अभेद नहीं हो सकता है। इस प्रकार उनमें भेद के रहने पर भी द्रव्य की प्ररूपणा उसके गुणों के द्वारा ही होती है, इसके विना द्रव्य की प्ररूपणा का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे धवला में 'उक्तं च' के निर्देशपूर्वक "नानात्मतामप्रजहत्तदेक" पद्य को उद्धृत किया है। यह पद्य आ० समन्तभद्र द्वारा विरचित युक्त्यनुशासन में यथास्थान अवस्थित है।[2]

२६. लघीयस्त्रय—उपर्युक्त द्रव्यप्रमाणानुगम में मिथ्यादृष्टियों के प्रमाणस्वरूप अनेक प्रकार के अनन्त को स्पष्ट करते हुए धवला में उनमें से गणनानन्त को अधिकृत कहा गया है। इस पर वहाँ शंका उठी है कि यदि गणनानन्त प्रकृत है तो अनन्त के नामानन्त आदि अन्य दस भेदों की प्ररूपणा यहाँ किसलिए की जा रही है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह अप्रकृत के निराकरण व प्रकृत की प्ररूपणा करने, संशय का निवारण करने और तत्त्व का निश्चय करने के लिए की जा रही है। इसी प्रसंग में आगे उन्होंने यह भी कहा है कि अथवा निक्षेप से विशिष्ट अर्थ की प्ररूपणा वक्ता को उन्मार्ग से बचाती है, इसलिए निक्षेप किया जाता है। आगे 'तथा चोक्तं' ऐसी सूचना करते हुए उन्होंने "ज्ञानप्रमाणमित्याहुः" इत्यादि श्लोक को उद्धृत किया है। यह श्लोक भट्टाकलंकदेव-विरचित लघीयस्त्रय में उपलब्ध होता है। विशेष इतना है कि यहाँ '-मात्मादेः' के स्थान में '-मित्याहुः' और 'इष्यते' के स्थान में 'उच्यते' पाठ-भेद है।[3]

२७. लोकविभाग—जीवस्थान-कालानुगम में नोआगम-भावकाल के अन्तर्गत समय व आवली आदि के स्वरूप को प्रकट करते हुए उस प्रसंग में 'मुहूर्तानां नामानि' इस सूचना के साथ धवला में ये चार श्लोक उद्धृत किये गये हैं—

रौद्रः श्वेतश्च मैत्रश्च ततः सारभटोऽपि च।
दैत्यो वैरोचनश्चान्यो वैश्वदेवोऽभिजित्तथा ॥

रोहणो बलनामा विजयो नैर्ऋतोऽपि च।
वारुणश्चार्यमामा स्युर्भाग्यः पंचदशो दिने ॥

सावित्रो धुर्यसंज्ञश्च दात्रको यम एव च।
वायुर्हुताशनो भानुर्वैजयंतोऽष्टमो निशि ॥

---

१. धवला, पु० १४, पृ० ८८-८९ तथा प्र०सा० गाथा ३-१७ व मूलाचार गाथा ५,१३१-३२
२. धवला, पु० ३, पृ० ६ और युक्त्यनु० ५०
३. देखिए धवला, पु० ३, पृ० १७-१८ और लघीयस्त्रय ६-२

सिद्धार्थः सिद्धसेनश्च विक्षोभो योग्य एव च ।
पुष्पदन्तः सुगन्धर्वो मुहूर्तोऽन्योऽरुणो मतः ॥

ये चारों श्लोक वर्तमान लोकविभाग में कुछ थोड़े से पाठभेद के साथ उपलब्ध होते हैं।[1]

सिंहसूरर्षि-विरचित यह 'लोकविभाग' धवला के बाद रचा गया है। इसका कारण यह है कि 'उक्तं चार्षे' कहकर उसमें जिनसेनाचार्य (९वीं शती) विरचित आदिपुराण के १५०-२०० श्लोकों का एक पूरा ही प्रकरण ग्रन्थ का अंग बना लिया गया है।[2]

इसके अतिरिक्त 'उक्तं च त्रिलोकसारे' इस सूचना के साथ आ० नेमिचन्द्र (११वीं शती) विरचित त्रिलोकसार की अनेक गाथाओं को वहाँ उद्धृत किया गया है।[3]

इस प्रकार से उपलब्ध लोकविभाग यद्यपि धवला के बाद लिखा गया है, फिर भी जैसी कि सूचना ग्रन्थकर्ता ने उसकी प्रशस्ति में की है, तदनुसार वह मुनि सर्वनन्दी द्वारा विरचित (शक सं० ३८०) शास्त्र के आधार से भाषा के परिवर्तनपूर्वक सिंहसूरर्षि के द्वारा रचा गया है।[4]

इससे यह सम्भावना हो सकती है कि सर्वनन्दी-विरचित उस शास्त्र में ऐसी कुछ गाथाएँ आदि रही हों जिनका इस लोकविभाग में संस्कृत श्लोकों में अनुवाद कर दिया गया हो। अथवा ज्योतिषविषयक किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ के आधार से उन श्लोकों में प्रथमतः दिन के १५ मुहूर्तों का और तत्पश्चात् रात्रि के १५ मुहूर्तों का निर्देश कर दिया गया हो।[5]

ज्योतिष्करण्डक की मलयगिरि सूरि-विरचित वृत्ति में उन मुहूर्तों के नाम इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

१ रुद्र, २ श्रेयान्, ३ मित्र, ४ वायु, ५ सुपीत, ६ अभिचन्द्र, ७ महेन्द्र, ८ बलवान्, ९ पक्ष्म, १० बहुसत्य, ११ ईशान, १२ त्वष्टा, १३ भावितात्मा, १४ वैश्रवण, १५ वारुण, १६ आनन्द, १७ विजय, १८ विश्वासन, १९ प्राजापत्य, २० उपशम, २१ गान्धर्व, २२ अग्निवैश्य, २३ शतवृषभ, २४ आतपवान्, २५ असम, २६ अरुणवान्, २७ भौम, २८ वृषभ, २९ सर्वार्थ और ३० राक्षस। प्रमाण के रूप में वहाँ 'उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ' इस निर्देश के साथ ये गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं—

रुद्दे सेए मित्ते वायू पीए तहेव अभिचंदे ।
माहिंद बलवं पम्हे बहुसच्चे चेव ईसाणे ॥
तट्ठे व भावियप्प वेसवणे वारुणे य आणंदे ।
विजए य वीससेणे पायावच्चे तह य उवसमे य ॥

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३१८-१९ और लोकविभाग श्लोक ६, १९७-२००
२. देखिए लो० वि०, पृ० ८७, श्लोक ६ आदि (विशेष जानकारी के लिए लो० वि० की प्रस्तावना पृ० ३५ की तालिका भी द्रष्टव्य है।)
३. देखिए लो०वि०, पृ० ४२,७३,८६ और १०१
४. वही, पृ० २२५, श्लोक ५१-५३
५. तिलोयपण्णत्ती में ७वाँ 'ज्योतिर्लोक' नाम का एक स्वतन्त्र महाधिकार है, किन्तु वहाँ ये मुहूर्तों के नाम नहीं उपलब्ध होते हैं।

गंधव्व अग्गिवेसा सयस्सिहे आयवं च असमं च।
अणवं भोमे रिसहे सव्वट्ठे रक्खसे ईया ।।—ज्यो० क०, पृ० २७-२८

यहाँ और धवला में इन मुहूर्तनामों का जो निर्देश किया गया है, उसमें भिन्नता वहुत है।

दिवसनाम

इसी प्रसंग में आगे धवला में, पन्द्रह दिनों का पक्ष होता है, यह स्पष्ट करते हुए 'दिवसानां नामानि' सूचना के साथ यह श्लोक उद्धृत किया गया है[1]—

नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च नियमः क्रमात्।
देवताश्चन्द्र-सूर्येन्द्रा आकाशो धर्म एव च ।।

पूर्वोक्त ज्योतिष्करण्डक की वृत्ति में 'तथा चोक्तं चन्द्रप्रज्ञप्तौ' इस सूचना के साथ इन तिथियों के नाम इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

"नन्दा, भद्रा, जया, तुच्छा, पुण्णा पक्खस्स पन्नरसी, एवं तिगुणा तिगुणा तिहीओ" यास्तु रात्रितिथयस्तासामेतानि नामानि— ·····'उक्तं च चन्द्रप्रज्ञप्तावेव'······पन्नरस राईतिही पण्णत्ता। तं जहा—"उग्गवई भोगवई जसोमई सव्वसिद्धा सुहनामा, पुणरवि उग्गवई भोगवई जसवई सव्वसिद्धा सुहनामा। एवं तिगुणा एता तिहीओ सव्वसिं राईणं" इति।[2]

जोतिष्करण्डक के टीकाकार मलयगिरि सूरि ने पूर्वांग व पूर्व आदि संख्याभेदों के प्रसंग में उत्पन्न मतभेदों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि स्कन्दिलाचार्य की प्रवृत्ति में दुषमाकाल के प्रभाव से दुर्भिक्ष के प्रवृत्त होने पर साधुओं का पठन-गुणन आदि सब नष्ट हो गया था। पश्चात् दुर्भिक्ष के समाप्त हो जाने पर व सुभिक्ष के प्रवृत्त हो जाने पर दो संघों का मिलाप हुआ—एक वलभी में और दूसरा मथुरा में। उसमें सूत्र व अर्थ की संघटना से परस्पर में वाचनाभेद हो गया। सो ठीक भी है, क्योंकि विस्मृत सूत्र और अर्थ का स्मरण कर-करके संघटना करने पर अवश्य ही वाचनाभेद होने वाला है, इसमें अनुपपत्ति (असंगति) नहीं है। इस प्रकार इस समय जो अनुयोगद्वार आदि प्रवर्तमान हैं वे माथुर वाचना का अनुसरण करने वाले हैं तथा ज्योतिष्करण्डक सूत्र के कर्ता आचार्य वलभी-वाचना के अनुयायी रहे हैं। इस कारण इसमें जो संख्यास्थानों का प्रतिपादन किया गया है वह वलभीवाचना के अनुसार हैं, इसलिए अनुयोगद्वार में प्रतिपादित संख्यास्थानों के साथ विषमता को देखकर घृणा नहीं करनी चाहिए।[3]

मलयगिरि सूरि के इस स्पष्टीकरण को केवल संख्याभेदों के विषय में ही नहीं समझना चाहिए। यही परिस्थिति अन्य मतभेदों के विषय में भी रह सकती है।

२८. विशेषावश्यक भाष्य—यह भाष्य जिनभद्र क्षमाश्रमण (७वीं शती) के द्वारा आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययनस्वरूप 'सामायिक' पर लिखा गया है। इसमें आ० भद्रबाहु (द्वितीय) द्वारा उस 'सामायिक' अध्ययन पर निर्मित निर्युक्तियों की विशेष व्याख्या की गयी है।

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३१९
२. ज्यो०क० मलय० वृत्ति गा० १०३-४, पृ० ६१
३. देखिए ज्योतिष्क० मलय० वृत्ति २-७१, पृ० ४१

'कृति' अनुयोगद्वार में बीजबुद्धि ऋद्धि की प्ररूपणा के प्रसंग में धवला में एक यह शंका उठाई गयी है कि यदि श्रुतज्ञानी का विषय 'अनन्त' संख्या है तो 'परिकर्म' में जो चतुर्दशपूर्वी का 'उत्कृष्ट संख्यात' विषय कहा गया है वह कैसे घटित होगा। इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि वह उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है, ऐसा 'परिकर्म' में नियम निर्धारित नहीं किया गया है।

इस प्रसंग में शंकाकार ने कहा है कि श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को नहीं जानता है, क्योंकि ऐसा वचन है[1]—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥

इस प्रकार से शंका के रूप में उद्धृत यह गाथा विशेषावश्यक भाष्य में १४१ गाथासंख्या के रूप में उपलब्ध होती है। गो० जीवकाण्ड में भी वह गाथासंख्या ३३४ के रूप में उपलब्ध होती है, पर वहाँ उसे सम्भवतः धवला से ही लेकर ग्रन्थ का अंग बनाया गया है।

२९. सन्मतिसूत्र—इसके विषय में पीछे (पृ० ५९९ पर) 'ग्रन्थोल्लेख' के प्रसंग में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। प्रसंगवश धवला में नामनिर्देश के विना भी उसकी जो गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं उनका भी उल्लेख वहाँ किया जा चुका है।

३०. सर्वार्थसिद्धि—जीवस्थान-कालानुगम में मिथ्यादृष्टियों के उत्कृष्ट कालप्रमाण के प्ररूपक सूत्र (१,५,४) में निर्दिष्ट अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल को स्पष्ट करते हुए धवला में पाँच परिवर्तनों के स्वरूप को प्रकट किया गया है। इस प्रसंग में वहाँ द्रव्यपरिवर्तन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि सब जीवों ने अतीत काल में सब जीवराशि से अनन्तगुणे पुद्गलों के अनन्तवें भाग ही भोगकर छोड़ा है। कारण यह कि अभव्य जीवों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग से गुणित अतीत काल मात्र सब जीवराशि के समान भोग करके छोड़े गये पुद्गलों का प्रमाण पाया जाता है।

(१) इस पर वहाँ यह शंका की गयी है कि समस्त जीवों ने अतीत काल में उक्त प्रकार से सब पुद्गलों के अनन्तवें भाग को ही भोगकर छोड़ा है और शेष अनन्त बहुभाग अभुक्त रूप में विद्यमान है तो ऐसी स्थिति के होने पर—"जीव ने एक-एक करके सब पुद्गलों को अनन्तवार भोगकर छोड़ा है।[2]" इस सूत्रगाथा के साथ विरोध क्यों न होगा। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उक्त गाथासूत्र के साथ कुछ विरोध नहीं होगा, क्योंकि उस गाथा-सूत्र में प्रयुक्त 'सर्व' शब्द 'सबके एकदेश' रूप अर्थ में प्रवृत्त है, न कि 'सामस्त्य' रूप अर्थ में। जैसे 'सारा गाँव जल गया' इत्यादि वाक्यों में 'सारा' शब्द का प्रयोग गाँव आदि के एकदेश में देखा जाता है।[3]

आगे इसी प्रसंग में क्रम से क्षेत्र, काल, भव और भाव-परिवर्तनों की प्ररूपणा करने की

---

१. देखिए धवला, पु० ९, पृ० ५६-५७
२. देखिए स०सि० २-१० (वहाँ 'एगे' स्थान में 'कमसो'; 'हु' के स्थान में 'य' और 'असइं' के स्थान में 'अच्छइ' पाठ है।
३. देखिए धवला, पु० ४, पृ० ३२६

सूचना करते हुए धवला में 'तेसिं गाहाओ' ऐसा कहकर अन्य कुछ गाथाओं को उद्धृत किया गया है।

ये गाथाएँ सर्वार्थसिद्धि में 'उक्तं च' के साथ उद्धृत की गयी हैं।[1]

(२) वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में 'एकक्षेत्र' अवधिज्ञान की प्ररूपणा के प्रसंग में क्षण-लव आदि कालभेदों की प्ररूपणा करते हुए धवला में 'वुत्तं च' कहकर "पुव्वस्स दु परिमाणं" इत्यादि एक गाथा को उद्धृत किया गया है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि में 'तस्याश्च (स्थितेश्च) सम्बन्धे गाथां पठन्ति' ऐसी सूचना करते हुए उद्धृत की गयी है।[2]

उक्त गाथा 'बृहत्संग्रहिणी (३१६), ज्योतिष्करण्डक (६३) और जीवसमास (११३) में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होती है।

३१. सौन्दरानन्द महाकाव्य—जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत 'गति-आगति' चूलिका (९) में भवनवासी आदि देवों में से आकर मनुष्यों में उत्पन्न हुए मनुष्य कितने गुणों को उत्पन्न कर सकते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए उस प्रसंग में "दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो" आदि दो पद्यों को धवला में उद्धृत करके यह कहा गया है कि इस प्रकार स्वरूप के विनाश को जो बौद्धों ने मोक्ष माना है, उनके मत के निरासार्थ सूत्र (९,९-९,२३३) में 'सिद्धयन्ति' ऐसा कहा गया है।

ये दोनों पद्य सौन्दरानन्द महाकाव्य में पाये जाते हैं। विशेष इतना है कि वहाँ 'जीवस्तथा' के स्थान में 'एवं कृती' पाठभेद है।[3]

३२. स्थानांग—जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में प्रसंगप्राप्त गति-इन्द्रियादि मार्गणाओं के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवला में योग के स्वरूप का निर्देश तीन प्रकार से किया गया है और अन्त में 'उक्तं च' कहकर इस गाथा को उद्धृत किया गया है[4]—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्सप्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो॥

यह गाथा कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ स्थानांग में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ॥[5]

उक्त दोनों गाथाएँ शब्द व अर्थ से प्रायः समान हैं। उनमें जो थोड़ा सा शब्द-परिवर्तन हुआ है वह लिपिदोष से भी सम्भव है। जैसे—'चावि' व 'वावि' तथा 'प्पणियोओ' व 'अप्पणिज्जो'।

३३. स्वयम्भूस्तोत्र—'कृति' अनुयोगद्वार में नयप्ररूपणा का उपसंहार करते हुए धवला में कहा गया है कि ये सभी नय वस्तुस्वरूप का एकान्तरूप में अवधारण न करने पर सम्यग्दृष्टि—समीचीन नय—होते हैं, क्योंकि वैसी अवस्था में उनके द्वारा प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया जाता है। इसके विपरीत वे ही दुराग्रहपूर्वक वस्तु का अवधारण करने पर मिथ्यादृष्टि

---

१. देखिए धवला, पु० ४, पृ० ३३३ और स०सि० २-१०
२. देखिए धवला, पु० १३, पृ० ३०० और स०सि० ३-३१
३. देखिए धवला, पु० ६, पृ० ४९७ और सौन्दरा० १६, २८-२९
४. देखिए धवला, पु० १, पृ० १४०
५. स्थानांग, पृ० १०१

(दुर्नय) होते हैं—ऐसा कहते हुए वहाँ 'अत्रोपयोगिनः श्लोकाः' निर्देश करके तीन श्लोकों को उद्धृत किया गया है। उनमें प्रथम दो श्लोक समन्तभद्राचार्य-विरचित 'स्वयम्भूस्तोत्र' में और तीसरा उन्हीं के द्वारा विरचित 'आप्तमीमांसा' में उपलब्ध होता है। यहाँ धवला में उन्हें विपरीत क्रम से उद्धृत किया गया है।[1]

३४. हरिवंशपुराण—पूर्वोक्त 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में उन्हीं कालभेदों की प्ररूपणा करते हुए आगे धवला में कहा गया है कि एक 'पूर्व' के प्रमाण वर्षों को स्थापित करके उन्हें एक लाख से गुणित चौरासी के वर्ग से गुणित करने पर 'पर्व' का प्रमाण होता है। इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि असंख्यात वर्षों का पल्योपम होता है।

पल्य-विचार

इसी प्रसंग में आगे शंकाकार ने "योजनं विस्तृतं पल्यं" इत्यादि दो श्लोकों को उद्धृत करते हुए यह कहा है कि इस वचन के अनुसार संख्यात वर्षों का भी व्यवहार-पल्य होता है, उसे यहाँ क्यों नहीं ग्रहण किया जाता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उक्त वचन में जो 'वर्षशत' शब्द है वह विपुलता का वाचक है, इससे उसका अभिप्राय यह है कि असंख्यात सौ वर्षों के बीतने पर एक-एक रोम के निकालने से असंख्यात वर्षों का ही पल्योपम होता है।

यहाँ धवला में जो उक्त दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे उसी अभिप्राय के प्ररूपक पुंनाटकसंघीय आ० जिनसेन-विरचित हरिवंशपुराण के "प्रमाणयोजनव्यास-" इत्यादि तीन श्लोकों के समान हैं।[2]

हरिवंशपुराणगत वे तीन श्लोक धवला में उद्धृत उक्त दो श्लोकों से अधिक विकसित हैं। जैसे—उन दो श्लोकों में सामान्य से 'योजन' शब्द का उपयोग किया गया है तथा परिधि के प्रमाण का वहाँ कुछ निर्देश नहीं किया गया है, जब कि हरिवंशपुराण के उन श्लोकों में विशेष रूप से प्रमाण योजन का उपयोग किया गया है तथा परिधि के प्रमाण का भी उल्लेख किया गया है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार के सामने लोकस्वरूप का प्ररूपक कोई प्राचीन ग्रन्थ रहा है। उसी से सम्भवतः उन्होंने उन दो श्लोकों को उद्धृत किया है।

सर्वार्थसिद्धि में प्रसंगवश पल्य की प्ररूपणा करते हुए उसके ये तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। वहाँ इन तीन पल्यों और उनसे निष्पन्न होने वाले व्यवहार-पल्योपम, उद्धार-पल्योपम और अद्धापल्योपम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके प्रयोजन को भी प्रकट किया गया है।[3] अन्त में वहाँ 'उक्ता च संग्रहगाथा' इस सूचना के साथ यह एक गाथा उद्धृत की गयी है[4]—

---

१. देखिए धवला, पु० ६, पृ० १८२ और स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक ६२,६१ तथा आप्तमीमांसा श्लोक १०८

२. देखिए धवला, पु० १३, पृ० ३०० और ह०पु० श्लोक ७,४७-४९

३. ऐसी कुछ विशेषता हरिवंशपुराण में दृष्टिगोचर नहीं होती।

४. देखिए स०सि० ३-३८

ववहारुद्धारद्धा पल्ला तिण्णेव होंति बोद्धव्वा ।

संखादी च समुद्दा कम्मट्ठिदि वण्णिदा तदिये ।।—स० सि० ३-३८

यह गाथा प्रायः इसी रूप में जम्बूदीवपण्णत्ती में उपलब्ध होती है (देखिए ज०दी०गा० १३-३६)। यहाँ 'वोद्धव्वा' के स्थान में उसका समानार्थक 'णायव्वा' शब्द है। तीसरा पाद यहाँ 'संखादीव-समुद्दा' ऐसा है। सर्वार्थसिद्धि में उसके स्थान में जो 'संखादी च समुद्दा' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है वह निश्चित ही अशुद्ध हो गया प्रतीत होता है, क्योंकि 'च' और 'व' की लिखावट में विशेष अन्तर नहीं है। इस प्रकार स०सि० में सम्भवतः 'संखादी च समुद्दा' के स्थान में 'संखादीव-समुद्दा' ऐसा ही पाठ रहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी अभिप्राय की प्ररूपक एक गाथा तिलोयपण्णत्ती में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

ववहारुद्धारद्धा तियपल्ला पढमयम्मि संखाओ ।

विदिए दीव-समुद्दा तदिए मिज्जेदि कम्मठिदी ।।१-१४।।

इस परिस्थिति को देखते हुए यह निश्चित प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के पूर्व लोकानु-योग विषयक दो-चार प्राचीन ग्रन्थ अवश्य रहने चाहिए, जिनके आधार से इन ग्रन्थों में विविध प्रकार से लोक की प्ररूपणा की गयी है।

तिलोयपण्णत्ती में अनेक बार ऐसे कुछ ग्रन्थों का उल्लेख भी किया गया है। यथा—

मग्गायणी (४-१९८२), लोकविनिश्चय (४-१८६६ आदि), लोकविभाग (१-२८२ व ४-२४४८ आदि), लोकायनी (८-५३०), लोकायिनी (४-२४४४), सग्गायणी (४-२१७), संगाइणी (४-२४४८), संगायणी (८-२७२), संगाहणी (८-३८७) और संगोयणी (४-२१९)।

ग्रन्थकारोल्लेख

धवलाकार ने जिस प्रकार अपनी इस विशाल धवला टीका में कुछ ग्रन्थों के नामों का उल्लेख करते हुए उनके अवतरणवाक्यों को लिया है तथा जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, ग्रन्थनामनिर्देश के विना भी उन्होंने प्रचुर ग्रन्थों के अन्तर्गत बहुत-सी गाथाओं व श्लोकों आदि को इस टीका में उद्धृत किया है, उसी प्रकार कुछ ग्रन्थकारों के भी नाम का निर्देश करते हुए उन्होंने उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों से प्रसंगानुरूप गाथाओं आदि को लेकर धवला में उद्धृत किया है। कहीं-कहीं उन्होंने मतभेद के प्रसंग में भी किसी किसी ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख किया है। यथा—

१. आर्यनन्दी—महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अन्तर्गत चौवीस अनुयोगद्वारों में अन्तिम 'अल्प-बहुत्व' अनुयोगद्वार है। वहाँ 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार के आश्रय से धवलाकार ने कहा है कि महावाचक आर्यनन्दी 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार में सत्कर्म को करते हैं।[1] इसका अभिप्राय यह दिखता है कि आर्यनन्दी के मतानुसार २२वें 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार में सत्कर्म की प्ररूपणा की गयी है।

इसके पूर्व उस 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार के प्रसंग में धवला में यह कहा गया है कि यहाँ दो उपदेश हैं—नागहस्ती क्षमाश्रमण जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों के प्रमाण की प्ररूपणा को कर्मस्थिति प्ररूपणा कहते हैं, किन्तु आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण कर्मस्थितिसंचित सत्कर्म की प्ररूपणा को कर्मस्थिति प्ररूपणा कहते हैं।[2]

इन दो उल्लेखों में से प्रथम में जिस सत्कर्म की प्ररूपणा का अभिमत आर्यनन्दी का कहा गया है, उसी सत्कर्म की प्ररूपणा का अभिमत दूसरे उल्लेख में आर्यमंक्षु का कहा गया है।

इससे यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या आर्यनन्दी और आर्यमंक्षु दोनों एक ही हैं या भिन्न हैं।

धवला में आगे आर्यनन्दी का दूसरी वार उल्लेख आर्यमंक्षु के साथ इस प्रकार हुआ है—

"महावाचयाणमज्जमंखुखमणाणमुवदेसेण लोगे पुण्णे आउसमं करेदि। महावाचयाण-

---

१. कम्मट्ठिदि अणियोगद्दारे तत्थ महावाचया अज्जणंदिणो संतकम्मं करेंति। महावाचया (?) पुण ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति।—धवला, पु० १६, पृ० ५७७

२. ······जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति। अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसंतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति।—धवला, पु० १६, पृ० ५१८

मज्जणंदीणं उपदेसेण अंतोमुहुत्तं ट्ठवेदि संखेज्जगुणमाउआदी।"—पु० १६, पृ० ५७८.

इसका अभिप्राय यह है कि आर्यमंक्षु के मतानुसार, लोकपूरणसमुद्घात के होने पर चार अघातिया कर्मों की स्थिति आयु के समान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हो जाती है। किन्तु आर्यनन्दी के मतानुसार, तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होकर भी वह आयु से संख्यातगुणी होती है।

जैसाकि जयधवला, भाग १ की प्रस्तावना (पृ० ४३) में जयधवला का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया गया है, तदनुसार उपर्युक्त आर्यनन्दी का वह मत महावाचक नागहस्ती के समान ठहरता है। यह सब चिन्तनीय है।

आर्मनन्दी कब और कहाँ हुए हैं, उनके दीक्षा-गुरु और विद्यागुरु कौन थे, तथा उन्होंने किन ग्रन्थों की रचना की है; इत्यादि बातों के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (वि०सं० ५२३ के आसपास) विरचित नन्दिसूत्र स्थविरावली में आर्यनन्दिल क्षपण का उल्लेख आर्यमंक्षु के शिष्य के रूप में किया गया है।[1] क्या आर्यनन्दी *और आर्यनन्दिल एक हो सकते हैं? यह अन्वेषणीय है।*

२. **आर्यमंक्षु और नागहस्ती**—ये दोनों आचार्य विशिष्ट श्रुत के धारक रहे हैं। कषाय-प्राभृत के उद्गम को प्रकट करते हुए जयधवला में कहा गया है कि श्रुत के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर अंग-पूर्वों का एकदेश ही आचार्य-परम्परा से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ। ये गुणधर भट्टारक पाँचवें ज्ञानपूर्व के 'वस्तु' नामक दसवें अधिकार के अन्तर्गत बीस प्राभृतों में तीसरे कषायप्राभृत के पारंगत थे। उन्होंने प्रवचनवत्सलता के वश ग्रन्थव्युच्छेद के भय से प्रेयोद्वेषप्राभृत (कषायप्राभृत) का, जो ग्रन्थप्रमाण में सोलह हजार पदप्रमाण था, केवल एक सौ अस्सी गाथाओं में उपसंहार किया। ये ही सूत्रगाथाएँ आचार्य-परम्परा से आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं। इन दोनों ही के पादमूल में गुणधर आचार्य के मुख-कमल से निकली हुई उन एक सौ अस्सी गाथाओं के अर्थ को भली-भाँति सुनकर यतिवृषभ भट्टारक ने चूर्णिसूत्रों को रचा।[2]

लगभग इसी अभिप्राय को धवला में भी अनुभाग-संक्रम के प्रसंग में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"......एसो अत्थो विउलगिरिमत्थयत्थेण पच्चक्खीकयतिकालगोयरछदव्वेण वड्ढमाण-भडारएण गोदमथेरस्स कहिदो। पुणो सो वि अत्थो आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहरभडारयं संपत्तो। पुणो तत्तो आइरियपरंपराए आगंतूण अज्जमंखु-णागहत्थिभडारयाणं मूलं पत्तो। पुणो तेहि दोहि वि कमेण जदिवसहभडारस्स वक्खाणिदो। तेण वि अणुभागसंकमे सिस्साणुग्गहट्ठं

---

१. यहाँ 'आर्यमंक्षु' के स्थान में 'आर्यमंगु' नाम है। यथा—

भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुय-सायर-पारगं धीरं॥—न०सू० २८
णाणम्मि दंसणंमि य तव विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसण्णमणं॥—न०सू० २९

२. देखिए जयधवला १, पृ० ८७-८८

चुण्णिसुत्ते लिहिदो। तेण जाणिज्जदि जहा सव्वट्ठंकुव्वंकाणं विच्चालेसु घादट्ठाणाणि णत्थित्ति।
—पु० १३, पृ० २३१-३२

जयधवला में भी उपर्युक्त अनुभागसंक्रम के ही प्रसंग में उसी प्रकार की शंका उठायी गयी है व उसके समाधान में धवला के समान ही उपर्युक्त अभिप्राय को प्रायः उन्हीं शब्दों में प्रकट किया गया है।[1]

विशेषता यह रही है कि धवला में जहाँ प्रसंगप्राप्त उस शंका के समाधान में 'वह कषाय-प्राभृत के अनुभागसंक्रमसूत्र के व्याख्यान से जाना जाता है' यह कहकर उस प्रसंग को उद्धृत करते हुए उपर्युक्त अभिप्राय को प्रकट किया गया है वहाँ जयधवला में 'वह इस दिव्यध्वनि-रूप किरण से जाना जाता है' यह कहकर उसी अभिप्राय को प्रकट किया गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुणधर भट्टारक ने सोलह हजार पद प्रमाण प्रेयोद्वेष-प्राभृत (कषायप्राभृत) का जिन १८० गाथासूत्रों में उपसंहार किया था, गम्भीर व अपरिमित अर्थ से गर्भित उन गाथासूत्रों के मर्म को समझकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती ने उनका व्याख्यान यतिवृषभाचार्य को किया था।

इससे आर्यमंक्षु और नागहस्ती इन दोनों आचार्यों के महान् श्रुतधर होने में कुछ सन्देह नहीं रहता। विशिष्ट श्रुतधर होने के कारण ही धवला और जयधवला में उनका उल्लेख क्षमाश्रमण, क्षमण और महावाचक जैसी अपरिमित पाण्डित्य की सूचक उपाधियों के साथ किया गया है।

कषायप्राभृत की टीका 'जयधवला' को प्रारम्भ करते हुए वीरसेनाचार्य ने आर्यमंक्षु और नागहस्ती के साथ वृत्ति-सूत्रकर्ता यतिवृषभ का भी स्मरण करके उनसे वर देने की प्रार्थना की है।[2]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उल्लेख

जैसाकि पीछे 'आर्यनन्दी' के प्रसंग में कुछ संकेत किया जा चुका है, इन दोनों लब्ध-प्रतिष्ठ आचार्यों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

नन्दिसूत्र की स्थविरावली में आचार्य आर्यमंगु (आर्यमंक्षु) को सूत्रार्थ के व्याख्याता, साधु के योग्य क्रियाकाण्ड के अनुष्ठाता, विशिष्ट ध्यान के ध्याता और ज्ञान-दर्शन के प्रभावक कहकर श्रुत-समुद्र के पारगामी कहा गया है व उनकी वन्दना की गयी है।[3]

---

१. वही, भाग ५, पृ० ३८७-८८

२. गुणहर-वयण-विणिग्गयगाहाणत्थोऽवहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ॥
जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ॥—मंगल के पश्चात् गा० ७-८
(यह स्मरणीय है कि यतिवृषभाचार्य ने स्वयं चूर्णिसूत्रों में या अन्यत्र भी कहीं इन दोनों आचार्यों का उल्लेख नहीं किया है।)

३. भणगं करगं झरगं पहावगं णाण-दंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुय-सायरपारगं धीरं॥—गा० २८

इसी प्रकार वहाँ आचार्य नागहस्ती के विषय में भी कहा गया है कि वे व्याकरण में कुशल होकर पिण्डशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखन और गुप्ति आदि अभिग्रहस्वरूप करण के ज्ञाता एवं कर्मप्रकृतियों के प्रमुख व्याख्याता थे। इस प्रकार उनके महत्त्व को प्रकट करते हुए उनके वाचकवंश की वृद्धि की प्रार्थना की गयी है।[1]

इस स्थविरावली में आर्यमंगु के उल्लेख के पूर्व में क्षोभ से रहित समुद्र के समान आर्यसमुद्र की वन्दना की गयी है (गाथा २७)।

इससे यह ध्वनित होता है कि आर्यमंगु आर्यसमुद्र के शिष्य रहे हैं।

इसी प्रकार वहाँ नागहस्ती के उल्लेख के पूर्व में ज्ञान व दर्शन आदि में निरन्तर उद्युक्त रहनेवाले आर्यनन्दिल क्षमण की वन्दना की गयी है (गा० २६)।

इससे यह प्रकट होता है कि नागहस्ती आर्यनन्दिल के शिष्य रहे हैं।

हरिभद्रसूरि-विरचित वृत्ति में स्पष्टतया आर्यनन्दिल को आर्यमंगु का शिष्य और नागहस्ती को आर्यनन्दिल का शिष्य कहा गया है।[2]

इस स्थविरावली के अनुसार इनमें गुरु-शिष्य-परम्परा इस प्रकार फलित होती है—

१. आर्यसमुद्र
२. आर्यमंगु
३. आर्यनन्दिल
४. आर्यनागहस्ती

इस गुरु-शिष्य परम्परा में यह एक बाधा उपस्थित होती है कि जयधवला के अनुसार आचार्य गुणधर ने कषायप्राभृत के उपसंहारस्वरूप जिन १८० गाथाओं को रचा था वे आचार्य-परम्परा से आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं तथा उन दोनों ने यतिवृषभ को उनके गम्भीर अर्थ का व्याख्यान किया। ये यतिवृषभ आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ती के अन्तेवासी रहे हैं।[3]

इस प्रकार यहाँ आर्यमंक्षु और नागहस्ती को समान समयवर्ती और यतिवृषभ के गुरु कहा गया है। इसकी संगति उक्त गुरु-शिष्य-परम्परा से नहीं बैठती है, क्योंकि उक्त गुरु-शिष्य-परम्परा के अनुसार नागहस्ती आर्यमंक्षु के प्रशिष्य ठहरते हैं, इससे उन दोनों के मध्य में समय का कुछ अन्तर अवश्यंभावी हो जाता है।

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में यह कहा गया है कि गुणधर मुनीन्द्र ने एक सौ तेरासी (?) मूल गाथासूत्रों और तिरेपन विवरण-गाथाओं की कषायप्राभृत, अपरनाम प्रेयोद्वेषप्राभृत, के नाम से रचना की व उन्हें पन्द्रह महाधिकारों में विभक्त कर उन्होंने उनका व्याख्यान नागहस्ती और आर्यमंक्षु के लिए किया। यतिवृषभ ने उन दोनों के पास उन गाथासूत्रों को पढ़कर उनके ऊपर

---

१. वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण-करणभंगिय कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥—गा० ३०

२. आर्यमंगुशिष्यं आर्यनन्दिलक्षपणं शिरसा वन्दे। × × × आर्यनन्दिलक्षपणशिष्याणां आर्यनागहस्तीनां······।—हरि० वृत्ति०

३. देखिए जयधवला १, मंगल के पश्चात् गा० ७-८

वृत्तिसूत्रों के रूप में छह हजार प्रमाण चूर्णिसूत्रों को रचा।[1]

इस श्रुतावतार के उल्लेख से भी आर्यमंक्षु और नागहस्ती, ये दोनों समकालीन ही सिद्ध होते हैं।

यहाँ श्रुतावतार में जो यह कहा गया है कि गुणधर ने इन गाथासूत्रों का व्याख्यान नागहस्ती और आर्यमंक्षु के लिए किया, यह अवश्य विचारणीय है; क्योंकि धवला और जयधवला दोनों में ही यह स्पष्ट कहा गया है कि वे गाथासूत्र उन दोनों को गुणधर के पास से आचार्य-परम्परा से आते हुए प्राप्त हुए थे। इससे इन्द्रनन्दी के कथनानुसार जहाँ वे दोनों गुणधर के समकालीन सिद्ध होते हैं वहाँ धवला और जयधवला के कर्ता वीरसेन स्वामी के उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार वे गुणधर के कुछ समय बाद हुए प्रतीत होते हैं। इससे इन्द्रनन्दी के उक्त कथन में कहाँ तक प्रामाणिकता है, यह विचारणीय हो जाता है।

इसी प्रकार इन्द्रनन्दी ने कषायप्राभृतगत उन गाथाओं की संख्या १८३ कही है जब कि स्वयं गुणधराचार्य उनकी संख्या का निर्देश १८० कर रहे हैं।[2]

समय की समस्या

ऊपर जो कुछ विचार प्रकट किया गया है, उससे आचार्य गुणधर, आर्यमंक्षु, नागहस्ती और यतिवृषभ के समय की समस्या सुलझती नहीं है। उनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा जो विचार किया गया है उसके लिए कषायप्राभृत (जयधवला) प्रथम भाग की प्रस्तावना (पृ० ३८-५४) देखनी चाहिए।

धवला और जयधवला में उनका उल्लेख

(१) कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में से दसवें उदयानुयोगद्वार में भुजाकार प्रदेशोदय की प्ररूपणा करते हुए धवला में एक जीव की अपेक्षा काल की प्ररूपणा के अन्त में यह सूचना की गयी है कि यह नागहस्ती श्रमण का उपदेश है। यथा—

एसुवदेसो णागहत्थिखमणाणं।—पु० १५, पृ० ३२७

ठीक इसके आगे 'अण्णेण उवएसेण' ऐसी सूचना करते हुए उसकी प्ररूपणा प्रकारान्तर से पुनः की गयी है।

यह अन्य उपदेश किस आचार्य का रहा है, इसकी सूचना धवला में नहीं की गयी है। सम्भव है वह आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण का रहा हो।

(२) उक्त २४ अनुयोगद्वारों में २२वाँ 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार है। वहाँ धवलाकार ने कहा है कि इस विषय में दो उपदेश हैं—१. नागहस्ती क्षमाश्रमण जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों के प्रमाण की प्ररूपणा को 'कर्मस्थिति प्ररूपणा' कहते हैं, २. पर आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण कर्मस्थिति में संचित सत्कर्म की प्ररूपणा को 'कर्मस्थिति प्ररूपणा' कहते हैं।

इतना स्पष्ट करके आगे वहाँ यह सूचना कर दी गयी है कि इस प्रकार इन दो उपदेशों के

---

१. इ० श्रुतावतार १५२-५६

२. गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥—क०पा०, गा० २

अनुसार कर्मस्थिति की प्ररूपणा करनी चाहिए। इस सूचना के साथ ही उस 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार को समाप्त कर दिया गया है।[1]

सम्भवतः धवलाकार को इसके विषय में कुछ अधिक उपदेश नहीं प्राप्त हुआ है।

(३) उन २४ अनुयोगद्वारों में अन्तिम 'अल्पबहुत्व' अनुयोगद्वार है, जिसे पिछले सभी अनुयोगद्वारों से सम्बद्ध कहा गया है।[2] इसको प्रारम्भ करते हुए धवला में कहा गया है कि नागहस्ती भट्टारक अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में सत्कर्म का मार्गण करते हैं और यही उपदेश प्रवाह्यमान—आचार्यपरम्परागत है। इतना कहकर आगे धवला में प्रकृतिसत्कर्म व स्थिति-सत्कर्म आदि की प्ररूपणा स्वामित्व व एक जीव की अपेक्षा काल आदि अनेक अवान्तर अनुयोगद्वारों में की गयी है।[3]

इसके विपरीत अन्य किसी मत का उल्लेख धवलाकार ने नहीं किया है।

(४) आगे निकाचित-अनिकाचित अनुयोगद्वार (२१) से सम्बद्ध इसी 'अल्पबहुत्व' अनुयोगद्वार के प्रसंग में धवलाकार ने महावाचक क्षमाश्रमण के उपदेशानुसार कषायोदयस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसान स्थान, प्रदेशउदीरक अध्यवसानस्थान, प्रदेशसंक्रमण अध्यवसानस्थान, उपशामक अध्यवसानस्थान, निधत्त अध्यवसानस्थान और निकाचन अध्यवसानस्थान—इनमें महावाचक क्षमाश्रमण के उपदेशानुसार अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है।[4]

महावाचक क्षमाश्रमण से किसका अभिप्राय रहा है, यह धवला में स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः उससे धवलाकार का अभिप्राय नागहस्ती से रहा है।

इसके विपरीत दूसरे किसी उपदेश के अनुसार उसकी प्ररूपणा वहाँ नहीं की गयी है। वह उपदेश कदाचित् आर्यमंक्षु का हो सकता है। जैसा कि पाठक आगे देखेंगे, आर्यमंक्षु के उपदेश की प्रायः उपेक्षा की गयी है।

(५) जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, यहीं पर आगे 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार (२२) से सम्बद्ध इसी अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में धवला में कहा गया है कि 'कर्मस्थिति' अनुयोगद्वार में महावाचक आर्यनन्दी सत्कर्म को करते हैं, पर महावाचक (?) स्थितिसत्कर्म को प्रकाशित करते हैं।

इतना कहकर आगे धवला में 'एवं कम्मट्ठिदि त्ति समत्तमणियोगद्दारं' यह सूचना करते हुए उस कर्मस्थिति से सम्बद्ध अल्पबहुत्व को समाप्त कर दिया गया है, व उसके विषय में कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है।[5]

यहाँ भी 'महावाचक' से किसका अभिप्राय रहा है, यह स्पष्ट नहीं है।

यह सब प्ररूपणा अपूर्ण व अस्पष्ट है। इस स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार को इससे सम्बन्धित व्यवस्थित अधिक उपदेश नहीं प्राप्त हुआ है।

---

१. धवला, पु० १६, पृ० ५१८

२. अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स······अप्पाबहुगं च सव्वत्थ।—सूत्र ४,१,४५ (पु० ९, पृ० १३४)।

३. धवला, पु० १६, पृ० ५२२ आदि।

४. धवला, पु० १६, पृ० ५७७

५. वही, ,, ,,

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि पूर्व में उस कर्मस्थिति के प्रसंग में आर्यमंक्षु के नाम से जिस मत का उल्लेख किया गया है, उसी मत का उल्लेख यहाँ आर्यनन्दी के नाम से किया गया है।[1] आर्यनन्दी और आर्यमंक्षु ये दो अभिन्न रहे हैं या उक्त मत के अनुयायी वे दोनों पृथक्-पृथक् रहे हैं, यह अन्वेषणीय है।

(६) यहीं पर आगे 'पश्चिमस्कन्ध' (२३) से सम्बद्ध उस अल्पबहुत्व में धवलाकार ने 'पश्चिमस्कन्ध अनुयोगद्वार में वहाँ यह मार्गणा है' इस प्रकार सूचना करते हुए आवर्जितकरण और केवलिसमुद्घात का विचार किया है। इसी प्रसंग में, वहाँ यह भी कहा गया है कि महावाचक आर्यमंक्षु श्रमण के उपदेशानुसार लोकपूरण समुद्घात के होने पर केवलीजिन शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को आयु के समान करते हैं। किन्तु महावाचक आर्यनन्दी के उपदेशानुसार शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करते हैं जो आयु से संख्यातगुणी रहती है।[2]

इस प्रकार यह आर्यनन्दी का मत आर्यमंक्षु के मत से विपरीत है।

इसके पूर्व धवला में पश्चिमस्कन्ध में जो प्ररूपणा की जा चुकी है, वही प्ररूपणा लगभग उसी रूप में यहाँ (अल्पबहुत्व में) पुनः की गयी है।[3] विशेषता यह रही कि पूर्व में की गयी उस प्ररूपणा के प्रसंग में अघातिया कर्मों की उस स्थिति के विषय में किसी प्रकार के मतभेद को नहीं प्रकट किया गया है। किन्तु उसके विषय में यहाँ उपर्युक्त आर्यमंक्षु और आर्यनन्दी के दो भिन्न मतों का उल्लेख किया गया है।

यह प्ररूपणा कषायप्राभृत के अन्तर्गत 'पश्चिमस्कन्ध' में की गयी है।[4] धवलाकार ने सम्भवतः उसी का अनुसरण किया है।[5]

कषायप्राभृतचूर्णि में की गयी उस प्ररूपणा के प्रसंग में उपर्युक्त अघातिया कर्मों की स्थिति विषयक कोई मतभेद नहीं प्रकट किया गया है। वहाँ इतना मात्र कहा गया है कि लोकपूरण

---

१. यथा—अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसंतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति।—धवला, पु० १६, पृ० ५१८

कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे एत्थ महावाचया अज्जणंदिणो संतकम्मं करेंति।

—धवला, पु० १६, पृ० ५७७

(सम्भवतः धवलाकार भी इन मतभेदों के विषय में असन्दिग्ध नहीं रहे, इसी से स्पष्टतया वह प्ररूपणा नहीं की जा सकी है। कहीं-कहीं इस प्रसंग में नामनिर्देश के विना केवल 'महावाचमाणं खमासमणाणं उवदेसेण'····'महावाचया ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति' इन उपाधि-परक पदों का ही प्रयोग किया है, जब कि आर्यनन्दी, आर्यमंक्षु और नागहस्ती तीनों हा 'महावाचक क्षमाश्रमण' रहे है।

२. धवला, पु० १६, पृ० ५७८

३. वही, पृ० ५१६-२१ व आगे पृ० ५७७-७६

४. देखिए क०प्रा० चूर्णि ३६-५१ (क०पा० सुत्त पृ० ६००-६०६)

५. प्रसंगवश यह कुछ प्ररूपणा धवला में इसके पूर्व 'वेदनाद्रव्यविधान' में भी की गयी है। वहाँ भी अघातिया कर्मों की स्थिति के विषय में कुछ मतभेद नहीं प्रकट किया गया है। देखिए पु० १०, पृ० ३२०-२६

समुद्घात के होने पर अघातिया कर्मों की स्थिति को अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थापित करता है। अन्य तीन अघातिया कर्मों की यह अन्तर्मुहूर्त स्थिति आयुस्थिति से संख्यातगुणी होती है।[1]

उक्त मतभेद को उसकी टीका जयधवला में धवला के ही समान प्रकट किया गया है। यथा—

"एत्थ दुहे उवएसा अत्थि त्ति के वि भणंति। तं कथं? महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवदेसेण लोगे पूरिदे आउगसमं णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थिखवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्ममंतोमुहुत्तपमाणं होदि। होंतं वि आउगादो संखेज्जगुणमेत्तं ठवेदि त्ति। णवरि एसो वक्खाणसंपदाओ चुण्णिसुत्तविरुद्धो, चुण्णिसुत्ते मुत्तकंठमेव संखेज्जगुणमाउआदो त्ति णिद्दिट्ठत्तादो। तदो पवाइज्जंतोवएसो एसो चेव पहाणभावेणावलंवेयव्वो।"—जयध० १, प्रस्तावना पृ० ४३

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि ऊपर धवला में जिस मत का उल्लेख महावाचक आर्यनन्दी के नाम से किया गया है उसी मत का उल्लेख ऊपर जयधवला में महावाचक नागहस्ती के नाम से किया गया है।

(७) धवला से इसी अल्पबहुत्व के प्रसंग में आगे कहा गया है कि अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में महावाचक क्षमाश्रमण (?) सत्कर्म का मार्गण करते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए आगे वहाँ कहा गया है—आहारसत्कर्मिक सबसे स्तोक हैं, उनसे सम्यक्त्व के सत्कर्मिक असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि।[2]

यहाँ भी महावाचक क्षमाश्रमण से धवलाकार का अभिप्राय आर्यमंक्षु का, नागहस्ती का अथवा अन्य ही किसी का रहा है; यह स्पष्ट नहीं है।

इसके पूर्व इसी अभिमत को धवला में नागहस्ती भट्टारक के नाम से प्रकट किया जा चुका है तथा उसे ही प्रवाह्यमान या आचार्य-परम्परागत भी इस प्रकार कहा गया है—

"अप्पावहुगअणियोगद्दारे णागहत्थिभडारओ संतकम्ममग्गणं करेदि। एसो च उवदेसो पवाइज्जदि।"—धवला, पु० १६, पृ० ५२२

पवाइज्जंत-अप्पवाइज्जंत उपदेश

'पवाइज्जंत' का अर्थ आचार्यपरम्परागत और 'अप्पवाइज्जंत' का अर्थ आचार्यपरम्परा से अनागत है। ऊपर के उल्लेख में धवलाकार ने नागहस्ती भट्टारक के उपदेश को 'पवाइज्जदि' कहकर आचार्यपरम्परागत कहा है।

इसके पूर्व अघातिया कर्मों की स्थिति से सम्बन्धित जयधवला के जिस प्रसंग को उद्धृत किया गया है उसमें धवलाकार ने महावाचक आर्यमंक्षु के उपदेश को चूर्णिसूत्र के विरुद्ध कहकर अग्राह्य प्रकट करते हुए महावाचक नागहस्ती के उपदेश को 'पवाइज्जंत' कहकर आश्रयणीय कहा है।

जयधवलाकार ने दीर्घकाल से अविच्छिन्न परम्परा से आने वाले समस्त आचार्यसम्मत उपदेश को पवाइज्जंत उपदेश कहा है। प्रकारान्तर से आगे उन्होंने यह भी कहा है—अथवा आर्यमंक्षु भगवान का उपदेश यहाँ (अघातिया कर्मों की स्थिति के प्रसंग में) अप्पवाइज्जमाण है

१. लोगे पुण्णे अंतोमुहुत्तं ट्ठिदिं ठवेदि। संखेज्जगुणमाउआदो।
—क०पा० सुत्त पृ० ९०२, चूर्णि १३-१४

२. देखिए धवला, पु० १६, पृ० ५७९ आदि।

और नागहस्ती क्षपण का उपदेश पवाइज्जंत है, इसलिए इसे ही ग्रहण करना चाहिए। यथा—

"को पुण पवाइज्जंतोवएसो णाम वुत्तमेदं ? सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वच्छिण्णसंपदाय-कमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवा-इज्जंतओ त्ति घेत्तव्वं।"[1]

धवला में भी प्रायः पवाइज्जंत-अप्पवाइज्जंत उपदेश का स्वरूप इसी प्रकार का कहा गया है। वहाँ नामान्तर से उसे दक्षिणप्रतिपत्ति व उत्तरप्रतिपत्ति भी कहा गया है।[2]

यद्यपि धवलाकार ने उक्त प्रसंग में नागहस्ती क्षमाश्रमण के उपदेश को पवाइज्जमाण और आर्यमंक्षु के उपदेश को अपवाइज्जमाण नहीं कहा है, फिर भी अन्यत्र उन्होंने भी नागहस्ती भट्टारक के उपदेश को पवाइज्जमाण कहा है। यथा—

"अप्पाबहुगअणियोगद्दारे णागहत्थिभडारओ संतकम्ममग्गणं करेदि। एसो च उवदेसो पवाइज्जदि।"—पु० १६, पृ० ५२३

इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि विवक्षित विषय के प्रसंग में जहाँ आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ती के बीच में कुछ मतभेद रहा है, वहाँ आ० नागहस्ती के उपदेश को आचार्य-परम्परागत मानकर प्रमाणभूत माना गया है और आर्यमंक्षु के उपदेश की उपेक्षा की गयी है। किन्तु जिस विषय में उन दोनों के मध्य में किसी प्रकार का मतभेद नहीं रहा है—एकरूपता रही है—उसका उल्लेख उन दोनों के ही नाम पर आदरपूर्वक किया गया है। यथा—

"पवाइज्जंतेण पुण उवएसेण सव्वाइरियसम्मदेण अज्जमंखु-णागहत्थिमहावाचयमुह-कमल-विणिग्गयेण सम्मत्तस्स अट्ठवस्साणि।"[3]

श्वेताम्बर परम्परा में आर्यमंगु के विषय में यह प्रसिद्धि है कि वे विहार करते हुए किसी समय मथुरा पहुँचे। वहाँ कुछ भक्तों की सेवासुश्रूषा पर मुग्ध होकर वे रसगारव आदि के वशीभूत होते हुए वहीं रह गये। इस प्रकार श्रामण्य धर्म से भ्रष्ट हुए उनका मरण वहीं पर हुआ।[4]

यदि इसमें कुछ तथ्यांश है तो सम्भव है कि इस कारण भी आर्यमंक्षु या आर्यमंगु के उपदेश की उपेक्षा की गयी हो।

उपसंहार

(१) गुणधराचार्य ने सोलह हजार पद-प्रमाण कषायप्राभृत का जिन एक सौ अस्सी या दो सौ तेतीस सूत्रगाथाओं में उपसंहार किया था वे आचार्य-परम्परा से आकर महावाचक आर्यमंक्षु और महावाचक नागहस्ती को प्राप्त हुई थीं। उन दोनों ने उनके अन्तर्गत अपरिमित गम्भीर अर्थ का व्याख्यान यतिवृषभाचार्य को किया था।

(२) यतिवृषभाचार्य ने आर्यमंक्षु और नागहस्ती से उन सूत्रगाथाओं के रहस्य को सुनकर

---

१. क० पा० सुत्त प्रस्तावना, पृ० २४-२५

२. धवला, पु० ३, पृ० ९२, ९४, ९८ व ९९ तथा पु० ५, पृ० ३२

३. क० प्रा० (जयधवला) भा० १ की प्रस्तावना, पृ० ४१

४. देखिए 'अभिधान-राजेन्द्र' कोश में 'आर्यमंगु' शब्द।

उनके ऊपर छह हजार ग्रन्थप्रमाण चूर्णिसूत्रों को रचा। इससे आर्यमंक्षु, नागहस्ती और यतिवृषभ इन तीनों श्रुतधरों की कर्मसिद्धान्तविषयक अगाध विद्वत्ता प्रकट होती है।

(३) उक्त सूत्रगाथाओं और चूर्णिसूत्रों में निहित अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ वीरसेनाचार्य और उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने क्रम से बीस और चालीस हजार (समस्त ६००००) ग्रन्थ प्रमाण जयधवला नाम की टीका लिखी।

(४) आर्यमंक्षु (आर्यमंगु) और नागहस्ती क्षमाश्रमण इन दोनों श्रुतधरों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नन्दिसूत्रगत स्थविरावली के अनुसार उनकी गुरु-शिष्य परम्परा इस प्रकार रही—(१) आर्यसमुद्र, (२) आर्यमंक्षु (या आर्यमंगु), (३) आर्य-नन्दिल और नागहस्ती।

(५) मुनि कल्याणविजयजी के अभिमतानुसार आर्यमंगु और नागहस्ती इन दोनों के मध्य में लगभग १५० वर्ष का अन्तर रहता है, जबकि धवला और जयधवला के उल्लेखानुसार वे दोनों यतिवृपभाचार्य के गुरु के रूप में समकालीन ठहरते हैं। उनके यह समय की समस्या विचारणीय है।

(६) इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के अनुसार ये दोनों आचार्य गुणधराचार्य के समकालीन सिद्ध होते हैं।

(७) धवलाकार ने मतभेद के प्रसंग में आर्यमंक्षु और नागहस्ती महावाचक के साथ आर्यनन्दी का भी दो वार उल्लेख किया है। ये आर्यनन्दी क्या नन्दिसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट आर्यनन्दिल सम्भव हैं?

(८) धवला और विशेपकर जयधवला में कहीं-कहीं आर्यमंक्षु के उपदेश को आचार्य-परम्परागत न होने से 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्ती के उपदेश को आचार्यपरम्परागत होने से 'पवाइज्जमाण' कहा गया है।

३. उच्चारणाचार्य

यह किसी आचार्यविशेष का नाम नहीं है। आचार्यपरम्परागत सूत्रों व गाथाओं आदि का आम्नाय के अनुसार जो विधिपूर्वक शुद्ध उच्चारण कराते और अर्थ का व्याख्यान किया करते थे, उन्हें उच्चारणाचार्य कहा जाता था। ऐसे उच्चारणाचार्य समय-समय पर अनेक हुए हैं।

वेदनाद्रव्यविधान अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए गुणितकर्मांशिक की, जिसके उसकी वह उत्कृष्ट द्रव्यवेदना होती है, अनेक विशेषताओं को प्रकट किया गया है। उनमें उसकी एक विशेषता यह भी है कि उसके उपरिम स्थितियों के निषेक का उत्कृष्ट पद और अधस्तन स्थितियों के निषेक का जघन्य पद होता है (सूत्र ४,२,४,११)।

इसकी व्याख्या के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि तीव्रसंक्लेश विलोम प्रदेशविन्यास का कारण और मन्दसंक्लेश अनुलोम प्रदेशविन्यास का कारण होता है। इस प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि यह उच्चारणाचार्य के अभिमतानुसार प्ररूपणा की गयी है।

किन्तु भूतवलिपाद का अभिप्राय यह है कि विलोम विन्यास का कारण गुणितकर्मांशिकत्व और अनुलोम विन्यास का कारण क्षपितकर्मांशिकत्व है, न कि संक्लेश और विशुद्धि।[1]

---

१. देखिए धवला, पु० १०, पृ० ४४-४५

इस प्रकार निषेक-रचना के प्रसंग में अनेक शंका-समाधानपूर्वक आचार्य भूतबलि के मत से उच्चारणाचार्य के भिन्न मत को प्रकट करते हुए धवला में उच्चारणाचार्य का उल्लेख है।

४. एलाचार्य

इनके विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। वेदनाखण्ड के अन्तर्गत दो अनुयोगद्वारों में प्रथम 'कृति' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा करते हुए धवला में अर्थकर्ता के रूप में वर्धमान जिनेन्द्र की प्ररूपणा की गयी है। वहाँ एक मत के अनुसार वर्धमान जिन की ७२ वर्ष और दूसरे मत के अनुसार उनकी आयु ७१ वर्ष, ३ मास और २५ दिन प्रमाण निर्दिष्ट की गयी है व तदनुसार ही उनके कुमारकाल आदि की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गयी है।

इस प्रसंग में यह पूछने पर कि इन दो उपदेशों में यथार्थ कौन है, धवलाकार ने कहा है कि एलाचार्य का वत्स (मैं वीरसेन) कुछ कहना नहीं चाहता, क्योंकि इस विषय में कुछ उपदेश प्राप्त नहीं है।[1] इस प्रकार धवलाकार वीरसेनाचार्य ने 'एलाचार्य का वत्स' कहकर अपने को एलाचार्य का शिष्य प्रकट किया है।

यद्यपि धवला की अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने एलाचार्य के अतिरिक्त अपने को आर्यनन्दी का शिष्य और चन्द्रसेन का नातू (प्रशिष्य) प्रकट किया है[2], पर उसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि उनके विद्यागुरु एलाचार्य और दीक्षागुरु आर्यनन्दी रहे हैं।

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में भी वीरसेनाचार्य को एलाचार्य का शिष्य कहा गया है। विशेष इतना है कि वहाँ एलाचार्य को चित्रकूटपुरवासी निर्दिष्ट किया गया है।[3]

इसके अतिरिक्त अन्य कुछ जानकारी एलाचार्य के विषय में प्राप्त नहीं है।

५. गिद्धि-पिंछाइरिय (गृद्धपिच्छाचार्य)

गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम उमास्वाति के द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित है।

जीवस्थान-कालानुगम अनुयोगद्वार में नोआगमद्रव्यकाल के स्वरूप को प्रकट करते हुए धवलाकार ने "वर्तना-परिणाम-क्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र (५-२२) को गृद्धपिच्छा-

---

१. दोसुवि उवएसेसु को एत्थ समंजसो ? एत्थ ण वाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स वाहाणुवलंभादो। किंतु दोसु एक्केण होदव्वं। तं जाणिय वत्तव्वं।

—धवला, पु० ६, पृ० १२६

२. जस्स से [प] साएण मए सिद्धन्तमिदं हि अहिलहुदी।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥—गा० १
अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जवकम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पंचत्थुहण्यंभाणुणा मुणिणा ॥—गा० ४

३. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥—१७७
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट (?) च लिलेख ॥—१७८

चार्य-विरचित तत्त्वार्थसूत्र के नाम से उद्धृत किया है।[1]

यहाँ धवलाकार ने सुप्रसिद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' के उस सूत्र को ग्रन्थकर्ता 'गृद्धपिच्छाचार्य' के नाम के साथ उद्धृत किया है। इससे निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य रहे हैं। उनके उमास्वाति और उमास्वामी ये नामान्तर भी प्रचलित हैं। शिलालेखों में उन्हें कुन्दकुन्दाचार्य की वंश-परम्परा का कहा गया है। शिलालेख के अनुसार समस्त पदार्थों के वेत्ता उन मुनीन्द्र ने जिनोपदिष्ट पदार्थसमूह को सूत्र के रूप में निबद्ध किया है जो तत्त्वार्थ[2], तत्त्वार्थशास्त्र[3] व तत्त्वार्थसूत्र[4] इन नामों से प्रसिद्ध हुआ। श्वेता० सम्प्रदाय में उसका उल्लेख 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के नाम से हुआ है। वे योगीन्द्र प्राणियों के संरक्षण में सावधान रहते हुए गृद्ध (गीध) के पंखों को धारण करते थे, इसीलिए विद्वज्जन उन्हें तभी से 'गृद्धपिच्छाचार्य' कहने लगे थे। यथा—

> अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
> सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥
>
> स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपिच्छान्।
> तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम्॥[5]

जैसाकि ऊपर शिलालेख में भी निर्देश किया गया है, उनकी इस महत्त्वपूर्ण कृति में आगमग्रन्थों में बिखरे हुए मोक्षोपयोगी जीवादि तत्त्वों का अतिशय कुशलता के साथ संक्षेप में संग्रह कर लिया गया है व आवश्यक कोई तत्त्व छूटा नहीं है।

आचार्य गृद्ध्रपिच्छ कब हुए, उनके दीक्षागुरु व विद्यागुरु कौन रहे हैं और प्रकृत तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त अन्य भी कोई कृति उनकी रही है; इस विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है।[6]

---

१. तह गिद्धपिंच्छाइरियप्पयासि सितिच्चत्थसुत्ते वि "वर्तना-परिणाम-क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" इदि दव्वकालो परूविदो।—धवला, पु० ४, पृ० ३१६

२. आ० पूज्यपाद-विरचित तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), भट्टाकलंकदेव-विरचित तत्त्वार्थवार्तिक और आ० विद्यानन्द-विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 'तत्त्वार्थ' के नाम पर ही लिखी गयी हैं।

३. आ० विद्यानन्द ने उसका उल्लेख 'तत्त्वार्थशास्त्र' के नाम से भी किया है। देखिए आप्त-परीक्षा-श्लोक १२३-२४।

४. धवलाकार ने पूर्वोक्त सूत्र को 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम से उद्धृत किया है।

५. जैन शिलालेखसंग्रह प्र० भाग, नं० १०८, पृ० २१०-११

६. श्वेता० सम्प्रदाय में तत्त्वार्थाधिगमभाष्य को स्वोपज्ञ माना जाता है। वहाँ उसकी प्रशस्ति में वाचक उमास्वाति को वाचकमुख्य शिवश्री के प्रशिष्य और एकादशांगवित् घोषनन्दी का शिष्य कहा गया है। वाचना से—विद्याध्ययन की अपेक्षा—वे महावाचक क्षमण मुण्डपार के शिष्यस्वरूप मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य रहे हैं। उनका जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था, पिता का नाम स्वाति और माता का नाम वात्सी था। गोत्र उनका कौभीषणी था

(शेष पृ० ६५८ पर देखें)

उनके प्रकृत तत्त्वार्थसूत्र पर आ० पुष्पदन्त-भूतबलि-विरचित षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित पंचास्तिकाय व प्रवचनसार आदि का तथा वट्टकेराचार्य-विरचित मूलाचार का प्रभाव परिलक्षित होता है। इससे इन आचार्यों के पश्चात् ही उनका होना सम्भव है। यथा—

(१) षट्खण्डागम—तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थाधिगम के हेतुभूत प्रमाण-नय और निर्देशादि का उल्लेख करने के पश्चात् अन्य सदादि अनुयोगद्वारों का प्ररूपक यह सूत्र उपलब्ध होता है—

"सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च।"—त०सू०, १-८

यह सूत्र षट्खण्डागम के इस सूत्र पर आधारित है—

"संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।"—सूत्र १,१,७ (पु० १, पृ० १५५)

ष०ख० में जहाँ सूत्रोक्त आठ अनुयोगद्वारों में प्रथम अनुयोगद्वार का उल्लेख 'सत्प्ररूपणा' के नाम से किया गया है वहाँ त०सू० में उसका उल्लेख 'सत्' के नाम से कर दिया गया है। इसी प्रकार दूसरे अनुयोगद्वार को जहाँ ष०ख० में 'द्रव्यप्रमाणानुगम' कहा गया है वहाँ त०सू० में उसे 'संख्या' कहा गया है, अर्थभेद कुछ नहीं है। ष०ख० में प्रत्येक अनुयोगद्वार का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए उनके साथ 'अनुगम' शब्द को योजित किया गया है, पर तत्त्वार्थसूत्र में अनुयोगद्वार के सूचक उन सत्-संख्या आदि शब्दों के मध्य में 'द्वन्द्व' समास किया गया है। वहाँ पिछले 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र (१-६) के अन्तर्गत 'अधिगम' शब्द की अनुवृत्ति रहने से तृतीयान्त बहुवचन के द्वारा यह सूचित कर दिया गया है कि इन सत्-संख्या आदि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है। इसीलिए वहाँ 'अनुगम' जैसे किसी शब्द को प्रत्येक पद के साथ योजित नहीं करना पड़ा। इस प्रकार सूत्र में जो लाघव होना चाहिए वह यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में रहा है व अभिप्राय कुछ छूटा नहीं है।

यहाँ यह विशेष स्मरणीय है कि षट्खण्डागम की रचना आगमपद्धति पर शिष्यों के सम्बोधनार्थ प्रायः प्रश्नोत्तर शैली में की गयी है, इसलिए वहाँ विस्तार भी अधिक हुआ है तथा पुनरुक्ति भी हुई है। पर तत्त्वार्थसूत्र की रचना मुमुक्षु भव्य जीवों को लक्ष्य में रखकर की गई है, इसलिए उसमें उन्हीं तत्त्वों का समावेश हुआ है जो मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी रहे हैं। उसकी संरचना में इसका विशेष ध्यान रखा गया है कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अभिप्राय को प्रकट किया जा सके। यह उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

(२) ष०ख० में वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार में प्रसंगप्राप्त नोआगम-भावबन्ध की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में नोआगम जीवभावबन्ध के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—विपाक प्रत्ययिक, अविपाक प्रत्ययिक और तदुभय प्रत्ययिक नोआगम भावबन्ध। यहाँ विपाक का अर्थ उदय, अविपाक का अर्थ विपाक के अभावभूत उपशम और क्षय तथा तदुभय का अर्थ क्षयोपशम है। तदनुसार फलित यह हुआ कि नोआगमजीवभावबन्ध चार प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। आगे के सूत्र में अविपाकप्रत्ययिक

वे वाचक उच्चनागर शाखा के थे। उमास्वाति विहार करते हुए कुसुमपुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने गुरुपरिपाटी के क्रम से आये हुए जिनवचन (जिनागम) का भली-भाँति अवधारण करके दुःख से पीड़ित जीवों के लिए अनुकम्पावश तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र को रचा।

जीवभावबन्ध के औपशमिक और क्षायिक ये दो भेद निर्दिष्ट भी कर दिये गये हैं। इनमें विपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध के यहाँ संख्यानिर्देश के बिना चौवीस; औपशमिक भाव के उपशान्त क्रोध-मानादि के साथ औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्र इत्यादि; क्षायिकभाव के क्षीण क्रोध-मानादि के साथ क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दानादि पाँच लब्धियाँ तथा केवलज्ञान व केवलदर्शन आदि इसी प्रकार के अन्य कितने ही भाव; तथा तदुभय (क्षायोपशमिक) भाव के क्षायोपशमिक एकेन्द्रियत्व आदि के साथ मति-अज्ञान आदि तीन मिथ्याज्ञान, आभिनिबोधिक आदि चार सम्यग्ज्ञान, चक्षुदर्शनादि तीन दर्शन इत्यादि अनेक भेद प्रकट किये गये हैं।—सूत्र ५,६,१४-१६ (पु० १४)

इस सबको दृष्टि में लेते हुए तत्त्वार्थसूत्र में जीव के 'स्वतत्त्व' के रूप में इन पाँच भावों का निर्देश किया गया है—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (तदुभय या क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक। इनमें से वहाँ औपशमिक के दो, क्षायिक के नौ, मिश्र के अठारह, औदयिक के इक्कीस और पारिणामिक के तीन भेदों का निर्देश करते हुए उनको पृथक्-पृथक् स्पष्ट भी कर दिया गया है।—सूत्र २,१-७

उदाहरणस्वरूप यहाँ औदयिक भाव के भेदों के प्ररूपक सूत्रों को दोनों ग्रन्थों से उद्धृत किया जाता है—

"जो सो विवागपच्चइयो जीवभावबन्धो णाम तस्स इमो णिद्देसो—देवे त्ति वा मणुस्से त्ति तिरिक्खेत्ति वा णेरइए त्ति वा इत्थिवेदे त्ति वा पुरिसवेदे त्ति वा णउंसयवेदे त्ति वा कोहवेदे त्ति वा माणवेदे त्ति वा मायवेदेत्ति वा लोहवेदे त्ति वा रागवेदे त्ति वा दोसवेदे त्ति वा मोहवेदे त्ति वा किण्हलेस्से त्ति वा णीललेस्से त्ति वा काउलेस्से त्ति वा तेउलेस्से त्ति वा पम्मलेस्से त्ति वा सुक्कलेस्से त्ति वा असंजदे त्ति वा अविरदे त्ति वा अण्णाणे त्ति वा मिच्छादिट्ठि त्ति वा जे चामण्णे एवमादिया कम्मोदयपच्चइया उदयविवागणिप्पण्णा भावा सो सव्वो विवागपच्चइयो जीवभावबन्धो णाम।"—सूत्र १५

अब इस सम्पूर्ण अभिप्राय को अन्तर्हित करने वाला तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र देखिए—

"गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः।"

—सूत्र २-८

इस प्रकार ष०ख० में जहाँ उपर्युक्त उतने विस्तृत सूत्र में औदयिक भाव के उन भेदों को प्रकट किया गया है वहाँ उसी के आधार से त०सू० में उन सब भावों को बहुत संक्षेप में ग्रहण कर लिया गया है।

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि ष०ख० में जो तत्त्व का विचार किया गया है वह प्राचीन आगमपद्धति के अनुसार किया गया है, इसीलिए उसमें विस्तार व पुनरुक्ति अधिक हुई है। यह ऊपर के उदाहरण से भी स्पष्ट है—

त०सू० के उपर्युक्त सूत्र में प्रथमतः गति, कषाय, लिंग (वेद), मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व और लेश्या इन भावों का निर्देश एक ही समस्यन्त पद में करके आगे यथाक्रम से उनकी संख्या का निर्देश चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक और छह के रूप में कर दिया गया है। इस प्रकार सूत्र में जो लाघव रहना चाहिए वह रह गया है और अभिप्राय कुछ छूटा नहीं है।

पर ष०ख० के सूत्र में गति-कषाय आदि के उन अवान्तर भेदों का उल्लेख पृथक्-पृथक्

किया गया है व प्रत्येक के साथ 'इति वा' का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार से उसमें लाघव नहीं रह सका है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि षट्खण्डागम सूत्रग्रन्थ नहीं है, उसे सूत्रग्रन्थ ही माना गया है। पर वह "सुत्तं गणहरकहियं" इत्यादि सूत्रलक्षण[1] के आधार पर सूत्रग्रन्थ है, न कि "अल्पाक्षरमसंदिग्धं" इत्यादि सूत्रलक्षण[2] के आधार पर।

प्रकृत औदयिकभाव के ष०ख० में जहाँ २४ भेद कहे गये हैं वहाँ त०सू० में वे २१ ही निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका कारण यह है कि त०सू० की अपेक्षा ष०ख० में राग, द्वेष, मोह और अविरति इन चार अतिरिक्त भावों को ग्रहण किया गया है तथा त० सू० में निर्दिष्ट असिद्धत्व को वहाँ ग्रहण नहीं किया गया है।

इनमें राग और द्वेष ये कषायस्वरूप ही हैं, इसी कारण त० सू० में कषाय के अन्तर्गत होने से उन्हें अलग से नहीं ग्रहण किया गया है।

'मोह' से धवलाकार ने पाँच प्रकार के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सासादनसम्यक्त्व को ग्रहण किया है। इस प्रकार के मोह को मिथ्यात्व के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसीलिए सम्भवतः त० सू० में अलग से उसे नहीं ग्रहण किया गया है।[3]

ष०ख० में उपर्युक्त भावों के अन्तर्गत असंयत भी है और अविरति भी है। सामान्य से इन दोनों में कुछ और भेद नहीं है। इसीलिए त०सू० में अविरति को असंयत से पृथक् रूप में नहीं ग्रहण किया गया है।

इस प्रसंग में वहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि संयम और विरति में क्या भेद है। इसके उत्तर में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि समितियों से सहित महाव्रतों और अणुव्रतों को संयम तथा उनसे रहित उन महाव्रतों और अणुव्रतों को विरति कहा जाता है।

ष०ख० से त०सू० में विशेषता यह रही है वहाँ इन भावों में असिद्धत्व को भी सम्मिलित किया गया है, जिसे ष० ख० में नहीं ग्रहण किया गया है। फिर भी ष०ख० के उस सूत्र में जो अन्त में 'एवमादिया' कहा गया है, उससे असिद्धत्व का भी ग्रहण वहाँ हो जाता है।

त०सू० में जो असिद्धत्व को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है, उसे संसार व मोक्ष की प्रधानता होने के कारण ग्रहण किया गया है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट उन २४ और २१ भेदों में कुछ विरोध नहीं रहता है।

यहाँ उपर्युक्त दो उदाहरण दिये गये हैं। वैसे तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्र प्रस्तुत षट्खण्डागम से प्रभावित हैं। इसे ग्रन्थारम्भ में 'षट्खण्डागम व तत्त्वार्थसूत्र' शीर्षक में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

इससे प्रायः यह निश्चित है गृद्धपिच्छाचार्य षट्खण्डागमकार आ० पुष्पदन्त-भूतबलि (प्रायः प्रथम शताब्दि) के पश्चात् हुए हैं।

(२) पंचास्तिकायादि—जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों पर षट्खण्डागम का प्रभाव रहा है, उसी प्रकार उसके कुछ सूत्रों पर आ० कुन्दकुन्द-विरचित पंचास्तिकाय और

---

१. देखिए धवला, पु० १३, पृ० ३८१

२. वही, पु० ६, पृ० २५६, श्लोक ११७

३. इस सबके लिए सूत्र १५ की धवला टीका (पु० १४, पृ० ११-१२) द्रष्टव्य है।

प्रवचनसार आदि का भी प्रभाव रहा है। यथा—

प्रवचनसार—तत्त्वार्थसूत्र में पदार्थावबोधक के हेतुभूत प्रमाण और नयों का विचार करते हुए उस प्रसंग में मति-श्रुतादि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा गया है व उसे परोक्ष और प्रत्यक्ष इन भेदों में विभक्त किया गया है। उनमें इन्द्रियसापेक्ष मति और श्रुत इन दो ज्ञानों को परोक्ष और अवधिज्ञानादि शेष तीन अतीन्द्रिय ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा गया है।[1]

तत्त्वार्थसूत्र का यह विवेचन प्रवचनसार के इस प्रसंग पर आधारित रहा है—वहाँ आत्म-स्वभाव से भिन्न इन्द्रियों को पर बतलाते हुए उनके आश्रय से होने वाले ज्ञान की प्रत्यक्षरूपता का प्रतिषेध किया गया है तथा आगे परोक्ष और प्रत्यक्ष का यह लक्षण प्रकट किया गया है—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥[2]—गाथा १-५८

इसका अभिप्राय यही है कि जो ज्ञान इन्द्रियादि पर की सहायता से होता है उसे परोक्ष, तथा परनिरपेक्ष केवल आत्मा के आश्रय से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसी अभि-प्राय को तत्त्वार्थसूत्र में प्रकृत सूत्रों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

पंचास्तिकाय—तत्त्वार्थसूत्र में अजीव द्रव्यों का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम वहाँ धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार अजीव द्रव्यों को अजीव होते हुए काय (अस्तिकाय) कहा गया है। आगे इन्हें द्रव्य कहते हुए जीवों को भी इससे सम्बद्ध कर दिया गया है, अर्थात् जीव भी द्रव्य होकर अस्तिकाय स्वरूप हैं, इस अभिप्राय को प्रकट कर दिया गया है।[3]

क—त०सू० का यह विवेचन पंचास्तिकाय की इस गाथा पर आधारित रहा है—

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥[4]—गा० ४

ख—यहीं पर आगे त०सू० में 'सत्' को द्रव्य का लक्षण बतलाकर उस 'सत्' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है, उसे 'सत्' कहा जाता है।[5]

आगे चलकर प्रकारान्तर से द्रव्य के लक्षण में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जो गुण और पर्यायों से सहित होता है, वह द्रव्य कहलाता है।[6]

त०सू० का यह कथन पंचास्तिकाय की इस गाथा से पूर्णतया प्रभावित है, जिसमें द्रव्य के उन दोनों लक्षणों को एक साथ उन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया गया है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पाद-व्वय-धुवत्तसंजुत्तं।
गुण-पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥—गा० १०

---

१. मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।
—त०सू० १,९-१२

२. इसकी पूर्व की गाथा ५६-५७ भी द्रष्टव्य हैं।

३. अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः। द्रव्याणि। जीवाश्च।—त०सू० ५,१-३

४. इससे आगे की गाथाएँ ५,६ और २२ भी द्रष्टव्य हैं।

५. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।—त०सू० ५,२९-३०

६. गुण-पर्ययवद्-द्रव्यम्।—त०सू० ५-३८

ग—इसके पूर्व त०सू० में जीव का लक्षण उपयोग बतलाकर उसे ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। आगे इनमें से ज्ञान को आठ प्रकार का और दर्शन को चार प्रकार का कहा गया है।[1]

त०सू० का यह विवरण पंचास्तिकाय की इन तीन गाथाओं के आश्रित है—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणाहि ॥४०॥
आभिणि-सुदोधि-मण-केवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदि-सुद-विभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहि संजुत्ते ॥४१॥
दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥४२॥

इसी प्रकार से और भी कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। जैसे—

त०सू० १-१ व पंचास्तिकाय गा० १६४; त०सू० २-१ व पंचास्तिकाय गाथा ५६; तथा त०सू० ६-३ व ८,२५-२६ और पंचास्तिकाय गाथा १३२; इत्यादि।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य गृद्धपिच्छ आ० कुन्दकुन्द (लगभग प्रथम शती) के पश्चात् हुए हैं।

(३) मूलाचार—षट्खण्डागम व पंचास्तिकाय आदि के समान मूलाचार का भी प्रभाव तत्त्वार्थसूत्र पर अधिक दिखता है। यथा—

क—त०सू० में जीवादि तत्त्वों के अधिगम के उपायभूत प्रमाण और नय के उल्लेख (१-६) के पश्चात् निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है।[2] तत्त्वार्थसूत्र का यह कथन मूलाचार की इस गाथा पर आधारित है—

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहि अणिओगद्दारे सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥—गा० ८-१५

इस गाथा में प्रश्न के रूप में जिन निर्देश-स्वामित्व आदि को अभिव्यक्त किया गया है, उन्हीं का उल्लेख त०सू० में स्पष्ट शब्दों द्वारा कर दिया गया है।

यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि उपर्युक्त गाथा जीवसमास में भी गाथांक ४ के रूप में उपलब्ध होती है। सम्भव है मूलाचार में उसे जीवसमास से ही आत्मसात् किया गया हो। कारण यह है कि जीवसमास में वह जिस प्रकार प्रसंग के अनुरूप दिखती है उस प्रकार से वह मूलाचार में प्रसंग के अनुरूप नहीं दिखती है। इसका भी कारण यह है कि वहाँ संसारानुप्रेक्षा का प्रसंग रहा है। इस गाथा से पूर्व की गाथा (८-१४) में स्पष्ट शब्दों द्वारा द्रव्य-क्षेत्रादि के भेद से चार प्रकार के संसार के जानने की प्रेरणा की गयी है। पर इस गाथा में संसार का कहीं किसी प्रकार से उल्लेख नहीं किया गया है। इससे वह संसारानुप्रेक्षा के अनुरूप नहीं दिखती।

---

१. उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।—त०सू० २,८-९; इसके पूर्व के सूत्र १-६ और १-३१ भी द्रष्टव्य हैं।

२. निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः।—त०सू० १-७

वृत्तिकार वसुनन्दी ने यद्यपि 'किं केण कस्स' आदि पदों के आश्रय से छह प्रकार के संसार को अभिव्यक्त किया है, पर वह प्रसंग को देखते हुए अस्वाभाविक-सा दिखता है। अन्त में उन्हें भी गाथा के चतुर्थ चरण (सव्वे भावाणुगंतव्वा) को लेकर यह कहना पड़ा है कि इन छह अनुयोगद्वारों के द्वारा केवल संसार का अनुगमन नहीं करना चाहिए, किन्तु सभी पदार्थों का उन के आश्रय से अनुगमन करना चाहिए। अब जरा जीवसमास को देखिए, वहाँ उसको प्रसंग के अनुरूप कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है—

जीवसमास में इससे पूर्व की गाथा (२) में निक्षेप, निरुक्ति तथा छह और आठ अनुयोगद्वारों के द्वारा गति आदि मार्गणाओं में जीवसमासों के जान लेने के लिए कहा गया है[1] और तदनुसार ही आगे वहाँ क्रम से निक्षेप, निरुक्ति तथा उक्त निर्देशादि रूप छह और सत्प्ररूपणा आदि रूप आठ अनुयोगद्वारों को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार प्रसंग के अनुसार वहाँ उस गाथा की स्थिति दृढ़ है।

ख—त०सू० के ७वें अध्याय में व्रत के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश करते हुए उनकी स्थिरता के लिए यथाक्रम से अहिंसादि पाँच व्रतों की पाँच-पाँच भावनाओं का उल्लेख किया गया है।[2]

मूलाचार के पंचाचाराधिकार में उनका उल्लेख प्रायः उसी क्रम से व उन्हीं शब्दों में किया गया है।[3] उदाहरणस्वरूप द्वितीय व्रत की भावनाओं को उक्त दोनों ग्रन्थों में देखिए—

"क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च।"—त०सू० ७-५

फोह-भय-लोह-हासपइणा अणुवीचिभासणं चेव।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥—मूला० ५-१४१

इस प्रकार यह निश्चित-सा प्रतीत होता है कि उन भावनाओं का वर्णन त०सू० में मूलाचार के आधार से ही किया गया है।

ग—त० सू० में संवर और निर्जरा के कारणों को स्पष्ट करते हुए उस प्रसंग में नवम अध्याय में बाह्य और आभ्यन्तर तप के छह-छह भेदों का निर्देश किया गया है।[4]

मूलाचार के उक्त पंचाचाराधिकार में 'तप' आचार के प्रसंग में उन दोनों तपों के भेदों का उल्लेख किया गया है।[5]

इतना विशेष है कि त०सू० में जहाँ उनके केवल नामों का ही उल्लेख किया गया है वहाँ मुख्य प्रकरण होने से मूलाचार में तप के उन भेदों के स्वरूप आदि को भी पृथक्-पृथक् स्पष्ट कर दिया गया है।[6]

---

१. णिक्खेव-णिरुत्तीहिं य छहिं अट्ठहिं अणुओगदारेहिं।
गइ आइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतव्वा ॥—जी०स०, गा० २

२. देखिए त०सू० ७,४-८

३. मूलाचार, ५,१४०-४४

४. त०सू०, ९,१९-२०

५. मूलाचार, ५-१४९ व ५-१६३

६. मलाचार, बाह्य तप ५,१४९-६२ (अभ्यन्तर तप का विशेष विस्तार वहाँ पर नहीं किया गया है।)

इस प्रसंग में दोनों ग्रन्थगत इन अन्य प्रसंगों को भी देखा जा सकता है—

	विषय	त० सू०	मूलाचार
१.	विनय के भेद	६-२३	५-१६७
२.	वैयावृत्त्य	६-२४	५-१६२
३.	स्वाध्याय	६-२५	५-१६६
४.	व्युत्सर्ग	६-२६	५-२०६

(व्युत्सर्ग और ध्यान में दोनों ग्रन्थों में क्रमव्यत्यय हुआ है)

५.	ध्यानभेद आदि	६,२८-४४	५,१६७-२०८

अन्य प्रसंग भी देखिए—

(१) "मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।"—त०सू० ८-१

मिच्छादंसण-अविरदि-कसाय-जोगा हवंति बंधस्स।
आऊसज्झवसाणं हेदव्वो तेदु णायव्वा ॥—मूलाचार १२-१८२

(२) "सकसायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"—त०सू० ८-२

जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥—मूला १२-१८३

(शब्द-साम्य भी यहाँ द्रष्टव्य है)

तत्त्वार्थसूत्र (८वाँ अध्याय) के अन्तर्गत कर्म का यह प्रसंग भी अन्य कार्मिक ग्रन्थ पर आधारित न होकर प्रायः इस मूलाचार पर आधारित रहा दिखता है।[1]

दोनों ग्रन्थगत और भी शब्दार्थ-सादृश्य देखिए—

"मोहक्षयात् ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।"—त०सू० १०-१

मोहस्सावरणाणं खयेण अह अंतरायस्स य एव।
उप्पज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं ॥—मूला० १२-२०५

इस स्थिति को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रहता कि तत्त्वार्थसूत्र पर मूलाचार का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। यद्यपि उसके रचयिता और रचनाकाल के विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है, फिर भी उसकी विषयवस्तु और उसके विवेचन की क्रमवद्ध अतिशय व्यवस्थित पद्धति को देखते हुए वह एक साध्वाचार का प्ररूपक प्राचीन ग्रन्थ ही प्रतीत होता है।

उसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों में उसके कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित होने का संकेत मिलता है तथा उसकी वसुनन्दी-विरचित वृत्ति की अन्तिम पुष्पिका में यह सूचना भी की गयी है—

"इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत मूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।"

इससे कुछ विद्वानों का यह मत वन गया है कि वह कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा रचा गया है। उनका कहना है कि प्रतियों में उसके रचयिता के रूप में जिन 'वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य और वट्टकेरकाचार्य' नामों का उल्लेख किया गया है, वे नाम कहीं गुर्वावलियों व पट्टावलियों आदि

---

१. मूलाचार के १२वें 'पर्याप्ति' अधिकार में जिस क्रम से व जिस रूप में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशवन्ध की प्ररूपणा की गयी है, त०सू० के ८वें अध्याय में उसी क्रम से व उसी रूप में उन चारों वन्धों की प्ररूपणा की गयी है, जिसमें शब्दसाम्य भी अधिक रहा है।

में नहीं पाये जाते हैं।[1]

किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द और वट्टकेराचार्य ये दो भिन्न ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि कुन्दकुन्द-विरचित ग्रन्थगत कुछ गाथाएं मूलाचार में प्रायः उसी रूप में उपलब्ध होती हैं,[2] पर दोनों की विवेचन-पद्धति में भिन्नता देखी जाती है। उदाहरणस्वरूप द्वादशानुप्रेक्षाओं को ले लीजिए—

(१) संसारानुप्रेक्षा के प्रसंग में आ० कुन्दकुन्द ने संसार को पांच प्रकार का बतलाकर आगे द्रव्यादि पांच परिवर्तनों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।[3]

पर मूलाचार में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ही संसार का निर्देश किया गया है तथा वहां किसी भी परिवर्तन के स्वरूप को नहीं दिखलाया गया है।

इसी प्रसंग में मूलाचार में 'किं केण कस्स कत्थ वि' आदि गाथा का (देखिए पीछे पृ० ६६२-६३) उपयोग किया गया है जो सम्भवतः कुन्दकुन्दाचार्य के समक्ष ही नहीं रही।[4]

(२) सातवीं अनुप्रेक्षा के प्रसंग में कुन्दकुन्द ने शरीर की अशुचिता को दिखलाया है, पर मूलाचार में वहां प्रायः अशुभरूपता को प्रकट किया है।[5]

(३) आस्रवानुप्रेक्षा के प्रसंग में आ० कुन्दकुन्द ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगों को आस्रव बतलाकर उनके भेद का निर्देश करते हुए उन सबके स्वरूप को स्पष्ट भी किया है।[6]

परन्तु मूलाचार में राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियां, संज्ञाएं, गारव, कषाय, मन, वचन और काय इनको कर्म के आस्रव बतलाकर उसी क्रम से उनमें से प्रत्येक को (योगों को छोड़कर) विशद भी किया है।[7]

मूलाचार में यहां यह विशेषता रही है कि आ० कुन्दकुन्द ने जिन मिथ्यात्वादि का उल्लेख आस्रव के प्रसंग में किया है, उनका उल्लेख वहां संवर के प्रसंग में किया गया है (गा० ५२)।

(४) निर्जरानुप्रेक्षा के प्रसंग में आ० कुन्दकुन्द ने निर्जरा के स्वकालपक्व (सविपाक) और तप से क्रियमाण (अविपाक) इन दो भेदों का निर्देश किया है, पर मूलाचार में तप की प्रमुखता से उसके देशनिर्जरा और सर्वनिर्जरा ये दो भेद निर्दिष्ट किए गये हैं।[8]

(५) धर्मानुप्रेक्षा के प्रसंग में आ० कुन्दकुन्द ने सम्यक्त्वपूर्वक ग्यारह प्रकार के सागारधर्म

---

१. 'पुरातन-जैन वाक्य-सूची' की प्रस्तावना, पृ० १८-१९

२. उदाहरण के रूप में कुन्दकुन्द-विरचित द्वादशानुप्रेक्षा की १,२,१४,२२ और २३ ये गाथाएँ मूलाचारगत 'द्वादशानुप्रेक्षा' में क्रम से १, २, ९, ११ और १२ गाथांकों में देखी जा सकती हैं।

३. देखिए गाथा २४-३८

४. मूला० गा० ८, १३-२०

५. कुन्द० गा० ४३-४६ तथा मूलाचार गाथा ३०-३६। यहाँ यह स्मरणीय है कि मूलाचार गा० २ में अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश करते हुए प्रकृत अनुप्रेक्षा का उल्लेख 'अशुचित्त' के रूप में किया है, पर यथाप्रसंग उसके स्पष्टीकरण में 'असुह' शब्द का उपयोग किया है। 'असुह' शब्द से अशुभ और असुख दोनों का ग्रहण सम्भव है। गाथा ३४ में 'सरीर-मसुभं' व गा० ३५ 'कलेवरं असुइं' भी कहा गया है।

६. गा० ४७-६०

७. गा० ३७-४७

८. कुन्दकुन्द गा० ६७ व मूलाचार गा० ५४

का निर्देश करते हुए उत्तमक्षमादिरूप दस प्रकार के धर्म को विशद किया है तथा अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो सागारधर्म को छोड़कर मुनिधर्म में प्रवृत्त होता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है, इस प्रकार सदा चिन्तन करना चाहिए।[1]

मूलाचार में इस धर्मानुप्रेक्षा के प्रसंग में क्षमा आदि दस धर्मों का निर्देश मात्र किया गया है। सागारधर्म का वहाँ कुछ भी उल्लेख नहीं है।[2]

एक विशेषता यहाँ यह भी रही है कि आ० कुन्दकुन्द ने अपनी पद्धति के अनुसार यहाँ भी निश्चय नय को प्रधानता दी है। जैसे—

(१) संसारानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए वे गा० ३७ में कहते हैं कि कर्म के निमित्त से जीव संसार-परिभ्रमण करता है। निश्चय नय से कर्म से निर्मुक्त जीव के संसार नहीं है।

(२) आस्रवानुप्रेक्षा के प्रसंग में उन्होंने गा० ६० में कहा है कि निश्चयनय से जीव के पूर्वोक्त आस्रवभेद नहीं है।

(३) जैसा कि पूर्व में भी कहा जा चुका है, धर्मानुप्रेक्षा के प्रसंग में आ० कुन्दकुन्द ने कहा है कि निश्चय से जीव सागार-अनगार धर्म से भिन्न है, इसलिए मध्यस्थ भावना से सदा शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए (गा० ८२)।

(४) प्रसंग का उपसंहार करते हुए उन्होंने अन्त में भी यह स्पष्ट कर दिया है—इस प्रकार से कुन्दकुन्द मुनीन्द्र ने निश्चय और व्यवहार के आश्रय से जो कहा है, उसका जो शुद्ध मन से चिन्तन करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है (९१)।

इसके पूर्व गाथा ४२ में कुन्दकुन्द ने यह भी कहा है कि जीव अशुभ उपयोग से नारक व तिर्यंच अवस्था को, शुभ उपयोग से देवों व मनुष्यों के सुख को और शुद्ध उपयोग से सिद्धि को प्राप्त करता है। आगे (गा० ६३-६५ में) उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि शुभ उपयोग की प्रवृत्ति अशुभ योग का संवरण करती है, पर शुभ योग का निरोध शुद्ध उपयोग से सम्भव है। धर्म और शुक्ल ध्यान शुद्ध उपयोग से होते हैं। वस्तुतः जीव के संवर नहीं है; इस प्रकार सदा संवरभाव से रहित आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

यह पद्धति मूलाचार में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस प्रकार दोनों नयों के आश्रय से वस्तु-तत्त्व का विचार करते हुए आ० कुन्दकुन्द ने प्रधानता निश्चयनय को दी है व तदनुसार ही तत्त्व को उपादेय कहा है। नयों की यह विवक्षा मूलाचार में दृष्टिगोचर नहीं होती।

इससे सिद्ध है कि मूलाचार के कर्ता आ० कुन्दकुन्द से भिन्न हैं, दोनों एक नहीं हो सकते। यह अवश्य प्रतीत होता है कि मूलाचार के रचयिता ने यथाप्रसंग आवश्यकतानुसार आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अथवा परम्परागत रूप में कुछ गाथाओं को अपने इस ग्रन्थ में आत्मसात् किया है तथा अनेक गाथाओं में उन्होंने कुन्दकुन्द-विरचित गाथाओं के अन्तर्गत शब्दविन्यास को भी अपनाया है। जैसे—संसारभावनाएँ कुन्द० गा० २४ व मूला० गा० १३ आदि। इससे सम्भावना यह की जाती है कि वे कुन्दकुन्द के पश्चात् हुए हैं। पर सम्भवतः वे उनके १००-२०० वर्ष बाद ही हुए हैं, अधिक समय के बाद नहीं।

---

१. गा० ६८-८२

२. मूलाचार, गा० ६०-६४

इसका कारण यह है कि मूलाचार में निश्चित अधिकारों के अनुसार विवक्षित विषय का—विशेषकर साध्वाचार का—विवेचन सुसम्बद्ध व अतिशय व्यवस्थित रूप में किया गया है। वहाँ प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा के लिए कुछ अवान्तर अधिकारों का निर्देश किया गया है और तत्पश्चात् उसी क्रम से उसकी प्ररूपणा की गई है।

सम्भवतः मूलाचार के रचयिता की इस विषय-विवेचन की पद्धति को तिलोयपण्णत्तिकार ने भी अपनाया है।[1] तिलोयपण्णत्ती के कर्ता मूलाचार के कर्ता के पश्चात् हुए हैं, यह उन्हीं के इस निर्देश से सुनिश्चित है—

> पलिदोवमाणि पंचय-सत्तारस-पंचवीस-पणतीसं।
> चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इंददेवीणं॥
> आरणदुगपरियंतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
> मूलायारे इरिया एवं णिउणं णिरूवेंति॥—ति० प० ८,५३१-३२

यहाँ देवियों के उत्कृष्ट आयुविषयक जिस मतभेद का उल्लेख मूलाचार के कर्ता के नाम से किया गया है वह मत मूलाचार में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

> पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
> चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ॥—मूला० १२-८०

इससे सिद्ध है कि मूलाचार के रचयिता तिलोयपण्णत्ती के कर्ता यतिवृषभाचार्य (लगभग ५वीं शती) से पूर्व में हुए हैं। उनसे वे कितने पूर्व हुए हैं, यह निश्चित तो नहीं कहा जा सकता है, पर वे आ० कुन्दकुन्द (प्रायः प्रथम शती) के पश्चात् और यतिवृषभ से पूर्व सम्भवतः दूसरी-तीसरी शताब्दी के आसपास हुए होंगे।

मूलाचार में यद्यपि ऐसी अनेक गाथाएँ उपलब्ध होती हैं जो दशवैकालिक तथा आचारांग-निर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति एवं पिण्डनिर्युक्ति[2] आदि में उसी रूप में या कुछ परिवर्तित रूप में उपलब्ध होती हैं, पर उन्हें कहाँ से किसने लिया, इस विषय में कुछ निर्धारण करना युक्ति-संगत नहीं होगा। इसका कारण यह है कि श्रुतकेवलियों के पश्चात् ऐसी सैकड़ों गाथाएँ कण्ठगत रूप में आचार्य-परम्परा से प्रवाह के रूप में उत्तरकालीन ग्रन्थकारों को प्राप्त हुई हैं व उत्तरकालवर्ती ग्रन्थकारों ने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उन्हें उसी रूप में या कुछ परिवर्तित रूप में अपने-अपने ग्रन्थों में आत्मसात् किया है।

इस प्रकार मूलाचार की प्राचीनता में कुछ बाधा नहीं दिखती। और तत्त्वार्थसूत्र पर चूँकि मूलाचार का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्ध-पिच्छाचार्य वट्टकेराचार्य के पश्चात् ही हो सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादाचार्य (अपर-नाम देवनन्दी) ने सर्वार्थसिद्धि नाम की वृत्ति लिखी है। पूज्यपाद का समय प्रायः विक्रम की

---

१. तिलोयपण्णत्ती में भी प्रत्येक महाधिकार के प्रारम्भ में अनेक अवान्तर अधिकारों का निर्देश करके, तदनुसार ही आगे वहाँ यथाक्रम से प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा की गयी है।

२. इसके लिए 'अनेकान्त' वर्ष २१, किरण (पृ० १५५-६१) में शुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

पाँचवीं-छठी शताब्दी है। अतएव गृद्धपिच्छाचार्य का इसके पूर्व होना निश्चित है। इसके पूर्व वे कब हो सकते हैं, इसका ठीक निर्णय तो नहीं किया जा सकता है, पर सम्भावना उनके तीसरी शताब्दी के आसपास होने की है।

६. गुणधर भट्टारक

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि कसायपाहुड के अवसर-प्राप्त उल्लेख के प्रसंग में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि वर्धमान जिनेन्द्र ने जिस अर्थ (अनुभागसंक्रम) की प्ररूपणा गौतम स्थविर के लिए की थी, वह आचार्यपरम्परा से आकर गुणधर भट्टारक को भी प्राप्त हुआ। उनके पास से वही अर्थ आचार्यपरम्परा से आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती भट्टारक को प्राप्त हुआ। उसका व्याख्यान उन दोनों ने क्रम से यतिवृषभ भट्टारक को किया व उन्होंने भी उसे शिष्यों के अनुग्रहार्थ चूर्णिसूत्र में लिखा।[1]

आचार्य गुणधर ने कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना को प्रारम्भ करते हुए यह स्वयं स्पष्ट किया—कि पाँचवें पूर्व के भीतर 'वस्तु' नाम के जो बारह अधिकार हैं, उनमें दसवें वस्तु अधिकार के अन्तर्गत बीस प्राभृतों में तीसरा 'प्रेयःप्राभृत' है। उसका नाम कषायप्राभृत है। मैं उसका व्याख्यान एक सौ अस्सी (१८०) गाथासूत्रों में पन्द्रह अधिकारों के द्वारा करूँगा। उनमें जो गाथाएँ जिस अर्थाधिकार से सम्बद्ध हैं, उनको कहता हूँ।[2]

इस अभिप्राय को व्यक्त करते हुए उन्होंने आगे उन गाथासूत्रों को विवक्षित अर्थाधिकारों में विभाजित भी किया है। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व के अन्तर्गत 'प्रेयोद्वेषप्राभृत' अपरनाम 'कषायप्राभृत' के पारंगत रहे हैं।[3]

उनके द्वारा विरचित यह गाथासूत्रात्मक कषायप्राभृत गम्भीर अर्थ से गर्भित होने के कारण अतिशय दुर्बोध है, चूर्णिसूत्र और जयधवला टीका के बिना मूल गाथासूत्र के रहस्य को समझ सकना कठिन है। यही कारण है जो मूल ग्रन्थकर्ता ने कहीं-कहीं दुरूह गाथासूत्रों को स्पष्ट करने के लिए स्वयं कुछ भाष्यगाथाओं को भी रचा है। ऐसी भाष्यगाथाओं की संख्या तिरेपन (५३) है। इस प्रकार ग्रन्थगत समस्त गाथाओं की संख्या दो सौ तेतीस (१८०+५३=२३३) है।

किन्हीं व्याख्यानाचार्यों का यह भी अभिमत है कि १८० गाथाओं के अतिरिक्त जो ५३ भाष्यगाथाएँ हैं वे स्वयं मूलग्रन्थकार गुणधराचार्य के द्वारा नहीं रची गयी हैं, उनकी रचना नागहस्ती आचार्य द्वारा की गयी है। इस प्रकार गाथा २ में जो १८० गाथाओं को १५ अर्थाधिकारों में विभाजित करने की प्रतिज्ञा की गई है, वह स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा न होकर आचार्य नागहस्ती के द्वारा की गयी है।

---

१. धवला, पु० १२, पृ० २३१-३२; लगभग यही अभिप्राय जयधवला (भाग १, पृ० ८८ व भाग ५, पृ० ३८८) में भी प्रकट किया गया है।

२. पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥
गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥—क०पा० १-२

३. देखिए आगे गाथा, ३-१६

इस आशय का एक शंका-समाधान जयधवला में भी इस प्रकार उपलब्ध होता है—

"असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेस-संबंधद्धा परिमाणणिद्देस-संकमणगाहाओ जेण णाग-हत्थि-आइरिय-कयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' इदि भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति तण्ण घडदे, संबंधगाहाहि अद्धापरिमाणणिद्देसगाहाहि संकमणगाहाहि य विणा असीदिसदगाहाओ चेव भणंतस्स गुणहरभडारयस्स अयाणप्पसंगादो। तम्हा पुव्वुत्तत्थो चेव घेत्तव्वो।"—भाग १, पृ० १८३

विचार करने पर व्याख्यानाचार्यों का उक्त कथन संगत ही प्रतीत होता है। कारण यह कि जो ग्रन्थकार अपेक्षित ग्रन्थ की रचना को प्रारम्भ करता है वह ग्रन्थ-रचना के पूर्व ही उसमें आवश्यकतानुसार रची जाने वाली गाथाओं की संख्या को निर्धारित करके व उन्हें अधिकारों में भी विभाजित करके दिखा दे, यह कुछ कठिन ही प्रतीत होता है।

गुणधर का समय आदि

परम्परागत अंगश्रुत के एकदेश के धारक व वर्तमान श्रुत के प्रतिष्ठापक आचार्य गुणधर के जन्म-स्थान, माता-पिता व गुरु आदि के विषय में कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है। वे महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के पारंगत आचार्य धरसेन से पूर्व हुए हैं या पश्चात्, यह भी ज्ञात नहीं है। श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दी ने भी इस विषय में अपनी अजानकारी प्रकट की है।[1]

वेदनाखण्ड के अवतार को प्रकट करते हुए धवला में ग्रन्थकर्ता के प्रसंग में कहा गया है कि लोहाचार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर आचारांग लुप्त हो गया। इस प्रकार भरत क्षेत्र में बारह अंगों के लुप्त हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्जदोसप्राभृत और महा-कर्मप्रकृतिप्राभृत आदि के धारक रह गये।[2]

'पेज्जदोस' कषायप्राभृत का नामान्तर है। आ० गुणधर इस कषायप्राभृत के पारंगत रहे हैं, यह धवलाकार के उक्त कथन से स्पष्ट है। पर वे महाकर्मप्रकृति के धारक आचार्य धरसेन से पूर्व हुए हैं या पश्चात्, यह उससे स्पष्ट नहीं होता।

इतना होते हुए भी पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री और उन्हीं के मत का अनुसरण करते हुए डॉ० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य ने भी गुणधर के धरसेन से लगभग २०० वर्ष पूर्व होने की कल्पना की है।[3] उनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) गुणधर को 'पेज्जदोसपाहुड' के अतिरिक्त महाकम्मपयडिपाहुड का भी ज्ञान था, जबकि धरसेन केवल महाकम्मपयडिपाहुड के वेत्ता रहे हैं। इस प्रकार धरसेन की अपेक्षा गुणधर विशिष्ट ज्ञानी रहे हैं। इसका कारण यह है कि कसायपाहुड में महाकम्मपयडिपाहुड से सम्बद्ध बन्ध, संक्रमण और उदय-उदीरणा जैसे अधिकार हैं जो महाकम्मपयडिपाहुड के अन्तर्गत २४ अनुयोगद्वारों में क्रम से छठे (बन्धन), बारहवें (संक्रम) और दसवें (उदय) अनु-योगद्वार हैं। २४वाँ अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार भी कसायपाहुड के सभी अधिकारों में व्याप्त है।

---

१. इ० श्रुतावतार, श्लोक १५१

२. धवला, पु० ९, पृ० १३३

३. क०पा० सुत्त की प्रस्तावना, पृ० ५ व आगे पृ० ५७-५८ तथा 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा', भाग २, पृ० २८-३०

(२) धरसेन ने किसी ग्रन्थ का उपसंहार नहीं किया है, जबकि गुणधर ने प्रस्तुत ग्रन्थ में 'पेज्जदोस' का उपसंहार किया है। इस प्रकार आ० धरसेन जहाँ वाचकप्रवर सिद्ध होते हैं, वहाँ गुणधराचार्य सूत्रकार के रूप में सामने आते हैं।

(३) आ० गुणधर की यह रचना षट्खण्डागम, कम्मपयडी, शतक और सित्तरी इन ग्रन्थों की अपेक्षा अतिसंक्षिप्त, असंदिग्ध, बीजपदयुक्त, गहन और सारवान् पदों से निर्मित है।

(४) आ० अर्हद्बली (वी०नि० ६६५ या वि०संवत् ९५) के द्वारा स्थापित संघों में एक गुणधर नाम का भी संघ है, जिसे आ० गुणधर के नाम पर स्थापित किया गया है। इससे आ० गुणधर का समय आ० अर्हद्बली से पूर्व सिद्ध होता है। इस प्रकार उनका समय विक्रम-पूर्व एक शताब्दी सिद्ध होता है।

यहाँ उपर्युक्त युक्तियों पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा, इससे उन पर कुछ विचार किया जाता है—

(१) आ० धरसेन 'महाकम्मपयडिपाहुड' के साथ 'पेज्जदोसपाहुड' के भी वेत्ता हो सकते हैं। जैसाकि पाठक ऊपर देख चुके हैं, धवलाकार ने इस प्रसंग में यह स्पष्ट कहा है कि भरत क्षेत्र में बारह दिनकरों (अंगों) के अस्तंगत हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेश-भूत 'पेज्जदोस' और 'महाकम्मपयडिपाहुड' के धारक रह गये। इस प्रकार प्रमाणीभूत महर्षि रूप प्रणाली से आकर महाकम्मपयडिपाहुड रूप अमृत-जल का प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ।[1]

इस परिस्थिति में आचार्य धरसेन को गुणधराचार्य की अपेक्षा अल्पज्ञानी और गुणधर को विशिष्ट ज्ञानी कहना कुछ युक्तिसंगत नहीं दिखता। सम्भव तो यही है कि ये दोनों श्रुतधर अपने-अपने विषय—पेज्जदोसपाहुड और महाकम्मपयडिपाहुड—में पूर्णतया पारंगत होकर अन्य कुछ परम्परागत श्रुत के वेत्ता भी रहे होंगे।

रही कुछ विशिष्ट बन्ध आदि अनुयोगद्वारों की बात, सो वे महाकम्मपयडिपाहुड में तो रहे ही हैं, पर वे या उनको अन्तर्गत करनेवाले उसी प्रकार के अधिकार पेज्जदोसपाहुड में सम्भव हैं—जैसे बन्धक व वेदक आदि। धवलाकार ने विविध प्रसंगों पर यह स्पष्ट भी किया है कि अमुक सूत्र या प्रकरणविशेष सूत्र में अनिर्दिष्ट अमुक-अमुक अर्थों का सूचक है।[2] पेज्जदोस-पाहुड के अन्तर्गत सूत्रगाथाएँ इसी प्रकार के अपरिमित अर्थ से गर्भित रही हैं।

इसके अतिरिक्त पेज्जदोसपाहुड के अन्तर्गत पन्द्रह अधिकारों के विषय में मूलग्रन्थकार, चूर्णिसूत्रों के कर्ता और जयधवलाकार एकमत भी नहीं हैं।[3]

यह भी यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है कि महाकम्मपयडिपाहुड के अन्तर्गत जो २४ अनु-योगद्वार रहे हैं उनमें से मूल षट्खण्डागमकार ने प्रारम्भ के कृति व वेदना आदि छह अनुयोग-द्वारों की प्ररूपणा की है, और वह भी अन्तिम वेदना आदि तीन खण्डों में की गयी है; शेष १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा सूत्रसूचित कहकर धवलाकार आ० वीरसेन ने की है।

षट्खण्डागम के जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध और बन्धस्वामित्वविचय—प्रारम्भ के इन तीन

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १३३

२. उदाहरणस्वरूप देखिए पु० ९, पृ० ३५४ व पु० १०, पृ० ४०३

३. क०पा० सुत्त प्रस्तावना पृ० ११-१२ तथा मूल में पृ० १४-१५

खण्डों में उक्त २४ अनुयोगद्वारों में से कोई भी अनुयोगद्वार नहीं है। पर, जैसा कि धवला में स्पष्ट किया गया है, उनका सम्बन्ध उक्त महाकम्मपयडिपाहुड से ही रहा है।[1]

षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से सम्बद्ध जो नौ चूलिकाएँ हैं, उनमें ८वीं 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका है। उसमें दर्शनमोह की उपशामना व क्षपणा तथा चरित्र (संयमासंयम व सकलसंयम) की प्ररूपणा की गयी है।[2] पर ये अधिकार या अनुयोगद्वार उपर्युक्त २४ अनुयोगद्वारों में नहीं रहे हैं। ये अनुयोगद्वार पेज्जदोसपाहुड के अन्तर्गत १५ अर्थाधिकारों में उपलब्ध होते हैं।[3] इस परिस्थिति में क्या यह समझा जाय कि आचार्य धरसेन व उनके शिष्य भूतबलि महाकम्मपयडिपाहुड के साथ पेज्जदोसपाहुड के भी मर्मज्ञ रहे हैं, इसलिए वे इन अधिकारों को यहाँ षट्खण्डागम में समाविष्ट कर सके हैं?

इसका तात्पर्य यही है कि आ० गुणधर और धरसेन क्रम से पेज्जदोसपाहुड और महाकम्मपयडिपाहुड में तो पूर्णतया पारंगत रहे हैं, साथ ही वे अन्य प्रकीर्णक श्रुत के भी ज्ञाता थे। इस से एक की अपेक्षा दूसरे को अल्पज्ञानी या विशिष्टज्ञानी कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

(२) यह ठीक है कि आ० गुणधर ने पेज्जदोसपाहुड का उपसंहार किया है और आ० धरसेन ने स्वयं किसी ग्रन्थ का उपसंहार नहीं किया। पर इस विषय में यह विचारणीय है कि आ० धरसेन ने जब समस्त महाकम्मपयडिपाहुड को ही अपने सुयोग्य शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों को समर्पित कर दिया, तब उनके लिए उसके उपसंहार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसका उपसंहार तो उनके शिष्य भूतबलि ने षट्खण्डागम के रूप में किया है।

इस प्रकार से सूत्रकार के रूप में तो भूतबलि सामने आते हैं।

पर सूत्रकार तो वस्तुतः न गुणधर हैं, न धरसेन हैं और न पुष्पदन्त-भूतबलि ही हैं। कारण यह कि सूत्र का जो यह लक्षण निर्दिष्ट किया गया है, तदनुसार इनमें कोई भी सूत्रकार सिद्ध नहीं होता—

> सुत्तं गणधरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
> सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च॥[4]

इस सूत्र-लक्षण को धवलाकार ने 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में आनुपूर्वियों के संख्याविषयक मतभेद के प्रसंग में उद्धृत किया है। मनुष्यानुपूर्वी प्रकृति के विकल्पों के प्ररूपक सूत्र १२० की व्याख्या के विषय में दो भिन्न मत रहे हैं। उन्हें कुछ स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि इसके विषय में उपदेश को प्राप्त करके यही व्याख्यान सत्य है, दूसरा असत्य है; इस प्रकार का निश्चय करना चाहिए। प्रसंगप्राप्त वे दोनों ही उपदेश सूत्रसिद्ध हैं, क्योंकि आगे उन दोनों ही उपदेशों के आश्रय से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

—सूत्र १२३-२७ व आगे सूत्र १२८-३२

इस पर वहाँ यह शंका उठी है कि दो विरुद्ध अर्थों का प्ररूपक सूत्र कैसे हो सकता है।

---

१. धवला, पु० १, पृ० १२४-३० व प्रस्तावना ७२-७४ की तालिकाएं।
२. ष०ख० सूत्र १,९-८, १-१६ (पु० ६)
३. क०पा० गाथा ५-६
४. धवला, पु० १३, पृ० ३८१-८२

इसके उत्तर में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि सचमुच में सूत्र वही हो सकता है जो अविरुद्ध अर्थ का प्ररूपक हो। किन्तु यह सूत्र नहीं है। जो सूत्र के समान होता है वह भी सूत्र है, इस प्रकार उपचार से उसे सूत्र माना गया है। इसी प्रसंग में वहाँ उपर्युक्त गाथा को उद्धृत करते हुए यह भी कहा गया है कि भूतवलि भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी हैं; जिससे उसे सूत्र कहा जा सके। इस प्रकार से अप्रमाण का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका निराकरण करते हुए आगे धवलाकार ने कहा है कि यथार्थतः उसके सूत्र न होने पर भी राग, द्वेष और मोह का अभाव होने से प्रमाणीभूत परम्परा से आने के कारण उसे अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता है।[1]

इससे सिद्ध है कि कषायप्राभृत और षट्खण्डागम, जिन्हें सूत्रग्रन्थ माना जाता है, यथार्थ में सूत्र नहीं है, फिर भी राग, द्वेष और मोह से रहित महर्षियों की अविच्छिन्न परम्परा से आने वाले अर्थ के प्ररूपक होने के कारण उन्हें भी उपचार से सूत्रग्रन्थ मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

धवला में अनेक प्रसंगों पर पुष्पदन्त और भूतवलि का उल्लेख सूत्रकार के रूप में किया गया है। यथा—

(१) इदि णायमाइरियपरंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियाणुसरणं तिरयणहेउत्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह—पु० १, पृ० ८

(२) एवं पृष्ठवतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसुत्तमाह।—पु० १, पृ० १३२

(३) आइरियकहियं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण, तित्थयरकहियत्थाणं गणहरदेवकयगंथरयणाणं वारहंगाणं आइरियपरम्पराए णिरंतरमागयाणं जुगसहावेण ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठुबुद्धीणं खयंदट्ठूण तित्थवोच्छेदभएण वज्जभीरूहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चढावियाणं असुत्तत्तणविरोहादो।

—पु० १, पृ० २२१

(४) संपहि चोद्सण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडिवोहणट्ठं भूदवलियारियो सुत्तमाह।—पु० ३, पृ० १

(५) चोद्दससु अणियोगद्दारेसु······सुत्तकारेण किमट्ठं परूवणा ण कदा? ण ताव अजाणंतेण ण कदा, चउवीसअणियोगद्दारसरूव महाकम्मपयडिपाहुड पारयस्स, भूदवलिभयवंतस्स तदपरिण्णाणविरोहादो······।—पु० १४, पृ० १३४-३५

(६) संपहि इमाओ पंचण्हं सरीराणं गेज्झाओ इमाओ च अगेज्झाओ त्ति जाणावेंतो भूदवलिभडारओ उत्तरसुत्तकलावं परूवेदि।—पु० १४, पृ० ५४१

ऐसे प्रचुर उदाहरण यहाँ धवला से दिए जा सकते हैं, जिनसे आ० पुष्पदन्त और भूतवलि सूत्रकार तथा उनके द्वारा विरचित षट्खण्डागम सूत्रग्रन्थ सिद्ध होता है।

इस परिस्थिति में आ० गुणधर को सूत्रकार और आ० धरसेन को केवल वाचकप्रवर कहना उचित नहीं दिखता, जबकि धरसेनाचार्य के शिष्य आ० पुष्पदन्त और भूतवलि भी सूत्रकार के रूप में प्रख्यात हैं। इस प्रकार गुणधर के समान धरसेन को भी श्रुत के महान् प्रतिष्ठापक समझना चाहिए।

---

१. धवला, पु० १३, पृ० ३८१-८२

(३) गुणधराचार्य की रचना कसायपाहुड निश्चित ही षट्खण्डागम आदि अन्य कर्मग्रन्थों से संक्षिप्त और गहन है, इसमें विवाद नहीं है। किन्तु कसायपाहुड बीजपदों से युक्त है और षट्खण्डागम बीजपदों से युक्त नहीं है, यह कहना उचित नहीं दिखता। यथार्थ में बीजपदों से युक्त न पट्खण्डागम है और न ही कसायपाहुड। कारण यह कि जो शब्दरचना में संक्षिप्त पर अनन्त अर्थ के बोधक अनेक लिंगों से संगत हो, वह बीजपद कहलाता है।

ऐसे बीजपदों से युक्त तो द्वादशांगश्रुत ही सम्भव है, जिसके प्ररूपक तीर्थंकरों को अर्थकर्ता कहा गया है। उन बीजपदों में अन्तर्हित अर्थ के प्ररूपक उन बारह अंगों के प्रणेता गणधर बीजपदों के व्याख्याता होते हैं, कर्ता वे भी नहीं होते।[1]

इस प्रकार की आगमव्यवस्था के होने पर कसायपाहुड को बीजपदयुक्त नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः कसायपाहुड और पट्खण्डागम को तो सूत्र भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तीर्थंकर के मुख से निकले हुए बीजपद को ही सूत्र कहा जाता है।[2] तदनुसार तो गणधर भी सूत्रकार नहीं हैं, वे केवल सूत्र के व्याख्याता हैं। यह ऊपर के ही कथन से स्पष्ट हो जाता है।

इस विवेचन का अभिप्राय यह न समझिए कि मैं कसायपाहुड को षट्खण्डागम से पश्चात्-कालीन सिद्ध करना चाहता हूँ। यथार्थ में कसायपाहुड की भाषा, शब्दसौष्ठव और अर्थ-गम्भीरता को देखते हुए वह कदाचित् पट्खण्डागम से पूर्ववर्ती हो सकता है, पर कितने पूर्व का है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

(४) अर्हद्वली के द्वारा नन्दी, वीर, सेन और भद्र आदि जिन संघों की स्थापना की गयी है उनमें एक 'गुणधरसंघ' भी है। पर उसकी स्थापना श्रुत के महान् प्रतिष्ठापक उन गुणधर आचार्य के नाम पर की गयी है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसके लिए कुछ प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। उसे प्रतिष्ठित करते हुए इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में यह कहा गया है कि जो यतिजन शाल्मलि वृक्ष के नीचे से आये थे, उनमें से कुछ को 'गुणधर' और कुछ को 'गुप्त' के नाम से योजित किया।[3]

आगे इस श्रुतावतार में 'उक्तं च' यह कहकर एक श्लोक (९६) को उद्धृत करते हुए उसके द्वारा उन विविध संघों की स्थापना की पुष्टि की गयी है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि अर्हद्वली के द्वारा उन संघों की स्थापना स्थानविशेष से और वृक्षविशेष के नीचे से आने की प्रमुखता से की गयी है, किसी श्रुतधर या आचार्यविशेष के नाम पर या उनका अनुसरण करने के कारण नहीं की गयी है। यह भी विचारणीय है कि एक ही स्थान से आने वालों को पृथक्-पृथक् दो-दो संघों में क्यों विभक्त किया गया।

---

१. संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगमं बीजपदं णाम। तेसिमणेयाणं वीज-पदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारस-सत्तसयभास-कुभासरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारो णाम, वीजपदणिलीणत्थपरूवयाणं दुवालसंगाण कारओ गणहरभडारओ गंथकत्तारोत्ति अब्भुव-गमादो। वीजपदाणं वक्खाणओ त्ति वुत्तं होदि।—धवला, पु० ९, पृ० १२७

२. ······इदि वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गयवीजपदं सुत्तं णाम।

—धवला, पु० ९, पृ० २५९

३. इ० श्रुतावतार ८५-९५

आगे इसी श्रुतावतार में दूसरे किन्हीं के मत को प्रकट करते हुए यह भी स्पष्ट किया गया है—अन्य कोई कहते हैं कि जो महात्मा गुफा से आये थे उन्हें 'नन्दी', अशोकवन से आनेवाले को 'देव', पंचस्तूप से आनेवालों को 'सेन', शाल्मली वृक्ष के मूल में रहने वालों को 'वीर' और खण्डकेसर वृक्ष के मूल में रहने वालों को 'भद्र' कहा गया है। इस प्रकार इस मत के अनुसार किसी एक स्थान से आने वालों या वहाँ रहने वालों को किसी एक संघ में प्रतिष्ठित किया गया है, न कि पूर्व मत के अनुसार उन्हें दो-दो संघों में विभक्त किया गया है।[1]

इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार 'गुणधर' नाम से किसी भी संघ को प्रतिष्ठापित नहीं किया गया है। यहाँ तो यह कहा गया है कि खण्डकेसरवृक्ष के मूल में रहनेवाले 'वीर' नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे दो श्लोक (९९-१००) और भी इस प्रसंग से सम्बन्धित यहाँ प्राप्त होते हैं, पर उनमें उपयुक्त पदों का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठ रहा, इससे ग्रन्थकार क्या कहना चाहते हैं; यह स्पष्ट नहीं होता।

इस सब स्थिति को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि आ० अर्हद्बली ने 'गुणधर' संघ की स्थापना 'गुणधर' आचार्य के नाम पर की है। इससे आचार्य गुणधर को आचार्य अर्हद्बली से पूर्व का कहना कुछ प्रामाणिक नहीं दिखता।

इन्द्रनन्दी के द्वारा प्ररूपित उपर्युक्त संघस्थापन की प्रक्रिया को देखते हुए उसे विश्वसनीय भी नहीं माना जा सकता है।

यह भी यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्राकृत पट्टावली के आधार से आ० अर्हद्बली का समय वीर नि० सं० ५६५ या विक्रम सं० ९५ निर्धारित किया गया है, उस पट्टावली में अर्हद्बली के नाम के आगे माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन आचार्यों के नामों का उल्लेख होने पर भी उन गुणधर आचार्य का उल्लेख न तो अर्हद्बली के पूर्ववर्ती आचार्यों में किया गया है और न उनके पश्चाद्वर्ती आचार्यों में ही कहीं किया गया है, जब कि उसमें धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का उल्लेख एक अंग के धारकों में किया गया है।[2] आचार्य-परम्परागत विशिष्ट श्रुत के धारक और कसायपाहुड जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तग्रन्थ के रचयिता उन गुणधर आचार्य का उल्लेख उस पट्टावली में न किया जाय, यह आश्चर्यजनक है। कारण इसका क्या हो सकता है, यह विचारणीय है।

इस प्रकार आ० अर्हद्बली के द्वारा स्थापित उपर्युक्त संघों के अन्तर्गत 'गुणधर' संघ की स्थापना आ० गुणधर के नाम पर की गयी है, ऐसा मानकर उनको अर्हद्बली से पूर्ववर्ती मानना काल्पनिक ही कहा जा सकता है, प्रामाणिकता उसमें कुछ नहीं है।

७. गौतमस्वामी

धवलाकार ने इनका उल्लेख ग्रन्थकर्ता के प्रसंग में द्रव्यश्रुत के कर्ता व अनुतन्त्रकर्ता के रूप में किया है।[3] वे अर्थकर्ता भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र के ग्यारह गणधरों प्रमुख रहे हैं। उनका यथार्थ नाम इन्द्रभूति था, गोत्र उनका 'गौतम' रहा है। इस गोत्र के नाम पर वे

---

१. इ० श्रुतावतार ९७-९८

२. यह नन्दि-आम्नाय की प्राकृत पट्टावली 'जैनसिद्धान्त भास्कर', भाग १ (सन् १९१३) में अथवा ष०खं० पु० १ की प्रस्तावना पृ० २४-२७ में देखी जा सकती है।

३. देखिए धवला, पु० १, पृ० ६४-६५ व ७२ तथा पु० ९, पृ० १२९-३०

'गौतम' के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं। जन्मतः वे ब्राह्मण रहे हैं। धवलाकार ने ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा के प्रसंग में उनका परिचय इस प्रकार दिया है—

महावीर जिनेन्द्र के द्वारा की गयी तीर्थोत्पत्ति के प्रसंग में धवला में निर्दिष्ट तीस वर्ष प्रमाण केवलीकाल में ६६ दिनों के कम करने पर धवला में यह शंका की गयी है कि केवलि-काल में से इन ६६ दिनों को क्यों कम किया जा रहा है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी इतने दिन तीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई, इसलिए उसमें से इतने दिन कम किये गये हैं। इस प्रसंग में आगे का कुछ शंका-समाधान इस प्रकार है—

शंका—केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी दिव्यध्वनि क्यों नहीं प्रवृत्त हुई?

समाधान—गणधर के न होने से दिव्यध्वनि नहीं प्रवृत्त हुई।

शंका—सौधर्म इन्द्र ने उसी समय गणधर को लाकर क्यों नहीं उपस्थित कर दिया?

समाधान—काललब्धि के विना असहाय सौधर्म इन्द्र के गणधर को लाकर उपस्थित कर देने की शक्ति सम्भव नहीं थी।

शंका—तीर्थंकर के पादमूल में महाव्रत स्वीकार करनेवाले को छोड़कर अन्य को लक्ष्य करके दिव्यध्वनि क्यों नही प्रवृत्त होती है।

समाधान—ऐसा स्वभाव है व स्वभाव दूसरों के प्रश्न के योग्य नहीं होता, अन्यथा कुछ व्यवस्था ही नहीं वन सकती है।

सौधर्म इन्द्र गौतम गणधर को किस प्रकार लाया, इसे स्पष्ट करते हुए आगे धवला में कहा गया है कि काललब्धि की सहायता पाकर सौधर्म इन्द्र वहाँ पहुँचा, जहाँ पाँच-पाँच सौ शिष्यों सहित एवं तीन भाइयों से वेष्टित इन्द्रभूति ब्राह्मण अवस्थित था। वहाँ जाकर उसने

> **पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।**
> **अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य॥**

यह गाथा प्रस्तुत करते हुए उसका अभिप्राय पूछा। इस पर इन्द्रभूति सन्देह में पड़कर तीनों भाइयों के सहित इन्द्र के साथ होकर वर्धमान जिनेन्द्र के पास जाने को उद्यत हुआ। वहाँ जाते हुए समवसरण में प्रविष्ट होने पर मानस्तम्भ को देखकर उसका अपनी विद्वत्ताविषयक सारा मान नष्ट हो गया। तव उसकी विशुद्धि उत्तरोत्तर वढ़ती गयी। वहाँ वर्धमान जिनेन्द्र का दर्शन करने पर उसके असंख्यात भवों में उपार्जित गुरुतर कर्म नष्ट हो गये। उसने तीन प्रदक्षिणा देते हुए जिनेन्द्र की वन्दना की और अन्तःकरण से जिन का ध्यान करते हुए उनसे संयम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वढ़ती हुई विशुद्धि के वल से उसके अन्तर्मुहूर्त में ही गणधर के समस्त लक्षण प्रकट हो गये। तव गौतमगोत्रीय उस इन्द्रभूति ब्राह्मण ने जिनदेव के मुख से निकले हुए बीजपदों को अवधारित करके दृष्टिवादपर्यन्त आचारादि बारह अंगों और अंगबाह्यस्वरूप निशीथिका-पर्यन्त सामायिकादि चौदह प्रकीर्णकों की रचना कर दी। यह ग्रन्थरचना का कार्य उसके द्वारा युग के आदि स्वरूप श्रावणकृष्णा प्रतिपदा के दिन पूर्वाह्न में सम्पन्न हुआ। इस प्रकार इन्द्रभूति भट्टारक वर्धमान-जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए।[1]

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १२९-३० व इसके पूर्व पु० १, पृ० ६४-६५; गणधर के लक्षण पृ० ९, पृ० १२७-२८ में देखे जा सकते हैं।

८. धरसेन

इनके विषय में जो कुछ थोड़ा परिचय प्राप्त है उसका उल्लेख पीछे 'धरसेनाचार्य व योनि-प्राभृत' शीर्षक में किया जा चुका है।

९. नागहस्ती क्षमाश्रमण

इनका परिचय पीछे 'आर्यमंक्षु और नागहस्ती' शीर्षक में आर्यमंक्षु के साथ कराया जा चुका है।

१०. निक्षेपाचार्य

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि जो आचार्य-आम्नाय के अनुसार विवक्षित गाथासूत्रों आदि का शुद्ध उच्चारणपूर्वक व्याख्यान करते-कराते थे, उन्हें उच्चारणाचार्य कहा जाता था। इसी प्रकार जो आचार्य नाम-स्थापनादि निक्षेपों की विधि में कुशल होते थे और तदनुसार ही प्रसंग के अनुरूप वस्तुतत्त्व का व्याख्यान किया करते थे, वे 'निक्षेपाचार्य' के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। धवला में निक्षेपाचार्य का उल्लेख इन दो प्रसंगों पर किया पर किया गया है—

(१) वेदनाद्रव्यविधान-चूलिका में अन्तरप्ररूपणा के प्रसंग में एक-एक स्पर्धक के अन्तर के प्ररूपक सूत्र (१८४) की व्याख्या करते हुए धवला में यह कहा गया है—

"तत्थ दव्वट्ठियणयावलंवणाए एगवग्गस्स सरिसत्तणेण सगंतोविखत्तसरिसधणियस्स दग्ग-सण्णं काढ्ण एगोलीए फद्दयसण्णं काऊण णिक्खेवाइरिय परूविदगाहाणमत्थं भणिस्सामो।"

यह कहते हुए आगे वहाँ संदृष्टिपूर्वक पाँच (२०-२४) गाथाओं को उद्धृत कर उनके अभि-प्राय को स्पष्ट किया गया है।[1]

(२) कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में ८वें 'प्रक्रम' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा के प्रसंग में अनुभागप्रक्रम का विचार करते हुए धवला में 'एत्थ अप्पाबहुअं उच्चदे' ऐसी सूचना करके उत्कृष्ट और जघन्य वर्गणाओं में प्रक्रान्तद्रव्यविषयक अल्पबहुत्व को प्रकट किया गया है। तत्पश्चात् स्थिति में प्रक्रान्त अनुभाग के अल्पबहुत्व को स्पष्ट करते हुए अन्त में 'एसो णिक्खे-वाइरियउवएसो' यह सूचना की गयी है।[2]

११. पुष्पदन्त

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि आचार्य धरसेन को जो आचार्यपरम्परा से अंग-पूर्वश्रुत का एकदेश प्राप्त हुआ था, वह उनके बाद नष्ट न हो जाय, इस प्रवचन-वत्सलता के वश उन्होंने महिमानगरी में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा था। उससे धरसेनाचार्य के अभिप्राय को जानकर उन आचार्यों ने ग्रहण-धारण में समर्थ जिन दो सुयोग्य साधुओं को धरसेन के पास भेजा था उनमें एक पुष्पदन्त थे। इन्होंने धरसेनाचार्य के पादमूल में भूतवलि के साथ समस्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत को पढ़ा था। यह अध्ययन-अध्या-पन कार्य आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन समाप्त हुआ था।

विनयपूर्वक इस अध्ययनकार्य के समाप्त करने पर सन्तुष्ट हुए भूतों ने पुष्पदन्त के अस्त-व्यस्त दाँतों की पंक्ति को समान कर दिया था। इससे धरसेन भट्टारक ने उनका 'पुष्पदन्त' यह

---

१. धवला, पु० १०, ४५६-६२
२. धवला, पु० १५, पृ० ४०

नाम प्रसिद्ध कर दिया था। इसके पूर्व उनका क्या नाम रहा था, यह ज्ञात नहीं होता। उनका प्रामाणिक जीवनवृत्त भी उपलब्ध नहीं है।

विबुध श्रीधर-श्रुतावतार में भविष्यवाणी के रूप में उनके सम्बन्ध में एक कथानक उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है—

"इस भरत क्षेत्र के अन्तर्गत वांमि (?) देश में एक वसुन्धर नाम की नगरी होगी। वहाँ के राजा नरवाहन और रानी सुरूपा के पुत्र न होने से वे खेदखिन्न रहेंगे। तब सुबुद्धि नाम के एक सेठ उन्हें पद्मावती की पूजा करने का उपदेश देंगे। तदनुसार उसकी पूजा करने पर राजा को पुत्र की प्राप्ति होगी, उसका नाम वह 'पद्म' रक्खेगा।

राजा तब सहस्रकूट चैत्यालय को निर्मापित कराएगा और प्रतिवर्ष यात्रा करेगा। वसन्त मास में सेठ भी राजप्र[प्रा]साद से पग-पग पर पृथिवी को जिनमन्दिरों से मण्डित करेगा। इस बीच मधु मास के प्राप्त होने पर समस्त संघ वहाँ आवेगा। राजा सेठ के साथ जिनस्तवन और जिन-पूजा करके नगरी में रथ को घुमाता हुआ जिनप्रांगण में स्थापित करेगा। नरवाहन राजा मगध के अधिपति अपने मित्र को मुनि हुआ देखकर वैराग्यभावना से भावित होता हुआ सुबुद्धि सेठ के साथ जिन-दीक्षा को स्वीकार करेगा। इस बीच एक लेखवाहक आवेगा। वह जिनों को प्रणाम व मुनियों की वन्दना करके धरसेन गुरु की वन्दना के प्रतिपादनपूर्वक लेख को समर्पित करेगा। वहाँ के मुनिराज उसे लेकर वाँचेंगे—गिरिनगर के समीप गुफा में रहनेवाले धरसेन मुनीश्वर अग्रायणीय पूर्व के, जो पाँचवाँ वस्तु अधिकार है, चौथे प्राभृतशास्त्र का व्याख्यान करेंगे। धरसेन भट्टारक नरवाहन और सद्बुद्धि (सुबुद्धि) के पठन, श्रवण और चिन्तन क्रिया के करने पर आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन शास्त्र को समाप्त करेंगे। तब भूत रात में एक की बलिविधि और दूसरे के चार दाँतों को सुन्दर करेंगे। भूतों के द्वारा की गई बलि के प्रभाव से नरवाहन का नाम भूतबलि होगा और समान चार दाँतों के प्रभाव से सद्बुद्धि पुष्पदन्त नाम से मुनि होगा। धरसेन अपने मरण को निकट जानकर दोनों को क्लेश न हो, इस विचार से उन दोनों मुनियों को वहाँ से विदा करेंगे। दोनों मुनि अंकुलेसुरपुर जाकर व षडंगरचना को करके शास्त्रों में लिखावेंगे। नरवाहन संघसहित उन शास्त्रों की पूजा करेगा व 'षडंग' नाम देकर निजपालित को पुस्तक के साथ पुष्पदन्त के समीप भेजेगा। पुष्पदन्त षडंग नामक पुस्तक को दिखलाने वाले निजपालित को देखकर मन में सन्तोष करेंगे।" इत्यादि।[1]

यह कथानक काल्पनिक दिखता है, प्रामाणिकता इसमें नहीं झलकती।

ग्रन्थ के समाप्त होते ही वे (दोनों) गुरु का आदेश पाकर गिरिनगर से चले गये। उन्होंने अंकुलेश्वर पहुँचकर वर्षाकाल विताया। वर्षाकाल को वहाँ समाप्त कर पुष्पदन्त अंकुलेश्वर से वनवास देश में पहुँचे। वहाँ उन्होंने जिनपालित को दीक्षा दी व बीस सूत्रों को करके—गुण-स्थान व जीवसमासादि रूप बीस प्ररूपणाओं से सम्बद्ध एक सौ सतत्तर सूत्रों को रचकर—उन्हें जिनपालित को पढ़ाया और सूत्रों के साथ जिनपालित को भूतबलि भगवान के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास बीस प्ररूपणाविषयक उन सूत्रों को देखकर और जिनपालित से पुष्पदन्त को अल्पायु जानकर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का व्युच्छेद न हो जाय, इस अभिप्राय से द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर समस्त षट्खण्डागम की रचना की। इस प्रकार खण्डसिद्धान्त

---

१. विबुध श्रीधर-विरचित श्रुतावतार (सिद्धान्त-सारादिसंग्रह, पृ० ३१६-१८)।

की अपेक्षा पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं।

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के अनुसार धरसेनाचार्य ने अपनी मृत्यु को निकट जानकर 'इन दोनों को इससे संक्लेश न हो' यह सोचकर ग्रन्थ समाप्त होने के दूसरे दिन प्रिय व हितकर वचनों द्वारा आश्वस्त करते हुए उन्हें कुरीश्वर भेज दिया। वे दोनों ही नौ दिन में वहाँ पहुँच गये व वहाँ उन्होंने आषाढ़ मास की कृष्ण पक्ष की पंचमी के दिन योग को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार वर्षाकाल को करके वे विहार करते हुए दक्षिण की ओर गये। उनमें पुष्पदन्त नामक मुनि जिनपालित नामक अपने भानजे को देखकर और उसे दीक्षा देकर उसके साथ 'वनवास' देश में पहुँच गये व वहाँ ठहर गये। उधर भूतवलि भी द्रविड़ देश में मथुरा पहुँचे व वहाँ ठहर गये। पुष्पदन्त मुनि ने उस भानजे को पढ़ाने के लिए कर्मप्रकृतिप्राभृत का छह खण्डों द्वारा उपसंहार करके (?) गुणस्थान व जीवसमास आदि बीस प्रकार की सूत्ररूप सत्प्ररूपणा से युक्त जीवस्थान के प्रथम अधिकार की रचना की। पश्चात् उन्होंने उन सौ (?) सूत्रों को पढ़ाकर जिनपालित को भूतवलि गुरु के पास उनका अभिप्राय जानने के लिए भेजा। तदनुसार जिनपालित भी उनके पास जा पहुँचा। भूतवलि ने उसके द्वारा पठित सत्प्ररूपणा को सुनकर और पुष्पदन्त के षट्खण्डागम के रचनाविषयक अभिप्राय को व अल्पआयुष्य को जानकर मन्दबुद्धियों की अपेक्षा से द्रव्यप्ररूपणादि अधिकारस्वरूप पांच खण्डों को, जिनका ग्रन्थप्रमाण छह हजार रहा है तथा छठे खण्ड महाबन्ध की जिसका ग्रन्थ-प्रमाण तीस हजार रहा है, रचना की।[1]

पुष्पदन्त भूतवलि से ज्येष्ठ थे : एक विचारणीय प्रश्न

(१) यहाँ यह स्मरणीय है कि इसके पूर्व प्रकृत श्रुतावतार (श्लोक १२६) में यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि धरसेनाचार्य ने ग्रन्थ की समाप्ति (आषाढ़ शुक्ला एकादशी) के दूसरे दिन उन दोनों को गिरिनगर से कुरीश्वर भेज दिया। ऐसी स्थिति में वहीं पर आगे (श्लोक १३१ में) यह कैसे कहा गया है कि कुरीश्वर पहुँचकर उन्होंने आषाढ़ कृष्णा पंचमी के दिन वर्षायोग किया? यह पूर्वापर-विरोध है। वर्षायोग आषाढ़ कृष्णा पंचमी को स्थापित किया जाता है, इसके लिए क्या आधार रहा है?

(२) 'कर्मप्रकृतिप्राभृत को छह खण्डों से उपसंहार करके ही' यह वाक्य अधूरा है (श्लोक १३४)। इससे इन्द्रनन्दि क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। क्या पुष्पदन्त ने महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का छह खण्डों में उपसंहार करके जिनपालित को पढ़ाया? श्लोक १३४-३५ के अन्तर्गत पद असम्बद्ध से दिखते हैं, उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध व अपेक्षा है, यह स्पष्ट नहीं होता है।

(३) इसी प्रकार आगे श्लोक १३६ में 'सूत्राणि तानि शतमध्याप्य' यह जो कहा गया है उसका क्या यह अभिप्राय है कि सौ सूत्रों को पढ़ाया, जबकि 'सत्प्ररूपणा' में १७७ सूत्र हैं।

(४) धवला और जयधवला में यह स्पष्ट कहा गया है कि कषायप्राभृत की वे सूत्रगाथाएँ आ० आर्यमंक्षु और नागहस्ती को आचार्यपरम्परा से आती हुई प्राप्त हुई थीं। इस परिस्थिति में इन्द्रनन्दी ने यह किस आधार से कहा है कि गुणधर ने उन गाथासूत्रों को रचकर उनका

---

१. इ० श्रुतावतार पृ० २९-४०

व्याख्यान आर्यमंक्षु और नागहस्ती को किया? इससे तो वे गुणधर के समकालीन ठहरते हैं?
—श्लोक १५४

इन्द्रनन्दी के समक्ष धवला व जयधवला टीकाएँ रही हैं व उनका उन्होंने परिशीलन किया है, यह श्रुतावतार-विषयक उस चर्चा से स्पष्ट नहीं होता। सम्भव है उन्होंने परम्परागत श्रुति के अनुसार श्रुतावतार की प्ररूपणा की हो। आगे (श्लोक १५१) उन्होंने गुणधर और धरसेन के पूर्वापरवर्तित्व की अजानकारी के विषय में संकेत भी ऐसा ही किया है।

आ० वीरसेन ने धवला के प्रारम्भ में जो मंगल किया है उसमें उन्होंने धरसेन के पश्चात् पुष्पदन्त की स्तुति करते हुए उन्हें पाप के विनाशक, मिथ्यानयरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान, मोक्षमार्ग के कण्टकस्वरूप मिथ्यात्व आदि को दूर करने वाले, ऋषि समिति के अधिपति और इन्द्रियों का दमन करने वाले कहा है।[1]

प्रकृत मंगलाचरण में धवलाकार ने प्रथमतः आ० पुष्पदन्त को और तत्पश्चात् भूतबलि भट्टारक को नमस्कार किया है। इससे पुष्पदन्त भूतबलि से ज्येष्ठ रहे हैं।

उनके ज्येष्ठत्व का एक कारण यह भी हो सकता है कि षट्खण्डागम को उन्हीं ने प्रारम्भ किया है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त नन्दि-आम्नाय की प्राकृत पट्टावली में यह स्पष्ट कहा गया है कि अन्तिम जिन (महावीर) के मुक्त होने के पश्चात् ५६५ वर्ष बीतने पर ये पाँच जन एक अंग के धारक उत्पन्न हुए—अर्हद्वली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि। इनका काल वहाँ क्रम से २८, २१, १९, ३० और २० कहा गया है।[2] इस पट्टावली के अनुसार पुष्पदन्त की भूतवलि से ज्येष्ठता स्पष्ट है व उनका समय वीर-निर्वाण के पश्चात् ६३४-६३ (३०) वर्ष ठहरता है।[3]

इ० श्रुतावतार में लोहाचार्य के आगे अंग-पूर्वो के देशधर इन चार आरतीय आचार्यों का उल्लेख किया गया है—विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त। यथा—

विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।
आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नंग-पूर्वधराः ॥८४॥

यहाँ इनके समय का कुछ उल्लेख नहीं किया गया है। अर्हद्दत्त के आगे यहाँ पूर्वदेश के मध्यगत पुण्ड्रवर्धनपुर में होनेवाले अर्हद्वली नामक मुनि का उल्लेख किया गया है, जो सब अंग-पूर्वो के एकदेश के ज्ञाता रहे हैं। इनका उल्लेख पीछे संघप्रतिष्ठापक के रूप में किया जा चुका है।

पट्टावली में भूल

प्रस्तुत पट्टावली में कुछ भूलें दृष्टिगोचर होती हैं। वे मूल में ही रही हैं या उसकी प्रतिलिपि करते समय हुई हैं, कहा नहीं जा सकता। यथा—

(१) यहाँ गाथा ७ में कहा गया है कि वीर-निर्वाण से १६२ वर्षों के बीतने पर ग्यारह मुनीन्द्र दस पूर्वों के धारक उत्पन्न हुए। यहाँ 'दशपूर्वधरों' से ग्यारह अंगों और दस पूर्वों के

१. धवला, पु० १, पृ० ७०-७१ तथा प्रारम्भ में मंगल, गाथा ५-६
२. ष०ख० पु० १ की प्रस्तावना पृ० २६, गाथा १५-१६
३. ष०ख० पु० १ की प्रस्तावना, पृ० २६ पर गा० १५-१७

धारकों का अभिप्राय समझना चाहिए। आगे (गा० ८-९) उन दशपूर्वधरों के नामों का उल्लेख करते हुए यथाक्रम से उनके समय का जो पृथक् निर्देश किया गया है उसका जोड़ एक सौ इक्यासी (१०+१९+१७+२१+१८+१७+१८+१३+२०+१४+१४=१८१) आता है। पर सब का जोड़ वहाँ 'सद-तिरासि वासाणि' अर्थात् १८३ वर्ष कहा गया है (गा० ७)। इससे निश्चित ही किसी के समय में दो वर्ष की भूल हुई है।

(२) इसी प्रकार गा० १२ में दस-नौ-आठ अंगधरों का सम्मिलित काल ९७ (वासं सत्ताणवदीय) वर्ष कहा गया है, जबकि पृथक्-पृथक् किए गये उनके कालनिर्देश के अनुसार वह ९९ (६+१८+२३+५२=९९) वर्ष आता है। इस प्रकार यहाँ भी किसी के समय में दो वर्ष की भूल हुई है।

इस पट्टावली की विशेषताएँ

(१) तिलोयपण्णत्ती तथा धवला-जयधवला व हरिवंशपुराण (१,५८-६५ तथा ६०,२२-२४) आदि में यद्यपि इन केवली-श्रुतकेवलियों के सम्मिलित काल का निर्देश तो किया गया है पर वहाँ पृथक्-पृथक् किसी श्रुतधर के काल का निर्देश नहीं किया गया, जब कि इस पट्टावली में सम्मिलित काल के साथ उनके पृथक्-पृथक् काल का भी निर्देश किया गया है।

(२) अन्यत्र धवला आदि में जहाँ सुभद्र आदि चार श्रुतधरों को आचारांग के धारक कहा गया है वहाँ इस पट्टावली में उन्हें दस-नौ-आठ अंगों के धारक कहा गया है। पर यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि उन चार श्रुतधरों में १०, ९ और ८ अंगों के धारक कौन-कौन रहे हैं।

(३) अन्यत्र यह श्रुतधरों की परम्परा लोहाचार्य तक ही सीमित रही है। किन्तु इस पट्टावली में लोहाचार्य के पश्चात् अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन पाँच अन्य श्रुतधरों का उल्लेख एक अंग के धारकों में किया गया है।

(४) इसी कारण अन्यत्र जो उन श्रुतधरों के काल का निर्देश किया गया है, उससे इस पट्टावली में निर्दिष्ट उनके काल में कुछ भिन्नता हुई है। फिर भी उनका समस्त काल दोनों में ६८३ वर्ष ही रहा है। यथा—

धवला, पु० १, पृ० ६५-६७ व पु० ९, पृ० १३०-३१		प्राकृत पट्टावली	
३ केवली	६२ वर्ष	३ केवली	६२ वर्ष
५ श्रुतकेवली	१०० ,,	५ श्रुतकेवली	१०० ,,
११ एकादशांग व दशपूर्वधर	१८३ ,,	११ एकादशांग व दशपूर्वधर	१८३ ,,
५ एकादशांगधर	२२० ,,	५ एकादशांगधर	१२३ ,,
४ आचारांगधर	११८ ,,	४ दस-नौ-आठ अंगों के धारक	९७ ,,
×××		५ आचारांगधर	११८ ,,
समस्त काल ६८३ वर्ष			६८३ वर्ष

आचार्य पुष्पदन्त का उल्लेख धवला में इस प्रकार किया है—पु० १, पृ० ७१,७२,१३० १६२ व २२६।

१२. पूज्यपाद

ये 'देवनन्दी' नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० (६४) के अनुसार उनका प्रथम नाम देवनन्दी रहा है। अपनी महती बुद्धि के कारण वे 'जिनेन्द्रदेव' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। देवताओं के द्वारा चरण-युगल के पूजे जाने से वे 'पूज्यपाद' हुए।[1]

चन्द्रय्य नामक कवि के द्वारा कनड़ी भाषा में लिखे गये 'पूज्यपादचरित' के अनुसार उनका जन्म कर्नाटक देश के कोले नामक गाँव में हुआ था। पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। जन्मत: वे ब्राह्मण थे। ज्योतिषी ने उन्हें त्रिलोक-पूज्य बतलाया था, इसलिए उनका नाम पूज्यपाद रखा गया।

माधवभट्ट ने पत्नी के कहने से जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था। उनके साले का नाम पाणिनी था। उससे भी उन्होंने जैन धर्म धारण करने के लिए कहा, किन्तु वह जैन न होकर मुडीगुंड गाँव में वैष्णव संन्यासी हो गया था।

पूज्यपाद ने बगीचे में साँप के मुंह में फँसे हुए मेंढक को देखकर विरक्त होते हुए जिन-दीक्षा ले ली थी।

उक्त 'पूज्यपादचरित' में पूज्यपाद की कुछ विशेषताओं को प्रकट किया गया है, जिनमें प्राय: प्रामाणिकता नहीं दिखती है।[2]

पूज्यपाद की विशेषता

पूज्यपाद द्वारा-विरचित ग्रन्थों के परिशीलन से स्पष्ट है कि वे विख्यात वैयाकरण और सिद्धान्त के पारंगत रहे हैं।

महापुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने उन्हें (देवनन्दी को) विद्वानों के शब्दगत दोषों को दूर करने वाले शब्दशास्त्ररूप तीर्थ के प्रवर्तक—जैनेन्द्र व्याकरण के प्रणेता—कहा है। यथा—

कवीनां तीर्थकृद् देव: किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्.मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥१-५२॥

हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य ने इन्द्र-चन्द्रादि व्याकरणों का परिशीलन करने वाले व देवों से वन्दनीय देवनन्दी की वाणी की वन्दना की है। यथा—

इन्द्रचन्द्रार्क-जैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिण:।
देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यन्ते गिर: कथम् ॥१-३१॥

कवि धनंजय ने अकलंकदेव के प्रमाण, पूज्यपाद के लक्षण (व्याकरण) और अपने 'द्विसन्धान काव्य'—इन तीन को अनुपम रत्न कहा है—

---

१. जैन साहित्य और इतिहास (द्वि०सं०) पृ० २५
२. देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ४९-५१ (द्वि० सं०) तथा 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा', भाग २, पृ० २१९-२१

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

—धनंजय-नाममाला, २०३

'ज्ञानार्णव' के कर्ता शुभचन्द्राचार्य ने उन देवनन्दी को नमस्कार करते हुए उनके लक्षणशास्त्र की प्रशंसा में कहा है कि उनके वचन प्राणियों के काय, वचन और मन के कलंक को दूर करने वाले हैं। यथा—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः काय-वाक्-चित्तसम्भवम् ।
कलंकमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥१-१५॥

जैनेन्द्रप्रक्रिया के प्रारम्भ में आचार्य गुणनन्दी ने 'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रणेता उन पूज्यपाद को नमस्कार करते हुए कहा है कि जो उनके इस लक्षणशास्त्र में है वह अन्यत्र भी मिल सकता है, किन्तु जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनका व्याकरण सर्वांगपूर्ण रहा है। वह श्लोक इस प्रकार है—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत् क्वचित् ॥

आचार्य पूज्यपाद या देवनन्दी के स्तुतिविषयक ये कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं। वैसे उनकी स्तुति कितने ही अन्य परवर्ती आचार्यों ने भी की है। जैसे पार्श्वनाथचरित (१-१८) में मुनि वादिराज आदि। इसके अतिरिक्त अनेक शिलालेखों में भी उनकी भरपूर प्रशंसा की गयी है।

इससे स्पष्ट है कि आ० पूज्यपाद व्याकरण के गम्भीर विद्वान् रहे हैं। इसी से उनके द्वारा विरचित 'जैनेन्द्र व्याकरण' सर्वांगपूर्ण होने से विद्वज्जनों में अतिशय प्रतिष्ठित रहा है।

व्याकरण के अतिरिक्त वे आगमग्रन्थों के भी तलस्पर्शी विद्वान् रहे हैं। इसे पीछे 'षट्खण्डागम व सर्वार्थसिद्धि' शीर्षक में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

पूज्यपाद का समय

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, आ० पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि की रचना में यथाप्रसंग षट्खण्डागम का भरपूर उपयोग किया है। यही नहीं, उन्होंने 'सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च' इस सूत्र (त०सू० १-८) की व्याख्या में ष०ख० के 'जीवस्थान' खण्ड से सम्बद्ध अधिकांश प्राकृत सूत्रों का संस्कृत छाया के रूप में अनुवाद कर दिया है। इससे निश्चित है कि वे आ० पुष्पदन्त-भूतबलि के पश्चात् हुए हैं। इन श्रुतधरों का काल प्रायः विक्रम की प्रथम शताब्दी है।

सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित कुछ ग्रन्थों से प्रसंगानुसार कुछ गाथाओं को उद्धृत किया गया है। यथा—

स०सिद्धि	गाथांश	कुन्द० ग्रन्थ
२-१०	सव्वे वि पुग्गला खलु	द्वादशानुप्रेक्षा २५
२-३३	णिच्चिदरधा दु सुत्तय[1]	,, ३५

१. यह गाथा मूलाचार में भी ५-२९ और १६-६३ गाथा-संख्या में उपलब्ध होती है।

स०सिद्धि	गाथांश	कुन्द० ग्रन्थ
५-१४	ओगाढगाढणिचिओ	पंचास्तिकाय ६४
५-१६	अण्णोण्णं पविसंता	,, ७
५-२५	अत्तादिअत्तमज्झं	नियमसार २६
८- १	असिदिसदं किरियाणं	भावप्राभृत १३६
७-१३	मरदु व जियदु व	प्रवचनसार ३-१७

उनके द्वारा विरचित समाधितंत्र और इष्टोपदेश पर भी आचार्य कुन्दकुन्द-विरचित अध्यात्मग्रन्थों का अत्यधिक प्रभाव रहा है। इन दोनों ग्रन्थों के अन्तर्गत बहुत से श्लोक तो कुन्दकुन्द-विरचित गाथाओं के छायानुवाद जैसे हैं।

आ० कुन्दकुन्द का समय भी प्रथम शताब्दी माना जाता है। इसलिए पूज्यपाद आ० कुन्दकुन्द के भी परवर्ती हैं, यह निश्चित है।

पूज्यपाद-विरचित 'जैनेन्द्रव्याकरण' के 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्र (५,४,१४०) में आ० समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है। समन्तभद्र का समय प्रायः दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है। अतः पूज्यपाद इसके बाद हुए हैं।

इसी प्रकार उक्त जैनेन्द्रव्याकरण के 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' सूत्र (५,१,७) में आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त सर्वार्थसिद्धि (७-१३) में सिद्धसेन-विरचित तीसरी द्वात्रिंशिका के अन्तर्गत एक पद्य के प्रथम चरण को 'उक्तं च' कहकर इस प्रकार उद्धृत किया गया है—वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते.[1] इस द्वात्रिंशिका के कर्ता सिद्धसेन प्रायः ५वीं शताब्दी के ग्रन्थकार रहे हैं। इससे निश्चित है कि पूज्यपाद सिद्धसेन के बाद हुए हैं।

उनसे कितने बाद वे हुए हैं, इसका निर्णय करने में देवसेनाचार्य (वि० सं० ९९०)-विरचित दर्शनसार से कुछ सहायता मिलती है। वहाँ कहा गया है कि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रम राजा की मृत्यु के पश्चात् ५२६ में दक्षिण मथुरा में द्राविड़ संघ को स्थापित किया। यथा—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥

इस प्रकार पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने जब वि० सं० ५२६ में द्राविड संघ को स्थापित किया तब उन वज्रनन्दी के गुरु पूज्यपाद उनसे १५-२५ वर्ष पूर्व हो सकते हैं।

---

१. पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते।
वधायतनमभ्युपैति च परानिघ्नन्नपि
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः ॥—तृ० द्वात्रिं०, १६

इसके अतिरिक्त भट्टाकलंकदेव (८वीं शती) ने पूज्यपाद-विरचित सर्वार्थसिद्धि के अनेक वाक्यों को अपने तत्त्वार्थवार्तिक में उसी रूप में ग्रहण कर लिया है। जैसे—

"आत्मकर्मणोदन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः।"—स० सि० १-४; त०वा० १,४,१७

"आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः।"—स०सि० १-४, त०वा० १,४,१८

"एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा।"—स०सि० १-४; त०वा० १,४,१९

"कृत्स्नकर्मविप्रयोगलक्षणो मोक्षः।"—स०सि० १-४; त०वा० १,४,२०

"अभ्यर्हितत्वात् प्रमाणस्य पूर्वनिपातः।"—स०सि० १-६; त०वा० १,६,१; इत्यादि।

इस स्थिति को देखते हुए यह भी सुनिश्चित है कि आ० पूज्यपाद, आ० अकलंकदेव के पूर्व हुए हैं, उनके पश्चाद्वर्ती वे नहीं हो सकते।

इससे सम्भावना यही है कि वे प्रायः छठी शताब्दी के विद्वान् रहे हैं।

पूज्यपाद-विरचित ग्रन्थ

आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचे गये ये ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. जैनेन्द्रव्याकरण, २. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति), ३. समाधितंत्र, ४. इष्टोपदेश और ५. सिद्धिप्रियस्तोत्र।

'दशभक्ति' को भी पूज्यपाद-विरचित माना जाता है। पं० पन्नालाल जी सोनी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित 'क्रियाकलाप' में प्राकृत व संस्कृत में रची गयी सिद्धभक्ति व योग-भक्ति आदि भक्तियाँ संगृहीत हैं, जिन पर प्रभाचन्द्राचार्य की टीका है। इस टीका में टीकाकार ने 'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः, प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः' ऐसा कहकर यह सूचित किया है कि सभी संस्कृत-भक्तियाँ आ० पूज्यपाद के द्वारा और प्राकृत-भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा रची गयी हैं।

इनके अतिरिक्त शिलालेखों आदि से जिनाभिषेक, जैनेन्द्रन्यास, शब्दावतार, शान्त्यष्टक और किसी वैद्यकग्रन्थ के भी उनके द्वारा रचे जाने की सम्भावना की जाती है।

सारसंग्रह—जैसा कि पीछे (पृ० ६०५ पर) 'ग्रन्थोल्लेख' के प्रसंग में कहा जा चुका है, धवलाकार ने 'तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः' सूचना के साथ ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम-निर्देशपूर्वक नय के एक लक्षण को उद्धृत किया है।[1] इस नाम का कोई ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। धवलाकार के द्वारा किया गया यह 'पूज्यपाद' उल्लेख आचार्य देवनन्दी के लिए किया गया है या वैसे आदरसूचक विशेषण के रूप में वह अकलंकदेव आदि किसी अन्य आचार्य के लिए किया है, यह संदेहास्पद है।

इसके पूर्व में भी धवला में 'तथा पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनयलक्षणमिदमेव' इस निर्देश के साथ 'प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः' नय के इस लक्षण को उद्धृत किया जा चुका है।[2]

नय का यह लक्षण ठीक इन्हीं शब्दों में भट्टाकलंकदेव-विरचित तत्त्वार्थवार्तिक (१,३३,१) में उपलब्ध होता है।

यदि 'सारसंग्रह' नाम का कोई ग्रन्थ है और वह भी आचार्य पूज्यपाद-विरचित, तो सम्भव है यह नय लक्षण भी उसी सारसंग्रह में रहा हो और वहीं से अकलंकदेव ने उसे तत्त्वार्थवार्तिक

---

१. देखिए पु० ९, पृ० १६७

२. वही, पृ० १६५

में आत्मसात् किया हो। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि अकलंकदेव ने पूज्यपाद-विरचित सर्वार्थसिद्धि के प्रचुर वाक्यों को वार्तिक के रूप में अपने तत्त्वार्थवार्तिक में आत्मसात् किया है।

अथवा यह भी सम्भव है कि धवलाकार ने 'पूज्यपाद' इस आदर-सूचक विशेषण के द्वारा आचार्य अकलंकदेव का ही उल्लेख किया हो। यह सब अभी अन्वेषणीय बना हुआ है।

१३. प्रभाचन्द्र

इनका उल्लेख धवला में पूर्वोक्त नयप्ररूपणा के प्रसंग में इस प्रकार किया गया है—

"तथा प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि — प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेष-प्ररूपणप्रवण: प्रणिधिर्यः स नय इति।"—धवला, पु० ९, पृ० १६६

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। उनमें से प्रस्तुत नय का लक्षण किस प्रभाचन्द्र के द्वारा और किस ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया गया है, यह ज्ञात नहीं होता। इस लक्षण का निर्देश करनेवाले सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् वे प्रभाचन्द्राचार्य तो सम्भव नहीं हैं, जिन्होंने परीक्षामुख-सूत्रों पर विस्तृत 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' नाम की टीका और लघीयस्त्रय पर 'न्यायकुमुद-चन्द्र' नाम की विस्तृत टीका लिखी है। कारण यह कि वे प्रभाचन्द्र तो धवलाकार वीरसेनाचार्य के पश्चात् हुए हैं। स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने उनका समय ई० सन् ९६० से १०८५ निर्धारित किया है।[1] किन्तु धवला टीका इसके पूर्व शक संवत् ९३८ (ई० सन् ८१६) में रची जा चुकी थी।

महापुराण (आदिपुराण) की उत्थानिका में आ० जिनसेन ने अपने पूर्ववर्ती कुछ ग्रन्थकारों का स्मरण किया है। उनमें एक 'चन्द्रोदय' काव्य के कर्ता प्रभाचन्द्र भी हैं। सम्भव है, उपर्युक्त नय का लक्षण उन्हीं प्रभाचन्द्र के द्वारा निबद्ध किया गया हो। वह लक्षण धवला से अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

१४. भूतबलि

ये प्रस्तुत षट्खण्डागम के प्रथम जीवस्थान खण्ड के अन्तर्गत 'सत्प्ररूपणा' अनुयोगद्वार को छोड़कर उस जीवस्थान के द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर आगे के समस्त ग्रन्थ के रचयिता हैं। वह सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार आचार्य पुष्पदन्त द्वारा रचा गया है। इनका साधारण परिचय पीछे आचार्य पुष्पदन्त के साथ कराया जा चुका है। इससे अधिक उनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

इनका उल्लेख धवला में अनेक बार किया गया है। जैसे—पु० १, पृ० ७१,७२ व २२६। पु० ३, पृ० १०३,१३३ व २४३। पु० १०, पृ० २०,४४,२४२ व २७४। पु० १३, पृ० ३६ व ३८१। पु० १४, पृ० १३४, ५४१ व ५६४। पु० १५, पृ० १।

१५. महावाचय, महावाचयखमासमण

ये किसी आचार्य-विशेष के नाम तो नहीं रहे दिखते हैं। महावाचक या महावाचकक्षमा-श्रमण के रूप में अतिशय प्रसिद्ध होने के कारण किसी ख्यातनामा आचार्य के नाम का उल्लेख न करके धवलाकार ने उनका इस रूप में उल्लेख किया है—

"महावाचया ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति।"—धवला, पु० १६, पृ० ५७७

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र २, प्रस्तावना, पृ० ४८-५८ द्रष्टव्य हैं।

"महावाचयाणं खमासमणाणं उवदेसेण सव्वत्थोवाणि कसाउदयट्ठाणाणि।"

—धवला, पु० १६, पृ० ५७७

"महावाचयखमासमणा संतकम्ममग्गणं करेंति।"—धवला, पु० १६, पृ० ५७९

सम्भव है धवलाकार ने 'महावाचक' और 'महावाचक क्षमाश्रमण' के रूप में यहाँ आचार्य आर्यमंक्षु का उल्लेख किया हो।

१६. यतिवृषभ

धवला में आचार्य यतिवृषभ का उल्लेख दो-तीन बार इस प्रकार किया गया है—

(१) केवलिसमुद्घात के प्रसंग में एक शंका का समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यतिवृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय के अन्तिम समय में सभी अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं रहती है, इसलिए सब केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।[1]

(२) जीवस्थान-चूलिका में प्रसंगप्राप्त एक शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि 'उपशामक' को मध्यदीपक मानकर शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ 'यह (अन्तरकरण करने में प्रवृत्त अनिवृत्तिकरणसंयत) दर्शनमोहनीय का उपशामक है' ऐसा यतिवृषभ ने कहा है।[2]

(३) वेदनाभावविधान में प्रसंगप्राप्त एक शंका के समाधान में 'कसायपाहुड' का उल्लेख करते हुए धवला में कहा गया है कि—'इस अर्थ को वर्धमान भट्टारक ने गौतम स्थविर को कहा। गौतम के पास वह अर्थ आचार्य-परम्परा से आकर गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ। उनके पास से वही अर्थ आचार्यपरम्परा से आता हुआ आर्यमंक्षु और नागहस्ती के पास आया। इन दोनों ने उसका व्याख्यान यतिवृषभ भट्टारक को किया। यतिवृषभ ने उसे अनुभाग-संक्रम के प्रसंग में चूर्णिसूत्र में लिखा'।[3]

यतिवृषभ का व्यक्तित्व

ऊपर के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभ कर्मसिद्धान्त के गम्भीर ज्ञाता रहे हैं। जयधवला टीका को प्रारम्भ करते हुए आ० वीरसेन ने उनकी स्तुति में उन्हें वृत्तिसूत्रों (चूर्णिसूत्रों) का कर्ता कहकर उनसे वर की याचना की है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि वे आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ती के अन्तेवासी रहे हैं। यथा—

जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ॥—गाथा ८

वृत्तिसूत्र के लक्षण का निर्देश करते हुए जयधवला में कहा गया है कि सूत्र की जिस व्याख्या में शब्द-रचना तो संक्षिप्त हो, पर जो सूत्र में अन्तर्हित समस्त अर्थ की संग्राहक हो, उसका नाम वृत्तिसूत्र है।[4]

धवलाकार ने अनेक प्रसंगों पर यतिवृषभ-विरचित उन वृत्तिसूत्र या चूर्णिसूत्रों का उल्लेख

---

१. धवला, पु० १, पृ० ३०२

२. धवला, पु० ६, पृ० २३३

३. वही, पु० १२, पृ० २३०-३२

४. सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो।

—क०पा० सुत्त, प्रस्तावना, पृ० १५

कसायपाहुड, पाहुडसुत्त आदि अनेक नामों से किया है—यह पीछे विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

धवलाकार का आ० यतिवृषभ और उनके चूर्णिसूत्रों के प्रति अतिशय आदरभाव रहा है। उनके समक्ष जहाँ कहीं भी चूर्णिसूत्रों के साथ मतभेद या विरोध का प्रसंग उपस्थित हुआ है, धवलाकार ने उनके शंका-समाधानपूर्वक उनकी सूत्ररूपता को षट्खण्डागम सूत्रों के ही समान, अखण्डनीय सिद्ध किया है।[1] इस सबको 'ग्रन्थोल्लेख' में कसायपाहुड के प्रसंग में देखा जा सकता है।

कृतियाँ

प्रस्तुत कषायप्राभृतचूर्णि के अतिरिक्त 'तिलोयपण्णत्ती' को भी आ० यतिवृषभ-विरचित माना जाता है। तिलोयपण्णत्ती में लोक के अन्तर्गत विविध विभागों की अतिशय व्यवस्थित प्ररूपणा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रासंगिक विषयों की प्ररूपणा की गयी है। जैसे—पौराणिक व बीस प्ररूपणाओं आदि सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन। इन विषयों का विवेचन वहाँ अतिशय प्रामाणिकता के साथ लोकविभाग व लोकविनिश्चय आदि कितने ही प्राचीनतम ग्रन्थों के आश्रय से किया गया है तथा व्याख्यात विषय की उनके द्वारा पुष्टि की गयी है। इससे ग्रन्थकार यतिवृषभ की बहुश्रुतशालिता का परिचय प्राप्त होता है।

समय

यतिवृषभाचार्य के समय के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कुछ तथ्यों के आधार पर यतिवृषभ के समय की कल्पना ४७३-६०९ ईस्वी के मध्य की गयी है।[2]

१७. व्याख्यानाचार्य

जो प्रसंगप्राप्त प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान अतिशय कुशलतापूर्वक किया करते थे उन व्याख्यानकुशल आचार्यों की प्रसिद्धि व्याख्यानाचार्य के रूप में रही है। धवला में व्याख्यानाचार्य का उल्लेख दो बार हुआ है। यथा—

(१) जीवस्थान-अन्तरानुगम में अवधिज्ञानियों के अन्तर की प्ररूपणा के प्रसंग में अन्य कुछ शंकाओं के साथ एक यह भी शंका उठायी गयी है कि जिन्होंने गर्भोपक्रान्तिक जीवों में अड़तालीस पूर्वकोटि वर्षों को बिता दिया है उन जीवों में अवधिज्ञान को उत्पन्न कराकर अन्तर को क्यों नहीं प्राप्त कराया। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उनमें अवधिज्ञान की सम्भावना के प्ररूपक व्याख्यानाचार्यों का अभाव है। (पु० ५ पृ० ११९)

(२) एक अन्य उल्लेख धवला में देशावधि के द्रव्य-क्षेत्रादि-विषयक विकल्पों के प्रसंग में इस प्रकार किया गया है—

"सण्णि सण्णिमव्वामोहो अणाउलो समचित्तो सोदारे संवोहेंतो अंगुलस्स असंखेज्जदिभाग-मेत्तदव्वभावविवप्पे उप्पाइय वक्खाणाइरिओ (?) खेत्तस्स चउत्थ-पंचम-छट्ठ-सत्तम-पहुडि जाव

---

१. उदाहरण के रूप में क०पा० सुत्त पृ० ७५१, चूर्णि १९५-९९ और धवला पु० १, पृ० २१७-२२, में आठ कषायों और स्त्यानगृद्धित्रय आदि सोलह प्रकृतियों के क्षय के पूर्वा-परक्रमविषयक प्रसंग को देखा जा सकता है।

२. देखिए ति०प०, भाग २ की प्रस्तावना, पृ० १५-२०

अंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्ते ओहिखेत्तवियप्पे उप्पाइय तदो जहण्णकालस्सुवरि एगो समओ वड्ढावेदव्वो।"—पु० ६, पृ० ६० (पाठ कुछ स्खलित हुआ दिखता है)

१८. आचार्य समन्तभद्र

षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्डभूत 'वेदना' के प्रारम्भ (कृति अनुयोगद्वार) में ग्रन्थावतार विषयक प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने नय-प्ररूपणा के प्रसंग में 'तथा समन्तभद्रस्वामिनाप्युक्तम्' इस सूचना के साथ आचार्य समन्तभद्र-विरचित आप्तमीमांसा की इस कारिका को उद्धृत किया है[1]—

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ।।[2]

इसके पूर्व में वहाँ 'क्षुद्रकबन्ध' खण्ड के अन्तर्गत ग्यारह अनुयोगद्वारों में से प्रथम 'स्वामित्वानुगम' में दर्शन के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए धवलाकार ने उस प्रसंग से 'तहा समंतभद्द सामिणा वि उत्तं' ऐसा निर्देश करके स्वयम्भूस्तोत्र के "विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः" इत्यादि पद्य को उद्धृत किया है।[3]

समन्तभद्र-परिचय

आचार्य समन्तभद्र एक महान् प्रतिभाशाली तार्किक विद्वान् रहे हैं। उन्होंने तर्कपूर्ण अनेक स्तुतिपरक ग्रन्थों को रचा है। ये ग्रन्थ शब्द-रचना में अतिशय संक्षिप्त होकर भी अपरिमित अर्थ से गर्भित, गम्भीर व दुरूह रहे हैं। इन ग्रन्थों में केवल ११४ श्लोकस्वरूप 'देवागमस्तोत्र' (आप्तमीमांसा) पर भट्टाकलंकदेव ने 'अष्टशती' नाम की टीका और आचार्य विद्यानन्द ने 'अष्टसहस्री' नाम की विस्तृत टीका को रचा है। इस प्रकार १६५ पद्यात्मक 'युक्त्यनुशासन' पर भी आ० विद्यानन्द ने टीका रची है। टीकाकार आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्द बहुमान्य विख्यात दार्शनिक विद्वान् रहे हैं। इन टीकाओं के बिना उन स्तुत्यात्मक ग्रन्थों के रहस्य को समझना भी कठिन रहा है।

समन्तभद्र केवल तार्किक विद्वान् ही नहीं रहे हैं, अपितु कवियों के शिरोमणि भी वे रहे हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण उनके द्वारा विरचित 'स्तुतिविद्या' (जिनशतक) है। यह उनका चित्रबन्ध काव्य मुरजबन्ध आदि अनेक चित्रों से अलंकृत है, श्लेषालंकार व यमकालंकार आदि शब्दालंकारों का इसमें अधिक उपयोग हुआ है। अनेक एकाक्षरी पद्य भी इसमें समाविष्ट हैं। यह कवि की अनुपम काव्यकुशलता का परिचायक है।

इस चित्रमय काव्य की रचना-शैली को देखते हुए यह भी निश्चित है कि उनकी व्याकरण में भी अस्खलित गति रही है। जैनेन्द्रव्यारण में 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्र (५,४,१६८) के द्वारा जो समन्तभद्र के मत को प्रकट किया गया है वह भी उनकी व्याकरणविषयक विद्वत्ता का अनुमापक है। जैनेन्द्रप्रक्रिया (सूत्र १,१-४३, पृ० १४) में 'आर्येभ्यः (आ आर्येभ्यः) यशोगतं

---

१. धवला, पु० ६, पृ० १६७

२. पूरी कारिका इस प्रकार है—

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ।।—आ० मी० १०६

३. देखिए धवला, पु० ७, पृ० ६६ व स्वयम्भूस्तोत्र, ५२

समन्तभद्रीयम्' यह जो उदाहरण दिया गया है वह भी यश के प्रसार की कारणभूत उनकी अनेक विषयोन्मुखी प्रतिभा का द्योतक है।

जीवन-वृत्त

आचार्य समन्तभद्र के जन्म-स्थान, माता-पिता और शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है। स्वयं समन्तभद्र ने अपनी किसी कृति में श्लेष-रूप में नामनिर्देश[1] के सिवाय कुछ भी परिचय नहीं दिया।

श्रवणवेलगोल के दौर्बलि जिनदास शास्त्री के भण्डार में ताडपत्रों पर लिखित आप्त-मीमांसा की एक प्रति पायी जाती है। उसके अन्त में यह सूचना दी गयी है—

"इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।"

इससे इतना मात्र परिचय मिलता है कि समन्तभद्र मुनि जन्म से क्षत्रिय थे, उनका जन्म-स्थान फणिमण्डल के अन्तर्गत उरगपुर था तथा पिता इस नगर के अधिपति रहे। इससे यह भी ज्ञात होता है कि स्वामी समन्तभद्र राजपुत्र रहे हैं। पर उपर्युक्त पुष्पिका-वाक्य में कितनी प्रामाणिकता है, यह कहा नहीं जा सकता।

समन्तभद्र-विरचित 'स्तुतिविद्या' का ११६वाँ पद्य चक्रवृत्तस्वरूप है। उसकी चक्राकृति में बाहर की ओर से चौथे वलय में 'जिनस्तुतिशतं' स्तुति-विद्या का यह दूसरा नाम उपलब्ध होता है। इसी प्रकार उसके सातवें वलय में 'शान्तिवर्मकृतं' यह ग्रन्थकार का नाम उपलब्ध होता है।

इससे ज्ञात होता है कि स्तुतिविद्या अपरनाम जिनस्तुतिशतक के रचयिता आ० समन्तभद्र का 'शान्तिवर्मा' नाम जिन-दीक्षा लेने से पूर्व प्रचलित रहा है।

'राजावलीकथे' में उनका जन्म-स्थान 'उत्कलिका' ग्राम कहा गया है।[2]

आचार्य समन्तभद्र के जीवन से सम्बन्धित इससे कुछ अधिक प्रामाणिक परिचय प्राप्त नहीं है।

गुणस्तुति

आ० समन्तभद्र आस्थावान् जिनभक्त, परीक्षाप्रधानी, जैनदर्शन के अतिरिक्त बौद्ध व नैयायिक-वैशेषिक आदि अन्य दर्शनों के भी गम्भीर अध्येता, जैनशासन के महान् प्रभावक, वादविजेता और विशिष्ट संयमी रहे हैं; यह उनकी कृतियों से ही सिद्ध होता है। यथा—

जिनभक्त—उनकी सभी कृतियाँ प्रायः (रत्नकरण्डक श्रावकाचार को छोड़कर) जिनभक्ति-प्रधान हैं, जिनमें जिनस्तुति के रूप में नयविवक्षा के अनुसार जिन-प्रणीत तत्त्वों का विचार करते हुए इतर दर्शनसम्मत तत्त्वों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। यही उनके जिन-भक्त होने का प्रमाण है। उनकी जिन-भक्ति का नमूना देखिए—

---

१. यथा—(१) तव देवमतं समन्तभद्रं सकलम्।।—स्वयम्भूस्तोत्र १४३

(२) त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः।।

—युक्त्यनुशासन, ६३

२. देखिए 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० ४-५

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स सदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रेयसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥

—स्वयम्भू०; ११६

वे कहते हैं—हे नमि जिन ! स्तुति के योग्य (जिन-आदि) समक्ष हों, न भी हों; उनके रहते हुए फल भी प्राप्त हो, न भी हो; किन्तु स्तोता के द्वारा अन्तःकरण से की गयी स्तुति निर्मल परिणामों की कारणभूत होने से पुण्यवर्धक ही होती है। इस प्रकार कल्याणकर मार्ग के अनायास सुलभ होने पर कौन-सा ऐसा विद्वान् है जो सतत पूज्य आप नमिजिन की स्तुति न करे? आत्महितैषी विवेकी जन ऐसे वीतराग प्रभु की स्तुति किया ही करते हैं।

इसके पूर्व भगवान् वासुपूज्य जिन की स्तुति (५७) में भी उन्होंने अपना यही अभिप्राय अभिव्यक्त किया है।

आस्थावान्—उनके दृढ़ श्रद्धानी होने का भी प्रमाण द्रष्टव्य है—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥

—स्तुतिविद्या, ११४

समन्तभद्र की वीतराग जिनदेव पर कितनी आस्था—दृढ़ श्रद्धा—थी, यह इस पद्य से सुस्पष्ट है। वे कहते हैं—हे भगवन् ! मेरी समीचीन या अतिशयित श्रद्धा आपके मत पर—आपके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों पर है, स्मरण भी मैं सदा आपका करता हूँ, पूजा भी आपकी ही करता हूँ, मेरे दोनों हाथ आपको नमस्कार करने में व्यापृत रहते हैं, कान मेरे आपकी कथा-वार्ता में निरत रहते हैं, नेत्र आपके दर्शन के लिए उत्सुक रहते हैं, आपकी स्तुति के रचने की मेरी आदत बन गयी है, तथा मेरा सिर आपके लिए नमस्कार करने में तत्पर रहता है; इस प्रकार से चूँकि मैं आपकी सेवा (आराधना) कर रहा हूँ, इसलिए हे केवलिज्ञान रूप तेज से सुशोभित देवाधिदेव ! मैं तेजस्वी, सुजन और पुण्यशाली हूँ।

तात्पर्य यह है कि आचार्य समन्तभद्र ने जिनदेव पर निश्चल श्रद्धा व गुणानुराग होने से उनके आराधन में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था। यह यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है कि स्वामी समन्तभद्र ने जिन भगवान् के प्रति अपनी सामान्य श्रद्धा को नहीं, अपितु 'सुश्रद्धा' को व्यक्त किया है; जिसका अभिप्राय शंका आदि पच्चीस दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान है। इसी का नाम है दर्शन-विशुद्धि। इसी अभिप्राय को उन्होंने अपने रत्नकरण्डक में इस प्रकार से व्यक्त कर दिया है—

भयाशा-स्नेह-लोभाच्च कुदेवागम-लिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥—र०क० ३०

वे दूसरों को भी इस ओर प्रेरित करते हुए कहते हैं कि जो निर्मल सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें भय, धनादि की आशा, स्नेह और लोभ के वश होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को प्रणाम

तथा उनकी विनय-पूजा आदि नहीं करनी चाहिए।

इसके उदाहरण भी स्वयं समन्तभद्र ही हैं। यह स्मरणीय है कि जिन-दीक्षा लेकर मुनि समन्तभद्र निरतिचार अट्ठाईस मूलगुणों का परिपालन करते हुए ज्ञान व संयम के आराधन में उद्यत रहते थे। इस बीच उन्हें अशुभकर्म के उदय से भस्मक रोग उत्पन्न हो गया था। यह एक ऐसा भयानक रोग है कि इससे पीड़ित प्राणी प्रचुर मात्रा में भी नीरस भोजन को लेता हुआ उसे शान्त नहीं कर सकता है। उसकी शान्ति के लिए प्रचुर मात्रा में कफ को बढ़ानेवाला गरिष्ठ भोजन मिलना चाहिए। पर मुनि-धर्म का पालन करते हुए समन्तभद्र के लिए वह शक्य नहीं था। इससे उन्होंने सल्लेखना ग्रहण करने का विचार किया। पर गुरु ने उसके लिए उन्हें आज्ञा नहीं दी। उन्हें उनकी अविचल तत्त्वश्रद्धा पर विश्वास था, तथा यह भी वे समझते थे कि भविष्य में इसके द्वारा जैन शासन को विशेष लाभ हो सकेगा। इसी से उन्होंने सल्लेखना न देकर यह कह दिया कि जिस किसी भी प्रकार से तुम इस रोग को शान्त कर लो और तब फिर से दीक्षा लेना।

इस पर समन्तभद्र ने सोचा कि इस जिनलिंग में रहते हुए एषणासमिति के विरुद्ध घृणित उपायों से गरिष्ठ भोजन को प्राप्त कर रोग को शान्त करना उचित न होगा। इसी सद्भावना से उन्होंने मुनि-वेष को छोड़कर तापस का वेष धारण कर लिया और उस वेष में 'कांची' जाकर 'भीमलिंग' नामक शिवालय में जा पहुँचे। इस शिवालय में प्रतिदिन विपुल भोजन का उपयोग होता था। यह भोजन शिव के लिए अर्पित किया जा सकता है, ऐसा भक्तजनों को आश्वासन देकर गर्भालय का द्वार वन्द करके समन्तभद्र उसे स्वयं ग्रहण करने लगे। इस प्रकार उत्तरोत्तर रोग के शान्त होने पर जव भोजन वचने लगा तव राजा शिवकोटि को सन्देह उत्पन्न हो गया। इससे उन्हें भयभीत किया गया। पर दृढ़ श्रद्धालु समन्तभद्र भयभीत होकर स्थिर श्रद्धा से विचलित नहीं हुए। उन्होंने तव स्वयम्भूस्तोत्र की रचना की। इस प्रकार धर्म के प्रभाव से शिवमूर्ति के स्थान में चन्द्रप्रभ जिन की मूर्ति प्रकट हुई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन्हें 'स्तुति' का ऐसा ही व्यसन रहा है।[1]

इस प्रकार से राजा और अन्य दर्शक उससे प्रभावित होकर यथार्थ धर्म की ओर आकृष्ट हुए। समन्तभद्र पुनः दीक्षा लेकर स्व-पर के कल्याणकारक मुनिधर्म का पूर्ववत् निर्दोष रीति से पालन करने लगे।

परीक्षाप्रधानी—समन्तभद्राचार्य की कृतियों से यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने जो भी यथार्थ धर्म का आचरण किया है व जिनेन्द्र की भक्ति की है वह प्रचलित विभिन्न दर्शनों के अध्ययन-पूर्वक उनकी परीक्षा करके आश्वस्त होकर ही की है, अन्धविश्वास से नहीं।

उनका 'देवागमस्तोत्र' (आप्तमीमांसा) इसी परीक्षाप्रधानता की दृष्टि से रचा गया है। इसमें उन्होंने भगवान् महावीर के महत्त्वविषयक देवागमादि रूप प्रश्नों को उठाकर उनसे प्राप्त होनेवाले महत्त्व का निराकरण किया है। अन्त में उन्होंने उनकी वीतरागता और सर्वज्ञता पर आश्वस्त होकर उन्हें निर्दोष व युक्ति एवं आगम से अविरुद्ध वक्ता स्वीकार करते हुए प्रचलित

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए 'स्वामी समन्तभद्र' में 'मुनिजीवन और आपत्काल' शीर्षक, पृ० ७३-११४

विविध एकान्तवादों की समीक्षा की है।[1]

अन्त में उन्होंने वहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि यह जो मैंने आप्त की परीक्षा की है वह आत्महितैषियों के लिए समीचीन और मिथ्या उपदेश के अर्थ (रहस्य) का विशेष रूप से बोध हो जाय, इसी अभिप्राय से की है। यथा—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

इस प्रकार से समन्तभद्र जब वीर जिन (आप्त) की परीक्षा कर चुके, तब उन्होंने आप्त माने जानेवाले अन्यों में असम्भव वीर जिन की वीतरागता व सर्वज्ञता पर मुग्ध होकर 'युक्त्यनुशासन' के रूप में उनकी स्तुति को प्रारम्भ कर दिया। उसे प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं[2]—

कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमानं त्वां वर्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशय-पाशबन्धम् ॥
—युक्त्यनुशासन, १

इसमें वे भगवान् महावीर को लक्ष्य करके कहते हैं कि हे वीर जिन! आपने अज्ञानादि दोषों (भावकर्म) और उनके आधारभूत ज्ञानावरणादि रूप आशयों (द्रव्यकर्म) स्वरूप पाश के बन्धन को तोड़ दिया है, इसीलिए आपका मान—केवलज्ञानरूप प्रमाण—वृद्धिगत हुआ है, उस केवलज्ञान के प्रभाव से आप समवसरणभूमि में महती कीर्ति से—युक्ति और आगम से अविरुद्ध दिव्य वाणी के द्वारा—समस्त प्राणियों के मन को व्याप्त करते हैं; इसीसे हम उत्कण्ठित होकर आपकी स्तुति में प्रवृत्त हुए हैं।

अभिप्राय यह है कि आचार्य समन्तभद्र ने मुमुक्षु भव्यजनों के लिए प्रथमतः आप्त-अनाप्त की परीक्षा करके यथार्थ उपदेष्टा का बोध कराया है और तत्पश्चात् वे उसे ही स्तुत्य बताकर उसकी स्तुति में प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार आप्त-अनाप्त के गुण-दोषों का विचार करते हुए आप्त की स्तुति में प्रवृत्त होकर भी स्वामी समन्तभद्र राग-द्वेष से कलुषित नहीं हुए, इसे भी उन्होंने स्तुति के अन्त में इस प्रकार अभिव्यक्त कर दिया है—

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भव-पाशच्छिदि मुनौ
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥—युक्त्यनु०, ६४

वे अपने इस स्तुतिविषयक अभिप्राय को प्रकट करते हुए कहते हैं—आपने संसाररूप पाश को छेद दिया है, इसलिए हमने उसी संसाररूप पाश के छेदने की इच्छा से प्रेरित होकर यह आपका स्तवन किया है, न कि राग के वशीभूत होकर। इसी प्रकार आप्त के लक्षण से रहित अन्य आप्ताभासों के अपगुणों का जो विचार किया है वह भी द्वेष के वशीभूत होकर खलभाव से नहीं किया। किन्तु जो मुमुक्षु जन अन्तःकरण से न्याय-अन्याय और गुण-दोषों को

१. देखिए आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र) १-८
२. इसकी आ० विद्यानन्द-विरचित उत्थानिका द्रष्टव्य है—श्रीसमन्तस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमदार्हताऽन्त्यतीर्थंकर-परमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः इति पृष्टा इव प्राहुः।—युक्त्यनु० (सटीक), पृ० १

जान लेना चाहते हैं उनके लिए आपके इस गुण-कीर्तन के आश्रय से हित के खोजने का उपाय बता दिया है।

इतर दर्शनों के अध्येता—पूर्वनिर्दिष्ट आप्तमीमांसा में आगे आ० समन्तभद्र ने भाव-अभाव, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य तथा कार्य-कारण आदि के भेद-अभेद-विषयक एकान्त का जिस बुद्धिमत्ता से निराकरण किया है व अनेकान्तरूपता को प्रस्थापित किया है,[1] वह उन सर्वथैकान्तवादों के गम्भीर अध्ययन के विना सम्भव नहीं था। इससे सिद्ध है कि वे इतर दर्शनों के भी गम्भीर अध्येता रहे हैं।

जैनशासनप्रभावक—आ० समन्तभद्र ने अपने उत्कृष्ट ज्ञान, तप और संयम आदि के द्वारा जैनशासन की उल्लेखनीय प्रभावना की है। भस्मक रोग से आक्रान्त होने पर उन्होंने जिस साहस के साथ उसे सहन किया तथा जैनशासन पर अडिग श्रद्धा रखते हुए उसे जिस कुशलता से शान्त किया और उपद्रव के निर्मित होने पर जिनभक्ति के वल से उसे दूर करते हुए अनेक कुमार्गगामियों के लिए सन्मार्ग की ओर आकर्षित किया; यह सब जैनशासन की प्रभावना का ही कारण हुआ है। इसके अतिरिक्त उनकी देवागमस्तोत्र आदि कृतियाँ भी जैनशासन की प्रभावक वनी हुई हैं। समन्तभद्र ने जैनशासन की प्रभावना के लक्षण में स्वयं भी यह कहा है कि जैनशासन-विषयक अज्ञानरूप अन्धकार को हटाकर जिन-शासन की महिमा को प्रकाश में लाना, यह प्रभावना का लक्षण है।[2]

वाद-विजेता—जिन-शासन पर अकाट्य श्रद्धा रहने के कारण समन्तभद्राचार्य ने अपने गम्भीर ज्ञान के वल पर अनेक वादों में विजय प्राप्त की है। समीचीन मार्ग के प्रकाशन के हेतु वे वाद के लिए भी उद्यत रहते थे। इसके लिए वे अनेक नगरों में पहुँचे थे व वाद करके उसमें विजय प्राप्त की थी। इसके लिए यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जाता है। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख (५४) के अनुसार करहाटक (करहाड) पहुँचने पर समन्तभद्र ने वहाँ के राजा को अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

> पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
> पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

तदनुसार वे वाद के लिए उत्सुक होकर पाटलिपुत्र (पटना), मालवा, सिन्धु, ठक्कदेश, कांचीपुर, वैदिश (विदिशा) और करहाटक में पहुँचे थे। उनके लिए वाद करना सिंह के खेल के समान रहा है। यथार्थ तत्त्व के वेत्ता होने से उन्हें वाद में कहीं संकट उपस्थित नहीं हुआ, सर्वत्र उन्होंने उसमें विजय ही प्राप्त की। उन्हें वाद में रुचि रही है, यह उनके इन स्तुतिवाक्यों से भी ध्वनित है—

> पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥—स्वयम्भू०, ५
> स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्-सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।
> प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केशरिणो निनादैः॥—स्वयम्भू० ३८

१. आप्तमीमांसा कारिका ९ आदि अन्त तक।
२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १८

यस्य पुरस्ताद् विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ॥१०८॥

त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥—स्वयम्भू०, ११७

गुण-कीर्तन

समन्तभद्र के पश्चाद्वर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने उनके विविध गुणों की प्रशंसा की है। यथा—

(१) आठवीं शती के प्रख्यात विद्वान् आ० अकलंकदेव ने आ० समन्तभद्र-विरचित देवागमस्तोत्र की वृत्ति (अष्टशती) को प्रारम्भ करते समय उन्हें नमस्कार करते हुए उसकी व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है व उनकी विशेषता को प्रकट करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि आ० समन्तभद्र यति ने इस कलिकाल में भी भव्य जीवों की निष्कलंकता के लिए—उनके कर्मकालुष्य को दूर करने के लिए—समस्त पदार्थों को विषय करनेवाले स्याद्वादरूप पवित्रतीर्थ को प्रभावित किया है। वह पद्य इस प्रकार है—

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥

(२) इसी 'देवागमस्तोत्र' पर उपर्युक्त 'अष्टशती' से गर्भित 'अष्टसहस्री' नाम की टीका के रचयिता आचार्य विद्यानन्द ने समन्तभद्र की वाणी को विशिष्ट विद्वानों के द्वारा पूज्य, सूर्य-किरणों को तिरस्कृत करनेवाली सप्तभंगी के विधान से प्रकाशमान, भाव-अभावादि विषयक एकान्तरूप मनोगत अन्धकार को नष्ट करनेवाली और निर्मल ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाली कहा है। साथ ही, उन्होंने आशीर्वाद के रूप में यह भी कहा है कि वह समन्तभद्र की वाणी आप सबके निर्मल गुणों के समूह से प्रादुर्भूत कीर्ति, समीचीन विद्या (केवलज्ञान) और सुख की वृद्धि एवं समस्त क्लेशों के विनाश के लिए हो। यथा—

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्पद्-
विद्यानन्दोदयायानवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
स्ताद् गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा॥

इसमें आ० विद्यानन्द ने श्लेषरूप में अपने नाम के साथ 'अष्टशती' के रचयिता भट्टाकलंकदेव के नाम को व्यक्त कर दिया है।

(३) हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य ने जीवसिद्धि के विधायक और असिद्ध-विरुद्धादि दोषों से रहित युक्तियुक्त समन्तभद्र के वचन को वीर जिन के वचन के समान प्रकाशमान बतलाया है। यथा—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥१-२९॥

यहाँ 'जीवसिद्धिविधायी' से ऐसा प्रतीत होता है कि समन्तभद्र के द्वारा जीव के अस्तित्व

का साधक कोई ग्रन्थ रचा गया है जो वर्तमान में अनुपलब्ध है। दूसरे, 'युक्त्यनुशासनस्तोत्र' की भी सूचना की गयी जो वर्तमान में उपलब्ध है व जिसपर विद्यानन्दाचार्य के द्वारा टीका भी लिखी गयी है। इस टीका को प्रारम्भ करते हुए आ० विद्यानन्द ने मंगल के रूप में समन्तभद्र-विरचित उस युक्त्यनुशासनस्तोत्र को प्रमाण व नय के आश्रय से वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाला होने से अबाधित कहा है व इस प्रकार से उसका जयकार भी किया है—

प्रमाण-नयनिर्णीतवस्तुतत्त्वमबाधितम्।
जीयात् समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्॥

(४) आदिपुराण के कर्ता आ० जिनसेन ने कहा है कि समन्तभद्राचार्य का यश कवि, गमक, वादी और वाग्मी जनों के सिर पर चूड़ामणि के समान सुशोभित होता था। अभिप्राय यह कि आचार्य समन्तभद्र के कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व ये चार गुण प्रकर्ष को प्राप्त थे।

आगे उन जिनसेनाचार्य ने समन्तभद्र को 'कविवेधा'—कवियों का स्रष्टा—कहकर उन्हें नमस्कार करते हुए यह भी कहा है कि उनके वचनरूप वज्र के पड़ने से कुमतरूप पर्वत ढह जाते थे। इससे उनके कवित्व और वादित्व गुण प्रकट हैं।[1]

(५) लगभग इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए कवि वादीभसिंह ने भी 'गद्यचिन्तामणि' में कहा है कि समन्तभद्र आदि मुनीश्वर सरस्वती के स्वच्छन्द विहार की भूमि रहे हैं। उनके वचनरूप वज्र के गिरने पर मिथ्यावादरूप पर्वत खण्ड-खण्ड हो जाते थे।

(६) आचार्य वीरनन्दी ने अपने 'चन्द्रप्रभचरित' में आ० समन्तभद्र आदि की वाणी को मोतियों के हार के समान दुर्लभ बतलाया है।[2]

(७) वादिराज मुनि ने स्वामी समन्तभद्र का चरित सभी के लिए आश्चर्यजनक बतलाते हुए कहा है, कि उनके 'देवागमस्तोत्र' द्वारा आज भी सर्वज्ञ दृष्टिगोचर हो रहा है।[3]

(८) आचार्य वसुनन्दी सैद्धान्तिक ने 'देवागमस्तोत्र' की वृत्ति को प्रारम्भ करते हुए समन्तभद्र के मत की वन्दना की है और अनेक विशेषणविशिष्ट उसे कालदोष से भी रहित बतलाया है—इस कलिकाल में भी उन्होंने जैनशासन को प्रभावशाली किया है, इस प्रकार की उनकी विशेषता को प्रकट किया है।

(९) 'ज्ञानार्णव' के कर्ता शुभचन्द्राचार्य ने उन्हें कवीन्द्रों में सूर्य बतलाकर यह कहा है कि उनकी सूक्तिरूपी किरणों के प्रकाश में अन्य कवि जुगुनू के समान हँसी के पात्र बनते थे।[4]

इसी प्रकार से वादिराज सूरि ने 'यशोधरचरित' में, वर्धमानसूरि ने 'वरांगचरित' में और अजितसेन ने 'अलंकार-चिन्तामणि' में; तथा अन्य अनेक ग्रन्थकारों ने समन्तभद्र के महत्त्व को प्रकट किया है। अनेक शिलालेखों में भी उनके प्रशस्त गुणों की श्लाघा की गयी है।

समन्तभद्र का समय

आचार्य समन्तभद्र की कृतियों में कहीं भी उनके समय का संकेत नहीं किया गया है।

---

१. आदिपुराण १,४३-४४
२. चन्दप्रभाचरित, १-६
३. पार्श्वनाथचरित, १-१७
४. ज्ञानार्णव, १-१४

शिलालेख क्र० ४०(६४) से इतना ज्ञात होता है कि समन्तभद्र श्रुतकेवली भद्रबाहु, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, उनके वंशज पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द), उनके वंशज उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) और उनके शिष्य बलाकपिच्छ; इस आचार्यपरम्परा में हुए हैं। इनमें उमास्वाति का भी समय निर्णीत नहीं है, फिर भी सम्भवतः वे दूसरी-तीसरी शताब्दी के विद्वान् रहे हैं। यदि यह ठीक है तो यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्र इसके पूर्व नहीं हुए हैं।

इसके पश्चात् वे कब हुए हैं, इसका विचार करते हुए उस प्रसंग में 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' यह पूज्यपादाचार्य-विरचित जैनेन्द्रव्याकरण का सूत्र (५,४,१६८) प्राप्त होता है। इसमें इसके पूर्व के चार सूत्रों[1] का उल्लेख आचार्य समन्तभद्र के मतानुसार किया गया है। यथा—

"झयो हः इत्यादि सूत्रचतुष्टयं समन्तभद्राचार्यमतेन भवति, नान्येषामिति विकल्पः, तथा चोदाहृतम्।"—वृत्तिसूत्र ५,४,१६८

पूज्यपाद आचार्य प्रायः छठी शताब्दी के विद्वान् रहे हैं, यह हम पीछे (पृ० ६८२-८३ पर) लिख आये हैं।

इससे समन्तभद्राचार्य के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वे तीसरी से छठी शताब्दी के मध्य में किसी समय हुए हैं।[2]

विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद के मतानुसार आचार्य समन्तभद्र का समय १२०-८५ ई० निश्चित है।[3]

१६. सूत्राचार्य

जो विवक्षित विषय की प्ररूपणा संक्षेप से सूत्ररूप में करते रहे हैं उन्हें सम्भवतः सूत्राचार्य कहा जाता था। अथवा जो सूत्र में अन्तर्हित अर्थ के व्याख्यान में कुशल होते थे, उन्हें सूत्राचार्य समझना चाहिए।

धवला में उनका एक उल्लेख जीवस्थान-कालानुगम के प्रसंग में किया गया है। वहाँ मिथ्यादृष्टियों के काल की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में यह एक शंका उठायी गयी है कि व्यय के होने पर भी जो राशि समाप्त नहीं होती है उसे यदि अनन्त माना जाता है तो वैसी स्थिति में अर्धपुद्गल परिवर्तन आदि रूप व्ययसहित राशियों की अनन्तता के नष्ट होने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि यदि उनकी अनन्तता समाप्त होती है तो हो जावे, इसमें कुछ दोष नहीं है। इस पर वहाँ शंकाकार ने कहा है कि उनमें सूत्राचार्य के व्याख्यान से अनन्तता तो प्रसिद्ध है, तब उसकी संगति कैसे होगी। इस पर धवलाकार ने कहा है कि सूत्राचार्य के द्वारा जो उनमें अनन्तता का व्यवहार किया गया है, उसका कारण उपचार है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने गये स्तम्भ को लोक में उपचार से प्रत्यक्ष कहा जाता है वैसे ही अवधिज्ञान की विषयता को लाँघकर स्थित राशियाँ चूँकि अनन्त केवलज्ञान

---

१. झयो हः। शश्छोऽटि। हलो यमां यमि खम्। झरो झरि स्वे।—जैनेद्र-सूत्र ५,४,१६४-६७

२. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने समन्तभद्र के समय से सम्बन्धित विविध मतों पर विचार करते हुए उसके विषय में पर्याप्त ऊहापोह किया है। उससे सम्बन्धित चर्चा 'स्वामी समन्तभद्र' में 'समय-निर्णय' शीर्षक में द्रष्टव्य है (पृ० ११५-९६)।

३. देखिए 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' भा० २, पृ० १८३-८४

की विषय हैं, इसलिए उपचार से उन्हें 'अनन्त' कहा जाता है। इस कारण उनमें सूत्राचार्य के व्याख्यान से जो अनन्तता का व्यवहार प्रसिद्ध है, उससे इस व्याख्यान का कुछ भी विरोध नहीं है।[1]

दूसरा उल्लेख उनका वेदनापरिमाणविधान अनुयोगद्वार में किया गया है। वहाँ तीर्थंकर प्रकृति की साधिक तेतीस सागरोपम मात्र समयप्रबद्धार्थता के प्रसंग में कहा गया है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध अपूर्वकरण के सातवें भाग के प्रथम समय से आगे नहीं होता है, क्योंकि अपूर्वकरण के अन्तिम सातवें भाग के प्रथम समय में उसके बन्ध का व्युच्छेद हो जाता है, ऐसा सूत्राचार्य का वचन उपलब्ध होता है।[2]

२०. सेचीय व्याख्यानाचार्य

वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार में बादर निगोदवर्गणा के प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि हम अन्तिम समयवर्ती क्षीणकषाय क्षपक को छोड़कर व इस द्विचरम समयवर्ती क्षीणकषाय क्षपक को ग्रहण करके यहाँ रहने वाले सब जीवों के औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों के छह पुंजों को पृथक्-पृथक् स्थापित करके सेचीय व्याख्यानाचार्य द्वारा प्ररूपित स्थानप्ररूपणा को कहते हैं।[3]

यहाँ व्याख्यानाचार्य के विशेषणभूत 'सेचीय'[4] शब्द से क्या अभिप्रेत रहा है, यह ज्ञात नहीं होता।

कषायप्राभृत में 'चारित्रमोहक्षपणा' अधिकार के प्रसंग में यह एक चूर्णिसूत्र उपलब्ध होता है—

"णवरि सेचीयादो जदिबादरसांपराइयकिट्टीओ करेदि तत्थ पदेसग्गं विसेसहीणं होज्ज।"

—क०पा० सुत्त, पृ० ८६६-६७

ज़यधवलाकार ने 'सेचीय' का अर्थ सम्भवसत्य किया है। यथा—"सेचीयादो सेचीयं संभवमस्सियूणसंभवसच्चमस्सियूण।"

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ३३८-३९

२. वही, पु० १२, पृ० ४९४

३. वही, पु० १४, पृ० १०१

४. यह शब्द इसके पूर्व पु० १५, पृ० २८९ पर भी उपलब्ध होता है। यथा—
उदओदुविहो पओअसा सेचीयादो च।

वीरसेनाचार्य की व्याख्यान-पद्धति

आ० वीरसेन एक लब्धप्रतिष्ठ प्रामाणिक टीकाकार रहे हैं। वे प्रतिभाशाली बहुश्रुत विद्वान् थे। उनके सामने पूर्ववर्ती विशाल साहित्य रहा है, जिसका उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था व यथावसर उसका उपयोग अपनी इस धवला टीका की रचना में किया—यह पीछे 'ग्रन्थोल्लेख' और 'ग्रन्थकारोल्लेख' शीर्षकों से स्पष्ट हो चुका है।

वीरसेनाचार्य की प्रामाणिकता (सूत्र को महत्त्व)

प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण व उसका विस्तार करते हुए भी धवलाकार ने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा; जो कुछ भी उन्होंने लिखा है वह परम्परागत श्रुत के आधार से ही लिखा है। इस प्रकार से उन्होंने अपनी प्रामाणिकता को सुरक्षित रक्खा है। मतभेद का प्रसंग उपस्थित होने पर उन्होंने सर्वप्रथम सूत्र को महत्त्व दिया है। यथा—

(१) जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका में चारित्रप्राप्ति के विधान की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव वेदक-सम्यक्त्व और संयमासंयम दोनों को एक साथ प्राप्त कर रहा है उसके अनिवृत्तिकरण के विना दो ही करण होते हैं। कारण यह है कि अपूर्वकरण के अन्तिम समय में वर्तमान इस मिथ्यादृष्टि का स्थितिसत्त्व प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के स्थितिसत्त्व से संख्यातगुणा हीन होता है। इसे स्पष्ट करते हुए इसी प्रसंग में आगे धवला में कहा गया है कि अपूर्वकरण परिणाम सभी अनिवृत्तिकरण परिणामों से अनन्त गुणे हीन होते हैं, यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि उसका प्रतिपादक कोई सूत्र नहीं है। इसके विपरीत उपर्युक्त संख्यातगुणे हीन स्थितिसत्त्व की सिद्धि इसी सूत्र (१,९-८,१४) से हो जाती है।[1]

इस प्रकार यहाँ उपर्युक्त सूत्र के बल पर धवला में यह सिद्ध किया है कि जो मिथ्यादृष्टि वेदकसम्यक्त्व और संयमासंयम दोनों को एक साथ प्राप्त करने के अभिमुख है उसका स्थिति-सत्त्व प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा संख्यातगुणा हीन होता है, अनन्तगुणा हीन नहीं।

(२) इसके पूर्व जीवस्थान-कालानुगम में एक जीव की अपेक्षा बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट

---

१. धवला, पु० ६, पृ० २६८-६९

काल अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण कहा गया है।[1]

इसका स्पष्टीकरण करने पर धवला में यह शंका उठायी गयी है कि 'कर्मस्थिति को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादर की स्थिति होती है' इस परिकर्मवचन के साथ इस सूत्र के विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है, इसलिए यह सूत्र संगत नहीं है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि परिकर्म का कथन सूत्र का अनुसरण नहीं करता है, इसलिए वही असंगत है; न कि प्रकृत सूत्र।[2]

इस प्रकार वहाँ उपर्युक्त कालानुगमसूत्र को महत्त्व देकर धवलाकार ने उसके विरुद्ध जानेवाले परिकर्म के कथन को असंगत होने से अग्राह्य ठहराया है।

(३) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में क्षेत्र की अपेक्षा पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमती मिथ्यादृष्टियों के द्रव्यप्रमाण के प्रसंग में यह कहा गया है कि क्षेत्र की अपेक्षा उनके द्वारा देवों के अवहारकाल से संख्यातगुणे अवहारकाल से जगप्रतर अपहृत होता है।—सूत्र १,२,३५

इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने भिन्न दो व्याख्यानों का उल्लेख किया है। उनकी सत्यता व असत्यता के विषय में शंका-समाधानपूर्वक धवलाकार ने प्रथम तो यह कहा है कि उनमें यह व्याख्यान सत्य है और दूसरा असत्य है, ऐसा हमारा कोई एकान्त मत नहीं है, किन्तु उन दोनों व्याख्यानों में एक असत्य होना चाहिए। तत्पश्चात् प्रकारान्तर से उन्होंने यह भी दृढ़तापूर्वक कहा है—अथवा वे दोनों ही व्याख्यान असत्य हैं, यह हमारी प्रतिज्ञा है। इस पर यह पूछे जाने पर कि यह कैसे जाना जाता है, उत्तर में उन्होंने कहा है कि वह "पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों से वानव्यंतरदेव संख्यातगुणे हैं और वहीं पर देवियाँ उनसे संख्यातगुणी हैं" इस खुद्दाबंधसूत्र[3] से जाना जाता है। और सूत्र को अप्रमाण करके व्याख्यान प्रमाण है, यह कहना शक्य नहीं है अथवा अव्यवस्था का प्रसंग प्राप्त होता है।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त खुद्दाबंधसूत्र के विरुद्ध होने से धवलाकार ने उन दोनों ही व्याख्यानों को असत्य घोषित कर दिया है।

(४) जीवस्थान-अन्तरानुगम में एक जीव की अपेक्षा संयतासंयतों के उत्कृष्टकाल के प्ररूपक सूत्र (१,६,२३५-३७) की व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि इस प्रकार जो इस सूत्र का व्याख्यान किया जा रहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कम अन्तर प्ररूपित है, जबकि उससे उनका अधिक अन्तर सम्भव है। शंकाकार ने उस अधिक अन्तर को अपनी दृष्टि से वहाँ स्पष्ट भी किया है।

इस शंका को असंगत बतलाते हुए धवला में कहा गया है कि संज्ञी सम्मूर्च्छन पर्याप्त जीवों में संयमासंयम के समान अवधिज्ञान और उपशम-सम्यक्त्व की सम्भावना नहीं है। अतएव

१. उक्कस्सेण अंगुलस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जासंखेज्जाओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ।
—सूत्र १,५,११२ (पु० ४, पृ० ३८९)

२. धवला, पु० ४, पृ० ३८९-९०

३. पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ। वाणवेंतरदेवा संखेज्जगुणा। देवीओ संखेज्जगुणाओ।—सूत्र २,११-२,३९-४१ (पु० ७, पृ० ५८५)

४. धवला, पु० ३,२३०-३२

उनके आश्रय से जो अन्तर दिखलाया गया है वह घटित नहीं होता।

इस पर यह पूछने पर कि उनमें अवधिज्ञान और उपशमसम्यक्त्व सम्भव नहीं है यह कहाँ से जाना जाता है, धवलाकार ने कहा है कि वह "पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता है, सम्मूर्च्छनों में नहीं" इस चूलिकासूत्र[1] से जाना जाता है।

इस प्रकार यहाँ उपर्युक्त चूलिकासूत्र के आश्रय से धवलाकार ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि सम्मूर्च्छन जीवों में उपशमसम्यक्त्व सम्भव नहीं है।[2]

(५) जीवस्थान-अल्पबहुत्वानुगम में ओघअल्पबहुत्व के प्रसंग में संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि सबसे स्तोक निर्दिष्ट किये गये हैं।—सूत्र १,८,१८

धवला में इसके कारण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि अणुव्रत सहित क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अतिशय दुर्लभ हैं। इसका भी कारण यह है कि तिर्यंचों में क्षायिकसम्यक्त्व के साथ संयमासंयम नहीं पाया जाता है, क्योंकि उनमें दर्शनमोहनीय की क्षपणा सम्भव नहीं है, इस पर तिर्यंचों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा सम्भव नहीं है, यह कहाँ से जाना जाता है, यह पूछने पर धवलाकार ने कहा है कि 'दर्शनमोहनीय की क्षपणा को नियम से मनुष्यगति में किया जाता है' इस सूत्र[3] से जाना जाता है।[4]

इस प्रकार तिर्यंचों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा को प्रारम्भ नहीं किया जा सकता है, यह अभिप्राय धवला में उपर्युक्त सूत्र (कषायप्राभृत) के आश्रय से प्रकट किया गया है।

यहाँ सूत्र के महत्त्व को प्रकट करने वाले ये पाँच उदाहरण दिये गये हैं। वैसे समस्त धवला में ऐसे प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

सूत्र-प्रतिष्ठा (पुनरुक्ति दोष का निराकरण)

मूल सूत्रों में कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी हुई है। इसके लिए शंकाकार द्वारा जहाँ-तहाँ पुनरुक्ति दोष को उद्भावित किया गया है। किन्तु धवलाकार वीरसेन स्वामी ने उसे दोषजनक न मानकर उस तरह के अनेक सूत्रों को सुव्यवस्थित व निर्दोष सिद्ध किया है। इसके लिए यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' चूलिका (१) में सूत्र १३-१४ के द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में ज्ञानावरणीय की पाँच प्रकृतियों का उल्लेख किया जा चुका था। फिर भी आगे 'स्थानसमुत्कीर्तन' चूलिका (२) में उनका पुनः उल्लेख किया गया है।—सूत्र १,९-२,४

इसकी व्याख्या करते हुए उस प्रसंग में यह आशंका प्रकट की गयी है कि पुनरुक्त होने से इस सूत्र को नहीं कहना चाहिए। इसके समाधान में धवलाकार कहते हैं कि ऐसी आशंका करना उचित नहीं है, क्योंकि सब जीवों के धारणावरणीय (आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय

---

१. उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि ? × × × सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। × × ×—सूत्र १,९-८,८-९ (पु० ६, पृ० २३८)

२. धवला, पु० ५, पृ० ११६-१९

३. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो य।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ।।—क०पा०, गा० ११० (५७)

४. धवला, पु० ५, पृ० २५६-५७ (सूत्र १८ की धवला टीका द्रष्टव्य है।)

विशेष) कर्म का क्षयोपशम समान नहीं होता। यदि सब जीवों के द्वारा ग्रहण किया गया अर्थ टाँकी से उकेरे गये अक्षर के समान विनष्ट नहीं होता तो पुनरुक्त दोष हो सकता था, पर वैसा सम्भव नहीं है; क्योंकि किन्हीं जीवों में जल में लिखे गये अक्षर के समान उस गृहीत अर्थ का विनाश उपलब्ध होता है। इसलिए भ्रष्ट संस्कार वाले शिष्यों को स्मरण कराने के लिए इस सूत्र का कथन करना उचित ही है।[1]

इस प्रकार प्रकृत सूत्र के पुनरुक्त होने पर भी धवलाकार ने उसकी विधिवत् संगति बैठा दी है।

(२) इसी 'स्थानसमुत्कीर्तन' चूलिका में सूत्र २४ के द्वारा पृथक्-पृथक् मोहनीय की २१ प्रकृतियों के नामों का निर्देश किया जा चुका है। पर ठीक इसके आगे सूत्र २६ में कहा गया है कि उपर्युक्त २१ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों को छोड़कर १७ प्रकृतियों का स्थान होता है—इस कथन से ही उन १७ प्रकृतियों का बोध हो जाता है। फिर भी आगे सूत्र २७ में उन १७ प्रकृतियों का भी नामोल्लेख किया गया है।

इस प्रसंग में धवलाकार ने सूत्र २६ की व्याख्या में कहा है कि—'इक्कीस प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क के कम कर देने पर सत्तरह प्रकृतियाँ होती हैं' यह सूत्र व्यतिरेकनय की अपेक्षा रखने वालों के अनुग्रहार्थ रचा गया है तथा वे कौन-सी हैं, इस प्रकार पूछने वाले मन्द-बुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ आगे का सूत्र कहा जाता है।[2]

इस प्रकार से धवलाकार ने यहाँ २७वें सूत्र की पुनरुक्ति का निराकरण स्वयं ही कर दिया है।

(३) इसी जीवस्थान-चूलिका में 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' चूलिका (८) के प्रसंग में यह एक सूत्र प्राप्त हुआ है—

"उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि ? चदुसु वि गदुसु उवसामेदि। चदुसुं वि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय-विगलिंदिएसु। पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि, णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्ज-वस्साउगेसु वि उवसामेदि असंखेज्जवस्साउगेसु वि।"—सूत्र १,९-८,९ (पु० ६, पृ० २३८)

इस सूत्र में विशेष सांकेतिक पदों की पुनरुक्ति हुई है। इस समस्त सूत्रगत अभिप्राय को संक्षेप में इस रूप में प्रकट किया जा सकता था—

"उवसामेंतो चदुसु वि गदीसु, पंचिंदिएसु, सण्णीसु, गब्भोवक्कंतिएसु, पज्जत्तएसु उवसा-मेदि। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि असंखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि।"

लगभग इसी अभिप्राय का सूचक एक अन्य सूत्र पीछे इस प्रकार का ही आ भी चुका है—

"सो पुण पंचिंदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो।"

—१,९-८,४ (पु० ६, पृ० २०६)

---

१. धवला, पु० ६, पृ० ८१

२. वही, पृ० ९२

इस स्थिति को देखते हुए वह पूरा ही सूत्र पुनरुक्त है।[1]

(४) 'गति-आगति' चूलिका (९) में ये दो सूत्र आये हैं—

"अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठी णिरयादो उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥९३॥ एक्कं तिरिक्खगदिं चेव आगच्छंति ॥९४॥"—पु० ६, पृ० ४५२

ये ही दो सूत्र आगे पुनः प्रायः उसी रूप में इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

"अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२०३॥ एक्कं हि चेव तिरिक्खगदिं आगच्छंति त्ति ॥२०४॥"—पु० ६, पृ० ४८४

विशेषता इतनी रही है कि पूर्व सूत्र (९३) में 'मिच्छाइट्ठी' पद अधिक है तथा आगे के सूत्र (२०३) में 'णेरइया' पद की पुनरावृत्ति की गयी है। अभिप्राय में कुछ भेद नहीं हुआ। 'मिथ्यादृष्टि' पद के रहने न रहने से अभिप्राय में कुछ भेद नहीं होता, क्योंकि सातवीं पृथिवी से जीव नियमतः मिथ्यात्व के साथ ही निकलता है।

यहाँ सूत्र २०४ की धवला टीका में शंकाकार ने कहा है कि पुनरुक्त होने से इस सूत्र को नहीं कहना चाहिए। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे अतिशय जडबुद्धि शिष्यों के हेतु कहा गया है।

इस प्रकार से प्रसंगप्राप्त पुनरुक्ति का निराकरण करके धवलाकार ने उन सूत्रों को निर्दोष बतलाया है।

प्रकृत में यद्यपि धवलाकार ने 'णेरइया' पद की पुनरावृत्ति के विषय में कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया है, पर आगे (सूत्र २०६ में) छठी पृथिवी के आश्रय से भी ऐसा ही प्रसंग पुनः प्राप्त होने पर धवलाकार ने वहाँ प्रसंगप्राप्त शंका के उत्तर में इस प्रकार का स्पष्टीकरण करके पुनरुक्ति दोष को टाल दिया है—"णिरयादो णिरयपज्जायादो, उव्वट्टिदसमाणा विणट्ठा संता, णेरइया दव्वट्ठियणयावलंबणेण णेरइया होदूण······।"—पु० ६, पृ० ४८५-८६

इस परिस्थिति में यही समझा जा सकता है कि ग्रन्थ-रचना व व्याख्यान की आचार्य-परम्परागत पद्धति प्रायः ऐसी ही रही है, भले ही उसमें सूत्र का यह लक्षण घटित न हो—

> अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
> निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ॥[2]—पु० ९, पृ० २५९

प्रकरण से सम्बन्धित पुनरुक्ति

जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका है तथा आगे वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत एक 'प्रकृति' अनुयोगद्वार भी है। इन दोनों प्रकरणों में बहुत से सूत्रों की पुनरावृत्ति हुई है। विशेषता यह रही है कि कहीं एक सूत्र के दो हो गये हैं, तो कहीं दो सूत्रों का एक हो गया है। दोनों प्रकरणगत सूत्रों का मिलान इस प्रकार किया जा सकता है—

---

१. धवलाकार ने सूत्र ८ (पु० ६, पृ० २३८) की व्याख्या में 'एदेण पुव्वुत्तपयारेण दंसणमोहणीय उवसामेदि त्ति पुव्वुत्तो चेव एदेण सुत्तेण संभालिदो' कहकर उस पुनरुक्ति को स्पष्ट भी कर दिया है।

२. सूत्र का यह लक्षण कषायप्राभृत के गाथासूत्रों में घटित होता है।

	प्रकृतिभेद	प्रकृति स० चूलिका (सूत्र)	प्रकृति अनु० (सूत्र)
१	ज्ञानावरणीय	१३-१४	२०-२१
२	दर्शनावरणीय	१५-१६	८४-८६
३	वेदनीय	१७-१८	८७-८८
४	मोहनीय	१९-२४	८९-९७
५	आयु	२५-२६	९८-९९
६	नाम (आनुपूर्वी तक)	२७-४१	१००-१४
	नाम अगुरुलघु आदि	४२-४४	१३३
७	गोत्र	४५	१३४-३५
८	अन्तराय	४६	१३६-३७

विशेषता

ज्ञानावरणीय से सम्बद्ध सूत्रसंख्या की विषमता का कारण यह रहा है कि 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय (सूत्र २२-४२), श्रुतज्ञानावरणीय[1] (४३-५०), अवधिज्ञानावरणीय (५१-५९) और मनःपर्ययज्ञानावरणीय (६०-७८) के अवान्तरभेदों की भी प्ररूपणा की गयी है। केवलज्ञानावरणीय की एक ही प्रकृति का उल्लेख करके उस प्रसंग में केवलज्ञान के महत्त्व को विशेष रूप से प्रकट किया गया है (७०-८३)।

इसी प्रकार 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी आदि चार आनुपूर्वी प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की भी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गयी है व उनके अल्पबहुत्व को भी दिखलाया गया है (११५-३२)।

इस पुनरुक्ति के प्रसंग में धवला में कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

सूत्रसूचित विषय की अप्ररूपणा

इस प्रकार ऊपर सूत्रों से सम्बन्धित पुनरुक्ति की कुछ चर्चा की गयी है। अब आगे हम यह भी दिखलाना चाहते हैं कि मूल ग्रन्थ में कुछ ऐसे भी प्रसंग प्राप्त होते हैं जिनके प्रारम्भ में प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा का संकेत करके भी सूत्रकार द्वारा उनकी प्ररूपणा की नहीं गयी है। सूत्रकार द्वारा अप्ररूपित ऐसे विषयों की प्ररूपणा धवलाकार ने की है। उदाहरण के लिए—

(१) वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'स्पर्श' अनुयोगद्वार को प्रारम्भ करते हुए उसकी प्ररूपणा में सूत्रकार द्वारा 'स्पर्शनिक्षेप' व 'स्पर्शनयविभाषणता' आदि १६ अनुयोगद्वारों का निर्देश करके 'स्पर्शनिक्षेप' के प्रसंग में नामस्पर्शन आदि तेरह स्पर्शभेदों का नामनिर्देश किया गया है।[2]

---

१. अवधिज्ञानावरणीय के और मनःपर्ययज्ञानावरणीय के प्रसंग में उन ज्ञानों के भेद-प्रभेद व उनके विषयभेद की भी कुछ प्ररूपणा की गयी है।

२. धवला, पु० १३, पृ० १-३; सूत्र १-४

तत्पश्चात् सूत्रकार ने उन तेरह स्पर्शभेदों के स्वरूप और यथासम्भव उनके अवान्तरभेदों को भी स्पष्ट किया है।[1]

अन्त में सूत्रकार ने 'इन स्पर्शभेदों में यहाँ कौन-सा स्पर्श प्रसंगप्राप्त है', इस प्रश्न के साथ 'कर्मस्पर्श' को प्रकृत कहा है (सूत्र ५,३,३३)।

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह खण्डग्रन्थ अध्यात्म-विषयक है, इस अपेक्षा से यहाँ कर्मस्पर्श को प्रकृत कहा गया है। किन्तु महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में द्रव्यस्पर्श, सर्वस्पर्श और कर्मस्पर्श ये तीन प्रकृत रहे हैं। इस पर वहाँ यह पूछे जाने पर कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में ये तीन स्पर्श प्रकृत रहे हैं, यह कैसे जाना जाता है; धवलाकार ने कहा है कि दिगन्तरशुद्धि में द्रव्यस्पर्श की प्ररूपणा के बिना वहाँ स्पर्श अनुयोगद्वार का महत्त्व घटित नहीं होता, इसलिए उसे वहाँ प्रसंगप्राप्त कहा गया है।

तत्पश्चात् यह दूसरी शंका उठायी गयी है कि यदि यहाँ कर्मस्पर्श प्रसंगप्राप्त है तो भूतबलि भगवान् ने यहाँ उस कर्मस्पर्श की प्ररूपणा शेष कर्मस्पर्शनयविभाषणता आदि पन्द्रह अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्यों नहीं की। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि यह कुछ दोष नहीं है, क्योंकि 'स्पर्श' नाम वाले कर्मस्पर्श की उन शेष अनुयोगद्वारों के आश्रय से की जाने वाली प्ररूपणा में 'वेदना' अनुयोगद्वार में प्ररूपित अर्थ से कुछ विशेषता रहने वाली नहीं है, इसी अभिप्राय से भूतबलि भट्टारक ने यहाँ उन शेष पन्द्रह अनुयोगद्वारों के आश्रय से उसकी प्ररूपणा नहीं की है।[2]

इस पर शंकाकार ने कहा है कि यदि ऐसा है तो अपुनरुक्त द्रव्यस्पर्श और सर्वस्पर्श की प्ररूपणा यहाँ क्यों नहीं की गयी है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि अध्यात्मविद्या के प्रकृत होने पर अनेक नयों की विषयभूत अनध्यात्मविद्या की प्ररूपणा घटित नहीं होती है।[3]

इस प्रकार से धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त उन पन्द्रह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा न करने के विषय में उद्भावित दोष का निराकरण कर दिया है।

(२) आगे इसी वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'कर्म' अनुयोगद्वार को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने उसकी प्ररूपणा में कर्मनिक्षेप व कर्मनयविभाषणता आदि वैसे ही १६ अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा है। तत्पश्चात् अवसरप्राप्त कर्मनिक्षेप के प्रसंग में उसके इन दस भेदों का निर्देश किया है—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, आधाकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म।

आगे यथाक्रम से इन कर्मों के स्वरूप को प्रकट करते हुए अन्त में उनमें से समवदान कर्म को प्रसंगप्राप्त कहा गया है।[4]

---

१. धवला, पु० ८-३५; सूत्र ९-३२

२. पूर्वोक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका और 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में जो अधिकांश सूत्रों की पुनरुक्ति हुई है, वह यदि न होती तो इसी प्रकार का समाधान वहाँ भी किया जा सकता था।

३. धवला, पु० १३, पृ० ३६

४. सूत्र ५,४,३१ (पु० १३, पृ० ९०)

समवदान कर्म यहाँ प्रकृत क्यों है, इसका कारण स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि कर्मानुयोगद्वार में उसी समवदान कर्म की विस्तार से प्ररूपणा की गयी है। प्रकारान्तर से आगे वहाँ यह भी कहा गया है—अथवा संग्रहनय की अपेक्षा यहाँ उस समवदानकर्म को प्रकृत कहा गया है। किन्तु मूलतन्त्र[1] में प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, आधाकर्म, ईर्यापथकर्म, तप:कर्म और क्रियाकर्म इन छह कर्मो की प्रधानता रही है, क्योंकि वहाँ उनकी विस्तार से प्ररूपणा की गयी है।

इतना स्पष्ट करते हुए आगे धवलाकार ने उक्त छह कर्मों को आधारभूत करके क्रम से सत्, द्रव्य, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है।[2]

प्रसंग के अन्त में वहाँ धवला में यह शंका की गयी है कि सूत्र (५,४,२) में कर्म की प्ररूपणा के विषय में जिन कर्मनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है, उनमें से यहाँ कर्मनिक्षेप और कर्मनयविभाषणता इन दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गयी है, शेष चौदह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उपसंहारकर्ता (भूतबलि) ने क्यों नहीं की, उनकी प्ररूपणा करनी चाहिए थी।

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि उन चौदह अनुयोगद्वारों के आश्रय से कर्म की प्ररूपणा करने पर पुनरुक्त दोष का प्रसंग प्राप्त होता था, इसलिए उनके आश्रय से कर्म की प्ररूपणा नहीं की गयी है।

इस पर पुन: शंका हुई है कि यदि ऐसा है तो फिर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में उन अनुयोगद्वारों के आश्रय से उसकी प्ररूपणा किसलिए की गयी है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि मन्दबुद्धि जनों के अनुग्रह के लिए प्रकृत प्ररूपणा करने में पुनरुक्त दोष नहीं होता। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि कहीं भी अपुनरुक्त अर्थ की प्ररूपणा नहीं है, सर्वत्र पुनरुक्त और अपुनरुक्त की ही प्ररूपणा उपलब्ध होती है।[3]

इस प्रकार धवलाकार ने इधर तो यह भी कह दिया है कि षट्खण्डागम में जो उन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं की गयी है वह पुनरुक्त दोष की सम्भावना से नहीं की गयी है, और उधर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में जो उन्हीं अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गयी है वहाँ उसके करने में उसी पुनरुक्त दोष की असम्भावना को भी उन्होंने व्यक्त कर दिया है। यदि मन्दबुद्धि जनों के अनुग्रहार्थ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत में उनकी प्ररूपणा की गयी है तो फिर उन्हीं मन्दबुद्धि जनों के अनुग्रहार्थ उनकी प्ररूपणा इस षट्खण्डागम में भी की जा सकती थी।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, जीवस्थान के अन्तर्गत प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका और वर्गणाखण्डगत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में पुनरुक्त दोष को कुछ महत्त्व नहीं दिया गया है।

(३) इसी वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार में बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चार अधिकारों की प्ररूपणा करते हुए प्रसंगप्राप्त बन्धनीय (वर्गणा) अधिकार में वर्गणाओं के अनुगमनार्थ सूत्र में ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं—

---

१. 'मूलतन्त्र' से सम्भवत: महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का अभिप्राय रहा है।
२. देखिए धवला, पु० १३, पृ० ९१-१९५
३. वही, ,, पृ० १९६

वर्गणा, वर्गणासमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व (५,६,६६)।

इनमें 'वर्गणा' अनुयोगद्वार में वर्गणानिक्षेप व वर्गणानयविभाषणता आदि जिन १६ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है (सूत्र ५,६,७०) उनमें से मूलग्रन्थकार के द्वारा वर्गणानिक्षेप और वर्गणानयविभाषणता इन दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गयी है।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त वर्गणा व वर्गणाद्रव्यसमुदाहार आदि आठ अनुयोगद्वारों में से वर्गणाद्रव्यसमुदाहार में वर्गणाप्ररूपणा व वर्गणानिरूपणा आदि जिन चौदह अनुयोगद्वारों को ज्ञातव्य कहा गया है (५,६,७५) उनमें सूत्रकार ने यहाँ वर्गणाप्ररूपणा और वर्गणानिरूपणा इन दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है, शेष वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम व वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम आदि बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं की है।[1]

इस पर धवला में यह शंका उठायी गयी है कि उपर्युक्त चौदह अनुयोगद्वारों में मात्र दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करके सूत्रकार ने शेष बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा क्यों नहीं की है। उन्होंने उनसे अनभिज्ञ रहकर उनकी प्ररूपणा न की हो, यह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वे चौबीस अनुयोगद्वारस्वरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के पारंगत रहे हैं। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता है कि उन्हें उन अनुयोगद्वारों का ज्ञान न रहा हो। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव नहीं है कि विस्मरणशील होने से उन्होंने उनकी प्ररूपणा न की हो, क्योंकि वे प्रमाद से रहित थे, अतः उनका विस्मरणशील होना भी सम्भव नहीं है।

इसके समाधान में धवलाकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्वाचार्यों के व्याख्यानक्रम का परिज्ञान करने के लिए सूत्रकार ने उन बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं की है।

इस पर पुनः यह शंका उपस्थित हुई है कि अनुयोद्वार—अनुयोगद्वारों के मर्मज्ञ महर्षि—उसी प्रसंग में वहाँ के समस्त अर्थ की प्ररूपणा संक्षिप्त वचनकलाप के द्वारा किसलिए करते हैं। इसके समाधान में वहाँ धवला में यह कहा गया है कि वचन योगस्वरूप आस्रव के द्वारा आनेवाले कर्मों के रोकने के लिए वे प्रसंगप्राप्त समस्त अर्थ की प्ररूपणा संक्षिप्त शब्दकलाप के द्वारा किया करते हैं।[2]

इस प्रकार से धवलाकार ने सूत्रकार के प्रति आस्था रखते हुए सूत्रप्रतिष्ठा को महत्त्व देकर जो सूत्रगत पुनरुक्ति और सूत्रनिर्दिष्ट विषय की अप्ररूपणा के विषय में प्रसंगप्राप्त शंकाओं का समाधान किया है, उसमें कुछ बल नहीं रहा है।

प्रकृत में जो धवलाकार ने उपर्युक्त शंका के समाधान में यह कहा है कि पूर्वाचार्यों के व्याख्यानक्रम को दिखलाने के लिए और वचनयोगरूप आस्रव से आनेवाले कर्मों के निरोध के लिए उन बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वहाँ नहीं की गयी है उसमें पूर्वाचार्यों के व्याख्यान की पद्धति वैसी रही है, यह कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्रों के देखने से भी स्पष्ट प्रतीत होता है। पर ऐसे अप्ररूपित विषयों की प्ररूपणा का भार प्रायः व्याख्यानाचार्यों आदि के ऊपर छोड़ दिया जाता था। पर यहाँ ऐसा कुछ संकेत नहीं किया गया है।

---

१. ष०ख० सूत्र ५,६,७५-११६ (पु० १४, पृ० ५३-१३५)

२. धवला, पु० १४, पृ० १३४-३५

यह भी यहाँ ध्यातव्य है कि धवलाकार ने उपर्युक्त शंका-समाधान में मूलग्रन्थकार को तो वचनयोगास्रवजनित कर्मों के आगमन से बचाया है, पर वे स्वयं उस कर्मास्रव से नहीं बच सके हैं। कारण यह है कि मूल ग्रन्थकार के द्वारा अप्ररूपित उन बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उन्होंने सूत्रकार द्वारा प्ररूपित दो अनुयोगद्वारों को देशामर्शक कहकर स्वयं ही बहुत विस्तार से की है।[1]

इस प्रकार पुनरुक्ति और सूत्रसूचित विषय की प्ररूपणा के न करने से सम्बन्धित कुछ शंकाओं का धवलाकार द्वारा जो समाधान किया गया है, भले ही उसमें अधिक बल न रहा हो, पर उससे धवलाकार आचार्य वीरसेन का सूत्रकार के प्रति बहुमान व आगमनिष्ठा प्रकट है। आठ प्रकार के ज्ञानाचार में चौथा 'बहुमान' है। इसके लक्षण में मूलाचार में यह कहा गया है—

सुत्तत्थं जप्पंतो वाचंतो चावि णिज्जराहेदुं।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं ॥५-८६॥

अर्थात् सूत्रार्थ का जो अध्ययन, अध्यापन और व्याख्यान आदि किया जाता है वह निर्जरा का कारण है। इसके लिए कभी सूत्र व आचार्य आदि की आसादना नहीं करनी चाहिए।

सूत्रासादना से बचने के लिए धवलाकार ने अनेक प्रसंगों पर वज्रभीरु आचार्यों को सावधान भी किया है, यह पीछे अनेक उदाहरणों से स्पष्ट भी हो चुका है। जैसे—धवला, पु० १, पृ० २१७-२२ आदि के कितने ही प्रसंग।

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, इसका निर्वाह धवलाकार ने पूर्ण रूप से किया है। इसके पूर्व के काल-विनयादिरूप ज्ञानाचार (मूलाचार ५,६९-९०) के अनुष्ठान में भी वे तत्पर रहे हैं। कालाचार में उनके उद्यत रहने का प्रमाण उनके द्वारा आगमद्रव्यकृति के प्रसंग में प्ररूपित कालशुद्धिकरणविधान है। देखिए धवला, पु० ९, पृ० २५३-५९

सूत्र-विरुद्ध व्याख्यान का निषेध

जीवस्थान-स्पर्शनानुगम में ज्योतिषी देव सासादनसम्यग्दृष्टियों के स्पर्शन की प्ररूपणा करते हुए उनके स्वस्थान क्षेत्र के प्रसंग में धवलाकार को ज्योतिषी देवों के भागहार के प्ररूपक सूत्र (१,२,५५) के साथ संगति बैठाने के लिए स्वयम्भूरमणसमुद्र के आगे राजु के अर्धच्छेद मानना पड़े हैं। इस पर शंकाकार ने कहा है कि ऐसा स्वीकार करने पर "जितने द्वीप-समुद्र हैं तथा जितने जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद हैं, एक अधिक उतने ही राजु के अर्धच्छेद होते हैं" इस परिकर्म के साथ यह व्याख्यान क्यों न विरोध को प्राप्त होगा। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है—हाँ, यह व्याख्यान उस परिकर्म के साथ तो विरोध को प्राप्त होगा, किन्तु सूत्र[2] के साथ विरोध को नहीं प्राप्त होता है, इसलिए इस व्याख्या को ग्रहण करना चाहिए, न कि उस परिकर्म के कथन को; क्योंकि वह सूत्र के विरुद्ध है। और सूत्र के विरुद्ध व्याख्यान होता नहीं

---

१. तम्हा दोण्णमणियोगद्दाराणं पुव्विल्लाणं परूवणा देसामासिय त्ति काऊण सेसबारसण्णमणियोगद्दाराणं [परूवणं] कस्सामो। धवला, पु० १४, पृ० १३५ (उनकी यह प्ररूपणा धवला में पृ० १३५-२२३ में की गयी है)।

२. खेत्तेण पदरस्स वेछप्पण्णंगुलसयवग्गपडिभागेण।—सूत्र १,२,५५ (पु० ३, पृ० २६८)

है, क्योंकि वैसा होने पर अव्यवस्था का प्रसंग प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार यहाँ धवलाकार ने सूत्र के विरुद्ध जाने से उपर्युक्त परिकर्म के कथन को अग्राह्य घोषित किया है।

यहीं पर आगे धवला में उपपादगत सासादनसम्यग्दृष्टियों के स्पर्शन का प्रमाण कुछ कम ग्यारह बटे चौदह (११/१४) भाग कहा है। उसे स्पष्ट करते हुए आगे धवलाकार ने कहा है कि नीचे छठी पृथिवी तक पाँच राजु और ऊपर आरण-अच्युत कल्प तक छह राजु तथा आयाम व विस्तार एक राजु—यह उनके उपपादक्षेत्र का प्रमाण है।

इसके आगे धवला में यह कहा गया है कि कुछ आचार्य कहते हैं कि देव नियम से मूल शरीर में प्रविष्ट होकर ही मरते हैं। उनके इस अभिप्राय के अनुसार प्रकृत उपपादक्षेत्र का प्रमाण कुछ कम दस बटे चौदह राजु होता है। उनका यह व्याख्यान यहीं पर आगे सूत्र में जो कार्मणकाययोगी सासासनसम्यग्दृष्टियों के स्पर्शनक्षेत्र का प्रमाण ग्यारह बटे चौदह भाग कहा गया है[2] उसके विरुद्ध जाता है, इसलिए उसे नहीं ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रसंग में आगे यह भी कहा है कि जो आचार्य देव सासादनसम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं, वे ऐसा कहते हैं। उनके अभिमतानुसार वह उपपादस्पर्शनक्षेत्र बारह बटे चौदह भाग प्रमाण होता है। यह व्याख्यान भी सत्प्ररूपणा[3] और द्रव्यप्रमाणानुगम[4] सूत्र के विरुद्ध है, इसलिए उसे भी नहीं ग्रहण करना चाहिए।[5]

इस प्रकार धवलाकार ने सूत्रविरुद्ध होने से इन दोनों अभिमतों का निराकरण किया है।

(४) वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी के प्रकृति-विकल्पों की प्ररूपणा के प्रसंग में कहा गया है कि कुछ आचार्य यह कहते हैं कि तिर्यक्प्रतर से गुणित घनलोक प्रमाण तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी के विकल्प एक-एक अवगाहना के होते हैं। इस सम्बन्ध में धवलाकार ने कहा है कि उनका यह व्याख्यान घटित नहीं होता है, क्योंकि यह प्रकृत सूत्र[6] के विरुद्ध है। कारण यह कि इस सूत्र में 'राजुप्रतर से गुणित घनलोक' का निर्देश नहीं है, जिससे उनका उपर्युक्त व्याख्यान सत्य हो सके।

---

१. धवला, पु० ४, पृ० १५५-५६; ऐसा ही प्रसंग जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में भी प्राप्त हुआ है। पर वहाँ धवलाकारने 'रूवाहियाणि' में 'रूवेण अहियाणि रूवाहियाणि' ऐसा समास न करके 'रूवेहि अहियाणि रूवाहियाणि' ऐसा समास करते हुए उक्त परिकर्मसूत्र के साथ विरोध का परिहार भी कर दिया है। देखिए पु० ३, पृ० ३६

२. (कम्मइयकायजोगीसु) सासणसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदि-भागो। एक्कारह चोद्दसभागा देसूणा।—सूत्र १,४,९७-९८ (पु० ४, पृ० २७०)

३. एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णि पंचिदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे।—सूत्र १,१,३६ (पु० १, पृ० २६१)

४. सूत्र १,२,७४-७६ (पु० ३, पृ० ३०५-०७)

५. देखिए धवला, पु० ४, पृ० १६५

६. तिरिक्खगइ पाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ लोओ सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगा-हणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ।

—सूत्र ५,५,११८; पु० १३, पृ० ३७५-७७

इस प्रकार धवलाकार ने प्रकृत सूत्र के ही विरुद्ध होने से उपर्युक्त आचार्य के उस व्याख्यान को असंगत ठहराया है।

(५) इसी वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'वन्धन' अनुयोगद्वार में वादरनिगोद द्रव्यवर्गणा की प्ररूपणा के प्रसंग में वह किस क्रम से वृद्धिगत होकर जघन्य से उत्कृष्ट होती है, इसे धवला में स्पष्ट किया गया है व उसे जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यातगुणी कहा गया है। गुणकार का प्रमाण पूछने पर उसे जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र निर्दिष्ट किया गया है।

इसी प्रसंग में आगे धवला में कहा गया है कि कुछ आचार्य गुणकार के प्रमाण को आवली का असंख्यातवाँ भाग कहते हैं, पर वह घटित नहीं होता है। कारण यह है कि आगे यहीं पर चूलिकासूत्र[1] में उत्कृष्ट वादर निगोदवर्गणा में अवस्थित निगोदों का प्रमाण जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र कहा गया है। इस प्रकार आचार्यों का वह कथन उस चूलिकासूत्र के विरुद्ध पड़ता है। और सूत्र के विरुद्ध आचार्यों का कथन प्रमाण नहीं होता है, अन्यथा अव्यवस्था का प्रसंग अनिवार्य होगा।[2]

इस प्रकार यहाँ धवलाकार ने चूलिकासूत्र के विरुद्ध होने से किन्हीं आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार सम्बन्धी अभिमत का निराकरण करते हुए जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही गुणकार को मान्य किया है।

इसी प्रकार के अन्य भी कितने ही प्रसंग धवला में पाये जाते हैं जिनका धवलाकार ने सूत्र के विरुद्ध होने से निराकरण किया है।

परस्पर-विरुद्ध सूत्रों के सद्भाव में धवलाकार का दृष्टिकोण

धवलाकार के समक्ष ऐसे भी अनेक प्रसंग उपस्थित हुए हैं जहाँ सूत्रों में परस्पर कुछ अभिप्रायभेद रहा है। ऐसे प्रसंगों पर धवलाकार ने कहीं दोनों ही सूत्रों को प्रमाणभूत मानने की प्रेरणा की है, तो कहीं पर उपदेश प्राप्त कर उनकी सत्यता-असत्यता के निर्णय करने की प्रेरणा की है। कहीं उनमें समन्वय करने का प्रयत्न किया है, तथा कहीं पर आगमानुसारिणी युक्ति के वल पर अपना स्वतंत्र अभिप्राय भी व्यक्त कर दिया है। यथा—

(१) जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में मनुष्यगति के प्रसंग में क्षपण विधि की प्ररूपणा करते हुए धवला में कहा गया है कि अनिवृत्तिकरणकाल में संख्यातवें भाग के शेप रह जाने पर स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रत्याख्यानावरण-अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि रूप आठ कपायों का क्षय करता है। यह सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत का उपदेश है।

किन्तु कषायप्राभृत के उपदेशानुसार आठ कषायों के क्षय को पूर्व में और तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है।

इस प्रसंग में धवलाकार ने अवसरप्राप्त जिन अनेक शंकाओं का समाधान किया है उनमें एक यह भी शंका रही है कि आचार्यकथित सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत की सूत्ररूपता कैसे सम्भव है।

---

१. वादरणिगोदवग्गणाए उक्कस्सियाए सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं।
—५,६,६३९ (पु० १४, पृ० ४९३-९४)

२. देखिए, धवला, पु० १४, पृ० १११

इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है जिन बारह अंगों का कथन अर्थरूप से तीर्थंकरों ने किया है और जिनकी ग्रन्थरूप से रचना गणधरों ने की है वे बारह अंग अविच्छिन्न आचार्य-परम्परा से निरन्तर चले आये हैं। किन्तु काल के प्रभाव से बुद्धि के उत्तरोत्तर हीन होते जाने पर पात्र के अभाव में वे ही अंगहीन रूप में प्राप्त हुए। इस परिस्थिति में अतिशयित बुद्धि के धारकों की उत्तरोत्तर होती हुई कमी को देखकर जो गृहीतार्थ आचार्य-परम्परा से प्राप्त विशिष्ट श्रुत के धारक—वज्रभीरु आचार्य तीर्थव्युच्छेद के भय से अतिशय भयभीत रहे हैं, उन आचार्यों ने उन्हीं बारह अंगों को पोथियों में चढ़ा दिया है—पुस्तकों के रूप में निबद्ध कर दिया है। इसलिए उनके सूत्ररूप न होने का विरोध है।

इस पर शंकाकार कहता है कि यदि ऐसा है तो इन वचनों के—सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत के उपर्युक्त विरुद्ध कथनों के—भी उक्त बारह अंगों के अवयवस्वरूप होने से सूत्ररूपता का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके समाधान में धवलाकार ने स्पष्ट किया है कि उन दोनों कथनों में से एक के सूत्ररूपता हो सकती है, दोनों के नहीं; क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।

इसी प्रसंग में आगे शंकाकार पूछता है कि उत्सूत्र—सूत्र के विरुद्ध लिखने वाले वज्रभीरु आचार्य—पाप से अतिशय भयभीत—कैसे हो सकते हैं। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह कुछ दोष नहीं है, क्योंकि उन दोनों में से किसी एक का संग्रह करने पर वज्रभीरुता नष्ट होती है। कारण यह है कि उन दोनों वचनों में कौन-सा सत्य है, इसे केवली व श्रुत-केवली ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं जानता है; क्योंकि अन्य को उसका निर्णय करना शक्य नहीं है। इसलिए वर्तमान में वज्रभीरु आचार्यों को उन दोनों का ही संग्रह करना चाहिए, अन्यथा उनकी वज्रभीरुता नष्ट होती है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों प्रकार के कथनों में कौन सत्य है और कौन असत्य है, इसका निर्णय करना छद्मस्थ के लिए शक्य न होने से सूत्रासादना से भयभीत धवलाकार ने उन दोनों के ही संग्रह करने की प्रेरणा की है।

(२) यहीं पर आगे दूसरा भी एक इसी प्रकार का प्रसंग धवलाकार के समक्ष उपस्थित हुआ है। वहाँ कार्मणकाययोग किनके होता है, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि वह विग्रहगति को प्राप्त हुए जीवों के और समुद्घातगत केवलियों के होता है।

—सूत्र १, १, ६०

इस प्रसंग में धवला में शंकाकार ने केवलिसमुद्घात सहेतुक है या अहेतुक, इन दो विकल्पों को उठाकर उन दोनों ही विकल्पों में उसकी असम्भावना प्रकट की है। शंकाकार के इस अभिमत का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि आचार्य यतिवृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय के अन्तिम समय में सब अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं रहती है, इसलिए सभी केवली समुद्घात करते हुए ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। किन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरणसमुद्घातगत केवलियों की बीस संख्या का नियम है[2] उनके मतानुसार कितने ही

---

१. देखिए धवला, पु० १, पृ० २१७-२२

२. सजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा।—सूत्र १,२,१२३ (पु० ३, पृ० ४०४) इसकी टीका भी द्रष्टव्य है।

समुद्घात को करते हैं और कितने ही उसे नहीं भी करते हैं।

इसी प्रसंग में आगे अवसरप्राप्त कुछ शंका-समाधान के पश्चात् शंकाकार कहता है कि अन्य आचार्यों के द्वारा जिस अर्थ का व्याख्यान नहीं किया गया है, उसका कथन करते हुए आपको सूत्र के प्रतिकूल चलने वाले क्यों न समझा जाय। इसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि जो आचार्य वर्षपृथक्त्व प्रमाण अन्तर के प्रतिपादक सूत्र के[1] वशवर्ती हैं उन्हीं के द्वारा उसका विरोध सम्भव है।

आगे एक गाथासूत्र के[2] आधार पर यह शंका की गयी है कि "छह मास आयु के शेष रह जाने पर जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, वे समुद्घातपूर्वक सिद्ध होते हैं, शेष के लिए उस समुद्घात के विषय में नियम नहीं है—उनमें कुछ उसे करते हैं और कुछ नहीं भी करते हैं" इस गाथा के उपदेश को क्यों नहीं ग्रहण किया जाता है। इसके समाधान में वहाँ कहा गया है कि विकल्परूपता में कोई कारण उपलब्ध नहीं होता।

यदि कहा जाय कि "जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आयु के समान होते हैं, वे समुद्घात को न करते हुए मुक्ति को प्राप्त होते हैं, इसके विपरीत दूसरे समुद्घातपूर्वक मुक्त होते हैं"[3] यह आगमवचन ही उस विकल्परूपता का कारण है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब जीवों में समान अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा घात को प्राप्त हुई स्थितियों के आयु के समान होने का विरोध है। इसके अतिरिक्त क्षीणकषाय के अन्तिम समय में तीन अघातिया कर्मों की जघन्य स्थिति भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही उपलब्ध होती है।

इस पर शंकाकार के द्वारा यह कहने पर कि आगम तर्क का गोचर नहीं होता है, धवलाकार ने कहा है कि उक्त दोनों गाथाओं की आगमरूपता निर्णीत नहीं है। और यदि उनके आगमरूप होने का निर्णय हो सकता है तो उन गाथाओं को ही ग्रहण किया जाय।[4]

इस प्रकार धवलाकार ने यहाँ प्रथम तो यतिवृषभाचार्य के उपदेश को प्रधानता देकर यह कहा है कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक मुक्ति को प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् शंकाकार के द्वारा प्रस्तुत की गयी उन दो गाथाओं को लक्ष्य में रखकर यह भी उन्होंने कह दिया है कि यदि उन दोनों गाथाओं की आगमरूपता निर्णीत है तो उनको ही ग्रहण किया जाय।

ये दोनों गाथाएँ अभिप्राय में प्रायः 'भगवती आराधना' की २१०५-७ गाथाओं के समान हैं, शब्दसाम्य भी उनमें बहुत-कुछ है।

विशेष चिन्तन

ऊपर यतिवृषभाचार्य के उपदेश को प्रस्तुत करते हुए धवला में कहा गया है कि क्षीणकषाय

---

१. सजोगिकेवलीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं। उक्कस्सेण वास पुधत्तं।—सूत्र १,६,१६६-६७ व १७७ (पु० ५, पृ० ९१ व ९३)
(यहाँ मूल में पाठ कुछ अव्यवस्थित सा दिखता है।)

२. छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए॥—पु० १, पृ० ३०३

३. जेसिं आउसमाइं णामा-गोदाणि वेयणीयं च।
ते अकयसमुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए॥—पु० १, पृ० ३०४

४. देखिए धवला पु० १, पृ० ३०१-०४

के अन्तिम समय में अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं रहती, इससे सभी केवली समुद्-घात को करते हुए मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

इसे हमने कषायप्राभृत-चूर्णि में खोजने का प्रयत्न किया है, पर उनका वह मत उस प्रकार के स्पष्ट शब्दों में तो उपलब्ध नहीं हुआ, फिर भी प्रसंग के अनुसार जो कुछ वहाँ विवेचन किया गया है उससे यतिवृषभाचार्य का वह अभिप्राय प्रायः स्पष्ट हो जाता है। वहाँ चारित्रमोह की क्षपणा के प्रसंग में यह कहा गया है—

जब वह अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक होता है, तब उसके नाम व गोत्र कर्मों का स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त और वेदनीय का बारह मुहूर्त प्रमाण होता है। नाम, गोत्र और वेदनीय का स्थितिसत्कर्म असंख्यातवर्ष रहता है। इस क्रम से चलकर वह अनन्तर समय में प्रथम समयवर्ती क्षीणकषाय हो जाता है। तब वह स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अबन्धक हो जाता है।[1]

आगे 'पश्चिमस्कन्ध' को प्रारम्भ करते हुए यह कहा गया है कि आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर आवर्जितकरण को करता है और तत्पश्चात् केवलीसमुद्घात को करता है।

इसी प्रसंग में वहाँ आगे कहा गया है कि लोकपूरणसमुद्घात के करने पर तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को आयु से संख्यातगुणी स्थापित करता है।[2]

यहाँ 'पश्चिमस्कन्ध' में जो यह कहा गया है कि आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर आवर्जितकरण के पश्चात् केवलीसमुद्घात को करता है, उसमें केवलिसमुद्घात के न करने का कोई विकल्प नहीं प्रकट किया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि सभी केवली अनिवार्य रूप से उस केवलिसमुद्घात को किया करते हैं।

आगे वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि चौथे समय में किये जानेवाले लोकपूरण समुद्-घात के सम्पन्न होने पर नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को आयु से संख्यातगुणी स्थापित करता है। इन तीन अघातिया कर्मों की स्थिति योग का निरोध हो जाने पर आयु के समान होती है। तत्पश्चात् वह शैलेश्य अवस्था को प्राप्त कर अयोगिकेवली हो जाता है।[3]

यहाँ यह कहा गया है कि लोकपूरण समुद्घात के होने पर तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को आयु से संख्यातगुणी स्थापित करता है, इससे स्पष्ट है कि पूर्व में उन अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं होती है।

इस विवेचन से यही निश्चित प्रतीत होता है कि यतिवृषभाचार्य को सभी केवलियों के

---

१. ताधे चरिमसमयसुहुमसांपराइयो जादो ताधे णामा-गोदाणं ट्ठिदिबंधो अट्ठमुहुत्ता। वेदणीयस्स ट्ठिदिबंधो बारस मुहुत्ता। × × × णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्ममसंखेज्जाणि वस्साणि।—क० पा० सुत्त, पृ० ८९४, चूर्णि १५५७-५८ व १५६०

२. पच्छिमक्खंधेत्ति अणियोगद्दारे इमा मग्गणा। अंतोमुहुत्ते आउगे सेसे तदो आवज्जिदकरणे कदे तदो केवलिसमुग्घादं करोदि। × × × तदो चउत्थसमये लोगं पूरेदि। लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स त्ति समजोगो त्ति णायव्वो। लोगे पुण्णे अंतोमुहुत्तं ट्ठिदिं ठवेदि। संखेज्जगुणमाउआदो।—क०पा० सुत्त, पृ० ९००-०२, चूर्णि १-२ व ११-१४

३. जोगम्हि णिरुद्धम्हि आउअसमाणि कम्माणि होंति। तदो अंतोमुहुत्तं सेलेसिं य पडिवज्जदि।—क०पा०सुत्त, पृ० ९०५, चूर्णि ४८-४९

द्वारा केवलिसमुद्घात का करना अभिप्रेत रहा है।

वह केवलिसमुद्घातविषयक विकल्प 'भगवती आराधना' (२१०५-७) के समान सर्वार्थसिद्धि (९-४४) और तत्त्वार्थवार्तिक (९-४४) में भी उपलब्ध होता है। वहाँ भी कहा गया है कि जब केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है तथा नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु के समान रहती है, तब वे समस्त वचनयोग और मनोयोग का तथा बादर काययोग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेते हुए सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती ध्यान पर आरूढ़ होने के योग्य होते हैं। किन्तु जब उनकी आयु तो अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है, पर शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति उससे अधिक होती है तब सयोगि-जिन चार समयों में आत्मप्रदेशों के विसर्पण रूप में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके आत्मप्रदेशों का संकोच करते हुए शेष रहे चार अघातिया कर्मों की स्थिति को समान कर लेते हैं और पूर्व शरीर के प्रमाण सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं। तत्पश्चात् समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यान पर आरूढ़ होते हैं।

समुद्घात विषयक यह दूसरा मत सम्भवतः मूल में कर्मप्रकृतिप्राभृत या षट्खण्डागम के कर्ता का रहा है। कारण यह है कि धवलाकार ने इस मत का आधार लोकपूरण-समुद्घात में बीस संख्या का नियम बतलाया है। यथा—

"येषामाचार्याणां लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित् समुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति।"—पु० १, पृ० ३०२

यह बीस संख्या का नियम षट्खण्डागम में कार्मणकाययोगियों के प्रसंग में उपलब्ध होता है। वहाँ यह एक सूत्र देखा जाता है—

"सजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा।"

—सूत्र १,२,१२३ (पु० ३, पृ० ४०४)

यद्यपि सूत्र में स्पष्टतया बीस संख्या का निर्देश नहीं किया गया है, पर उसकी व्याख्या में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि पूर्व आचार्यों के उपदेशानुसार साठ जीव होते हैं—प्रतर में बीस, लोकपूरण में बीस और फिर उतरते हुए प्रतर में बीस ही होते हैं। इस प्रकार यहाँ लोकपूरण में बीस संख्या का ही उल्लेख किया गया है।[1]

इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम प्रसंगप्राप्त शंका में द्वितीय विकल्प (निर्हेतुक) की असम्भावना को व्यक्त करते हुए शंकाकार ने यह कहा था कि यदि समुद्घात को निर्हेतुक माना जाता है तो उस परिस्थिति में सभी के समुद्घात को प्राप्त होते हुए मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। पर वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में लोकपूरणसमुद्घातगत केवलियों की बीस संख्या और वर्षपृथक्त्व प्रमाण अन्तर का नियम नहीं घटित होता है।[2]

यह वर्षपृथक्त्व प्रमाण अन्तर भी षट्खण्डागम में उपलब्ध होता है। वहाँ कार्मणकाययोग

---

१. एत्थ पुव्वाइरियोवएसेण सट्ठी जीवा हवंति। कुदो? पदरे बीस, लोगपूरणे बीस, पुणरवि ओदरमाणा पदरे बीस चेव भवंति त्ति।—पु० ३, पृ० ४०४

२. न द्वितीयविकल्पः, सर्वेषां समुद्घातगमनपूर्वकं मुक्तिप्रसंगात्। अस्तु चेन्न, लोकव्यापिनां केवलिनां विंशतिसंख्या-वर्षपृथक्त्वानन्तर (?) नियमानुपपत्तेः।—पु० १, पृ० ३०१ (पाठ कुछ अशुद्ध हुआ प्रतीत होता है।)

के प्रसंग में सयोगिकेवलियों के अन्तर को औदारिकमिश्रकाययोगियों के अन्तर के समान कहा गया है (सूत्र १,६,१७७)। औदारिकमिश्रकाययोगियों में सयोगिकेवलियों के अन्तर के प्ररूपक ये सूत्र उपलब्ध होते हैं—

"सजोगिकेवलीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं। उक्कस्सेण वासपुधत्तं। एगजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं, णिरंतरं।"

—सूत्र १,६,१६६-६८ (पु० ५, पृ० ६१)

इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि धवलाकार ने यतिवृषभाचार्य के मत को प्रधानता देकर दूसरे मत को प्रसंगप्राप्त उन दो गाथाओं के आधार पर सन्दिग्धावस्था में छोड़ दिया है।

(३) क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत 'भागाभाग' अनुयोगद्वार में सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था-युक्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक और सूक्ष्मनिगोद जीवों के भागाभाग के प्ररूपक तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं।

"सुहुमवणप्फदिकाइया सुहुमणिगोदजीवा सव्वजीवाणं केवडिओ भागो ? ॥२६॥"

"सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोदजीवपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडिओ भागो ? ॥३१॥"

"सुहुमवणप्फादिकाइय-सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडिओ भागो ? ॥३३॥"

इन तीन सूत्रों में सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों से सूक्ष्म निगोद जीवों का पृथक् उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग में धवलाकार ने सूत्र ३२ की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि यहाँ सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों को कहकर आगे सूक्ष्म निगोद जीवों का उल्लेख पृथक् से किया गया है। इससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोदजीव नहीं होते हैं।

इस पर वहाँ यह शंका उत्पन्न हुई है कि यदि ऐसा है तो "सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक निगोद ही होते हैं" यह जो कहा गया है, उसके साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उसके साथ कुछ विरोध नहीं होगा, क्योंकि सूक्ष्म निगोद सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही होते हैं, ऐसा वहाँ अवधारण नहीं किया गया है। इसे धवला में आगे अन्यत्र भी शंका-समाधानपूर्वक स्पष्ट किया गया है।[1]

यह ध्यान रहे कि आगे 'बन्धन' अनुयोगद्वार में शरीरिशरीर-प्ररूपणा के प्रसंग में यह एक सूत्र उपलब्ध होता है—

"तत्थ जे ते साधारणसरीरा ते णियमा वणप्फदिकाइया [चेवे त्ति]। अवसेसा पत्तेयसरीरा।"

—सूत्र १२०, (पु० १४, पृ० २२५)

जैसाकि ऊपर शंकाकार ने कहा है, इस सूत्र का भी यही अभिप्राय है कि साधारणशरीर (निगोदजीव) सब वनस्पतिकायिक ही होते हैं, उनसे पृथक् नहीं होते।

आगे सूत्र ३४ की व्याख्या के प्रसंग में पुनः शंका उठाते हुए यह कहा गया है कि 'निगोद सब वनस्पतिकायिक ही होते हैं, अन्य नहीं' इस अभिप्राय को व्यक्त करने वाले कुछ भागाभाग सूत्र स्थित हैं। सूक्ष्म वनस्पतिकायिक भागाभाग सम्बन्धी उन तीनों ही सूत्रों में निगोद जीवों का निर्देश नहीं किया गया है। इसलिए उन सूत्रों के साथ इन सूत्रों (२६,३१ व ३३) का विरोध होने वाला है।

इसके समाधान में धवलाकार कहते हैं कि यदि ऐसा है तो उपदेश को प्राप्त कर 'यह सूत्र

---

१. देखिए धवला, पु० ७, पृ० ५०४-६

है और यह असूत्र है' ऐसा, आगम में जो निपुण हैं वे कहें, किन्तु हम इस विषय में कुछ कहने के लिए समर्थ नहीं हैं, क्योंकि हमें इस प्रकार का उपदेश प्राप्त नहीं है।[1]

इस प्रकार धवलाकार ने आगम पर निष्ठा रखते हुए यह अभिप्राय प्रकट कर दिया है कि जिन्हें परम्परागत श्रुत से यह ज्ञात है कि अमुक सूत्र है और इसके विपरीत सूत्र नहीं है, वे अधिकारपूर्वक वैसा कह सकते हैं; पर उपदेश के अभाव में हम वैसा निर्णय करके आगम की अवहेलना नहीं कर सकते।

(४) यही प्रसंग यहीं पर आगे चलकर अल्पबहुत्वानुगम में पुनः प्राप्त हुआ है। वहाँ प्रसंग के अनुसार ये सूत्र प्राप्त होते हैं—

"सुहुमवणप्फदिकाइया असंखेज्जगुणा। वणप्फदिकाइया विसेसाहिया। णिगोदजीवा विसेसाहिया।"[2]—सूत्र २,११,७३-७५

यहाँ सूत्र ७५ की व्याख्या के प्रसंग में शंकाकार कहता है कि यह सूत्र निरर्थक है, क्योंकि वनस्पतिकायिकों से भिन्न निगोदजीव नहीं पाये जाते। दूसरे, वनस्पतिकायिकों से पृथग्भूत पृथिवीकायिक आदिकों में निगोद जीव हैं, ऐसा आचार्यों का उपदेश भी नहीं है; जिससे इस वचन की सूत्ररूपता का प्रसंग प्राप्त हो सके।

इस शंका का निराकरण करते हुए धवलाकार कहते हैं कि तुम्हारा कहना सत्य हो सकता है, क्योंकि बहुत से सूत्रों में वनस्पतिकायिकों के आगे 'निगोद' पद नहीं पाया जाता तथा बहुत से आचार्यों को वह अभीष्ट भी है। किन्तु यह सूत्र ही नहीं है, ऐसा अवधारण करना योग्य नहीं है। ऐसा तो वह कह सकता है जो चौदह पूर्वों का पारंगत हो अथवा केवलज्ञानी हो। परन्तु वर्तमान काल में वे नहीं हैं तथा उनके पास में सुनकर आने वाले भी इस समय नहीं प्राप्त होते। इसलिए सूत्र की आसादना से भयभीत आचार्यों को दोनों ही सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए।

इसी प्रसंग में कुछ अन्य शंका-समाधानों के पश्चात् यह भी एक शंका की गयी है कि सूत्र में वनस्पतिनामकर्म के उदय से युक्त सब जीवों के 'वनस्पति' संज्ञा दिखती है, तब फिर बादर निगोदजीवों से प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जीवों के यहाँ 'वनस्पति' संज्ञा का निर्देश सूत्र में क्यों नहीं किया गया। इस विषय में धवलाकार को यह कहना पड़ा है कि यह गौतम से पूछना चाहिए, गौतम को बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जीवों की 'वनस्पति' संज्ञा अभीष्ट नहीं है, यह हमने उनका अभिप्राय कह दिया है।[3]

यहाँ धवलाकार ने परस्पर भिन्न उपलब्ध दोनों प्रकार के सूत्रों में सूत्ररूपता का निर्णय करना शक्य न होने से सूत्रासादना से भीत आचार्यों को दोनों ही विभिन्न सूत्रों का व्याख्यान करने की प्रेरणा की है।

(५) बन्धस्वामित्वविचय में संज्वलनमान और माया इन दो प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि संज्वलन क्रोध के विनष्ट होने पर जो अनिवृत्तिकरण

---

१. धवला, पु० ७, पृ० ५०६-७

२. यहाँ पीछे इसी प्रकार के सूत्र २,११,५७-५९, आगे सूत्र २,११,१०२-६ तथा २,११-२, ७७-७९ भी द्रष्टव्य हैं।

३. धवला, पु० ७, पृ० ५३९-४१

काल का संख्यातवाँ भाग शेप रहता है उसके संख्यात खण्ड करने पर उनमें से वहुभाग को विताकर एक खण्ड के शेप रहने पर संज्वलनमान के बन्ध का व्युच्छेद होता है। पश्चात् उस एक खण्ड के भी संख्यात खण्ड करने पर, उनमें से बहुत खण्ड जाकर एक खण्ड रहने पर, संज्वलनमाया के बन्ध का व्युच्छेद होता है।

इस पर यह पूछने पर कि यह कैसे जाना जाता है, धवलाकार ने कहा है कि वह सूत्र में जो "सेसे सेसे संखेज्जे भागे गंतूण" इस प्रकार से 'सेसे' शब्द की पुनरावृत्ति की गयी है, उससे जाना जाता है।

इस पर शंकाकार कहता है कि यह सूत्र कपायप्राभृतसूत्र के साथ विरोध को प्राप्त होता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यथार्थ में वह कपायप्राभृत के साथ विरोध को प्राप्त होता है, किन्तु 'यही सत्य है, वही सत्य है' इस प्रकार से एकान्ताग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि श्रुतकेवलियों अथवा प्रत्यक्षज्ञानियों के विना वैसा अवधारण करने पर मिथ्यात्व का प्रसंग प्राप्त होता है।

आगे फिर यह शंका उठायी गयी है कि सूत्रों में परस्पर विरोध कैसे होता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि सूत्रों के उपसंहार अल्पश्रुत के धारक आचार्यों के आधीन रहे हैं, इसलिए उनमें विरोध की सम्भावना देखी जाती है। फिर भी जिस प्रकार अमृतसमुद्र के जल को घड़े आदि में भरने पर भी उसमें अमृतपना बना रहता है, उसी प्रकार इन विरुद्ध प्रतिभासित होने वाले सूत्रों में भी सूत्ररूपता समझनी चाहिए।[1]

इस प्रकार धवलाकार ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि जिस प्रकार अमृतसमुद्र के जल को किसी छोटे घड़े आदि में भरने पर भी उसका अमृतपना नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार विशाल सूत्रस्वरूप श्रुत का संक्षेप में उपसंहार करने पर भी उसकी सूत्ररूपता नष्ट नहीं होती है। यह अवश्य है कि अल्पज्ञों के द्वारा किए गये उपसंहार में क्वचित् विरोध की सम्भावना रह सकती है। पर केवली व श्रुतकेवली के विना चूंकि उसकी यथार्थता व अयथार्थता का निर्णय करना शक्य नहीं है, इसलिए उसके विपय में 'यह सत्य है और वह असत्य है' ऐसा कदाग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने पर मिथ्यात्व का प्रसंग प्राप्त होता है।

(६) वेदनाखण्ड के अन्तर्गत 'कृति' अनुयोगद्वार में प्रसंग प्राप्त होने पर धवलाकार ने कृति-संचित व नोकृतिसंचित आदिकों के अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की है। इस प्रसंग में सिद्धों में प्रकृत अल्पवहुत्व की कुछ विशेषता को प्रकट करते हुए धवला में यह स्पष्ट किया गया है कि यह अल्प-बहुत्व सोलह पदवाले अल्पबहुत्व के साथ विरोध को प्राप्त होता है, क्योंकि इसमें सिद्धकाल से सिद्धों का संख्यातगुणत्व नष्ट होकर विशेष अधिकता का प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रकार इस विषय में उपदेश प्राप्त करके किसी एक का निर्णय करना चाहिए।

इसी प्रसंग में आगे धवलाकार ने सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत को छोड़कर[2] सोलह पद वाले उस अल्पबहुत्वदण्डक को प्रधान करके उसकी प्ररूपणा की है।[3]

---

१. देखिए धवला, पु० ८, पृ० ५६-५७

२. सम्भवत: पूर्वोक्त अल्पवहुत्व सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत के अनुसार रहा है।

३. देखिए धवला, पु० ९, पृ० ३१८-२१ (सोलह पद वाला अल्पबहुत्व धवला, पु० ३, पृ० ३०-३१ में देखा जा सकता है।)

(७) वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी के विकल्पों के प्ररूपक सूत्र (५,५,१२०) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उस प्रसंग में दो भिन्न मतों का उल्लेख किया है और आगे यह भी कह दिया है कि ये दोनों मत सूत्रसिद्ध हैं, क्योंकि आगे उन दोनों उपदेशों के अनुसार पृथक्-पृथक् अल्पवहुत्व की वहाँ प्ररूपणा की गयी है।

इस पर वहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि विरुद्ध दो अर्थों का प्ररूपक सूत्र कैसे हो सकता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि यह सत्य है, जो सूत्र है वह अविरुद्ध अर्थ का ही प्ररूपक होता है। किन्तु यह सूत्र नहीं है, सूत्र के समान होने से उसे उपचार से सूत्र माना गया है। इस प्रसंग में आगे उन्होंने सूत्र के स्वरूप की प्ररूपक "सुत्तं गणधर कहियं" इत्यादि गाथा को उद्धृत करते हुए यह कहा है कि भूतवलि भट्टारक गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली अथवा अभिन्नदशपूर्वी नहीं हैं, जिससे यह सूत्र हो सके।

इस पर उसके अप्रमाणत्व की आशंका को हृदयंगम करते हुए आगे धवलाकार ने कहा है कि राग, द्वेष और मोह से रहित होने के कारण चूंकि वह प्रमाणीभूत पुरुषों की परम्परा से प्राप्त है, इसलिए उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

यहाँ यह विशेषता रही है कि धवलाकार ने इस विषय में अपने अभिप्राय को व्यक्त करते हुए अन्त में यह भी कहा है कि हमारा तो यह अभिप्राय है कि प्रकृत सूत्र का प्रथम प्ररूपित अर्थ ही समीचीन है, दूसरा समीचीन नहीं है। इसके कारण को भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। इसकी पुष्टि में आगे उन्होंने यह भी कहा है कि कुछ सूत्रपोथियों में दूसरे अर्थ के आश्रय से प्ररूपित अल्पवहुत्व का अभाव भी है।[1]

यहाँ धवलाकार ने प्रथम तो प्रकृत सूत्र के दोनों व्याख्यानों को सूत्रसिद्ध मान लिया है, क्योंकि उन दोनों व्याख्यानों के अनुसार प्रकृत आनुपूर्वीविकल्पों में मूल सूत्रों में ही दो प्रकार से अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।—देखिए सूत्र १२३-२७ व १२८-३२

अन्त में उन्होंने अपने स्वतन्त्र अभिप्राय के अनुसार प्रथम व्याख्यान को यथार्थ और दूसरे व्याख्यान को अयथार्थ वतलाया है। उसका एक कारण यह भी रहा है कि कुछ सूत्रपोथियों में दूसरे प्रकार के अल्पवहुत्व की प्ररूपणा नहीं उपलब्ध होती है।

सूत्र के अभाव में आचार्य-परम्परागत व गुरु के उपदेश को महत्व

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि धवलाकार के समक्ष जहाँ तक विवक्षित विषय से सम्वन्धित सूत्र रहा है, उन्होंने उसे ही महत्त्व दिया है। किन्तु जव उनके समक्ष विवक्षित विषय से सम्वद्ध सूत्र नहीं रहा है तव उन्होंने आचार्यपरम्परागत उपदेश या गुरूपदेश को भी महत्त्व दिया है। इसके लिए यहाँ कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्रकार द्वारा प्रमत्तसंयतों का प्रमाण कोटिपृथक्त्व निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र १,२,७

इसकी व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका की गयी है कि 'कोटिपृथक्त्व' से तीन करोड़ के नीचे की संख्या को ग्रहण करना चाहिए। पर उसके अनेक विकल्प होने से उनमें से प्रकृत में कौन सी संख्या अभिप्रेत रही है, यह नहीं जाना जाता। इसके स्पष्टीकरण में धवलाकार

---

१. धवला, पु० १३, पृ० ३७७-८२

ने कहा है कि वह परमगुरु के उपदेश से जानी जाती है। तदनुसार उन प्रमत्तसंयतों का प्रमाण पाँच करोड़ तेरानवै लाख अट्ठानवै हजार दो सौ छह (५९३९८२०६) है। इस पर पुनः यह पूछा गया है कि वह संख्या इतनी मात्र ही है, यह कैसे जाना जाता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह आचार्यपरम्परागत जिनोपदेश से जाना जाता है।[1]

यही प्ररूपणा का क्रम अप्रमत्तसंयतों की संख्या के विषय में भी रहा है।[2]

इस प्रकार सूत्र में प्रमत्तसंयतों और अप्रमत्तसंयतों की निश्चित संख्या का उल्लेख न होने पर भी धवलाकार ने उसका उल्लेख परमगुरु के उपदेश और आचार्य-परम्परागत जिनदेव के उपदेश के अनुसार किया है।

(२) यहीं पर आगे नरकगति के आश्रय से द्वितीयादि छह पृथिवियों के मिथ्यादृष्टि नारकियों की संख्या को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जगश्रेणि के प्रथम वर्गमूल को आदि करके नीचे के बारह वर्गमूलों को परस्पर गुणित करने से जो राशि प्राप्त हो, उतना दूसरी पृथिवी के मिथ्यादृष्टि नारकियों का द्रव्यप्रमाण है। इसी क्रम से आगे दस, आठ, छह, तीन और दो वर्गमूलों को परस्पर गुणित करने से क्रमशः तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं पृथिवी के मिथ्यादृष्टि नारकियों का द्रव्यप्रमाण प्राप्त होता है।

इस पर वहाँ यह पूछा गया है कि इतने वर्गमूलों का परस्पर संवर्ग करने पर द्वितीयादि पृथिवियों के नारकियों का द्रव्यप्रमाण होता है, यह कैसे जाना जाता है। उत्तर में कहा गया है कि वह आचार्यपरम्परागत अविरुद्ध उपदेश से जाना जाता है।[3]

यहाँ सूत्र (१,२,२२) में सामान्य से द्वितीयादि पृथिवियों के मिथ्यादृष्टि नारकियों का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र बतलाकर उसका आयाम प्रथमादि संख्यात वर्गमूलों के परस्पर गुणित करने से प्राप्त असंख्यात कोटि योजन प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने जो विशेष रूप से जगश्रेणि के बारह व दस आदि वर्गमूलों को ग्रहण किया है, उन्हें आचार्यपरम्परागत उपदेश के अनुसार ग्रहण किया है।

(३) जीवस्थान-कालानुगम में सूत्रकार द्वारा बादर पृथिवीकायिकादिकों का उत्कृष्ट काल कर्मस्थिति प्रमाण कहा गया है।—सूत्र १,५,१४४

यहाँ धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्र में निर्दिष्ट 'कर्मस्थिति' से क्या सब कर्मों की स्थितियों को ग्रहण किया जाता है या एक ही कर्म की स्थिति को ग्रहण किया जाता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि सब कर्मों की स्थितियों को न ग्रहण करके एक ही कर्म की स्थिति को ग्रहण किया गया है, उसमें भी दर्शनमोहनीय की ही सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही प्रधान है। इसका भी कारण यह है कि उसमें समस्त कर्मस्थितियाँ संगृहीत हैं। इस प्रसंग में यह पूछे जाने पर कि यह कैसे जाना जाता है, धवलाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह स्पष्टीकरण हमने गुरु के उपदेश के अनुसार किया है।[4]

---

१. धवला, पु० ३, पृ० ८८-८९

२. वही, पृ० ८९

३. धवला, पु० ३, पृ० १९९-२०१

४. धवला, पु० ४, पृ० ४०२-३

(४) जीवस्थान-अन्तरानुगम में प्रसंगप्राप्त तिर्यंचगति में तिर्यंचमिथ्यादृष्टियों का अन्तर एक जीव की अपेक्षा कुछ कम तीन पल्योपम प्रमाण कहा गया है।—सूत्र १,६,३५-३७

इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि इस विषय में दो उपदेश हैं—एक उपदेश के अनुसार जीव तिर्यंचों में दो मास और मुहूर्तपृथक्त्व के ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयम ग्रहण करता है। मनुष्यों में वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक आठ वर्ष का होने पर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम को ग्रहण करता है। यह दक्षिण प्रतिपत्ति है। दक्षिण, ऋजु और आचार्य-परम्परागत—ये समान अर्थ के वाचक हैं।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जो जीव (मनुष्य) आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त का होकर सम्यक्त्व, संयम व संयमासंयम को ग्रहण करता है वह गर्भ से लेकर आठ वर्ष का होने पर उन्हें ग्रहण करता है। इसे दक्षिण प्रतिपत्ति कहा गया है। उत्तर प्रतिपत्ति के अनुसार वह आठ वर्षों के ऊपर उन्हें ग्रहण करता है।

इसी प्रकार का एक प्रसंग प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा की प्ररूपणा करते समय भी प्राप्त हुआ है। वहाँ धवलाकार ने प्रथमतः गर्भनिष्क्रमण से लेकर आठ वर्ष कहा है और तत्पश्चात् वहीं पर आगे गर्भ से लेकर आठ वर्ष कहा है। इस प्रकार इन दोनों कथनों में भिन्नता हो गयी है।
—पु० १४, पृ० ६६ व ७१

दूसरे उपदेश के अनुसार तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ जीव तीन पक्ष, तीन दिन और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयम को प्राप्त करता है। मनुष्यों में उत्पन्न हुआ जीव आठ वर्षों के ऊपर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम को प्राप्त करता है। यह उत्तरप्रतिपत्ति है। उत्तर, अनृजु और आचार्यपरम्परा से अनागत—इनका एक ही अर्थ है।[1]

इस प्रकार धवलाकार ने तिर्यंच मिथ्यादृटियों के सूत्रनिर्दिष्ट कुछ कम तीन पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर को स्पष्ट करते हुए सम्यक्त्व व संयमासंयम के ग्रहण का प्रसंग पाकर उससे सम्बन्धित उपर्युक्त दो उपदेशों का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने आचार्यपरम्परागत उपदेश को दक्षिणप्रतिपत्ति और आचार्यपरम्परा से अनागत उपदेश को उत्तरप्रतिपत्ति कहा है। प्रकृत में धवलाकार ने आचार्यपरम्परागत प्रथम उपदेश के अनुसार ही उपर्युक्त अन्तर की प्ररूपणा की है व दूसरे उपदेश की उपेक्षा की है।

(५) वेदनाद्रव्यविधान में ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा करते हुए प्रसंगवश धवला में कहा गया है कि विवक्षित अनुत्कृष्ट प्रदेशस्थानों का स्वामी गुणितकर्मांशिक होता है।

इस प्रसंग में वहाँ यह शंका उठायी गयी है कि गुणितकर्मांशिक जीव के इनसे अधिक स्थान क्यों नहीं होते। इसके उत्तर में वहाँ कहा गया है कि गुणितकर्मांशिक के उत्कर्ष से एक ही समयप्रबद्ध बँधता व हानि को प्राप्त होता है ऐसा आचार्यपरम्परागत उपदेश है।

आगे वहाँ कहा गया है कि गुणितकर्मांशिक के इस अनुत्कृष्ट जघन्य प्रदेशस्थान से गुणित-घोलमान का उत्कृष्ट प्रदेशस्थान विशेष अधिक होता है। इसको छोड़कर और गुणितकर्मांशिक के जघन्य प्रदेशस्थान प्रमाण गुणितघोलमान के अनुत्कृष्ट प्रदेशस्थान को ग्रहण करके एक परमाणुहीन व दो परमाणुहीन आदि के क्रम से हीन करते हुए गुणितघोलमान के उत्कृष्ट

---

१. धवला, पु० ५, पृ० ३१-३२

प्रदेशस्थान से असंख्यातगुणा हीन उसी का जघन्य प्रदेशस्थान होता है। गुणिकर्मांशिक के जघन्य प्रदेशस्थान के समान गुणितघोलमान के प्रदेशस्थान से अनन्तभागहीन, असंख्यातभागहीन, संख्यातभागहीन, संख्यातगुणहीन और असंख्यातगुणहीन स्वरूप से हानि को प्राप्त होनेवाले अपने इन स्थानों का गुणितघोलमान स्वामी होता है। कारण यह कि गुणितघोलमान के स्थानों के पाँच वृद्धियाँ और पाँच हानियाँ होती हैं, ऐसा गुरु का उपदेश है।[1]

इस प्रकार से धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त ज्ञानावरणीय के अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदनास्थानों के यथासम्भव स्वामियों का उल्लेख आचार्यपरम्परागत उपदेश और गुरु के उपदेश के आधार से किया है।

(६) आगे इसी वेदनाद्रव्यविधान की चूलिका में सूत्रकार के द्वारा वर्गणाओं का प्रमाण श्रेणि के असंख्यातवें भागमात्र असंख्यात निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र ४,२,४,१८१

इसकी व्याख्या करते हुए उस प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि सभी वर्गणाओं की दीर्घता समान नहीं है, क्योंकि वे आदिमवर्गणा से लेकर उत्तरोत्तर विशेष हीन स्वरूप से अवस्थित हैं। इस पर यह पूछने पर कि वह कैसे जाना जाता है, धवलाकार ने कहा है कि वह आचार्य-परम्परागत उपदेश से जाना जाता है।[2]

यहीं पर आगे धवलाकार ने गुरु के उपदेश के बल से प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व इन छह अनुयोगद्वारों में वर्गणा-सम्बन्धी जीवप्रदेशों की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा करते हुए यथाक्रम से उनकी प्ररूपणा की है।[3]

(७) इसके पूर्व इस वेदनाद्रव्यविधान में ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा के प्रसंग में "संजमं पडिवण्णो" सूत्र (४,२,४,६०) की व्याख्या में यह पूछा गया है कि यहाँ असंख्यातगुणित श्रेणि के रूप में कर्मनिर्जरा होती है, यह कैसे जाना जाता है। उत्तर में धवलाकार ने "सम्मत्तुप्पत्ती वि य" आदि दो गाथाओं को उद्धृत करते हुए यह कहा है कि वह इन गाथासूत्रों के द्वारा जाना जाता है।

इसी प्रसंग में आगे यह भी शंका उठी है कि यहाँ जो द्रव्य निर्जरा को प्राप्त हुआ है, वह बादर एकेन्द्रियादिकों में संचित द्रव्य से असंख्यातगुणा है, यह कैसे जाना जाता है। इसके उत्तर में प्रथम तो धवला में यह कहा गया है कि सूत्र में 'संजमं पडिवज्जिय' ऐसा न कहकर 'संजमं पडिवण्णो' यह जो कहा गया है उससे जाना जाता है कि यहाँ निर्जीर्ण द्रव्य त्रस व बादर-कायिकों में संचित द्रव्य से असंख्यातगुणा है, क्योंकि आचार्य प्रयोजन के बिना क्रिया की समाप्ति को नहीं कहते हैं। इससे यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि त्रस-स्थावरकायिकों में संचित द्रव्य से असंख्यातगुणे द्रव्य की निर्जरा करके संयम को प्राप्त हुआ है।

इसी शंका के समाधान में प्रकारान्तर से वहाँ यह भी कहा गया है—अथवा 'गुणश्रेणि की जघन्य स्थिति में प्रथम बार निषिक्त द्रव्य असंख्यात आवलियों के समयप्रमाण समयप्रबद्धों से युक्त होता है' इस प्रकार का जो आचार्य-परम्परागत उपदेश है उससे जाना जाता है कि यहाँ निर्जराप्राप्त द्रव्य असंख्यातगुणा है।[4]

१. धवला, पु० १०, पृ० २१४-१५
२. धवला, पु० १०, पृ० ४४४
३. वही, पृ० २४४-४६
४. धवला, पु० १०, पृ० २७८-८३

(८) 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में व्यंजनावग्रहावरणीय के प्रसंग में तत-वितत आदि शब्दों और भाषा-कुभाषा के विषय में कुछ विचार किया गया है। इस प्रसंग में धवला में यह कहा गया है कि शब्दपुद्गल अपने उत्पत्ति-क्षेत्र से उछलकर दस दिशाओं में जाते हुए उत्कृष्ट रूप से लोक के अन्त तक जाते हैं।

इस पर, यह कहाँ से जाना जाता है—ऐसा पूछने पर धवलाकार ने कहा है कि वह सूत्र से अविरुद्ध आचार्य-वचन से जाना जाता है।[1]

(९) इसी 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में आगे अवधिज्ञानावरणीय के प्रसंग में अवधिज्ञान के भेद-प्रभेदों का विचार करते हुए उनमें एकक्षेत्र अवधिज्ञान के श्रीवत्स, कलश व शंख आदि कुछ विशिष्ट स्थानों को ज्ञातव्य कहा गया है।—सूत्र ५,५,५८

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि ये संस्थान तिर्यंच व मनुष्यों के नाभि के उपरिम भाग में होते हैं, नाभि के नीचे वे नहीं होते हैं; क्योंकि शुभ संस्थानों का शरीर के अधोभाग के साथ विरोध है। तिर्यंच व मनुष्य विभंगज्ञानियों के नाभि के नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। आगे उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस विषय में कोई सूत्र उपलब्ध नहीं है, गुरु के उपदेशानुसार यह व्याख्यान किया गया है। विभंगज्ञानियों के सम्यक्त्व आदि के फलस्वरूप अवधिज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर, वे गिरगिट आदि रूप अशुभ संस्थान नष्ट होकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ संस्थान हो जाते हैं। इसी प्रकार अवधिज्ञान से पीछे आये हुए विभंगज्ञानियों के भी शुभ संस्थान हटकर अशुभ संस्थान हो जाते हैं, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।[2]

(१०) यहीं पर उक्त अवधिज्ञान की प्ररूपणा के प्रसंग में "कालो चदुण्ण वुड्ढी" इत्यादि गाथासूत्र प्राप्त हुआ है। धवला में यहाँ इसके शब्दार्थ को स्पष्ट करते हुए आगे यह कहा गया है कि इस गाथा की प्ररूपणा जिस प्रकार वेदनाखण्ड में की गयी है (पु० ९, पृ० २८-४०) उसी प्रकार उसकी प्ररूपणा पूर्ण रूप से यहाँ करनी चाहिए। आगे वहाँ यह सूचना की गयी है कि इस गाथा के अर्थ का सम्बन्ध देशावधि के साथ जोड़ना चाहिए, परमावधि के साथ नहीं।

इस पर यह पूछने पर कि वह कहाँ से जाना जाता है, धवलाकार ने कहा है कि वह आचार्यपरम्परागत सूत्र से अविरुद्ध व्याख्यान से जाना जाता है। आगे कहा गया है कि परमावधिज्ञान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की वृद्धि एक साथ होती है, ऐसा कथन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा अविरुद्ध आचार्यों का कथन है।[3]

यहीं पर आगे धवला में मनःपर्ययज्ञान के विषय की प्ररूपणा के प्रसंग में यह सूचना की गयी है कि इस प्रकार के ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान के विषयभूत जघन्य उत्कृष्ट द्रव्य के ये विकल्प सूत्र में नहीं हैं, फिर भी हमने उनकी प्ररूपणा पूर्वाचार्यों के उपदेशानुसार की है।[4]

---

१. वही, पु० १३, पृ० २२१-२२
२. धवला, पु० १३, पृ० २९७-९८
३. ,, पृ० ३०९-१०
४. धवला, पु० १३, पृ० ३३७

आचार्यपरम्परागत उपदेश और गुरूपदेश के कुछ अन्य प्रसंग इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

	पु०	पृष्ठ	प्रसंग
१.	३	३३६	···त्ति घेत्तव्वं, आइरियपरंपरागओएसत्तादो ।
२.	,,	४०२	एत्थ आइरियपरंपरागदोवएसेण···
३.	,,	४०६	णत्थि सुत्तं वक्खाणं वा, किंतु आइरियवयणमेव केवलमत्थि।
४.	५	३१	कधमेदं णव्वदे ? आइरियपरंपरागदुवदेसादो ।
५.	६	१०३	···णियमस्स आइरियपरंपरागयस्स पदुप्पायणट्ठं कदो ।
६.	११	१५-१६	सुत्तेण विणा कधमेदं णव्वदे ? आइरियपरंपरागयपवाइज्जंतुवदेसादो ।
७.	१२	४३	कधमेदेसिं तुल्लत्तं णव्वदे ? ण, आइरियोवदेसादो ।
८.	,,	६४	कुदो ? आइरियोवदेसादो ।
९.	,,	२२१	कुदो णव्वदे ? आइरियोवदेसादो ।
१०.	१३	२२२	कुदो एदं णव्वदे ? सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो ।
११.	,,	३०२	···आइरियपरंपरागदअविरुद्धुवदेसादो ।
१२.	,,	३२०	···त्ति कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१३.	,,	३८५	···त्ति कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१४.	१४	५९	कधमेदं णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१५.	,,	६१	···त्ति कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१६.	,,	८१	···त्ति अविरुद्धाइरियवयणेण अवगदत्तादो ।
१७.	,,	८३	···त्ति कथं णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१८.	१४	९९-१००	कुदो एदं णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१९.	,,	१०७	···त्ति कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
२०.	,,	१४८	कुदो एदं णव्वदे ? आइरियपरंपरागदसुत्ताविरुद्धगुरूवदेसादो ।
२१.	,,	१६८-६९	कुदो एदमवगम्मदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
२२.	,,	१७०	कुदो एदं णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो सुत्तसमाणादो ।
२३.	,,	२०८	···त्ति कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो जुत्तीए च ।
२४.	,,	५१५	कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।

गुरूपदेश

१.	३	८९	···त्ति ण जाणिज्जदे । ण, परमगुरूवदेसादो जाणिज्जदे ।
२.	,,	,,	···त्ति कधं णव्वदे ? आइरियपरंपरागदजिणोवदेसादो ।
३.	४	१७५	···आणुपुव्वीए विवागो होदि त्ति गुरूवएसादो ।
४.	,,	४०३	कुदो ? गुरूवदेसादो ।
५.	७	३७१	जोयणलक्खवाहल्लो तिरियलोगो त्ति गुरूवएसादो ।

	पु०	पृष्ठ	प्रसंग
६.	९	६४	इदमेव इंदियं घेप्पदि त्ति कधं णव्वदे? गुरूवदेसादो।
७.	१०	६५	···वग्गणाओ होंति त्ति गुरूवदेसादो।
८.	,,	७४	कुदो णव्वदे? परमगुरूवदेसादो।
९.	,,	१०६	···होंति त्ति परमगुरूवदेसादो।
१०.	,,	२१५	···होंति त्ति गुरूवएसादो।
११.	,,	३०४	···समयपवद्धो वड्ढदि त्ति गुरूवएसादो।
१२.	,,	३०६	···समयपवद्धो वड्ढदि त्ति गुरूवदेसादो।
१३.	,,	३८६-८७	···एइंदियसमयपवद्धा अत्थित्ति गुरूवदेसादो।
१४.	,,	४५५	···दुगुणो चेव होदि त्ति गुरूवएसादो।
१५.	,,	४८२	···होंति त्ति गुरूवएसादो णव्वदे।
१६.	११	३५	होदि त्ति कुदो णव्वदे? परमगुरूवदेसादो।
१७.	,,	२४२	कधमेदं णव्वदे? परमगुरूवदेसादो।
१८.	१२	४३	कधं तुल्लत्तं णव्वदे? परमगुरूवएसादो।
१९.	,,	४४६-४७	···तो एगसमयपवद्धो चेव झिज्जदि त्ति गुरूवदेसादो।
२०.	१३	२९८	···होंति त्ति गुरूवदेसो, ण सुत्तमत्थि।
२१.	,,	३०४-५	···पमाणंगुलादीणं गहणं कायव्वमिदि गुरूवदेसादो।
२२.	,,	३१४	···कुदो णव्वदे? गुरूवदेसादो।
२३.	,,	३१६	कुदो एदमवगम्मदे? गुरूवदेसादो।
२४.	,,	३२०-२१	एसो वि गुरूवएसो चेव, वट्टमाणकाले सुत्ताभावादो।
२५.	१४	१४८	कुदो एदं णव्वदे? आइरियपरंपरागदसुत्ताविरुद्धगुरूवदेसादो।
२६.	,,	१६४	कुदो एदं णव्वदे? गुरूवदेसादो।
२७.	,,	२१२	···कुदो णव्वदे? गुरूवदेसादो।

सूत्राभाव

१.	१	२१९	···तेसिं णिरूवयसुत्ताभावादो।
२.	,,	२२०	···तहा पडिवाययसुत्ताभावादो।
३.	३	३६	···तदत्थित्तविहाययसुत्ताणुवलंभादो।
४.	,,	३७	···तदणुग्गहकारिसुत्ताणुवलंभादो।
५.	,,	४०६	णत्थि सुत्तं वक्खाणं वा, किंतु आइरियवयणमेव केवलमत्थि।
६.	६	२६९	···त्ति लोत्तुं जुत्तं, तप्पदुप्पायणसुत्ताभावा।
७.	११	१६	···परूवयसुत्त-वक्खाणाणमणुवलंभादो।
८.	,,	३२८	एदं ण जाणिज्जदे। कुदो? सुत्ताभावादो।
९.	१२	४९४	···समयपवद्धट्ठदा होंति त्ति सुत्ताभावादो।
१०.	१३	१९५	असंवद्धमिदमप्पाबहुअं, सुत्ताभावादो।
११.	,,	२९८	···त्ति गुरूवदेसो, ण सुत्तमत्थि।

	पु०	पृष्ठ	प्रसंग
१२.	१३	३२०-२१	एसो वि गुरूवएसो चेव, वट्टमाणकाले सुत्ताभावादो ।
१३.	,,	३२२	सुत्तेण विणा कधमेदं णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो ।
१४.	१४	४९२	सुत्तेण विणा···कुदो णव्वदे ? सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो ।

इस प्रकार धवलाकार ने सूत्र के अभाव में विवक्षित विषय की प्ररूपणा में आचार्य-परम्परागत उपदेश और गुरूपदेश का भी आश्रय लिया है । कुछ प्रसंगों पर उन्होंने विवक्षित विषय का व्याख्यान करते हुए उपदेश के अभाव में प्रायः उसकी प्ररूपणा नहीं की है । यथा—

(१) णत्थि संपहियकाले उवएसो ।—पु० ३, पृ० २३९

(२) तधोवदेसाभावा ।—पु० ६, पृ० २३५

(३) विसिट्ठुवएसाभावादो ।—पु० ७, पृ० ३९९

(४) अलद्धोवदेसत्तादो ।—पु० ७, पृ० ५०७

(५) अलद्धोवदेसत्तादो ।—पु० ९, १२६

(६) तत्थ अणंतरोवणिधा ण सक्कदे णेदुं,···त्ति उवदेसाभावादो ।—पु० १०, पृ० २२१

(७) तत्थ अणंतरोवणिधा ण सक्कदे णेदुं,···त्ति उवदेसाभावादो ।—पु० १० पृ० २२३

(८) ण च एवं, तहाविहोवदेसाभावादो ।—पु० १० पृ० ५०१

(९) ···ण सक्कदे णेदुमुवदेसाभावादो ।—पु० ११, पृ० २७

(१०) णत्थि एत्थ उवदेसो ।—पु० १३, पृ० ३०३

(११) ···त्ति ण णव्वदे, उवएसाभावादो ।

दक्षिण-उत्तर प्रतिपत्ति व पवाइज्जंत-अपवाइज्जंत उपदेश

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धवलाकार के समक्ष आचार्यपरम्परा से चला आया उपदेश रहा है, जिसके बल पर उन्होंने विवक्षित विषय का स्पष्टीकरण किया है । धवला में ऐसे उपदेश का उल्लेख कहीं पर दक्षिणप्रतिपत्ति और कहीं पर पवाइज्जंत (प्रवाह्यमान) के नाम से भी किया गया है ।[1] यथा—

(१) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्रकार ने चार उपशामकों की संख्या का निर्देश प्रवेश की अपेक्षा एक, दो, तीन व अधिक-से-अधिक चौवन तक किया है । काल की अपेक्षा उन्हें संख्यात कहा गया है ।—सूत्र १,२,९-१०

इस प्रसंग में धवला में कहा गया है कि अपने उत्कृष्ट प्रमाणयुक्त जीवों से सहित सब समय एक साथ नहीं पाये जाते हैं, इसलिए कुछ आचार्य पूर्वोक्त (३०४) प्रमाण से पाँच कम करते हैं । इस पाँच कम के व्याख्यान को धवलाकार ने पवाइज्जमाण, दक्षिणप्रतिपत्ति व आचार्य-परम्परागत कहा है । इसके विपरीत पूर्वोक्त (३०४) व्याख्यान को उन्होंने अपवाइज्जमाण, वाम (उत्तरप्रतिपत्ति) व आचार्यपरम्परा से अनागत कहा है ।[2]

---

१. इसका स्पष्टीकरण पीछे 'ग्रन्थकारोल्लेख' शीर्षक में 'आर्यमंक्षु व नागहस्ती' के प्रसंग में भी किया जा चुका है ।

२. धवला, पु० ३, पृ० ९१-९२

(२) चार क्षपकों व अयोगिकेवलियों की वह संख्या उपशामकों से दूनी (३०४×२= ६०८) है। यहाँ भी धवलाकार ने उक्त दोनों प्रकार के व्याख्यान का निर्देश करते हुए दस (५×२) कम के व्याख्यान को दक्षिणप्रतिपत्ति और सम्पूर्ण छह सौ आठ के व्याख्यान को उत्तरप्रतिपत्ति कहा है।[1]

(३) यहीं पर आगे धवला में दक्षिणप्रतिपत्ति के अनुसार अप्रमत्तसंयतों का प्रमाण २९६९९१०३ और प्रमत्तसंयतों का ५९३९८२०६ कहा गया है। उत्तरप्रतिपत्ति के अनुसार इन दोनों का प्रमाण क्रम से २२७९९४९८ और ४६६६६६६४ कहा गया है।[2]

(४) इसी प्रकार के एक अन्य प्रसंग के विषय में पीछे 'सूत्र के अभाव में आचार्यपरम्परागत उपदेश को महत्त्व' शीर्षक में विचार किया जा चुका है।

(५) वेदनाद्रव्यविधान में जघन्य ज्ञानावरणीयद्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा के प्रसंग में सूत्रकार द्वारा उसका स्वामी क्षपितकर्मांशिकस्वरूप से युक्त अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र ४२,४,४८-७५

यहाँ धवलाकार ने अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के स्वरूप को प्रकट करते हुए 'एत्थ उवसंहारो उच्चदे' इस प्रतिज्ञा के साथ उपसंहार के विषय में प्ररूपणा और प्रमाण इन अनुयोगद्वारों का उल्लेख किया है। आगे उन्होंने इन दो अनुयोगद्वारों में 'पवाइज्जंत उपदेश के अनुसार प्ररूपणा अनुयोगद्वार का कथन करते हैं' इस सूचना के साथ उस 'प्ररूपणा' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा की है।

तत्पश्चात् उन्होंने अप्पवाइज्जंत उपदेश के अनुसार यह भी स्पष्ट किया है कि कर्मस्थिति के आदिम समयप्रबद्ध सम्बन्धी निर्लेपनस्थान कर्मस्थिति के असंख्यातवें भाग मात्र होते हैं। इस प्रकार सभी समयप्रबद्धों के विषय में कहना चाहिए। शेष पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र समयप्रबद्धों के एक परमाणु को आदि करके उत्कर्ष से अनन्त तक परमाणु रहते हैं।

इस प्रसंग में वहाँ यह शंका की गयी है कि निर्लेपनस्थान पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र ही होते हैं, यह कैसे जाना जाता है। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि कषायप्राभृतचूर्णिसूत्र से जाना जाता है। इसे आगे उन्होंने कषायप्राभृतचूर्णिसूत्रों के अनुसार स्पष्ट भी किया है।[3] यथा—

कषायप्राभृत में सर्वप्रथम 'पूर्व में निर्लेपन-स्थानों के उपदेश की प्ररूपणा ज्ञातव्य है' यह सूचना करते हुए चूर्णिकर्ता ने स्पष्ट किया है कि यहाँ दो प्रकार का उपदेश है। एक उपदेश के अनुसार कर्मस्थिति के असंख्यात बहुभाग प्रमाण निर्लेपन-स्थान हैं। दूसरे उपदेश के अनुसार वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। उनमें जो उपदेश प्रवाह्यमान (पवाइज्जंत) है उसके अनुसार पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र असंख्यात वर्गमूल प्रमाण निर्लेपनस्थान हैं।[4]

(६) इसी द्रव्यविधान की चूलिका में असंख्यातगुण वृद्धि और हानि कितने काल होती

---

१. धवला, पु० ३, पृ० ९३-९४
२. वही, पृ० ९९-१००
३. धवला पु० १०, पृ० २९७-९८; धवला पु० १२, पृ० २४४-४५ भी द्रष्टव्य हैं।
४. क०पा० सुत्त, पृ० ८३८, चूर्णि ९६४-६८; इसके पूर्व वहाँ पृ० ५९२-९३, चूर्णि २८७-९२ भी द्रष्टव्य हैं।

है, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि वह जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त तक होती है।—सूत्र ४,२,४,२०४-५

इसे स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि अधस्तन और उपरिम पंचसामयिक आदि योगस्थान यदि प्रथम गुणहानि मात्र हों तो ऊपर के चतुःसामयिक योगस्थानों के अन्तिम समय में दुगुणवृद्धि उत्पन्न हो सकती है। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का उपदेश नहीं है। तो फिर कैसा उपदेश है, यह पूछने पर धवलाकार ने कहा है कि ऊपर के चतुःसामयिक योगस्थानों के अन्तिम योगस्थान से नीचे असंख्यातवें भागमात्र उतरकर दुगुणवृद्धि होती है। इस कारण ऊपर के चार समययोग्य योगस्थानों में दो ही वृद्धियाँ होती हैं, यह पवाइज्जंत उपदेश है। यह पवाइज्जंत उपदेश है, यह कैसे जाना है; यह पूछे जाने पर धवलाकार ने कहा है कि पवाइज्जंत उपदेश के अनुसार जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से ग्यारह समय हैं; अन्यतर (अपवाइज्जंत) उपदेश के अनुसार जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पन्द्रह समय हैं; इस प्रदेशबन्ध सूत्र से जाना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ऊपर के चार समय योग्य योगस्थानों में दो ही वृद्धियाँ होती हैं, संख्यातगुणवृद्धि नहीं होती।[1]

(७) वेदनाक्षेत्रविधान में ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना क्षेत्र की अपेक्षा किसके होती है, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि वह हजार योजन की अवगाहनावाले उस मत्स्य के होती है जो स्वयम्भूरमणसमुद्र के वाह्य तट पर स्थित है।[2]—सूत्र ४,२,५,७-८

इसकी व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि महामत्स्य का आयाम तो हजार योजन है, पर उसका विष्कम्भ और उत्सेध कितना है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उसका विष्कम्भ पांच सौ योजन और उत्सेध दो सौ पचास योजन है। इस पर पुनः यह शंका की गयी है कि यह सूत्र के विना कैसे जाना जाता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह आचार्यपरम्परागत पवाइज्जंत उपदेश से जाना जाता है।

प्रकारान्तर से उन्होंने यह भी कहा है कि महामत्स्य के विष्कम्भ और उत्सेधविषयक सूत्र है ही नहीं, ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि सूत्र में 'जोयणसहस्सिओ' यह जो कहा गया है, वह देशामर्शक होकर उसके विष्कम्भ और उत्सेध का सूचक है।[3]

इसी प्रसंग में आगे धवला में मतान्तर का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार वह मत्स्य पश्चिम दिशा से मारणान्तिक समुद्घात को करके पूर्व दिशा में लोकनाली के अन्त तक आया, फिर विग्रह करके नीचे छह राजु प्रमाण गया, तत्पश्चात् पुनः विग्रह करके पश्चिम दिशा में आधे राजु प्रमाण आया और अवधिष्ठान नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ज्ञानावरणीय की क्षेत्रवेदना का उत्कृष्ट क्षेत्र साढ़े सात राजु होता है। उनके इस अभिमत का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि वह घटित नहीं होता, क्योंकि उपपादस्थान को लाँघकर गमन नहीं होता, यह पवाइज्जंत उपदेश से सिद्ध है।[4]

---

१. धवला, पु० १०, पृ० ५०१-२

२. इस प्रसंग में आगे उक्त महामत्स्य की कुछ अन्य विशेषताएँ भी प्रकट की गयी हैं।
—सूत्र ९-१२

३. धवला, पु० ११, पृ० १४-१६

४. वही, पृ० २२

(९) यहीं पर आगे धवला में ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना के स्वामी की प्ररूपणा के प्रसंग में एक शंका यह की गयी है कि अपने उत्पत्ति स्थान को न पाकर मारणान्तिकसमुद्घातगत जीव लौटकर मूल शरीर में प्रविष्ट होते हैं, यह कैसे जाना जाता है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि वह पवाइज्जंत उपदेश से जाना जाता है।[1]

(१०) कृति-वेदनादि चौवीस अनुयोगद्वारों में दसवाँ उदयानुयोगद्वार है। वहाँ प्रसंगप्राप्त अल्पवहुत्व की प्ररूपणा करते हुए धवला में कहा गया है कि पवाइज्जंत उपदेश के अनुसार हास्य व रति प्रकृतियों के वेदकों से सातावेदनीय के वेदक संख्यात जीवमात्र से विशेष अधिक हैं। अन्य उपदेश के अनुसार सात वेदकों से हास्य-रति के वेदक असंख्यातवें भागमात्र से अधिक हैं।

आगे यहीं पर अरति-शोकवेदकों को स्तोक वतलाकर उनसे असातवेदकों को पवाइज्जंत उपदेश के अनुसार संख्यात जीवमात्र से और अन्य उपदेश के अनुसार उन्हें असंख्यातवें भागमात्र से विशेष अधिक कहा गया है।[2]

(११) इसी उदयानुयोगद्वार में अन्तर प्ररूपणा के प्रसंग में धवलाकार ने कहा कि पवाइज्जंत उपदेश के अनुसार हम एक जीव की अपेक्षा अन्तर को कहते हैं। तदनुसार उन्होंने आगे ज्ञानावरणादि के भुजाकार वेदकों व अल्पतरवेदकों आदि के अन्तर का विचार किया है।[3]

(१२) यहीं पर अल्पवहुत्व के प्रसंग में धवलाकार ने प्रथमतः मतिज्ञानावरणादिकों के अवस्थित वेदक आदि के अल्पवहुत्व को दिखलाकर तत्पश्चात्, स्थितियों के वन्ध, अपकर्षण और उत्कर्पण से चूंकि प्रदेशोदय की वृद्धि व हानि होती है इस हेतु, प्रदेशोदयभुजाकार के विषय में अन्य प्रकार का अल्पवहुत्व होता है; यह कहते हुए उन्होंने आगे उसे स्पष्ट किया है व अन्त में यह कह दिया कि यह हेतुसापेक्ष अल्पवहुत्व प्रवाहप्राप्त नहीं है—वह अप्पवाइज्जंत है अर्थात् आचार्यपरम्परागत नहीं है।[4]

(१३) उन्हीं चौवीस अनुयोगद्वारों में जो अन्तिम अल्पवहुत्व अनुयोगद्वार है उसके प्रारम्भ में धवलाकार ने कहा है कि अल्पवहुत्व अनुयोगद्वार में नागहस्ति भट्टारक सत्कर्म का मार्गण करते हैं। यही उपदेश प्रवाहप्राप्त है।[5]

स्वतन्त्र अभिप्राय

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, धवलाकार आ० वीरसेन ने विवक्षित विषय के स्पष्टीकरण में सर्वप्रथम सूत्र को महत्त्व दिया है। पर जहाँ उन्हें सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ वहाँ उन्होंने प्रसंगप्राप्त विषय का स्पष्टीकरण आचार्यपरम्परागत उपदेश और गुरूपदेश के वल पर भी किया है। किन्तु जहाँ उन्हें ये दोनों भी उपलब्ध नहीं हुए वहाँ, उन्होंने आगमानुसारिणी युक्ति के वल पर अपने स्वतन्त्र मत को प्रकट किया है। जैसे—

---

१. धवला, पु० ११, पृ० २५
२. धवला, पु० १५, पृ० २८८-८९
३. वही, पृ० ३२९
४. धवला, पु० १५, पृ० ३३२
५. धवला, पु० १६, पृ० ५२२

(१) जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में सूत्रकार ने क्षेत्र की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण अनन्तानन्त लोक निर्दिष्ट किया है।—सूत्र १,२,४

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त लोक के स्वरूप में उसे जगश्रेणि के घनप्रमाण कहा है। उन्होंने जगश्रेणि को सात राजुओं के आयाम प्रमाण और राजु को तिर्यग्लोक के मध्यम विस्तार प्रमाण कहा है।

तिर्यग्लोक के विस्तार को कैसे लाया जाता है, यह पूछे जाने पर उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि जितनी द्वीप-समुद्रों की संख्या है और रूप (एक) से अधिक अथवा किन्हीं आचार्यों के उपदेशानुसार संख्यात रूपों से अधिक जितने जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद हैं उनको विरलित करके व प्रत्येक एक (१) अंक को दो (२) अंक मानकर उन सब को परस्पर गुणित करें। इस प्रकार जो राशि प्राप्त हो उससे अर्धच्छेद करने पर शेष रही राशि को गुणित करने पर राजु का प्रमाण प्राप्त होता है। यह जगश्रेणि के सातवें भाग प्रमाण रहता है।

आगे पुनः यह पूछा गया है कि तिर्यग्लोक की समाप्ति कहाँ पर हुई है। उत्तर में कहा गया है कि उसकी समाप्ति तीनों वातवलयों के बाह्य भागों में हुई है। अर्थात् स्वयम्भूरमण-समुद्र की बाह्य वेदिका के आगे कुछ क्षेत्र जाकर तिर्यग्लोक समाप्त हुआ है। इस पर यह पूछने पर कि कितना क्षेत्र आगे जाकर उसकी समाप्ति हुई है, वहाँ कहा गया है कि असंख्यात द्वीप-समुद्रों के द्वारा जितने योजन-प्रमाण क्षेत्र रोका गया है, उनसे संख्यातगुणे योजन जाकर तिर्यग्लोक समाप्त हुआ है।

इस पर फिर यह पूछा गया है कि यह कहाँ से जाना जाता है, उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि वह दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्ग प्रमाण ज्योतिषी देवों के भागहार के प्ररूपक सूत्र (१,२,५५) तथा 'दुगुणदुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो' इस त्रिलोकप्रज्ञप्ति सूत्र से जाना जाता है।

आगे धवलाकार ने इस प्रसंग में अन्य आचार्यों के व्याख्यान को असंगत ठहराते हुए यह कहा है कि प्रथम तो उनका वह व्याख्यान सूत्र के विरुद्ध पड़ता है, दूसरे उसका आश्रय लेने पर तदनुसार जगश्रेणि के सातवें भाग में आठ शून्य दिखते हैं। पर जगश्रेणि के सातवें भाग में वे आठ शून्य हैं नहीं, तथा उनके अस्तित्व का विधायक कोई सूत्र भी नहीं उपलब्ध होता है। इसलिए उन आठ शून्यों के विनाशार्थ कितनी भी अधिक राशि होनी चाहिए। वह राशि असंख्यातवें भाग अथवा संख्यातवें भाग से अधिक तो हो नहीं सकती, क्योंकि उसका अनुग्राहक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता। इसका कारण द्वीप-समुद्रों से रोके गये क्षेत्र के आयाम से संख्यात-गुणा क्षेत्र स्वयम्भूरमणसमुद्र के बाह्य भाग में होना चाहिए, अन्यथा पूर्वोक्त सूत्रों के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है।

प्रसंग के अन्त में धवलाकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्यों के सम्प्रदाय के विरुद्ध है तो भी आगमाश्रित युक्ति के बल से हमने उसकी प्ररूपणा की है। इसलिए 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार का कदाग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में छद्मस्थों के द्वारा कल्पित युक्तियाँ निर्णय की हेतु नहीं बनतीं। इसलिए इस विषय में उपदेश को प्राप्त करके विशेष निर्णय करना योग्य है।[1]

---

१. धवला, पु० ३, पृ० ३२-३८

इस प्रकार धवलाकार ने स्वयम्भूरमणसमुद्र के आगे भी राजु के अर्धच्छेदों की जो कल्पना की है वह त्रिलोकप्रज्ञप्ति के उपर्युक्त सूत्र और ज्योतिषी देवों के भागहार के प्ररूपक सूत्र[1] के आश्रित युक्ति के बल पर की है। इस प्रकार से उन्होंने इन सूत्रों के साथ संगति बैठाने के लिए अपना यह स्वतन्त्र मत व्यक्त किया है कि स्वयम्भूरमणसमुद्र के आगे भी कुछ क्षेत्र हैं, जहाँ राजु के अर्धच्छेद पड़ते हैं।

(२) इसी द्रव्यप्रमाणानुगम में सासादनसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानवर्ती जीवों का द्रव्यप्रमाण दिखलाते हुए सूत्र में कहा गया है कि उनका प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग-मात्र है। इन जीवों द्वारा अन्तर्मुहूर्त से पल्योपम अपहृत होता है।—सूत्र १,२,६

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने सासादनसम्यग्दृष्टि आदि सूत्रोक्त उन चार गुणस्थानवर्ती जीवों के अवहारकाल को पृथक्-पृथक् स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत, इनका अवहारकाल आवलि का असंख्यातवाँ भाग न होकर असंख्यात आवलियों प्रमाण है।

इस पर वहाँ यह पूछने पर कि वह कहाँ से जाना जाता है, धवलाकार ने कहा है कि वह "उपशमसम्यग्दृष्टि स्तोक हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं, और वेदगसम्यग्दृष्टि उनसे असंख्यातगुणे हैं" इन अल्पबहुत्व सूत्रों से[2] जाना जाता है।

इस पर प्रकृत सूत्र के साथ विरोध की आशंका को हृदयंगम करते हुए धवलाकार ने स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि सूत्र में जो 'एदेहि पलिदोमवहिरदि अंतोमुहुत्तकालेण' यह कहा गया है उसके साथ कुछ विरोध नहीं होगा, क्योंकि 'अन्तर्मुहूर्त' में प्रयुक्त 'अन्तर्' शब्द यहाँ समीपता का वाचक है। तदनुसार मुहूर्त के समीपवर्ती काल को भी अन्तर्मुहूर्त से ग्रहण किया जा सकता है।[3]

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त यद्यपि संख्यात आवलियों प्रमाण ही माना जाता है, फिर भी धवलाकार ने उपर्युक्त अल्पबहुत्व के साथ संगति बैठाने के लिए 'अन्तर्मुहूर्त' से असंख्यात आवलियों को भी ग्रहण कर लिया है। यह उनका स्वयं का अभिमत रहा है, इसे उन्होंने आगे (पु० ४, पृ० १५७ पर) प्रसंग पाकर स्वयं स्पष्ट कर दिया है।

(३) जीवस्थान-क्षेत्रानुगम में मिथ्यादृष्टि जीवों का क्षेत्र समस्त लोक है।—सूत्र १,३,२

इसे स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है सूत्र में प्रयुक्त 'लोक' से सात राजुओं के घन को ग्रहण करना चाहिए। इस पर वहाँ शंका उपस्थित हुई है कि यदि सात राजुओं के घन-प्रमाण लोक को ग्रहण किया जाता है तो उससे पाँच द्रव्यों के आधारभूत आकाश का ग्रहण नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उसमें सात राजुओं के घन-प्रमाण क्षेत्र सम्भव नहीं है। अन्यथा, "हेट्ठा मज्झे उवरिं" आदि गाथासूत्रों[4] के अप्रमाण होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

इस पर शंका का समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि सूत्र में 'लोक' ऐसा

---

१. खेत्तेण पदरस्स वेछप्पणंगुलसयवग्गपडिभागेणं।—सूत्र १,२,५५ (पु० ३, पृ० २६८)

२. असंजदसम्मादिट्ठिट्ठाणे सव्वत्थोवा उवसमसम्मादिट्ठी। खइयसम्मादिट्ठी असंखेज्जगुणा। वेदगसम्मादिट्ठी असंखेज्जगुणा।—सूत्र १,८,१५-१७ (पु० ५, पृ० २५३-५६)

३. धवला, पु० ३, पृ० ६३-७०

४. धवला, पु० ४, पृ० ११ पर उद्धृत गाथासूत्र ६-८

कहने पर उससे पाँच द्रव्यों के आधारभूत आकाश का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं; क्योंकि "लोकपूरणगत केवली लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं" ऐसा सूत्र में कहा गया है।[1] यदि लोक सात राजुओं के घनप्रमाण न हो तो "लोकपूरणगत केवली लोक के संख्यातवें भाग में रहते हैं" ऐसा कहना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि अन्य आचार्यों के द्वारा जिस मृदंगाकार लोक की कल्पना की गयी है उसके प्रमाण को देखते हुए उसका वह संख्यातवाँ भाग असिद्ध भी नहीं है। इस प्रकार कहते हुए धवलाकार ने आगे गणित-प्रक्रिया के आधार से उसका प्रमाण १६४ $\frac{३२८}{१३५६}$ घनराजु निकालकर दिखला भी दिया है जो घनलोक का संख्यातवाँ भाग ही होता है। इतना स्पष्ट करते हुए आगे उन्होंने कहा है कि उसको छोड़कर अन्य कोई सात राजुओं के घनप्रमाण लोक नाम का क्षेत्र नहीं है जो छह द्रव्यों के समुदायस्वरूप लोक से भिन्न प्रमाणलोक हो सके।

इस प्रकार से धवलाकार ने अन्य आचार्यों के द्वारा प्ररूपित मृदंगाकार लोक को दूषित ठहराकर लोक को सात राजुओं के घन-प्रमाण (७×७×७=३४३) सिद्ध किया है।

आगे उन्होंने यह भी कहा है कि यदि इस प्रकार के लोक को नहीं ग्रहण किया जाता है तो प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्र को सिद्ध करने के लिए जो दो गाथाएँ कही[2] गयी हैं वे निरर्थक ठहरती हैं, क्योंकि उनमें जिस घनफलप्रमाण का उल्लेख किया गया है वह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि लोक पूर्व-पश्चिम में नीचे सात राजु, मध्य में एक राजु, ऊपर ब्रह्मकल्प के पास पाँच राजु व अन्त में एक राजु विस्तृत; चौदह राजु ऊँचा और उत्तर-दक्षिण में सर्वत्र सात राजु मोटा है। इस प्रकार के आयतचतुरस्र लोक की पूर्व मान्यता धवलाकार के समक्ष नहीं रही है। फिर भी उन्होंने प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्र को सिद्ध करने के लिए निर्दिष्ट उन दो गाथाओं के आधार पर लोक को उस प्रकार का सिद्ध किया है व उसे ही प्रकृत में ग्राह्य माना है।[3]

इस प्रकार से धवलाकार ने प्रतरसमुद्घातगत केवली के क्षेत्र की आधारभूत उपर्युक्त दो गाथाओं की निरर्थकता को बचाने के लिए अन्य आचार्यों के द्वारा माने गये मृदंगाकार लोक का निराकरण करके उसे उक्त प्रकार से आयतचतुरस्र सिद्ध किया है।

(४) इसी प्रकार का एक प्रसंग आगे स्पर्शानुगम में भी प्राप्त होता है। वहाँ सासादन-सम्यग्दृष्टि ज्योतिषी देवों के स्वस्थान क्षेत्र के लाने के प्रसंग में धवलाकार ने स्वयम्भूरमण

---

१. सजोगिकेवली केवडिखेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभागे असंखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा।
—सूत्र १,३,४ (पु० ४, पृ० ४८)

२. मुह-तलसमासअद्धं वुस्सेधगुणं च वेधेण।
घणगणिदं जाणेज्जो वेत्तासणसंठिये खेत्ते॥
मूलं मज्झेण गुणं मुहसहिदद्धमुस्सेधकदिगुणिदं।
घणगणिदं जाणेज्जो मुइंगसंठाणखेत्तम्हि॥—पु० ४, पृ० २०-२१
(ये दोनों गाथाएँ जंबूदी० में ११-१०८ व ११-११० गाथांकों में उपलब्ध होती हैं।)

३. इसके लिए धवला, पु० ४, पृ० १०-२२ द्रष्टव्य हैं।

समुद्र के परभाग में राजु के अर्धच्छेदों के अस्तित्व का निर्देश किया है। इस पर वहाँ यह पूछा गया है कि स्वयम्भूरमण समुद्र के परभाग में राजु के अर्धच्छेद हैं, यह कहाँ से जाना जाता है। उत्तर में धवलाकार ने पूर्व के समान वही कहा है कि वह दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्ग प्रमाण ज्योतिषी देवों के भागहार के प्ररूपक सूत्र (१,२,५५) से जाना जाता है।

इस पर शंकाकार ने आपत्ति प्रकट की है कि यह व्याख्यान परिकर्म के विरुद्ध है, क्योंकि वहाँ यह कहा गया है कि जितनी द्वीप-सागरों की संख्या है तथा एक अधिक जितने जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद हैं उतने राजु के अर्धच्छेद होते हैं।[1]

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है—हाँ, वह व्याख्यान परिकर्म के विरुद्ध है, किन्तु सूत्र (१,२,५५) के विरुद्ध नहीं है, इसलिए इस व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिए, न कि परिकर्म के उस व्याख्यान को; क्योंकि वह सूत्र के विरुद्ध है। और सूत्र के विरुद्ध व्याख्यान होता नहीं है, अन्यथा अव्यवस्था का प्रसंग प्राप्त होता है।

अन्त में धवलाकार आ० वीरसेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेदों से सहित द्वीप-सागरों के रूपों मात्र राजु के अर्धच्छेदों के प्रमाण की परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है, वह केवल तिलोयपण्णत्तिसुत्त का अनुसरण करती है। उसकी प्ररूपणा हमने ज्योतिषी देवों के भागहार के प्रतिपादक सूत्र का आश्रय लेनेवाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ को सिद्ध करने के लिए की है। इसके प्रसंग में उन्होंने ये दो उदाहरण भी दिए हैं तथा एकान्तरूप कदाग्रह का निषेध भी किया है[2]—

(क) जिस प्रकार हमने प्रतिनियत सूत्र के बल पर सासादनगुणस्थानवर्ती जीवों से सम्बद्ध असंख्यात आवली प्रमाण अवहारकाल का उपदेश किया है।—देखिए पु० ३, पृ० ६९

(ख) तथा जिस प्रकार प्रतिनियत के बल पर आयातचतुरस्र लोक के आकार का उपदेश किया है।—देखिए पु० ४, पृ० ११-२२

(५) 'प्रकृति' अनुयोगद्वार मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों की संख्या से सम्बद्ध सूत्र (१२०) के व्याख्या-विषयक दो भिन्न मतों को राग-द्वेषादि से रहित पुरुषों की परम्परा से आने के कारण प्रमाणभूत मानकर भी धवलाकार ने अपने व्यक्तिगत अभिप्राय को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अम्हाणं पुण एसो अहिप्पाओ जहा पढमपरूविदअत्थो चेव भद्दओ, ण बिदिओ त्ति। कुदो?......।"—पु० १३, पृ० ३७७-८२

प्रसंगानुसार एक ही ग्रन्थ के विषय में भिन्न अभिप्राय

धवलाकार के समक्ष कुछ ऐसे भी प्रसंग उपस्थित हुए हैं, जहाँ उन्होंने किसी एक ही

---

१. जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुच्छेदणाणि।—परिकर्म (पु० ४)

२. देखिए धवला पु० ४, पृ० १५०-५८; यह समस्त सन्दर्भ (पृ० १५६-५९) कुछ ही प्रासंगिक शब्दपरिवर्तन के साथ जैसा-का-तैसा तिलोयपण्णत्ती में उपलब्ध होता है, जिसे वहाँ प्रक्षिप्त ही समझना चाहिए।—देखिए ति०प०, भाग २, पृ० ७६४-६६

ग्रन्थ के विषय में भिन्न-भिन्न अभिप्राय प्रकट किये हैं। जैसे—

१. **कषायप्राभृत**—धवलाकार का अभिप्राय कषायप्राभृत से उस पर यतिवृषभाचार्य द्वारा विरचित 'चूर्णि' का रहा है, इसे पीछे 'ग्रन्थकारोल्लेख' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है। धवलाकार ने कषायप्राभृत को, विशेषकर उसकी चूर्णि को, काफी महत्त्व दिया है।

मतभेद की स्थिति में यदि धवलाकार ने कहीं प्रसंगानुसार कषायप्राभृत और आचार्य भूतबलि के पृथक्-पृथक् मतों का उल्लेख मात्र किया है[1] तो कहीं पर उन्होंने कषायप्राभृत चूर्णि की उपेक्षा भी कर दी है।[2]

कहीं पर कषायप्राभृतचूर्णि के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होने पर उन्होंने उसे तंत्रान्तरभ कह दिया है तथा आगे उन दोनों में प्रकारान्तर से समन्वय का दृष्टिकोण भी अपनाया है।[3]

२. **परिकर्म**—धवलाकार ने अनेक प्रसंगों पर परिकर्म के कथन को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है व उसे सर्वाचार्य-सम्मत भी कहा है। इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने कहीं पर उसके साथ सम्भावित विरोध का समन्वय किया है तो कही पर उसे अग्राह्य भी ठहरा दिया है। इसका अधिक स्पष्टीकरण पीछे 'ग्रन्थोल्लेख' में 'परिकर्म' शीर्षक में किया जा चुका है। दो-एक उदाहरण उसके यहाँ भी दिये जाते हैं—

सर्वाचार्यसम्मत—जीवस्थान-स्पर्शनानुगम में प्रसंग प्राप्त तिर्यग्लोक के प्रमाण से सम्बन्धित किन्हीं आचार्यों के अभिमत का निराकरण करते हुए धवलाकार ने उसे तद्विपयक **सर्वाचार्य-सम्मत परिकर्मसूत्र** के विरुद्ध भी ठहराया है।[4]

इस प्रकार धवलाकार ने 'लोक सात राजुओं के घन-प्रमाण है' अपने इस अभिमत की पुष्टि में परिकर्म के इस प्रसंग को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है व उसे सर्वाचार्य-सम्मत कहा है—

"रज्जू सत्तगुणिदा जगसेढी, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिदजगपदरं घणलोगो होदि।"

विरोध का समन्वय—धवलाकार की मान्यता रही है कि स्वयम्भूरमणसमुद्र की वेदिका के आगे असंख्यात द्वीप-समुद्रों से रोके गये योजनों से संख्यातगुणे योजन जाकर तिर्यग्लोक समाप्त हुआ है। अपनी इस मान्यता में उन्होंने परिकर्म के इस कथन से विरोध की सम्भावना का निराकरण किया है—

---

१. धवला, पु० ६, पृ० ३३१ पर उपशम श्रेणि से उतरते हुए जीव का सासादनगुणस्थान को प्राप्त होने व न होने का प्रसंग।

२. धवला, पु० ७, पृ० २३३-३४ में उपर्युक्त प्रसंग के पुनः प्राप्त होने पर ष०ख० सू० (२, ३, १३९) को महत्त्व देकर उसकी उपेक्षा कर दी गयी है।

३. देखिए धवला, पु० ६ में आहारकशरीर, आहारकशरीरांगोपांग और तीर्थंकर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्धविषयक प्रसंग।

जीवों से सहित निरन्तर अनुभागस्थान उत्कृष्ट रूप में आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, या असंख्यातलोकप्रमाण हैं, इस प्रसंग में भी धवलाकार के समन्वय के दृष्टि-कोण को देखा जा सकता है।

—पु० १२, पृ० २४४-४५

४. धवला, पु० ४, पृ० १८३-८४; यही प्रसंग प्रायः इसी रूप में पु० ७, पृ० ३७१-७२ में भी देखा जा सकता है।

"जत्तियाणि दीव-सागररूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणि तत्तियाणि रज्जु-छेदणाणि।"

उसका स्वयं निराकरण करते हुए उन्होंने कहा है कि हमारे इस व्याख्यान का उपर्युक्त परिकर्म-वचन के साथ भी कुछ विरोध नहीं होगा, क्योंकि उसके अन्तर्गत जो 'रूवाहियाणि' पद है उसमें 'रूवेण अहियाणि' ऐसा समास न करके 'रूवेहि अहियाणि' समास अपेक्षित रहा है। तदनुसार 'वहुत रूपों से अधिक' ऐसा उसका अर्थ ग्रहण करने पर उसके साथ विरोध की सम्भावना नहीं रहती।[1]

अग्राह्यता—इस प्रकार से यहाँ तो धवलाकार ने उक्त परिकर्म-वचन के साथ सम्भावित विरोध का समन्वय करा दिया है, पर आगे चलकर स्पर्शनानुगम अनुयोगद्वार में ऐसे ही प्रसंग में उसी परिकर्मवचन को सूत्र-विरुद्ध कहकर उन्होंने उसे अग्राह्य भी घोषित कर दिया है।[2]

सूत्ररूपता का निषेध—भावविधान-चूलिका (२) में षट्स्थानप्ररूपणा के प्रसंग में सूत्रकार ने संख्यातभागवृद्धि किस वृद्धि से वृद्धिगत होती है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह एक कम जघन्य असंख्यात की वृद्धि से वृद्धिगत होती है।—सूत्र ४,२,७,२०७-८

इसकी व्याख्या करते हुए धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि सूत्र में 'एक कम जघन्य असंख्यात' ऐसा कहने पर उससे उत्कृष्ट संख्यात को ग्रहण करना चाहिए।

इस पर धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सीधे से 'उत्कृष्ट संख्यात' न कहकर सूत्र-गौरव करते हुए 'एक कम जघन्य असंख्यात' ऐसा किसलिए कहा है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उत्कृष्ट संख्यात के प्रमाण-विषयक ज्ञापन के साथ संख्यातभागवृद्धि की प्ररूपणा करने के लिए सूत्र में वैसा कहा गया है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण तो परिकर्म से ज्ञात हो जाता है, तो ऐसा समाधान करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उसके सूत्ररूपता नहीं है।[3]

इस प्रकार से यहाँ धवलाकार ने परिकर्म के सूत्र होने का निषेध कर दिया है।

यह भी यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि इसके पूर्व स्पर्शनानुगम में स्वयं धवलाकार उसे सर्वाचार्यसम्मत परिकर्मसूत्र भी कह चुके हैं।

इस प्रकार से धवलाकार ने प्रकृत परिकर्म को यदि कहीं प्रमाणभूत सूत्र भी स्वीकार किया है तो कहीं पर उसे सूत्रविरुद्ध व अग्राह्य भी ठहरा दिया है।

३. **व्याख्याप्रज्ञप्ति**—जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में मिथ्यादृष्टि जीवों के द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा के प्रसंग में धवला में यह पूछा गया है कि तिर्यग्लोक का अन्त कहाँ होता है। उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि उसका अन्त तीन वातवलयों के बाह्य भागों में होता है। इस पर 'वह कैसे जाना जाता है', ऐसा पूछने पर उत्तर में कहा गया है कि वह **"लोगो वादपदिट्ठिदो"** इस व्याख्याप्रज्ञप्ति के वचन से जाना जाता है।[4]

---

१. धवला, पु० ३, पृ० ३५-३६
२. धवला, पु० ४, पृ० १५५-५६
३. धवला, पु० १२, पृ० १५४
४. धवला, पु० ३, पृ० ३४-३५

इस प्रकार यहाँ धवलाकार ने वातवलयों के बाह्य भाग में तिर्यग्लोक की समाप्ति की पुष्टि में व्याख्याप्रज्ञप्ति के उपर्युक्त प्रसंग को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है।

आगे वेदनाद्रव्यविधान में आयुकर्म की उत्कृष्ट द्रव्यवेदना के स्वामी की प्ररूपणा के प्रसंग में सूत्र ३९ की व्याख्या करते हुए धवला में कहा गया है कि परभव-सम्बन्धी आयु के बँध जाने पर पीछे भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता है। इस पर वहाँ यह शंका उठी है कि परभविक आयु के बँध जाने पर भुज्यमान आयु का घात होने में क्या दोष है। इसके समाधान में वहाँ यह कहा गया है कि जिस जीव की भुज्यमान आयु निर्जीर्ण हो चुकी है और परभविक आयु उदय में नहीं प्राप्त हुई है, उसके चारों गतियों के बहिर्भूत हो जाने के कारण अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इस कारण परभविक आयु के बँध जाने पर भुज्यमान आयु का घात सम्भव नहीं है।

इस पर शंकाकार ने परभविक आयु के बन्ध से सम्बन्ध रखनेवाले व्याख्याप्रज्ञप्ति के एक सन्दर्भ को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आपके उपर्युक्त कथन का इस व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के साथ विरोध कैसे न होगा। इसके समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र इससे भिन्न व आचार्यभेद से भेद को प्राप्त है, इस प्रकार दोनों एक नहीं हो सकते।[1]

इस प्रकार से धवलाकार ने द्रव्यप्रमाणानुगम में जहाँ एक प्रसंग पर उस व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरे प्रसंग पर उन्होंने प्रकृत विधान के प्रतिकूल होने से आचार्यभेद से भिन्न बतलाकर उसकी उपेक्षा कर दी है।

देशामर्शक सूत्र आदि

यह पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है कि धवलाकार आचार्य वीरसेन ने प्रस्तुत षट्खण्डागम के अनेक सूत्रों की व्याख्या करते हुए उन सूत्रों को तथा किसी-किसी प्रकरणविशेष को भी देशामर्शक कहकर उनसे सूचित अर्थ का व्याख्यान कहीं संक्षेप में और कहीं अपने अगाध श्रुत-ज्ञान के बल पर बहुत विस्तार से भी किया है। इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ कुछ थोड़े से उदाहरण दिए जाते हैं—

१. षट्खण्डागम के प्रारम्भ में आचार्य पुष्पदन्त ने पंचनमस्कारात्मक मंगल को निबद्ध किया है। उसकी उत्थानिका में धवलाकार "मंगल-णिमित्त-हेऊ" इत्यादि एक प्राचीन गाथा को उद्धृत कर उसके आधार से कहते हैं कि विवक्षित शास्त्र के व्याख्यान के पूर्व मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छह का व्याख्यान किया जाता है; यह आगम के व्याख्यान की पद्धति है। इस आचार्यपरम्परागत न्याय को अवधारित कर पुष्पदन्ताचार्य 'पूर्वाचार्यों का अनुसरण रत्नत्रय का हेतु होता है' ऐसा मानकर कारण-सहित उन मंगल-आदि छह की प्ररूपणा करने के लिए सूत्र कहते हैं।

यहाँ यह पंचनमस्कारात्मक सूत्र उन मंगलादि छह का प्ररूपक कैसे है, इस प्रसंगप्राप्त शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि वह तालप्रलम्बसूत्र के समान देशामर्शक है। इतना स्पष्ट करके आगे उन्होंने उन मंगलादि छह की प्ररूपणा की है।[2]

---

१. धवला, पु० १०, पृ० २३७-३८
२. धवला, पु० १, पृ० ८-७२

इसका विशेष स्पष्टीकरण पीछे 'धवलागत विषय-परिचय' शीर्षक में सत्प्ररूपणा के प्रसंग में किया जा चुका है।

२. जीवस्थान-क्षेत्रानुगम में नरकगति के आश्रय से नारकियों में मिथ्यादृष्टि आदि असंयत-सम्यग्दृष्टि पर्यन्त नारकियों के क्षेत्रप्रमाण के प्ररूपक सूत्र (१,३,५) की व्याख्या के प्रसंग में धवला में यह शंका उठायी गयी है कि सूत्र में 'लोक का असंख्यातवाँ भाग' इतना मात्र कहा गया है, उससे शेष लोकों का ग्रहण कैसे होता है। इसके उत्तर में धवलाकार ने कहा है कि क्षेत्रानुगम और स्पर्शनानुगम इन दो अनुयोगद्वारों के सूत्र देशामर्शक हैं। इसलिए उनसे सूचित शेष लोकों का ग्रहण हो जाता है।[1]

तदनुसार धवलाकार ने क्षेत्रानुगम और स्पर्शनानुगम इन दो अनुयोगद्वारों के सूत्रों की व्याख्या में सामान्यलोक, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यग्लोक और अढाई द्वीप—को आधार बनाकर दो प्रकार के स्वस्थान, सात प्रकार के समुद्घात और एक उपपाद—इन दस पदों के आश्रय से चौदह जीवसमासों के क्षेत्र और स्पर्शन की प्ररूपणा की है।[2]

३. जीवस्थान-चूलिका में सूत्रकार ने छठी और सातवीं चूलिकाओं में क्रम से कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा करके आगे आठवीं समयक्त्वोत्पत्ति चूलिका को प्रारम्भ करते हुए यह कहा है कि जीव इतने काल की स्थिति से युक्त कर्मों के रहते सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है।—सूत्र १,९-८,१

इसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यह सूत्र देशामर्शक है। इससे उक्त कर्मों के जघन्य स्थितिबन्ध, उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व, जघन्य व उत्कृष्ट अनुभागसत्त्व तथा जघन्य व उत्कृष्ट प्रदेशसत्त्व के होने पर सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है; यह सूत्र का अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।[3]

सूत्र के अन्तर्गत इस अभिप्राय को सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में भी अभिव्यक्त किया गया है।[4]

४. इसी चूलिका में आगे सूत्र में यह कहा गया है कि जीव जब सब कर्मों की स्थिति को संख्यात सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थापित करता है, तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।—सूत्र १,९-८,५

इनकी व्याख्या करते हुए धवला में स्थितिबन्धापसरण के साथ स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के घात का भी विचार किया गया है। इस पर वहाँ यह कहा गया है कि सूत्र में तो केवल स्थितिबन्धापसरण की प्ररूपणा की गयी है, स्थितिघातादि की प्ररूपणा वहाँ नहीं की गयी है; इसलिए यहाँ उनकी प्ररूपणा करना योग्य नहीं है। इसका समाधान करते हुए धवलाकार ने कहा है कि सूत्र तालप्रलम्बसूत्र के समान देशामर्शक है, इसलिए यहाँ उनकी प्ररूपणा करना संगत व प्रसंग के अनुरूप ही है।[5]

---

१. धवला, पु० ४, पृ० ५६-५७

२. इन दस पदों का स्वरूप धवला, पु० ४, पृ० २६-३० में द्रष्टव्य है।

३. धवला, पु० ६, पृ० २०३

४. स०सि० २-३ व त०वा० २,३,२

५. धवला, पु० ६, पृ० २३०

५. यहीं पर प्रसंगप्राप्त एक सूत्र (१,९-८,१४) में यह निर्देश है कि चारित्र को प्राप्त करनेवाला जीव प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि की स्थिति की अपेक्षा सात कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थापित करता है।

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि यह देशामर्शक सूत्र है, क्योंकि वह एक देश अर्थ के प्रतिपादन द्वारा उसके अन्तर्गत समस्त अर्थ का सूचक है।[1]

इसलिए उन्होंने यहाँ धवला में संयमासंयम तथा क्षायोपशमिक व औपशमिक चारित्र की प्राप्ति के विधान की विस्तार से प्ररूपणा की है।[2]

६. इसी चूलिका में आगे सम्पूर्ण चारित्र की प्राप्ति के प्रतिपादक दो सूत्रों (१,९-८, १५-१६) को देशामर्शक कहकर धवलाकार ने उनसे सूचित अर्थ की प्ररूपणा बहुत विस्तार से की है।[3]

७. बन्धस्वामित्व-विचय में पाँच ज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों के प्ररूपक सूत्र (३,६) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने उसे देशामर्शक कहकर उससे सूचित, क्या बन्ध पूर्व में व्युच्छिन्न होता है ? क्या उदयपूर्व में व्युच्छिन्न होता है ? क्या दोनों साथ में व्युच्छिन्न होते हैं ? आदि २३ प्रश्नों को उठाते हुए उनका स्पष्टीकरण विस्तार से किया है।[4]

८. वेदनाखण्ड को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने उसके प्रथम अनुयोगद्वार-स्वरूप 'कृति' अनुयोगद्वार में "णमो जिणाणं" आदि ४४ सूत्रों द्वारा विस्तार से मंगल किया है। उसके सम्बन्ध में धवलाकार ने कहा है कि यह सब ही मंगलदण्डक देशामर्शक है, क्योंकि वह निमित्त आदि का सूचक है। इसलिए यहाँ मंगल के समान निमित्त व हेतु आदि की प्ररूपणा की जाती है। यह कहते हुए उन्होंने वहाँ निमित्त, हेतु और परिमाण की संक्षेप में प्ररूपणा करके[5] तत्पश्चात् कर्ता के विषय में विस्तार से प्ररूपणा की है।[6]

९. इसी 'कृति' अनुयोगद्वार में अग्रायणीय पूर्व के अन्तर्गत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के २४ अनुयोगद्वारों के निर्देशक सूत्र (४,१,४५) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने 'सभी ग्रन्थों का अवतार उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय के भेद से चार प्रकार का है' इस सूचना के साथ वहाँ उन चारों की प्ररूपणा की है।[7]

तत्पश्चात् उन्होंने यह सूचना की है कि इस देशामर्शक सूत्र के द्वारा कर्मप्रकृति के इन चार अवतारों की प्ररूपणा की गयी है। यह कहते हुए उन्होंने आगे अग्रायणीयपूर्व के ज्ञान, श्रुत,

---

१. धवला, पु० ६, पृ० २७०

२. धवला, पु० ६—संयमासंयम पृ० २७०-८०, क्षायोपशमिक चारित्र पृ० २८१-८८, औपशमिक चारित्र, पृ० २८८-३१७; इसी प्रसंग में आगे उपशमश्रेणि से प्रतिपात के क्रम का भी विवेचन किया गया है (पृ० ३१७-४२)।

३. धवला, पु० ६, पृ० ३४२-४१८

४. धवला, पु० ८, पृ० १३-३० (यहाँ इसके पूर्व पृ० ७-१३ भी द्रष्टव्य हैं)। इसी पद्धति से यहाँ आगे सभी सूत्रों को देशामर्शक कहकर पूर्ववत् प्ररूपणा की गयी है।

५. धवला, पु० 9, पृ० १०६

६. वही, पृ० १०७-३४

७. धवला, पु० ९, पृ० १३४-८३

अंग, दृष्टिवाद और पूर्वगत—इनके अन्तर्गत होने से क्रमशः उन छह के विषय में पृथक्-पृथक् उस चार प्रकार के अवतार की प्ररूपणा की है।[1]

१०. यहीं पर आगे गणनाकृति के प्ररूपक सूत्र (२,१,६६) की व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने कहा है कि यह सूत्र देशामर्शक है, इसलिए यहाँ धन, ऋण और धनऋण इस सब गणित की प्ररूपणा करनी चाहिए।

प्रकारान्तर से उन्होंने यह भी कहा है कि अथवा 'कृति' को उपलक्षण करके यहाँ गणना, संख्यात और कृति का भी लक्षण कहना चाहिए। तदनुसार उन्होंने इनके लक्षण को प्रकट करते हुए कहा है कि एक को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक गणना कहलाती है। दो को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की गणना को संख्यात कहा जाता है। तीन को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की गणना का नाम कृति है।

पश्चात् यहाँ कृति, नोकृति अवक्तव्य के उदाहरणार्थ यह प्ररूपणा की जाती है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए उसके विषय में ओघानुगम, प्रथमानुगम, चरिमानुगम और संचयानुगम इन चार अनुयोगद्वारों का उल्लेख किया गया है। इनमें प्रथम तीन की यहाँ संक्षेप में प्ररूपणा करके[2] तत्पश्चात् अन्तिम संचयानुगम की प्ररूपणा सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की गयी है।[3]

सूत्र-असूत्र-विचार

इस 'कृति' अनुयोगद्वार में आगे तीन सूत्रों (६८,६९ और ७०) द्वारा करणकृति के भेद-प्रभेदों का निर्देश किया गया है।

तत्पश्चात् "एदेहि सुत्तेहि तेरसण्हं मूलकरणकदीणंसंतपरूवणा कदा ॥७१॥" यह वाक्य सूत्र के रूप में उपलब्ध होता है। पर वास्तव में वह सूत्र नहीं प्रतीत होता, वह धवला टीका का अंश रहा दिखता है।

कारण यह कि प्रथम तो इसकी रचना-पद्धति सूत्र-जैसी नहीं है। दूसरे इसमें जो यह कहा गया है कि इन सूत्रों द्वारा तेरह मूलकरणकृतियों की सत्प्ररूपणा मात्र की गयी है, यह पद्धति अन्यत्र सूत्रों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। धवलाकार वैसा स्पष्टीकरण कर सकते हैं—यह एक विचारणीय प्रसंग है।

११. वे वहाँ यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इन (६८-७०) सूत्रों द्वारा तेरह मूलकरण कृतियों की सत्प्ररूपणा मात्र की गयी है। अब इस देशामर्शक सूत्र (७०) द्वारा सूचित अधिकारों की प्ररूपणा की जाती है—इस प्रतिज्ञा के साथ उन्होंने आगे उससे सूचित पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अधिकारों का निर्देश किया है तथा यह स्पष्ट कर दिया है कि इन अधिकारों के बिना उन सूत्रों (६८-७०) द्वारा प्ररूपित मूलकरण कृतियों की वह सत्प्ररूपणा बनती नहीं है। इस स्पष्टीकरण के साथ आगे धवलाकार ने क्रम से पदमीमांसादि

---

१. यथा—ज्ञान, पृ० १८५-८६; श्रुतज्ञान, पृ० १८६-९१; अंगश्रुत, पृ० १९२-२०४; दृष्टिवाद, पृ० २०४-१०; पूर्वगत पृ० २१०-२४; अग्रायणीयपूर्व पृ० २२५-३६

२. धवला, पु० ९, पृ० २७४-८०

३. वही, ,, पृ० २८०-३२१

तीन अधिकारों की प्ररूपणा की है।[1]

अनन्तर धवलाकार ने 'अब हम यहाँ देशामर्शक सूत्र से सूचित अनुयोगद्वारों को कहते हैं' इस प्रतिज्ञा के साथ उन तेरह मूलकरणकृतियों के विषय में यथाक्रम से सत्प्ररूपणा व द्रव्य-प्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है।[2]

इस प्रकार उक्त देशामर्शक सूत्र के द्वारा सूचित उन पदमीमांसादि तीन अधिकारों और सत्प्ररूपणादि उन आठ अनुयोगद्वारों की विस्तार से प्ररूपणा करने के पश्चात् धवलाकार ने प्रसंग के अन्त में 'इदि मूलकरणकदीपरूवणा कदा' इस वाक्य के द्वारा मूलकरणकृति की प्ररूपणा के समाप्त होने की सूचना की है।

१२. वेदनाद्रव्यविधान के अन्तर्गत पदमीमांसा अनुयोगद्वार की प्ररूपणा के प्रसंग में "ज्ञानावरणीय की वेदना क्या द्रव्य से उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है और क्या अजघन्य है" यह पृच्छासूत्र प्राप्त हुआ है। अगले सूत्र में इन पृच्छाओं को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह उत्कृष्ट भी है; अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है।

—सूत्र ४,२,४,२-३

धवलाकार ने इन दोनों सूत्रों को देशामर्शक कहकर उनके अन्तर्गत क्या वह सादि है, क्या अनादि है, इत्यादि अन्य नौ पृच्छाओं को भी व्यक्त किया है। इस प्रकार सूत्रोक्त चार व उससे सूचित नौ ये तेरह पृच्छाएँ सूत्रों के अन्तर्गत हैं, यह अभिप्राय धवलाकार का है।

इन तेरह पृच्छाओं को स्पष्ट करते हुए वहाँ धवलाकार ने कहा है कि इस प्रकार इस सूत्र (२) में तेरह अन्य सूत्र प्रविष्ट हैं, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार सामान्य से तेरह तथा विशेष रूप से उनमें प्रत्येक में भी तेरह-तेरह, तदनुसार सब पृच्छाएँ १६९ (१३×१३) होती हैं। इस स्पष्टीकरण के साथ धवलाकार ने उन तेरह पृच्छाओं को उठाकर यथासम्भव उनको स्पष्ट किया है।[3]

१३. इस वेदनाद्रव्यविधान की चूलिका में सूत्रकार द्वारा योगअल्पबहुत्व और प्रदेशअल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गयी है। प्रसंग के अन्त में प्रत्येक जीव के योग गुणकार को पल्योपम के असंख्यातवें भाग-प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है।—सूत्र ४,२,४,१४४-७३

अन्तिम सूत्र (१७३) की व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने प्रकृत मूलवीणा के अल्पबहुत्व-आलाप को देशामर्शक कहकर उसे प्ररूपणा आदि अनुयोगद्वारों का सूचक कहा है व उससे सूचित प्ररूपणा, प्रमाण और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारों की यहाँ प्ररूपणा की है।[4]

१४. वेदनाकालविधान की चूलिका में सूत्रकार ने स्थितिबन्धस्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है।—सूत्र ४,२,६,३७-५०

---

१. इस सब के लिए धवला, पु० ९, पृ० ३२४-५४ (सूत्र ६८-७१) देखना चाहिए।

२. धवला, पु० ९—सत्प्ररूपणा, पृ० ३५४-५६; द्रव्यप्रमाणानुगम, पृ० ३५६-६४; क्षेत्रानुगम, पृ० ३६४-७०; स्पर्शानुगम, पृ० ३७०-८०; कालानुगम, पृ० ३८०-४०३; अन्तरानुगम, पृ० ४०३-२८; भावानुगम, पृ० ४२८ व अल्पबहुत्वानुगम, पृ० ४२९-५०

३. धवला, पु० १०, पृ० २०-२८; धवलाकार ने आगे प्रसंग के अनुसार इसी पद्धति से वेदना-क्षेत्रविधान, वेदना कालविधान और वेदनाभावविधान में भी इन १३-१३ पृच्छाओं को स्पष्ट किया है। देखिए पु० ११, पृ० ४-११ व ७८ से ८४ तथा पु० १२, पृ० ४-११

४. धवला, पु० १०, पृ० ४०३-३१

यहाँ अन्तिम सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने अव्वोगाढअल्पबहुत्वदण्डक को देशामर्शक कहकर उसके अन्तर्गत चार प्रकार के अल्पबहुत्व के कहने की प्रतिज्ञा की है और तदनुसार आगे स्वस्थान व परस्थान के भेद से दो प्रकार के अव्वोगाढअल्पबहुत्व की तथा दो प्रकार के मूलप्रकृतिअल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है।[1]

१५. वेदनाभावविधान की दूसरी चूलिका में 'वृद्धिप्ररूपणा' अनुयोगद्वार के प्रसंग में अनन्तगुणवृद्धि किस से वृद्धि को प्राप्त होती है, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्र में कहा गया है कि अनन्तगुणवृद्धि सब जीवों से वृद्धिगत होती है।—सूत्र ४,२,७,२१४

इसकी व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने 'अब हम इस देशामर्शक सूत्र से सूचित परम्परोपनिधा को कहते हैं' ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए उस परम्परोपनिधा की विस्तार से प्ररूपणा की है।[2]

१६. वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'कर्म' अनुयोगद्वार में सूत्रकार द्वारा नाम व स्थापना आदि के भेद से दस प्रकार के कर्म की प्ररूपणा की गयी है। अन्त में उन्होंने यहाँ उस दस प्रकार के कर्म में समवदान कर्म (६) को प्रकृत बतलाया है—सूत्र ५,४,३१

इसकी व्याख्या में धवलाकार ने कहा है कि मूलतन्त्र में प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, आधाकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म ये छह कर्म प्रधान रहे हैं, क्योंकि वहाँ इनकी विस्तार से प्ररूपणा की गयी है। इसीलिए हम यहाँ इन छह कर्मों को आधारभूत करके सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करते हैं। ऐसी सूचना करते हुए उन्होंने आगे आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से उन छह कर्मों की विस्तार से प्ररूपणा की है।

इस पर आपत्ति उठाते हुए शंकाकार ने कहा है कि यह अल्पबहुत्व असम्बद्ध है, क्योंकि इसके लिए कोई सूत्र नहीं है। इस का निराकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसकी सूचना पूर्वप्ररूपित देशामर्शक सूत्र (५,४,३१) से की गयी है।[3]

१७. कहीं शंका के रूप में भी देशामर्शक सूत्र का उल्लेख हुआ है। यथा—

श्रुतज्ञानावरणीय के प्रसंग में श्रुतज्ञान के स्वरूप आदि का विचार करते हुए धवला में उसके शब्दलिंगज और अशब्दलिंगज ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। शब्दलिंगज श्रुतज्ञान के प्रसंग में यह सूचना की है कि यहाँ शब्दलिंगज श्रुतज्ञान की प्ररूपणा की जाती है।

यहाँ यह शंका उठायी गयी है कि इस देशामर्शक सूत (५,५,४३) द्वारा सूचित अशब्दलिंगज श्रुतज्ञान की प्ररूपणा क्यों नहीं की जा रही है। उत्तर में कहा गया है कि ग्रन्थ की अधिकता के भय से मन्दबुद्धि जनों के अनुग्रहार्थ भी यहाँ उसकी प्ररूपणा नहीं की जा रही है।[4]

१८. वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत 'बन्धन' अनुयोगद्वार में बन्धनीय (वर्गणा) की चर्चा विस्तार से की गयी है। वहाँ 'वर्गणाद्रव्यसमुदाहार' की प्ररूपणा में वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा व वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम आदि चौदह अनुयोगद्वारों का निर्देश है।—सूत्र ५, ६, ७५

उनमें मूलग्रन्थकर्ता ने वर्गणाप्ररूपणा और वर्गणानिरूपणा दो ही अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है, शेष वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम आदि बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा उन्होंने नहीं की है।

---

१. धवला, पु० ११, पृ० १४७-२०५
२. धवला, पु० १२, पृ० १५८-६३
३. धवला, पु० १३, प्र० ९०-१९५
४. धवला, पु० १३, पृ० २४६-४७

इस प्रसंग में धवलाकार ने यह सूचना की है कि सूत्रकार ने चूंकि उन शेष बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं की है, इसलिए हम पूर्वोक्त दो (वर्गणाप्ररूपणा व वर्गणानिरूपणा) अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करते हैं। यह कहकर आगे उन्होंने यथाक्रम से उन बारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की है।[1]

देशामर्शक सूत्र आदि से सम्बन्धित ये कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं। वैसे धवलाकार ने अन्य भी कितने ही प्रसंगों पर प्रचुरता से उन देशामर्शक सूत्र आदि का उल्लेख किया है और उनसे सूचित प्रसंगप्राप्त अर्थ का, जिसकी प्ररूपणा मूलग्रन्थकार द्वारा नहीं की गयी है, व्याख्यान धवला में कहीं संक्षेप में व कहीं अपने प्राप्त श्रुत के बल पर बहुत विस्तार से किया है। यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है। यह सब देखते हुए धवलाकार आ० वीरसेन की अगाध विद्वत्ता का पता लगता है।

उपदेश के अभाव में प्रसंगप्राप्त विषय की अप्ररूपणा

यह पीछे कहा ही जा चुका है कि धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त विषय का विशदीकरण आचार्यपरम्परागत उपदेश के अनुसार अतिशय प्रामाणिकतापूर्वक किया है। जहाँ उन्हें परम्परागत उपदेश नहीं प्राप्त हुआ है, वहाँ उन्होंने उसे स्पष्ट कर दिया है व विवक्षित विषय की प्ररूपणा नहीं की है। यथा—

१. जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में तिर्यचगति के आश्रय से सासादनसम्यग्दृष्टि आदि संयतासंयत पर्यन्त जीवों में द्रव्यप्रमाण के प्ररूपक सूत्र (१,२,३६) की व्याख्या के प्रसंग में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है—

पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त तीन वेद वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों की राशि से पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिमती असंयतसम्यग्दृष्टियों की राशि क्या समान है, क्या संख्यातगुणी है, क्या असंख्यातगुणी है, क्या संख्यातगुणी हीन है, क्या असंख्यातगुणी हीन है, क्या विशेष अधिक है अथवा विशेषहीन है; इसका वर्तमान काल में उपदेश नहीं है।[2]

२. क्षुद्रकबन्ध के अन्तर्गत स्पर्शनानुगम में "छचोद्दसभागा वा देसूणा" इस सूत्र (२,७,५) की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने कहा है कि यह सूत्र मारणान्तिक और उपपाद पदगत नारकियों के अतीत काल का आश्रय लेकर कहा गया है। मारणान्तिक के ये छह-बटे चौदह (६/१४) भाग देशोन—संख्यात हजार योजनों से हीन हैं।

प्रकारान्तर से यहाँ यह भी कहा गया है कि अथवा यहाँ ऊनता (हीनता) का प्रमाण इतना है, यह ज्ञात नहीं है; क्योंकि पार्श्वभागों में व मध्य में इतना क्षेत्र हीन है, इस सम्बन्ध में विशिष्ट उपदेश प्राप्त नहीं है।[3]

३. वेदनाद्रव्यविधान में ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना की प्ररूपणा के प्रसंग में अवसरप्राप्त 'श्रेणि' अनुयोगद्वार की प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने कहा है कि अनन्तरोपनिधा और परम्पोपनिधा के भेद से श्रेणि दो प्रकार की है। उनमें अनन्तरोपनिधा का जानना

---

१. वही, १४, पृ० १३४-२२३
२. धवला, पु० ३, पृ० २३८-३९
३. धवला, पु० ७, पृ० ३६९

शक्य नहीं है, क्योंकि जघन्य स्थानवर्ती जीवों से द्वितीय स्थानवर्ती जीव क्या विशेष हीन हैं, क्या विशेष अधिक हैं, या क्या संख्यातगुणे हैं; इस विषय में उपदेश प्राप्त नहीं है।

परम्परोपनिधा का जान लेना भी शक्य नहीं है, क्योंकि अनन्तरोपनिधा का ज्ञात करना सम्भव नहीं हुआ।[1]

४. वेदनाक्षेत्रविधान में क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की अनुत्कृष्ट वेदना की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में धवलाकार ने उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना के मध्यगत विकल्पों के स्वामियों की प्ररूपणा में इन छह अनुयोगद्वारों का उल्लेख किया है—प्ररूपणा, प्रमाण, श्रेणि, अवहार, भागाभाग और अल्पबहुत्व। आगे यथाक्रम से इनकी प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने कहा है कि श्रेणि व अवहार इन दो अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करना शक्य नहीं है, क्योंकि उनके विषय में उपदेश प्राप्त नहीं है।[2]

५. 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में अवधिज्ञानावरणीय के प्रसंग में अवधिज्ञान के विषय की प्ररूपणा करते हुए धवलाकार कहते हैं कि जघन्य अवधिज्ञान से सम्बद्ध क्षेत्र का कितना विष्कम्भ, कितना उत्सेध और कितना आयाम है; इस विषय में कुछ उपदेश प्राप्त नहीं है। किन्तु प्रतर-घनाकार से स्थापित अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग है, इतना उपदेश है।[3]

इस प्रकार परम्परागत उपदेश के प्राप्त न होने से धवलाकार ने प्रसंगप्राप्त विषय का स्पष्टीकरण नहीं किया है।

उपदेश प्राप्त कर जान लेने की प्रेरणा

कहीं पर धवलाकार ने उपदेश के न प्राप्त होने पर विवक्षित विषय के सम्बन्ध में स्वयं किसी प्रकार के अभिप्राय को व्यक्त न करते हुए उपदेश प्राप्त करके प्रसंगप्राप्त विषय के जानने व उसके विषय में किसी एक प्रकार के निर्णय करने की प्रेरणा की है। यथा—

१. स्वयम्भूरमणसमुद्र की बाह्य वेदिका से आगे कुछ अध्वान जाकर तिर्यग्लोक समाप्त हुआ है, इसे पीछे पर्याप्त स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय में धवलाकार ने अपने उपर्युक्त मत को स्पष्ट करके भी अन्त में यह कह दिया है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में छद्मस्थों की कल्पित युक्तियाँ निर्णय करने में सहायक नहीं हो सकती, इसलिए इस विषय में उपदेश प्राप्त करके निर्णय करना चाहिए।[4]

२. आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी संयतासंयतों के अन्तर की प्ररूपणा में प्रसंगप्राप्त एक शंका के समाधान में धवलाकार ने कहा है कि संज्ञी सम्मूर्छिम पर्याप्त जीवों में संयमासंयम के समान अवधिज्ञान और उपशम-सम्यक्त्व सम्भव नहीं है। आगे प्रासंगिक कुछ अन्य शंका-समाधानपूर्वक अन्त में धवलाकार ने यह भी कह दिया है— अथवा इस विषय में जान करके ही कुछ कहना चाहिए।[5]

---

१. वही, पु० १०, पृ० २२१-२२
२. धवला, पु० ११, पृ० २७
३. वही, १३, पृ० ३०३
४. धवला, पु० ३, पृ० ३३-३८
५. वही, पु० ५, पृ० ११६-१९

३. कर्ता की प्ररूपणा करते हुए धवलाकार ने उस प्रसंग में वीर-निर्वाण के बाद कितने वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ, इस विषय में तीन भिन्न मतों का उल्लेख किया है—

(१) वह वीर-निर्वाण के पश्चात् ६०५ वर्ष और पांच मास बीतने पर उत्पन्न हुआ।

(२) वीर-निर्वाण के पश्चात् १४७९३ वर्ष बीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ।

(३) वीर-निर्वाण के पश्चात् ७९९५ वर्ष और पांच मास व्यतीत होने पर शक राजा उत्पन्न हुआ।

इन तीन मतों के विषय में धवलाकार ने यह कहा है कि इन तीनों में कोई एक सत्य होना चाहिए, तीनों उपदेश सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें परस्पर-विरोध है। इसलिए जानकर कुछ कहना चाहिए।[1]

(४) 'कृति' अनुयोगद्वार में प्रसंगवश सिद्धों में कृतिसंचित, अवक्तव्यसंचित और नोकृति-संचितों का अल्पबहुत्व दिखलाकर धवलाकार ने कहा है कि यह अल्पबहुत्व सोलह पदों वाले अल्पबहुत्व के विरुद्ध है। अतः उपदेश को प्राप्त कर किसी एक का निर्णय करना चाहिए।[2]

(५) 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में अवधिज्ञान के विषय की प्ररूपणा के प्रसंग में "सव्वं च लोयणालिं" आदि गाथासूत्र की व्याख्या में धवलाकार ने अविरुद्ध आचार्यवचन के अनुसार कहा है कि नौ अनुदिश और चार अनुत्तरविमानवासी देव सातवीं पृथिवी के अधस्तन तल से नीचे नहीं देखते हैं। आगे इससे सम्बद्ध मतान्तर को प्रकट करते हुए यह भी कहा है कि कुछ आचार्य यह भी कहते हैं कि नौ अनुदिश, चार अनुत्तरविमान और सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव अपने विमान-शिखर से नीचे अन्तिम वातवलय तक एक राजुप्रतर विस्तार से सब लोक-नाली को देखते हैं। उसे जानकर कहना चाहिए।

ऊपर ये पांच उदाहरण दिए गए हैं। ऐसे अन्य भी कितने ही प्रसंग धवला में उपलब्ध होते हैं।[3]

इस स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में विविध साधुसंघों में तत्त्वगोष्ठियाँ हुआ करती थीं, जिनमें अनेक सैद्धान्तिक विषयों का विचार चला करता था। इन गोष्ठियों में भाग लेनेवाले तत्त्वज्ञानियों को उनकी बुद्धि-कुशलता के अनुसार उच्चारणाचार्य, निक्षेपाचार्य, व्याख्यानाचार्य, सूत्राचार्य आदि कहा जाता था। ऐसे आगमनिष्ठ किन्हीं विशिष्ट शिष्यों को लक्ष्य करके यह कह दिया जाता था कि अमुक विषयों मे उपदेश प्राप्त करके कोई निर्णय लेना चाहिए।

---

१. धवला, पु० ९, पृ० १३१-३३

२. धवला, पु० ९, पृ० ३१८

३. धवला, पु० १३, पृ० ३१९-२०

अवतरण-वाक्य

यह पहले कहा जा चुका है कि धवलाकार के समक्ष विशाल साहित्य रहा है, जिसका उपयोग उन्होंने अध्ययन करके अपनी इस धवला टीका में किया हैं। उनके द्वारा इस टीका में कहीं ग्रन्थ के नामनिर्देशपूर्वक और कहीं ग्रन्थ का नामनिर्देश न करके 'उक्तं चं' आदि के रूप में भी यथाप्रसंग अनेक ग्रन्थों से प्रचुर गाथाएं व श्लोक आदि उद्धृत किये गये हैं। उपयोगी समझ यहाँ उनकी अनुक्रमणिका दी जा रही है—

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ लपलब्ध होते हैं
१	अकसायमवेदत्तं	१३	७०	भ०आ० २१५७
२	अगुरुअलहु-उवघादं	८	१७	
३	अगुरुलघु-परूवघादा	१५	१३	
४	अग्नि-जल-रुधिरदीपे	९	२५६	
५	अच्छित्ता णवमासे	९	१२२	
६	अच्छेदनस्य राशेः	११	१२४	
७	अट्ठत्तीसद्धलवा	३	६६	गो० जी० ५०५
८	अट्ठविहकम्मविजुदा (वियडा)	१	२००	गो० जी० ६८; पंचसं० १-३१
९	अट्ठासी अहियारे सु	"	११२	
१०	अट्ठेव धणुसहस्सा	९	१५८	
—	" "	१३	२२९	
११	अट्ठेव सयसहस्साअट्ठा-	३	९६	
१२	अट्ठेव सयसहस्सा णव	"	९७	
—	" "	९	२६०	
—	अडदाल सीदि बारस	१०	१३२	
१३	अड्ढस्स अणलसस्स य	३	६६	गो० जी० ५७४ (टीका में उद्धृत)
१४	अणवज्जा कयकज्जा	१	४८	
१५	अणियोगो च णियोगो	१	१५४	आव० नि० १२५

१. ध्यान रहे कि इस अनुक्रमणिका में 'जाणइ-जाणदि', 'अवगय-अवगद', एग-एक्क, आउव-आउग, कथं-कधं, जैसे भाषागत भेद का महत्त्व नहीं है।

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
१६	अणियोगो य नियोगो	६	२६०	
१७	अणुभागे हम्मंते	१२	३६४	
१८	अणुवगयपराणुग्गह-	१३	७१	ध्यानश० ४६
१९	अणु संखा संखगुणा	१४	११७	
२०	अणुसंखासंखेज्जा	,,	,,	
२१	अणुलोभं वेदंतो	१	३७३	गो०जी० ४७४; पंचसं० १-१३२
२२	अण्णाण-तिमिरहरणं	,,	५६	
२३	अतितीव्रदुःखितायां	६	२५८	
२४	अत्तामवृत्ति परिभोग	१६	५७५	
२५	अत्थाण वंजणाण य	१३	७८	भ० आ० १८८२
२६	अत्थाण वंजणाण य	,,	७६	भ० आ० १८८५
२७	अत्थादो अत्थंतर	१	३५६	गो०जी० ३१५; पंचसं० १-१२२
२८	अत्थिअणंता जीवा	,,	२७१	प०ख० सूत्र १२७ (पु० १४, पृ० २३३); मूला० १२, १६२; पंचसं० १-८५; गो० जी० १६७
—	,, ,,	४	४७७	
२९	अत्थित्तं पुण संतं	१	१५८	
३०	अत्थोपदेण गम्मइ	१०	१८	
३१	अदिसयमादसमुत्थं	१	५८	प्रव० सा० १-१३
३२	अन्यथानुपपन्नत्वं	१३	२४६	न्यायदीपिका पृ० ६४-६५ पर टिप्पण ७ द्रष्टव्य है।
३३	अपगयणिवारणट्ठं	४	२	
३४	अप्प-परोभयवाधण	१	३५१	गो० जी० २८६
३५	अप्पप्पवुत्तिसंचिद	१	१३६	
३६	अप्पं वादर मवुअं	१३	४८	
३७	अप्पिदआदरभावो	५	१८६	
३८	अप्रवृत्तस्य दोषेभ्यः	१३	५५	
३९	अभयासंमोहविवेग	,,	८२	ध्यानश० ८२ (अभया=अवहा)
४०	अभावैकान्तपक्षेपि	१५	३०	आ० मी० १२
४१	अभिमुह-णियमियवोहण-	१	३५६	गो०जी० ३०६; पंचसं० १-१२१; जं०दी०प० १३-५६
४२	अयोगमपरैर्योग	११	३१७	प्रमाणवा० ४-१६०
४३	अरसमरूवमगंधं	३	२	प्रव० सा० २-८०; पंचा० १३४
४४	अर्थस्य सूचनात् सम्यक्	१२	३६६	
४५	अवगयणिवारणट्ठं	१	३१	
—	,, ,,	३	१२६	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
—	अवगयणिवारणट्ठं	११	१	
—	" "	१४	५१	
—	अवगयणिवारणत्थं	३	१७	
४७	अवणयणरासिगुणिदो	"	४८	
४८	अवहारवड्ढिरूवा	३	४६	
४९	अवहारविसेसेण य	"	४३	
५०	अवहारेणोवट्टिद	१०	८४	
५१	अवहीयदि त्ति ओही	१	३५९	पंचसं० १-१२३; गो० जी० ३७०
५२	अवायावयवोत्पत्तिः	९	१४७	
५३	अविदक्कमवीचारं सु-	१३	८३	भ० आ० १८८६
५४	अविदक्करवीचारं अणि-	"	८७	
५५	अष्टम्यामध्ययनं	९	२५७	
५६	अष्टसहस्रमहीपति-	१	५८	
५७	अष्टादशसंख्यानां	"	५७	
५८	असदकरणदुपादान-	१५	१७	सांख्यका० ९
५९	असरीरा जीवघणा	६	१०	
—	" "	७	९८	
६०	असहायणाण-दंसण	१	१९२	पंचसं० १-२९; गो० जी० ६४
६१	असुराणमसंखेजा	९	२५	म० बं० १, पृ० २२; मूला० १२-११०; गो० जी० ४२७
६२	अह खंति-मज्जवज्जव	१३	८०	
६३	अहमिंदा जहदेवा	१	१३७	पंचसं० १-६५; गो० जी० १६४
६४	आउवभागो थोवो	१०	३८७,५१२	पंचसं० ४-४९६; गो०क० १९२
—	" "	१५	३५	" "
६५	आक्षेपिणी तत्त्वविधान	१	१०६	
६६	आगम-उवदेसाणा	१३	७६	ध्यानश० ६७
६७	आगमचक्खू साहू	८	२६४	प्रव० सा० ३-३४
६८	आगमो ह्याप्तवचन	३	१२	
६९	आगासं सपदेसं	४	७	
७०	आचार्यः पादमाचष्टे	१२	१७१	
७१	आणद-पाणदकप्पे	७	३२०	मूला० १२-२५
७२	आणद-पाणदवासी	९	२६	म० बं० १, पृ० २३; गो० जी० ४३१
७३	आदा णाणपमाणं	१	३८६	प्रव० सा० १-२३
७४	आदिम्हि भद्दवयणं	"	४०	ति० प० १-२९ (कुछ शब्दभेद)
७५	आदिं त्रिगुणं मूला-	९	८८	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ.	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
७६	आदी मंगलकरणं	९	४	
७७	आदीवसाणमज्झे	१	४०	
७८	आदौ मध्येऽवसाने	"	४१	आप्तप० पृ०.५
७९	आभीयमासुरक्खा	"	३५८	पंचसं० १-११९; गो० जी० ३०४
८०	आलंबणाणि वायण	१३	६७	ध्यानश० ४३
८१	आलंबणेहि भरिओ	९	१०	भ० आ० १८७६
—	" "	१३	७०	" "
८२	आलोयण-पडिकमणे	"	६०	मूला० ५-१६५
८३	आवलि असंखभागा	३	६५	गो० जी० ५७४
८४	आवलिय अणागारे	४	३९१	क० पा० १५
८५	आवलियपुधत्तं पुण	९	२५	म० बं० १, पृ० २१; गो० जी० ४०५
८६	आवलियाए वग्गो	३	३५५	
८७	आहार-तेज-भासा	१४	११७	
८८	आहरदि अणेण मुणी	१	२९४	पंचसं० १-९७; गो०जी० २३९
८९	आहरदि सरीराणं	"	१५२	पंचसं० १-१७६; गो०जी० ६६५
९०	आहारयमुत्तत्थं	"	२९४	गो० जी० २४०
९१	आहार-सरीरिंदिय	२	४१७	पंचसं० १-४४; गो०जी-११९
९२	आहारे परिभोयं	१६	५७५	
९३	आहिणिवोहियबुद्धो	९	१२३	
९४	इगिवीस अट्ठ तह णव	५	१९२	
९५	इगितीस सत्त चत्तारि	७	१३१	
९६	इच्छहिदायामेण य	१०	९२	
९७	इच्छं विरलिय[दु]गुणिय	१४	१९६	
९८	इच्छिदणिसेयभत्तो	६	१७३	
९९	इट्ठसलागाखुत्तो	४	२०१	
१००	इत्थि-णउंसयवेदा	८	१८	
१०१	इमिस्से वसप्पिणीए	१	६२	
—	" "	९	१२०	ति०प० १-६८ (अर्थसाम्य)
१०२	इंगाल-जाल-अच्ची	१	२७३	मूला० ५-१४; पंचसं० १-७९ आचा०नि० ११८
१०३	उगुदाल तीस सत्त य	१६	४१०	गो०क० ४१८
१०४	उच्चारिदम्मि दु पदे	१३	३९	
१०५	उच्चारियमत्थपदं	१	१०	
१०६	उच्चुच्च उच्च तह	७	१५	
१०७	उच्छ्वासानां सहस्राणि	४	३१८	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृ०	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
१०८	उजुकूलणदीतीरे	६	१२४	
१०९	उज्जुसुदस्स दु वयणं	७	२९	
११०	उणत्तीस जोयणसया	६	१५८	
—	" "	१३	२२६	
१११	उणसट्ठिजोयणसया	६	१५८	
—	" "	१३	२२६	
११२	उत्तरगुणिते तु धने	६	८७	
११३	उत्तरगुणिदं इच्छं	१०	४७५	
११४	उत्तरदलहयगच्छे	३	९४	
११५	उदए संकम-उदए	६	२९५	गो०क० ४४०
—	" "	६	२९६	"
—	" "	१५	२७६	"
११६	उदओ य अणंत	६	३६२	
११७	उप्पज्जंति वियंति य	१	१३	सन्मतिसूत्र १-११
—	" "	४	३३७	"
—	" "	६	२४४	"
११८	उप्पण्णम्मि अणंते	१	६४	
—	" "	६	११६	
११९	उवजोगलक्खणभणाइ	१३	७३	ध्यानश० ५५
१२०	उवरिमगेवज्जे सुअ	७	३२०	मूला० १२-२७
१२१	उवरिल्लपंचए पुण	८	२४	गो०क० ७८८; पंचसं० ४-७९
१२२	उवसमसम्मत्तद्धा जइ	४	३४२	
१२३	उवसमसम्मत्तद्धा जत्तिय	४	३४१	
१२४	उवसंते खीणे वा	१	३७३	पंचसं० १-१३३; गो०जी० ४७५
१२५	उवसामगो य सव्वो	६	२३९	क०पा० ९७
१२६	उव्वेल्लण विज्झादो	१६	४०८	गो०क० ४०९
१२७	ऋषिगिरिरैन्द्राशायां	१	६२	
१२८	एइंदियस्स फुसणं	"	२५८	पंचसं० १-६७ (तृ० चरण भिन्न) गो०जी० १६७
१२९	एए छच्च समाणा	१२	२८६	
१३०	एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो	१३	२४८	जैनेन्द्र पु० पृ० ५ (अर्थसाम्य)
१३१	एकोत्तरपदवृद्धो रूपाद्यै	५	१९३	
—	" "	१३	२५४	
—	" "	१०	२०३	
१३२	एकोत्तर पदवृद्धो रूपो-	१३	२५८	
१३३	एक्कम्मि कालसमरा	१	१८६	पंचसं० १-२०; गो०जी० ५६

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहां प्राप्त होते हैं
१३४	एक्क य छक्केक्कारस	१५	८२	
१३५	एक्कं च ट्ठिदिविसेसं	६	३४७	क०पा० १५५; ल०सा० ४०४
१३६	एक्कं तिय सत्त	४	३६१	
१३७	एक्कारस छ सत्त य	"	४१५	
१३८	एक्कारसयं तिसु	४	२३६	
१३९	एक्केक्कगुणट्ठाणे	३	९५	
१४०	एक्केक्कम्हि य वत्थू	९	२२९	
१४१	एक्केक्कं तिण्णि जणा	"	२०८	
१४२	एक्को चेव महप्पो	१	१००	पंचा० ७१
—	" "	९	१९८	"
१४३	एक्को(एगो)मे सस्सदो अप्पा	६	९	भावप्रा० ५९
—	" "	७	९८	नि०सा० १०२; मूला० २-१२
१४४	एगाणेगभवगयं	१३	७२	
१४५	एदम्हि गुणट्ठाणे	१	१८३	पंचसं० १-१८; गो०जी० ५१
१४६	एदेसिं गुणगारो	१४	११८	
१४७	एदेसिं पुव्वाणं	९	२२७	
१४८	एयक्खेत्तो गाढं	४	३२७	पंचसं० ४-४९४; गो०जी० १८५
—	" "	१२	२७७	" "
—	" "	१४	४३९	" "
—	" "	१५	३५	" "
१४९	एयट्ठ च च य छ सत्तयं	१३	२५४	गो०जी० ३५३
१५०	एयणिगोदसरीरे	१	२७० व ३९४	प०ख० सूत्रगाथा १२८(पु०१४); मूला० १२-१६३; गो०जी०१९६
—	" "	४	४७८	"
१५१	एयदवियम्मि जे	१	३८६	सन्मतिसूत्र १-३३; गो०जी ५८२
—	" "	३	६	"
—	" "	९	१८३	"
१५२	एयं ठाणं तिण्णि वियप्पा	५	१९२	
१५३	एयादीया गणणा	९	२७६	त्रि०सा० १६
१५४	एवं क्रमप्रवृद्ध्या	९	२५८	
१५५	एवं सुत्तपसिद्धं	७	१०३	
१५६	एस करेमि य पणमं	१	१०५	
१५७	एसो पंचणमोक्कारो	९	४	मूला० ७-१३
१५८	ओकड्डदि जे अंसे	६	३४७	क०पा० १५४; ल० सा० ४०३
१५९	ओगाहणा जहण्णा	९	१६	म०बं० १, पृ० २१
१६०	ओजम्मि फालिसंखे	१०	९०	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
१६१	ओदइओ उवसमिओ	५	१८७	
१६२	ओदइया बंधयरा	७	९	
—	,, ,,	१२	२७९	
१६३	ओरालिय मुत्तत्थं	१	२९१	गो० जी० २३१
१६४	ओवट्टणा जहण्णा	६	३४६	क० पा० १५२; ल० सा० ४०१
१६५	ओसप्पिणि-उस्सप्पिणी	४	३३३	स०सि० २१० (उद्धृत)
१६६	ओसा य हिमो धूमरि	१	२७३	मूला० ५-१३ (पू०); पंचसं० १-७८; आचा०नि० १०८ (पू०), उत्तर ३६-८६; प्रज्ञाप० १-२०
१६७	औपश्लेपिकवैपयिका-	१४	५०२	
१६८	अंगं सरो वंजण	९	७२	
१६९	अंगुलमावलियाए	,,	२४,४०	म०वं० पृ० २१; विशेषा० ६११ नंदी०गा० ५०; गो०जी० ४०४
१७०	अंगोवंग-सरीरिंदिय	७	१५	
१७१	अंतोमुहुत्तपरदो	१३	७६	ध्यानश० ४
१७२	अंतोमुहुत्तमेत्तं	१३	४६	ध्यानश० ३
१७३	कथंचित्ते सदेवेष्टं	१५	३१	आ०मी० १४
१७४	कधं चरे कधं चिट्ठे	१	९९	मूला० १०-१२१; दशवै० ४-७
—	,, ,,	९	१९७	,,
१७५	कम्माणि जस्स तिण्णि	६	२४२	क०पा० १०६
१७६	कम्मेव व कम्मभवं	१	२९५	
१७७	कल्लाणपावए जे	१३	७२	भ०आ० १७११
१७८	कं पि णरं दट्ठूण य	७	२८	
१७९	काऊ काऊ कोऊ	२	४५६	पंचसं० १-१८५; गो०जी० ५५९
१८०	कारिस-तणिट्ठि वागग्गि	१	३४२	पंचसं० १-१०८; गो०जी १०८
१८१	कार्यद्रव्यमनादि स्यात्	१५	२९	आ०मी० १०
१८२	कालो चउण्ण वुड्ढी	९	२९	म०वं पृ० २२; नंदी गा० ५४
१८३	कालो ट्ठिदिअवधरणं	१	१५९	
१८४	कालो तिहा विहत्तो	३	२९	
१८५	कालो त्ति य ववएसो	४	३१५	पंचा० १०१
—	,, ,,	११	७६	,,
१८६	कालो परिणामभवो	४	३१५	पंचा० १००
—	,, ,,	११	७५	,,
१८७	कालो वि सो च्चिय	१३	६७	ध्यानश० ३८
१८८	किट्टी करेदि णियमा	६	३८२	क०पा० १६४
१८९	किट्टी च ट्ठिदिविसेसेसु	,,	३८३	क०पा० १६७

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
१९०	किण्णं भमरसवण्णा	१६	४८५	पंचसं० १-१८३ (किण्हा)
१९१	किण्हादिलेस्सरहिदा	१	३९०	पंचसं० १-१५३
१९२	किण्हा भमर सवण्णा	२	५३३	पंचसं० १-१८३
१९३	किमिराय-चक्क-तणु	१	३५०	गो०जी० २८७
१८४	किं कस्स केण कत्थ	,,	३४	मूला० ८-१५; जीवस० ४
१९५	किंचि दिट्ठिमुपावत्त-	१३	६८	भ०आ० १७०६
१९६	किं बहुसो सव्वं चिय	१३	७३	ध्यानश० ४९
१९७	कुक्खिकिमि-सिप्पि-संखा	१	२४१	
१९८	कुंडपुरपुरवरिस्सर	९	१२२	
१९९	कुंथु-पिपीलिक-मक्कुण	१	२४३	पंचसं० १-७३
२००	कृतानि कर्माण्यतिदा-	१३	६०	
२०१	कृष्णचतुर्दश्यां	९	२५७	
२०२	केवलणाण-दिवायर	१	१९१	पंचसं० १-२७; गो०जी० ६३
२०३	केवलदंसण-णाणे	४	३९१	क०पा० १६
२०४	कोटिकोट्यो दशैतेषां	१३	३०१	
२०५	कोटीशतं द्वादश	९	१९५	
२०६	क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि	१५	२६	
२०७	क्षायिकमेकमनन्तं	९	१४२	
२०८	क्षेत्रं संशोध्य पुनः	,,	२५६	
२०९	खय-उवसमो विसोही	६	१३९	भ०आ० २०७६; ल०सा० ३; गो०जी० ६५०
—	,, ,,	,,	२०५	,, ,,
२१०	खवए य खीणमोहे	५	१८६	प०ख० सूत्रगा० ८ (पु० १२, पृ० ७८); क०प्र० ६-९
—	,, ,,	१०	२८२	,, ,,
—	,, ,,	१५	२९६	,, ,,
२११	खंधं सयलसमत्थं	१३	१३	पंचा० ७५; मूला० ५-३४; ति०प० १-९५; गो० जी० ६०३
२१२	खिदि-वलय-दीव-सायर	,,	७३	ध्यानश० ५४
२१३	खीणे दंसणमोहे चरित्त	१	६४	
—	,, ,,	९	११९	(कुछ शब्द-भेद)
२१४	खीणे दंसणमोहे जं	१	३९५	पंचसं० १-१६०; गो०जी० ६४६
२१५	खेत्तं खलु आगासं	४	७	
२१६	गइकम्मविणिवत्ता	१	१३५	
२१७	गच्छकदीमूलजुदा	१३	२५६	
२१८	गणरायमच्चतलवर	१	५७	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
२१९	गादिजादी उस्सासो	१५	१३	
२२०	गदिलिंग-कसाया वि	५	१८९	
२२१	गमइयछदुमत्थत्तं	९	१२४	
२२२	गय-गवल-सजलजल-	१	७३	
२२३	गयणट्ठ-णय-कसाया	३	२५५	
२२४	गहणसमयम्हि जीवो	४	३३२	
२२५	गहिदमगहिदं च तहा	१३	४८	
२२६	गुण-जीवा-पज्जत्ती	२	४१२	पंचसं० १-२; गो०जी २
२२७	गुण-जोगपरावत्ती	४	४११	
२२८	गुणसेडि अणंतगुणा	६	३८२	क०पा० १६५
२२९	गुणसेडि अणंतगुणोणू	,,	३६३	क०पा० १४६
२३०	गुणसेडि असंखेज्जा	,,	३६०	ल०सा० ४४२
२३१	गुत्ति-पयत्थ-भयाइं	९	१३२	
२३२	गेवज्जाणुवरिमया	४	२३६	
२३३	गेवज्जेसु य विगुणं	९	२९८	
२३४	गोत्तेण गोदमो	१	६५	
२३५	घट-मौलि-सुवर्णार्थी	१५	२७	आ०मी ५९; शा०वा० समु० ७-२ उद्धृत
२३६	चउरुत्तरतिण्णिसयं	३	९४	
२३७	चउसट्ठ छच्च सया	,,	९९	
२३८	चक्खूण जं पयासदि	१	३८२	
—	,, ,,	७	१००	पंचसं० १-१३९; गो०जी० ४८४
२३९	चत्तारि आणुपुव्वी	१५	१४	
२४०	चत्तारि धणुसायाइं	९	१५८	मूला० १२-५१ (कुछ शब्द-भेद)
—	,, ,,	१३	२२९	,, ,,
२४१	चत्तारि वि छेत्ताइं	१	३२६	पंचसं० १-२०१; गो०जी० ६५३; गो०व० ३३४
२४२	चदुपच्चइगो बंधो	८	२४	पंचसं ४-७८ (चदु=चउ); गो०क० ७८७
२४३	चंडो ण मुयदि वेरं	१	३८८	पंचसं० १-१४४; गो० जी० ५०९
—	,, ,,	१६	४९०	,, ,,
२४४	चंदाइच्च-गहेहिं	४	१५१	
२४५	चागी भद्दो चोक्खो	१	३९०	पंचसं० १-१५१; गो० ५१५
२४६	चारणवंसो तह पंच	,,	११३	
—	,, ,,	९	२०९	
२४७	चालिज्जइ वीहेह व	१३	८३	ध्यानश० ९१

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
२४८	चितियमचितियं व	१	३६०	पंचसं० १-१२५; गो०जी० ४३८
२४९	चोद्दसपुव्व-महोयहि	,,	५०	
२५०	चोद्दस बादरजुम्मं	१०	२३	
२५१	छक्कादी छक्कंता	३	१०१	
२५२	छक्कापक्कमजुत्तो	१	१००	पंचा० ७२
—	,, ,,	९	१९८	,,
२५३	छच्चेव सहस्साइं	४	२३६	
२५४	छद्दव्व-णवपयत्थे	१	५५	
२५५	छप्पंच-णवविहाणं	,,	१५२	पंचसं० १-१५९; गो०जी ५६१
—	,, ,,	,,	३९५	,, ,,
—	,, ,,	४	३१५	
२५६	छम्मासाउवसेसे	१	३०३	भ०आ० २१०५; पंचसं० १-२०० पू०वसु०श्रा० ५३०
२५७	छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु	,,	२०९	
२५८	छादेदि सयं दोसेण	१	३४१	पंचसं० १-१०४ (छादेदि=छादयदि); गो०जी० २७४
२५९	छावट्ठि च सहस्सा	४	१५२	
२६०	छेत्तूण य परियायं	१	३७२	पंचसं० १-१३०; गो०जी० ४७१
२६१	जगसेढीए वग्गो	३	३५६	
२६२	जच्चिय देहावत्था	१३	६६	ध्यानश० ३९
२६३	ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः	१	१७	लघीय० ६-२
२६४	ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यात्	९	११८	
२६५	जत्थ जहा जाणेज्जो	३	१२६	
२६६	जत्थ बहुं जाणिज्जा	१	३०	
—	,, ,,	९	४१	
२६७	जत्थ बहू जाणेज्जो	३	१७	
२६८	जत्थिच्छसि सेसाणं	१०	४५८	
२६९	जत्थेक्कु मरइ जीवो	१	२७०	ष० ख० सूत्र गा० १२५ (पु० १४); पंचसं० १-८३; गो० १९३
२७०	जत्थेव चरइ बालो	१४	९०	मूला० ५-१३२
२७१	जदं चरं जदं चिट्ठे	१	९९	मूला० १०-१२२; दशवै० ४-८
—	,, ,,	९	१९७	,, ,,
२७२	जम्हा सुदं विदक्कं	१३	७८	भ०आ० १८८१
८७३	,, ,,	,,	७९	,, १८८४
२७४	जयमंगलभूदाणं	७	१५	
२७५	जल-जंघ-तंतु-फल	९	७९	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
२७६	जवणालिया मसूरी	१	२३६	मूला० १२-५०
—	,, ,,	१३	२९७	,,
२७७	जस्संतिए धम्मवहं	१	५४	दशवै० ९-१३
२७८	जस्सोदएण जीवो अणु	७	१५	
२७९	जस्सोदएण जीवो सुहं	६	३६	
—	,, ,,	७	१४	
२८०	जह कंचणमग्गिगयं	१	२६६	पंचसं० १-८७; गो० जी० २०३
२८१	जह गेण्हइ परियट्टं	४	३३४	
२८२	जहचियमोराण सिहा	९	४५४	
२८३	जह चिरसंचियमिंधण	१३	८२	ध्यानश० १०१
२८४	जह-जह सुदमोगाहिदि	,,	२८१	भ० आ० १०५
२८५	जह पुण्णापुण्णाइं	२	४१७	पंचसं० १-४३; गो० जी ११८
२८६	जह भारवहो पुरिसो	१	१३९	पंचसं० १-७६; गो० जी० २०२
२८७	जह रोगासयसमणं	१३	८२	ध्यानश० १००
२८८	जह वा घणसंघाया	,,	७७	,, १०२
२८९	जह सव्वसरीरगयं	,,	८७	,, ७१
२९०	जं अण्णाणी कम्मं	,,	२८१	प्रव० सा० ३-३८; भ०आ० १०८
२९१	जं च कामसुहं लोए	,,	५१	मूला० १२-१०३
२९२	जं थिरमज्झवसाणं	,,	६४	ध्यानश० २
२९३	जं सामण्णग्गहणं	७	१००	
—	जं सामण्णंगहणं	१	१४९	पंचसं० १-१३८; गो०जी० ४८२ द्रव्यसं० ४३
२९४	जाइ जरा-मरण-भया	,,	२०४	पंचसं० १-६४; गो० जी० १५२
२९५	जाणइ कज्जमकज्जं	,,	३८९	
—	,, ,,	१६	४९१	पंचसं० १-१५०; गो०जी० ५१५
२९६	जाणइ तिकालसहिए	१	१४४	पंचसं० १-११७; गो०जी० २९९
२९७	जाणदि फस्सदि भुंजदि	,,	२३९	पंचसं० १-६९
२९८	जातिरेव हि भावानां	९	१७५	
—	,, ,,	१५	२६	
२९९	जादीसु होइ विज्जा	९	७७	
३००	जारिसओ परिणामो	६	१२	
३०१	जावदिया वयणवहा	१	८०,१६२	सन्मति० १-४७; गो० क० ८९४
—	,, ,,	९	१८१	
३०२	जाहि व जासु व जीवा	१	१३२	पंचसं० १-५६; गो०जी० १४१
३०३	जिणदेसयाइ लक्खण-	१३	७३	ध्यानश० ५२
३०४	जिण-साहुगुणुक्कित्तण-	,,	७६	ध्यानश० ६८

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
३०५	जियदु मरदु व जीवो	१४	९०	प्रव०सा० ३-१७ (मरदु व जियदु)
३०६	जियमोहिंधणजलणो	१	५९	
३०७	जीवपरिणामहेऊ	६	१२	समयप्रा० ८६; क०प्र० पृ० १३८
३०८	जीवस्तथा निर्वृतिम	६	४९७	सौन्दरा० ६-२९
३०९	जीवा चोद्दसभेया	१	३७३	पंचसं० १-१३७; गो०जी० ४७८
३१०	जीवो कत्ता य भोत्ता	,,	११८	
३११	जे अहिया अवहारे	३	४२	
३१२	जे ऊणा अवहारे	,,	,,	
३१३	जे णेगमेवदव्वं	१३	७९	भ०आ० १८-८३
३१४	जे वंधयरा भावा	७	९	
३१५	जेसिं आउसमाइं	१	३०४	भ०आ० २१०६
३१६	जेसिं ण संति जोगा	,,	२८०	पंचसं० १-१००, गो०जी० २४३
३१७	जेहिं दु लक्खिजंते	,,	१६१	पंचसं० १-३; गो०जी० ८
३१८	जोगा पयडि-पदेसे	१२	११७	पंचसं० ४-५१३; गो०जी० २५७
—	,, ,,	,,	२८९	,, ,, ,,
३१९	जो णेव सच्चमो सो	१	२८६	पंचसं० १-९२; गो०जी० २२१
३२०	जो तसवहाउ विरओ	,,	१७५	पंचसं० १-१३ (कुछ शब्द परिवर्तन); गो०जी० ३१
३२१	ज्येष्ठामूलात् परतो	९	२५८	
३२२	झाएज्जो निरवज्जं	१३	७१	ध्यानश० ४६
३२३	झाणिस्स लक्खणं से	,,	६५	
३२४	झाणोवरमे वि मुणी	,,	७३	ध्यानश० ६५
३२५	ठिदिघादे हम्मंते	१२	३९४	
३२६	ण उ कुणइ पक्खवायं	१	३९०	पंचसं० १-१५२; गो०जी० ५१७
—	,, ,,	१६	४९२	
३२७	ण कसायसमुत्थेहि वि	१३	८२	ध्यानश० १०३
३२८	णट्ठासेसपमाओ	१	१७९	पंचसं० १-१६; गो०जी० ४६
३२९	णत्थि चिरं वा खिप्पं	४	३१७	पंचा० २६
३३०	णत्थि णयेहि विहूणं	१	९१	आव०नि० ६६१ पू०
३३१	ण य कुणइ पक्खवायं	१६	४९२	पंच०सं० १-१५२ गो०जी०५१६
३३२	णयदि त्ति णयो भणिओ	१	११	
३३३	ण य पत्तियइ परं सो	,,	३८९	पंचसं० १-१४८; गो०जी० ५१३
—	,, ,,	१६	४९१	,,
३३४	ण य परिणमइ सयं	४	३१५	गो०जी० ५७०
३३५	ण य महइ णेव सं-	४	३४९	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहां उपलब्ध होते हैं
३३६	ण य सच्चमोसजुत्तो	१	२८२	पंचसं० १-९०; गो०जी० २१९
३३७	ण रमंति जदो णिच्चं	,,	२०२	पंचसं० १-६०; गो०जी० १४७
३३८	णलया बाहू य तहा	६	५४	गो०क० २८
३३९	णवकम्माणादाणं	१३	६८	ध्यानश० ३३
३४०	णव चेव सयसहस्सा	३	९७	
३४१	णवमो अइक्खुवाणं	१	११२	
—	,, ,,	९	२०९	
३४२	ण वि इंदिय-करणजुदा	१	२४८	
३४३	णाणण्णाणं च तहा	५	१९१	
३४४	णाणमयकण्णहारं	१३	७३	ध्यानश० ५८
३४५	णाणंतरायदसयं	८	१७	
३४६	णाणंतरायदंसण	,,	१५	
३४७	णाणावरणचदुक्कं	७	६४	
३४८	णाणे णिच्चब्भासो	१३	६८	ध्यानश० ३१
३४९	णामं ठवणा दविए	१	१५	सन्मति० १-६
—	,, ,, दवियं	४	३	,,
—	,, ,, ,,	९	१८५	,,
—	,, ,, ,,	,,	२४२	,,
३५०	णामं ट्ठवणा दवियं···			
—	,, मणंतं।	३	११	
३५१	णामं ट्ठवणा दवियं···			
—	,, ···मसंखं।	,,	११,१२३	
३५२	णामिणि धम्मुवयारो	५	१८६	
३५३	णिक्खित्तु विदियमेत्तं	७	४५	मूला ११-२२; गो०जी० ३८
३५४	णिच्चं चिय जुवइ-पसू	१३	६६	ध्यानश० ३५
३५५	णिज्जरि दाणिज्जरिदं	,,	४८	
३५६	णिद्दद्धमोह-तरुणो	१	४५	
३५७	णिद्दावंचणबहुलो	,,	३८९	पंचसं० १-१४६; गो०जी० ५११
—	,, ,,	१६	४५१	
३५८	णिम्मूलखंध-साहुव	२	५३३	पंचसं० १-१९२; (उत्त० कुछ भिन्न) गो०जी० ५०८
३५९	णिरयाउआ जहण्णा	४	३३३	स०सि० २१० (उद्धृत)
३६०	णिरयगइं संपत्तो	७	२९	
३६१	णिस्सेसखीणमोहो	१	१९०	पंचसं० १-१२५; गो०जी० ६२
३६२	णिहयविविहट्ठकम्मा	,,	४८	
३६३	णेरइय-देव-तित्थयरोहि	१३	२९५	नंदी०गा० ६४

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
३६४	णेवित्थी णेव पुमं	१	३४२	गो०जी० २७५
३६५	णो इंदिएसु विरदो	,,	१७३	पंचसं० १-११; गो०जी० २९
३६६	ततो वर्षशते पूर्णे	१३	३००	
३६७	तत्तो चेव सुहाइं	१	५९	
३६८	तत्थ मइदुब्बलेण य	१३	७१	ध्यानश० ४७
३६९	तद विददो घण सुसिरो	,,	२२२	
३७०	तदियो य णियइ-	१	११२	
३७१	तपसि द्वादशसंखे	९	२५७	
३७२	तम्हा अहिगयसुत्तेण	१	९१	सन्मति० ३, ६४-६५ (पूर्वार्ध-उत्तरार्द्ध में व्यत्यय)
३७३	तललीनमधुगविमलं	७	२५८	गो०जी १५८
३७४	तस्स य सकमांजणियं	१३	७३	ध्यानश० ५६
३७५	तह बादरतणुविसयं	,,	८७	,, ७२ (शब्द-भेद)
३७६	तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं	१	१६३	
३७७	तारिसपरिणामट्ठिय	,,	१८३	पचसं० १-१९; गो०जी० ५४
३७८	तावन्मात्रे स्थावर	९	२५५	
३७९	तिगहियसद णवणउदी	३	९०	गो०जी० ६२५
३८०	तिण्णं दलेण गुणिदा	१०	९१	
३८१	तिण्णिसदा छत्तीसा	१४	३६२	गो०जी० १२२
३८२	तिण्णिसया छत्तीसा	४	३९०	गो०जी० १२३
३८३	तिण्णिसहस्सासत्तं य	३	६६	
—	,, ,,	१३	३००	(एसो=एगो)
—	,, ,,	१४	३६२	
३८४	तिण्हं दोण्हं दोण्हं	२	५३४	पंचसं० १-१८८; गो०जी० ५३४
३८५	तित्थयर-गणहरत्तं	१	५८	
३८६	तित्थयर-णिरय-देवाउअ	८	१४	
३८७	तित्थयरवयणसंगह	१	१२	सन्मति० १-३
३८८	तिरयण-तिसूलधारिय	,,	४५	
३८९	तिरियंति कुंडिलभावं	,,	२०२	पंचसं० १-६१; गो०जी० १४८
३९०	तिल-पलल-पृथुक-	९	२५५	
३९१	तिविहं तु पदं भणिदं	,,	१९६	
३९२	तिविहं पदमुद्दिट्ठं	१३	२६६	
३९३	तिविहा य आणुपुव्वी	१	७२	
—	,, ,,	९	१४०	
३९४	तिसदिं वदंति केई	३	९४	गो०जी० ६२६ (वदंति=भणंति)
३९५	तेऊ तेऊ तेऊ	२	५३४	पंचसं० १-१८९ (च० चरण भिन्न); गो०जी० ५३४

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
३९६	तेत्तीस वंजणाइं	१३	२४८	गो०जी० ३५२
३९७	तेया-कम्मसरीरं	९	३८	मं०वं० १, पृ० २२
३९८	तेरस कोडी देसे वावण्णं	३	२५४	गो०जी० ६४२
३९९	तेरस पण णव पण णव	१०	२९	
४००	तेरह कोडी देसे पण्णासं	३	२५२	
४०१	ती जत्थ समाहाणं	१३	६६	ध्यानश० ३७
४०२	तो देस-काल-चेट्ठा	,,	६७	,, ४१
४०३	तोयमिव णालियाए	,,	८६	,, ७५
४०४	थिरकयजोगाणं पुण	,,	६७	,, ३६
४०५	दर्शनेन जिनेन्द्राणां	६	४२८	
४०६	दलियमयणप्पयावा	१	४५	
४०७	दव्वगुणपज्जए जे	७	१४	
४०८	दव्वट्ठियणयपयई	१	१२	
४०९	दव्वाइमणेगाइं	१३	७८	
४१०	दव्वादिवदिक्कमणं	९	२५९	मूला० ४-१७१
४११	दस अट्ठारस दसयं	८	२८	गो०क० ७९२
४१२	दस चदुरिगि सत्तारस	,,	११	,, २६३
४१३	दस चोद्दस अट्ठारस	९	२२७	
४१४	दसविह सच्चे वयणे	१	२८६	पंचसं० १-९१; गो०जी० २२०
४१५	दस सण्णीणं पाणा	२	४१८	गो०जी० १३३
४१६	दहि-गुडमिव वामिस्सं	१	१७०	पंचसं० १-१०; गो०जी० २२
४१७	दंसणमोहक्खवणा-	६	२४५	क०पा० ११०
४१८	दंसणमोहस्सुवसामओ	,,	२३९	,, ९५
४१९	दंसणमोहुदयादो	१	३९६	गो०जी० ३४९
४२०	दंसणमोहुवसमदो	,,	,,	गो०जी० ६५०
४२१	दंसण वद सामाइय	,,	१०२,३७३	चा०प्रा० २२; गो०जी० ४७७; पंचसं० १-१३६
—	,, ,,	९	२०१	वसु०श्रा० ४
४२२	दाणंतराइयं दाणे	१५	१४	
४२३	दाणे लाभे भोगे	१	६४	वसु०श्रा० ५२७
४२४	दिव्वंति जदो णिच्चं	,,	२०३	पंचसं० १-६३ (दिव्वंति=कीडंति); गो०जी० १५१
४२५	दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो	६	४९७	सौन्दरा० म०का० १६-२८
४२६	दुओणदं जहा जादं	९	१८९	मूला० ७-१०४; समवा० १२
४२७	देवाउ-देवचउक्काहार	८	११	
४२८	देस-कुल-जाइसुद्धो	१	४९	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
४२९	देसे खओवसमिए	५	१९४	
४३०	देहविचित्तं पेच्छइ	१३	८२	ध्यानश० ९२
४३१	दो दोरूवक्खेवं	१०	४६०	
४३२	दोद्दोय तिण्णि तेऊ	४	४७५	
४३३	द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव	१३	९९	
४३४	द्विसहस्रराजनाथो	१	५७	
४३५	धणमट्ठुत्तरगुणिदे	१०	१५०	
४३६	धदगारवपडिबद्धो	१	६८	
४३७	धनुराकारश्छिन्नो	,,	६२	
४३८	धम्माधम्मागासा	३	२९	
४३९	धम्माधम्मा लोया	,,	१२९	
४४०	धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो	९	१८३	आ०मी० २२
४४१	धुवखंधसांतराणं	१४	११८	
४४२	नन्दा भद्रा जया रिक्ता	४	३१९	
४४३	नयोपनयैकान्तानां	३	५	आ०मी० १०७
—	,, ,,	६	२८	,,
—	,, ,,	९	१८३	,,
—	,, ,,	१३	३१०	,,
४४४	नवनागसहस्राणि	९	९१	
४४५	न सामान्यात्मनोदेति	१५	२८	आ०मी० ५७
४४६	नानात्मतामप्रजहत्तदेक	३	६	युक्त्यनु० ५०
४४७	नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि	१५	१९	आ०मी० ३७
४४८	निमेषाणां सहस्राणि	४	३१८	
४४९	पक्खेवरासिगुणिदो	३	४९	
४५०	पच्चय-सामित्तविही	८	८	
४५१	पच्चाहरित्तु विसएहि	१३	६९	भ०आ० १७०७
४५२	पच्छा पावाणयरे	९	१२५	
४५३	पढमक्खो अंतगओ	७	४८	मूला० ११-२३; गो०जी० ४०
—	,, ,,	१२	३१९	,, ,,
४५४	पढमपुढवीए चदुरो	९	२९६	
४५५	पढमं पयडिपमाणं	७	४५	मूला० ११-२१ (पयडि=सील)
४५६	पढमो अरहंताणं	१	११२	
—	,, ,,	९	२०९	
४५७	पढमो अबंधयाणं	९	२०८	
४५८	पणगादि दोहि जुदा	,,	३००	मूला० १२-७९

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
४५९	पणवण्णा इर वण्णा	८	२४	पंचसं० ४-८० (इर वण्णा=पण्णासा)
४६०	पणुवीस जोयणाणि	९	२५	
४६१	,, असुराणं	४	७९	मूला० १२-२१, त्रि०सा० २४९
—	,, ,,	७	३१९	
४६२	पण्णट्ठी च सहस्सा	३	८८	
४६३	पण्णरस कसाया विणु	८	१२	
४६४	पाणवणिज्जा भावा	९	५७	विशेषा० १४१; गो०जी० ३३४
—	,, ,,	१२	१७१	
४६५	पण्णासं तु सहस्सा	४	२३५	
४६६	पत्थेण कोदवेण य	३	३२	
४६७	पत्थो तिहा विहत्तो	,,	२९	
४६८	पदमिच्छसलागगुणा	१०	४५७	
४६९	पदमीमांसा संखा	,,	१९	
४७०	पभवच्चुदस्स भागा	१३	२२३	
४७१	पम्मा पउमसवण्णा	२	५३३	पंचसं० १-१८४ (पम्मा=पम्हा)
—	,, ,,	१६	४८५	,,
४७२	पयडिट्ठिदिप्पदेसा	१३	७२	ध्यानश० ५१
४७३	पयोव्रतो न दध्यत्ति	१५	२७	आ०मी० ६०; शा०वा०समु० ७-३ (उद्धृत)
४७४	परमाणु आदियाइं	१	३८२	पंचसं० १-१४०; गो०जी० ४८५
—	,, ,,	७	१००	,,
४७५	परमोहि असंखेज्जाणि	९	४२	म०बं० १, पृ० २२, आव० नि० ४५ (विशेषा० ६८८)
४७६	परिणिव्वुदे जिणिंदे	,,	१२५	
४७७	परियट्टिदाणि बहुसो	४	३३४	
४७८	पर्वसु नन्दीश्वरवर	९	२५७	
४७९	पल्लासंखेज्जदिमो	१४	११८	
४८०	पल्लो सायर-सूई	३	१३२	मूला० १२-८५; ति०प० १-९३; त्रि० सा० ९२
४८१	पवयण-जलहिजलो	१	४९	
४८२	पंच-ति-चउविहेहिं	,,	३७३	गो०जी० ४७६; पंचसं० १-१३५
४८३	पंचत्थिकायमइयं	१३	७३	ध्यानश० ५३
४८४	पंचत्थिया य छज्जीव	४	३१६	मूला० ५-२०१
४८५	पंच य छ त्ति य छप्पं च	१५	१३	
४८६	पंच य मासा पंच य	९	१३२	
४८७	पंच रस पंच वण्णा	१३	३५२	
४८८	पंच वि इंदिययाणा	२	४१७	पंचसं० १-४६; गो०जी० १३०

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
४८९	पंचशतनरपतीनां	१	५७	
४९०	पंचसमिदो तिगुत्तो	,,	३७२	पंचसं० १-१३१; गो०जी० ४७२
४९१	पंचसयवारसुत्तर	३	८८	
४९२	पंचसेलपुरे रम्मे	१	६१	
४९३	पंचात्थिकाय-छज्जीव	१३	७१	मूला० ५०२
४९४	पंचादि अट्ठणिहणा	१५	८२	
४९५	पंचासुहसंघडणा	८	१८	
४९६	पंचेव अत्थिकाया	९	१२९	
४९७	पंचेव सयसहस्सा …उणतीसा।	३	१००	
४९८	पंचेव सयसहस्सा ते-	,,	१०१	
४९९	पापं मलमिति प्रोक्तं	१	३४	
५००	पासे रसे य गंधे	९	१५८	
—	,, ,,	१३	२२९	
५०१	पुट्ठं सुणेइ सद्दं	९	१५९	स०सि० १-१९ (उद्धृत); नंदीगा० ७८; आव० नि० ५
५०२	पुढवी जलं च छाया	३	३	गो०जी० ६०१; वसु०श्रा० १९
५०३	पुढवी य सक्करा वा-	१	२७२	मूला० ५-९ (पू०); जीव०स० २७
५०४	पुण्य-पापक्रिया न स्यात्	१५	२०	आ०मी० ४०.
५०५	पुरिसेसु सदपुधत्तं	९	३००	
५०६	पुरुगुणभोगे सेदे	१	३४१	पंचसं० १०६; गो०जी० २७३
५०७	पुर-महमुदारुरालं	,,	२९१	पंचसं० १-९३; गो०जी० २३०
५०८	पुव्वकयब्भासो	१३	६८	ध्यानश० ३०
५०९	पुव्वस्स दु परिमाणं	,,	३००	जं०दी०प० १३-१२; प्रव०सारो० १३८७
५१०	पुव्वापुव्वयपद्दय	१	१८८	पंचसं० १-२३
५११	पुव्वुत्तवसेसाओ	८	१३	
५१२	पूर्वापरविरुद्धादे-	३	१२,१२३	
—	,, ,,	९	२५१	
५१३	पूतनाङ्गदण्डनायक	१	५७	
५१४	प्रक्षेपकसंक्षेपेण	६	१५८	
—	,, ,,	१०	४८५	
—	,, ,,	११	२४१	
५१५	प्रतिपद्यकः पादो	९	२५८	
५१६	प्रतिपेधयति समस्तं	६	४४	
५१७	प्रमाण-नय-निक्षेपै-	१	१६	

क०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
—	प्रमाण-नय-निक्षेपै-	३	१७,१२६	
—	,, ,,	१३	४	
५१८	प्रमितिररत्निशतं	६	२५६	
५१९	प्राणिनि च तीव्रदुःखा-	,,	२५५	
५२०	प्राय इत्युच्यते लोक	१३	५९	भ०आ०मूला०टीका ५२६ उद्धृत
५२१	फालिसलागब्भहिया	१०	९०	
५२२	वत्तीसमट्ठदालं	३	९३	गो०जी० ६२८
५२३	वत्तीस सोलस चत्तारि	,,	८७	
५२४	वत्तीसं किर कवला	१३	५६	भ०आ० २११
५२५	वत्तीसं सोहम्मे	४	२३५	
५२६	वम्हे कप्पे वम्होत्तरे	४	२३५	
५२७	वम्हे य लांतवे वि य	७	३२०	
५२८	वहिरर्थो वहुव्रीहिः	३	७	
५२९	वहुविह-वहुप्पयारा	१	३८२	पंचसं० १-१४१; गो०जी० ४८६
५३०	वहुव्रीह्यव्ययीभावो	३	६	
५३१	वंधे अधापवत्तो	१६	४०९	गो०क० ४१६
५३२	वंधेण य संजोगो	८	३	
५३३	वंधेण होदि उदओ	६	३५९	क०पा० १४४; ल०सा० ४४१
५३४	वंधेण होदि उदओ	,,	३६२	क०पा० १४३
५३५	वंधोदएहि णियमा	,,	३६३	क०पा० १४८
५३६	वंधोदय पुव्वं वा······ णियमेण	८	८	
५३७	वंधोदय पुव्वं वा······ ···रोदये	,,	,,	
५३८	वंधो वंधविही पुण	,,	,,	
५३९	वारस णव छ त्तिण्णि	६	३८१	
५४०	वारस दस अट्ठेव य	३	१६७,२०१	
—	,, ,,	७	२५०	
५४१	वारस पण दस पण दस	१२	११	
५४२	वारस य वेदणिज्जे	६	३४३	
५४३	वारसविहं पुराणं	१	११२	
—	,, ,,	९	२०९	
५४४	वारससदकोडीओ	१३	२६६	
५४५	वाहत्तरि वासाणि य	९	१२२	
५४६	वाहिरपाणेहि जहा	१	२५६	पंचसं० १-४५; गो०जी० १२९
५४७	वाहिरसूईवग्गो	४	१९५	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
५४८	वाह्यं तपः परमदुश्चर	१३	५६	स्वयंभू० ८३
५४९	विदियादिवग्गणा पुण	१०	४५६	
५५०	वीजे जोणीभूदे	३	३४८	गो०जी० १९०
—	,, ,,	४	२५१	,,
—	,, ,,	१४	२३२	,,
५५१	वुद्धि-तव-विउव्वणो सह	९	१२८	
५५२	वुद्धि तवो वि लद्धी	,,	५८	
५५३	वुद्धिविहीने श्रोतरि	१२	४१४	
५५४	भरहम्मि अद्धमासो	९	२५	म०वं० पृ० २१; नन्दी०गा० ५, आव०नि० ३४; गो०जी० ४०६
५५५	भविया सिद्धी जेसिं	१	३९४	पंचसं० १-१५६; गो०जी० ५५७
५५६	भंगायामपमाणं	१२	३१९	
५५७	भावियसिद्धंताणं	१	५९	
५५८	भावस्तत्परिणामो	६	४६	
५५९	भावैकान्ते पदार्थानां	१५	२८	आ०मी० ९
५६०	भासागदसमसेडिं	१३	२२४	
५६१	भिण्णसमयट्ठिएहि दु	१	१८३	पंचसं० १-१७
५६२	मक्कडय-भमर-महुयर	,,	२४५	
५६३	मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः	१	३३	
५६४	मणपज्जव परिहारा	२	८२४	पंचसं० १-१९४; गो०जी० ७२९
५६५	मणसा वाचा काए	१	१४०	स्थानांग, पृ० १०१
५६६	मणुवत्तणसुहमउलं	९	१२३	
५६७	मण्णंति जदो णिच्चं	१	२०३	पंचसं० १-६२; गो०जी० १४९
५६८	मध्याह्ने जिनरूपं	९	२५७	
५६९	मरणं पत्थेइ रणे	१	३८९	पंचसं० १-१४९; गो०जी ५१४
—	,, ,,	१६	४९१	,, ,,
५७०	मसुरिय-कुसग्गबिंदू	१३	२९७	मूला० १२-४८
५७१	महावीरेणत्थो कहिओ	१	६१	
५७२	मंगल-णिमित्त-हेऊ	,,	७	पचा०ज०सं० वृत्ति में उद्धृत
५७३	मंदो वुद्धिविहीणो	,,	३८८	पंचसं० १-१४५; गो०जी० ५१०
—	,, ,,	१६	४९०	,, ,,
५७४	माणद्धा कोधद्धा	४	३९१	क०पा० १७
५७५	माणुससंठाणा वि हु	१	४८	
५७६	मानुषशरीरलेशा-	९	२५६	
५७७	मिच्छत्त-कसायासं-	७	१४	
५७८	मिच्छत्तपच्चओ खलु	६	२४०	क०पा० १०१

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
५७९	मिच्छत्त-भय-दुगुंछा	८	१२	
५८०	मिच्छत्तवेदणीयं	६	२४०	क०पा० ९९
५८१	मिच्छत्तं वेयंतो	१	१६२	पंचसं० १-६; गो०जी० १७
५८२	मिच्छत्ता विरदी वि य	७	९	
५८३	मिच्छत्ते दस भंगा	५	१९४	
५८४	मिच्छाइट्ठी णियमा	६	२४२	क०पा० १०८; क०प्र०उप० २५, गो०जी० १८
५८५	मिथ्यासमूहो मिथ्या	९	१८२	आ०मी० १०८
५८६	मिश्रघने अष्टगुणो	,,	८८	
५८७	मुखमर्धं शरीरस्य	१३	३८३	
५८८	मुहतलसमासमद्धं	४	२०,५१	ति० प० १-१६५; जं० दी० प० ११-१०८
५८९	मुह-भूमिविसेसम्हि दु	,,	५७	
५९०	मुह-भूमीण विसेसो	७	११७	
५९१	मुहसहिदमूलमद्धं	४	१४६	
५९२	मूलग्ग-पोर-वीया	१	२७३	मूला० ५-१६; पंचसं० १-८१; गो०जी० १८६
५९३	मूलणिमेणं पज्जव	,,	१३	सन्मति० १-५
५९४	मूलं मज्झेण गुणं	४	२१,५१	जं०दी०प० ११-११०
५९५	मेरुव्व णिप्पकंपं	१	५९	
५९६	य एव नित्य-क्षणिका-	९	१८२	स्वयंभू० ६१
५९७	यथैकक कारकमर्थ-	,,	,,	,, ६२
५९८	यदि सत् सर्वथा कार्यं	१५	२०	आ०मी० ३९
५९९	यद्यसत् सर्वथा कार्यं	,,	२१	,, ४२
६००	यम-पटहरवश्रवणे	९	२५५	
६०१	युक्त्या समधीयानो	,,	२५७	
६०२	योजनमण्डलमात्रे	,,	२५५	
६०३	योजनं विस्तृतं पल्यं	१३	३००	
६०४	रसाद् रक्तं ततो मांसं	६	६३	
६०५	राग-द्दोस-कसाया	१३	७२	
६०६	राग-द्वेषाद्यूष्मा	१५	३४	
६०७	रागाद्वा द्वेषाद्वा	३	१२	
६०८	रासिविसेसेणवहिद-	,,	३४२	
६०९	रूपेषु गुणमर्थेषु वर्गणं	४	२००	
६१०	रूपोनमादिसंगुण	,,	१५९,१९९ व २०१	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
६११	रूवूणिच्छागुणिदं	१०	६१	
६१२	रूसदि णिंददि अण्णे	१	३८६	पंचसं० १-१४७; गो०जी० ५१२
—	,, ,,	१६	४६१	,, ,,
६१३	रोहणो वलनामा च	४	३१८	
६१४	रौद्रः श्वेतश्च मैत्रश्च	,,	,,	
६१५	लद्धविसेसच्छिण्णं	३	४६	
६१६	लद्धंतरसंगुणिदं	,,	४७	
६१७	लद्धीओ सम्मत्तं	५	१६१	
६१८	लिंगत्तियं वयणसमं	६	२६१	
६१९	लिंपदि अप्पीकीरदि	१	१५०	पंचसं० १-१४२; गो०जी० ४८९
६२०	लोगागासपदेसे	३	३३	गो०जी० ५८८, द्रव्यसं० २२
—	,, ,,	११	७६	,, ,,
—	,, ,,	१३	१३	
६२१	लोगो अकट्टिमो खलु	४	११	
६२२	लोगो अकट्टिमो खलु	४	११	त्रि०सा० ४
६२३	लोयस्स य विक्खंभो	,,	,,	जं०दी०प० ११-१०७
६२४	लोयायासपदेसे	,,	३१५	गो०जी० ५८८, द्रव्यसं०२२
६२५	वइसाहजोण्हपक्खे	६	१२४	
६२६	वत्तावत्तपमाए	१	१७८	पंचसं० १-१४, गो०जी० ३४
६२७	वयणंतु समभिरूढं	७	२९	
६२८	वयणेहि वि हेऊहि	१	३६५	पंचसं० १-१६१
६२९	वय-समिइ-कसायाणं	,,	१४५	पंचसं० १-१२७
६३०	ववहारस्स दु वयणं	७	२९	
६३१	वाउब्भामो उक्कलि	,,	२७३	मूला० ५-१५ (पू०); पंचसं० १-८०; आचा०नि० १६६
६३२	वाग्मिदग्म्या··· (?)	१३	२०१	
६३३	वासस्स पढममासे	१	६३	
—	,, ,,	९	१३०	
६३४	वासाणूणत्तीसं०	९	१२५	
६३५	विकहा तहा कसाया	१	१७८	पंचसं० १-१५; गो०जी० ३४
६३६	विक्खंभवग्गदहगुण	४	२०९	त्रि० सा० ९३
६३७	विगतार्थागमनं वा	९	२५९	
६३८	विग्गहगइमावण्णा	१	१५३	पंचसं० १-१७७; जीवस० ८२; श्रावकप्र० ९८; गो० जी० ६६६
६३९	विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं	,,	४१	
६४०	विणएण सुदमधीदं	९	८२,२५९	मूला० ५-८९

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
६४१	विधिर्विषक्तप्रतिषेध-	७	६६	स्वयंभू० ५२
६४२	वियोजयति चासुभि:	१४	६०	स०सि० ७-१३ (उद्धृत)
६४३	विरलिदइच्छं विगुणिय	१०	४७५	
६४४	विरियोवभोगभोगे	७	१५	
६४५	विरोधान्नोभयैकात्म्यं	१५	३०	आ०मी० १३
६४६	विवरीयमोहिणाणं	१	३५६	पंचसं० १-१२०; गो०जी० ३०५
६४७	विविहगुणइढिजुत्तं	,,	२६१	पंचसं० १-६५; गो०जी० २३२
६४८	विशेषण-विशेष्याभ्यां	११	३१७	
६४९	विस-जंत-कूड-पंजर	१	३५८	पंचसं० १-११८; गो०जी० ३०३
६५०	विसमगुणादेगूणं	१०	४६२	
६५१	विसमं हि समारोहइ	१३	६७	ध्यानश० ४३
६५२	विस-वेयण-रत्तक्खय	१	२३	गो० क० ५७
६५३	विसहस्सं अडयालं	३	८८	
६५४	विहि तिहि चउहि पंचहि	१	२७४	पंचसं० १-८६
६५५	वेउव्वियमुत्तत्थं	,,	२६२	गो०जी० २३४
६५६	वेकोडि सत्तवीसा	३	१००	
६५७	वेदण-कसाय-वेउव्विय	४	२६	पंचसं० १-१६६; गो०जी ६६७
६५८	वेदस्सुदीरणाए	१	१४१	पंचसं० १-१०१
६५९	वेलुवमूलोरब्भय	,,	३५०	गो०जी० २८६ (वेलुव-वेणुव)
६६०	व्यन्तरभेरीताडण	६	२५६	
६६१	व्यासं तावत् कृत्वा	४	३५	
६६२	व्यासं षोडशगुणितं	,,	४२,२२१	
६६३	व्यासार्धकृतित्रिकं	,,	१६६	
६६४	शब्दात् पदप्रसिद्धिः	१	१०	
६६५	षट्खण्डभरतनाथं	,,	५८	
६६६	षष्ठ-सप्तम्यो: शीतं	७	४०५	
६६७	षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्	६	१६५	
६६८	सकयाहलं जलं वा	१	१८६	पंचसं० १-२४; गो०जी०६१
६६९	सकलभुवनैकनाथ	,,	५८	
६७०	सक्कीसाणा पढमं	६	२६	म०बं०पृ० २२; मूला०१२-१०७ श्राव०नि० ४८
६७१	सगमाणेण विहत्ते	७	४६	मूला० ११-२४; गो०जी० ४१
६७२	सज्झायं कुव्वंतो	१३	२८१	
६७३	सत्त णव सुण्ण पंच	३	२५६	
—	,, ,,	४	१६४	
६७४	सत्तसहस्सडसीदेहि	३	२५६	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
६७५	सत्तसहस्सा णवसद	६	१३३	
६७६	सत्ता जंतू य माई य	६	२२०	अंगप० २-८७
६७७	सत्ता जंतू य माणी	१	११६	
६७८	सत्तादि दसुक्कस्सं	१५	८२	
६७९	सत्तादी अट्ठंता	३	९८	गो०जी० ६६३
६८०	सत्तादी छक्कंता	,,	४५०	
६८१	सत्तावीसेदाओ	८	१५	
६८२	सत्ता सव्वपयत्था	९	१७९	पंचा० ८
—	,, ,,	१३	१६	,,
—	,, ,,	१४	२३४	,,
६८३	सत्तेताल धुवाओ	८	१६	
६८४	सत्तेतालसहस्सा	९	१५८	
—	,, ,,	१३	२२९	
६८५	सद्दणयस्स दु वयणं	७	२९	
६८६	सप्तदिनाध्ययनं	९	२५५	
६८७	सब्भावसहावाणं	४	३१४	पंचा० २३
६८८	सब्भावो सच्चमणो	१	२८१	पंचसं० १-८९, गो०जी० २१९
६८९	समओ णिमिसो कट्ठा	४	३१७	पंचा० २५
६९०	समयो रात्रि-दिनयो-	,,	३१९	
६९१	सम्मत्तपढमलंभ-	६	२४२	क०पा० १०५
६९२	सम्मत्तपढमलंभो	,,	२४१	क० पा० १०४; क० प्र० उप० क० २३
६९३	सम्मत्त-रयण-पव्वय	१	१६६	पंचसं० १-९; गो०जी० २०
६९४	सम्मत्तं चारित्तं	५	१९०	
६९५	सम्मत्तुप्पत्तीय वि	,,	१८६	प०ख० सूत्र गाथा ७ (पु० १२, पृ० ७८); क०प्र० ८ (उदयाधिकार), गो०जी० ६०
—	सम्मत्तुप्पत्तीय वि य	१०	२८२	
—	,, ,,	१५	२९६	
६९६	सम्मत्ते सत्त दिणा	७	४६२	
६९७	सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं	१	१७३	क०प्र०उप०क० २४; पंचसं० १-१२; गो०जी० २७
—	सम्माइट्ठी सद्दहदि	६	२४२	क०पा० १०७
६९८	सम्मामिच्छाइट्ठी सागारो	,,	२४३	क०पा० १०९; क० प्र० उप० क० २६
६९९	सरवासे दु पदंते	१४	९०	मूला० ५-१३१

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृ०	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
७००	सर्वथानियमत्यागी	१२	२९६	स्वयंभू० १०२
७०१	सर्वात्मकं तदेकं स्या-	१५	२९	आ०मी० ११
७०२	सव्वणिरयमवणेसु	६	२३९	क०पा० ९६
७०३	सव्वम्हि ट्ठिदि विसेसेहि	६	२४०	क०पा० १००, (सव्वेहि ट्ठिदिविसेसेहि)
७०४	सव्वम्हि लोगखेत्ते	४	३३३	स०सि० २-१० (उद्धृत)
७०५	सव्वंच लोयणालि	९	२६	म०बं० १; पृ० २३; गो०जी० ४३२
७०६	सव्वाओ किट्टीओ	६	३८३	क०पा० १६८
७०७	सव्वावरणीयं पुण	७	६३	
७०८	सव्वासि पगडीणं	४	३३४	स०सि० २-१० (उद्धृत)
७०९	सव्वासु वट्टमाणा	१३	६६	ध्यानश० ४०
७१०	सव्वुवरि वेयणीए	१०	३८७,५१२	पंचसं० ४-४९७; शतक ६०
—	,, ,,	१५	३६	
७११	सव्वेवि पुव्वभंगा	७	४५	मूला० ११-२०; गो०जी० ३६
७१२	सव्वे वि पोग्गला	४	३२६,३३३	स०सि० २-१० (उद्धृत)
७१३	सस्सेदिम-सम्मुच्छिम	१	२४६	
७१४	संकलणरासिमिच्छे	१३	२५६	
७१५	संकाइसल्लरहियो	,,	६८	ध्यानश० ३२
७१६	संकामेदुक्कड्डदि	६	३४६	क०पा० १५३
७१७	संगह-णिग्गहकुसलो	१	४९	मूला० ४-३७ (पू०)
७१८	संगहियसयलसंजम	,,	३७२	पंचसं० १-१२९; गो०जी० ४७०
७१९	संपुण्णं तु समग्गं	,,	३६०	पंचसं० १-१२६; गो०जी० ४६९
७२०	संखा तह पत्थारो	७	४५	गो०जी० ३५
७२१	संखो पुण बारह जो-	४	३३	
७२२	संछुहदि पुरिसवेदे	६	३५९	ल०सा० ४३८
७२३	संठाविदूण रूवं	७	४६	मूला० ११-२५; गो०जी० ४२
७२४	संते वए ण णिट्ठादि	४	३३८	
७२५	सायारे पट्ठवओ	६	२३९	क०पा० ९८
७२६	सावण बहुल पडिवरे	१	६३	ति०प० १-७० (कुछ शब्दभेद)
७२७	सावित्रो धुर्यसंज्ञश्च	४	३१९	
७२८	साहारणमाहारो	१	२७०	प०ख० सूत्र गाथा १२२ (पृ० १४); पंचसं० १-८२, आचा० नि० १३६; गो०जी० १९१
७२९	सांतरणिरंतरेण य	८	१९	
७३०	सांतरणिरंतरेदर	१४	१३७	

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ प्राप्त होते हैं
७३१	सिक्खा-किरियुवदेसा	१	१५२	पंचसं० १-१७३; गो०जी० ६६१
७३२	सिद्धत्तणस्स जोग्गा	,,	१५०	पंचसं० १५४; गो०जी० ५५८
७३३	सिद्धत्थपुण्णकुंभो	,,	२७	
७३४	सिद्धाणिगोदजीवा	३	२६	
७३५	सिद्धार्थः सिद्धसेनश्च	४	३१९	
७३६	सिल-पुढविभेद-धूली	१	३५०	गो०जी० २८४
७३७	सीयायवादिएहि मि	१३	८२	ध्यानश० १०४
७३८	सहि-गय-वसह-मिय	१	५१	
७३९	सुनिउणमणाइणिहणं	१३	७१	ध्यानश० ४५
७४०	सुत्तं गणधरकहियं	,,	३८१	भ०आ० ३४; मूला० ५-८०
७४१	सुत्तादो तं सम्मं	१	२६२	गो०जी० २९
७४२	सुरमहिदोच्चुदकप्पे	९	१२२	
७४३	सुविदियजयस्सहावो	१३	६८	ध्यानश० ३४
७४४	सुह दुक्ख-सुवहुसस्सं	१	१४२	पंचसं० १-१०९
७४५	सुहुमट्ठिदिसंजुत्तं	४	३३१	
७४६	सुहुमणुभागादुवरि	१२	४१८	
७४७	सुहुमम्मि कायजोगे	१३	८३	भ०आ० १८८७
७४८	सुहुमं तु हवदि··· जायदे दव्वं।	३	१३०	
७४९	सुहुमं तु हवदि··· हवदिदव्वं।	,,	२८	
७५०	सुहुमो य हवदि कालो	,,	२७, ३०	
७५१	सूई मुद्दा पडिहो	१	१५४	
—	,, ,,	९	२६०	
७५२	सेडिअसंखेज्जदिमो	१४	११८	
७५३	सेलघण-भग्गघड	१	६८	
७५४	सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्तं	,,	३५०	गो०जी० २८५
७५५	सेलेसिं संपत्तो	,,	१९९	पंचसं० १-२३
७५६	सेवापराह्णकाले	९	२५८	
७५७	सोलसयं चउतीसं	३	९१	गो०जी० ६२७
७५८	सोलसयं छप्पण्णं	१०	१३२	
७५९	सोलससदचोत्तीसं	१३	२६६	गो०जी० ३३५
७६०	सोलह सोलसहि गुणे	४	१९९	
७६१	सोहम्मीसाणे सु य	७	३१९	मूला० १२-२३

क्र०सं०	अवतरणवाक्यांश	पुस्तक	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होते हैं
७६२	सोहम्मे माहिंदे··· होदि अट्ठगुण्ठां	९	२९८	
७६३	सोहम्मे माहिंदे··· होदि पंचगुणं	,,	२९५	
७६४	सोहम्मे सत्तगुणं	,,	३००	
७६५	स्याद्वादप्रविभक्तार्थ	,,	१६७	आ०मी० ५५
७६६	स्वयं अहिंसा स्वयमेव	१४	९०	
७६७	हय-हत्थि-रहाणहिया	१	५७	
७६८	हारान्तरहृतहारा	३	४७	
७६९	हेट्ठामज्झे उवरिं	४	११	जं० दी० प० ११-१०६
७७०	हेट्ठिमगेवज्जेसु अ	७	३२०	मूला० १२-२६
७७१	हेतावेवं प्रकाराद्यौ	६	१४	धन० अने० नाममाला ३९
—	,, ,,	९	२३७	,,
७७२	हेदूदाहरणासंभवे	१३	७१	ध्यानश० ४८
७७३	होंति अणियट्टिणो ते	१	१८६	पंचसं० १-२१, गो०जी० ५७
७७४	होंति कमविसुद्धाओ	१३	७६	ध्यानश० ६६
७७५	होंति सुहा सव-संवर	,,	,,	,, ९३

उपसंहार

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, प्रस्तुत षट्खण्डागम पर इस महत्त्वपूर्ण विशाल धवला टीका के रचयिता बहुश्रुतशाली आचार्य वीरसेन रहे हैं। उन्होंने मूल ग्रन्थ में निर्दिष्ट विषय का विशदीकरण ग्रन्थकार के मनोगत अभिप्राय की सीमा से सम्बद्ध रहकर ही किया है। प्रसंगप्राप्त विषय का विस्तार यदि कहीं अपेक्षित रहा है तो मूलग्रन्थकार के अभिप्राय का ध्यान रखते हुए ही उन्होंने उसे परम्परागत श्रुत के आधार से विस्तृत किया है। उनकी इस धवला टीका से निम्न तथ्य प्रसूत हुए हैं—

१. आठ प्रकार के ज्ञानाचार के चतुर्थ भेदभूत 'बहुमान' ज्ञानाचार का पूर्णतया निर्वाह करते हुए उन्होंने प्रसंगप्राप्त विषय के विवेचन में सूत्र और सूत्रकार की आसादना नहीं होने दी है, दोनों की प्रतिष्ठा को निर्बाध रक्खा है।

२. सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट, पर स्वयं उनके द्वारा अप्ररूपित, प्रसंगप्राप्त विषय की प्ररूपणा उन्होंने आगमाविरोधपूर्वक प्राप्त श्रुतज्ञान के बल पर विस्तार से की है।

३. विरुद्ध मतों के प्रसंग में उन्होंने सूत्राश्रित व्याख्यान को प्रधानता दी है।

४. सूत्र के उपलब्ध न होने पर विवक्षित विषय के व्याख्यान में उन्होंने आचार्य-परम्परागत उपदेश को और गुरु के उपदेश को भी प्रधानता दी है।

५. कुछ प्रसंगों पर सूत्र के विरुद्ध जाने वाली अन्य आचार्यों की मान्यताओं को अप्रमाण घोषित कर सूत्रानुसारिणी युक्ति के बल पर उन्होंने उस प्रसंग में दृढ़तापूर्वक स्वयं के अभिमत को भी प्रस्थापित किया है।

६. प्रसंगप्राप्त विषय का विशदीकरण करते हुए उन्होंने व्याख्यात तत्त्व की पुष्टि प्राचीन आगम-ग्रन्थों के अवतरणों द्वारा की है। यह ऊपर दी गई अवतरण-वाक्यों की अनुक्रमणिका से सुस्पष्ट है।

७. धवलाकार के ही समय में मूल सूत्रों में कुछ पाठ-भेद हो चुका था, जिसे उन्होंने प्रसंग के प्राप्त होने पर स्पष्ट भी कर दिया है।

८. कुछ सूत्रों के विषय में शंकाकार द्वारा पुनरुक्ति व निरर्थकता आदि दोषों को उद्‌भावित किया गया है। उनका प्रतिषेध करते हुए आगमनिष्ठ वीरसेनाचार्य ने उनकी निर्दोषिता व प्रामाणिकता को पुष्ट किया है।

९. प्रस्तुत टीका दुरूह संस्कृत का आश्रय न लेकर सार्वजनिक हित की दृष्टि से सरल व सुबोध प्राकृत-संस्कृतमिश्रित भाषा में रची गई है।

आद्योपान्त इस धवला टीका का परिशीलन करने से, जैसा कि उसकी प्रशस्ति में निर्देश किया गया है, आचार्य वीरसेन की सिद्धान्त-विषयक अगाध विद्वत्ता, व्याकरणवैदुष्य, गम्भीर गणितज्ञता, ज्योतिर्वित्त्व और तार्किकता प्रकट है।

परिशिष्ट—१

विषयपरिचायक तालिका

(१) कर्मप्रकृतियाँ और उनकी उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति आदि

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन (पु० ६, पृ० १-७८)		२ वन्ध कहाँ से कहाँ तक	३ उत्कृष्ट पु० ६, पृ० १४५-७९		४ जघन्य पु० ६, पृ० १८०-२०२	
मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृतियाँ		स्थिति	आवाधा	स्थिति	आवाधा
१ ज्ञानावरण	आभिनिवोधिक ज्ञानावरणादि ५	मिथ्या० से सूक्ष्म साम्पराय तक	३० कोड़ाकोड़ी	३ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
	१ निद्रानिद्रा २ प्रचलाप्रचला ३ स्त्यानगृद्धि	मिथ्यादृष्टि और सासादन	,,	,,	पल्योपम के असं० भाग से कम ३/७ सागरोपम	,,
२ दर्शनावरण	४ निद्रा ५ प्रचला	मिथ्यादृष्टि से अपूर्वकरण के ७वें भाग तक	,,	,,	,,	,,
	६ चक्षुदर्श० ७ अचक्षुदर्श० ८ अवधिदर्श० ९ केवलिदर्श०	मिथ्यादृष्टि से सूक्ष्म साम्पराय तक	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
३ वेदनीय	१ सातावेदनीय	मिथ्यात्व से सयो० के० तक	१५ को० को०साग०	डेढ हजार वर्ष	१२ मुहूर्त	,,
	२ असातावेदनीय	मिथ्यात्व से प्रमत्त तक	३० को० को०साग०	३ हजार वर्ष	पल्योपम के असं० भाग कम३/७ सा०	,,
४ मोहनीय (१ दर्शन-मोहनीय)	१ सम्यक्त्व २ मिथ्यात्व	अवन्धप्रकृति	७० को० को० सा०	—	पल्यो० के असं० भाग से कम ७/७ सागरोपम	,,

	१	२	३		४	
	३ सम्यग्मिथ्यात्व	मिथ्यादृष्टि अवन्धप्रकृति	७० को० कोड़ी सागरोपम	७ हजार वर्ष	—	—
(२ चारित्र-मोहनीय)	अनन्तानुबन्धी ४	मिथ्यादृष्टि और सासादन	४० को० को० सागरोपम	४ हजार वर्ष	पल्यो० के असं० भाग हीन ४/७ सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
	अप्रत्याख्याना-वरण ४	मिथ्यादृष्टि से असंयतसम्यग्दृष्टि तक	,,	,,	,,	,,
	प्रत्याख्यानावरण ४	मिथ्यादृष्टि से संयतासंयत	,,	,,	,,	,,
	संज्वलन क्रोध	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिक०	,,	,,	२ मास	,,
	संज्वलन मान	,,	,,	,,	१ मास	,,
	संज्वलन माया	,,	,,	,,	१ पक्ष	,,
	संज्वलन लोभ तक	सूक्ष्मसाम्पराय तक	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
नौ नोकषाय	१ स्त्रीवेद	मिथ्यादृष्टि व सासादन	१५ को० कोड़ी सागरोपम	डेढ़ हजार वर्ष	पल्योपम के असं० भाग से हीन १/७ सागरोपम	,,
	२ पुरुषवेद	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण	१० को० को०साग०	१ हजार वर्ष	८ वर्ष	,,
	३ नपुंसकवेद	मिथ्यादृष्टि	२० को० को०साग०	२ हजार वर्ष	पल्यो०के० असं० भाग से हीन २/७साग०	,,
	४ हास्य	अपूर्वकरण तक	१० को० को०साग०	१ हजार वर्ष	,,	,,
	५ रति	,,	,,	,,	,,	,,
	६ अरति	,,	२० को०	२ ह० वर्ष	,,	,,
	७ शोक	,,	,,	,,	,,	,,
	८ भय	,,	,,	,,	,,	,,
	९ जुगुप्सा	,,	,,	,,	,,	,,
५ आयु ४	१ नारकायु	मिथ्यादृष्टि	३३ साग०	१/३ पूर्व-कोटि	१० हजार वर्ष	,,
	२ तिर्यगायु	मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्य०	३ पल्यो०	,,	क्षुद्रभव-ग्रहण	,,
	३ मनुष्यायु	मिश्र को छोड़ असंयतसम्य० तक	,,	,,	,,	,,

	१	२		३		४
	४ देवायु	अप्रमत्तसंयत तक	३३ साग०	१/३ पूर्व-कोटि	१० ह० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
६ नामकर्म (पिण्ड-प्रकृतियाँ)						
१ गतियाँ ४	१ नरक	मिथ्यादृष्टि	२० को० को०साग०	२ हजार वर्ष	पल्यो० के सं० भाग से हीन २/७सा० सहस्र	,,
	२ तिर्यंच	मिथ्यादृष्टि व सासादन	,,	२ हजार वर्ष	पल्यो०के असं०भाग से हीन २/७सा०	,,
	३ मनुष्य	असं०सम्यग्दृ०तक	१५ ,,	डेढ ह०वर्ष	,,	
	४ देव	अप्रमत्तसंयत तक	१० ,,	१ ,,	पल्यो० के सं० भाग से हीन २/७सा०सहस्र	,,
२ जाति ५	१ एकेन्द्रिय	मिथ्यादृष्टि	२० ,,	२ ह० वर्ष	पल्यो० के असं० भाग से हीन २/७सा०	,,
	२ द्वीन्द्रिय	,,	१८ को० को०साग०	१.४/५ ह० वर्ष	,,	,,
	३ त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,
	४ चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,
	५ पंचेन्द्रिय	अपूर्णकरण तक	२० ,,	२ ह० वर्ष	,,	,,
३ शरीर ५ (४शरीरबंधन और शरीर संघात। ये औदारिकादि ५ शरीरों के समान हैं)	१ औदारिक	अ०सम्यग्दृ०तक	,,	,,	,,	,,
	२ वैक्रियिक	अपूर्वकरण तक	,,	,,	पल्यो० के सं० भाग से हीन २/७सा०सहस्र	,,
	३ आहारक	अप्रमत्त और अपूर्वकरण	अन्तःको० को०साग०	अन्तर्मुहूर्त	अन्तःको०को० सागरोपम	,,
	४ तैजस	अपूर्वकरण तक	२० को० को०साग०	२ ह० वर्ष	पल्यो० के असं० भाग से हीन २/७ सा०	,,
	५ कार्मण	,,	,,	,,	,,	,,
६ शरीर-संस्थान ६	१ समचतुरस्र	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	२ न्यग्रोधपरि-मण्डल	मिथ्यादृष्टि और सासादन	१२ ,,	१.१/५ ह० वर्ष	,,	,,
	३ स्वातिसं०	मि० और सासा०	१४ ,,	१.२/५ ,,	,,	,,
	४ कुब्जकसं०	,,	१६ ,,	१.३/५ ,,	,,	,,
	५ वामनसं०	,,	१८ ,,	१.४/५ ,,	,,	,,
	६ हुण्डसं०	,,	२० ,,	२ ह० वर्ष	,,	,,
७ शरीरांगो-पांग ३	१ औदारिक	असंयतसम्यग्दृष्टि	,,	,,	,,	,,

१		२	३		४	
	२ वैक्रियिक	अपूर्वकरण तक	२० को० को० सा०	२ हजार वर्ष	पल्यो० के सं० भाग से हीन २/७सा०सहस्र	अन्तर्मुहूर्त
	३ आहारक	अप्रमत्त और अपूर्वकरण	,,	,,	अन्तःको०को० सागरोपम	
८ शरीर-संहनन ६	१ वज्रर्षभनाराच	असंयतसम्यग्दृष्टि तक	१० को० को० सा०	१ हजार वर्ष	पल्योपम के असं० भाग से हीन २/७ सा०	,,
	२ वज्रनाराच	मि० और सासा०	१२ ,,	१.१/५ ,,	,,	,,
	३ नाराच	,,	१४ ,,	१.२/५ ,,	,,	,,
	४ अर्धनाराच	,,	१६ ,,	१.३/५ ,,	,,	,,
	५ कीलित	,,	१८ ,,	१.४/५ ,,	,,	,,
	६ असंप्राप्तसेवर्त	मिथ्यादृष्टि	२० ,,	२ ह० वर्ष	,,	,,
९ वर्ण	१-५ कृष्णादि	अपूर्वकरण तक	,,	,,	,,	,,
१० गन्ध	१ सुरभि, २ दुरभि	,,	,,	,,	,,	,,
११ रस	१-५ तिक्तादि	,,	,,	,,	,,	,,
१२ स्पर्श	१-८ कर्कश आदि	,,	,,	,,	,,	,,
१३ आनुपूर्वी ४	१ नरकगति-प्रायो०	मिथ्यादृष्टि	,,	,,	पल्यो० के सं० भाग से हीन २/७सा०सहस्र	,,
	२ तिर्यग्गतिप्रा०	मि० व सासादन	,,	,,	पल्योपम के असं० भाग से हीन २/७सा०	,,
	३ मनुष्यगतिप्रा०	असंय०सं० तक	१५ ,,	डेढ ,,	,,	,,
	४ देवगतिप्रा०	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	पल्यो० के सं० भाग से हीन २/७सा०सहस्र	,,
१४ विहायोगति	१ प्रशस्तवि०	,,	,,	१ ,,	पल्योपम के असं० भाग से हीन २/७ सा०	,,
	२ अप्रशस्तवि०	मि० व सासादन	२० ,,	२ ,,	,,	,,
अपिण्ड-प्रकृतियाँ	१ अगुरुलघु	अपूर्वकरण तक	,,	,,	,,	,,
	२ उपघात	,,	,,	,,	,,	,,
	३ परघात	,,	,,	,,	,,	,,
	४ उच्छ्वास	,,	,,	,,	,,	,,
	५ आताप	मिथ्यादृष्टि	,,	,,	,,	,,
	६ उद्योत	मि० और सासा०	,,	,,	,,	,,
	७ त्रस	अपूर्वकरण तक	,,	,,	,,	,,
	८ स्थावर	मिथ्यादृष्टि	,,	,,	,,	,,
	९ वादर	अपूर्वकरण तक	२० ,,	२ ह० वर्ष	,,	,,
	१० सूक्ष्म	मिथ्यादृष्टि	१८ ,,	१.४/५ ,,	,,	,,

	१	२		३		४
	११ पर्याप्त	अपूर्वकरण तक	२० को० कोड़ी सागरोपम	२ हजार वर्ष	पल्योपम के असं भाग से हीन २/७सा०	अन्तर्मुहूर्त
	१२ अपर्याप्त	मिथ्यादृष्टि	१८ ,,	१.४/५ ,,	,,	,,
	१३ प्रत्येक शरीर	अपूर्वकरण तक	२० ,,	२ ह० वर्ष	,,	,,
	१४ साधारण श०	मिथ्यादृष्टि	१८ ,,	१.४/५ ,,	,,	,,
	१५ स्थिर	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	१६ अस्थिर	प्रमत्तसंयत तक	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	१७ शुभ	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	१८ अशुभ	प्रमत्तसंयत तक	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	१९ सुभग	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	२० दुर्भग	मिथ्यादृष्टि	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	२१ सुस्वर	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	२२ दुःस्वर	मि० व सासादन	२० ,,	२ ,,	,,	,,
	२३ आदेय	अपूर्वकरण तक	१० ,,	१ ,,	,,	,,
	२४ अनादेय	मि० व सासादन	२० ,,	२ ह० वर्ष	,,	,,
	२५ यशःकीर्ति	सूक्ष्मसाम्प० तक	१० ,,	१ ,,	८ मुहूर्त	,,
	२६ अयशःकीर्ति	प्रमत्तसंयत तक	२० ,,	२ ,,	पल्योपम के असं० भाग से हीन २/७ सा०	,,
	२७ निर्माण	अपूर्वकरण तक	,,	,,	,,	,,
	२८ तीर्थंकर	असंयतसम्य० से अपूर्वकरण तक	अन्तःको० को० सा०	अन्तर्मुहूर्त	अन्तःकोड़ा-को० साग०	,,
७ गोत्र	१ उच्चगोत्र	सूक्ष्मसाम्प० तक	१० को० को० सा०	१ ह० वर्ष	८ मुहूर्त	,,
	२ नीचगोत्र	मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्य०	२० को० को० सा०	२ ,,	पल्योपम के असं० भाग से हीन २/७ सा०	,,
८ अन्तराय	१-५ दानान्तराय आदि	सूक्ष्मसाम्पराय तक	३० ,,	३ ह० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	,,

(२) नरकादि गतियों से सम्यक्त्वोपत्ति के बाह्य कारण

(गति-आगति चूलिका सूत्र १-४३, पु० ६, पृ० ४१८-३७)

गति	जिनविम्वदर्शन	धर्मश्रवण	जाति-स्मरण	वेदना-भिभव	सम्यक्त्वोत्पत्ति के योग्य काल
१. नरकगति					
प्रथम, द्वितीय व तृतीय पृथिवी	—	,,	,,	,,	पर्याप्त होने के समय से अन्तर्मुहूर्त पश्चात्
चौथी से सातवीं	—	—	—	—	,,
२. तिर्यंचगति पंचेन्द्रिय, संज्ञी, गर्भज व पर्याप्त	जिनविम्वदर्शन	धर्मश्रवण	जाति-स्मरण	—	दिवस-पृथक्त्व के पश्चात्
३. मनुष्यगति गर्भज-पर्याप्ति	जिनविम्बदर्शन	धर्मश्रवण	जाति-स्मरण	—	आठ वर्ष के ऊपर
४. देवगति					
भवनवासी से शतार-सहस्रार कल्प पर्यन्त	जिनमहिम-दर्शन	,,	,,	देवर्द्धिदर्शन	अन्तर्मुहूर्त के पश्चात्
आरण-अच्युत	,,	,,	,,	—	,,
नौ ग्रैवेयक	—	,,	,,	—	,,
अनुदिश से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त	नियम से सब सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।				

विशेष—

१. तिर्यंच मिथ्यादृष्टियों में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, सम्मूर्च्छिम व अपर्याप्त सम्यक्त्वोत्पादन के योग्य नहीं होते।—सूत्र १३-१८
२. मनुष्यों में सम्मूर्च्छिम व अपर्याप्त सम्यक्त्वोत्पादन के योग्य नहीं होते।—सूत्र २३-२६
३. देवों में अपर्याप्त सम्यक्त्वोत्पादन के योग्य नहीं होते।—सूत्र ३१-३३

(३) चारों गतियों में गुणस्थान विशेष से सम्बन्धित प्रवेश और निर्गमन

(गति-आगति चूलिका सूत्र ४४-७५, पृ० ४३७-४६)

गति	प्रवेशकालीन गुणस्थान	निर्गमनकालीन गुणस्थान			सूत्र
१. नरकगति					
प्रथम पृथिवीस्थ नारक	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	२ सासादन	३ सम्यक्त्व	४४-४८
	२ सम्यक्त्व	—	—	"	
द्वितीय से छठी पृथिवीस्थ	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	२ "	३ "	४९-५१
सप्तम पृथिवीस्थ	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	—	—	५२
२. तिर्यंचगति					
तिर्यंचसामान्य	१ मिथ्यात्व	१ "	२ सासादन	३ सम्यक्त्व	५३-६०
पंचेन्द्रिय तिर्यंच	२ सासादन	१ "	२ "	३ "	
पंचेन्द्रियपर्याप्त ति०	३ सम्यक्त्व	—	—	१ सम्यक्त्व	
पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमती	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	२ सासादन	३ सम्यक्त्व	६१-६५
	२ सासादन	१ "	—	२ "	
३. मनुष्यगति					
मनुष्य, व मनुष्यपर्याप्ति	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	२ सासादन	३ सम्यक्त्व	६६-७४
	२ सासादन	१ मिथ्यात्व	२ "	३ "	
	३ सम्यक्त्व	१ मिथ्यात्व	२ "	३ "	
मनुष्यणी	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	२ सासादन	३ "	६१-६५
	२ सासादन	१ मिथ्यात्व	—	२ "	
४. देवगति					
भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी देव-देवियाँ तथा सौधर्म-ईशान कल्प की देवियाँ	१ मिथ्यात्व	१ मिथ्यात्व	२ सासादन	३ सम्यक्त्व	"
	२ सासादन	१ "	—	२ "	
अनुदिशों से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त	१ सम्यक्त्व	—	—	१ सम्यक्त्व	७५

(४) कौन जीव किस गति से किस गति में जाता-आता है

(गति-आगति चूलिका सूत्र ७६-२०२)

१ निर्गमन करने वाले जीवविशेष	२ प्राप्त करने योग्य गतियाँ				३ सूत्र
	नरक	तिर्यंच	मनुष्य	देव	
नारकी					
प्रथम पृथिवी से छठी पृथिवी तक के नारकी मिथ्यादृष्टि	—	पंचेन्द्रिय, संज्ञी गर्भज, सं० वर्षायुष्क	गर्भज, पर्याप्त, संख्यातवर्षायु.	—	७६-८५ व ९२
सासादनसम्य०	—	,,	,,	—	,,
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	—	निर्गमज	सम्भव नहीं	—	८६
सम्यग्दृष्टि	—	—	गर्भज, पर्याप्त, संख्यातवर्षायु.	—	८७-९१
सप्तम पृथिवीस्थ नारक मिथ्यादृष्टि	—	पंचे०, संज्ञी पर्याप्त, गर्भज संख्यातवर्षायु०	—	—	९३-९९ व १००
तिर्यंच					
पंचेन्द्रिय, संज्ञी, गर्भज, पर्या., सं.वर्षा., मि.दृ.	सब नारक	सब तिर्यंच	सब मनुष्य	भवनवासी से शतार-सहस्रार तक	१०१-६
असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	प्रथम पृथिवी	,, (संख्यातवर्षायु०)	,, (संख्यातवर्षायु०)	भवनवासी व वानव्यन्तर	१०७-११
पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी अपर्याप्त, पृथिवीका. अप्कायिक, वनस्पति-का., निगोदजीव वादर-सूक्ष्म, वादर वनस्पतिकायिक, प्रत्येकशरीर, पर्याप्त-अप., दो-तीन-चतु. पर्याप्त-अप.	—	असंख्यात वर्षायुष्कों को छोड़ सब तिर्यंच	असंख्यात वर्षायुष्कों को छोड़ सब मनुष्य	—	११२-१४
तेजस्कायिक व वायु-कायिक वादर-सूक्ष्म पर्याप्त-अपर्याप्त	—	असंख्यात वर्षायुष्कों को छोड़ सब तिर्यंच	—	—	११५-२७

१	२				३
तिर्यंच, सासादनसम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क	—	एकेन्द्रिय वादर पृथिवी, अप. व वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्त तथा पंचेन्द्रिय संज्ञी गर्भज पर्याप्त संख्यातवर्षायु.	गर्भज, पर्याप्त व संख्यातवर्षायुष्क	शतार-सहस्रार कल्पवासी देवों तक	११८-२९ (सम्यग्मिथ्यादृष्टि का मरण सम्भव नहीं। सूत्र १३०)
तिर्यंच असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क	—	—	—	सौधर्म-ईशान से लेकर आरण-अच्युत कल्प तक	१३१-३३
तिर्यंच मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातवर्षायुष्क	—	—	—	भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव	१३४-३६ व १३७(मिश्र में मरण नहीं)
तिर्यंच असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातवर्षायुष्क	—	—	—	सौधर्म-ईशान कल्पवासी	१३८-४०
मनुष्य					
मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संख्यातवर्षायुष्क	सब नारक	सब तिर्यंच	सब मनुष्य	भवनवासियों से लेकर नौ ग्रैवेयकों तक	१४१-४६
मनुष्य अपर्याप्त	—	असंख्यातवर्षायुष्कों को छोड़कर सब तिर्यंच	असंख्यातवर्षायुष्कों को छोड़ सब मनुष्य	—	१४७-४९
मनुष्य सासादनसम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क	—	एकेन्द्रिय वादर पृथिवी, अप, वनस्पतिकाय, प्रत्येक शरीर तथा संज्ञी, गर्भज पर्याप्त संख्यातवर्षायुष्क	गर्भज, पर्याप्त संख्यात व असंख्यातवर्षायुष्क	भवनवासियों से लेकर नौ ग्रैवेयकों तक	१५०-६१ (मिश्र गुणस्थान में मरण सम्भव नहीं)
मनुष्य सम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क	—	—	—	सौधर्म-ईशान से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक	१६३-६५

१	२				३
मनुष्य मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातवर्षायुष्क	—	—	—	भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी देव	१६६-६८
मनुष्य सम्यग्दृष्टि असंख्यातवर्षायुष्क	—	—	—	सौधर्म-ईशान कल्पवासी	१७०-७२
देव					
मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि	—	एकेन्द्रिय बादर पृथिवी अप्, वनस्पतिका० प्रत्येक शरीर तथा पंचेन्द्रिय संज्ञी, गर्भज, पर्याप्त संख्यातवर्षायुष्क	गर्भज, पर्याप्त व संख्यातवर्षायुष्क	—	१७३-८३, १८४ (मिश्र में मरण का अभाव)
देव सामान्य सम्यग्दृष्टि	—	—	गर्भज, पर्याप्त व संख्यातवर्षायुष्क	—	१८५-८६
भवनत्रिक व सौधर्म-ईशान कल्पवासी मि० व सासादनसम्यग्दृष्टि (सामान्य देवों के समान)	—	एकेन्द्रिय बादर पृथिवी, अप्, वन० प्रत्येकशरीर तथा संज्ञी, गर्भज, पर्याप्त संख्यात०	"	—	१९० व १७३-८४
उपर्युक्त देव सम्यग्दृष्टि	—	—	"	—	१९० व १८५-८६
सनत्कुमार से शतार-सहस्रार तक मि० व सासादनसम्यग्. (प्रथम पृथिवी के समान)	—	पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, गर्भज, संख्यातवर्षायुष्क	"	—	१९१ व ७६-८६
उक्त देव सम्यदृष्टि	—	—	"	—	१९१ व ८७-९२
आनत से लेकर नौ ग्रैवेयक तक मि०, सासा० व असंयतसम्यग्दृष्टि	—	—	"	—	१९३-९७
अनुदिश से लेकर सर्वा० तक असंयतसम्यग्दृष्टि	—	—	"	—	१९८-२०२

किस गति से	किस गति में आकर	मति	सूत्र
नरक			
सप्तम पृथिवी	तिर्यंच होकर	—	३-५
छठी पृथिवी	तिर्यंच मनुष्य	मति "	६-८ "
पंचम पृथिवी	तिर्यंच मनुष्य	" "	९-१२
चतुर्थ पृथिवी	तिर्यंच मनुष्य	" "	३-१६
तृतीय, द्वितीय व प्रथम पृथिवी	तिर्यंच मनुष्य	" "	७-२०
तिर्यंच-मनुष्य	नारक तिर्यंच मनुष्य देव	" " " "	१-२५
भवनत्रिक देव-देवियाँ व सौ०इ० कल्प देवियाँ	तिर्यंच मनुष्य	" "	०-३३
सौधर्म-ईशान से शतार सहस्रार	तिर्यंच मनुष्य	" "	३४ व २६-२९
आनतादि नौग्रैवेयक	मनुष्य	" "	३५-३७
अनुदिश से अपराजित तक	मनुष्य	नियम से रहता है	३८-४०
सर्वार्थसिद्धि विमानवासी	मनुष्य	नियम से रहता है	४१-४३

(६) बन्धोदय-तालिका
(बन्धस्वामित्वविचय, खण्ड ३, पुस्तक ८)

कौन प्रकृति स्वोदय से, कौन परोदय से और कौन स्व-परोदय से बँधती है; तथा कौन प्रकृति सान्तरबन्धी, कौन निरन्तरबन्धी और कौन सान्तर-निरन्तरबन्धी है; इसकी प्ररूपणा 'बन्धस्वामित्वविचय' नामक तीसरे खण्ड में की गयी है। उसका स्पष्टीकरण संक्षेप में इस तालिका से हो जाता है—

१	२	३	४	५	६	७
प्रकृतिसं०	प्रकृतिनाम	स्वोदय, परोदय व स्व-परोदय-बन्धी	सान्तर, निरन्तर व सान्तर-निरन्तरबन्धी	बन्ध किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक	उदय किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक	पु० ८ पृष्ठ
१-५	ज्ञानावरण ५	स्वोदयबन्धी	निरन्तरबन्धी	१-१०	१-१२	७
६-९	चक्षुदर्शनावरणादि ४	"	"	"	"	"
१०-११	निद्रा, प्रचला २	स्व-परोदय-बन्धी	"	१-८	१-१२	३५
१२-१४	निद्रानिद्रादि ३	"	"	१-२	१-६	३०
१५	सातावेदनीय	"	सान्तरनिरन्तर-बन्धी	१-१३	१-१४	३८
१६	असातावेदनीय	"	सान्तरबन्धी	१-६	१-१४	४०
१७	मिथ्यात्व	स्वोदयबन्धी	निरन्तरबन्धी	१	१	४२
१८-२१	अनन्तानुबन्धी ४	स्वोदय-परो०	"	१-२	१-२	३०
२२-२५	अप्रत्याख्यानावरण ४	"	"	१-४	१४	४६
२६-२९	प्रत्याख्याना० ४	"	"	१-५	१-५	५०
३०-३२	संज्वलनक्रोधादि ३	"	"	१-९	१-९	५२;५५
३३	संज्वलनलोभ	"	"	१-९	१-१०	५८
३४-३५	हास्य, रति २	"	सान्तरनि०	१-८	१-८	६५
३६-३७	अरति, शोक २	"	सान्तरबन्धी	१-६	१-८	४०
३८-३९	भय, जुगुप्सा २	"	निरन्तरबन्धी	१-८	१-८	५९
४०	नपुंसकवेद	"	सान्तरबन्धी	१	१-९	४२
४१	स्त्रीवेद	"	"	१-२	१-९	३०
४२	पुरुषवेद	"	सान्तर-नि०	१-९	१-९	५२
४३	नारकायु	परोदयबन्धी	निरन्तर०	१	१-४	४२

१	२	३	४	५	६	७
४४	तिर्यगायु	स्वोदयपरो०	"	१-२	१-५	३०
४५	मनुष्यायु	"	"	१,२,४[1]	१-१४	६१
४६	देवायु	परोदयबन्धी	"	१-७	१-४	६४
४७	नरकगति	"	सान्तरबन्धी	१	१-४	४२
४८	तिर्यग्गति	स्वोदय-परो०	सा०नि०ब०	१-२	१-५	३०
४९	मनुष्यगति	"	"	१-४	१-१४	४६
५०	देवगति	परो०ब०	"	१-८	१-४	६६
५१-५४	एकेन्द्रियादिजाति ४	स्वो०परो०ब०	सा०ब०	१	१	४२
५५	पंचेन्द्रियजाति	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१४	६६
५६	औदारिकशरीर	"	"	१-४	१-१३	४६
५७	वैक्रियिकशरीर	परोदयबन्धी	"	१-८	१-४	६६
५८	आहारकशरीर	"	निरन्तरबन्धी	७-८	६	७१
५९	तैजसशरीर	स्वोदयबन्धी	"	१-८	१-१३	६६
६०	कार्मणशरीर	"	"	"	"	"
६१	औ०श०अंगोपांग	स्वो०परो०ब०	सा०नि०ब०	१-४	१-१३	४६
६२	वैक्रियिकअंगोपांग	परोदयबन्धी	"	१-८	१-४	६६
६३	आहारकअंगोपांग	"	निरन्तरब०	७-८	६	७१
६४	निर्माण	स्वोदयब०	"	१-८	१-१३	६६
६५	समचतुरस्रसंस्थान	स्वो०परो०ब०	सा०नि०ब०	"	"	"
६६	न्यग्रोधपरिमंडल-संस्थान	"	सान्तरब०	१-२	१-१३	३०
६७	स्वातिसंस्थान	"	"	"	"	"
६८	कुब्जकसंस्थान	"	"	"	"	"
६९	वामनसंस्थान	"	"	"	"	"
७०	हुण्डकसंस्थान	"	"	१	१-१३	४२
७१	वज्रवृषभनाराचसं०	"	सा०नि०ब०	१-४	१-१३	४६
७२	वज्रनाराचसंहनन	"	सान्तरब०	१-२	१-११	३०
७३	नाराचसंहनन	"	"	"	"	"
७४	अर्धनाराचसंहनन	"	"	१-२	१-७	३०
७५	कीलितसंहनन	"	"	"	"	"
७६	असंप्राप्तसृपाटिकासं०	स्वो०परो०ब०	सान्तरब०	१	१-७	४२
७७	स्पर्श	स्वोदयब०	निरन्तब०	१-८	१-१३	६६
७८	रस	"	"	"	"	"
७९	गन्ध	"	"	"	"	"
८०	वर्ण	"	"	"	"	"

१. मिश्र के बिना

१	२	३	४	५	६	७
८१	नरकगत्यानुपूर्वी	परोदयब०	सान्तर०	१	१,२,४	४२
८२	तिर्यग्गत्यानुपूर्वी	स्वो०परो०ब०	सा०नि०ब०	१-२	१,२,४	३०
८३	मनुष्यगत्यानुपूर्वी	"	"	१-४	१,२,४	४६
८४	देवगत्यानुपूर्वी	परोदयब०	"	१-८	१,२,४	६६
८५	अगुरुलघु	स्वोदयब०	निरन्तरब०	१-८	१-१३	६६
८६	उपघात	स्वो०परो०ब०	"	"	"	"
८७	परघात	"	सा०नि०ब०	"	"	"
८८	आताप	"	सान्तरब०	१	१	४२
८९	उद्योत	"	"	१-२	१-५	३०
९०	उच्छ्वास	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१३	६६
९१	प्रशस्तविहायोगति	"	"	"	"	"
९२	अप्रशस्तविहायोगति	"	सान्तरब०	१-२	१-१३	३०
९३	प्रत्येकशरीर	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१३	६६
९४	साधारणशरीर	"	सान्तरब०	१	१	४२
९५	त्रस	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१४	६६
९६	स्थावर	"	सान्तरब०	१	१	४२
९७	सुभग	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१४	६६
९८	दुर्भग	"	सान्तरब०	१-२	१-४	३०
९९	सुस्वर	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१३	६६
१००	दुःस्वर	"	सान्तरब०	१-२	१-१३	३०
१०१	शुभ	स्वोदयब०	सा०नि०ब०	१-८	१-१३	६६
१०२	अशुभ	"	सान्तरब०	१-६	१-१३	४०
१०३	बादर	स्वो०परो०ब०	सा०नि०ब०	१-८	१-१४	६६
१०४	सूक्ष्म	"	सान्तरब०	१	१	४२
१०५	पर्याप्त	"	सा०नि०ब०	१-८	१-१४	६६
१०६	अपर्याप्त	"	सान्तरब०	१	१	४२
१०७	स्थिर	स्वोदयबन्धी	सा०नि०ब०	१-८	१-१३	६६
१०८	अस्थिर	"	सान्तरबन्धी	१-६	१-१३	४०
१०९	आदेय	स्वो०परो०ब०	सा०नि०ब०	१-८	१-१४	६६
११०	अनादेय	"	सान्तरबन्धी	१-२	१-४	३०
१११	यशःकीर्ति	"	सा०नि०ब०	१-१०	१-१४	७
११२	अयशःकीर्ति	"	सान्तरबन्धी	१-६	१-४	४०
११३	तीर्थंकर	परोदयबन्धी	निरन्तरबन्धी	४-८	१३-१४	३
११४	उच्चगोत्र	स्वो०परो०ब	सा०नि०ब०	१-१०	१-१४	७३
११५	नीचगोत्र	"	"	१-२	१-५	३०
११६-२०	अन्तराय ५	स्वोदयबन्धी	निरन्तरबन्धी	१-१०	१-१२	७

(७) कर्मबन्धकप्रत्यय तालिका

(बन्धस्वामित्वविचय, खण्ड ३, पु० ८, पृ० १६-२४)

प्रकृत 'बन्धस्वामित्वविचय' में सूत्र (५-६) की व्याख्या करते हुए उन्हें देशामर्शक बतलाकर उनके आश्रय से २३ प्रश्नों को उठाकर, 'कर्मबन्ध सप्रत्यय है या अप्रत्यय' इन दो (१०-११) प्रश्नों के साथ धवला में उन प्रत्ययों की प्ररूपणा विस्तार से की गयी है, (पृ० १६) जिसका स्पष्टीकरण इस तालिका के होता है—

गुणस्थान	मिथ्यात्व ५	अविरति १२	कषाय २५	योग १५	समस्त ५७
१. मिथ्यात्व	५	१२	२५	१३ (आहारद्विक से रहित)	५३
२. सासादन	—	,,	,,	,,	,,
३. मिश्र	—	,,	२१ (अनन्तानुबन्धी क्रोधादि ४ को छोड़कर)	१० (आहारद्विक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक मिश्र व कार्मण से रहित	४३
४. असंयत	—	,,	,,	१३ (आहारद्विक से रहित)	४६
५. देशसंयत	—	११ (त्रस-असंयम से रहित)	१७ (अप्रत्याख्यान चतुष्टय से रहित)	९ (आ० द्विक, औ० मिश्र, वैक्रियिकद्विक व कार्मण से रहित)	३७
६. प्रमत्तसंयत	—	—	१३ (प्रत्याख्यानचतुष्टय से रहित)	११ (आहारक से सहित पूर्वोक्त ९)	२४
७. अप्रमत्तसंयत	—	—	,,	९ (आहारद्विक से रहित उपर्युक्त)	२२
८. अपूर्वकरण	—	—	१३ उपर्युक्त	९ उपर्युक्त	२२
९. अनिवृत्तिकरण					
भाग १	—	—	७ नोकषाय ६ से रहित	,,	१६
भाग २	—	—	६ नपुंसकवेद से रहित	,,	१५
भाग ३	—	—	५ स्त्रीवेद से रहित	९ (आ०द्विक, औ० मिश्र, वै० द्विक व कार्मण से रहित)	१४
भाग ४	—	—	४ पुरुषवेद से रहित	,,	१३
भाग ५	—	—	३ संज्वलन क्रोध से रहित	,,	१२
भाग ६	—	—	२ संज्वलनमान से रहित	,,	११
भाग ७	—	—	१ संज्वलनमाया से रहित	,,	१०
१०. सूक्ष्मसाम्पराय	—	—	,,	,,	,,
११. उपशान्तकषाय	—	—	—	,,	९
१२. क्षीणमोह	—	—	—	,,	,,
१३. सयोगकेवली	—	—	—	७ (सत्य, अनुभय मन तथा वचन, औ०द्विक व कार्मण)	७
१४. अयोगकेवली	—	—	—	—	—

परिशिष्ट—२

मूल षट्खण्डागम के अन्तर्गत गाथा-सूत्र

[गाथा के अन्त में संदर्भ के लिए प्रथम अंक पुस्तक का और दूसरा पृष्ठ का निर्दिष्ट है।]

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥ १,८

सादं जसुच्च-दे-कं ते-आ-वे-मणु अणंतगुणहीणा।
ओ-मिच्छ-के असादं वीरिय-अणंताणु-संजलणा॥ १२,४०

अट्ठाभिणि-परिभोगे चक्खू तिण्णि तिय पंचणोकसाया।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला णिद्दा य पयला य॥ १२,४२

अजसो णीचागोदं णिरय-तिरिक्खगइ इत्थि पुरिसो य।
रदि हस्सं देवाऊ णिरयाऊ मणुय-तिरिक्खाऊ॥ १२,४४

संज-मण-दाणमोही लाभं सुदचक्खु-भोग चक्खुं च।
आभिणिवोहिय परिभोग विरिय णव णोकसायाइं॥ १२,६२

के-प-णि-अट्ठत्तिय-अण-मिच्छा-ओ-वे-तिरिक्ख-मणुसाऊ।
तेया-कम्मसरीरं तिरिक्ख-णिरय-मणुव-देवगई॥ १२,६३

णीचागोदं अजसो असादमुच्चं जसो तहा सादं।
णिरयाऊ देवाऊ आहारसरीरणामं च॥ १२,६४

सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मं से।
दंसणमोहक्खवए कसाय-उवसामए य उवसंते॥ १२,७८

खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेढीए॥ १२,७८

सव्वे एदे फासा बोद्धव्वा होंति णेगमणयस्स।
णेच्छदि य बंध-भवियं ववहारो संगहणओ य॥ १३,४

एयक्खेत्तमणंतरबंधं भवियं च णेच्छदुज्जुसुदो।
ग मं च फासफासं भावप्फासं च सद्दणओ॥ १३,६

संजोगावरणट्ठं चउसट्ठि थावए दुवे रासिं।
अण्णोण्णसमब्भासो रूवूणं णिद्दिसे गणिदं।। १३,२४८

पज्जय - अक्खर - पद-संघादय- पडिवत्ति-जोगदाराइं।
पाहुडपाहुड-वत्थू पुव्वं समासा य बोद्धव्वा।। १३,२६०

ओगाहणा जहण्णा णियमा दु सुहुमणिगोदजीवस्स।
जद्देही तद्देही जहण्णिया खेत्तदो ओही।। १३,३०१

अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्ज दो वि संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं।। १३,३०४

आवलियपुधत्तं घणहत्थो तह गाउअं मुहुत्तंतो।
जोयणभिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णवीसं तु।। १३,३०६

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जंबुदीवम्मि।
वासं च मणुअलोए वासपुधत्तं च रुजगम्मि।। १३,३०७

संखेज्जदिमे काले दीव-समुद्दा हवंति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जे दीव-समुद्दा असंखेज्जा।। १३,३०८

कालो चदुण्ण वुड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्व-पज्जय भजिदव्वा खेत्त-काला दु।। १३,३०९

तेया-कम्मसरीरं तेयादव्वं च भासदव्वं च।
वोद्धव्वमसंखेज्जा दीव-समुद्दा य वासा य।। १३,३१०

पणुवीस जोयणाणं ओही वेंतर-कुमारवग्गाणं।
संखेज्ज जोयणाणं जोदिसियाणं जहण्णोही।। १३,३१४

असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोदिसंताणं।
संखातीदसहस्सा उक्कस्सं ओहिविसओ दु।। १३,३१५

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिंदा।
तच्चं तु वम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थ।। १३,३१६

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा य जे देवा।
पस्संति पंचमखिदि छट्ठिम गेवज्जया देवा।। १३,३१८

सव्वं च लोगणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च।। १३,३१९

परमोहि असंखेज्जाणि लोगमेत्ताणि समयकालो दु।
रूवगद लहइ दव्वं खेत्तोवम अगणिजीवेहि।। १३,३२२

तेयासरीरलंवो उक्कस्सेण दु तिरिक्खजोणिणिसु।
गाउअ जहण्णओही णिरएसु अ जोयणुक्कस्सं।। १३,३२५

उक्कस्स माणुसेसु य माणुस-तेरिच्छए जहण्णोही ।
उक्कस्स लोगमेत्तं पडिवादी तेण परमपडिवादी ।। १३,३२७

णिद्धणिद्धा ण वज्झंति ल्हुक्ख-ल्हुक्खा य पोग्गला ।
णिद्ध-ल्हुक्खा य वज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ।। १४,३१

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुक्खस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि वंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ।। १४,३३

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं ।। १४,२२६

एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स ।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ।। १४,२२८

समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती ।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो ।। १४,२२९

जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं ।। १४,२३०

बादर-सुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण ।
ते हु अणंता जीवा मूलय-थूहल्लयादीहि ।। १४,२३१

अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंक-अपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ।। १४,२३३

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ।। १४,२३४

परिशिष्ट—३

षट्खण्डागम मूलगत पारिभाषिक-शब्दानुक्रमणिका

[विशेष—

सूत्र के लिए कहीं दो अंक, कहीं तीन अंक और कहीं चार अंक भी दिये गये हैं। उनमें जहां दो अंक दिये गये हैं उनमें प्रथम अंक खण्ड और द्वितीय अंक सूत्र का सूचक है। जैसे—३,४१ (अभिक्खणणोवजोगजुत्तदा) में ३ का अंक तीसरे 'बन्धस्वामित्वविचय' खण्ड का और ४१ का अंक तदन्तर्गत ४१वें सूत्र का सूचक है। तीन अंकों में प्रथम अंक खण्ड का, द्वितीय अंक तदन्तर्गत अनुयोगद्वार का और तृतीय अंक सूत्र का सूचक है। जहाँ चार अंक दिये गये हैं, वहाँ प्रथम अंक खण्ड का, द्वितीय अंक अनुयोगद्वार का, तृतीय अंक तदन्तर्गत अवान्तर अनुयोगद्वार का और चतुर्थ अंक सूत्र का सूचक है। जैसे ४, २, ६, ८ में चौथे वेदना खण्ड के अन्तर्गत दूसरे 'वेदना' अनुयोगद्वार का, तीसरा तदन्तर्गत छठे 'वेदनकाल विधान' नामक अवान्तर अनुयोगद्वार का और चौथा तद्गत ८वें सूत्र का सूचक है। जैसे—'अकम्मभूमिय' में। कहीं-कहीं चार अंक इस रूप में दिये गये हैं—१, ९-१, २३ (अणंताणुबंधी)। इनमें प्रथम १ अंक पहले 'जीवस्थान' खण्ड का, ९-१ इस खण्ड से सम्बद्ध ९ चूलिकाओं में प्रथम 'प्रकृति-समुत्कीर्तन' चूलिका का और २३ अंक तदन्तर्गत तेईसवें सूत्र का बोधक है।]

शब्द	सूत्रांक	पुस्तक	पृष्ठ
	(अ)		
अइवुट्ठि	५,५,६३ व ७२	१३	३३२; ३४१
अकसाई	१,१,११	१	३४८
अकम्मभूमिय	४,२,६,८	११	८८
अकाइय	१,१,३९ व ४६;२,१,३०	१,७	२६४;२७७,७३
अक्ख	४,१,५२;५,३,१०;५,४,१२; ५,५,१०;५,६,९	९,१३, १४	२४८;९,१२; २०१,५
अक्खर	५,५,४५	१३	२४७
अक्खरकव्व	—	—	—
अक्खरसमासावरणीय	५,५,४८	१३	२६१
अक्खरसंजोग	५,५,४५	१३	२४७
अक्खरावरणीय	५,५,४८	१३	२६१
अक्खीणमहाणस	४,१,४२	९	१०१
अगणिजीव	५,५,१५ (गाथा)	१३	३२२-२३

शब्द	सूत्रांक	पुस्तक	पृष्ठ
अगहणदव्ववग्गणा	५,६,८०;८२ व ८४ आदि	१४	५९,६०,६२ आदि
अगुरुअलहुअणाम	१,९-१,२८ व ४२;५,५, १०१ व १३३	६;१३	५०,७६; ३६३,३८७
अग्ग	५,५,५०	१३	२८०
अग्गट्ठिदि	५,६,३२१;३२४,३२६ आदि	१४	३६७,३६८,३६९
अग्गेणियपुव्व	४,१,४५	९	१३४
अचक्खुदंसणावरणीय	१,९-१,१६;५,५,८५	६;१३	३१;३५३-५४
अचक्खुदंसणी	१,१,१३१	१	३७८
अच्चणिज्ज	३,४२	८	९१
अच्चुद	५,५,१३ (गाथा)	१३	३१८
अजसकित्तिणाम	१,९-१,२८;५,५,१०१	६;१३	३१;३६३
अजीव	४,१,५१;५,३,१०;५,४,१०	९;१३	२४६;९,४०,२००
अजीवभावबंध	५,६,२० व २१ आदि	१४	२२;२३ आदि
अजोगकेवली	१,१,२२	१	१९२
अजोगी	१,१ ४८	१	२८०
अट्ठवास	१,९-९,२७	६	४२९
अट्ठाहियार	४,१,५४	९	२५१
अट्ठिद	४,२,११,३	१२	३६६
अट्ठंगमहाणिमित्त-कुसल	४,१,१४	९	७२
अड्ढाइज्जदीव-समुद्द	१,१,१६३;१,९-८,११	१;६	४०३;२४३
अणणुगामी	५,५,५६	१३	२९२
अणवट्ठिद	५,५,५६	१३	२९२
अणंत	१,२,२	३	१०
अणंतकम्मंस	४,२,७,७ (गाथा)	१२	७८
अणंतगुणपरिवड्ढी	४,२,७,२१३	१२	१५७
अणंतभागपरिवड्ढी	४,२,७,२०४	१२	१३५
अणंतभागहाणी	४,२,७,२४६	१२	२०९
अणंतरखेत्तफास	५,३,४ व १६	१३	३;१७
अणंतरबंध	४,२,१२,२	१२	३७१
अणंताणंत	१,२,३	३	२७
अणंताणुबंधी	१,९-१,२३;५,५,९५	६;१३	४१;३६०
अणंतोहिजिण	४,१,५	९	५१
अणागारपाओग्गट्ठाण	४,२,६,२०४	११	३३२
अणादेज्जणाम	१,९-१,२८;५,५,१०१	६;१३	५०;३६३
अणावुट्ठी	५,५,६३ व ७२	१३	३३२;३४१
अणाहार	१,१,१७५ व १७७	१	४०९;४१०

क

त

शब्द	सूत्रांक	पुस्तक	पृष्ठ
	थ		
थय	४,१,५५	९	२६२
,,	५,५,१३ व १३९ तथा		
	५,६,१२	९,१३;१४	२०३;३९०;७
थलचर	४,२,६,८ व ५,५,१४०	११;१३	८८ व ३९१
थावरणाम	१,९-१,२८ व ५,५,१०१	६;१३	५० व ३६३
थिरणाम	,,	,,	,,
थीणगिद्धी	१,९-१,१६ व ५,५,८५	,,	३१ व ३५३-५४
थुदि	४,१,५५ व ५,५,१३ व १३९	९;१३	२६२;२०३;३९०
थूहल्ल	५,६,१२६	१४	२३१
	द		
दब्भ	५,६,४१	१४	३८
दविय (छेदणा)	५,६,५१४	,,	४३५
दव्व	५,५,८ (गाथा)	१३	३०९
दव्वकदि	४,१,४६ व ५३,५४	९	२३७,२५०,२५१
दव्वकम्म	५,४,४ व १३,१४	१३	३८,४३
दव्वपमाण	१,२,२	३	१०
दव्वपमाणानुगम	१,१,७ व १,२,१ तथा		
	७-९ आदि	१;३	१५५;१,८८,८९,९०
दव्वपयडि	५,५,४ व ११,१२,१५	१३	१९८,२०३;२०४
दव्वफास	५,३,४ व ११-१२	,,	३ व ११
दव्वबंध	५,६,२ व २४,२५,२६	१४	२ व २७-२८
दव्ववेयणा	४,२,१,३	१०	५
दव्वहाणि	५,६,५२३	१४	४४०
दसपुव्विय	४,१,१२	९	६९
दाणंतराइय	१,९-१,४६ व ५,५,१३७	६;१३	७८ व ३८९
दित्ततव	४,१,२३	९	९०
दिवस	५,५,५९	१३	२९८
दिसादाह	५,६,३७	१४	३४
दीव	१,१,१५७ व ५,५,७ (गाथा)	१;१३	४०१ व ३०८
दीह-रहस्स	४,१,४५	९	१३४
दुक्ख	५,५,६३ व ७२	१३	३३२ व ३४१
दुगुंछा	१,९-१,२४ व ५,५,९६	६;१३	४५ व ३६१

भ

स

शब्द	सूत्रांक	पुस्तक	पृष्ठ
सादियविस्ससावंध	५,६,२८ तथा २८-२९ व ३२	१४	२८ व ३०
सादियसपज्जवसिद	१,५,३ व २,२,१३५-३६	४;७	३२४ व १६२
सादियसरीरसंठाणणाम	१,९-१,३४ व ५,५,१०७	६;१३	७० व ३६८
साधारणसरीर	१,१,४१	१	२६८
साधारणसरीरणाम	१,९-१,२८ व ५,५,१०१ व १३३	६;१३	५०;३६३;३८७
सामाइयसुद्धिसंजद	१,१,१२३ व १२५	१	३६८;३७४
सामित्त	२,१,१ व ३ तथा ४,२,४,१ व ५-६	७;१०	२५;२८;१८;३०-३१
सावय	४,२,७,७ (गाथा)	१२	७८
सासणसम्माइट्ठी	१,१,१० व १४४,१४८	१	१६३;३९५;३९८
साहारण	५,६,१२१-२२	१४	२२६
साहारणजीव	५,६,५८२	"	४६९
साहू	१,१,१ व ३,४	१;८	८;७९
साहूणं पासुअपरिच्चागदा	३,४	८	७९
साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदा	,,	,,	,,
साहूणं समाहिसंधारणा	,,	,,	,,
सिद्ध	१,१,१ व २३ तथा २,१,२४	१;७	८;२००;२०
"	५,६,१८ व ५०७	१४	१५;४३२
सिद्धगदी	१,१,२४	१	२०१
सिदिवच्छ	५,५,५८	१३	२९७
सिंविया	५,६,४१	१४	३८
सीदणाम	१,९-१,४० व ५,५,११३	६;१३	७५;३७०
सीदफास	५,३,२४	१३	२४
सीलव्वदेसुणिरदिचारदा	३,४१	८	७९
सुक्क	५,५,१२ (गाथा)	१३	३१६
सुक्कलेस्सिय	१,१,१३६	१	३८६
सुत्त	४,१,७२	९	४५०
सुत्तसम	४,१,५४ व ६२ तथा ५,५,१२ व १३९	९;१३	१५१;२६८;२०३;३९०
"	५,६,१२ व २५	१४	७;२७-२८
सुदअण्णाणी	१,१,११५	१	३५३
सुदणाण	१,१,१२० तथा १९-९, २०५ व २०८,२१२ आदि	१;६	३६४;४८४-८५ ४८६;४८८ आदि
सुदणाणावरणीय	५,५,४३-४४ व ४९	१३	२४५;२४७,२७९

शब्द	सूत्रांक	पुस्तक	पृष्ठ
संज्ञा	५,६,३७	१४	३४
संतकम्म	१,९-१,२१ तथा ४,२,७,७ व ५,५,९३	६,१२;१३	३८ तथा १३;३५८
संदण	५,६,४१	१४	३८
संभिण्णसोदा	४,१,९	९	६१
संवच्छर	५,५,५९	१३	२९८
संसिलेसवंध	५,६,४० व ४३	१४	३७;४१
सांतरणिरंतर-दव्ववग्गणा	५,६,८९-९०	१४	६४-६५
सांतरसमय	५,६,५८८ व ५९१, ५९४-९५,६०० आदि	,,	४७४,४७५,४७६ व ४७७

ह

हृदसमुप्पत्तिय	४,२,४,७० व १०१	१०	२९२;३१८
हस्स	१,९-१,२४ व ५,५,९६	६;१३	४५;३६१
हायमाण	५,५,५६	१३	२९२
हुंडसरीरसंठाणणाम	१,९-१,३४ व ५,५,१०७	६;१३	१००;३६८
हेदुवाद	५,५,५०	१३	२८०

कुछ विशिष्ट शब्द (ष०ख०मूल)

शिल्पक्रिया से सम्बन्धित

(पु० ९, पृ० २४८; पु० १३, पृ० ९, ४१ व २०१; पु० १४, पृ० ५)

शब्द	सूत्रांक	शब्द	सूत्रांक
काष्ठकर्म	४,२,५२;५,३,१०; ५,४,१२;५,५,१०;५,६,९	भित्तिकर्म	४,२,५२;५,३,१० ५,४,१२;५,४,१०,५,६,९
गृहकर्म	,,	भेंडकर्म	,,
चित्रकर्म	,,	लयन (लेण्ण) कर्म	,,
दन्तकर्म	,,	लेप्यकर्म	,,
पोत्तकर्म	,,	शैलकर्म	,,

(पु० ६, पृ० २७२)

शब्द	सूत्रांक	शब्द	सूत्रांक
अहोदिम	४,१,६५	पूरिम	४,१,६५
उव्वेल्लिम	"	वर्ण	"
ओव्वेल्लिम	"	वाइम	"
गंथिम	"	विलेपन	"
चूर्ण	"	वेदिम	"
णिक्खोदिम	"	संघादिम	"

शस्त्रआदि (पु० ६, पृ० ४५०)

असि	४,१,७२	परशु	४,१,७२
कुदारी	"	वासि	"

आकाश व दिशा से सम्बन्धित अवस्थाविशेष (पु० १४, पृ० ३४)

अभ्र	५,६,३७	धूमकेतु	५,६,३७
इन्द्रधनुष	"	मेघ	"
उल्का	"	विद्युत्	"
कनक (अशनि)	"	सन्ध्या	"
दिशादाह	"		"

काष्ठ, लोहे आदि से निर्मित सवारी के योग्य उपकरणविशेष (पु० १४, ३८)

गड्डी	५,६,४१	रह	५,६,४१
गिल्ली	"	सगड	"
जाण	"	सिविया	"
जुग	"	संदण	"

आगम विकल्प

(पु० ६, पृ० २५१ व २६८; पु० १३, पृ० २०३; पु० १४, पृ० ७ व २७)

सर्थसम	४,१,५४ व ६२;५,५,१२; ५,६,१२ व २५	परिजित	४,१,५४ व ६२;५,५,१२ ५,६,१२ व ५२
ग्रन्थसम	"	वाचनोपगत	"
घोषसम	"	सूत्रसम	"
जित	"	स्थित	"
नामसम	"		

श्रुतज्ञान के पर्यायशब्द (पु० १३, पृ० २८०)

अग्र्या	५,५,५०	प्रवचनी	५,५,५०
अनुत्तर	,,	प्रवचनीय	,,
अवितथ	,,	प्रवरवाद	,,
अविहत	,,	प्रावचन	,,
आत्मा	,,	भविष्यत्	,,
गतिषु मार्गणता	,,	भव्य	,,
तत्त्व	,,	भंगविधि	,,
नयवाद	,,	भंगविधिविशेष	,,
नयविधि	,,	भूत	,,
नयविधिविशेष	,,	मार्ग	,,
न्याय्य	,,	मार्गवाद	,,
परम्परालब्धि	,,	यथानुपूर्व	,,
परवाद	,,	यथानुमार्ग	,,
पूर्व	,,	लोकोत्तरीयवाद	,,
पूर्वातिपूर्व	,,	लौकिकवाद	,,
पृच्छाविधि	,,	वेद	,,
पृच्छाविधिविशेष	,,	शुद्ध	,,
प्रवचन	,,	श्रुतवाद	,,
प्रवचनसन्निकर्ष	,,	सम्यग्दृष्टि	,,
प्रवचनाद्धा	,,	हेतुवाद	,,
प्रवचनार्थ	,,		

परिशिष्ट–४

ज्ञानावरणादि के बन्धक प्रत्यय

(पु० १२, पृ० २७५-९३)

नैगम, व्यवहार और संग्रह नय की विवक्षा से—

१. प्राणातिपात	४,२,८,२	१५. निदान	४,२,८,९
२. मृषावाद	४,२,८,३	१६. अभ्याख्यान	४,२,८,१०
३. अदत्तादान	४,२,८,४	१७. कलह	,,
४. मैथुन	४,२,८,५	१८. पैशून्य	,,
५. परिग्रह	४,२,८,६	१९. रति	,,
६. रात्रिभोजन	४,२,८,७	२०. अरति	,,
७. क्रोध	४,२,४,८	२१. निकृति	,,
८. मान	,,	२२. मान (प्रस्थादि)	,,
९. माया	,,	२३. माय (मेय—गेहूँ आदि)	,,
१०. लोभ	,,	२४. मोष (स्तेय)	,,
११. राग	,,	२५. मिथ्याज्ञान	,,
१२. द्वेष	,,	२६. मिथ्यादर्शन	,,
१३. मोह	,,	२७. प्रयोग	
१४. प्रेम	,,	(मन-वचन-काययोग)	,,

धवलाकार ने तत्त्वार्थसूत्रप्ररूपित (८-१) पांच वन्ध हेतुओं में से उपर्युक्त १-६ प्रत्ययों का अविरति में, ७-२४ प्रत्ययों का कषाय में, २५-२६ का मिथ्यात्व में और (२७) का योग में अन्तर्भाव प्रगट किया है। शंका-समाधान में उन्होंने उपर्युक्त प्रत्ययों से भिन्न प्रमाद का अभाव निर्दिष्ट किया है।—धवला पु० १२, पृ० २८६ (सूत्र १०)

ऋजुसूत्रनय की विपक्षा में प्रकृति और प्रदेशाग्र वेदना को योगनिमित्तक (सूत्र ४,२, ८,१२) और स्थिति व अनुभाग वेदना को कषायनिमित्तक (सूत्र ४,२,८,१३) निर्दिष्ट किया गया है।

शब्दनय की अपेक्षा पदों में समास के सम्भव न होने से ज्ञानावरणादि वेदना को अवक्तव्य कहा गया है (सूत्र ४,२,८,१५)।

परिशिष्ट—५

धवलान्तर्गत ऐतिहासिक नाम

शब्द	पुस्तक	पृष्ठ
अपराजित	१ व ९	६६ व १३०
अभय	,,	१०४ व २०२
अयस्थूण	,,	१०८ व २०३
अश्वलायन	,,	१०७ व २०३
अष्टपुत्र	,,	१०३ व १२९
आनन्द (नन्द)	१	१०४
आर्यनन्दी	१६	५७७ व ५७४
आर्यमंक्षु	१२ व १६	२३२ तथा ५१८ व ५७८
इन्द्रभूति	१ व ९	६४ व ६५ तथा २०३
उच्चारणाचार्य	१०	४४-४५
उलूक	१ व ९	१०८ व २०३
ऋषिदास	,,	१०४
एलाचार्य	,,	१२६
एलापुत्र	१	१०८
ऐतिकायन	१ व ९	१०८ व २०३
ऐन्द्रदत्त	,,	,,
औपमन्यव	,,	,,
कण्ण	,,	,,
कपिल	,,	,,
कंसाचार्य	,,	६६ व १३१
काणविद्धि	९	२०३
काणेविद्धि	१	१०७
कार्तिक	९	२०२

परिशिष्ट–६

भौगोलिक शब्द

शब्द	पुस्तक	पृष्ठ
अकर्मभूमि (सूत्र)	११	८८
अढाई द्वीपसमुद्र (सूत्र)	६	२४३
अन्ध्र	१	७७
आन्ध्रविषय (अंधविसय)	,,	६७
अंकुलेश्वर	,,	७१
उत्तरकुरू (सूत्र)	१४	३९८
ऊर्जयन्त	९	९,१०२
ऋजुकूला नदी	,,	१२४
ऋषिगिरि	१	६२
औदीच्य	,,	७८
कर्मभूमि (सूत्र)	११	८८
कर्मभूमिप्रतिभाग (सूत्र)	,,	,,
कुण्डलपुर नगर	९	१२१
गंगा	१	९२
गिरिनगर	१ व ९	६७ व १३३
गौड	१	७७
चन्द्रगुफा	१ व ९	६७ व १३३
चम्पा, चम्पानगर	९	९,१०२
छिन्न (पर्वत)	१	६२
जम्बूद्वीप (गाथा सूत्र)	१३	३०७
जंृभिका ग्राम	९	१२४
दक्षिणापथ	१	६७
दाक्षिणात्य	,,	७८
देवकुरु (सूत्र)	१४	३९८
द्रमिल देश	१	७१,७७

परिशिष्ट—७

षट्खण्डागम सूत्र व धवला टीका के सोलहों भागों की सम्मिलित पारिभाषिक शब्द-सूची

[सूचना—तिरछी रेखा (/) से पहले का अंक भाग का तथा बाद के अंक उसी भाग के पृष्ठों के सूचक हैं ।]

ऐ

ओ

औ

अं

क

क्ष

घ

च

ल

व

षट्खण्डागम-परिशीलन में प्रयुक्त ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

संकेत	ग्रन्थनाम	प्रकाशक	प्रकाशनकाल
अंगप०	अंगपण्णत्ती	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई (जैनसिद्धान्तसारादिसंग्रह)	वि०सं० १९७९
आचा० नि०	आचारांग निर्युक्ति प्र० श्रुतस्कन्ध	श्री हर्षपुष्पामृत ग्रन्थमाला लाखावावल, शान्तिपुरी (सौराष्ट्र)	ई० सन् १९७८
	द्वि० श्रुतस्कन्ध	,, ,,	,, १९८०
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	जैन सि० प्रकाशिनी संस्था, काशी	वि०सं० १९१४
आव० नि०	आवश्यकसूत्र निर्युक्ति	जैव पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत	वि०सं० १९७६
कर्मप्र०	कर्मप्रकृति	मंगलदास मनसुखराय शाह, अहमदाबाद	ई० सन् १९३४
क०पा०सुत्त	कसायपाहुडसुत्त	वीरशासन संघ, कलकत्ता	,, १९५५
कुन्द०भा०	कुन्दकुन्दभारती	श्रुतभण्डार ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण	,, १९७०
गणितसा०	गणितसारसंग्रह	जैन संस्कृति सं०संघ, सोलापुर	,, ,,
गो०क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	परमश्रुत प्र० मण्डल, बम्बई	,, १९२८
,,	,,	शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला श्री महावीरजी	नवम्बर १९८०
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला	ई० सन् १९१६
चा० प्रा०	चारित्र प्राभृत (कुन्दकुन्द भारती)	—	—
जम्बू०प्र०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	" १९२०
जं०दी०प०	जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो	जैन संस्कृति सं० संघ, सोलापुर	वि०सं० २०१४
जीवस०	जीवसमास	ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था, रतलाम	ई० सन् १९२८

संकेत	ग्रन्थनाम	प्रकाशक	प्रकाशनकाल
जैन ल०	जैन लक्षणावली भाग १,२,३	वीरसेवामन्दिर, दिल्ली	ई० सन् १९७२, ७३,७९
जैन सा०	जैन साहित्य और इतिहास	हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई	,, १९४२
जैनेन्द्रप्र०	जैनेन्द्रप्रक्रिया	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था	—
ज्योतिष्क०	ज्योतिष्करण्डक	ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्थान, रतलाम	ई०सन् १९२८
तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था	" १९१५
त०भाष्य	तत्त्वार्थाधिगम भाष्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	" १९३२
ति० प०	तिलोयपण्णत्ती भाग १	जैन संस्कृति सं० सं०, सोलापुर	" १९४३
,,	,, ,, २	,, ,,	,, १९५१
त्रि०सा०	त्रिलोकसार	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला	वीरनि० २४४४
द० प्रा०	दर्शनप्राभृत (कु०कु० भारती)	—	—
द०सार	दर्शनसार	'जैन हितैषी' भा० १३, अंक ५-६	ई० सन् १९१७
दशवै०	दशवैकालिक पूर्वार्ध (१-३)	मनसुखलाल हीरालाल, बम्बई	वीरनि० २४६६
,,	उत्तरार्ध (४-१०)		"
द्वात्रिं०	द्वात्रिंशिका	जैन प्रसारक सभा० भावनगर	वि०सं० १९६५
ध्या०श०	ध्यानशतक	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली	ई० सन् १९७६
नन्दी० अव०	नन्दीसूत्र अवचूरि	(मुख्य पृष्ठ नहीं रहा)	—
नंदि०	नंदिसुत्तं अणुयोग-द्दाराइं	महावीर विद्यालय, बम्बई	,, १९५५
ना०मा०	नाममाला	पं० मोहनलाल काव्यतीर्थ प्रज्ञा पुस्तकमाला	,, १९४४
नि०सा०	नियमसार	ला० फूलचन्द जैन कागजी, धर्मपुरा, दिल्ली	वीरनि० २४९८
न्या०कु०	न्यायकुमुदचन्द्र भाग १,२	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	ई० सन् १९३८, ,, १९४१
न्या०दी०	न्यायदीपिका	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली	,, १९४५
प्रज्ञाप०	पण्णवणा सुत्त भाग १,२	महावीर विद्यालय, बम्बई	ई० सन् १९६९,७१
पंचसं०	पंचसंग्रह	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	,, १९६०

संकेत	ग्रन्थनाम	प्रकाशक	प्रकाशनकाल
पं०का०	पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्द भारती)	—	—
पात्रके०	पात्रकेसरिस्तोत्र	मा० जैन ग्रन्थमाला, वम्बई (तत्त्वानुशासनादि संग्रह)	वि० सं० १९७५
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्तिक	(न्यायकुमुदचन्द्र के अनुसार)	—
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्तण्ड	निर्णयसागर मंत्रालय, वम्वई	ई० सन् १९१२
प्रव०सा०	प्रवचनसार (कुन्दकुन्द भारती)	—	—
प्रा०श०शा०	प्राकृतशब्दानुशासन	जैन संस्कृति सं०सं०, सोलापुर	वीरनि० २४८१
वृहद्द्र०	वृहद्द्रव्यसंग्रह	ब्र० रतनचन्द्र जी मुख्तार द्वारा सम्पादित	—
वृहत्स्व०	वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	पन्नालाल चौधरी, वनारस	वीरनि० २४५१
भ० आ०	भगवती आराधना	वलात्कार पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा	ई० सन्० १९३५
भा० प्रा०	भावप्राभृत	(कुन्दकुन्द भारती से)	—
म०व०	महावन्ध	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	—
मूला०	मूलाचार भाग १	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला	वि० सं० १९७७
	,, २	,, ,,	,, १९८०
युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासन	पन्नालाल चौधरी, वनारस	वीर० नि० २४८१
रत्नक०	रत्नकरण्डश्रावकाचार	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, वम्वई	वि० सं० १९८२
लघीय०	लघीयस्त्रय	,, ,,	,, १९७२
लोकवि०	लोकविभाग	जैन सं० सं०, सोलापुर	—
वसु०श्रा०	वसुनन्दिश्रावकाचार	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	ई० सन् १९५२
विवुध०श्रु०	विवुधश्रीधरश्रुतावतार (जैन सिद्धान्तसारादिसंग्रह)	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, वम्वई	वि० सं० १९७९
व्याख्याप्र०	व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)	गुजरात विद्यापीठ (गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर ग्र०), अहमदावाद	—
शास्त्रवा०	शास्त्रवार्तासमुच्चय	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	वि० सं० १९६४
श्रा० प्र०	श्रावकप्रज्ञप्ति	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	—
श्रुताव०	श्रुतावतार (इन्द्रनन्दी) (तत्त्वानुशासनादिसंग्रह)	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, वम्वई	वि० सं० १९७५
सन्मतित०	सन्मतितर्कप्रकरण	जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर	,, १९६४
समवा०	समवायांगसूत्र	झवेरचन्द ठे० भट्टिनीवारी, अहमदावाद	ई० सन् १९३८

संकेत	ग्रन्थनाम	प्रकाशक	प्रकाशनकाल
स०सि०	सर्वार्थसिद्धि	कल्लापा भरमप्पा निटवे, कोल्हापुर	शकाब्द १८३९
सा०ध०	सागारधर्मामृत	कल्लाप्पा भरमप्पा निटवे, कोल्हापुर	ई० सन् १९१५
सांख्यका०	सांख्यकारिका	(मुख्य पृष्ठ आदि नहीं रहे)	—
सौन्दरा०	सौन्दरानन्द महाकाव्य	(न्या० कुमुदचन्द्र भा०२, पृ० ८२९, टिप्पण ४ से)	—
स्थाना०	स्थानांग	(जैनलक्षणावली के अनुसार)	—
स्वामीस०	स्वामीसमन्तभद्र (रत्नक०श्रा० से)	मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि० सं० १९८२
ह०पु०	हरिवंशपुराण पूर्वार्ध	,, ,,	—
,,	,, उत्तरार्ध	,, ,,	—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
१	३	परागम	परमागम
१	८	द्वारा समस्त	द्वारा समर्पित समस्त
३८	२७-२८	गाथा में	गाथाएँ
७१	१८	वन्धक के	वन्ध के
७६	३०	सत्यप्ररूपणा	सत्प्ररूपणा
८३	३५	वेदना में	वेदनाएँ
९०	८	संक्लेश-शुद्धि	संक्लेश-विशुद्धि
९३	४	उसकी जघन्य	उसकी अजघन्य
९८	२५	जिस ज्ञानावरणीय	जिस प्रकार ज्ञानावरणीय
११३	३६	पु० १०	पु० १३
११६	१२	यहाँ भावप्रकृति	यहाँ कर्मप्रकृति
१२०	६	है ।	है ।[1]
"	१५	है ।[1]	है ।[2]
"	३७	× × ×	अनेकार्थत्वात् धातूनां लपिः आकर्षणक्रियो ज्ञेयः । त० वा० ५, २४,१३
१३२	२	अनन्तरप्ररूपणा	अन्तरप्ररूपणा
१४०	१५	अनुभागविषय व स्थान	अनुभागविषयक स्थान
१७१	२९	जो आहारक···वह अनाहारक	जो अनाहारक···वह अनाहारक
१७२	११	स्वलाक्षण्य	स्वालक्षण्य
१७७	३३	त० सूत्र	त० सार
१८१	४	उत्तरोत्तर असंख्यात	उत्तरोत्तर संख्यात
२११	१२-१३	कायवर्गणा	कायमार्गणा
२२१	१७	आकार	अकार
२३६	५	उववाणं	उववाएणं
२४६	१	संगहणिगाओ	संगहणिगाहाओ
२८०	२७	गुणप्रत्ययिक अनगार	गुणप्रतिपन्न अनगार
२९५	१४	पंचप्रकृप	पंचसंग्रह
३२४	२४	देशघात	[illegible]
३३३	१४	के आदि	के सादि
३३४	१७	एक समान प्रबद्ध	एक समयप्रबद्ध

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
३३५	७	समाचरणीय	सातावेदनीय
३५०	३३	प्रश्रवण	प्रज्ञाश्रवण
३६७	२	उनसे क्रमशः	उनसे तत्त्वार्थसूत्र(१-७) के समान क्रमशः
३७४	६	××× प्रसंग में	अर्थाधिकार के प्रसंग में
३८३	६	तथा शेष	तथा अनुदयप्राप्त शेष
३८३	६	एक आवली	एक समय कम आवली
३६५	२४	से आठ प्रथम	से प्रथम
४०१	५	प्रसंग प्राप्त	प्रसंग नहीं प्राप्त
४१०	२४	यदि आचार्यों	यदि अन्य आचार्यों
४१६	२६	अगृहीतकाल	अगृहीतग्रहणकाल
४३२	१४	में नहीं है	में बाधा सम्भव नहीं है
४३२	३६	पृ० १३७-३६	पृ० १३७-३६
४३३	३	स्थितिबन्धक समान	स्थितिबन्ध समान
४३७	३५	पीछे पर	पीछे पृ० ३६५ पर
४४०	२४	व्याख्या को	व्याख्यान को
४४५	२४	पर वृष्टिकरण	पर कृष्टिकरण
४४६	३	भावबन्ध के	भाव बन्ध के
४५२	१४	महादण्डक को क्षुद्रकबन्ध	महादण्डक को किसलिए प्रारम्भ किया गया है। उत्तर में धवलाकार ने यह स्पष्ट किया है कि उस महादण्डक को क्षुद्रकबन्ध
४५३	८	बन्धक के	बन्ध के
४५७	१८	बन्ध होता है	बन्ध का प्रारम्भ होता है
४५६	२०	और चिन्तन से	और चिन्ता से
४५६	२१	और चिन्तन सम्यक्त्व	और चिन्ता सम्यक्त्व
४६४	१८-१६	उसका कथन जानकर ही निर्णय कर लेना चाहिए	उसका कथन जानकर करना चाहिए
४६६	२८	दिन उसने	दिन पूर्वाह्न में उसने
४७६	३३	अनुसार कार्य	अनुसार उसका अर्थ कार्य
४७८	३५	यहाँ अधिकार विवक्षा से भेदपद तेरह हैं।	यहाँ उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट आदिरूप भेदपदों का अधिकार है ऐसे वे पद तेरह हैं।
४७६	११	विशेष के अभाव से ज्ञानावरणीय	विशेष की अपेक्षा न कर ज्ञानावरणीय
४८०	२	और समय समानार्थक	और सम ये समानार्थक

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
४८९	२९-३०	अभिप्राय था	अभिप्राय निकलता था
४९०	२१	२४०-२३१	२४०-३१
४९१	२८-२९	यह उनकी	यह क्रम उनकी
५०६	८	पृ० ४०८	४-८
५०९	२९	हैं जबकि तत्त्वार्थसूत्र	हैं वहाँ तत्त्वार्थसूत्र
५२३	३०	वह पराधीन होने	वह स्वाधीन होने
५३२	२	प्राप्त वायें	प्राप्त संयत के वायें
,,	११	है। तदनुसार अपने	है कि अपने
५३७	२८	××× आनुषंगिक	इस प्रकार आनुषंगिक
,,	६२	निरूपण प्रक्रमस्वरूप	निरूपण करते हुए प्रकृतिप्रक्रमस्वरूप
५३८	५	प्रथमतः उत्तरप्रकृति	प्रथमत: उत्कृष्ट प्रकृति
,,	१९	भेदों नोआगमद्रव्य कर्मोपक्रम	भेदों को स्पष्ट करते हुए उनमें नो-आगमद्रव्यकर्मोपक्रम
५५७	८	अवस्थान को	अवस्था को
५६२	९	अर्थविपयक पदों	अर्थविपम पदों
५६५	१७	णिबंधणातिविह	णिबंधणतिविह
५६८	७	भागहामिति	भागहारमिदि
,,	१६	के संग में	के प्रसंग में
५७०	३१	टिप्पण १ भी	टिप्पण ३ भी
५७४	१९	तीन सूत्रों	तीन गाथासूत्रों
५७७	२०	४,२,१८०	४,२,४,१८०
५८९	६	भावप्रमाण	भागप्रमाण
५९२	३०	अइया	अहवा
५९७	३६	पु० १३,	पु० १०,
६१०	१	का उत्तरार्ध	का पूर्वार्ध
६१४	१५	(पृ० १००७-२३)	(पृ० ५८३)
६१९	६	८-९९	८-९
६२२	३४	भाग ३	भाग २
६३२	१२	ध्यान भी संसार	ध्यान संसार
,,	२९	एक वितर्क	एकत्ववितर्क
६३३	६	के न होने पर	के होने पर
६४८	२	पु० १३,	पु० १२,
,,	५	है।[२]	है।[१]
,,	२०	है।[१]	है।[२]
६५२	२८	महावाचमाणं	महावाचयाणं
६५३	२९	उसमें धवलाकार	उसमें जयधवलाकार

६५६	१६	गिद्धि-पिछाइरिय	गिद्धपिछाइरिय
६५७	२१	प्पयासि सितिच्चत्थसुत्ते	प्पयासित-तच्चत्थसुत्ते
,,	३२	मुण्डपार	मुण्डपाद
६६१	२	पदार्थविवोधक के	पदार्थविवोध के
६६३	११	हासपइणा	हासपइण्णा

पुनश्च

निम्नलिखित प्रसंगों में अपेक्षित अभिप्राय के लिए उन्हें शुद्ध रूप में इस प्रकार पढ़ें—

(१) मुद्रित पृ० ६३ पर २३-२५ पंक्तियों में मुद्रित सन्दर्भ के स्थान में शुद्ध सन्दर्भ—

सातावेदनीय सबसे तीव्र अनुभागवाला है। यशःकीर्ति और उच्चगोत्र दोनों समान होकर उससे अनन्तगुणे हीन हैं। उनसे देवगति अनन्तगुणी हीन है। उससे कार्मणशरीर अनन्तगुणा हीन है। उससे तैजसशरीर अनन्तगुणा हीन है। उससे आहारकशरीर अनन्तगुणा हीन है। इत्यादि सूत्र ४,२,७,६६-११७ (पु० १२)।

(२) मुद्रित पृ० १०१, पंक्ति १-४ में मुद्रित सन्दर्भ के स्थान में शुद्ध सन्दर्भ—

तत्पश्चात् जिस जघन्य स्वस्थानवेदनासंनिकर्ष को पूर्व (सूत्र ४) में स्थगित किया गया था उसकी प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है (सूत्र ५)। पश्चात् ज्ञानावरणादि आठ वेदनाओं में किसी एक को विवक्षित करके जिस जीव के वह द्रव्य-क्षेत्रादि में किसी एक की अपेक्षा जघन्य या अजघन्य होती है उसके वही क्षेत्र आदि अन्य की अपेक्षा जघन्य या अजघन्य किस प्रकार की होती है, इसका तुलनात्मक रूप में विचार किया गया है। सूत्र ६५-२१६ (पु० १२)।

उदाहरणार्थ—जिस जीव के ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्य से जघन्य होती है उसके वह क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य होती है या अजघन्य, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि उसके क्षेत्र की अपेक्षा नियम से अजघन्य व उससे असंख्यातगुणी अधिक होती है (सूत्र ६६-६७), इत्यादि।

(३) पृ० ३३६ के आरम्भ में ये पंक्तियाँ मुद्रित होने से रह गयी हैं—

१. मंगल—उन छह में प्रथमतः मंगल की प्ररूपणा धवलाकार ने क्रम से इन छह अधिकारों में की है—(१) धातु, (२) निक्षेप, (३) नय, (४) एकार्थ, (५) निरुक्ति और अनुयोगद्वार।

(४) पृ० ४७६, पंक्ति ११-१४ में मुद्रित प्रसंग के स्थान पर शुद्ध इस प्रकार पढ़िए—

इतना स्पष्ट करते हुए आगे धवला में कहा गया है कि इस प्रकार विशेष की अपेक्षा न करके सामान्य रूप ज्ञानावरणीयवेदना विषयक इन तेरह पृच्छाओं की प्ररूपणा की गई है। वह सामान्य चूंकि विशेष का अविनाभावी है, इसलिए हम यहाँ इस सूत्र से सूचित उन तेरह पद-विषयक इन तेरह पृच्छाओं की प्ररूपणा करते हैं।

(५) पृ० ४८० में १४वीं पंक्ति के स्थान में शुद्ध सन्दर्भ—

इसी पद्धति से आगे धवला में क्रम से उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोमनोविशिष्ट इन तेरह पदों में से एक-एक को प्रधान करके शेष वारह पदों का यथासम्भव विचार किया गया है। इस प्रकार से धवला में प्रकृत सूत्र के साथ उसके अन्तर्गत तेरह सूत्रों को लेकर चौदह सूत्रों का अर्थ किया गया है।